नेशनल पब्लिशिंग हाउस
(स्वत्वाधिकारी के० एल० मलिक ऐंड संस प्रा० लि०)
२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

शाखाएं
चौड़ा रास्ता, जयपुर
३४, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-३

मूल्य : ७५.००

स्वत्वाधिकारी के० एल० मलिक ऐंड संस प्रा० लि० के लिए नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली-११०००२ द्वारा प्रकाशित/प्रथम संस्करण १९८०/ / सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, मौजपुर, दिल्ली-११००५३ द्वारा मुद्रित।

अपने प्रियजन-परिजन
के
उस अंतरंग वृत्त को
साभार
जिनके स्नेह का शोषण कर
मेरी रचना-शक्ति निरंतर पुष्ट
होती रही है।

अनुक्रम

खंड ४

कालजयी कृतियां

प्राक्कथन : संस्करण-२

'आस्था के चरण' का यह दूसरा संस्करण अतर्वस्तु और आकार-प्रकार—दोनो की दृष्टि से काफी परिवर्तित रूप में प्रकाशित हो रहा है। इसमे ऐसे निबधो का समावेश नही किया गया जो किसी स्वतंत्र ग्रंथ के अभिन्न अंग हैं। अतः 'आधुनिक हिंदी काव्य की मुख्य प्रवृत्तिया', 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएं', 'चेतना के बिब', 'समस्या और समाधान' आदि मे संकलित निबंध यहा आपको नही मिलेगे।

निबंधो के वर्ग-विभाजन तथा क्रमबध में भी कुछ परिवर्तन कर दिया गया है। प्रस्तुत सग्रह मे चार खंड हैं। खड-१ के पूर्ववत् दो भाग है : (क) शोध और (ख) सिद्धात। सिद्धांत के अंतर्गत एक नया निबंध भी है 'काव्य-भाषा और व्यवहार-भापा'। खड-२ मे केवल एक ही भाग है—'हिंदी साहित्य की प्रवृत्तिया', जिसमे १५ लेख हैं। इनमे से 'फ्रॉयड और हिंदी-साहित्य', 'रवीद्रनाथ का भारतीय साहित्य पर प्रभाव' और 'हिंदी-साहित्य पर नेहरू का प्रभाव'—ये तीन निबंध 'कृतिकार' शीर्षक खंड-३ से इधर स्थानातरित कर दिए गए हैं, क्योकि इनका संबंध लेखक विशेष की अपेक्षा साहित्य की प्रवृत्तियो से अधिक है। शेष तीन निबंध नये है—(१) 'हिंदी-साहित्य का इतिहास . पुनर्लेखन की समस्याए', (२) 'हिंदी-साहित्य पर गाधी का प्रभाव' और (३) 'हिंदी-साहित्य : महत्त्व और उपलब्धि'। खंड-३ मे भी अब केवल एक ही भाग है—'कृतिकार'। इसमे 'काव्यभाषा : तुलसीदास की अवधारणा' निबंध नया है : शेष पूर्ववत् हैं। खंड-४ मे हिंदी की कालजयी कृतियो का विवेचन है। इसमे भी केवल एक ही निबंध 'रामचरितमानस का अगी रस' नया है।

संकलित सामग्री मे काट-छाट हो जाने से 'आत्म-निरीक्षण' शीर्षक से प्रस्तुत भूमिका मे भी स्वभावतः यथास्थान परिवर्तन करना आवश्यक हो गया है। जो निबंध इस संस्करण मे नही है उनसे संबद्ध टिप्पणिया निकाल दी गई हैं और नये निबधो के विषय मे अभीष्ट संकेत यथाप्रसंग जोड दिए गए है।

विगत तीन वर्षो मे भी मेरी साहित्य-साधना अनवरत चलती रही है। हिंदी-अंग्रेजी मे सपादित अनेक ग्रंथो के अतिरिक्त दो मौलिक कृतिया—'शैलीविज्ञान' 'मिथक और साहित्य' इसी अवधि मे प्रकाशित हुई हैं, जिनमे मेरे अनेक निबध संकलित है। चूकि ये अभी नये हैं इसलिए 'आस्था के चरण' के प्रस्तुत संस्करण मे उनका अंतर्भाव नही किया गया।

—नगेन्द्र

आत्म-निरीक्षण

मेरे प्रकाशक का अनुरोध है कि मैं अपने इस 'संपूर्ण निबंध-संग्रह' की प्रस्तावना लिखू । प्रस्तावनाएं लिखना मेरा व्यवसाय है, पर अपने ग्रथ की प्रस्तावना लिखना आत्म-परीक्षा से कम नही है । यो, मैं आत्म-परीक्षा का भी अनभ्यस्त नही हूं, प्रत्येक सवेदनशील व्यक्ति को आत्म-परीक्षण का रोग होता है और मैं अक्सर इससे परेशान रहता हू । पर वह आत्म-परीक्षण अप्रकाशित ही रहता है, जबकि यह आत्म-परीक्षण प्रकाशन के लिए है । अपनी दुर्बलताओ की चोट मन मे सहकर बाहर से स्वस्थ और सबल बने रहने का दभ करना आसान है, पर उन दुर्बलताओ और उनकी यातना को व्यक्त करना अपने-आप मे एक विषम यातना है । उधर, अपनी उपलब्धियों पर आत्म-चिंतन के क्षणों मे विचार कर आगे के लिए उनसे प्रेरणा प्राप्त करना भी सहज प्रक्रिया हो सकती है, पर इन उपलब्धियो और इनसे प्राप्त आत्म-परितोष की अभिव्यक्ति को, चाहे वह कितनी ही विनम्र क्यो न हो, पाठक कैसे सह लेगा; क्योकि संतो के इस देश मे तो सिद्धात मे आत्म-निंदा की और व्यवहार में पर-निंदा की ही प्रथा है । इस-लिए काम यह कठिन है, और शायद अनुचित भी, पर जिंदगी मे बहुत-से कठिन और अनुचित काम किए है—एक यह भी सही ।

भारतीय योग-साधना मे परकाया-प्रवेश का विधान है—जिसके अनुसार साधक योग-बल से दूसरे की काया मे प्रवेश कर उसके अनुभवो का समभागी बन जाता है । दूसरे के शरीर में आख बचाकर घुस जाना और उसके अर्जित कर्मफल का भोग कर लेना दुष्कर होने पर भी घाटे का सौदा नही है । पर योग मे एक और भी क्रिया का विधान है जो कही अधिक कठिन है—वह है अपने भोक्ता अहं को—अपने प्रमातृ रूप को—द्रष्टा अहं से बाहर करके देखना । मेरा आलोचक अब तक परकाया-प्रवेश का तो काफी अभ्यस्त हो चुका है, पर आज उससे क्या काम चलेगा ? आज तो मुझे अपने आलोचक को निबधकार से पृथक् कर उसका विचार करना है । 'चिदबरा' या 'उर्वशी' के स्रष्टा के मन मे घुसकर उसके रंगीन अनुभवो का भोग कर लेने मे क्या हानि थी ? पर अपने व्यक्तित्व के एक अंग को अलग कर तटस्थ भाव से उसका विचार करना कृच्छ्रसाधना है और आज मैं पूरी ईमानदारी से उसी का उपक्रम कर रहा हू ।

१. समीक्षात्मक निबध का स्वरूप

आदत से मजबूर होकर सिद्धांत-विवेचन से ही आरंभ करता हूं । 'समीक्षात्मक निबंध' का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है जो उसे एक ओर 'ललित निबंध' और दूसरी

और 'समीक्षा' से पृथक् करता है। 'ललित निबंध' में निबंध-कला का लालित्य प्रमुख होता है और वस्तु-तत्त्व प्रायः गौण रहता है या कम-से-कम कला-तत्त्व का सापेक्षिक महत्त्व अधिक रहता है। समीक्षा अथवा 'समीक्षात्मक लेख' में विषय का प्रतिपादन प्रमुख होता है और कला-तत्त्व प्राय. नगण्य रहता है : प्रतिपादन-शैली के वैशद्य से अधिक कला-तत्त्व उसके स्वारूप्य को बाधित करने लगता है।—इधर 'समीक्षात्मक निबंध' में वस्तु-तत्त्व और कला-तत्त्व का सामंजस्य रहता है, विषय का निरूपण आरंभ से अंत तक उसका लक्ष्य रहता है, इसमें संदेह नहीं, परंतु वह निबंध की कला में वेष्टित रहता है। 'समीक्षात्मक निबंध' रूप की दृष्टि से निबंध का ही एक भेद है, और सही शब्दों में, विचार-प्रधान निबंध का ही एक भेद है, जिसका विषय प्रत्ययात्मक चिंतन का अंग न होकर साहित्य-चिंतन का अंग होता है। उसकी रचना भी 'ललित निबंध' की ही तरह की जाती है—उसमें रचनाकार का व्यक्तित्व निरंतर सक्रिय तथा सजग रहता है। उसका विषय-विवेचन वस्तुपरक न होकर आत्मपरक होता है, निबंधकार की सर्जक कल्पना उसे एक विशिष्ट रूप-आकार प्रदान करती है। जिस प्रकार विचार-प्रधान निबंध सर्जनात्मक चिंतन को अपने सीमित कलात्मक आयामों में रूपायित करता है, इसी प्रकार समीक्षात्मक निबंध भी अपने संक्षिप्त कलेवर में सर्जनात्मक आलोचना को कला-रूप प्रदान करता है। इस प्रकार, वह लेख न होकर कृति होता है।

जिस प्रकार प्रबंध-कवि के लिए मुक्तक काव्य की रचना आवश्यक होती है, इसी प्रकार समालोचक के लिए भी क्रमबद्ध विवेचना से विराम पाने के लिए मुक्तक आलोचना लिखना प्राय. अनिवार्य हो जाता है। उसके सामने मुक्तक आलोचना के प्राय तीन वैकल्पिक माध्यम रहते हैं। वह या तो साहित्य के किसी विषय या कृति को लेकर 'ललित निबंध' लिखता है जिसमें कला-तत्त्व प्रमुख और वस्तु-तत्त्व केवल निमित्त रूप में रहता है, या फिर वह 'समीक्षात्मक लेख' लिखता है जिसमें विषय का वस्तुपरक निरूपण या विवेचन ही लक्ष्य होता है—लेख के रूप-सौष्ठव आदि की चिंता उसे नहीं रहती। इन दो के अतिरिक्त तीसरा विकल्प है 'समीक्षात्मक निबंध', जिसमें विषय के युक्तियुक्त प्रतिपादन के साथ कृति का रूप-सौष्ठव भी विद्यमान रहता है : यहाँ आलोचक का मूल प्रयोजन तो विषय-विवेचन होता है, परंतु वह अपनी कृति की रूप-रचना के प्रति भी प्राय. उतना ही सचेत रहता है।

समीक्षा-रसिक इन तीनों विकल्पों का आवश्यकता और सुविधा के अनुसार प्रयोग करता है।

२. गद्य की ओर

मेरे साहित्यिक जीवन का आरंभ कविता से हुआ। सन् १९३२-३३ से १९३७-३८ तक मैं कविता ही लिखता था और अपने सीमित वृत्त के भीतर कवि-रूप में मेरा अपना स्थान बन गया था। वृत्ति से अध्ययनशील होने के कारण अंगरेजी और हिंदी आलोचना-साहित्य का अच्छा ज्ञान मैं अब तक अर्जित कर चुका था, पर निबंध

अथवा समीक्षा लिखने की ओर मेरी विशेष रुचि नही थी। निबंध परीक्षा के समय ही प्रायः लिखे थे। भाषा पर अधिकार, कविता मे प्रवृत्ति होने के कारण, तब भी अच्छा ही था और निबंध का विषय कल्पनात्मक होने पर परीक्षा मे अच्छे अंक भी मिल जाते थे, पर कुल मिलाकर निबंध-रचना के प्रति मेरे मन मे कोई विशेष उत्साह नही था। विचार-प्रधान निबंधों से मुझे डर लगता था और विषय के युक्तियुक्त प्रतिपादन का अभ्यास एकदम नही था। आज जब मेरा आलोचक मेरी निबंध-कला पर यह आक्षेप करता है कि तर्कपूर्ण प्रतिपादन के प्रति मुझे अत्यधिक मोह है तो विधि की विडंबना पर हँसी आती है। सन् १९३६ मे मैंने अंगरेजी मे एम० ए० किया था और उसके कुछ दिन बाद ही हिंदी एम० ए० की तैयारी शुरू कर दी थी। उसी वर्ष—सन् १९३६ के अंत मे, आगरा की एक साहित्य-गोष्ठी के लिए, अपने अंगरेजी के प्राध्यापक श्री प्रकाशचंद्र गुप्त के अनुरोध पर, पंतजी की काव्य-कला पर एक निबध लिखा था। यही एक प्रकार से मेरा पहला समीक्षात्मक निबध था। यो उससे पूर्व भी मैं दो समीक्षात्मक निबंध लिख चुका था, पर उनका उपयोग कभी नही हुआ। सन् १९३४ के मध्य मे जब मैं बी० ए० के द्वितीय वर्ष का विद्यार्थी था, हिंदी के प्रतिष्ठित निबंधकार और आलोचक बाबू गुलाबराय के सहयोग से मैंने हिंदी के सात आधुनिक कवियो पर समीक्षात्मक निबंध लिखने की योजना बनाई थी: ये सात कवि थे—हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, रत्नाकर, प्रसाद, निराला, पत और महादेवी। मेरे साथ बाबूजी की यह सह-योजना आगरा के अनेक साहित्यकारो को विचित्र-सी लगी थी। यद्यपि बाबूजी में यह गुण था कि वे वय और ज्ञान के गौरव-भार को सहज भाव से उतारकर, छोटे-से-छोटे आदमी के बराबर खड़े होकर काम कर सकते थे, फिर भी उपर्युक्त योजना मे मेरा सहयोग नगण्य नही था। वास्तव मे, बाबूजी का मुख्य विषय दर्शन था; दर्शन का आधार लेकर वे रसशास्त्र की ओर प्रवृत्त हुए और फिर वहा से साहित्य की ओर उन्मुख हुए। अतः दर्शन और शास्त्र पक्ष तो उनका अत्यत पुष्ट था, पर कवित्व-कला के विवेचन मे वे मुझ पर ही निर्भर करते थे। वे मेरी अतिशय रोमानी प्रवृत्ति को सयत रखते थे और मैं काव्य के विचार-तत्त्व से आगे उसके रमणीय तत्त्वो के अनुसंधान में उनकी सहायता करता था। इसके अतिरिक्त लेखन-कार्य का दायित्व मुझ पर ही था—यानी लेखन-शैली प्रायः मेरी अपनी ही थी: बाबूजी संशोधन बराबर करते थे पर वाक्य-रचना मेरी अपनी रहती थी। इस प्रकार दो लेख लिखे गए—पहला महादेवी वर्मा पर और दूसरा मैथिलीशरण गुप्त पर। समीक्षात्मक निबंध-रचना का यह मेरा पहला अभ्यास था जिसका शुभारंभ बाबूजी के समन्वयशील व्यक्तित्व के स्निग्ध प्रभाव मे हुआ था। ये दोनो लेख कभी प्रकाशित नही हुए—आरंभ मे इसलिए नही कि मेरी योजना इन्हे पुस्तक के रूप मे प्रकाशित करने की थी, बाद मे मैंने इन्हे इस योग्य नही समझा। पर इस संदर्भ मे एक बात मुझे आज भी याद है। द्विवेदी-युग के इतिवृत्तात्मक काव्य के प्रति मेरा दृष्टिकोण अत्यंत असहिष्णु था। 'भारत-भारती' के विषय मे मैंने अपनी मनोवृत्ति के अनुसार यह लिखा था कि राष्ट्रीय महत्त्व चाहे उसका कितना भी हो, कवित्व-कला की दृष्टि से वह मूल्यहीन है। बाबूजी ने कहा: यह वाक्य कुछ

अधिक अभिघात्मक और कठोर हो गया है; इसकी जगह यह लिखना चाहिए कि 'भारत-भारती' का राष्ट्रीय महत्त्व उसके कलात्मक मूल्य से कही अधिक है। जब मैथिलीशरण गुप्त पर लेख पूरा हो गया, तो बाबूजी कहने लगे : अगर यह लेख तुम मेरे साथ न लिखते तो इसका स्वर काफी उग्र होता—'भारत-भारती' की तो खैर ही नही थी।—और यह ठीक ही था। आज मेरे साहित्यिक मित्र, जो मेरे स्वभाव और सामान्य व्यवहार मे मेरी वाणी की उग्रता से भी परिचित हैं, जब कभी पूछते हैं कि अपने लेखन मे तो आप प्रतिपक्ष के विरुद्ध इतने कठोर नही होते, तो मुझे 'गुरूणा गुरुः' बाबूजी का वह मित्र-सम्मित उपदेश अनायास ही याद आ जाता है।

पत की काव्य-कला पर मेरा वह निबंध भी अपने मूल रूप मे कही नही छपा; लगभग दो वर्ष के भीतर वही 'सुमित्रानदन पंत' का रूप धारण कर पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। निबंध के उपशीर्षक ही प्रायः पुस्तक के परिच्छेदो के रूप मे पल्लवित हुए। पत की काव्य-कला के विषय मे मेरी मूल धारणाए और स्थापनाएं पुस्तक मे भी वही थी जो निबंध मे। पंत सौंदर्य के कवि हैं; पंत के काव्य मे सबसे पहला स्थान कल्पना का, दूसरा चिंतन का और तीसरा भाव या अनुभूति का है; नवीन काव्य-भाषा के निर्माण मे पत का योगदान सर्वाधिक है; आदि मान्यताएं सबसे पहले उस निबध में ही व्यक्त हुई थी · पुस्तक मे भी वे यथावत् रही और मेरी प्रयोग-भीरुता के कारण आज भी बहुत-कुछ वैसी ही हैं। मेरा एक निष्कर्ष यह भी था कि प्राणो का आवेग क्षीण होने के कारण पत जी महान् काव्य की सृष्टि करने मे असमर्थ रहे हैं। इस पर काफी गरमागरम बहस हुई थी। श्री प्रकाशचंद्र गुप्त आदि का मत था कि मैंने पत जी के साथ न्याय नही किया। 'सुमित्रानदन पत' का आशा से कहीं अधिक स्वागत हुआ। 'एकेडेमी' पत्रिका मे श्री शातिप्रिय द्विवेदी ने लिखा कविता की गतिविधि के साथ-साथ हिंदी-आलोचना की तर्ज-अदा भी किस तरह बदल रही है, यह पुस्तक इसका उज्ज्वलतम प्रमाण है, श्री कन्हैयालाल सहल ने 'साहित्य-सदेश' मे एक पूरा लेख लिखकर यह मत व्यक्त किया कि इसमे आचार्य शुक्ल की आलोचना-पद्धति का विकसित रूप मिलता है। सबसे अधिक अप्रत्याशित घटना यह घटी कि आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास के सशोधित सस्करण मे छायावाद पर पहली 'ठिकाने की पुस्तक' मानकर इसका स्वागत किया। मैं आज पूरी ईमानदारी के साथ स्वीकार करता हू कि मुझे ऐसी आशा स्वप्न मे भी नही थी। इतिहास मे उल्लेख की सूचना मुझे पहली बार आगरा मे मिली। उस दिन 'ग्रेड ट्रंक' से रात के लगभग दस बजे मैं साहित्य-रत्न-भडार पहुचा था। मुझे देखते ही मेरे कृपालु मित्र और प्रकाशक श्री महेन्द्र जी ने कहा . बधाई है, शुक्ल जी ने अपने इतिहास मे बडे ही सुदर शब्दो मे तुम्हारी पुस्तक की प्रशसा की है। मैं तुरत ही उसे देखना चाहता था, परतु भाई महेन्द्र जी ने आग्रह किया कि बहुत देर हो गई है—अब तो खाना-वाना खाकर सो जाओ, सवेरे देख लेना। एक तो उनके स्नेहपूर्ण आग्रह के कारण और दूसरे अपने अधैर्य को व्यक्त न करने के विचार से मैं चुप हो गया और यथाक्रम भोजन आदि से निश्चित होकर साहित्य-रत्न-भडार के ही एक कक्ष मे लगे हुए अपने बिस्तर पर

चला गया। पर रात में जब मुझे नीद ही नही आई, तो मजबूर होकर भंडार की बिजली जलाई और कुछ देर तक प्रयत्न करने के बाद शुक्ल जी के इतिहास की प्रति आलमारी मे निकाल कर हडबडी के साथ उसमे अपना नाम खोजने लगा। 'नई आलोचना' वाला प्रकरण जल्दी ही मिल गया, लेकिन उसमें मेरी पुस्तक का उल्लेख नही था। मैंने बार-बार आखें गड़ा कर इस प्रकरण की एक-एक पंक्ति पढ डाली, पर वहा नाम होता तो मिलता। चार-छह पृष्ठ इधर-उधर के भी देखे, फिर भी कोई नतीजा नही निकला। आखिर मन मारकर बिस्तर पर चला गया। नीद आने का सवाल ही क्या था? लेकिन, इतने में ही महेन्द्र जी, जो भडार के बराबर सहन मे सो रहे थे, उठ कर आए और बोले : भंडार की बिजली अभी किसने जलाई थी? यह सुनकर मुझे शर्म तो बडी आई पर अंत मे उन्हे असली राज़ बताना पडा। वह हँसकर कहने लगे : तुम भी, यार, अजब आदमी हो; इतनी ही परेशानी थी तो उसी समय देख लेते। मैंने खिन्न स्वर मे कहा : देखू कहां, मेरा तो नाम ही नही है। इस पर महेन्द्र जी ने आश्वस्त भाव से वह प्रति खोली और अभीष्ट संदर्भ निकाल कर मेरे सामने रख दिया : वास्तव मे मेरी पुस्तक का उल्लेख 'नई आलोचना' के अतर्गत न होकर 'छायावाद' के प्रसग मे किया गया था। महेन्द्र जी तो जाकर तुरंत सो गए, लेकिन मुझे फिर भी नीद नही आई—इस बार खुशी के मारे।

इस सद्य.स्वीकृति का प्रभाव अनिवार्य था। कविता की देवी की आराधना मैं पूर्ण निष्ठा के साथ पिछले पाच-छह वर्षो से निरतर कर रहा था, पर वह कभी मुझसे इतनी प्रसन्न नही हुई थी। वास्तव मे, उस समय कवि के कीर्ति-प्रसार के जो दो मुख्य साधन थे वे दोनो ही मुझे अनुपलब्ध थे—एक था किसी प्रसिद्ध पत्रिका का सबल और दूसरा कवि-सम्मेलन मे रंग जमाने वाला स्वर-वैभव। सप्तको के संपादन और प्रकाशन का रिवाज तब तक नही चला था। यो, मेरी कविताएं अनेक प्रतिष्ठित पत्रिकाओ मे छपती रहती थी, परतु नियमित रूप से प्रमुख पृष्ठ पर मेरी कृतियो का विज्ञापन करने वाली पत्रिका सुलभ नही थी। उधर कवि-सम्मेलनो मे बच्चन और सोहनलाल द्विवेदी का रंग था—गिरिजाकुमार माथुर का भी प्रभाव बढ रहा था। वहा मेरी दाल नही गल सकती थी। एक बार फिरोज़ाबाद मे कवि-सम्मेलन हुआ जिसमे मैंने भी शायद अपनी 'नारी' कविता पढी थी। मुझे भी सामान्यत. अच्छी दाद मिली, पर सेहरा सोहनलाल जी के ही सिर रहा। इस पर एक बुज़ुर्ग, जो कभी मेरे पिताजी के सहयोगी रह चुके थे, बडे ही गभीर भाव से मुझसे कहने लगे, "आप अपना स्वास्थ्य सुधारिए; कविता आपकी सोहनलाल की रचना से अच्छी थी, पर आवाज़ मे दम न होने से वे बाज़ी मार ले गए।"—स्वास्थ्य की चिता मुझे भी थी, उन दिनो मेरा वज़न औसत से थोडा कम था। पर कवि-सम्मेलन को फ़तह करने के लिए स्वास्थ्य सुधार का यह उपदेश मुझे ग्राह्य नही हुआ; और, कवि-सम्मेलनो में बाज़ी अपने हाथ नही लगी।

उधर रग दूसरा था। पहली कृति का ही हार्दिक स्वागत हुआ। शातिप्रिय उस समय के जाने-माने आलोचको मे थे, सहल जी भी विद्वान् अध्यापक के रूप मे अपने वृत्त मे प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। इनकी उन्मुक्त प्रशस्तियो का मेरे लिए बडा मूल्य

था और उनसे मेरे आत्म-विश्वास मे निश्चय ही वृद्धि हुई; पर जब शुक्ल जी ने अपने इतिहास मे प्रमाणपत्र के साथ मेरा नाम दर्ज कर दिया तो मुझे लगा जैसे जन्म के साथ ही मेरे आलोचक को अमरत्व की सिद्धि हो गई हो। यह नशा निश्चय ही बडा गहरा था

साकी ने अपने हाथ दिया भरके जामे सोज़
इस जिंदगी के कैफ का टूटा खुमार आज।

—और, कविता का खुमार सचमुच ही धीरे-धीरे टूटने लगा। बाद मे, दो-चार झटके लगने पर कभी-कभी कविता की याद आ जाती थी, जैसे विदेश मे अपमान मिलने पर अनायास घर की याद आ जाती है। पर ऐसा कम ही हुआ, और फिर मन'-स्थिति भी बदलने लगी। कविता मेरे लिए कुछ आवश्यकता से अधिक आत्मपरक बनती जा रही थी—व्यक्तिगत जीवन के रागद्वेष और उनसे तुष्ट या रुष्ट अहकार ही मेरी कविता के मूल विषय बनकर रह गए थे। बाद मे सामाजिक चेतना की वृद्धि के साथ, जीवन के अंतरग अनुभवो की अभिव्यक्ति मे असुविधा का अनुभव होने लगा और प्रयत्न करने पर भी मैं केशवदास का-सा साहस बटोरने मे असमर्थ रहा। परार्थ या परमार्थ से सबद्ध विषयो के साथ इतना गहरा लगाव कभी था नही कि उनको कविता मे व्यक्त करने की प्रेरणा होती। बाह्य जीवन के विषय मे मेरा जो दृष्टि-कोण और मूल्य बनते जा रहे थे उनमे बुद्धि-तत्त्व की मात्रा बढने लगी थी, अत: उनकी अभिव्यक्ति के लिए आलोचनात्मक गद्य का माध्यम अधिक सुगम और अनुकूल पडा। बीच मे, सन् १९४५ से १९५० तक कुछ प्रगीत रचनाए लिखी जो थोडी-सी पुरानी कृतियो के साथ 'छदमयी' मे प्रकाशित हुई—इसके बाद कविता मानो यह कह कर मुझसे विदा हो गई कि शुद्ध स्वानुभूति के क्षणो मे जब तुम्हारा मन बुद्धि के अहकार से मुक्त होकर मुझे याद करेगा, तो मैं फिर आ जाऊगी।

३. पहला लेख—पहला निबंध

जैसा कि मैं अभी उल्लेख कर चुका हू, मैंने अपना पहला स्वतत्र गद्य-लेख सन् १९३४ मे महादेवी वर्मा पर लिखा था। बाद मे चूकि मैंने उसे रद्द कर दिया, इसलिए उसके विषय मे यह चर्चा करना अब सार्थक नही है कि वह लेख था या निबध। 'पत की काव्य-कला' शीर्षक लेख भी अपने मूल रूप मे कभी नही छपा। प्राय उसी के आस-पास सन् १९३७ मे मेरे दो लेख 'साहित्य-सदेश' के प्रारभिक अको मे प्रकाशित हुए थे—पहले का विषय था 'हिंदी-साहित्य के इतिहास' और दूसरे का था 'हिंदी के टीकाकार'। पारिभाषिक दृष्टि से इन्हे निबध कहना उचित नही होगा क्योकि इनमे तथ्य-निरूपण ही प्रधान था—अपने सीमित आकार मे ये शायद पूरे लेख भी न होकर लघुलेख मात्र थे। स्वभावत इनमे विषय का गंभीर सागोपाग विवेचन नही था, पर मुझे स्मरण है कि मेरी आलोचना के वे दोनो गुण—स्पष्टता और परिशुद्धता, जिनका उल्लेख मेरे उदार समीक्षक प्राय करते हैं, इन लेखो मे भी न्यूनाधिक मात्रा मे अवश्य थे। अपनी तरफ से मैंने इन लेखो में पूरे सतुलन से काम लिया था।

'इतिहास' वाले लेख में यद्यपि मैंने 'मिश्रबंधु-विनोद' के साथ अधिक-से-अधिक न्याय करने का प्रयास किया था, फिर भी पं० शुकदेवविहारी मिश्र ने बाबू गुलाबराय से शिकायत की थी कि आपके पत्र मे हमारे इतिहास की निंदा की गई है। टीकाकारो के प्रसंग मे मैंने 'बिहारी-रत्नाकर' को सर्वाधिक वैज्ञानिक और 'संजीवन भाष्य' को सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक टीका माना था। इन दोनो लेखो को, कदाचित् इनके सक्षिप्त रूप के कारण, मेरे किसी निबध-संग्रह मे स्थान नही मिला।

हिंदी मे एम० ए० करने के बाद सन् १९३७ के मध्य में मैंने अपने मन की प्रेरणा से एक स्वतंत्र निबध लिखा जिसका शीर्षक था 'छायावाद'। यही वास्तव मे मेरा 'प्रथम समीक्षात्मक' निबंध था. इसमे एक ओर जहा विषय-प्रतिपादन के सबध मे पूर्ण सतर्कता बरती गयी थी, वहा निरूपण-शैली और रूप-सौष्ठव पर भी उचित ध्यान दिया गया था। यह निबध उस समय 'हस' मे प्रकाशित हुआ था जब प्रेमचंद जी की मृत्यु के बाद जैनेन्द्र जी कुछ दिनो तक उसका संपादन कर रहे थे। आगे चलकर यह 'सुमित्रानदन पंत' पुस्तक के प्रथम परिच्छेद के रूप मे प्रकाशित हुआ और बाद मे सन् १९४३ मे 'छायावाद की परिभाषा' नाम से जब इसी विषय पर मेरा एक अन्य निबध प्रकाश मे आ गया तो स्वतत्र निबंध के रूप मे इस पहली रचना का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। आज यह 'सुमित्रानंदन पत' की भूमिका के रूप मे ही जीवित है—किसी निबध-सग्रह मे इसका समावेश नही है। 'आस्था के चरण' मे सकलित निबधो मे सबसे पहली रचना है 'साहित्य मे कल्पना का उपयोग'। यह निबंध मैंने सन् १९३९ मे रिचर्ड्स की प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' से प्रेरित होकर लिखा था। उस समय रिचर्ड्स भी नये आलोचक ही समझे जाते थे। अगरेजी एम० ए० के पाठ्यक्रम मे तो उनका कोई स्थान था ही नही, अगरेजी आलोचना के विकास-क्रम मे या समसामयिक अंगरेजी आलोचना के संदर्भ मे भी उनका उल्लेख मुश्किल से होता था। परंतु आचार्य रामचद्र शुक्ल ने साहित्य मे रहस्य-प्रवृत्ति के विरुद्ध अपने मत का पोषण करने के लिए रिचर्ड्स के तर्कों को अत्यंत प्रामाणिक रूप से उद्धृत कर हिंदी-पाठक के मन मे उनके प्रति एक विशिष्ट आकर्षण उत्पन्न कर दिया था। मुझे स्वय शुक्ल जी का यह मत ग्राह्य नही था कि रहस्य-प्रवृत्ति काव्य के सहज धर्म के अनुकूल नही है, और इस दृष्टि से रिचर्ड्स के प्रति भी कोई विशेष संभ्रम का भाव मेरे मन मे नही था। फिर भी, मैं उनके ग्रथ को पढना चाहता था और एक दिन जब किसी पुस्तक-विक्रेता के यहा उसकी एक पुरानी प्रति मुझे मिल गई तो मैं कॉलेज की लाइब्रेरी के लिए उसे खरीद लाया और अवकाश मिलते ही उसके अध्ययन मे प्रवृत्त हो गया। विषय एव शैली दोनो की ही दृष्टि से पुस्तक कुछ कठिन है और मैंने अत्यत मनोयोग के साथ उसका विधिवत् पारायण किया। उसके हाशियो पर मैंने कुछ सकेत-शब्द भी स्थान-स्थान पर अपनी तथा अन्य पाठको की सुविधा के लिए लिख दिए थे। यह प्रति श्रीराम कॉलेज ऑफ कॉमर्स की लाइब्रेरी मे थी—आज है या नही, मैं नही जानता। पर आठ-दस वर्ष पूर्व जब डॉक्टर आई० ए० रिचर्ड्स दिल्ली विश्वविद्यालय मे आए थे और मैं उनसे बात कर रहा था तो कॉलेज के एक पुराने

सहयोगी ने हँसकर कहा था : "डॉ० रिचर्ड्स, हमारे देश मे आपके कैसे-कैसे कद्रदान हैं, इसके प्रमाणस्वरूप मैं आपको अपनी लाइब्रेरी से 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' की वह प्रति दिखाना चाहता हू जिसके हाशियो पर जगह-जगह नगेन्द्र जी की टिप्पणियां और शब्द-सकेत अकित हैं ।"—इस समय मुझे यह तो याद नही है कि मैंने क्या लिखा था, शायद रिचर्ड्स के अनेक शब्दो के हिंदी-पर्याय भी मैं कही-कही लिखता गया था, क्योकि मैं रिचर्ड्स के काव्य-सिद्धातो पर हिंदी मे लेख प्रस्तुत करना चाहता था । परंतु इसमे सदेह नही कि मैंने उस पुस्तक का प्रायः पाठ्यग्रथ की तरह अध्ययन किया था । 'साहित्य मे कल्पना का उपयोग' शीर्षक निवध मे मैंने रिचर्ड्स के तद्विषयक विवेचन से केवल प्रेरणा ही नही ली थी, वरन् उनके मूल विचारो को आधार रूप मे भी ग्रहण किया था । यह निवध 'वीणा' मे छपा था : साथ मे मेरे किशोर काल का एक चित्र भी था जिसमे चेहरे पर छोटी-छोटी मूछें थी । अपने उस फोटो के साथ प्रकाशित यह निवध मुझे अच्छा लगा था और मैं उसे सभाल कर रखना चाहता भी था, पर मेरे एक सहयोगी श्री प्रह्लादकृष्ण, जो बड़े मस्त जीव थे (भगवान उनकी आत्मा को शांति दे, अब वे ससार मे नही हैं), मेरी मूछों को गवारा न कर सके और उन्होने चित्र के ऊपर पेंसिल से निशान बना दिए थे ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर, आप निम्नोक्त रचनाओ मे से जिसे भी चाहे मेरा प्रथम समीक्षात्मक निवध मान सकते हैं

१. महादेवी वर्मा—रचना-काल १६३४ ई०, जो स्वतंत्र लेख के रूप मे लिखा गया, पर वाद मे बालकृति मानकर रद्द कर दिया गया।
२. पत की काव्य-कला—रचना-काल १६३६ ई०, जो स्वतंत्र निवध के रूप मे लिखा गया, परतु अपने मूल रूप मे प्रकाशित न होकर 'सुमित्रानदन पंत' पुस्तक का आकार धारण कर प्रकाश मे आया ।
३. हिंदी-साहित्य के इतिहास—रचना-काल १६३७ ई०, जो निवध न होकर वस्तुतः एक लघुलेख था और उसी रूप मे 'साहित्य-सदेश' मे प्रकाशित हुआ ।
४. छायावाद—रचना-काल १६३७ ई०, जो स्वतत्र निवध के रूप मे लिखा गया और उसी रूप मे 'हस' मे प्रकाशित भी हुआ, परतु अत मे 'सुमित्रानदन पत' का पहला परिच्छेद बनकर अपना स्वतत्र व्यक्तित्व खो बैठा ।
५ साहित्य मे कल्पना का उपयोग—रचना-काल १६३६ ई०, जो स्वतत्र निवध के रूप मे लिखा गया और पहले 'वीणा' पत्रिका मे, फिर १६४४ ई० मे 'विचार और अनुभूति' मे स्फुट निवध के रूप मे ही प्रकाशित हुआ—और अब 'आस्था के चरण' के अतर्गत निवध स० ८ के रूप मे प्रस्तुत है ।

मैं स्वय 'छायावाद' को अपना पहला 'समीक्षात्मक निबंध' मानता हू—मानना चाहता हू, जिसे मैंने प्रतिपाद्य विषय और निबंध के रूप-सौष्ठव दोनो के प्रति सावधान होकर लिखा था ।

४. रचना-प्रसंग

'आस्था के चरण' मेरे प्रकीर्ण निबंधो का सर्व-संग्रह है। पहली रचना है 'वाणी के न्याय-मदिर मे' जो 'आकाशवाणी' से १६३६ मे फीचर के रूप मे प्रसारित हुई थी। रूप की दृष्टि से भिन्न होते हुए भी विषय-वस्तु की दृष्टि से यह अन्य समीक्षात्मक निबधो के समान ही है क्योकि इसमे भी रूपक के माध्यम से प्रेमचंद की उपन्यास-कला की समीक्षा की गई है। अतिम निबंध है 'काव्य-भाषा : तुलसीदास की अवधारणा', जिसकी रचना १६७७ मे हुई थी।

सकलन का नाम मैंने 'आस्था के चरण' साभिप्राय रखा है, क्योकि जीवन तथा साहित्य के स्थायी मूल्यो के प्रति आस्था ही मेरे संपूर्ण वाङ्मय का प्रेरक भाव है। भौतिक जीवन के मूल मे विद्यमान चिरतन जीवन-तत्त्व और सामाजिक-नैतिक मूल्यो के आधारभूत रागात्मक-आत्मिक मूल्यो की खोज, जो 'वाणी के न्याय-मदिर मे' से आरभ हुई थी, वही इस संग्रह के अतिम निबधो —'हिंदी-साहित्य पर गाधी का प्रभाव', 'रामचरितमानस का अगी रस' आदि मे भी यथावत् विद्यमान है।

खंड-१ के निबध सिद्धातपरक है। (क) भाग के निबधो मे अनुसंधान के स्वरूप, प्रविधि और हिंदी-अनुसधान की मुख्य समस्याओ का तात्त्विक विवेचन है। वर्तमान शताब्दी के मध्य में—पाचवें दशक मे—हिंदी-अनुसधान के क्षेत्र मे खासी चहल-पहल होने लगी थी। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के नेतृत्व मे इलाहाबाद स्कूल तब तक काफी सक्रिय हो चुका था और हिंदी मे अनुसधान की रूपरेखा क्रमश स्पष्ट होने लगी थी। मैं सन् १६४६ मे डी० लिट्० कर चुका था और तब तक हिंदी मे ८-१० शोध-प्रबंध डी० लिट्० और डी० फिल० के लिए स्वीकृत हो चुके थे। डी० लिट्० के प्रबध तो प्राय अनुसधानकर्ताओ के अपने पुरुषार्थ के परिणाम थे जिनमे प्रत्येक ने अपने दृष्टिकोण मे शोध की रूपरेखा और विधि-विज्ञान की सकल्पना की थी, परंतु डी० फिल के प्रबंधो के लिए विश्वविद्यालय की ओर से विधिवत् निरीक्षण की व्यवस्था की गई जिसके फलस्वरूप अनुसधान के स्वरूप और प्रविधि-प्रक्रिया आदि की भी हिंदी-क्षेत्रो मे काफी चर्चा होने लगी। इसका शुभ परिणाम यह हुआ कि हिंदी का शोधार्थी शोध के विधि-विज्ञान से परिचित होने लगा और अनुसधान मे व्यवस्था तथा प्रामाणिकता आदि गुणो का समावेश हुआ; अशुभ परिणाम यह हुआ कि शरीर की साज-सज्जा पर इतना अधिक बल दिया जाने लगा कि आत्मा का तेज घटने लगा—तथ्य-संकलन के मोह मे तत्व-चिंतन क्षीण होने लगा। इस 'वैज्ञानिक अनुसधान' के परिणाम जब सामने आए तो लगा कि उनमे कायदे-कानून की पूरी पाबदी तो है पर विचार-विवेचन का स्तर सामान्य आलोचना-ग्रंथो से भी निम्नतर है। इस पर स्वभावत. काफी टीका-टिप्पणी हुई। तब यह तर्क दिया गया कि अनुसधान आलोचना नही है। यह तर्क मुझे ग्राह्य नही हुआ और ऐसा लगा जैसे किसी सामान्य दोष का परिमार्जन करने के लिए एक मौलिक दोष का पोषण किया जा रहा है। तब तक मेरी चार आलोचना पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थी और हिंदी-आलोचना के क्षेत्र मे मेरा थोडा-बहुत स्थान भी बन चुका था। उधर डी० लिट्० के लिए मेरा अपना शोध-प्रबंध भी

तैयार हो चुका था। तटस्थ भाव से आज मैं कह सकता हू कि उसमे तत्त्व-चिंतन काफ़ी था, पर शोध-विज्ञान से अपरिचित होने के कारण प्रविधिगत दोष भी सर्वथा स्पष्ट थे — खासकर सदर्भ-लेखन आदि की व्यवस्था एकदम अपूर्ण थी। परंतु इस सबके बावजूद उसे जो स्वीकृति और सम्मान मिला उससे मैं आश्वस्त हो गया कि अंततः मूल्याकन गभीर विचार-विश्लेषण का ही होता है, प्राविधिक दोषो का महत्त्व प्राय टंकण के दोषो से बहुत अधिक नही है। यह निश्चय ही मेरी ज्यादती थी, फिर भी इसमे संदेह नही कि हिंदी-शोध के क्षेत्र मे जिस ढग से तथ्य-संकलन और विधि-विज्ञान का अतिमूल्यन और गंभीर चिंतन का अवमूल्यन होने लगा था उसके विरुद्ध मेरे मन मे अत्यंत तीव्र प्रतिक्रिया हो रही थी। अपने इन विचारो को लिपिबद्ध करने का अवसर मुझे सन् १९५३ मे मिला जब मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय मे हिंदी-विभाग का कार्यभार संभालने के बाद अनुसंधान के स्वरूप पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया। इसमे डॉ० वी० के० आर० वी० राव, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा अन्य कई वरिष्ठ प्राध्यापकों ने भाग लिया। शोध के सबध में मेरा पहला निबंध 'अनुसंधान का स्वरूप' इसी संगोष्ठी के निमित्त लिखा गया था। इसमे मैंने तथ्यान्वेषण तथा प्रविधि-प्रक्रिया के उचित महत्त्व को स्वीकार करते हुए तथ्याख्यान को ही अनुसंधान का प्राणतत्त्व माना है : "प्रस्तुत प्रसंग मे भी, जहा अनुसंधान का मूल लक्ष्य है ज्ञान का सीमा-विस्तार, वास्तविक महत्त्व निस्संदेह ज्ञान का ही है, क्योंकि ज्ञान की सीमा का विस्तार वस्तु या तथ्य नही कर सकता, वस्तु या तथ्य का सबंध-ज्ञान कर सकता है।" शोध के विषय मे मेरा दूसरा निबंध है 'हिंदी मे शोध की कुछ समस्याए' जो १९५५ मे भारतीय हिंदी परिषद्, प्रयाग-अधिवेशन, की एक निबंध-गोष्ठी के अध्यक्षीय भाषण के रूप मे लिखा गया था। इसके लगभग चार वर्ष बाद दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग की ओर से एक अखिल भारतीय शोध-संगोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमे हिंदी के मूर्धन्य विद्वानो ने अनुसंधान के विभिन्न तत्त्वो और प्रश्नो पर विचार किया. 'अनुसंधान और आलोचना' की रचना इसी संगोष्ठी के संदर्भ मे हुई थी। इसका प्रतिपाद्य विषय सक्षेप मे इस प्रकार है यद्यपि अनुसधान और आलोचना पर्याय नही हैं, फिर भी आलोचना के अभाव मे अनुसंधान जड बन कर रह जाता है। अत' आलोचना अनुसंधान नही है, यह नारा गलत है — साहित्य के क्षेत्र मे, वास्तव मे, आलोचना अनुसधान की उच्चतर भूमिका है। 'आधुनिक साहित्य और अनुसंधान' एक वैचारिक परिसवाद का अग है जो 'हिंदी अनुशीलन' की ओर से आयोजित किया गया था। इस वर्ग का अतिम निबध है 'नवीन शोधविज्ञान और हिंदी-साहित्य के अनुसंधान मे उसकी उपयोगिता' जिसकी रचना सन् १९६६ मे, उदयपुर विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित अनुसधान-गोष्ठी के उद्घाटन-भाषण के निमित्त की गई थी। इसमे मैंने पश्चिम में विकसित नवीन शोध-विज्ञान के स्वरूप और प्रविधि का विवेचन करने के उपरात साहित्य के अनुसधान मे उनकी सीमित उपयोगिता को रेखाकित किया है। इस प्रकार, इन पाच निबंधो की रचना लगभग तेरह वर्षों की अवधि के भीतर हुई है। इस अवधि में मेरे अनुभव और ज्ञान का विकास हुआ है, ऐसा अनुमान करना शायद बहुत गलत न होगा। शोध-

विज्ञान का पाठ्यक्रम में अंतर्भाव हो जाने के बाद अपने व्यवसाय की परिधि के भीतर नवीन अनुसंधान-पद्धतियो के साथ मेरा सैद्धांतिक और व्यावहारिक सपर्क बराबर बढता गया है, परंतु मेरे विचार का मूल सूत्र अविच्छिन्न ही रहा है। अनुसंधान के विषय मे मेरी धारणा आज भी यही है : "हिंदी-साहित्य के शोधार्थी के लिए शोध-विज्ञान और इसकी क्रियाविधि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना लाभप्रद है, इसमे सदेह नही। परंतु उसके प्रयोग मे विवेक से काम लेना भी उतना ही आवश्यक है। पश्चिम के देशो मे, विशेषकर उन देशो मे जिनके पास अपार भौतिक साधन है, इन साधनो का उपयोग करने का लोभ इतना बढता जा रहा है कि उससे गंभीर चिंतन को खतरा पैदा होने लगा है। प्रत्येक क्षेत्र मे अनुसंधान का विधि-विज्ञान अधिकाधिक यांत्रिक होता जा रहा है और ऐसा लगता है जैसे सभी प्रकार का ज्ञान-विज्ञान मानव-चेतना की क्रिया न होकर भौतिक क्रियाओ का सघात मात्र है। इसलिए साहित्य के अनु-संधाता को सतर्क होकर इस यंत्र-व्यूह मे प्रवेश करना चाहिए—और कुछ ऐसे सिद्ध मत्र हैं जिनका ध्यान बराबर रखना चाहिए।"

(—शोध-विज्ञान और हिंदी-साहित्य मे उसकी उपयोगिता)

इन निबंधो मे कही-कही मेरी वाणी उग्र हो गई है। परतु इतनी दाद मैं आपसे चाहूगा कि हिंदी-अनुसंधान पर यांत्रिक विधि-विज्ञान का जो आक्रमण हो रहा था, उसका अवरोध करने मे मेरा यह उग्र स्वर भी थोडा-बहुत सहायक अवश्य रहा है।

(ख) भाग में संकलित निबधो मे साहित्य के मूल तत्त्वो और प्रश्नो का विवे-चन है। इनमे सबसे पहले निबंध 'साहित्य मे कल्पना का उपयोग' की रचना, जैसा कि मैं अभी निवेदन कर चुका हू, सन् १९३९ मे हुई थी। इसके बाद वर्तमान शती के पाचवें दशक मे चार निबंध लिखे गए—'साहित्य और समीक्षा', 'साहित्य की प्रेरणा', 'भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र' और 'नवनिर्माण . साहित्य की व्यापकता के उपादान'। 'साहित्य और समीक्षा' (१९४० ई०) 'हंस' के तत्कालीन संपादक श्री शिवदानसिंह चौहान के आमत्रण पर उसके किसी विशेषाक के लिए लिखा गया था। उन दिनो प्रगति-वाद का मोर्चा जमने लगा था। स्वर्गस्थ प्रेमचंद जी भारत मे प्रगतिशील आदोलन के प्रवर्तको मे से थे, उनके दोनो सुपुत्रो—श्रीयुत श्रीपतराय और श्री अमृतराय के विचार भी प्रगतिशील थे। अत अनायास ही 'हस' हिंदी के प्रगतिशील आदोलन का मुखपत्र बन गया। शिवदानसिंह उस समय नवयुवक ही थे और कम्युनिस्ट पार्टी के साथ उनका दूसरो की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ संपर्क था। फिर भी, उनका दृष्टिकोण सयत और रचनात्मक था। सस्कारो के अभाव मे जहा उनके अनेक सहयोगियो का—विशेषकर डॉ० राम-विलास शर्मा का, दृष्टिकोण उच्छृंखल और ध्वसात्मक बन गया था, वहा शिवदानसिंह के स्वर मे शुभ सकल्प और भद्र अभिव्यक्ति, दोनो का ही उचित संयोग था। इस-लिए अपने वर्ग के बाहर भी, ऐसे लेखको के साथ जो जीवन के स्वस्थ मूल्यो मे विश्वास करते थे, उनके साहित्यिक संबंध अच्छे थे। बाबू गुलाबराय और मुझ जैसे कुछ व्यक्तियो को उन्होने 'प्रगतिवाद के मित्र' वर्ग मे रखा था। 'हस' के उस विशेषांक मे उन्होंने इसी नाते साहित्य और समीक्षा के विषय में मेरे विचार प्रकाशित करने का

आग्रह किया था, जो उक्त निबध के रूप मे व्यक्त हुए। 'साहित्य की प्रेरणा' (१९४३ ई०) की रचना शुद्ध अत प्रेरणा के फलस्वरूप हुई थी। उस समय फ्रॉयड की चर्चा हिंदी मे काफी होने लगी थी और मेरा भी रुझान उधर हो रहा था। प्रस्तुत निबंध मे व्यक्त इस अभिमत के आधार पर कि ललित साहित्य की सर्जना मे कामवृत्ति की प्रेरणा प्रमुख है मेरे बार-बार इनकार करने पर भी, लोग मुझे वर्षों तक फ्रॉयडवादी आलोचक मानते रहे। 'साहित्य मे आत्माभिव्यक्ति' (१९४६ ई०) एक प्रकार से 'साहित्य की प्रेरणा' का पूरक निबंध है। इसमे मैंने कतिपय आक्षेपो का निराकरण करने के लिए अपने मतव्य का स्पष्टीकरण किया है। प्रगतिवाद के आदोलन के साथ साहित्य मे सामाजिक चेतना पर अत्यधिक बल दिया जाने लगा था। मैंने अपने एकाधिक लेखो मे सामाजिक चेतना की अपेक्षा आत्माभिव्यक्ति को अधिक महत्त्व देते हुए प्रगतिवाद के मूल सिद्धात का उसी के आधार पर खंडन किया था। इस पर काफी उग्र विवाद हुआ और मुझे लगा कि पक्ष-विपक्ष का विचार करते हुए अपने मतव्य को और स्पष्ट करना चाहिए। यह निबध उसी का परिणाम था। अपने शोध-प्रबध से मुक्त होकर १९४८ ई० मे मैंने 'भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र' शीर्षक लेख लिखा। रीतिकाव्य के अध्ययन के समय मैं व्यावहारिक आलोचना से सैद्धातिक आलोचना की ओर आकृष्ट हो चला था। भारतीय काव्यशास्त्र का सम्यक् परिचय प्राप्त कर लेने के बाद मैंने पाश्चात्य काव्यशास्त्र के स्रोत-ग्रथो का अगरेजी के माध्यम से अध्ययन किया और दोनो के मूलवर्ती समान तत्त्वो से प्रेरित होकर उक्त लेख लिखा। यह वास्तव मे मेरे परवर्ती तुलनात्मक अध्ययन की रूपरेखा थी। यही मुझे अपने इस विश्वास का बीज मिला कि भारत तथा पश्चिम के दर्शनो की तरह यहा के काव्यशास्त्र भी एक-दूसरे के पूरक है और पुनराख्यान आदि के द्वारा उनके आधार पर हमारे अपने साहित्य की परपरा के अनुकूल एक सश्लिष्ट आधुनिक काव्यशास्त्र का निर्माण सहज संभव है। ये दोनो लेख पहले दिल्ली के शनिवार-समाज मे पढे गए थे, और फिर सीधे पुस्तक-रूप मे प्रकाशित हुए . पहला 'विचार और अनुभूति' मे और दूसरा 'विचार और विवेचन' मे। 'कहानी और रेखाचित्र' (१९४९ ई०) लिखने की प्रेरणा भी शनिवार-समाज की एक गोष्ठी की परिचर्चा से ही मिली थी। पहले दिन की परिचर्चा कुछ बिखर गई थी—मैं भी अपनी बात ठीक ढग से नही कह पाया था। अत: उसी परिचर्चा के सदर्भ मे अपने विचारो को सकलित करने का सकल्प मेरे मन मे हुआ और एक काल्पनिक प्रसग की उद्भावना कर प्रतिवेदन या रिपोर्ताज के रूप मे मैंने इस निबध की रचना की। कल्पना के सक्रिय होते ही शास्त्रीय तर्क-बध अपने-आप ढीले पड गए और मेरी विनोदवृत्ति को थोडा अवकाश मिल गया। प्रसग इस गभीर भूमिका के साथ बाधा गया था कि प्राय: सभी ने उसे सही मान लिया और अनेक मित्र डॉ० शैलेन्द्रमोहन जौहरी के बारे मे पूछताछ भी करने लगे। जहा तक मुझे स्मरण है, स्वय जैनेन्द्र जी भी चक्कर मे आकर कहने लगे थे कि आदमी तो जानदार मालूम देते हैं—उन्हे लिखना चाहिए। पर इतने ही मे वे महिला, जिन्हे, प्रस्तुत निबध मे दिल्ली दरवाजे पर छोडने का उल्लेख है, हँस पडी और रहस्य खुल गया। 'नव-

निर्माण : साहित्य की व्यापकता के उपादान' रेडियो-वार्ता के रूप मे प्रसारित हुआ था। स्वतंत्र भारत मे वह नवनिर्माण का युग था—और आकाशवाणी की ओर से 'नवनिर्माण' के विभिन्न पक्षो का सर्वेक्षण करने के उद्देश्य से वार्तामाला का आयोजन हुआ था जिसमे मुझे साहित्य के क्षेत्र मे नवनिर्माण की दिशाओ और सभावनाओ पर विचार करने के लिए आमन्त्रित किया गया था। वार्ता तो सक्षिप्त थी, पर यह मूल रचना का अविकल रूप है।

शताब्दी के छठे दशक मे केवल तीन सैद्धातिक लेख लिखे गए · 'साहित्य के मानदड' (१९५४ ई०), 'कविता क्या है ?' (१९६० ई०) और 'साहित्य का धर्म' (१९६० ई०)—, यद्यपि भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र का व्यवस्थित एव गभीर अध्ययन मैंने इसी अवधि मे किया था। इस अध्ययन का परिणाम 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, ग्रथ-२' के रूप मे प्रकाशित हुआ, जो 'रस-सिद्धात' का पूरक ग्रथ है। उक्त लेखो मे मे 'साहित्य के मानदंड' और 'साहित्य का धर्म' वास्तव मे वक्तव्य हैं जो मैंने क्रमश नागरी-प्रचारिणी सभा की हीरक-जयती पर एक साहित्य-गोष्ठी मे और सत विनोबा के सान्निध्य मे अमृतसर मे आयोजित 'भारती सगम' के एक विशेष सत्र मे दिए थे। तीसरा निबध 'कविता क्या है ?' रेडियो-वार्ता के रूप मे लिखा गया था। इस दृष्टि से सातवें दशक की भूमिका कही अधिक उर्वरा रही जिसमे मैंने 'रस-सिद्धात' के अतिरिक्त बारह स्वतंत्र सैद्धातिक निबधो की रचना की। इनमे 'साहित्य का स्तर' (१९६० ई०) दिल्ली प्रादेशिक हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की विचार-गोष्ठी का अध्यक्षीय वक्तव्य है और 'नाटक का प्रेक्षक और समीक्षक' (१९६४ ई०) कलकत्ता की 'अनामिका' सस्था द्वारा आयोजित 'नाट्य महोत्सव' की एक विशेप सगोष्ठी का। निबंध-सग्रह मे ये दोनो वक्तव्य आरभ और अत के औपचारिक अशो को निकालकर ही प्रकाशित किए गए है। 'आधुनिकता का प्रश्न : साहित्य के संदर्भ मे' (१९६४ ई०) 'आलोचना' के एक विशेषाक के लिए लिखा गया था। यो तो आधुनिकता के प्रति मोह कोई नवीन प्रवृत्ति नही है—समय-समय पर चिंतन के विभिन्न क्षेत्रो मे इसका स्वर गूजता रहा है, परतु पिछले दो दशको से इसका जयघोष कुछ अधिक प्रखर हो गया है। आज से लगभग ४० वर्ष पूर्व प्रगतिशील आदोलन भी युग का ही झंडा लेकर आगे बढा था, मुझे याद है कि सन् १९४० के आस-पास प्रगतिशील लेखक एक-दूसरे का अभिनदन प्राय इन शब्दो मे किया करते थे · 'ऐसा ही लिखते चलो, मित्र ! युग तुम्हारे हाथ मे है।'—'इन कविताओ मे युग बोल रहा है।' धीरे-धीरे उनका स्वर मद पडता गया और युग-बोध का एकाधिकार जब नये लेखको के हाथ मे आ गया तो युग-बोध के यथार्थ स्वरूप की व्याख्या की आवश्यकता पडने लगी। 'आलोचना' का उक्त विशेपाक कदाचित् इसी आवश्यकता से प्रेरित होकर प्रकाशित किया गया था। उसमे हम जैसे अनाधुनिक लेखको को भी साग्रह आमन्त्रित किया गया। मेरी अपनी सौंदर्य-कल्पना मे युग-बोध अथवा प्राचीन या नवीन भाव-बोध जैसी अलग-अलग प्रवृत्ति-रेखाए कभी नही रही। फिर भी, इन आदोलनो की गतिविधि का निरीक्षण तो मैं अपने ढंग से करता ही रहा हू, अतः इस अवसर का लाभ उठाकर मैंने

'आधुनिकता' की नवीनतम धारणाओ के संदर्भ मे अपने विचारो को इस लेख मे समाकलित करने का प्रयत्न किया। मेरा मत है कि आधुनिकता जीवन और चिंतन की विधि है, मूल्य नही। शेष निबंध दो मालाओ के अंतर्गत आते है पहली माला के अतर्गत 'मेरी साहित्यिक मान्यताए' (१९६५ ई०) से सबद्ध तीन निबध है और दूसरी के अतर्गत छह निबंधो मे काव्यबिंब के स्वरूप, प्रकार तथा मूल्य आदि का विवेचन है। 'मेरी साहित्यिक मान्यताए' नाम से आकाशवाणी ने एक वार्तामाला का कार्यक्रम बनाया था जिसमे एक वार्ता के लिए मुझे भी आमन्त्रण मिला था। विषय मुझे अनुकूल लगा और रेडियो के आमंत्रण को निमित्त बनाकर मैंने परस्पर सबद्ध तीन निबध लिखे जिनका उपयोग कलकत्ता विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान मे आयोजित 'श्री घनश्यामदास बिडला व्याख्यान-माला' के अतर्गत किया गया। इस निबध-माला मे आत्मनिरीक्षण के द्वारा मैंने अपनी उन धारणाओ को यथातथ्य रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जो पिछले ४० वर्षों की साहित्य-साधना के फलस्वरूप क्रमश निर्मित होती रही हैं और जो मेरे साहित्यिक दृष्टिकोण का मूल आधार बन गई है। ये, वास्तव मे, मेरी मान्यताएं हैं जिनमे अध्ययन-मनन और साथ ही स्वतन्त्र चिंतन के परिणाम अतर्भुक्त हैं। अभी किसी समीक्षक ने शिकायत की थी कि इन निबधो मे अनेक परपरागत धारणाओ की आवृत्ति है। मुझे लगा जैसे ये सज्जन 'मान्यता' और 'स्थापना' मे भेद नही कर पाये। मान्यता न स्थापना का पर्याय है और न उद्भावना का। जिस प्रकार जीवन मे कोई व्यक्ति सर्वथा मौलिक या परपरा से भिन्न विश्वास लेकर नही जी सकता, इसी प्रकार साहित्य मे भी यह दावा कौन कर सकता है कि उसकी प्रत्येक मान्यता मौलिक है। हो सकता है, कुछ व्यक्ति यह दावा कर सकते हो कि उनका हर विश्वास—प्रत्येक जीवन-मूल्य नया है, परंतु दुर्भाग्य से मैं अपनी गणना ऐसे मौलिक व्यक्तियो मे नही करता। अपने इन निबधो मे मैंने इस बात पर बल दिया है कि सत्य तो चिरतन है—वह नया-पुराना नही होता, उसको सिद्ध करने की विधि मनुष्य की अपनी होती है और वह उसकी मौलिक उपलब्धि होती है। इन निबधो मे मैंने कुछ ऐसे प्रश्नो का अपने ढग से समाधान करने का प्रयत्न किया है जो मेरे ग्रथ के प्रकाशन के बाद रस-सिद्धात के संबध मे गभीर रुचि के विचारको ने उठाए थे—जैसे 'क्या रस-सिद्धात एक विकासशील काव्य-सिद्धात है ?'—या 'रस के प्रसग मे तारतम्य का क्या अर्थ है ?'—आदि। इनमे से तीसरा निबध आलोचना के स्वरूप और प्रक्रिया आदि से सबद्ध है जिसमे यह स्पष्ट किया गया है कि साहित्यिक आलोचना किस अर्थ मे सर्जनात्मक होती है। ये तीनो निबध एक प्रकार से आत्म-चिंतन या आत्म-निरीक्षण के परिणाम हैं और इनमे मैंने पूरी ईमानदारी के साथ आत्मान्वेषण का प्रयत्न किया है। काव्य-बिंब से संबद्ध सभी लेख सन् १९६६ मे लिखे गए हैं। आधुनिक काव्य मे बिंब की बडी चर्चा है—इस युग मे यूरोप और अमेरिका मे जो अनेक काव्यांदोलन होते रहे हैं, उनमे किसी-न-किसी प्रकार से बिंब पर बल दिया गया है, काव्यशास्त्र के ग्रथो मे भी बिंब-विधान का विवेचन-विश्लेषण प्रमुख रहता है और अनेक स्वतन्त्र पुस्तकें केवल काव्य-बिंब पर ही लिखी गई हैं। इधर मेरे मन मे भी रस, वक्रोक्ति और रीति

आदि के बाद अलंकार-सिद्धांत का अध्ययन करने की वासना बनी हुई है। अतः पश्चिम के नवीन आलोचनाशास्त्र का पर्यालोचन करते हुए मुझे काव्य-बिंब का स्वरूप-विवेचन करने की प्रेरणा हुई। वास्तव मे मुझे लगा कि पश्चिम का आलोचक आज बिंब के महत्त्व से इतना आक्रांत है और वह न केवल मनोविज्ञान एव दर्शन की, वरन् नृतत्त्व-शास्त्र तथा भौतिकविज्ञान आदि की प्रतिपत्तियो मे भी इतनी बुरी तरह उलझ गया है कि काव्य-बिंब का मूल बिंब ही एकदम अस्त-व्यस्त हो गया है। अतः इस माला का पहला लेख तो मैंने एक प्रकार से आत्मबोध के लिए ही लिखा है। यह लेख पहले जम्मू-कश्मीर विश्वविद्यालय की और बाद मे दिल्ली विश्वविद्यालय की एक सगोष्ठी मे पढ़ा गया था। वहां इसके विषय मे जो प्रश्नोत्तर हुए उनसे प्रेरित होकर फिर मैंने अन्य निबंधो की रचना की और इस प्रकार काव्य-बिंब के मौलिक तत्त्वो का एक संक्षिप्त किंतु सांद्रित अध्ययन प्रस्तुत करने का अवसर अनायास ही हाथ आ गया। 'काव्य-भाषा और व्यवहार-भाषा' का वाचन मैंने १९७२ मे हिंदुस्तानी एकेडेमी की एक गोष्ठी मे किया था। इसका मूल प्रारूप २-३ वर्ष पूर्व राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसधान परिषद् के लिए अगरेजी मे तैयार किया गया था।

खंड-२—हिंदी-साहित्य की प्रवृत्तियां

प्रस्तुत खड मे १५ निबध संकलित हैं जिनका संबध प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हिंदी-साहित्य की विविध प्रवृत्तियो के साथ है। इनमे से पहला लेख 'आलोचना की आलोचना' (१९३९-४० ई०) सत्येन्द्रजी के अनुरोध पर उनके संपादकत्व मे प्रकाशित 'साधना' पत्रिका के विशेषांक के लिए लिखा गया था। मेरा अनुमान है कि शुक्लोत्तर हिंदी-आलोचना की प्रवृत्तियो पर यह पहला विश्लेषणात्मक निबध था। शुक्लोत्तर आलोचना मे मेरा भी अपना थोडा-बहुत स्थान बन चुका था, अत. आगरा की एक अंतरग मित्र-गोष्ठी मे यह चर्चा उठी कि इस विवेचन मे मेरे योगदान का उल्लेख किस प्रकार हो। उस समय तक शिष्टाचार के प्राय प्राचीन मूल्यो की ही प्रतिष्ठा थी जिनके अनुसार लेखक के द्वारा अपना उल्लेख अनुचित ही माना जाता था। 'अज्ञेय' की कविता की वस्तुपरक तटस्थ प्रशस्ति करने का अधिकार जैसा आज 'वात्स्यायन' को प्राप्त है वैसा अयोध्यासिंह उपाध्याय को 'हरिऔध' की कविता का मूल्यांकन करने का नही था। यह विनयाचार मुझ-जैसे यश.प्रार्थी लेखक को महंगा अवश्य पडता, पर सत्येन्द्र जी ने आरभ मे एक संपादकीय टिप्पणी के द्वारा इस समस्या का अंशतः समाधान कर दिया था। इसके कुछ ही महीने बाद मैंने 'हस' के 'हिंदी-कविता अक' के लिए 'आधुनिक हिंदी-काव्य के आलोचक' (१९४० ई०) शीर्षक से एक और निबध लिखा जो 'आलोचना की आलोचना' के पूरक रूप मे 'विचार और अनुभूति' मे प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष रेडियो-वार्ता के निमित्त 'हिंदी-उपन्यास' (१९४० ई०) की रचना हुई। अपनी रोचक शैली के कारण मेरा यह निबध अत्यत लोकप्रिय हुआ—स्वर्गीय डा० अमरनाथ झा ने एक पत्र मे इस प्रकार की आलोचना-शैली की प्रशंसा की थी। प्रस्तुत निबध को इस रूप में लिखने की प्रेरणा मुझे रेडियो के एक अधिकारी

के व्यंग्य-वाक्य से मिली थी जो अकसर यह कहा करते थे कि हिंदी की आलोचना बडी भारी होती है। 'हिंदी मे हास्य की कमी' (१९४४ ई०) भी एक रेडियो-सवाद का ही विस्तृत रूप है। इस लेख के प्रोफ़ेसर मेरे मित्र श्री (अब डॉक्टर) हरिवश कोचर हैं जो उस समय दिल्ली के सेंट स्टीफेंस कॉलेज मे संस्कृत-हिंदी के प्राध्यापक थे। दो व्यक्ति मिलकर एक लेख नही लिख सकते—यह मानकर कोचर साहब ने लेखन का पूरा भार मुझ पर ही छोड दिया था और सरल स्वभाव से परिसवाद के एक पात्र की भूमिका मात्र अदा करना स्वीकार कर लिया था। 'ब्रजभाषा का गद्य (टीका-साहित्य)' (१९५३ ई०) के मूल मे भी रेडियो की ही प्रेरणा थी—और यही बात 'स्वतंत्रता के पश्चात् हिंदी आलोचना' (१९५६ ई०) के विषय मे भी सत्य है, परतु इन दोनो के कुछ अश ही रेडियो मे प्रसारित हुए थे, क्योकि ये लेख रेडियो-वार्ता के सामान्य कलेवर की अपेक्षा काफी बडे हैं। 'स्वतत्रता के पश्चात् हिंदी-साहित्य' की रचना 'आजकल' के एक विशेषाक के लिए की गयी थी। बाद मे आवश्यक परिवर्तन-परिवर्धन कर इसी के आधार पर १९६५ ई० मे मैंने अगरेजी मे एक लेख प्रस्तुत किया : 'नेहरू-युग मे हिंदी साहित्य का विकास', जिसका वाचन 'भारती संगम' द्वारा आयोजित नेहरू-व्याख्यान के रूप मे पजाब विश्वविद्यालय के तत्वावधान मे किया गया। 'हिंदी का अपना आलोचनाशास्त्र : सभावनाए' भारतीय हिंदी परिषद् की विचारगोष्ठी का अध्यक्षीय भाषण है। परिषद् के जयपुर-अधिवेशन मे मुझसे इस विषय का प्रवर्तन करने के लिए कहा गया था; बाद मे मनोनीत अध्यक्ष की अनुपस्थिति मे मैंने अध्यक्ष-पद ग्रहण किया और डा० भगीरथ मिश्र ने विषय-प्रवर्तन किया। प्रश्न यह था —और यह प्रश्न डा० धीरेन्द्र वर्मा ने उठाया था, कि क्या हिंदी-आलोचना मे जिन आधारिक काव्य-सिद्धातो का प्रयोग होता है वे सभी सस्कृत और अंगरेजी के काव्यशास्त्र से उधार लिये हुए हैं या हिंदी के आलोचको ने भी कुछ मौलिक सिद्धातो की उद्भावना की है जिनके आधार पर हिंदी के स्वतत्र काव्यशास्त्र की प्रकल्पना की जा सकती है। मैं समझता हू कि यह प्रश्न हिंदी मे पहली बार उठाया गया था और मेरा उक्त निबध इसके उत्तर का पहला प्रयास है। प्रस्तुत प्रश्न के दो पहलू हैं। एक तो यह कि काव्यशास्त्र काव्य का दर्शन है और दर्शन का स्वरूप देश-प्रदेश, भाषा, जाति आदि से परिबद्ध नही होता, अत भारतीय काव्यशास्त्र को भी हिंदी-काव्यशास्त्र, बंगला या मराठी-काव्यशास्त्र मे विभक्त करके देखना शास्त्र के स्वरूप को ही खडित करना होगा, और दूसरा यह कि जब प्रत्येक समृद्ध भाषा के साहित्य का अपना व्यक्तित्व है तो उसके अपने काव्यशाशास्त्र के स्वतत्र अस्तित्व की कल्पना भी तर्कसम्मत है। ये दोनो ही दृष्टि-बिंदु अपने-अपने ढंग से ठीक हैं और मैंने इन दोनो का समन्वय कर समस्या का समाधान उपस्थित किया है। 'भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता' (१९५७ ई०) 'भारतीय वाड्मय' ग्रंथ की भूमिका का मूल अंग है। इस ग्रंथ मे भारत की बारह प्रमुख भाषाओ के अपने-अपने साहित्य पर अधिकारी विद्वानो के लेख एकत्र संकलित हैं, जिनके आधार पर भूमिका मे मैंने इस मौलिक स्थापना को सप्रमाण सिद्ध किया है कि विभिन्न भाषाओ के माध्यम से अभिव्यक्त

भारतीय साहित्य की आत्मा एक ही है। इस लेख का भी अंगरेज़ी अनुवाद मैंने 'भारती सगम' की एक विशेष सगोष्ठी मे प्रस्तुत किया था।

शताब्दी के तीसरे और चौथे दशक मे फ्रॉयड की चर्चा हिंदी मे बडे जोर से होने लगी थी। फ्रॉयड के सिद्धात ऊपर मे जितने सरल प्रतीत होते थे, अपने वास्तविक रूप मे वे उतने ही सूक्ष्म और जटिल थे। काव्य मे रस-तत्त्व के प्रति आग्रह होने के कारण स्वभावत. मैं उनकी ओर आकृष्ट हुआ और अपने दो-एक लेखो मे मैंने काव्य के मूल मे काम की प्रेरणा का अनुमोदन किया। बस फिर क्या था, लोग मुझे फ्रॉयड का अनुयायी मानने लगे और इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय के साथ मेरी गणना हिंदी के मनोविश्लेषणवादी आलोचको मे करने लगे। इसमे सदेह नही कि फ्रॉयड के मनोदर्शन के प्रति मेरा आकर्षण था और मैंने अत्यत रुचिपूर्वक उनके ग्रथो का अध्ययन किया था—साथ ही इसमे भी सदेह नही कि मेरे रागात्मक दृष्टिकोण को, जो जीवन और काव्य मे मानवीय एवं रागात्मक मूल्यो को नैतिक मूल्यो की अपेक्षा अधिक प्रभावी मानता था, फ्रॉयड के दर्शन से अवश्य ही बल मिला था, परतु फ्रॉयड की अतिवादी और एकागी दृष्टि का मैं कायल नही था और उनके जीवन-दर्शन की सीमाएं बहुत जल्दी ही मेरे मन मे स्पष्ट हो गई थी। हा, उनकी विश्लेपण-पद्धति का लाभ मैंने अवश्य लिया, परतु वह भी एक सीमा के भीतर ही। फिर भी, यार लोग मुझे फ्रॉयड के साथ बाधते रहे। फ्रॉयड का दुर्भाग्य यह रहा कि हिंदी के लेखक उसका जितना समर्थन या विरोध करते थे, उतना अध्ययन नही करते थे। हिंदी मे फ्रॉयड पर प्रामाणिक सामग्री आज भी अत्यत स्वल्प मात्रा मे उपलब्ध है। इस लेख मे मैंने पहले तो अपने विषय मे फ्रॉयड-भक्ति के आरोप का निर्भ्रांत रूप से खडन किया, फिर फ्रॉयड के मूल सिद्धातो का साराश प्रस्तुत करते हुए सकेत रूप से हिंदी-साहित्य पर उसके प्रभाव का उल्लेख किया। मेरी धारणा है कि फ्रॉयड के मूल सिद्धात, हिंदी-साहित्य पर उसके प्रभाव और उसके जीवन-दर्शन के विषय मे मेरे अपने दृष्टिबिंदु को स्पष्ट करने मे इस लघुलेख ने निश्चय ही सहायता की, यद्यपि इसके बाद भी एक अर्धशिक्षित महिला-लेखिका ने, जिन्होने न मेरे साहित्य को ढग से पढा है, और न जिसमे फ्रॉयड को पढने-समझने की बुद्धि है, अपने एक लेख मे यह लिख मारा कि मेरी काव्य-दृष्टि फ्रॉयड के काम-सिद्धात से आगे नही गई।

'रवीन्द्रनाथ का भारतीय साहित्य पर प्रभाव' (१९६१ ई०) पंजाब के भाषा-विभाग के आमत्रण पर एक विशेप अभिभाषण के रूप मे लिखा गया था। वह रवीन्द्रनाथ की जन्मशती का वर्ष था—देश के प्रत्येक भाग मे राष्ट्रीय स्तर पर विश्व-कवि का जय-जयकार हो रहा था। यह तो वास्तव मे गौरव का विषय था कि कवि का इस प्रकार स्तवन हो, परतु इस समारोह के अतिशय उल्लास के पीछे मुझे यह आशका हुई कि कही इससे अन्य भारतीय भापाओ की विभूतियो का अवमूल्यन न होने लगे।—इसका एक कारण यह था कि तरह-तरह से रवीन्द्रनाथ के प्रभाव का आकलन तो हो रहा था, और शायद अतिरजनापूर्ण रीति से हो रहा था, पर रवीन्द्रनाथ के कवि-व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले तत्त्वो के विषय मे कोई जिज्ञासा व्यक्त नही

की जा रही थी। यह उत्साह इतना अधिक बढ गया था कि लोग धीरे-धीरे ऊबने लगे और विदेशी दर्शक इन समारोहो के आयोजको को 'टैगोर के अलमबरदार' कहने लगे थे। ऑल इंडिया रेडियो मे भी भारतीय साहित्य के विभिन्न रूपो पर रवीन्द्रनाथ के प्रभाव का आकलन करने के लिए एक सर्वभाषा-समारोह हुआ जिसकी उपन्यास-गोष्ठी का अध्यक्ष मैं था। मैंने हिंदी-उपन्यास को आधार बनाकर भारतीय उपन्यास पर रवीन्द्रनाथ के प्रभाव का बड़ी ही मुखर भाषा मे निषेध किया। बात भी ठीक थी: शरत् का तो प्रभाव था, पर रवीन्द्रनाथ का उपन्यास के क्षेत्र में कोई विशेष प्रभाव नहीं था। मेरे वक्तव्य के बाद तख्ता पलट गया और सभी भाषाओ के प्रवक्ताओं ने अपने-अपने साहित्य के संदर्भ मे यही बात कही। कुछ लोगो ने तो यह भी कहा कि इस प्रकार के विषय का चयन ही गलत है क्योकि इसके पीछे जबरदस्ती प्रभाव ढूंढ़ निकालने की चेष्टा हो सकती है। इसका समारोह के अधिकारियो ने प्रतिवाद किया और वातावरण में थोड़ी उत्तेजना आ गई। मेरे उक्त निबंध की रचना इसी संदर्भ मे हुई थी, जिसमे रवीन्द्रनाथ के गौरव के प्रति पूर्ण आस्था व्यक्त करने के साथ ही रवीन्द्र-भक्तो को उनके प्रभाव के विषय मे आवश्यकता से अधिक उत्साह न दिखाने का परामर्श दिया गया था, क्योकि उससे तथ्यो को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत करने की आशंका हो सकती थी।—'हिंदी-साहित्य पर नेहरू का प्रभाव' इसके विपरीत संदर्भ मे लिखा गया था। नेहरू की मृत्यु के बाद एक दिन उनके व्यापक प्रभाव की चर्चा करते-करते कुछ मित्रो ने यह विचार व्यक्त किया कि सब मिला कर हिंदी के लिए नेहरू का प्रभाव अहितकर ही रहा। नेहरू के जीवनकाल मे मैं भी उनके स्वभाव और प्रभाव की अनेक सीमाओ की आलोचना किया करता था। यद्यपि उनके धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत का मैं बड़ा कायल था, फिर भी मुझे ऐसा लगता था मानो हिंदी के प्रति उनके अवचेतन मन में अकारण ही एक प्रकार के विद्वेष का भाव विद्यमान था, जो मौके-बेमौके उभर आता था। लेकिन नेहरू का व्यक्तित्व इतना बड़ा था और उनके सामने दूसरे लोग इतने बौने लगते थे कि उनके दोष-दर्शन के लिए अवकाश ही नही रह जाता था। नेहरू की मृत्यु के बाद तो देश मे ऐसा सन्नाटा-छा गया था कि मैं उनके सभी दोष भूल गया। अत. मैंने मित्रो के तर्क का प्रतिवाद किया और उनके तथा उन जैसे अनेक लोगों के भ्रम का निराकरण करने के लिए यह निबंध लिखा। निबंध मूलत अंगरेजी में लिखा गया था, पहले वह एक फैशनेबल क्लब मे पढा गया, बाद में शिक्षा-मंत्रालय की प्रसिद्ध पत्रिका 'कल्चरल फोरम' मे प्रकाशित हुआ। उसका यह हिंदी-अनुवाद एक-आध महीने बाद मैंने ही किया था।

'हिंदी-साहित्य का इतिहास : पुनर्लेखन की समस्याएं' शीर्षक निबंध की रचना १९७० मे उस समय हुई थी जबकि मैं 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' ग्रंथ का संपादन कर रहा था। इस इतिहास के अधिकांश लेख अन्य विद्वान लेखको ने लिखे हैं किंतु मूलवर्ती परिकल्पना मेरी है। 'हिंदी-साहित्य का इतिहास : पुनर्लेखन की समस्याएं' मे इसी परिकल्पना का व्याख्यान-विवेचन है जो एक ओर साहित्य के इतिहास और दूसरी ओर हिंदी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की समस्याओ के विषय मे मेरी अव-

धारणाओ को रेखाकित करता है। निबंध के दो भाग हैं : पहले मे सिद्धांत-विवेचन है और दूसरे मे कतिपय व्यावहारिक विचार-बिंदुओ का क्रमबद्ध प्रस्ताव है। 'साहित्य का इतिहास' मेरा प्रिय विषय रहा है। आरंभ से ही मै अंगरेजी तथा हिंदी साहित्य के मानक इतिहास-ग्रंथो का विधिवत् अध्ययन करता रहा हूं। मानक इतिहास-ग्रंथों के व्यावहारिक विवेचन के अतिरिक्त 'साहित्य का इतिहास' के स्वारूप्य का सैद्धातिक निरूपण भी अपने आप मे आलोचना-शास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इस निबंध के रचना-प्रसंग मे प्रस्तुत विषय के सिद्धात और व्यवहार—दोनो पक्षों के संबंध मे अपनी अवधारणाओ को व्यवस्थित रूप मे लिपिबद्ध करने का अवसर प्राप्त कर मुझे काफी सतोष हुआ था।

'हिंदी-साहित्य पर गाधी का प्रभाव' गाधी-शताब्दी-वर्ष अर्थात् १९७२ मे मैसूर विश्वविद्यालय की एक संगोष्ठी से लिए मूलतः अगरेजी मे लिखा गया था। यह उसी का हिंदी रूपातर है। 'हिंदी साहित्य . महत्त्व और उपलब्धिया' मेरे संपादित इतिहास-ग्रंथ का उपसहार है जो १९७३ मे प्रकाशित हुआ था।

खंड ३—कृतिकार

इस खंड के रचना-काल की परिधि प्रायः उतनी ही है जितनी कि मेरे आलोचक की आयु—अर्थात् इस वर्ग के आरंभिक लेख उस समय लिखे गए थे जब मैंने लिखना शुरू किया था और बाद के लेख अभी दो-एक वर्ष पूर्व की रचनाएं हैं। सबसे पहली रचना है 'वाणी के न्याय-मंदिर में' (१९३९ ई०)। रेडियो ने एक नया कार्यक्रम आरंभ किया था जिसका नाम उन्होंने अपनी भाषा मे रखा था 'अदबी अदालत मे'। अश्कजी उस समय दिल्ली रेडियो पर काम करते थे और शायद यह योजना उन्ही की थी। इसमे कुछ-एक प्रसिद्ध पात्रो के द्वारा अपने स्रष्टा कलाकारो के विरुद्ध अभियोग उपस्थित करने का रूपक बाधा गया था—और, इस प्रकार यह समीक्षा का या व्याज-समीक्षा का ही एक रूप था। इसी क्रम मे मुझे 'ज्ञानशंकर बनाम प्रेमचंद' पर एक फीचर लिखने के लिए आमन्त्रित किया गया। विषय मुझे पसद आया और मैंने अभिलेख तैयार कर लिया। भाषा की समस्या सामने आयी क्योकि उस समय रेडियो पर हिंदी के नाम पर उर्दू का ही प्रसारण होता था, परतु थोडे-से बहस-मुबाहसे के बाद वह हल हो गई। इसमे निर्णय प्रेमचंद के विरुद्ध दिया गया है। —प्रेमचद के प्रति मेरे मन मे भी कम आदर भाव नही था, पर मुझे ऐसा लगता था और आज भी लगता है कि उनमे प्राणो की वह ऊर्जा और आत्मा की वह गहराई काफी मात्रा मे नही है जो उदात्त कला की सृष्टि करती है। उक्त रूपक मे ज्ञानशंकर बडे निर्भीक शब्दो मे प्रेमचद के विरुद्ध यह आरोप लगाता है। इससे प्रेमचद के भक्तो मे काफी रोष फैला था और उन्होने मेरे निबंध-सकलन की कटु आलोचना कर इसका प्रतिशोध भी किया था। लगभग दस वर्ष बाद सन् १९४९ मे प्रेमचंद पर मैंने फिर एक स्वतत्र लेख लिखा और संपूर्ण श्रद्धा के बावजूद प्रायः अपने पूर्व-निर्णय की ही आवृत्ति की। रूपक 'विचार और अनुभूति' मे तथा लेख 'विचार और विवेचन' मे

प्रकाशित हुआ था। 'प्रसाद के नाटक' और 'आचार्य शुक्ल और डा० आई० ए० रिचर्ड्स' सन् १९४० की कृतिया हैं। 'प्रसाद के नाटक' की रचना स्वतत्र रूप मे हुई थी पर बाद मे वह 'आधुनिक हिंदी-नाटक' का एक परिच्छेद बन गया। प्रारभिक निबध होने पर भी शैली तथा विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से मुझे यह आज भी प्रिय है। 'आचार्य शुक्ल और डा० आई० ए० रिचर्ड्स' शीर्षक निबध 'साहित्य-सदेश' के शुक्ल-अक के लिए लिखा गया था। आचार्य शुक्ल के निधन के उपरात 'साहित्य-सदेश' ने श्रद्धाजलि के रूप मे एक विशेषाक निकालने की योजना बनाई जिसमे मेरा काफी सहयोग था—जैनेन्द्र जी, स्वर्गीय नलिन शर्मा आदि ने मेरी व्यक्तिगत प्रार्थना पर अपने लेख लिखे थे। मूल योजना के अनुसार मुझे शुक्लजी की आलोचना के किसी अन्य पक्ष पर लिखने के लिए आमत्रित किया गया था, परंतु मैंने अपनी इच्छा से उक्त विषय पर लिखने का निर्णय किया। मैंने यह लेख बडे परिश्रम से, बडे साफ और सतुलित ढग से लिखा था परतु उस समय तक रिचर्ड्स का विशेष प्रचार न होने के कारण 'शुक्ल-अक' की समीक्षाओ मे उसकी चर्चा कम ही हुई · अधिकाश व्यक्तियो ने यही कहा कि रिचर्ड्स को हमने पढा नहीं है। सैद्धातिक आलोचना के स्तर पर शुक्लजी का विवेचन भी अत्यत युक्तियुक्त एव विवेकपुष्ट होता था, पर रिचर्ड्स की दृष्टि मुझे अधिक प्रखर और मर्मभेदी प्रतीत हुई। उधर व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र मे स्थिति सर्वथा भिन्न थी शुक्लजी के सिद्धात जहा काव्य की चर्वणा से उद्भूत हुए थे, वहा रिचर्ड्स ने अपने काव्य-सिद्धात मनोविज्ञान के अध्ययन से प्राप्त किए थे : और इससे बडा अंतर पड गया—समृद्ध साहित्यिक सस्कारो के अभाव मे रिचर्ड्स की व्यावहारिक आलोचना सहृदय-चेतना की प्रतिक्रियाओ का समाकलन न होकर मनोविज्ञान की 'केस-हिस्टरी' के अधिक निकट पहुच जाती है। अपने निबध मे मैंने ये दोनो तथ्य पूर्ण आत्मविश्वास के साथ व्यक्त किए—और आज भी मेरा मूल मंतव्य प्राय यही है। 'गुलेरी जी की कहानिया' (१९४१ ई०) मे उसी समय प्रकाशित कहानी-सकलन के आधार पर गुलेरी जी की कहानी-कला की आलोचना की गयी है। तब तक सामान्य धारणा यही थी कि गुलेरी जी ने केवल एक ही कहानी 'उसने कहा था' लिखी है, परतु इस सग्रह के माध्यम से दो और कहानिया सामने आई, जो गुण की दृष्टि से उतनी सफल न होने पर भी, प्रकृति मे अधिक भिन्न नही थी गुलेरी का स्वस्थ जीवन-दर्शन और प्रबल भाषा, दोनो का ही पूर्वाभास इनमे मिलता था। इन्ही के आसपास एक अन्य निबध 'यौवन के द्वार पर' लिखा गया, जिसकी काफी चर्चा रही। इसमे एक काल्पनिक परिसवाद के माध्यम से दिनकर, अचल और नरेन्द्र की काव्य-प्रतिभा का विवेचन प्रस्तुत किया गया। महादेवी के बाद कवियो की जो नई पीढी उभर रही थी, उनमे ये कवि अपना विशिष्ट स्थान बनाते जा रहे थे। वात्स्यायन जी उन दिनो मेरठ मे रहते थे और दिल्ली काफी आते-जाते थे—इसे पढकर उन्होने सलाह दी थी कि अपने आचार्यत्व के आतक से मुक्त होकर मुझे इस तरह की रचनाए और भी लिखनी चाहिए। कई अन्य मित्रो के भी पत्र आए और साहित्य-गोष्ठियो मे अच्छी चख रही थी। दो-एक सीधे-सादे बंधु इस गोष्ठी की घटना

को सच भी मान बैठे। पं० सोहनलाल द्विवेदी का उन दिनो अच्छा प्रभाव था, परंतु मैंने अपने इस लेख मे उनसे 'वॉक आउट' करा दिया था। इस पर उन्होने अपनी नई कविता-पुस्तकें 'वासवदत्ता' आदि मेरे पास भेजी और पत्र मे लिखा · "इन पुस्तको के न होने से शायद आप मेरे 'यौवन के द्वार' तक नही पहुच पाए; आशा है अब यह बाधा नही रहेगी।"

इस भाग मे और भी पाच निबंध ऐसे हैं जिनकी रचना रेडियो के निमित्त से हुई थी। 'महादेवी की आलोचक दृष्टि' (१९४५ ई०) 'दीपशिखा' (१९४४ ई०) का पूरक निबध है। 'दीपशिखा' की समीक्षा भी मैंने रेडियो पर ही की थी जिसमे उसके गीतो मे मासल अनुभूति के अभाव की शिकायत की गयी थी। उसी के अतर्गत 'दीप-शिखा' की महत्त्वपूर्ण भूमिका के विषय मे फिर कभी चर्चा करने का सकेत भी था। 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' के प्रकाशन के बाद मैंने अपने उस सकल्प की पूर्ति की। 'तुलसी और नारी' का प्रसारण सन् १९५२ मे हुआ था और इसके पक्ष-विपक्ष मे बहुत वाद-विवाद भी हुआ था। 'दिनकर के काव्य-सिद्धात' (१९४४ ई०) उनके निबध-सग्रह 'मिट्टी की ओर' की सश्लेषणात्मक आलोचना है। 'केशवदास का आचार्यत्व' तथा 'बिहारी की बहुज्ञता' विश्वविद्यालय-कार्यक्रम के अतर्गत प्रसारित हुए थे। 'केशवदास का आचार्यत्व' की रचना रिपोर्ताज शैली मे हुई है, इसमे उल्लिखित सभी नाम वास्तविक है, यद्यपि घटना काल्पनिक है। प्रसारण से पहले मैं हिंदी-विभाग की एक गोष्ठी मे इसका वाचन कर चुका था। इस गोष्ठी मे मेरी उस एम० ए० कक्षा के सभी विद्यार्थी उपस्थित थे जिनका उल्लेख प्रस्तुत निबध मे किया गया है। 'रीति-काल के कवि-आचार्यों का योगदान' 'हिंदी-साहित्य का बृहद् इतिहास-खड ६' का उपसंहार लेख है जो १९५७ मे प्रकाशित हुआ था।

शेष निबधो मे 'श्यामसुदरदास की आलोचना-पद्धति' की रचना 'साहित्य-सदेश' के 'श्यामसुदरदास-अंक' के लिए की गई थी। हिंदी-साहित्य जगत् मे उन दिनो 'साहित्य-सदेश' का विशेष स्थान था और उसके अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषाक प्रकाशित हो चुके थे। डॉ० श्यामसुदरदास की अपनी सीमाए थी—और सबसे बडा दुर्भाग्य यह था कि आचार्य रामचद्र शुक्ल उनके सहयोगी थे, फिर भी मुझे लगता था कि उनका उचित मूल्याकन नही हुआ। डॉ० श्यामसुदरदास का व्यक्तित्व बडा ही तेजस्वी था, उनमे सयोजन और प्रशासन की क्षमता तो अद्भुत थी ही, साथ ही बौद्धिक क्षमता और साहित्यिक मेधा भी कम नही थी। अत. 'साहित्य-सदेश' का प्रस्ताव मुझे अत्यत रुचिकर प्रतीत हुआ और मैंने बडी निष्ठा के साथ, किंतु सतुलन की रक्षा करते हुए, उनके कर्तृत्व की समीक्षा प्रस्तुत की। 'टी० एस० इलियट का काव्यगत अव्यक्तिवाद' शीर्षक निबध भी इसी अवधि मे लिखा गया। हिंदी-साहित्य मे उस समय रोमानी कवियो का प्रभाव प्राय समाप्त-सा हो चुका था और ऐसी साहित्यिक प्रतिभाए बुद्धिजीवी वर्ग मे लोकप्रिय होती जा रही थी जो यूरोप मे रोमानी काव्य-चेतना के विरोधी आदोलन का नेतृत्व कर रही थी।

इलियट इनके अग्रणी थे और हिंदी मे उनके काव्य तथा काव्य-सिद्धातो की बडी चर्चा थी · अज्ञेय ने 'त्रिशंकु' मे परंपरा और प्रयोग आदि से सबद्ध उनके विचारो को अपने कई लेखो का आधार बनाया था। इस प्रकार, इलियट का अध्ययन उस समय आधुनिक साहित्य-बोध का एक आवश्यक प्रमाण माना जाता था। अंगरेजी विभाग के मेरे दो युवा सहयोगी श्री समर सेन और श्री अमलेन्दु दास इलियट के बडे भक्त थे और कॉलेज मे कुछ वर्ष पूर्व श्री बलवत भट्ट की प्रेरणा से 'शेक्सपियर सोसाइटी' का नाम 'इलियट सोसाइटी' कर दिया गया था। उसी मे दास ने 'इलियट के काव्य-सिद्धात' विषय पर एक लेख पढा। इलियट के काव्य का अवलोकन मैं कर चुका था और उनके समीक्षात्मक लेखो का भी अध्ययन कर चुका था। उनका काव्य तो समर्थको के सभी तर्कों के बावजूद, एक सीमा से आगे, मेरे गले नही उतरा, परतु उनकी आलोचना ने मुझे काफी प्रभावित किया। यो उनके मूल सिद्धात से मेरा मत-भेद था और आज भी है, पर उनके सिद्धात-प्रतिपादन मे मुझे विवेक का दृढ आधार मिला। अपने मित्र दास के उस लेख से प्रेरित होकर—उसके जवाब मे मैंने अपना लेख लिखा जिसमे इलियट के अव्यक्तिवादी सिद्धात की आलोचना की। मुझे लगा कि अपने सिद्धात मे इलियट भाव के भोक्ता और स्रष्टा के सूक्ष्म आध्यात्मिक सबध को पकड पाने मे असमर्थ रहे हैं। अपने इस विचार का पल्लवन मैंने फिर 'मेरी साहित्यिक मान्यताए—१' मे किया है। यह निबंध कॉमर्स कॉलेज के होस्टल मे आयोजित 'शनिवार-समाज' की एक गोष्ठी मे पढा गया था जिसमे अगरेज़ी के भी अनेक विद्वान् आमन्त्रित किए गए थे। 'पत का नवीन जीवन-दर्शन मे 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' के आधार पर पतजी की काव्य-दृष्टि के नवोन्मेष का अभिनदन किया गया है। 'ज्योत्स्ना' के बाद जब पतजी की काव्य-कला मे बाह्य जगत् के साथ निकटतर सपर्क के फलस्वरूप, मासल रग उभरने लगे तो उनके अन्य प्रशसको की भाति मुझे भी सतोष हुआ। परतु जब वे मार्क्सवाद के रंग मे रगकर 'युगवाणी' के गद्यगीत लिखने लगे तो उतनी ही निराशा हुई। 'ग्राम्या' की कला मे रस का समावेश तो हुआ, फिर भी मेरा विश्वास यही था कि कवि अपनी प्रकृत भूमि को छोड जिस क्षेत्र मे भटक गया है वह उसके लिए कठिन है और अनजान भी—

कठिन भूमि कोमलपदगामी !

अत जब 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' मे कवि की कल्पना फिर अपने परिचित स्वर्ण-लोक मे विचरण करने लगी तो मेरे विश्वास को बल मिला और मैंने इस स्वाभाविक परिवर्तन का स्वागत किया।

सन् १९४८ मे मैंने सियारामशरण गुप्त पर एक पुस्तक का संपादन करने की योजना बनाई थी। मेरी ही तरह सियारामशरण गुप्त के व्यक्तित्व और कृतित्व के अनेक प्रशसक यह मानते थे कि उनका उचित मूल्याकन नही हुआ—अत मेरे प्रस्ताव का सभी ने सहर्ष अनुमोदन किया और एक वर्ष मे ही ग्रथ तैयार हो गया। दद्दा ने मेरे विशेष अनुरोध पर 'अनुज' शीर्षक से शियारामशरण पर अत्यत स्निग्ध-सरस सस्मरण-लेख लिखा। मेरा निबध 'सियारामशरण गुप्त की कविता' (१९४९ ई०)

इसी संदर्भ मे लिखा गया था। इसमे एक स्थापना यह है कि कवि ने भुक्ति को बचा-कर मुक्ति की साधना की है और शृंगारादि के प्रसग मे उनके अतिशय सयम पर मैंने कुछ व्यग्य भी किए हैं जो कदाचित् अधिक मुखर हो गए हैं। स्वभावतः सियाराम जी को मेरे ये कथन अधिक रुचिकर नही हुए और एक दिन बातचीत मे उन्होने मेरे तर्कों का व्यंग्यपूर्वक प्रतिवाद किया, क्योकि वाक्सयम के पक्ष मे भी तो उतना ही कहा जा सकता है। इसी बीच में दद्दा, जो इस विवाद मे बडा रस ले रहे थे—और वे प्राय इस प्रकार के हर विवाद मे रस लेते थे, बोल उठे, 'तुमने लेख तो बड़े प्यार से लिखा है पर कुछ बातें बे-अकली की कही हैं।" सब लोग हँस पडे और विवाद समाप्त हो गया। कई वर्ष बाद, जब सियाराम जी भी थे, मैं अपने किसी लेख या शायद इंटरव्यू का एक अंश पढकर सुना रहा था जिसमे मैंने यह स्वीकार किया था कि अपनी पुरानी शृगार-मुखर कविताओ को मैं प्राय. अपने छात्रो से बचाकर रखने का प्रयत्न करता हू। दद्दा भला कब चूकने वाले थे, फौरन सियाराम जी की ओर देखकर कह उठे · "चलो, अब तो अकल आ गई।" 'बच्चन की कविता' (१९५० ई०) की रचना इसके लगभग एक वर्ष बाद हुई थी। सन् १९५० मे, जब 'कवि-भारती' का सपादन चल रहा था, मैंने व्यवस्थित रूप से आधुनिक कवियो की समस्त कृतियो का अध्ययन किया था। बच्चन की आरभिक रचनाए 'मधुशाला' आदि, जिनकी मेरे किशोर-काल मे बडी धूम थी, मुझे बिलकुल अच्छी नही लगती थी और उनके प्रेमियो से मेरी अकसर झडप हो जाती थी। आगरा की एक गोष्ठी मे बच्चन पर एक लेख पढा गया मैंने बडे स्पष्ट शब्दो मे उस लेख की प्रतिपत्तियो और उनके समर्थन मे उद्धृत बच्चन की पंक्तियो की आलोचना की। नई हवा उन दिनो चलने लगी थी और नये लोग बच्चन के प्रशसक थे : श्री प्रकाशचंद्र गुप्त के नेतृत्व मे नेमिचद्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, रागेय राघव आदि ने मुझे घेरा, माचवे जी इधर-उधर दोनो तरफ थे। मैं भी डटा ही रहा, वास्तव मे, 'गूजी अब मदिरालय मे लो पियो पियो की बोली' जैसी सपाट कविता की दाद देनेवालों पर मुझे कभी क्रोध आता था और कभी रहम। बाबू गुलाबराय जी की राय मांगी गई तो उन्होने कहा कि कविता अभिधात्मक अवश्य है, फिर भी इसमे जीवन है। मुझे याद नही कि उस समय बाबू जी के भोलेपन पर मुझे रहम आया था उनके समन्वयवाद पर क्रोध, पर गोष्ठी मे मैं प्राय अकेला रह गया और प्रकाशचद्र जी ने यह फैसला दे दिया कि मेरे आर्यसमाजी संस्कार उक्त कविता के रसास्वादन मे बाधक हो रहे हैं : 'सिन्स दाऊ आर्ट ए प्यूरिटन, देअर विल बी नो केक्स एड एल्स'—चूकि आप आर्यसमाजी हैं, इसलिए लोग शराब और कबाब से तोबा कर लेंगे।' मैं स्थिति की विडबना पर मन ही मन हँसने लगा—मैंने तो आर्यसमाज से इसलिए मुह मोड लिया था कि 'सत्यार्थप्रकाश' मे 'रघुवश' और 'रामचरितमानस' को अपाठ्य ग्रंथ करार दे दिया गया है। 'निशा-निमत्रण' के प्रकाशन के बाद बच्चन की कविता मेरे घट मे उतरने लगी, 'एकात-संगीत' की अनेक रचनाए भी मुझे अत्यत प्रिय लगी। मित्र लोग कहने लगे 'टाइम इज ए ग्रेट हीलर'; परतु मेरी कसौटी अब भी वही थी; बच्चन की कविता ही उसके अनुकूल अर्थात्

अनुभूति-प्रवण होने लगी थी और 'मधुशाला' मुझसे अब भी उतनी ही दूर थी। सन् १९५० मे बच्चन के सपूर्ण काव्य को आद्योपात पढने के बाद मैंने उसका सश्लेषणात्मक मूल्याकन प्रस्तुत किया। अपने ढग से मैंने बच्चन के साथ पूर्ण न्याय किया। उनके काव्य के मूल तत्त्व अनुभूति की प्रबलता और उससे अनुप्राणित अनेक कृतियो की मैंने मुक्त कठ से शुभाशसा की थी, परतु साथ ही अनुभूतिशून्य वाचाल रचनाओ की उतने ही स्पष्ट शब्दो मे निंदा भी। सब मिलाकर मेरे निबध का स्वर बच्चन के पक्ष मे ही है और मैं समझता था कि उन्हे पसद आएगा, पर लेख-प्रकाशन के कुछ समय बाद जब पतजी ने मुझे लिखा कि आपने बच्चन की बडी कठोर आलोचना की है— वह बडा दु:खी है, तो मुझे थोडा आश्चर्य हुआ। दिल्ली मे एक दिन भेंट होने पर जब उस लेख की चर्चा आयी तो बच्चन ने कहा, "हा, सुना है कि आपने कोई लेख लिखा है पर मैंने पढ़ा नही है।" 'भगवतीचरण वर्मा के काव्य-रूपक' (१९५५ ई०) का रचना-प्रसग बडा रोचक है। शायद सन् १९५२ ५३ के आस-पास भगवती बाबू ने तीन काव्य-रूपक लिखे थे महाकाल, द्रोपदी और कर्ण, जिनका पाठ दिल्ली की काव्य-गोष्ठियो मे कई बार मैंने सुना था। इनमे 'द्रौपदी' और 'कर्ण', विशेषकर 'कर्ण' अत्यत प्रबल रचना है। अनेक श्रोताओ के साथ मैंने भी अत्यत उच्छ्वासमयी वाणी मे उसके औदात्य की प्रशसा की। कदाचित् इसी से प्रभावित होकर भगवती बाबू ने मुझसे एक दिन कहा, "ये तीनो नाटक 'त्रिपथगा' के नाम से प्रकाशित हो रहे है और मैं चाहता हू कि तुम इसकी भूमिका लिख दो।" इस प्रस्ताव पर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ क्योकि उन जैसे वरिष्ठ कृतिकार के लिए भूमिका की क्या आवश्यकता हो सकती थी। मैंने यही उनसे कहा भी, परतु वे मचल गए और मैंने यह कहकर अनुरोध स्वीकार कर लिया कि भूमिका तो क्या, मैं एक सक्षिप्त आलोचना लिख दूगा। एक सप्ताह का समय भी उन्होने मुझे मुश्किल से दिया और मैंने बडे प्रेम से एक सक्षिप्त समीक्षा लिखकर उनकी सेवा मे प्रस्तुत कर दी। मैंने देखा कि उसे पढकर भगवती बाबू अधिक प्रसन्न नही हुए, इसलिए स्थिति का अनुमान कर मैंने उनसे फिर आग्रह किया कि मेरे वक्तव्य को भूमिका के रूप मे न देकर वे परिशिष्ट के रूप मे ही जाने दें और यदि वे समझते हो कि इसमे उनके कृतित्व के प्रति पूर्ण न्याय नही हुआ तो उसे बिलकुल ही छोडा जा सकता है। परतु वे आग्रहपूर्वक उसे ले गए और कह गए कि पुस्तक छपते ही प्रकाशक मेरे पास उसकी प्रति भेज देंगे। बात आई-गई हो गई और मैं उसे भूल भी गया। महीनो बाद एक दिन कोई विक्रेता, पुस्तकालय के लिए मजूर कराने के विचार से, बहुत-सी पुस्तकें मेरे पास लाया। इनमे 'त्रिपथगा' भी थी, पर मेरी भूमिका उसमे न आगे थी, न पीछे। सामान्यत मुझे इस घटना पर रोष आ सकता था, लेकिन इस समय भी भगवती बाबू की बाल-चातुरी पर मुझे उसी तरह हँसी आ गई जिस तरह कई महीने पहले उनके बाल-हठ पर कुतूहल हुआ था।

'हाली के काव्य-सिद्धात' (१९६३ ई०) 'मुकद्दम-ए-शेर-ओ-शायरी' के हिंदी-अनुवाद की भूमिका है जो साहित्य अकादमी के अनुरोध पर लिखी गई थी। अकादमी का ग्रथ तो अभी-अभी प्रकाशित हो पाया है, परतु मैं इस लेख का प्रकाशन पहले हिंदी

'आजकल' मे, फिर इसके अनुवाद का प्रकाशन उर्दू 'आजकल' मे और अंत मे मूल लेख का उपयोग 'आलोचक की आस्था' मे कर चुका था। दिल्ली विश्वविद्यालय के अजुमन-ए-तरक्की-ए-उर्दू मे भी एक बार मैने इसका वाचन किया था और उर्दू के कई विद्वानो ने यह धारणा व्यक्त की थी कि हाली का ऐसा सूक्ष्म-गहन मूल्याकन उर्दू मे भी नही हुआ। यद्यपि यह वाक्य उर्दू के साहित्यकारो की उदारता का परिचायक था, फिर भी इससे हिंदी-आलोचना के स्तर के विषय मे मेरे आत्मविश्वास मे वृद्धि हुई थी, इसमे सदेह नही। 'गिरिजाकुमार माथुर' शीर्षक निबध भी 'हिंदी के लोकप्रिय कवि' माला के अंतर्गत गिरिजाकुमार माथुर के काव्य-सचयन की भूमिका है। राजपाल एंड सस के निदेशक श्री विश्वनाथ जी ने मेरे सामने पहले तो मैथिलीशरण गुप्त के लिए प्रस्ताव किया था, परतु मैंने उनके स्थान पर सियारामशरण गुप्त को चुना। बाद मे, जब व्यावसायिक कारणो से 'साहित्य-सदन' ने इसके लिए अनुमति देने से इनकार कर दिया तो मैंने अपनी इच्छा से गिरजाकुमार माथुर की कविताओ का सचयन तैयार करना स्वीकार कर लिया। हिंदी के नवोदित कवि डा० कैलाश वाजपेयी ने, जो उन दिनो गिरिजाकुमार के निकट संपर्क मे थे, इस कार्य मे सहयोग दिया। उन्होने माथुर के व्यक्तित्व का चित्र प्रस्तुत किया और मैंने उनके कृतित्व का आकलन किया। मेरे अनुरोध पर प्रकाशक इस बात के लिए राजी हो गए कि डॉ० वाजपेयी का नाम भी मेरे साथ संपादक के रूप मे दिया जाए। गिरिजाकुमार माथुर की कविता के प्रति मेरे मन मे आरभ से ही अनुरक्ति थी, अत. मैंने बडे चाव से कृतियो का सचय कर उनकी कवित्व-कला का मूल्याकन प्रस्तुत किया। आगे चलकर इस निबध का अतर्भाव 'आधुनिक हिंदी-कविता की मुख्य प्रवृत्तिया' मे कर दिया गया। इससे नई कविता के वृत्त मे थोडी-सी हलचल पैदा हो गई थी : डॉ० जगदीश गुप्त ने मेरी इस शुभाशसा को नई कविता की विजय माना और डा० माचवे ने अज्ञेय की सापेक्षता मे माथुर के प्रति मेरे पक्षपात पर असतोष व्यक्त किया था। इस वर्ग का अतिम निबध है 'मैथिलीशरण गुप्त का काव्य' (१९६५ ई०) जो कवि की मृत्यु के पश्चात् 'दद्दा : महान् व्यक्तित्व' के पूरक रूप मे लिखा गया था। इसका उपयोग मैंने एक बार कवि के वार्षिक श्राद्ध के अवसर पर आगरा विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित विस्तार-भाषणमाला और बाद मे कलकत्ता विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान मे श्री घनश्यामदास बिडला व्याख्यानमाला' के अंतर्गत किया था। सन् १९६५ मे जब दिल्ली विश्वविद्यालय ने कवि-चित्र के अनावरण के अवसर पर मुझसे एक विशेष व्याख्यान देने की माग की, तो मैंने इसी के आधार पर 'मैथिलीशरण गुप्त ऐज ए पोएट' शीर्षक से एक अगरेजी निबध पढा था। उन दिनो 'रस-सिद्धात' पर बडे जोरो से विवाद चल रहा था—उससे मेरा तथा अन्य विवादियो का ध्यान विकृष्ट करने के लिए अनेक नए साहित्यकारो ने सलाह दी कि अब मुझे फिर व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र मे लौट आना चाहिए। 'काव्य-भाषा : तुलसीदास की अवधारणा' संख्याक्रम से पहला और कालक्रम से खंड ३ का अतिम निबध है, जिसकी रचना १९७७ मे हिंदी के वयोवृद्ध साहित्यमर्मी प० श्रीनारायण चतुर्वेदी द्वारा आयोजित एक 'लिखित' विचार-गोष्ठी के निमित्त की गई थी। आज से

चालीस-पचास वर्ष पहले कवि-गोष्ठियो मे जिस तरह समस्या दी जाती थी इसी तरह इस लिखित विचार-गोष्ठी के लिए चतुर्वेदी जी ने तुलसीदास की एक अर्धाली कुछ विद्वानो के सामने पेश कर दी थी :

सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे,
अरथु अमित अति, आखर थोरे ।

खंड ४—कालजयी कृतियाँ

इसके अतर्गत हिंदी साहित्य की अनेक कालजयी कृतियो के कतिपय पक्षो से संबद्ध १६ स्फुट निबध सकलित हैं। यहा भी 'रामचरितमानस का अगी रस' संख्याक्रम से पहला निबध अवश्य है किंतु कालक्रम से वह प्रस्तुत खंड की अतिम रचना है। यद्यपि इसकी मूलवर्ती स्थापनाओ को मैं अपने भाषणो मे पहले भी अनेक बार अभिव्यक्त कर चुका था किंतु इनको निबध के रूप मे लिपिबद्ध मैंने १९७४ मे ही किया। यद्यपि मानस-चतु शती वर्ष तब तक समाप्त हो चुका था फिर भी उससे संबद्ध आयोजनो का क्रम दो-तीन वर्ष बाद तक भी चलता रहा। यह निबध उसी शृंखला के एक समारोह के लिए लिखा गया था जिसकी व्यवस्था मध्यप्रदेश समिति द्वारा भोपाल मे की गई थी। लगभग एक वर्ष बाद इस निबध का अगरेजी रूपातर विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग की योजना के अंतर्गत मेरे द्वारा सपादित 'तुलसीदास · हिज माइंड एंड आर्ट' नामक ग्रंथ मे प्रकाशित हुआ।

'उन्मुक्त', 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' की समीक्षाएं बिना किसी निमित्त के लिखी गईं और ये क्रमश 'साहित्य-सदेश' (१९४० ई०), 'प्रतीक' (१९४८ ई०) और 'आजकल' (१९६१ ई०) मे प्रकाशित हुई थी। इनके पीछे नवप्रकाशित गौरव-ग्रथो के अध्ययन के उपरात अपनी प्रतिक्रियाओ को समाकलित करने का विचार ही मुख्य था। 'शेखर एक जीवनी' (१९४२ ई०), 'दीपशिखा' (१९४४ ई०), 'सुखदा' (१९५३ ई०) और 'इरावती' (१९५४ ई०) की रचना भी प्राय इसी तरह हुई, परतु बाद मे 'आकाशवाणी' के पुस्तक-समीक्षा-कार्यक्रम मे उनका प्रसारण हुआ था। 'शेखर एक जीवनी' का प्रकाशन हिंदी-उपन्यास के इतिहास मे निश्चय ही एक घटना थी। यो तो प्रकाशन से पूर्व ही उसकी काफी चर्चा हो चुकी थी, पर प्रकाशन के बाद हिंदी-जगत् मे उसका बडे समारोह के साथ स्वागत हुआ और उस पर अनेक समीक्षाए प्रकाशित हुईं। धीरे-धीरे जब उसका यश फैलने लगा तो हमारे अन्य उपन्यासकार, जो 'अज्ञेय' की पीठ ठोक रहे थे, सावधान होने लगे और यह प्रवाद फैलने लगा कि 'शेखर' एक प्रबल रचना तो अवश्य है, परतु उसे 'उपन्यास' नही कहा जा सकता। इसी विवाद की पृष्ठभूमि मे मैंने 'शेखर : एक जीवनी' का अध्ययन किया और उससे प्रभावित होकर उक्त समीक्षा लिखी जो पहले 'साहित्य-सदेश' मे प्रकाशित और फिर रेडियो से प्रसारित हुई। प्रगतिवाद के कोलाहल के बीच सन् १९४४ मे 'दीपशिखा' के प्रकाशन से मेरे आत्मविश्वास को बडा बल मिला था, पर साथ ही मुझे यह देखकर निराशा भी हुई थी कि महादेवी की अनुभूति क्रमश चिंतन के भार से दबती जा रही

है। 'दीपशिखा' की समीक्षा मे मेरे मन का वह द्वंद्व साफ झलकता है और इसके लिए मुझे महादेवी जी की एक मीठी झिडकी भी खानी पडी थी जिसका उल्लेख मैंने अपने सस्मरण 'श्रीमती महादेवी वर्मा' मे किया है। 'इरावती' (१६५४ ई०) की समीक्षा का रचना-प्रसग मुझे याद नही है। शायद यो ही एक दिन प्रसाद का यह 'हंसगीत' (स्वान साग) मेरे हाथ मे आ गया और इसमे 'कामायनी' के आनंदवाद की गद्यमयी व्याख्या देखकर बडे मनोयोग के साथ मैने इस अधूरे उपन्यास का अध्ययन किया। समीक्षा की बात क्यो मेरे मन मे आई, यह स्मरण नही है। बाद मे रेडियो से पुस्तक-समीक्षा का सविदा प्राप्त होने पर मैंने इसका प्रसारण किया था। प्राय. ऐसा ही 'सुखदा' के प्रसग मे हुआ। काफी वर्षों तक मसीहाई करने के बाद जैनेन्द्र जी ने सन् १६५२ मे आखिर 'सुखदा' उपन्यास लिख ही डाला। उसकी एक प्रति उन्होने मुझे दी और यह वायदा ले लिया कि मै उसे अवश्य पढूगा। मैंने भी स्वीकार कर लिया कि निश्चय ही उसे पढूगा और यदि उपन्यास अच्छा लगा तो उसकी समीक्षा भी करूगा। जैनेन्द्र जी के कथा-साहित्य के अनेक प्रशंसको की तरह मैं भी चाहता था कि वे सुकरात का सत्संग छोडकर शरत् की सोहबत करना फिर शुरू कर दें। अतः जब उन्होने 'सुखदा' उपन्यास लिखा, और अच्छा लिखा, तो उसकी समीक्षा करना मेरा नैतिक कर्तव्य हो गया। यह निबंध 'शनिवार-समाज' मे पढा गया और आकाशवाणी से भी पुस्तक-समीक्षा-क्रम मे प्रसारित हुआ। जैनेन्द्र जी का लघु उपन्यास 'त्यागपत्र' सन् १६३७ मे निकला था। तब तक जैनेन्द्र जी मे काफी आत्मविश्वास आ गया था और इस रचना की बडी चर्चा हुई थी। इसी के आसपास सियारामशरण गुप्त का उपन्यास 'नारी' प्रकाशित हुआ। उपन्यास पढने मे मेरी रुचि प्राय नही थी; फिर भी जैनेन्द्र जी के संपर्क और आग्रह से मैंने इन दोनों कृतियो का अध्ययन किया और मुझे लगा मानो ये दोनों लेखक, जो परस्पर अभिन्न मित्र थे, एक-दूसरे मे अपने अभाव की पूर्ति खोज रहे हो। कुछ इसी प्रकार की भावना से प्रेरित होकर मैंने उक्त दोनों कथा-कृतियो की तुलनात्मक समीक्षा की थी। यह निबंध जैनेन्द्र जी के घर पर एक गोष्ठी मे पढा गया था जिसमे अश्क भी मौजूद थे। इसमे दो-एक वाक्य इस प्रकार थे: "अगर आपके सामने कोई व्यक्ति मुह की रगत को बिगाडता हुआ तकलीफ के साथ जहर पीता हो तो आप कैसा महसूस करेंगे? और अगर यही व्यक्ति बिना किसी भाव-परिवर्तन के, गंभीरता के साथ, जहर को गटगट कर जाए तो आपको कैसा लगेगा? मृणाल की आत्मयत्रणाएं कुछ ऐसी ही हैं।"—मुझे याद है कि अश्क ने इन्हे सुनकर पहले मेरी ओर और फिर जैनेन्द्र जी की ओर देखकर जोर का कहकहा लगाया। 'हिमकिरीटिनी और वासवदत्ता' (१६४२ ई०) तथा 'जयभारत' (१६५२ ई०) की समीक्षाएं भी पहले स्वतत्र रूप मे लिखी गई थी और फिर प्रसारित हुईं। 'जयभारत' की आलोचना दद्दा ने स्वय सुनी थी और कुछ प्रतिकूल टिप्पणियो के बावजूद उन्हें वह अच्छी लगी थी। सियारामशरण भी उन दिनो यही थे; उन्हे मेरा यह वाक्य बहुत पसंद आया था कि 'वे (मैथिलीशरण गुप्त) द्वापर, त्रेता, सतयुग जहा कही भी गए हैं, अपने युग को साथ ले गए हैं।' 'हिमकिरीटिनी' की आलोचना शायद उसके कवि को

पसद नही आई थी। उस समय भी पं० माखनलाल चतुर्वेदी की गणना हिंदी के वरिष्ठ एव श्रेष्ठ कवियो मे होती थी, परतु उनकी रचनाए पत्र-पत्रिकाओ मे बिखरी पडी थी। स्वभावत 'हिमकिरीटिनी' के प्रकाशन का हिंदी-जगत् ने स्वागत किया और मैंने भी बडे चाव से इस नवप्रकाशन और उसके माध्यम से 'एक भारतीय आत्मा' के काव्य की समीक्षा का उपक्रम किया। पर 'हिमकिरीटिनी' का विधिवत् अध्ययन करने के बाद मेरे उत्साह मे विशेष वृद्धि नही हुई। इसमे सदेह नही कि उसकी अनेक कविताओ मे हिंदी की रोमानी काव्य-प्रवृत्ति के रमणीय सकेत मिलते थे; उसके अनेक चित्र नए-नए रगो से जगमग थे और उसकी अनेक वचन-भगिमाए वक्रता-वैदग्ध्य से चमत्कृत थी, फिर भी उनका बिखराव मुझे ग्राह्य नही हुआ। अन्विति के अभाव मे जीवन और कला दोनो का ही सौंदर्य खडित हो जाता है—ऐसी मेरी धारणा रही है; और इन कविताओ मे अन्विति-सूत्र जगह-जगह टूटा हुआ था। अन्विति के इसी अभाव के कारण आज भी 'नई कविता', जो 'हिमकिरीटिनी' के कवि को अपना अत्यत प्रतापी पूर्वज मानती है, मेरे गले नही उतरती। श्री सोहनलाल द्विवेदी की 'वासवदत्ता' का स्वर एकदम विपरीत था। उसकी अभिव्यक्ति सरल और अभिधात्मक थी लगता था मानो अपनी बात को सीधे और स्पष्ट शब्दो मे कहे बिना उसके कवि को सतोष ही नही होता। छायावाद का युग समाप्त होते-होते हिंदी-साहित्य मे जो प्रगतिशील शक्तिया उभर कर आईं उनमे राहुल साकृत्यायन का स्थान अन्यतम है। राहुल जी महापडित होने के साथ-साथ महाप्राण भी थे। सन् १९४२-४३ मे वे एक बार दिल्ली मे मेरे घर पधारे थे और उस समय प्रगतिशील सघ तथा शनिवार-समाज की ओर से कॉमर्स कॉलेज होस्टल मे, जिसका उन दिनो मैं अधीक्षक था, उनका साहित्यिक अभिनदन किया गया था। उनका कहानी-सग्रह 'वोल्गा से गगा' और दो उपन्यास 'सिंह सेनापति' तथा 'जय यौधेय' प्राय तभी प्रकाश मे आए थे। इस समय प्रगतिवाद के दूसरे शक्ति-स्रोत थे—निराला जी, जो गद्य और पद्य दोनो मे अपनी प्रखर सामाजिक चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान कर रहे थे। उनकी गद्य-रचना 'बिल्लेसुर बकरिहा' तभी प्रकाशित हुई थी। रेडियो के आमत्रण का लाभ उठाकर मैंने एक बार 'वोल्गा से गगा' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' की समीक्षा साथ-साथ प्रसारित की और दूसरी बार 'सिंह सेनापति' तथा 'जय यौधेय' की। आज से १०-१५ वर्ष पूर्व आकाशवाणी के हिंदी-विभाग ने कुछ नवीन वार्ताक्रमों का आयोजन किया था जिसमे 'काव्य की भूमिकाए' वार्तामाला के अतर्गत मैंने 'पल्लव' और 'दीपशिखा' की भूमिकाओ की समीक्षा की थी। 'पल्लव' की भूमिका को मैं उसी प्रकार छायावाद का घोषणापत्र मानता हू जिस प्रकार पश्चिम के आलोचक 'लिरिकल बैलड्स' की भूमिका को स्वच्छदतावाद का जयघोष मानते हैं। मेरी धारणा है कि हिंदी मे काव्यशिल्प का ऐसा जीवत विवेचन न इससे पहले हुआ है और न बाद मे। 'दीपशिखा' की भूमिका मे मैंने अपनी इस मान्यता की आवृत्ति की है कि रहस्य-प्रणय की अनुभूति महादेवी या वर्तमान युग के किसी भी कवि की मूल प्रेरणा नही हो सकती। महादेवी जी ने अपने वक्तव्यो में मेरी अथवा सहचिंतक अन्य आलोचको की इस स्थापना के विरुद्ध, प्रकट अथवा

प्रच्छन्न रूप से, जो तर्क उपस्थित किए है उनका इस निबंध मे युक्तिपूर्वक प्रतिवाद किया गया है। 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' मे डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रसिद्ध ऐतिहासिक आलोचना-ग्रंथ की समीक्षा है।

विभिन्न परिस्थितियो में लिखे गए विभिन्न प्रकार के इन निबंधो की रचना का संक्षेप मे यही इतिवृत्त है।

५. वर्गीकरण

इन निबंधो का वर्गीकरण सामान्यत. दो दृष्टियों से हो सकता है · (१) विषय की दृष्टि से, और (२) रूपविधा की दृष्टि से। मेरे ये प्राय. सभी निबंध समीक्षात्मक हैं—दो-चार को छोडकर सभी का विषय साहित्यिक आलोचना है। समीक्षात्मक निबधों मे आलोचना के सभी अगो का यथावत् अतर्भाव है—कुछ मे कृति की समीक्षा है, अनेक निबधों मे कृतिकार के कर्तृत्व का मूल्याकन है, कुछ मे साहित्य की प्रवृत्तियो का विश्लेषण है और कुछ मे ऐतिहासिक क्रम का सधान भी; काफी सख्या ऐसे निबंधों की है जिनमे सिद्धात-विवेचन है और यह सिद्धात-विवेचन वस्तु एवं रूप—आत्मा और शरीर—दोनो से संबद्ध है; साथ ही, जो अनुसधान को आलोचना का अग मानते है, उनके लिए अनुसंधान का तात्त्विक विवेचन भी है। सामान्यतः आलोचना के भी ये ही अंग हैं : कृति की वस्तुरूपात्मक समीक्षा, कृतिकार के व्यक्तित्व और कृतित्व का मूल्यांकन, अतीत एवं आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियो का विश्लेषण, साहित्य के विभिन्न रूपो के विकास-क्रम का अध्ययन, और सिद्धात-विवेचन। जो आलोचक अपने धर्म को निष्ठापूर्वक स्वीकार करता है, उसके सामान्यत ये ही कर्तव्य-कर्म हैं। अपने विषय मे मैं सहज भाव से कह सकता हू कि मैंने आलोचना के कार्य को निष्ठा के साथ ग्रहण किया है, अतएव मेरी समीक्षा मे आलोचना के ये सभी अंग या पक्ष यथाविधि अतर्भुक्त हैं।

इन निबधो मे यो तो साहित्य के अनेक रूपो का विवेचन है : काव्य के अतिरिक्त आलोचना, कथा-साहित्य अर्थात् उपन्यास, कहानी और नाटक को भी विषय रूप मे यथास्थान ग्रहण किया गया है, फिर भी स्वभाव की प्रेरणा से काव्य के प्रति और व्यवसाय के अनुरोध से आलोचना के प्रति मेरा पक्षपात स्पष्ट है। काव्य के प्रति इस पक्षपात के दो मुख्य कारण हैं—एक तो यह कि मेरे साहित्यिक जीवन का आरंभ कविता से हुआ है, अत. कविता ही मेरे प्रथम प्रणय का आलबन रही है और 'प्रथम प्रणय' के प्रति पक्षपात स्वाभाविक है; दूसरा कारण यह है कि कविता साहित्य का मर्म है, इसलिए उसके विवेचन मे साहित्य के मूल तत्त्व का विवेचन स्वभावतः निहित रहता है। यही कारण है कि कला अथवा रस के साहित्य के मौलिक तत्त्वो एवं सिद्धातों का विवेचन प्राय. कविता के आधार पर ही होता रहा है, क्योकि कविता ही प्रतिनिधि कला है, वही साहित्य का प्रतिनिधि रूप है। आलोचना मेरे साहित्यिक जीवन का व्यावसायिक कर्म है—व्यवसाय शब्द का प्रयोग मैं यहा नियमित कर्तव्य-कर्म के अर्थ मे ही कर रहा हूं, जिसमे हानि-लाभ की

गणना निहित नही है। अत. आलोचना के व्यावहारिक रूप के ही नही, उसके सैद्धांतिक पक्ष के साथ भी मेरा साहित्य-चिंतन व्यक्त-अव्यक्त रूप से सहज संवद्ध है और इसी क्रम मे मैंने हिंदी की आलोचना, आलोचक, आलोचनाशास्त्र आदि के विषय मे अनेक निवंधो मे विचार किया है। उपन्यास-कहानी मे मेरी अधिक रुचि नही रही, इसलिए कथा-साहित्य मेरे विशेष अध्ययन तथा चिंतन-मनन का विषय नही रहा और इसी अनुपात से वह मेरे विवेचन का भी विषय कम ही रहा है।

'हिंदी-उपन्यास', 'यौवन के द्वार पर', 'कहानी और रेखाचित्र', 'साहित्य की प्रेरणा' आदि मे लालित्य-तत्त्व स्पष्टत: अधिक है और 'रीतिकाल के आचार्यों का योगदान', 'हाली के काव्य-सिद्धात', 'मनोविज्ञान में बिंब का स्वरूप' मे वस्तु-तत्त्व का आधार अपेक्षाकृत अधिक दृढ है। जैसा कि मैंने अभी सकेत किया, निवंध मे लालित्य का प्रेरणाधार है—आत्म-तत्त्व, जिसे प्रसिद्ध निवधकार जॉन्सन ने 'मन की तरंग' कहा है। शास्त्रीय समीक्षा मे आलोचक जहा विषयवस्तु पर सीधा आघात कर तत्त्व के उद्घाटन मे प्रवृत्त होता है, वहां समीक्षात्मक निवंध मे उसे मन की तरग से खेलने का भी थोड़ा-बहुत अवकाश रहता है। मन की तरंग का अर्थ है कल्पना और भावना का विलास जो अनेक प्रकार से और अनेक रूपो मे व्यक्त होता है। स्वप्न, कल्पित संवाद, पत्र, परिचर्चा, गोष्ठी-प्रसंग, प्रत्यक्ष वर्णन (रिपोर्ताज) आदि मन की तरग के ही विविध रूप हैं और निवधकार के मन पर जब शास्त्र का अनुशासन शिथिल हो जाता है तो वह थोडा-बहुत इनमे रमण करने लगता है। मेरे अनेक निवधो के रचना-प्रसंगो मे यही हुआ है। 'हिंदी-उपन्यास' मे विषय का विवेचन स्वप्न-कथा के व्याज से किया गया है; 'यौवन के द्वार पर' तथा 'कहानी और रेखा-चित्र' मे प्रत्यक्ष वर्णन (रिपोर्ताज) का माध्यम ग्रहण किया गया है; 'साहित्य की प्रेरणा' मे गोष्ठी-प्रसंग की कल्पना की गई है और 'केशवदास का आचार्यत्व' मे पत्र का आधार लिया गया है। कुछ समीक्षको ने इनके आधार पर मेरे निवंधो का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है, परंतु मेरी अपनी धारणा है कि ये 'मन की तरग' की माध्यम-विधिया मात्र हैं—स्वतंत्र विधाएं नही हैं। इनके विषय मे एक बात और स्पष्ट है—और वह यह कि विषय का विवेचन किसी भी स्थिति मे गौण नही बनता : 'मन की तरग' विवेचन मे स्फूर्ति और ताजगी तो अवश्य पैदा कर देती है, पर वह इतनी उद्दाम कभी नही हो पाती कि संपूर्ण विषय को ही वहाकर ले जाए। मेरा दृष्टिकोण उस कर्मचारी का-सा रहता है जो एकनिष्ठ होकर काम करता है, पर बीच-बीच मे दिल और दिमाग को तरोताजा करने के लिए सिगरेट या कॉफी का शौक भी कर लेता है—या उस छात्र का-सा रहता है जो दत्तचित्त होकर अध्ययन करता हुआ बीच-बीच मे रेडियो का गाना भी सुन लेता है। लक्ष्य या विवेचन-केंद्र से उच्छिन्न होकर कल्पना या जल्पना के क्षेत्रो मे विचर जाना, चाहे वे कितने ही रमणीय क्यो न हो, मेरे विचार से, समीक्षक के लिए उचित नही है। इसलिए मेरे प्रत्येक निवंध मे विषय के प्रति निष्ठा आपको अनिवार्यत' मिलेगी और यह निष्ठा ही, वास्तव मे, विचार की अन्विति का मूल आधार है। विषय के प्रति

इसी निष्ठा के कारण समीक्षको को शिकायत रही है कि मेरे निबंधो में विचार एवं तर्क की कड़ियां इतनी ज्यादा कस जाती हैं कि निबंध का सौष्ठव छिन्न-भिन्न हो जाता है अथवा मैं अपने निबंधों मे जिस लालित्य-बंध की योजना करता हूं उसका निर्वाह अंत तक नही हो पाता। ये दोनों ही शिकायतें अपने ढंग से ठीक हो सकती है; पर मैं इन्हे दूर करने की आवश्यकता नही समझता। 'समीक्षात्मक निबंध' मे लालित्य की योजना वही तक होनी चाहिए जहा तक कि उससे विवेचन का क्रम भग न हो—लालित्य-बंध यदि अपने-आप मे इतना प्रमुख हो जाए कि निबंधकार विषय को भूल-कर उसी की साज-संवार मे लग जाए तो वह 'समीक्षात्मक निबंध' की बाधा ही बन जायेगा, क्योकि 'समीक्षात्मक निबध' और 'ललित निबंध' की शिल्प-विधि एक नही होती है।

६. रचना-प्रक्रिया

निमित्त और प्रेरणा : हो सकता है कि 'समीक्षात्मक निबंध' की प्रेरणा शायद उतनी स्वतःस्फूर्त एवं बलवती न हो जितनी कि कविता, कहानी या नाटक की, हालाकि अब कविता आदि के संदर्भ मे अंतःप्रेरणा की प्रकल्पना उतनी रोमानी नही रह गई जितनी कि पिछले युगो मे थी; फिर भी आंतरिक प्रेरणा की आवश्यकता तो इसके लिए भी होती ही है। अनेक लेखक प्रेरणा और निमित्त मे भेद नही कर पाते और इस प्रकार तरह-तरह की भ्रात धारणाओ के शिकार बन जाते हैं। रीति-काव्य के मूल्याकन मे इस प्रकार की भ्राति प्राय: होती रही है और नीतिवादी आलो-चक राजाश्रय को निमित्त कारण के स्थान पर प्रेरक कारण मानकर रीति-कवियो की सौंदर्य-चेतना के साथ अन्याय करते रहे हैं। मेरे निबंधों के निमित्त कारण तो अनेक रहे हैं, जैसे साहित्यिक गोष्ठिया, रेडियो का आमंत्रण, विशेष अभिभाषण, पत्र-पत्रिकाओ की माग, साहित्यिक मंच या आदोलन का आह्वान, उत्तम प्रकाशन का अभिनंदन, उच्चतर अध्ययन-अध्यापन एव अनुसंधान की आवश्यकताएं—आदि-आदि; परंतु प्रेरणा एक ही रही है : साहित्य के मर्म का उद्घाटन या शब्द-अर्थ मे निहित सौंदर्य के साक्षात्कार के द्वारा 'आत्म-लब्धि'। अर्थ और यश मेरी साहित्य-साधना के, अधिक-से-अधिक, निमित्त ही रहे हैं, प्रेरणा कभी नही बने। वैसे भी, मैंने केवल अर्थ के लिए प्राय नही लिखा—(अर्थ-लाभ नही किया, यह मैं नही कह रहा) क्योकि अर्थ-व्यवस्था के अन्य नियमित साधन मुझे उपलब्ध रहे हैं। जिन विषयो मे मेरी रुचि नही रही, उनको मैंने अस्वीकार कर दिया है और यदि कभी कुछ लेख, वार्ता या वक्तव्य मैंने आंतरिक प्रेरणा के बिना किसी प्रकार के बाहरी आकर्षण या दबाव से लिखे भी हैं, तो उन्हे रद्द कर दिया है। इस प्रकार, मेरी रचना के निमित्त और प्रेरणा मे निश्चित भेद रहा है। निमित्त तो केवल एक अवसर प्रदान करता रहा है, उसके बाद निमित्त की न कोई सत्ता रही है और न प्रभाव। फिर जो कुछ लिखा गया है वह विषय के साथ मेरी साहित्यिक चेतना के जीवंत सपर्क का ही परिणाम है जिसमे निमित्त कारण अथवा नैमित्तिक परिस्थिति का लवलेश भी नही रहा। इसका प्रमाण यह है कि आव-

थक सूचना के अभाव मे यह अनुमान करना असंभव है कि इनमे से कौन-सी रेडियो-वार्ता है और कौन-सा सगोष्ठी का अध्यक्षीय वक्तव्य, कौन-सा विशेष व्याख्यान है और कौन-सा स्वतत्र निबंध—क्योंकि सबकी एक ही प्रेरणा रही है और प्राय: एक ही रचना-प्रक्रिया। निमित्त कारण अथवा परिस्थिति तो मेरे लिए किसी विषय-विशेष के चिंतन और विवेचन का व्याज मात्र रही है। अवसर की माग को स्वीकार कर प्रत्येक स्थिति मे मैंने अपने विशेष दृष्टिकोण से और उसी की अनुवर्ती अपनी विशेष पद्धति से विषय का, निरपवाद रूप से, प्रतिपादन या विवेचन किया है। न रेडियो-वार्ता के लिए मेरा दृष्टिकोण या विवेचन-क्रम बदलता हैं, न किसी शोध-समारोह के उद्घाटन-भाषण के लिए और न किसी पत्रिका के आमत्रण पर लिखे निबंध या लेख के लिए। और, इसीलिए एक ही निबध का रेडियो पर, सगोष्ठी मे या पत्रिका के लिए उपयोग करने मे मुझे कभी कठिनाई नही हुई। रेडियो-वार्ता पत्रिका मे यथावत् प्रकाशित हो सकी है, उद्घाटन-भाषण का प्रसारण रेडियो पर किया जा सका है, संगोष्ठी मे स्वतंत्र निबंध का वाचन करने मे कोई कठिनाई नही हुई और ये सभी रचनाएं अततः 'समीक्षात्मक निबंधो' के रूप मे पुस्तकाकार प्रकाशित हो गई हैं। तकनीक के विशेषज्ञ इस पर आपत्ति कर सकते हैं, पर जो शिल्प-विधि को केवल माध्यम मानते हैं, उनको मेरी बात अटपटी नही लगेगी।

चिंतन-क्रम : विषय का निर्माण हो जाने के बाद चिंतन-क्रम आरंभ हो जाता है। विषय सामने आते ही कच्छा बाधकर उस पर टूट पडना अपनी आदत मे शुमार नही है। विषय को सिद्ध करने के लिए मैं वीरगाथा काल के तरीके अख्तियार नही करता—यानी अपहरण या बलात्कार मे मेरा विश्वास नही है, रीतिकाल की पूर्वराग-प्रणाली या आधुनिक युग की पूर्वचर्या-पद्धति मेरे लिए अधिक अनुकूल रहती है। मैं विषय को 'हाथ लगाने से' पहले उसके साथ परिचय और सपर्क बढाने का प्रयास करता हू। उसके लिए अनेक बार अध्ययन तथा सामग्री-संकलन की भी अपेक्षा होती है और मैं पूरी निष्ठा के साथ उसमे प्रवृत्त हो जाता हू। मेरा अध्ययन स्पष्टतः चयनात्मक ही होता है विषय से संबद्ध ग्रंथो और लेखो की तालिका एकत्र करने का न मेरे पास समय है, न उसकी कोई आवश्यकता होती है और न मेरी उसमे रुचि है। अत मैं केवल प्रामाणिक सामग्री का ही आश्रय लेता हू। सामग्री-सग्रह मे मैं अधिक-से-अधिक श्रम करता हू, अधिकारी विद्वानो की सहायता लेने मे किसी प्रकार का आलस्य या संकोच नही करता और सचय करने के बाद फिर उसका सम्यक् रूप से मंथन कर लेता हूं। इस प्रकार मेरे अध्ययन मे विस्तार की अपेक्षा घनत्व पर अधिक बल रहता है और वह अद्यतन होने की अपेक्षा प्रामाणिक अधिक होता है। नवीन सामग्री की मैं उपेक्षा नही करता, परतु 'नई-से-नई सूचना' के प्रति मेरे मन मे अनावश्यक आकर्षण भी नही रहना। अतिवादी और असतुलित विचारो को आधुनिकता के नाम पर स्वीकार करने का मेरे लिए प्रश्न ही नही उठता। जो लोग अपने लेखो या वक्तव्यो मे 'टाइम' के साहित्यिक परिशिष्ट या 'एनकाउटर' के ताजा अक मे प्रकाशित किसी लेख का सही या गलत हवाला देकर पाठक या श्रोता को चकित करने का प्रयास करते हैं, उनकी

बाल-बुद्धि पर मुझे हँसी आती है। जहां किसी विषय पर तथ्य-संकलन की अपेक्षा रहती है, वहा मैं अपने अध्ययन की सामग्री का सम्यक् उपयोग करता हू, परंतु जहां ऐसी आवश्यकता नही होती वहा मैं इसका प्रयोग या तो चिंतन के उद्दीपन के लिए या फिर अपनी धारणाओ के पोषण के लिए ही करता हूँ। इस अध्ययन से निश्चय ही मुझे कई लाभ होते हैं: प्रामाणिक सामग्री की उपलब्धि और उसके द्वारा ज्ञान-वर्धन होता है, अधिकारी विद्वानो की चिंताधारा से परिचय होता है, अपने चिंतन के लिए उद्दीपन मिलता है और महान् प्रतिभाओ के सघर्ष मे आकर आत्मविश्वास जगता है।—और, इन सबका प्रभाव मेरी निबंध-रचना पर पडता है। केवल सामग्री-संकलन के आधार पर मैं निबध नही लिखता, जिस लेख मे मेरा चिंतन उद्दीप्त होकर सृजन के बिंदु पर नही पहुचता, उसे मैं संकलन मे नही रखता।

इस प्रकार, अध्ययन भी विषय के साथ सपर्क बढ़ाने का एक अत्यंत उपयोगी साधन है। जब विषय के और मेरे बीच सौहार्द स्थापित हो जाता है तो फिर वह मेरे मन मे और मेरा मन उसमे रम जाता है। केवल लिखने-पढने के समय ही नही, अवकाश के सभी क्षणो मे प्राय. मैं उसी का चिंतन करता रहता हू और एकाध दिन मे धीरे-धीरे उसकी रूपरेखा बनकर मेरी कल्पना मे तैयार हो जाती है जिसे मैं लिपिबद्ध कर लेता हू।

विवेचन-प्रक्रिया—रूपरेखा तैयार हो जाने के बाद उस पर कार्यान्वियन का उपक्रम करना होता है जिसमे युक्ति-प्रमाणपूर्वक विषय का विवेचन रहता है। विवेचन का आरंभ मैं प्राय. भूमिका के साथ करता हूं। यह भूमिका अत्यत सक्षिप्त होती है, कभी-कभी तो इसमे दो-एक वाक्य ही होते हैं। इसका उद्देश्य एक प्रकार से पाठक के साथ परिचय भर करना होता है जिससे कि वह विषय के प्रति उन्मुख हो जाए। लंबी भूमिकाएं लिखने मे मेरा विश्वास नही है, उनसे विषयातर होने का डर रहता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि विषय जल्दी ही पकड मे नही आता; ऐसी स्थिति मे भूमिका का कलेवर बढ जाता है, परतु विषय के साथ सीधा संपर्क हो जाने पर मैं उसे तुरत ही छाट देता हू। विषय का विवेचन पूर्व-निश्चित क्रम से ही चलता है और उसमे प्रकारांतर से प्राचीन शास्त्रार्थ की हेतु-निगमन-दृष्टांत शैली का अनुसरण रहता है; पहले समस्या की उपस्थापना या विषय का स्वरूप-निर्णय, फिर उसके विविध अगो का विशदीकरण—समस्या के संदर्भ मे पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का सर्वांग-निरूपण, इसके बाद अपनी प्रतिक्रियाएं और उनके आलोक मे विषय की समीक्षा—अंत मे, निष्कर्ष एवं समाहार। प्रत्येक निबध मे विषय-विवेचन का प्राय यही क्रम रहता है, यह दूसरी बात है कि किसी मे यह व्यक्त रहता है और किसी मे अव्यक्त। मेरे 'प्रत्येक पैरा मे विचार ठूस-ठूसकर भरे हों' या नही, परंतु अपने विवेचन की अन्विति की रक्षा के लिए मैं इस अनुशासन का पालन नियमत. करता हूं, क्योकि मेरा विश्वास है कि बिखराव किसी भी रचना का गुण नही हो सकता और समीक्षा मे तो वह निश्चय ही बाधक बन जाता है।

पूरे-का-पूरा लेख एक ही आसन से बैठकर लिखना मेरे लिए सभव नही

होता—मेरा एक भी लेख इस तरह नही लिखा गया। एक निबध की रचना मे मुझे प्राय एक सप्ताह या कभी-कभी और भी अधिक समय लग जाता है। मन मे स्पष्ट रूपरेखा बन जाने के बाद फिर अन्विति टूटने का ख़तरा नही रहता, और मैं एक-एक विचार-बिंदु पर क्रमशः कार्य करता रहता हूं। यहा चिंतन का दूसरा दौर शुरू हो जाता है और यह क्रम स्वभावतः अधिक सूक्ष्म-गंभीर एव सागोपाग होता है। यहा भी स्थिति वैसी ही रहती है जैसी कि आरंभ मे थी अर्थात् केवल लिखने के समय ही नही, अवकाश के सभी क्षणो मे मेरे चिंतन का क्रम चलता रहता है। स्नानगृह मे, भोजन के समय, यात्रा के समय, ऐसी गोष्ठियों मे जिनमे मेरा मन नही लगता मैं प्राय अपने प्रतिपाद्य विषय-बिंदु की चिंता करता रहता हू—पहले सोते समय भी सोचता था और सोचते-सोचते सो जाने पर कभी-कभी सपने मे भी यह तार नही टूटता था, पर अब कुछ वर्षो से नीद कमज़ोर हो जाने के कारण रात के समय मे मैं इस चक्कर मे नही पडता। चूकि निबध की रूपरेखा मन मे पूरी तरह बैठ जाती है, इसलिए बीच-बीच मे और बहुत से काम करते रहने मे मुझे असुविधा नही होती, और मैं कभी भी सूत्र को फिर से पकड कर विवेचन को आगे बढा सकता हू। कुछ लोगों की यह धारणा है कि जो निबध एक ही बार मे नही लिखे जाते उनकी अन्विति भग हो जाती है और कुछ सीमा तक यह मान्य भी हो सकता है; परतु मेरी रचना-प्रक्रिया मे इसकी आशका नही रहती। विषय के सपूर्ण स्वरूप को मैं रूपरेखा मे बाध लेता हूं जिससे न भटकाव के लिए गुजायश रहती है और न उलझाव के लिए। भटकाव और उलझाव को मैं विवेचन के अक्षम्य दोष मानता हूं। विषय-दर्शन के धूमिल पड जाने या बौद्धिक अनुशासन के शिथिल हो जाने से विवेचन मे भटकाव आता है और चिंतन मे गतिरोध होने से उलझाव पैदा हो जाता है—जबकि विचार आगे न बढकर एक ही बिंदु के चारो ओर चक्कर काटने लगता है। ऐसा तब होता है जब लेखक के पास कहने को कुछ नहीं होता। विवेचन मे अतर्विरोध भी एक बडा दोष है जिन लोगो के विचार स्पष्ट नही होते या जिनके मन मे द्विधा होती है या जो अपनी बात को ईमानदारी के साथ कहने से घबराते हैं, उनके विवेचन मे अंतर्विरोध प्राय. मिलता है। लेकिन इस प्रसंग मे वास्तविक अतर्विरोध और प्रतीयमान अंतर्विरोध का भेद समझ लेना चाहिए। सूक्ष्म चिंतन की गति एकदम ऋजु-सरल नही होती—उसकी रेखाए प्राय· वक्र भी होती हैं और एक-दूसरे को काट भी सकती हैं; अत सूक्ष्म एव तात्त्विक विवेचन मे कभी-कभी, बाहर से देखने पर, अंतर्विरोध प्रतीत होने लगता है। जिनकी नजर मोटी होती है, उन्हे बारीक तथ्यो का भेद स्पष्ट दिखाई नही देता और ऐसे समीक्षक सूक्ष्म चिंतन मे प्राय अतर्विरोध देखने लगते हैं। दोष-दर्शी समीक्षक इस प्रकार के मिथ्यारोप लगाने की कला मे सिद्धहस्त हो जाते हैं। आज से पैंतीस वर्ष पूर्व हिंदी के एक उग्र आलोचक को, जब कि वे प्रगतिवाद के नए जोश मे हिंदी-साहित्य के अखाडे मे पैंतरे दिखा रहे थे, हरएक के विचार और लेखन मे अतर्विरोध दिखाई पड़ता था। वास्तव मे ऐसे लोगो को, जो राजनीति या साहित्यिक मतवाद से ग्रस्त होते हैं, हर समस्या का समाधान पहले से ही प्राप्त होता है; उन्हें सत्य की उपलब्धि के लिए गहन चिंतन

की व्यस्त प्रक्रिया मे उतरने की आवश्यकता ही नही पड़ती, इसलिए हर तथ्य उन्हे पूर्वसिद्ध एवं स्पष्ट प्रतीत होता है और हर बारीक बात उलझी हुई लगती है। यह तथाकथित अंतर्विरोध वास्तविक न होकर प्रतीयमान ही होता है : उदाहरण के लिए, 'अनुसंधान और आलोचना पर्याय नही हैं' और 'अनुसंधान आलोचना नही है : यह नारा ही गलत है'—इन दोनो वक्तव्यो मे अंतर्विरोध न होकर तथ्य के दो सूक्ष्म रूपो की विवृति मात्र है। पहले मे दोनो के एकांत अभेद और दूसरे मे उनके एकात पार्थक्य का निषेध है। मुझे अपने चिंतन और विवेचन मे प्रायः इस प्रकार के परस्पर विरोधी तथ्यों से होकर गुजरना पडा है, क्योकि तत्त्व-चिंतन की प्रक्रिया का यह अनिवार्य अंग है। किंतु जहां तक संभव हुआ है मैंने अपने विचार मे उलझन नही आने दी : अपनी बात को कभी काटा नही है और न किसी के भय या लिहाज मे आकर 'रामाय स्वस्ति तथा रावणाय स्वस्ति' का वाचन किया है। इतना ही नही, मेरी विचार-सरणि में भी कोई बड़ा परिवर्तन नही हुआ, क्योकि मैंने साहित्य-सत्य की साधना ही की है, उसके साथ प्रयोग नही किये।

निबंध के आरंभ मे मैं प्राय. अनिवार्य रूप से विवेच्य विषय का स्वरूप-निर्णय कर लेता हू। सैद्धांतिक निबधो मे तो पदार्थ-निर्णय आवश्यक होता ही है, अन्य निबंधो मे भी मूल विषय के स्वरूप को आरंभ मे स्पष्ट कर लेना मेरे विवेचन का सहज अंग है। जिन निबधो मे समस्या प्रमुख रहती हैं उनमे मैं समस्या के भाव और अभाव पक्ष को तोलकर प्रखर रूप मे सामने रख लेता हूं जिससे उस पर सीधा आक्रमण करने मे सुविधा रहती है। जहा विषय सामान्य होता है, वहा भी अपने प्रतिपाद्य का स्वरूप स्पष्ट कर लेने से विवेचन का क्रम ठीक बन जाता है। हा, स्वरूप-निर्णय की विधि मे निश्चय ही कुछ-न-कुछ वैचित्र्य रहता है जो निबध के लिए शिल्प की दृष्टि से अनिवार्य है, अन्यथा उसमे एकरसता आ सकती है। स्वरूप-निर्णय के लिए एक तो प्राचीन शास्त्रार्थ की परिचित विधि है जिसमे जिज्ञासा या प्रश्न से विवेचन प्रारंभ होता है : "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा !"—या "रस इति क. पदार्थ. ?" शास्त्रीय निबंधो मैं मैंने प्राय इसी का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे प्रयोग किया है। "इन कविताओ की प्रेरणा तुमको कहां से मिलती हैं, कवि ?" (साहित्य की प्रेरणा) : यहां जिज्ञासा प्रश्नवाचक वाक्य के द्वारा प्रत्यक्ष रूप मे व्यक्त की गई है। अन्यत्र उसका उपस्थापन परोक्ष रूप से किया गया है · "दुर्भाग्य से बिंब के स्वरूप-विश्लेषण मे इतने विविध दृष्टिकोण और प्रविधि-भेद उलझ गए हैं· कि बिंब का स्पष्ट बिंब—इमेज की सही इमेज—जिज्ञासु के मन मे स्पष्ट नही हो पाती। + + + मैंने ये निबध मूलतः आत्मबोध के लिए ही लिखे हैं—यदि इनसे अन्य जिज्ञासुओ का भी, जो मेरी ही तरह कठिनाई का अनुभव करते हो, परितोष हो सका, तो मेरा प्रयास और भी अधिक सार्थक हो जाएगा।" (काव्य-बिंब : पृष्ठ ३)। कही-कही जिज्ञासा का स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म—प्रायः प्रच्छन्न हो गया है : "मैं व्यवसाय से आलोचक हूं, अतः आपके मन मे यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि आलोचना के विषय मे मेरी मान्यताए क्या है ? किंतु वास्तविकता यह है कि आलोचना के विषय मे मैंने सबसे कम सोचा है।" (मेरी

साहित्यिक मान्यताए—३)।—जाहिर है कि यह भेद केवल शब्दो का है, अर्थ का नही है। जहा किसी समस्या का समाधान प्रमुख रहता है, वहा मैं आरभ मे ही समस्या के मूल रूप को उभार कर रख देता हू · "क्या काव्य-बिब को हम मूल्य के रूप मे स्वीकार कर मकते है ? प्रस्तुत प्रश्न का समाधान करने के लिए यह निर्णय करना होगा कि क्या बिंब के आधार पर हम किसी कवि की उपलब्धि या काव्यकृति-विशेष का मूल्याकन अथवा विभिन्न कृतियो के काव्य-मूल्य के तारतम्य का निर्णय कर सकते हैं ?" (काव्य-बिंब और काव्य-मूल्य पृष्ठ ५७) परंतु, जहा न पदार्थ-निर्णय करना होता है और न समस्या का समाधान, ऐसे निबधो मे भी मेरे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि मैं प्रतिपाद्य को, किसी-न-किसी रूप मे अपने और अपने पाठक के सामने रख दू : "दद्दा निश्चय ही महान् व्यक्ति थे—प्रायः उसी अर्थ मे और उसी अनुपात मे जिसमे कि मैथिलीशरण गुप्त महान् कवि थे।" (दद्दा . एक महान् व्यक्तित्व)

स्वरूप-निर्णय के उपरात विषय के विविध अगो का विशदीकरण करना आवश्यक हो जाता है। मेरी प्रवृत्ति आरभ से ही वैशद्य की ओर रही है। इनके लिए पदार्थ के स्वरूप-निर्णय के साथ ही विषय का सागोपाग विवेचन भी अनिवार्य हो जाता है। प्रत्येक अग का निरूपण किए बिना मुझे लगता है कि बात अधूरी रह गई और अधूरी बात को लेकर जो निष्कर्ष या निर्णय किए जाएगे वे एकागी रहेगे—उनसे खडित सत्य की ही उपलब्धि सभव हो सकेगी। इसलिए मैं यथासभव विषय के सभी अगो का विचार कर तब आगे बढता हू। समस्या के सदर्भ मे यह आवश्यक हो जाता है कि उसके विभिन्न पहलुओ को—पक्ष-विपक्ष को—स्पष्ट रूप से प्रस्तुत कर दिया जाए। पूर्वपक्ष के साथ न्याय के बिना उत्तरपक्ष के साथ न्याय करना कठिन होता है, अत· मैं पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करने मे पूरी ईमानदारी बरतता हूं—विमत के सभी तर्क एव विकल्प उपस्थित करने के बाद ही स्वमत का सम्यक् प्रतिपादन सभव हो सकता है। यह तो स्वाभाविक ही है कि अपनी सहज प्रवृत्ति, परिवेश, अध्ययन-अध्यापन के फलस्वरूप जीवन और साहित्य के विषय मे मेरे अपने सस्कार बन गए हैं जो दैनदिन के चिंतन-मनन से पुष्ट होते रहते हैं; परतु मैं पूर्वसिद्ध विचार लेकर निबध-रचना मे प्रवृत्त नही होता। मेरे विषय मे यह धारणा हो सकती है, और है भी, कि मैं अपनी मान्यताओ के प्रति अत्यत आग्रही हू—व्यवहार और लेखन मे अपनी बात को दृढता के साथ कहने की मेरी आदत शायद इसके लिए ज़िम्मेदार है। परतु, निबध या वक्तव्य तो चिंतन की फलश्रुति होता है और फलश्रुति मे विकल्प या द्विधा की स्थिति या तो किसी ऐसे परमहस के लिए मान्य हो सकती है जो सत् और असत् के भेद से ऊपर उठ गया है, या फिर वह किसी ऐसे विचारक का अलकार हो सकती है जिसकी निर्णय-शक्ति कमज़ोर है अथवा जो आत्मविश्वास के अभाव मे अपने निर्णय को व्यक्त करने मे कठिनाई का अनुभव करता है। अभी कुछ समय पहले एक प्रबुद्ध साहित्यकार ने मुझसे यही प्रश्न किया था, वे जानना चाहते थे कि क्या मैं अपने विचार और भावना मे कभी द्वद्व का अनुभव नही करता। पहले तो मैं इस अप्रत्याशित प्रश्न को सुनकर चौंक पडा क्योकि अपने चिंतन और अनुभव की प्रक्रिया मे मैं प्राय द्वद्व की ऐसी जटिल

और विषम स्थितियों मे होकर गुजरता रहता हूं कि कभी-कभी तो मुझे अपने ऊपर दया आने लगती है। परंतु शीघ्र ही उनकी शंका का कारण मेरी समझ मे आ गया। चिंतन के क्षेत्र में मेरे निष्कर्षो के अद्वद्व—अथवा व्यक्तिगत जीवन मे मेरे व्यवहार के अद्वद्व से उन्हे यह भ्राति हुई थी। अपने इस दोष को मैं पूरे दायित्व के साथ स्वीकार करता हू क्योंकि मैं मानता हूं कि निष्कर्ष या फलश्रुति की स्थिति मे द्वद्व की स्वीकृति मन की कायरता है। परंतु, उस स्थिति तक पहुचने मे मुझे अपने मन में कितने प्रश्नो का उत्तर देना होता है—कितनी शंकाओं का समाधान करना पडता है, कितनी गुत्थियो को सुलझाना पडता है, यह तो मैं ही जानता हूं। यह सब केवल मन के भीतर ही होता हो, ऐसा नही है; प्राय इन सभी मूल प्रश्नो और उलझनो को मैं अपने लेखन मे शब्दबद्ध करता चलता हू। सभी शंकाओ का समाधान किये बिना किसी तथ्य को स्वीकार या स्थापित करना मेरे लिए संभव नही है—और जिससे मेरे अपने मन का ही परितोष नही हुआ उसके द्वारा अपने पाठक या श्रोता को आश्वस्त करने की दुराशा मैं कैसे कर सकता हू ? कहने का अभिप्राय यह है कि द्वद्व या प्रश्न को न मैं अस्वीकार करता हू, न उसकी उपेक्षा करता हू और न उससे पलायन · परतु उसकी आत्यतिकता मे मेरा विश्वास नही है। वास्तव मे, चिंतन मे मैं प्रश्न को बडा महत्त्व देता हूं : हमारा अनुसंधेय सत्य जितना ही सूक्ष्म और महत् होगा, उससे सबद्ध प्रश्न भी उतने ही जटिल एव प्रबल होगे। परंतु द्वद्व सत्य नही है, अद्वंद्व ही सत्य है—ऐसा मेरा विश्वास है, और इस विश्वास को मैंने गीता या सत्यार्थप्रकाश से प्राप्त नही किया, अपनी आनुभविक साधना से ही सिद्ध किया है। अत. परिणति मे द्वद्व मुझे ग्राह्य नही है; जहा कही अत मे भी द्वंद्व को स्वीकार करना पडा है—और ऐसा कई प्रसंगो मे हुआ है—वहां मेरे अपने चिंतन की सीमा ही समझनी चाहिए अर्थात् यह मानना चाहिए कि मैं अपनी परिसीमाओं के कारण अभी तक उसे समाहित नही कर पाया। विनोबा भावे ने कही लिखा है कि हिंदू धर्म 'भी-वादी' है और इस्लाम 'ही-वादी'। अपनी प्रवृत्ति 'ही' की ओर अधिक है और हो सकता है कि यह आरंभ के आर्यसमाजी सस्कारो का प्रभाव हो। पूरी सतर्कता से हरएक 'भी' का परीक्षण कर लेने के बाद, फिर 'ही' को मुष्टिबद्ध कर लेने से मेरे विचार और लेखन को स्फूर्ति मिलती है। 'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' मे 'बहुधा वर्णन' के प्रति सद्भावना व्यक्त की गई है और 'विप्रो' के प्रति आदर, इसमे सदेह नही—परंतु उससे 'एकम्' का महत्त्व तो कम नही होता।

विषय के प्रत्येक आवश्यक अग-उपाग का, समस्या के हर पहलू का, प्रसगानुकूल सक्षिप्त अथवा विशद विवेचन करने के उपरात फिर मूल प्रतिपाद्य के प्रति मेरी प्रतिक्रियाएं आरंभ हो जाती हैं। इस अवस्था मे मेरे स्वभाव-संस्कार सक्रिय रहते हैं, परतु अपनी ओर से प्रयत्न अवश्य रहता है कि ये प्रतिक्रियाएं पूर्वाग्रह से मुक्त और स्वतत्र रहें। अब तक जो ज्ञान का विषय था वह अनुभूति का विषय बनने लगता है—जिन तथ्यो को मैंने बुद्धि के द्वारा एकत्र और सयोजित किया था, वे अब चेतना मे उतरने लगते हैं। इस प्रक्रिया मे नाना प्रकार के संबद्ध और स्वतंत्र बिंब उभरने लगते हैं और चिंतन सर्जनात्मक बन जाता है। यह क्रम कुछ समय तक चलता रहता है

और अत मे एक विंदु ऐसा आता है जहां विषय का मर्म मेरी चेतना मे अनायास ही उद्भासित हो जाता है। इसी स्थल को निवंध का हृदय या मर्म-देश मानना चाहिए। यहीं आकर विषय सिद्ध हो जाता है, रचना लेख न रहकर निवंध वन जाती है—ज्ञान के साहित्य की सीमा पार कर अनुभूति के साहित्य की परिधि मे पहुंच जाती है।

अत मे, एक कार्य शेष रह जाता है, और वह है इस सपूर्ण विवेचन का समाकलन एव उपसहार। विवेचन के समय पाठक के साथ थोडा-वहुत आत्मीय संवंध स्थापित कर लेने के वाद, उसे अपनी चिंतन-प्रक्रिया का सहभागी वना लेने के वाद, अकस्मात् ही वेरुखी के साथ उससे अलग हो जाना मुझे अच्छा नही लगता। इसलिए निवंध के अत मे अपने पाठक से विदा लेना मेरे लिए एक प्रकार का नैतिक दायित्व बन जाता है। सदर्भ के अनुसार इसके अनेक रूप और प्रकार हो सकते हैं। कभी-कभी तो यह विदा-संवाद अत्यंत संक्षिप्त होता है—उर्दू के 'खुदा हाफिज' या गुजराती के 'आओ जो' से अधिक इसका कलेवर नही होता, कभी-कभी स्मृति-चिह्न के रूप मे मैं उसे कोई एक कल्पना-चित्र या कोमल भाव-सदेश देकर विदा करता हू और अनेक वार ऐसा भी होता है कि एक सतर्क परामर्शदाता के समान मैं अपने मतव्य का साराश सूत्र-रूप मे उसकी स्मृति मे वाध देता हू। इस तरह, निवंध के उपसहार का रूप कभी मित्र-सम्मित, तो कभी अपने पेशे के अनुसार गुरु-सम्मित होता है: कांता-सम्मित के लिए निवध मे कम ही अवसर रहता है और अपना पुरुष स्वभाव उसे गवारा भी मुश्किल से करता है।

इसी संदर्भ मे, दो शब्द अपनी लेखन-शैली के विषय मे भी कह देना अप्रासगिक न होगा। लेखन से अभिप्राय वाक्य-रचना या व्यापक रूप मे गद्य-रचना से है। जैसा कि मैं पूर्व-प्रसग मे कह चुका हू, विषय के विभिन्न विचार-विंदुओं पर मेरा चिंतन-क्रम लेखन से पहले ही आरभ हो जाता है। यह चिंतन शब्दार्थमय होता है। वागर्थ की सपृक्ति का सिद्धात, जिसका अध्ययन मैं स्वदेश-विदेश के आचार्यों के तरह-तरह के युक्ति-प्रमाणों के साथ अनेक वार कर चुका हूं, इस समय अनायास ही मेरी चेतना मे स्पष्ट हो जाता है और मैं यह प्रत्यक्ष अनुभव करने लगता हू कि अभिव्यक्ति के विना विचार की सत्ता नही होती। पर, मैं इससे भी आगे वढ जाता हू और प्रस्तुत विचार-विंदु से सवद्ध प्रत्येक वाक्य की मन मे रचना करता चलता हूं। उद्देश्य-विधेय की उचित व्यवस्था के साथ-साथ उपवाक्यों का समीकरण तथा सर्वनाम, विशेषण, योजक शब्द, क्रियापद आदि का यथास्थान नियोजन मैं मन मे ही कर लेता हू। लिपिवद्ध होने से पहले ही एक साथ कई वाक्यो की शृंखला मेरे मन मे वन कर तैयार हो जाती है और उन्हें कागज़ पर उतारने मे प्राय: किसी प्रकार का परिवर्तन नही करना पड़ता। प्रस्तुत सदर्भ मे अभी-अभी जो वाक्य मैंने लिखे हैं, उन्हें एक दिन पहले ही प्राय: ज्यों-का-त्यो मन मे रच लिया था। लिखने के वाद इन वाक्यो को मैं कई वार पढ़ता हूं और वार-वार माजने मे भी आलस्य नही करता, यद्यपि ऐसी आवश्यकता कम ही पड़ती है। वाक्य-रचना मे मैं अर्थ-वैमल्य के साथ-साथ समास-गुण और सूत्र-बंध का खास तौर पर कायल हूं, रचना मे शैथिल्य या विखराव मुझे सह्य नही है—

और उपर्युक्त गुणों का अर्जन करने के लिए मैंने काफी साधना की है। मेरी साहित्य-चर्चा काव्य-रचना के साथ आरभ हुई जिससे पदयोजना का अभ्यास मुझे थोड़ा-बहुत शुरू मे ही हो गया, फिर पाठ्यक्रम मे शुक्ल जी—और उधर अंगरेजी के प्रसिद्ध शैली-कारों—के निबंधो का सूक्ष्म-गहन अध्ययन करना पडा जिससे उनकी अनेक सूक्तिया अथवा सूत्र-वाक्य कंठस्थ हो गए, इसके बाद चार-पांच वर्ष तक आकाशवाणी मे भाषा-सशोधन का दायित्व होने से वाक्य-रचना के वाचित और श्रुत रूपो को माँजने का क्रम चलता रहा, और अंत में शोध-प्रबधो की भाषा को संवारने का कार्य करना पड़ा। ये सभी परिस्थितिया गद्य-रचना के 'रियाज' के अत्यंत अनुकूल सिद्ध हुईं और साफ और चुस्त जुबान लिखने का थोड़ा-बहुत अभ्यास हो गया।

मेरे लेखन पर अंगरेजी का प्रभाव निश्चय ही पडा है—हिंदी-गद्य की पेशियो मे अंगरेजी का प्रभाव भिदा हुआ है, इससे इनकार नही किया जा सकता। मैंने निय-मित रूप से अंगरेजी से हिंदी मे अनुवाद-कार्य किया है और अनेक रचना-निपुण अनु-वादको के कार्य का अवीक्षण तथा सशोधन किया है। वैसे भी, अगरेजी के साथ मेरा गहरा संपर्क रहा है। पाश्चात्य आलोचना और काव्यशास्त्र का मैंने विधिवत् अध्ययन-मनन किया है। अत. अंगरेजी का प्रभाव मेरे चिंतन और लेखन पर अनिवार्य रूप से रहा है। परंतु पिछले अनेक वर्षों से, जैसे-जैसे भारतीय काव्यशास्त्र के साथ मेरा संपर्क गहरा होता गया है और मेरी चेतना उसकी धारणाओ तथा शब्दावली से परिव्याप्त होती गयी है, यह प्रभाव कम होने लगा है। आरंभिक अवस्था मे जो प्रभाव था अब वह संस्कार बन गया है और अंगरेजी से प्राप्त धारणाएं तथा शब्दावली अब मेरे सहज चिंतन का अग बन गई हैं. अनेक धारणाए तो भारतीय चिंतन मे पग और पक गई हैं—जिनके विषय मे यह संभव नही हुआ वे भी मेरे समाकलित साहित्य-बोध मे अंतर्भुक्त हो गई है। अगरेजी के साथ निकट संबंध होने पर भी अब अगरेजी मे सोचने का प्रश्न मेरे लिए नही उठना—अंगरेजी साहित्य अथवा आलोचनाशास्त्र के अंगभूत विषयो का विचार-विवेचन, प्रत्यक्ष संदर्भों के अनुवाद अथवा आवश्यक सूचना-सामग्री की उद्धृति को छोडकर, अब मैं अपनी ही भाषा मे करता हू।

शब्द-साधना लेखन-शैली का मौलिक तत्त्व है, और यदि आप नाराज़ न हों तो मैं कहना चाहूगा कि शब्द की मुझे अच्छी परख है। आरभ मे छायावादी काव्य-संस्कार, फिर काव्यशास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन, और बाद में पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण मे संलग्न अनेक अभिकरणो के साथ घनिष्ठ संबध रहने के कारण 'अनिवार्य' शब्द का सधान करने का अभ्यास मुझे काफी हो गया है। मेरा प्रयत्न यही रहता है कि हर एक प्रमुख वाक्य के केंद्रीभूत शब्द ऐसे हो जो अभीष्ट अर्थ की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म छाया को यथावत् व्यक्त कर सकें। देश के प्रत्येक समझदार भाषाविद् की तरह मेरा भी यही विश्वास है कि हिंदी की शब्दावली का विकास और सवर्धन बहुत हद तक संस्कृत पर निर्भर करता है, अत' तत्सम शब्दो के प्रयोग मे मेरी अधिक आस्था है। इन शब्दो का परिनिष्ठित रूप ही मैं प्रायः ग्रहण करता हू। जिन शब्दो के अशुद्ध हिंदी-रूपातर प्रच-लित हो गए हैं उन्हे भी मैं प्राय. व्याकरण-सम्मत रूप मे प्रयुक्त करता हू—

'उपरोक्त' के स्थान पर 'उपर्युक्त' का प्रयोग मैं नियमतः करता हूं, 'तत्व' और 'महत्व' को अशुद्ध मानता हूं, 'हृन्' से भी बहुत नहीं घबराता, 'श्रेष्ठतम' न लिखकर प्रायः 'सर्वश्रेष्ठ'[1] लिखना ही ठीक समझता हूं। परंतु जो शब्द हिंदी के अविभाज्य अंग बन गए हैं, उनका बहिष्कार करना मैं अनावश्यक और अव्यावहारिक मानता हूं—जैसे 'अन्तर्राष्ट्रीय' आदि। आरंभ में मुझे इस प्रकार का आग्रह नहीं था, पर अब मैं यथा-संभव शुद्ध, व्याकरण-सम्मत शब्द का ही प्रयोग करना अधिक उपयुक्त मानता हूं क्योंकि एकरूपता का अभाव भाषा का बड़ा दोष है और शब्दों के संदर्भ में एकरूपता की रक्षा करने का सीधा उपाय है शुद्ध शब्द का प्रयोग। विदेशी शब्दों का प्रयोग भी मैं शुद्ध रूप में ही करता हूं। अपने शब्दों में हम पंचम वर्ण का आग्रह करें और अरबी-फ़ारसी या अंगरेज़ी के शब्दों के नुक़्ते हटाकर दूसरे की ज़ुबान को 'जुबान' या फ़ैशन को 'फैसन' कर दें, यह कौन-सा न्याय है? वैसे भी, इसमें स्वयं अपनी भाषा के नागर रूप की क्षति होती है। इस प्रकार शुद्धता के प्रति मेरा यह आग्रह क्रमशः बढ़ता गया है और अब मैं, जहां तक होता है, ऐसे शब्दों का प्रयोग बचाता हूं जो व्याकरण-सम्मत न हों। आज अपने पुराने लेखों को पढ़ते समय यदि कोई अशुद्ध शब्द मेरे सामने आ जाता है तो मुझे संकोच होता है। मेरे कुछ-एक आलोचकों ने यह शिकायत की है कि मैं संस्कृत-बहुल भाषा के बीच में अरबी-फ़ारसी या अंगरेज़ी के शब्द रखकर कभी-कभी रसभंग कर देता हूं। पर ऐसा मैं जान-बूझकर करता हूं—चिंतन और तर्क के तनाव को दूर करने के लिए ऐसा करना मुझे अच्छा लगता है।

मेरी रचना-प्रक्रिया के ये ही कुछ अंतरंग रहस्य हैं, जो मैंने सहज भाव से आपके सामने व्यक्त कर दिए हैं। अपने साहित्यिक जीवन के आरंभ में काव्य-रचना के लिए जिस 'कला' का अभ्यास थोड़ा-बहुत मैंने किया था, वह गद्य-रचना में भी किसी-न-किसी रूप में चलता रहा और आलोचक के कर्त्तव्य-कर्म को पूरे दायित्व के साथ स्वीकार कर लेने पर भी मैं लेख न लिख कर बराबर निबंध ही लिखता रहा—आलोचना का 'आलेखन' न कर प्रायः 'रचना' ही करता रहा।

७. साहित्य-साधना के चालीस वर्ष : एक दृष्टि

आज से एक युग पहले अपनी किशोर वय में जिस साहित्य-साधना का आरंभ मैंने किया था, आज वह प्रौढ़ि पर पहुंच गई है : 'छायावाद' और 'काव्यभाषा : तुलसी-दास की अवधारणा' में पूरे चालीस वर्ष का अंतर है। इन चार दशकों में घटित विकास-क्रम पर दृष्टिपात करना अपने-आप में एक अनुभूति है। मुझे लगता है कि 'छायावाद' की रचना करने के बाद एक मधुर आत्मविश्वास जो मेरे मन में जगा था वह निरंतर बढ़ता ही गया है। इस अवधि में मैंने स्वदेश-विदेश के साहित्य के अनेक रम्य प्रदेशों की यात्रा की है, पर अपनी प्रकृत भूमि—कविता—से संबंध कभी नहीं तोड़ा. मेरी

१ सर्वश्रेष्ठ इसलिए कि 'श्रेष्ठ' शब्द हिंदी में 'अच्छा' का ही वाचक बन गया है 'सबसे अच्छा' का अर्थ वह नहीं देता।

साहित्य-चेतना वही से प्राण-रस ग्रहण करती रही है। जीवन और साहित्य मे सत्य का अर्थ मेरे लिए अनुभूति का सत्य ही रहा है और साधना मेरी प्रवृत्तिमयी रही है, अतः मेरे सत्य का स्वरूप भी रागात्मक ही रहा है। बुद्धि का—उसके दोनो प्रमुख तत्त्वो—वितर्क और विवेक का—मैंने भरपूर उपयोग किया है। इडा के साथ गहरा सौहार्द स्थापित किया है, परंतु श्रद्धा का अंचल नही छोडा : इडा के सारस्वत प्रदेश मे भी मैं श्रद्धा को साथ लेकर ही गया हू। इडा की शक्ति और विभूतियो का अपनी सीमाओ के भीतर पूरा लाभ मैंने उठाया है, पर कभी कोई अतिचार नही किया। इसलिए किसी बड़े सघर्ष या विद्रोह का सामना मुझे नही करना पडा। दो-चार बार 'आकुलि' और 'किलात' से मुठभेड अवश्य हुई, लेकिन उनकी माया मुझ पर नही चल सकी, क्योकि श्रद्धा बराबर मेरे साथ थी। मानसरोवर अभी कितना दूर है, यह मैं नही जानता, परंतु उधर बढते जाने की कामना मेरे मन में है !

खंड–१

(क) अनुसंधान
(ख) सिद्धांत

(क) अनुसंधान

अनुसंधान का स्वरूप

हिंदी मे 'रिसर्च' के लिए अनुसंधान, अन्वेषण, शोध तथा खोज आदि अनेक शब्दो का प्रयोग होता है। यहा स्थूलतः ये सभी शब्द प्रायः पर्याय ही माने जाते है परंतु सस्कृत मे इनके अर्थों मे सूक्ष्म अतर है। अनुसधान का अर्थ है परिपृच्छा, परीक्षण, समीक्षण आदि। संधान का अर्थ है दिशा विशेष मे प्रवृत्त करना या होना और अनु का अर्थ है पीछे, इस प्रकार अनुसंधान का अर्थ हुआ—किसी लक्ष्य को सामने रख कर दिशा-विशेष मे बढना—पश्चाद्गमन अर्थात् किसी तथ्य की प्राप्ति के लिए परिपृच्छा, परीक्षण आदि करना। अन्वेषण का अर्थ है खोज—किसी वस्तु अथवा तथ्य को ढूढने का प्रयत्न; गवेषणा भी प्रायः यही है—खोजने अथवा ढूढ निकालने का प्रयत्न, व्युत्पत्ति-अर्थ इसका है 'गो का पता लगाना'। शोध का अर्थ है शुद्ध करना, साफ करना, स्वच्छ रूप देना। खोज के माने हैं ढूढना; अज्ञात का ज्ञान करना-कराना, लापता का पता लगाना। अतएव इस प्रसग मे हमारे समक्ष तीन तथ्य उपस्थित होते है : (१) अन्वेषण अथवा गवेषणा अर्थात् अज्ञात का ज्ञापन। दूसरे शब्दो मे, लुप्त एवं गुप्त सामग्री को प्रकाश मे लाना। (२) अनुसंधान अर्थात् परिपृच्छा, परीक्षण-समीक्षण आदि—उपलब्ध सामग्री की जाँच-पडताल आदि इसके अंतर्गत आती हैं। (३) शोध अर्थात् शुद्ध करना—इसके अंतर्गत आता है प्राप्त सामग्री का संस्कार-परिष्कार। जिस प्रकार कोई धातु-शोधक उपलब्ध खनिज पदार्थो को स्वच्छ और शुद्ध करके हमारे सम्मुख रखता है, उसी प्रकार साहित्यिक शोधकर्त्ता भी अपनी उपलब्ध सामग्री को शुद्ध करके परिष्कृत रूप मे हमारे समक्ष उपस्थित करता है।

इस विवेचन के परिणामस्वरूप दो बातें स्पष्ट होती हैं एक तो यह कि हिंदी में प्रयुक्त भिन्न-भिन्न शब्द सस्कृत-शब्दार्थ की दृष्टि से अनुसधान-कार्य के भिन्न-भिन्न रूपो को व्यक्त करते हैं : अन्वेपण अथवा गवेषणा से अनुपलब्ध सामग्री को उपलब्ध करने का बोध होता है, अनुसधान से परीक्षा-समीक्षा का और शोध से विवेचन, निर्णय, निष्कर्ष-ग्रहण आदि का। और, वास्तव मे अनुसधान-कार्य के तीन सस्थान भी ये ही हैं। दूसरी बात यह है कि ऐसी स्थिति मे इस प्रसग मे एक शब्द का व्यवहार स्थिर हो जाना चाहिए, और मैं समझता हू कि 'अनुसधान' शब्द को ही

व्यापक अर्थ मे पारिभाषिक रूप दे देना चाहिए।

अनुसधान के विषय मे विश्वविद्यालय भी—जहा यह कार्य नियमित रूप से होता है—प्राय. उपर्युक्त इन्ही बातो पर बल देते हैं।

अनुसधान-ग्रथ को निम्नलिखित अनुबधो की पूर्ति करनी चाहिए :

१ इसमे (अनुपलब्ध) तथ्यो का अन्वेपण अथवा (उपलब्ध) तथ्यो या सिद्धातो का नवीन रूप मे आख्यान होना चाहिए। प्रत्येक स्थिति मे यह ग्रंथ इस बात का द्योतक होना चाहिए कि अभ्यर्थी मे आलोचनात्मक परीक्षण तथा सम्यक् निर्णय करने की क्षमता है। अभ्यर्थी को यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि उसका अनुसधान किन अशो मे उसके अपने प्रयत्न का परिणाम है, तथा वह विषय-विशेष के अध्ययन को कहा तक और आगे बढाता है।

(२) निरूपण-शैली आदि की दृष्टि से भी इस ग्रथ का रूप-आकार सतोष-प्रद होना चाहिए जिससे कि इसे यथावत् प्रकाशित किया जा सके।

(आगरा यूनिवर्सिटी पी-एच० डी० नियमावली)

आगे चलकर डाक्टर ऑफ लैटर्स के प्रसग मे भी प्राय. इन्ही विशेषताओ का उल्लेख है, केवल एक बात नई है—वहा 'विषय के अध्ययन को और आगे बढाने' के स्थान पर 'ज्ञानक्षेत्र का सीमा-विस्तार' अपेक्षित माना गया है। डी० लिट्० की उपाधि की गुरुता को देखते हुए यह अनुबंध उचित ही है। अन्य विश्वविद्यालयो के नियमो मे भी लगभग ये ही शब्द है। इस प्रकार विश्वविद्यालय-विधान के अनुसार अनुसधान के तीन तत्त्व हैं.

१ अनुपलब्ध तथ्यो का अन्वेपण,
२. उपलब्ध तथ्यो अथवा सिद्धातो का पुनराख्यान;
३ ज्ञान-क्षेत्र का सीमा विस्तार, अर्थात् मौलिकता;
४. इनके अतिरिक्त, एक तत्त्व और भी अपेक्षित है, और वह है सुष्ठु प्रतिपादन-शैली।

इसमे सदेह नही कि सामान्यत· ये चारो ही तत्त्व अनुसंधान-कार्य के लिए आवश्यक है, परतु एक प्रश्न यह उठता है कि इन सबका सापेक्षिक महत्त्व कितना है ? अर्थात्, इन चार तत्त्वो मे से किसका कितना महत्त्व है ? जहा तक तीन और चार का सबध है उनकी अनिवार्यता तो स्वत सिद्ध ही है, क्योकि प्रत्येक अनुसधान-कार्य द्वारा ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार अनिवार्यत होना ही चाहिए, तभी उसकी सार्थकता है; मौलिकता तो केवल अनुसधान की ही नही, किसी भी साहित्यिक कृति, अपितु जीवन के किसी भी गभीर कार्य के मूल्याकन की सबसे बडी कसौटी है। इसी प्रकार विषय का सुष्ठु प्रतिपादन भी प्रत्येक कृति के लिए अनिवार्य ही है। हा, यह बात अवश्य है कि मौलिकता और शैली-सौष्ठव का स्वरूप सर्वत्र एक-सा न होकर विषय-सापेक्ष ही होता है। अब पहला और दूसरा तत्त्व रह जाते हैं अर्थात् अनुपलब्ध अथवा नवीन तथ्यो का अन्वेषण और उपलब्ध तथ्यो अथवा सिद्धातो का पुनराख्यान। इनका सापेक्षिक महत्त्व क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इनका सापेक्षिक

महत्त्व बहुत-कुछ अनुसंधान के विषय पर निर्भर है। यदि समग्र वाङ्मय को ले तो स्थूलत यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक विषयो के अनुसंधान मे तथ्य का महत्त्व अधिक है, और साहित्यिक विषयो के अनुसंधान मे विचार का। कुछ विषय ऐसे भी है, जो विज्ञान और साहित्य के मध्यवर्ती हैं, जैसे इतिहास—और उससे संबद्ध नृतत्त्व-शास्त्र, पुरातत्त्वशास्त्र आदि अनेक विपय, समाजशास्त्र तथा उससे सबद्ध अर्थशास्त्र, वाणिज्यशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि। इनमे अनुसंधान-कार्य की स्थिति भी मध्यवर्ती माननी चाहिए, अर्थात् उसमे तथ्य और विचार दोनो का ही महत्त्व रहता है। इस प्रसग मे एक वात स्पष्ट हो जानी चाहिए और वह यह कि उपर्युक्त विषय-विभाजन और उससे सलग्न तथ्य और विचार का अतर निर्भ्रांत एव अतिम नही है। जिस प्रकार विभिन्न विषय—विज्ञान और साहित्य आदि—एक-दूसरे से पूर्णतः स्वतंत्र नही है, उसी प्रकार तथ्य और विचार भी एक-दूसरे से निरपेक्ष नही हैं। इस प्रकार के वर्गीकरण, विभाजन आदि मे सापेक्षिक प्राधान्य ही प्रमाण रहता है।

साहित्यिक अनुसंधान

हमारा बिषय साहित्यिक अनुसंधान ही है, अतएव हम अपने विवेचन को उसी तक सीमित रखेंगे। अब तक के विवेचन से तीन बातें हमारे सामने आती हैं :

१. (क) अन्वेषण, (ख) अनुसधान या पुनराख्यान, (ग) मौलिकता, और (घ) प्रतिपादन-सौष्ठव। अनुसंधान के ये चार आवश्यक तत्त्व हैं।

२. विषय और अनुसधान का घनिष्ठ सबंध है अर्थात् अनुसधान के स्वरूप पर अनुसधेय विषय का निश्चय ही प्रभाव पडता है। अनुसंधान का कोई निरपेक्ष अथवा सर्व-सामान्य स्वरूप नही है, और परिणामत. अनुसंधाता के लिए प्रत्येक स्थिति में कोई एक दृष्टिकोण निर्धारित कर देना सभव नही है। द्रष्टा को अपने विषय मे से ही दृष्टि प्राप्त करनी होगी। एक ही दृष्टि से सभी विषयो का निरीक्षण-परीक्षण करना असगत होगा।

३ अतएव अनुसधान-कार्य मे अन्वेषण, आख्यान, मौलिकता और प्रतिपादन-सौष्ठव का स्वरूप एक-सा नही है, वह विषय के अनुसार बदलता रहता है।

इन्ही मान्यताओं के आधार पर साहित्यिक अनुसधान का स्वरूप-विश्लेषण करना समीचीन होगा। अस्तु !

अन्वेषण

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, अन्वेषण का अर्थ है खोज। साहित्य मे अन्वेषण के कई अर्थ और कोटिया हो सकती हैं :

१. अज्ञात का ज्ञान—अज्ञात लेखको तथा ग्रथो आदि का अन्वेषण इसके अंतर्गत आता है। अज्ञात लेखको और ग्रंथो से तात्पर्य ऐसे लेखको और ग्रंथो से है जिनका अस्तित्व अभी तक अज्ञात है।

२. अनुपलब्ध की उपलब्धि—इसके अतर्गत ऐसी सामग्री का अन्वेपण आता

है जिसके अस्तित्व के विषय मे तो ज्ञान है, पर जो साधारणतः प्राप्त नही है। हिंदी मे इस प्रकार के अन्वेषण के लिए असीम क्षेत्र है।

३ उपलब्ध का शोधन—नवीन तथ्यो के अन्वेषण द्वारा प्रचलित तथ्यों का संशोधन इसके अंतर्गत आता है। उदाहरण के लिए तुलसी, सूर आदि के जीवन-चरित्र के विषय मे इस प्रकार का सशोधन निरतर होता रहा है और कदाचित् उसके लिए और भी अवकाश है। इसके अतिरिक्त, पाठाध्ययन पाठ-सशोधन, सपादन भी इसी कोटि मे आते हैं।

४ विचार या सिद्धात का अन्वेषण—किसी विचार-परंपरा का विकास-क्रम निर्दिष्ट करना इस कोटि मे आता है।

५. शैली या रूपविधान-विषयक अन्वेषण—यो तो शैली या रूपविधान विचार अथवा दृष्टिकोण का ही प्रतिबिंब होता है और इस दृष्टि मे यह रूप मूलत विचार-विषयक अन्वेषण से भिन्न नही है; फिर भी साहित्य मे शैली या रूप-विधान का स्वतंत्र महत्त्व होने के कारण इसे पृथक् मान लेने मे कोई आपत्ति नही है। और, साहित्य मे निस्सदेह इस प्रकार के अन्वेषण का महत्त्व है। उदाहरण के लिए, प० पद्मसिंह शर्मा ने सस्कृत-प्राकृत से शृंगार-मुक्तक-परंपरा का उद्घाटन कर बिहारी-सतसई अथवा अन्य शृगार-मुक्तक-काव्यो के व्याख्यान मे, और इधर राहुल जी ने स्वयभू-रामायण आदि के साथ 'रामचरितमानस' की शैली का सबध स्थापित कर मध्ययुगीन चरित-काव्यो के अध्ययन मे एक नवीन अध्याय जोड दिया है।

६. साहित्यिक अनुसधान मे अन्वेषण का एक प्रकार और भी होता है। वह है भाव, प्रसंग अथवा प्रबध-कल्पना विषयक अन्वेषण। इसके अतर्गत अन्वेषक इस बात की खोज करता है कि परवर्ती कवि या लेखक भावाभिव्यंजना अथवा प्रसंग-विधान मे अपने पूर्ववर्ती कवियो के कहा तक ऋणी हैं। कुतक ने कवि की दृष्टि से इस प्रकार की मौलिक नियोजनाओ का वर्णन प्रसग-वक्रता अथवा प्रबध-वक्रता के अतर्गत किया है। प्रसग-वक्रता और प्रबंध-वक्रता से सबद्ध अन्वेषण साहित्य-शोधक के लिए विशेष महत्त्व रखता है। परतु कदाचित् इसे अन्वेषण का एक स्वतत्र रूप न मान कर अशतः विचार-संबधी अन्वेषण और अशतः शैली-सबंधी अन्वेषण के अतर्गत ही मान लेना अधिक समीचीन होगा।

आख्यान अथवा पुनराख्यान

आख्यान का अर्थ है व्याख्या करना—स्पष्टीकरण करना, निहित अर्थ को विहित करना। तथ्य अथवा तथ्यो के आख्यान का अर्थ है उनके पारस्परिक सबधो को व्यक्त करना—दूसरे शब्दो मे, तथ्यो को विचार मे परिणत करना। नवोपलब्ध तथ्य का आख्यान, और पूर्वोपलब्ध तथ्य का पुनराख्यान होता है। साधारणत सभी प्रकार के अनुसंधान-कार्य के लिए, और विशेषत साहित्यिक अनुसधान-कार्य के लिए, आख्यान अथवा पुनराख्यान का अनिवार्य महत्त्व है; क्योकि तथ्य अपने-आप मे इतना महत्त्वपूर्ण नही है, वास्तविक महत्त्व तो उनके पारस्परिक सबध-ज्ञान का है। उद्योग

के क्षेत्र मे वस्तु या तथ्य का महत्त्व कितना ही हो, परतु ज्ञान के क्षेत्र मे तो ज्ञान का ही महत्त्व है। प्रस्तुत प्रसग मे भी, जहा अनुसंधान का मूल लक्ष्य है ज्ञान का सीमा-विस्तार, वास्तविक महत्त्व निस्सदेह ज्ञान का ही है, क्योकि ज्ञान की सीमा का विस्तार वस्तु या तथ्य नही कर सकता, वस्तु या तथ्य का संबध-ज्ञान ही कर सकता है। वैसे भी यदि आप देखिए तो सभी विद्याए अत मे जाकर दर्शन का रूप धारण कर लेती हैं। जिनमे यह संभावना नही है, उन्हे हमारे शास्त्र मे हीनतर कोटि की उप-विद्याए माना गया है; और वास्तव मे दर्शन कोई विशिष्ट विषय न होकर सत्य-विचार का एक सामान्य विधान ही तो है।

साहित्य के क्षेत्र मे तो यह बात और भी अधिक घटित होती है, क्योकि साहित्य ज्ञान के सूक्ष्मतर माध्यमो मे से है। अतएव साहित्य के क्षेत्र मे तो वस्तु अथवा तथ्य का स्वतत्र महत्त्व और भी कम तथा ज्ञान अर्थात् विचार एव भाव का महत्त्व और भी अधिक है। यहा तो अन्वेषण का रूप भी तथ्यात्मक न होकर विचारात्मक होना चाहिए, आख्यान तो उसकी पहली आवश्यकता है। यह आख्यान जितना मूलवर्ती और सूक्ष्म-गहन होगा, अनुसधान उतना ही मूल्यवान् होगा। यह सापेक्षिक मौलिकता और सूक्ष्मता ही साहित्य तथा अन्य विषयो के आख्यान का अतर स्पष्ट कर देती है। कतिपय अन्य क्षेत्रो मे साधारण आख्यान से काम चल सकता है—क्योकि जहा आधार-भूत तथ्य अथवा वस्तु मूर्त है वहा उनके पारस्परिक मूर्त-संबंधो का उद्घाटन पर्याप्त हो सकता है। परंतु साहित्य के क्षेत्र मे, या उसके भी आगे दर्शन के क्षेत्र मे, जहा आधारभूत तथ्य अमूर्त है, अथवा विचार तथा अनुभूति-रूप है, वहा बाह्य संबध-ज्ञान सर्वथा अपर्याप्त और बहुत-कुछ निरर्थक ही रहता है। साहित्य की आधारभूत सामग्री, जैसा कि मैंने ऊपर स्पष्ट किया है, निर्जीव और जड तथ्य नही होते, और न केवल तर्क-गम्य विचार या सिद्धात ही उसके उपकरण होते हैं; उसके उत्पादन तो जीवत अनुभूतिया या अनुभूतिमूलक विचार अथवा सत्य ही होते है। ऐसी स्थिति मे साहित्यिक आख्यान न स्थूल गणनात्मक होगा और न कोरा तर्कवाद ही; उसका लक्ष्य तो मूलभूत अनुभूतियो को प्रकाश मे लाकर साहित्य तथा साहित्यकार की आत्मा का साक्षात्कार ही हो सकता है। जब तक आख्याता मे साहित्य की आत्मा का साक्षात्कार करने-कराने की क्षमता न हो, तब तक वह साहित्य का आख्यान करने का अधिकारी नही हो सकता; क्योकि साहित्य मर्म की वाणी है, अवयवो की गणना नही है। अतएव जो मर्म को न छूकर केवल शरीर पर ही हाथ फेरता रहे, वह साहित्य का मर्मी नही हो सकता। जो अतर्दर्शन न कर सके वह द्रष्टा कैसे हो सकता है ! वह तो गणक ही रहेगा।

इस प्रसग मे अनायास ही मुझे अपने एक सामान्य मित्र का तर्क याद आ जाता है। अनुसधान के विषय मे चर्चा करते हुए उन्होने मेरी उपर्युक्त स्थापना के उत्तर मे कहा था कि यह आत्मा आदि की बात वैज्ञानिक-पद्धति से बाहर है; यह तो छाया-वादी कल्पना है। और यह परिहास नही था। यह एक विशिष्ट दृष्टिकोण को व्यक्त करता है जो तथ्य को ही अतिम प्रमाण मानता है। इस मान्यता के अनुसार अनु-

सधाता को अपनी दृष्टि निरतर तथ्य पर ही रखनी चाहिए; उसके सभी निष्कर्ष एव स्थापनाए तथ्यगत (फैक्चुअल) होनी चाहिए। तथ्य ही उसका मार्ग-निर्देशन करें, वह तथ्यो का मार्ग-निर्देशन न करे। इसका अर्थ यही हुआ कि अनुसंधाता का दृष्टिकोण शुद्ध वस्तुपरक होना चाहिए, उसमे आत्मगत अथवा भावगत तत्त्वो के लिए कोई स्थान नही है। सामान्यत यह मान्य होना चाहिए। इसमे सदेह नही कि गवेषणा-विवेचना के लिए वस्तुपरक, निर्लिप्त दृष्टि सर्वथा वाछनीय ही है, फिर भी ये शब्द पारिभाषिक एव धारणात्मक हैं, इनका अर्थ सर्वथा मूर्त अथवा ऋजु-रूढ नही है। इसलिए इनकी व्याख्या अपेक्षित है, वस्तुपरक अथवा तथ्यपरक दृष्टिकोण का अर्थ यह है कि द्रष्टा या समीक्षक वस्तु अथवा तथ्य पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित रखता है, वह वस्तु या तथ्य को उसके अपने रूप मे ही देखता और प्रस्तुत करता है, उस पर अपनी भावना का आरोप नही करता, उसमे अपने भावो या विचारो का रग नही देता। वस्तुपरक समीक्षक केवल उसी को ग्रहण करता है जो उसे तथ्यो से प्रत्यक्ष रूप मे प्राप्त होता है, वह अपनी कल्पना को तथ्यो का प्रसव नही करने देता। यही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। निर्मुक्त दृष्टि से जगत् का यथार्थ दर्शन करना विज्ञान का लक्ष्य है; विज्ञान के लिए जगत् अथवा प्रकृति या पदार्थ ही मुख्य है, आत्मा नही। प्रकृति ही आत्मा का अनुबधन (कडिशनिंग) करती है, आत्मा प्रकृति का नही। तथ्य-परक दृष्टिकोण इसी सिद्धात का प्रोद्भास है। इसमे सदेह नही कि उपर्युक्त मान्यता मे बहुत-कुछ सार है, परतु फिर भी इसका तत्त्व-विश्लेषण करना आवश्यक है, और कम-से-कम इसके अतिवाद मे बचना चाहिए। पहला प्रश्न तो यह उठता है कि क्या विज्ञान का यह सिद्धात हमे यथावत् मान्य है कि प्रकृति ही आत्मा का अनुबंधन करती है? जहा तक भारतीय जीवन-दर्शन का सबध है, इस प्रकार का सिद्धात प्राय: अमान्य ही है, इसका निर्वाह साख्य भी अंत मे नही कर पाया। जगत् और जीवन के सभी रूपो की परीक्षा करने के उपरात भारतीय दर्शन अत मे आत्मवाद पर ही जाकर रुका है।

उधर पाश्चात्य दृष्टि मे भी अभी तक प्राधान्य आत्मवाद अथवा आदर्शवादी चिंतनधारा का ही है। द्रष्टा के व्यक्तित्व से असपृक्त दृश्य अपने-आप मे जड है। जब तक हम अपनी आख के रग और प्रकाश को वस्तु के रूप पर प्रभाव डालने से नही रोक सकते तब तक हमारे लिए अपने दृष्टिकोण को शुद्ध अनात्मपरक एव निर्लेप बनाने का गर्व अनुचित है। मेरा यह तर्क साहित्य पर तो और भी अधिक लागू होता है, क्योकि साहित्य का तो निर्माण ही मूलत भाव-तत्त्व अथवा आत्म-तत्त्व से होता है। अतएव साहित्यिक आख्याता के लिए रूढार्थ मे शुद्ध निस्संग या निर्लेप दृष्टि एक अर्थवाद के रूप मे ही मानी जा सकती है। जहा दृश्य (अर्थात् साहित्य) आत्मपरक है, जहा दर्शन की प्रक्रिया आत्मपरक है—क्योकि साहित्य का दर्शन बाह्यसवेदनमय न होकर चेतनामय ही होता है, वहा दृष्टि, रूढ अर्थ मे, अनात्मपरक कैसे हो सकती है! अतएव वस्तुपरक निर्लेप निस्संग अथवा अनात्मपरक शब्दो का साहित्य के प्रसग मे रूढ प्रयोग असगत है। हा, इन्हे अर्थवाद के रूप मे ग्रहण करना सर्वथा समीचीन ही नही वरन् आवश्यक भी है। अर्थवाद के रूप मे वस्तुपरक या अनात्मपरक दृष्टि से

तात्पर्य यह है कि आख्याता को विषय पर अपने राग-द्वेष का आरोप नही करना चाहिए, अपने पूर्वग्रहो को यथासंभव दूर रखना चाहिए—कम-से-कम उनमे लिप्त नही होना चाहिए तथा अपनी कल्पना का विषयानुकूल संयमन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त इसका एक सूक्ष्मतर अर्थ भी है—वह है अपने प्रति ईमानदारी। आत्मपरक या भावपरक दृष्टिकोण का प्राय आत्म-प्रवचन मे स्खलन हो जाता है। वस्तुपरक दृष्टि की स्पृहा इसी स्खलन का सफल निवारण है। अतएव साहित्यिक आख्यान मे वस्तुपरकता का अर्थ है—अपने प्रति ईमानदारी, सयम तथा संतुलन। उसके अर्थ को इसके आगे खीचना साहित्य के मर्म पर आघात करना है।

मौलिकता

मौलिकता अनुसधान का प्राणतत्त्व है। परतु इसका स्वरूप भी विषय-सापेक्ष है और साथ ही इसकी कई कोटियां भी हैं। स्वरूप की विषय-सापेक्षता का अर्थ यह है कि विज्ञान और साहित्य विषयक मौलिकता प्रायः समान नही होती। विज्ञान के अनेक क्षेत्रो मे जहा तथ्य का आविष्कार तथा अन्वेषण अत्यत महत्त्वपूर्ण है, वहां साहित्य के क्षेत्र मे उसका उतना अधिक मूल्य नही है। इसमे सदेह नही कि प्राचीन हस्तलिखित लेख, ग्रथ आदि की शोध या उसके भी आगे साहित्य-सबधी तथ्यो की शोध, का भी अपना महत्त्व है और वह अत्यत वाछनीय है, परतु वह आधार ही रहेगा, आधेय नही हो सकता। वह अधिक-से-अधिक दूध ही रहेगा, नवनीत नही बन सकता। नवनीत तो विचार ही है, जो मथन के उपरात प्राप्त हो सकता है। साहित्य का अनुसधेय यही है और यही उसकी मौलिकता का मानदड भी। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य की मौलिकता का माप तथ्य का अन्वेपण-मात्र नही है, उसका माप है तथ्यों के पारस्परिक सबधो का अन्वेषण-उद्घाटन जो अनिवार्यत विचार-रूप ही होगा। इसलिए साहित्य के किसी गवेपणात्मक प्रबध को केवल इस आधार पर अस्वीकृत करना न्याय नही है कि वह अन्वेषणतामक नही है, आलोचनात्मक है, क्योकि मौलिक आलोचना भी अन्वेषण ही है, वरन् यह कहिए कि साहित्य के क्षेत्र मे तो आलोचना अन्वेषण का और भी उत्कृष्ट एव मौलिक रूप है। वास्तव मे उपर्युक्त तर्क ही एक असाहित्यिक तर्क है। साहित्य के क्षेत्र मे इसके दो दुष्परिणाम होते हैं: एक तो यह कि इस प्रकार मूल्यो का विपर्यय हो जाता है, गलत चीज पर बल दिये जाने से सही चीज का महत्त्व घट जाता है। साहित्य मे गणनात्मक तथ्य-सकलन जोर पकड जाता है, मर्म-ज्ञान उपेक्षित हो जाता है। साहित्यिक अनुसधान की यह प्रवृत्ति अत्यत चिन्त्य है। दूसरा दुष्परिणाम यह होता है कि आधुनिक साहित्य अथवा समसामयिक साहित्य इस दृष्टि से अनुसधेय नही रह जाता। 'कामायनी' या मैथिलीशरण गुप्त, पत, निराला और महादेवी के काव्य अनुसंधान के विपय नही वन सकते और वास्तव मे अनेक विश्वविद्यालयों मे जीवित साहित्यकारो अथवा समसामयिक साहित्य के अध्ययन पर वैधानिक प्रतिबंध लगा हुआ है। पहली प्रवृत्ति जितनी चिन्त्य है, यह दूसरी प्रवृत्ति उतनी ही उपहास्य है।

इस सदर्भ मे दूसरा विचारणीय विषय है मौलिकता की विभिन्न कोटिया। मौलिकता की सर्वोच्च कोटि है आविष्कार। साहित्य मे आविष्कार का अर्थ है नवीन सिद्धात का आविष्कार। यह कार्य जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही दुष्कर भी। सिद्धात के आविष्कर्ता अत्यंत विरल होते हैं; किसी एक देश के नहीं, विश्व के साहित्य मे भी इनकी सख्या सदैव नगण्य ही रहती है। प्राचीन काल मे भरत, वामन, आनदवर्धन, कुतक; उधर अरस्तू, लाजाइनस आदि, और आधुनिक युग मे फ्रॉयड, क्रोचे आदि ही इस गौरव के अधिकारी हैं। द्वितीय कोटि मे 'आख्यान' आता है। यहां नवीन सिद्धात का आविष्कार या अन्वेषण नही होता, किसी मान्य महत्त्वपूर्ण सिद्धात के आख्यान मे ही मौलिक शक्ति का विकास मिलता है। किसी ज्ञात विचार या सिद्धात की नवीन व्याख्या एव प्रयोग-उपयोग मे भी उच्चकोटि की मौलिकता निहित रहती है। उदाहरण के लिए, अभिनवगुप्त का महत्त्व नवीन सिद्धात-प्रचलन पर आधृत नही है, आनदवर्धन के ध्वनि-सिद्धात या भरत के रस-सिद्धात की गभीर व्याख्या मे ही उनकी मौलिकता का विकास हुआ है, और सस्कृत-काव्यशास्त्र का इतिहास प्रमाण है कि अभिनवगुप्त का महत्त्व आनदवर्धन से कम नही है। विदेश के अनेक आचार्यों—और हिंदी मे शुक्लजी के लिए भी—यही कहा जा सकता है। मौलिकता की एक तीसरी कोटि भी मानी जा सकती है; परतु यह मौलिकता का स्थूल रूप है। तथ्यान्वेषण, पाठ-शोध, पाठाध्ययन आदि इसी के अतर्गत आते हैं। इनका भी अपना महत्त्व है; क्योकि इनके लिए भी एक विशिष्ट मानसिक शिक्षण और श्रम तथा संलग्नता की अपेक्षा होती है। परतु फिर भी इन्हे मौलिकता की उच्च कोटि के अतर्गत नही रखा जा सकता; इनमे तथ्य-शोध ही रहता है, तत्त्व-बोध नही। इनके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के प्रवधो को भी मौलिकता की दृष्टि से इसी कोटि-क्रम मे रखा जा सकता है। मेरा अभिप्राय उन प्रवधो से है, जिनका प्रतिपाद्य नवीन नही होता, अर्थात् विचार नवीन नही होते, जिनमे आख्यान भी नवीन नही होता, परतु प्रतिपादन नवीन होता है। इनमे आविष्कार अथवा उद्घाटन नही होता, प्रकाशन-मात्र होता है। परतु इसका भी अपना महत्त्व है ही, कम-से-कम यह ग्रहण-शक्ति का द्योतन तो करता ही है। इसलिए साहित्य के अध्ययन मे इस प्रकार के प्रवधो का भी अपना मूल्य है, और मौलिकता की कोटि से उन्हे वहिष्कृत नही किया जा सकता, भले ही उनकी मौलिकता निम्नकोटि की ही क्यो न हो।

हमारे आचार्यों ने साहित्य के तीन हेतु माने हैं शक्ति, निपुणता और अभ्यास। इन तीनो का महत्त्व भी इसी क्रम से माना गया है : अर्थात् शक्ति का महत्त्व सबसे अधिक, निपुणता का उसके वाद और अभ्यास का सबसे वाद। मौलिकता की उपर्युक्त कोटियो को भी इन्ही तीन गुणो के समानातर माना जा सकता है। आविष्कार 'शक्ति' का द्योतक है, आख्यान 'निपुणता' का और तथ्य-शोधन, पाठा-ध्ययन, प्रतिपादन आदि 'अभ्यास' के आश्रित हैं।

अनुसंधान और आलोचना

लक्ष्य-भेद से अनुसंधान के स्थूलतः दो भेद किये जाते हैं—सोपाधि और निरुपाधि। वस्तुत यह विभाजन सर्वथा स्थूल है : अनुसधान के प्रयोजन, प्रक्रिया एव उपलब्धि की दृष्टि से दोनो मे मौलिक अंतर नही है। अर्थात् उपाधि तो केवल एक आनुषगिक तथा व्यावसायिक सिद्धि है। उससे अनुसधान की आत्मा उपाधि ग्रस्त ही होती है, इसलिए उसके लिए 'सोपाधि' विशेषण ही उपयुक्त है। फिर भी, हम सभी सोपाधि ब्रह्म के ही रूप हैं, अत. अपने आवरण के अतर्गत उपाधि-सापेक्ष रूप ही हमारे विवेचन का उचित विषय बन सकता है।

उपाधि-सापेक्ष अनुसंधान के लिए प्राय. निम्नलिखित अनुबधो का विधान है :

१. अनुपलब्ध तथ्यो का अन्वेषण,

२ उपलब्ध तथ्यो अथवा सिद्धातो का पुनराख्यान;

३. ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार, अर्थात् मौलिकता;

४ इनके अतिरिक्त, एक तत्त्व और भी अपेक्षित है और वह है सुष्ठु प्रतिपादन-शैली।

अनुसधान के इन चार गुणो मे से मौलिकता तथा प्रतिपादन-सौष्ठव तो वाङ्मय के प्रायः सभी रूपो के लिए समान है, नवीन तथ्यो का अन्वेषण और उपलब्ध तथ्यो या सिद्धातो का नवीन आख्यान—ये दो गुण अनुसंधान के अपने विशिष्ट धर्म हैं। विश्वविद्यालयो का विधान इन दो मे से एक को अनिवार्य मानता है, इसलिए संबधित अनुच्छेद मे विकल्पवाचक 'या' का प्रयोग किया गया है। प्रश्न हो सकता है कि नवीन तथ्यो का अन्वेषण तो ठीक है, किंतु उपलब्ध तथ्यो या सिद्धातो का आख्यान अनुसंधान के अतर्गत क्यो माना जाए। इसका एक सीधा उत्तर यह है कि केवल आख्यान अनुसधान नही है, 'नवीन' आख्यान अनुसधान है नवीनता ही यहा भी प्रमाण है। तथ्यो के आख्यान का वास्तविक अर्थ है तथ्यो के परस्पर सबंध का उद्घाटन—उनके द्वारा व्यजित जीवन-सत्य या मानव-सत्य का उद्घाटन। तथ्य अपने वस्तुरूप मे जड़ है, किंतु मानव-जीवन के सदर्भ मे—अर्थात् मानव-चेतना के ससर्ग से वह चैतन्य बन जाता है : मानव-चेतना के संसर्ग से जो एक नवीन अर्थ-ज्योति उसमे कौंध जाती है उसी को आलंकारिको ने व्यंजना कहा है। वास्तव मे तथ्यो के आख्यान का अर्थ इसी निहित व्यंजना को विहित करना है। यद्यपि व्यंजना का स्वरूप तथ्य-रूप-अभिधा पर आश्रित रहने के कारण अंततः ससीम ही होता है, किंतु अपनी सीमा

क भीतर भी उसमे अनेक अर्थ-छायाओ की सभावना निहित रहती है। इन अर्थ-छायाओ के कारण ही तथ्य के नवीन, चिर-नवीन आख्यान की संभावना बनी रहती है और इसलिए अनुसधान के लिए पूर्ण अवकाश रहता है। इस दृष्टि से तथ्यो का नवीन आख्यान अथवा पुनराख्यान भी अनुसधान के अतर्गत आता है।

आप लोगो की सुविधा के लिए मैं, सक्षेप मे, तथ्यान्वेषण और तथ्याख्यान का अतर और स्पष्ट करना आवश्यक समझता हूं। सत्य के प्रत्येक रूप के साथ अनेक तथ्य सबद्ध रहते हैं—सत्य के इस रूप-विशेष को स्पष्ट करने के लिए आधारभूत तथ्यो की उपलब्धि आवश्यक है। इनमे से कुछ तथ्य तो विहित रहते है, किंतु अनेक तथ्य प्राय निहित रहते हैं—अथवा काल के आवरण मे लुप्त हो जाते है और उनका अन्वेषण आवश्यक हो जाता है। तथ्यानुसधान प्राय काल-सापेक्ष-सा बन गया है और यह धारणा बद्धमूल हो गई है कि तथ्यानुसधान प्राचीन विषयो की शोध मे ही सभव हो सकता है। किंतु यह साधारणत मान्य होते हुए भी आवश्यक नही है—क्योकि प्रत्येक विषय मे अनेक निहित तथ्य भी तो होते हैं। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि तथ्यानुसधान के सामान्यत दो रूप हैं—(१) काल के प्रवाह मे लुप्त तथ्यो का अन्वेषण, और (२) विषय मे निहित तथ्यो का अन्वेषण। उदाहरण के लिए तुलसी के युग की परिस्थितिया, उनके जीवन की घटनाए, उनकी रचनाए, उन रचनाओ की अनेक प्रतिया, उनके निर्माण से सबद्ध स्थितिया आदि तुलसी-विषयक अनुसधान के अनेक बहिरग तथ्य हैं जो काल-सापेक्ष है—अर्थात् काल के प्रवाह मे से जिन्हे ढूढकर निकालना पडता है। इनके अतिरिक्त तुलसी के काव्य मे निहित अनेक अतरग तथ्य हैं—जैसे तुलसी के आत्म-कथन, दार्शनिक विचार, नैतिक विचार, शैली के तत्त्व, भाषा के तत्त्व, शब्द-समूह आदि, जो आतरिक अन्वेषण की अपेक्षा करते है। दोनो अन्वेषण-प्रक्रियाएं तथ्यानुसधान के अतर्गत आती हैं और चूकि प्राचीन तथा नवीन दोनो प्रकार के साहित्य के अनुसधान मे इनका न्यूनाधिक प्रयोग सम्भव है, अतः तथ्यानुसधान की सभावना को प्राचीन साहित्य तक ही सीमित करना उचित नही है। यह ठीक है कि मैथिलीशरण गुप्त या प्रसाद की जीवन-घटनाओ की जानकारी के लिए प्राचीन राजपत्र, हस्तलेख, शिलालेख आदि की छानबीन की आवश्यकता नही है, उनकी रचनाओ के अनेक पाठो का तुलनात्मक अध्ययन सर्वथा अनावश्यक है, उनकी युगीन परिस्थितियो के आकलन के लिए भी गहरी खोजबीन की जरूरत नही है, परतु इनके अतिरिक्त भी ऐसे अनेक तथ्य रह जाते है जिनका अन्वेषण उतना ही यत्न-साध्य है जितना तुलसी-काव्य से सबद्ध तथ्यो का हो सकता है। यहा तक तो हुई तथ्यानुसधान की बात। अब इसके आगे तथ्याख्यान को लीजिए। उपर्युक्त सभी तथ्य, चाहे वे बहिरग हो या अतरग, केवल आधार हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन राजपत्रो मे तुलसी विषयक उल्लेख आधार मात्र हैं, वास्तविक उपलब्धि तो उनके द्वारा व्यजित तुलसी का जीवन-चरित ही है। इस प्रकार उपर्युक्त उल्लेख तथ्य हैं और उनके द्वारा तुलसी के जीवन-चरित की व्यजना का स्पष्टीकरण इन तथ्यो का आख्यान है—यह व्यजना अनेकरूपा हो सकती है और उसी के अनुसार आख्यान भी नवीन हो सकता

है। तथ्याख्यान का यह अपेक्षाकृत स्थूल रूप है। इसके आगे तुलसी की जीवन-घटनाएं स्वयं तथ्य बन जाती हैं और फिर अनुसंधाता उनकी व्यजनाओ का उद्घाटन करता है—अर्थात् उनके द्वारा व्यंजित तुलसी-व्यक्तित्व के गुण-दोषो का प्रकाशन करता है। यह तथ्याख्यान का दूसरा सोपान है। आगे चल कर व्यक्तित्व के ये गुण-दोष स्वयं तथ्य बन जाते है और अनुसंधाता उनके आधार पर तुलसी की आत्मा का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता है। यह बहिरंग तथ्याख्यान की प्रक्रिया है। अंतरग तथ्याख्यान तुलसी के काव्य को केन्द्र मानकर चलता है—वह तुलसी की रचनाओ का क्रम निर्धारित करता है, उनमे निहित दार्शनिक एवं नैतिक विचारो का, उनकी शैली के तत्त्वो का, भाषा के तत्त्वो का, शब्द-समूह आदि का, विश्लेषण करता है। यह सब भी वस्तुत. तथ्यानुसंधान के अतर्गत ही आएगा—भेद केवल इतना है कि ये तथ्य बहिरग न होकर अतरग हैं, किंतु है ये तथ्य ही। इनका भी आख्यान उतना ही आवश्यक है, अन्यथा ये भी जडवत् हैं। इनके आख्यान का भी अर्थ होगा इनकी व्यंजनाओ का स्पष्टीकरण। नहछू तथा मंगल आदि मानस की पूर्ववर्ती रचनाए हैं और विनयपत्रिका परवर्ती—इस तथ्य की उपलब्धि महत्त्वपूर्ण है, किंतु साधन-रूप मे ही, अर्थात् इस तथ्य के द्वारा व्यजित तुलसी के कवित्व-विकास का महत्त्व और भी अधिक है और उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है इस क्रम-विकास द्वारा व्यंजित तुलसी की कवि-आत्मा का विकास। इसी प्रकार तुलसी की काव्य-शैली के तत्त्वो का विश्लेषण तथ्यानुसंधान मात्र है, इन तत्वो के द्वारा व्यजित तुलसी-काव्य के स्वरूप का अनुसधान तथ्याख्यान है: उदाहरण के लिए रामनरेश त्रिपाठी की कृति 'तुलसीदास और उनकी कविता' मे तथ्यानुसंधान की प्रवृत्ति अधिक है और शुक्लजी की प्रसिद्ध रचना 'गोस्वामी तुलसीदास' मे तथ्याख्यान का प्राधान्य है। तथ्यो के सकलन को देखकर सच्चा अनुसधाता प्रश्न करेगा—इससे क्या? और फिर उनके आधार पर अपनी आतरिक जिज्ञासा—काव्य के मर्म के उद्घाटन—मे प्रवृत्त हो जाएगा। तुलसी के काव्य मे साधर्म्यमूलक अलकारो की संख्या वैषम्यमूलक अलकारो से अधिक है—यह एक उपयोगी तथ्य है; इनकी व्यजना यह है कि तुलसी के काव्य मे वैदग्ध्य की अपेक्षा रस की प्रधानता है। आगे चलकर यह भी तथ्य हो जाता है और इस महत्त्वपूर्ण सत्ययको ध्वनित करता है कि तुलसी की कविता का आस्वाद मन.शाति-रूप है, बुद्धि-चमत्कृति-रूप नही है। इस प्रकार एक तथ्य दूसरे सूक्ष्मतर तथ्य की व्यजना करता हुआ काव्य के मर्म तक पहुचने मे सहायता देता है—यही तथ्याख्यान है।

विगत कई वर्षो से मेरा अनुसधान से व्यावसायिक सबंध रहा है—अनेक विपयो के निरीक्षको-परीक्षको के साथ विचार-विनिमय के प्रचुर अवसर मिलते रहे है। इस विचार-विनिमय के अतर्गत अनुसधान के विपय मे अनेक प्रश्न सामने आये हैं। एक वार हिंदी के एक मान्य विद्वान् ने हमारे एक शोध-विषय 'रीतिकाल के प्रमुख आचार्य' पर आपत्ति करते हुए मुझसे कहा था कि इस पर 'थीसिस' कैसे लिखा जाएगा—थीसिस से उनका आशय था एक विचार-सूत्र का अनुसधान जिसमे प्रमुख आचार्यो की अनेकता वाधक थी। इसी प्रकार शोध-मंडल की किसी बैठक मे इतिहास

के एक विद्वान् ने हिंदी के एक प्रस्तावित विषय 'हिंदी-काव्य के विकास मे सिख कवियो का योगदान' के प्रति जिज्ञासा व्यक्त की कि इसके अतर्गत अनुसंधाता क्या शोध करेगा ? मैंने उत्तर दिया कि यह सपूर्ण सामग्री अभी तक सर्वथा अज्ञात है—पहला शोधकर्ता इसका आलोचनात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत करेगा, परवर्ती अनुसधाता उसके आधार पर अतरग विश्लेषण करेंगे। मेरे उत्तर पर अनेक अनुभवी निरीक्षको की प्रतिक्रिया यह हुई कि आलोचनात्मक सर्वेक्षण अनुसधान नही है—स्थिति स्पष्ट करने पर उन्होने यह मान लिया कि सिख कवियो के ग्रथो का पाठानुसधान और सपादन तो अनुसधान के अतर्गत आ सकता है, किंतु आलोचनात्मक सर्वेक्षण नही—सर्वेक्षण तो अनुसंधान की मूल प्रकृति के विरुद्ध है। ये दोनो ही प्रसंग अनुसंधान के स्वरूप पर यथेष्ट प्रकाश डालते हैं। अंगरेज़ी का एक शब्द है 'थीसिस' जो सस्कृत न्यायशास्त्र के 'प्रतिज्ञा' शब्द का निकटवर्ती है—इसका अर्थ है कोई मौलिक प्रस्थापना विशेष जिसको अनुगमन या निगमन विधि से सिद्ध किया जाता है। अनेक विद्वानो के अनुसार शोध प्रबध का प्राण यह प्रतिज्ञा और इसकी सिद्धि ही है—इसीलिए अगरेज़ी मे शोध-प्रबध के लिए 'थीसिस' शब्द का प्रयोग ही रूढ हो गया है। इसमे संदेह नही कि उत्तम शोध-प्रबंध मे किसी न किसी प्रकार की प्रतिज्ञा और उसकी सिद्धि होनी चाहिए, उससे अनुसहित विषय का सूत्र और उसी अनुपात से उपलब्ध सत्य का स्वरूप सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। किंतु इसकी सभावना सर्वत्र नही है। वास्तव मे इस प्रकार का अनुसधान उन्ही क्षेत्रो मे सभव है जहा अध्ययन काफी विकसित हो चुका है; जहा प्रारभिक कार्य ही नही—व्यवस्थित अध्ययन भी हो चुका है। उदाहरण के लिए हिंदी के सगुण भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल के अनेक कवियो पर इतना कार्य हो चुका है कि इस प्रकार के प्रतिज्ञात्मक शोध के लिए अब भूमि तैयार हो चुकी है और इस प्रकार का अनुसधान-कार्य हो भी रहा है। पिछले वर्ष दो शोध-प्रबध मैंने देखे—एक आचार्य रामचद्र शुक्ल पर था और दूसरा बिहारी पर। एक मे यह प्रस्थापना की गई थी कि आचार्य शुक्ल का मूल जीवन-दर्शन है भावयोग और उनका सपूर्ण वाङ्मय—आलोचना, निबध, कविता आदि इसी भावयोग के दर्शन से अनुप्राणित हैं। दूसरे मे प्रस्थापना की गई थी कि बिहारी का काव्य ध्वनि-काव्य है और उसी के प्रकाश मे सम्पूर्ण काव्य का आख्यान किया गया था। निश्चय ही यह अनुसंधान की उच्चतर भूमि है—यहा शोधकर्ता अनेकता मे एकता के अनुसंधान का सीधा प्रयत्न करता है। अनेकता मे एकता की सिद्धि का नाम ही सत्य है—इसी का अर्थ है आत्मा का साक्षात्कार। अत. शोध का यह रूप सत्य की उपलब्धि अथवा आत्मा के साक्षात्कार के अधिक-से-अधिक निकट है। किंतु साधना की उच्चतर भूमि सदा कठिन होती है, अत यहां भी शोधक को अत्यत सावधान रहने की आवश्यकता है। इस प्रकार के अनुसधान मे यह आशका सदा रहती है कि मूल प्रतिज्ञा ही कहीं अशुद्ध न हो या शोधक प्रतिज्ञा के प्रति दुराग्रही होकर तथ्यो को विकृत रूप मे पेश न करे या उनकी विकृत व्याख्या न करने लगे। ऐसा प्राय. संभव है और इसीलिए यह शोध-पद्धति अधिक वस्तुपरक नहीं मानी गई। वस्तुपरक शोध-पद्धति का मूल सिद्धांत यह

है कि तथ्य ही शोधक का अनुशासन करें, शोधक तथ्यो का शासन न करे। स्पष्टत: उपर्युक्त प्रणाली में दूसरी बात का खतरा बराबर बना रहता है। किंतु साधना की उच्चतर भूमि तो खतरे से खाली कभी रही ही नही।

अनुसधान का तीसरा प्रमुख तत्त्व है 'ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार'। वास्तव मे यही उसका प्राण-तत्त्व अथवा व्यावर्त्तक धर्म है। नवीन तथ्यों की उपलब्धि, उपलब्ध तथ्यो अथवा सिद्धातों का नवीन आख्यान—ये दोनों तत्त्व इसी सिद्धि के साधन है। इनमे से कोई एक तत्त्व या सभी तत्त्व मिलकर अंतत. ज्ञान की वृद्धि करते है—यह ज्ञान की वृद्धि ही वास्तव मे अनुसंधान का मूल उद्देश्य है। अन्य गुण जैसे व्याख्या, विवेचन, संप्रेषण, प्रतिपादन-सौष्ठव आदि भी अनुसंधान के महत्त्वपूर्ण धर्म हैं, किंतु वे व्यावर्त्तक धर्म नही है, क्योकि एक तो उनके अभाव मे भी अनुसंधान हो सकता है और दूसरे अध्ययन के अन्य क्षेत्रो मे भी उनका उतना ही वरन् इससे भी अधिक महत्त्व है। इसके विपरीत ज्ञानवृद्धि के अभाव मे अनुसंधान का स्वरूप खंडित हो जाता है—ऐसा विवेचन या प्रतिपादन जो ज्ञानवृद्धि मे सहायक न हो अनुसंधान की परिधि मे नही आयेगा या कम-से-कम शुद्ध अनुसंधान के अतर्गत नही माना जायेगा। विचार या भाव का सप्रेषण अपने-आप मे साहित्यिक अध्ययन का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अग है—एक दृष्टि से उसका सर्वाधिक मूल्य है, किंतु वह निरपेक्ष रूप मे अनुसंधान के अतर्गत नही आयेगा। अत निष्कर्ष यह है कि ज्ञानवृद्धि ही अनुसधान का व्यावर्त्तक धर्म है।

आलोचना

आलोचना का शब्दार्थ है सर्वांग-निरीक्षण। साहित्य के क्षेत्र मे आलोचना से अभिप्राय है किसी साहित्यिक कृति का सागोपाग निरीक्षण। इसके अतर्गत तीन कर्तव्य-कर्म आते है—१. प्रभाव-ग्रहण, २. व्याख्या-विश्लेषण, और ३ मूल्याकन अथवा निर्णय। आलोचना मूलत कलाकृति द्वारा प्रमाता के हृदय मे उत्पन्न प्रभाव को व्यक्त करती है, अर्थात् प्रिय-अप्रिय प्रतिक्रिया को व्यक्त करती है। इसके उपरात वह प्रतिक्रिया की प्रियता अथवा अप्रियता के कारणो का विश्लेषण करती है : सौदर्यशास्त्र के अनुसार रूप का, मनोविज्ञान के अनुसार स्रष्टा और भावक की मानसिक परिस्थितियो का और समाजशास्त्र के अनुसार दोनो की सामाजिक परिस्थितियो का विश्लेषण कर यह स्पष्ट करती है कि कोई कलाकृति भावक को प्रिय अथवा अप्रिय क्यो लगती है। और, अत मे इन दोनो प्रक्रियाओ के आधार पर उसका मूल्याकन किया जाता है। आलोचना के अतर्गत ये तीन प्रक्रियाएं आती हैं—किसी न किसी रूप मे आलोचना इन तीनो कर्तव्यो का निर्वाह करती है, अवधारण का भेद हो सकता है, किंतु समालोचना मे प्राय. इन तीनो मे से किसी की उपेक्षा करना कठिन ही होता है।

अनुसंधान और आलोचना का परस्पर संबंध

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनुसंधान और आलोचना दोनो की केवल जाति ही नही, उपजाति भी एक है। अत. दोनो मे पर्याप्त साम्य है। दोनों की पद्धति

बहुत-कुछ समान है। व्याख्या-विश्लेषण और निर्णय दोनो मे समान है। अनुसधान मे जो तथ्याख्यान है वही आलोचना मे व्याख्या-विश्लेषण है, दोनो मे विवेचन, कार्य-कारण सूत्र का अन्वेषण, परस्पर सवध तथा अर्थव्यजना आदि का उद्घाटन समान रूप मे रहता है। इसी प्रकार पक्ष-विपक्ष के सतुलन आदि के आधार पर निष्कर्ष और निर्णय की पद्धति भी दोनो मे प्राय समान ही है। तथ्य-विश्लेपण के उपरात तत्त्व-रूप मे निष्कर्ष ग्रहण करना सर्वथा आवश्यक होता है—उसके विना तथ्य-विश्लेपण का कोई अर्थ ही नही रह जाता। अत निष्कर्ष तथा निर्णय का महत्त्व अनुसधान और आलोचना दोनो के लिए समान रूप से मान्य है, उसके विना विचार की प्रक्रिया पूरी नही होती। तथ्याधार अनुसधान के लिए तो एकात अनिवार्य है ही, किंतु आलोचना के लिए भी उसकी आवश्यकता का निषेध नही किया जा सकता, क्योकि तथ्यो के पुष्ट आधार के विना आलोचना मे विश्वास की दृढता नही आती।

यह सब होने पर भी अनुसधान और आलोचना पर्याय नही हैं। मनोविज्ञान से पुष्ट सस्कृत व्याकरण का यह नियम है कि कोई भी दो शब्द एक अर्थ का द्योतन नही करते—उनमे कुछ-न-कुछ भेद अवश्य होता है। अनुसधान की मूल धातु 'धा' है, उसमे 'सम्' उपसर्ग लगाकर सधान शब्द वनता है जिसका अर्थ होता है लक्ष्य बाधना, निशाना लगाना, और आलोचना की मूल धातु है 'लोचृ' अर्थात् देखना। इसी मूल धात्वर्थ के आधार पर दोनो के रूढ अर्थ मे आगे चलकर भेद हो जाता है—एक का अर्थ हो जाता है लक्ष्य बाध कर उसके पीछे बढना और दूसरे का हो जाता है पूरी तरह से देखना-परखना। यही दोनो के मौलिक भेद का आधार है। अनुसधान मे अन्वेपण पर अधिक बल है और आलोचना मे निरीक्षण-परीक्षण पर। यद्यपि ये दोनो तत्त्व भी एक-दूसरे से निरपेक्ष नही हैं—अन्वेपण बिना निरीक्षण-परीक्षण के कृतकार्य नही हो सकता और इसी तरह निरीक्षण-परीक्षण के लिए भी पूर्व-क्रिया रूप मे अन्वेषण की आवश्यकता प्राय रहती है, फिर भी अनुसधान और आलोचना का क्षेत्र पूर्णत सह-व्यापक नही है। अनुसधान के अनेक रूप ऐसे हैं जो शुद्ध आलोचना के अतर्गत नही आते और आलोचना के भी कुछ रूपो को शुद्ध अनुसधान मानने मे वास्तविक आपत्ति हो सकती है। उदाहरण के लिए, जीवनचरित-विषयक अनुसधान, पाठानुसधान, भाषावैज्ञानिक अनुसधान आदि रूप आलोचना के अंतर्गत नही आ सकते। इसका अभिप्राय यह नही है कि इनमे आलोचना का अभाव रहता है अथवा इन क्षेत्रो का अनुसधाता आलोचना-शक्ति एव निर्णय की क्षमता से सपन्न नही होता वास्तव मे इन सभी क्षेत्रो मे भी निरीक्षण-परीक्षण, निष्कर्ष-ग्रहण आदि उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने अन्यत्र, परतु आलोचना का प्रयोग यहा हम साहित्यिक आलोचना (लिटरेरी क्रिटिसिज्म) के रूढ अर्थ मे ही कर रहे हैं, सामान्य अर्थ मे अर्थात् सामान्य निरीक्षण-परीक्षण के अर्थ मे नही। इसी प्रकार आलोचना के कुछ ऐसे रूप भी हैं जैसे प्रभाववादी आलोचना के विभिन्न प्रकार, जो अनुसधान की गरिमा को वहन नही कर सकते। अतएव यह स्पष्ट है कि अनुसंधान और आलोचना के क्षेत्रो मे पूर्ण सहव्याप्ति नही है।

अपने मतव्य को और स्पष्ट करने के लिए पारिभाषिक अर्थ मे आलोचना के

स्वरूप को और स्पष्ट कर लेना चाहिए। मुझे स्मरण है कि एक बार हमारे किसी प्रश्नपत्र मे एक सवाल था—आलोचना विज्ञान है या कला ? मुझे याद नही उस समय मैंने क्या उत्तर दिया था, किंतु आज मेरे मन मे इसका उत्तर स्पष्ट है। आलोचना (अर्थात् साहित्यिक आलोचना) कला का विज्ञान है। विशिष्ट शब्दावली मे आलोचना न तो उस अर्थ मे रस का साहित्य है जिस अर्थ मे कविता, उपन्यास, कहानी आदि हैं और न उस अर्थ में ज्ञान का साहित्य है जिस अर्थ में दर्शनशास्त्र या मनोविज्ञान या तर्कशास्त्र हैं। यह तो अपने प्रामाणिक रूप मे रस के साहित्य का शास्त्रीय या वैज्ञानिक अध्ययन है। विषय का प्रभाव उसके विवेचन पर सर्वथा अनिवार्य होता है—अर्थात् किसी विषय का विवेचन और उसकी विचार-पद्धति उसके आत्मभूत तत्त्वो के प्रभाव को ग्रहण किए बिना रह नही सकती, क्योकि विषय के तत्त्व, उसका लक्ष्य आदि विवेचन पद्धति को भी अनिवार्यत: अनुशासित करते रहते हैं। साहित्य के तत्त्व हैं अनुभूति और कल्पना, उसका प्राण है रस। अतः साहित्य की विवेचन-पद्धति अगभूत अनुभूति तथा कल्पना और प्राणभूत रस के प्रभाव को बचा नही सकती। अतएव उसमे भी कला के तत्त्व—अर्थात् रस और उसके उपकरण अनुभूति तथा कल्पना आदि का अतर्भाव अनिवार्यत. हो ही जाता है। इस प्रकार आलोचना मे कला-तत्त्व अनिवार्यतः विद्यमान रहता है, उसमे आत्माभिव्यक्ति किसी न किसी रूप मे अवश्य रहती है। अनुसंधान के विषय मे यह प्रश्न नही किया जा सकता कि वह कला है या शास्त्र—वह निश्चय ही शास्त्र है। कला की उसके लिए उतनी ही अपेक्षा है जितनी शास्त्र के लिए, क्योकि शास्त्र की भी अपनी एक कला होती है, एक शैली होती है जो वाड्मय के अन्य रूपो से उसके रूप-वैशिष्ट्य को पृथक् करती है। अनुसधान के अनुबध-४ मे निर्दिष्ट 'उपयुक्त' अथवा 'संतोषप्रद' रूप-आकार का अभिप्राय इतना ही है, इससे अधिक नही। उदाहरण के लिए निबंध की ललित गद्य-शैली अनुसधान के लिए न 'उपयुक्त' होगी और न 'सतोषप्रद'। निष्कर्ष यह है कि आत्माभिव्यक्ति अथवा कला-तत्त्व साहित्यिक आलोचना का अनिवार्य गुण है, किंतु साहित्यिक अनुसंधान मे उसका महत्त्व गौण ही रहेगा।

इसके विपरीत तथ्यान्वेषण, तथ्यो का वस्तुपरक आख्यान, वैज्ञानिक प्रविधि एव प्रक्रिया अनुसधान के लिए महत्त्वपूर्ण ही नही है, वरन् ये तो उसके प्राण-तत्त्व हैं। किसी-न-किसी प्रकार के—बहिरग अथवा अतरंग तथ्यो के सम्यक् अन्वेषण के बिना अनुसधान एक पग भी आगे नही बढ सकता। फिर, इन तथ्यो के आख्यान मे अनुसंधाता की दृष्टि एकात वस्तुपरक होनी चाहिए जिससे तथ्य ही उसका निर्देशन करें, वह तथ्यों का निर्देशन न करे। यो तो आलोचना के लिए भी निर्लिप्त दृष्टि की बडी आवश्यकता है, किंतु अनुसंधाता के लिए वह सर्वथा अनिवार्य है। अनुसंधान का मार्ग एकात तपश्चर्या का मार्ग है, उसके लिए अधिक कठोर संयम का विधान है। आलोचना के लिए इतने कठोर बौद्धिक ब्रह्मचर्य की आवश्यकता कदाचित् नही है। आत्मरस का यत्किंचित् सस्पर्श उसके लिए एकात वर्जित नही है। इसी प्रकार वैज्ञानिक प्रविधि एव प्रक्रिया अनुसधान के लिए सर्वथा अनिवार्य है। संदर्भ आदि के पूर्ण विवरण, अनु-

क्रमणिका, परिशिष्ट, ग्रथसूची, पाद-टिप्पणिया आदि की व्यवस्था इसी प्रविधि के अतर्गत आती है। वास्तव मे यह प्रविधि या शिल्प-विधान आलोचना के लिए भी अनुपयोगी नही है, किंतु वहा इसका उतना अनिवार्य महत्त्व नही है। शुद्ध आलोचना मे आलोच्य की आत्मा के साक्षात्कार के प्रति लेखक और पाठक का इतना आग्रह रहता है कि इस प्रकार के स्थूल तथ्य-विवरण की वह उपेक्षा कर सकता है। वस्तुतः इनमे उसका अवधान-भंग होने की भी सभावना हो सकती है।

अनुसधान और आलोचना का प्रत्यक्ष उद्देश्य भी एक नही होता—अनुसधान का लक्ष्य, जैसा कि हमने अभी सिद्ध किया, ज्ञान-वृद्धि है; किंतु आलोचना का लक्ष्य है ज्ञान की अवगति। जो अनुसधान ज्ञान की वृद्धि मे योग नही देता वह विधानतः असफल है, किंतु आलोचना के लिए इतना पर्याप्त नही है—जो आलोचना काव्य की आत्मा का साक्षात्कार नही करा सकती अर्थात् उसके सारभूत प्रभाव का सप्रेषण नही कर सकती, कलाकार के साथ प्रमाता का तादात्म्य स्थापित नही कर सकती वह अपने मौलिक उद्देश्य की पूर्ति मे असफल रहती है। प्रत्यक्ष 'फलागम' के इसी भेद के कारण दोनो के 'आरभ' मे भी स्पष्ट भेद हो जाता है। आलोचक का पहला धर्म है प्रभाव-ग्रहण अर्थात् आलोच्य के प्रति रागात्मक प्रतिक्रिया। अनुसधाता के लिए वह आवश्यक नही है—प्राय. बाधक भी हो सकती है, वह अपना कार्यारंभ तथ्य-संकलन से करता है जिसमे उसकी दृष्टि निर्लेप रहनी चाहिए। इस प्रकार अनुसधान और आलोचना के आरभ और फलागम मे बाह्य भेद अवश्य है।

अब तक मैंने अत्यत तटस्थ भाव से अनुसंधान और आलोचना के साम्य और वैषम्य का निरूपण किया है। यदि आपको आपत्ति न हो तो सक्षेप मे अपने निष्कर्षों की आवृत्ति कर दू जिससे आगे के विवेचन मे सहायता मिल सके।

साम्य (१) अनुसधान और आलोचना एक ही विधा—साहित्य-विधा—के दो उपभेद हैं।

(२) दोनो की पद्धति बहुत-कुछ समान है। दोनो की प्रक्रिया मे तथ्यो के सकलन—त्याग एव ग्रहण, व्याख्यान-विश्लेषण, निष्कर्ष-ग्रहण का प्राय उपयोग किया जाता है।

वैषम्य (१) किंतु अनुसंधान और आलोचना पर्याय नही हैं—धात्वर्थ के अनुरूप अनुसधान मे अन्वेषण पर अधिक बल रहता है और आलोचना मे निरीक्षण-परीक्षण पर।

(२) अनुसधान के अनेक रूप ऐसे हैं जो आलोचना के अतर्गत नही आते और इसी प्रकार आलोचना के भी कतिपय रूप अनुसधान के उपबधो की पूर्ति नही कर पाते।

(३) आत्माभिव्यक्ति अथवा कला-तत्त्व आलोचना का अनिवार्य गुण है, किंतु अनुसधान मे उसका महत्त्व गौण ही रहेगा।

(४) वैज्ञानिक तटस्थता और उसकी अनुवर्ती वैज्ञानिक प्रविधि एव प्रक्रिया का महत्त्व अनुसधान के लिए अनिवार्य है—आलोचना के लिए उसका महत्त्व परिशिष्ट रूप मे ही रहता है।

(५) अनुसंधान का प्रत्यक्ष उद्देश्य है ज्ञान की वृद्धि और आलोचना की सिद्धि है मर्म की अवगति या अनुभूति ।

मुझे आशा है कि इस भेदाभेद-निरूपण से दोनो के विषय मे आपकी सापेक्षिक धारणाएं और मानस-बिंब थोडे बहुत स्पष्ट अवश्य हो गये होगे । किंतु यह तो पूर्वपक्ष है, या आप यह कह सकते है कि यह हमारे प्रतिपाद्य का तथ्याधार मात्र है । उत्तरपक्ष मे मैं अपने से और आप से एक प्रश्न करता हू : क्या शुद्ध आलोचना अनुसधान नही है ? यह प्रश्न एक दूसरे ढग से भी रखा जा सकता है क्या उत्तम आलोचना अनिवार्यत. उत्तम अनुसंधान नही है ? अथवा क्या उत्तम साहित्यिक अनुसंधान अपनी चरम परिणति मे आलोचना से भिन्न ही रहता है ? साहित्यशास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते मेरे पास इसका एक ही उत्तर है और वह यह कि उत्तम आलोचना अनिवार्यत उत्तम अनुसंधान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसधान अपनी चरम परिणति मे आलोचना से अभिन्न हो जाता है । हिंदी मे 'जायसी ग्रथावली' की भूमिका उत्तम आलोचना का असदिग्ध प्रमाण है और साहित्यिक अनुसधान का भी मैं उसे निश्चय ही अत्यंत उत्कृष्ट उदाहरण मानता हू । यहा तो तथ्याधार भी अत्यत पुष्ट है, इसलिए विवाद के लिए अवकाश कम है । शुक्लजी के सैद्धातिक निबधो को ही लीजिए । क्या हिंदी काव्यशास्त्र के विकास मे उनका अत्यत मौलिक योगदान किसी प्रकार सदिग्ध हो सकता है ? अर्थात् क्या उनका शोध-मूल्य किसी प्रकार कम है ? आप कदाचित् हिंदी के एक मान्य आलोचक का प्रमाण देकर मुझे निरुत्तर करना चाहेगे । ये आलोचक है शातिप्रिय द्विवेदी । वे निश्चय ही साहित्य के मर्मी आलोचक हैं किंतु आप औचित्यपूर्वक उनके सफल अनुसंधाता होने मे शका कर सकते है । इसके उत्तर मे मेरा निवेदन है कि शातिप्रिय जी की जिन रचनाओ का शोध-महत्त्व सदिग्ध है उनका आलोचनात्मक मूल्य भी सर्वथा निर्विवाद नही है । प्रभाव-ग्रहण आलोचना का प्राथमिक धर्म होने पर भी, प्रभाववादी आलोचना प्राय निम्नकोटि की आलोचना ही मानी जाती है । शातिप्रिय जी अपने चित्त को सयत और दृष्टि को स्थिर कर जहां आधुनिक काव्य—विशेषत छायावाद-काव्य—के मर्म का उन्मेष करने मे सफल हुए हैं वहा उनकी आलोचनाओ का शोध-मूल्य भी असंदिग्ध है । छायावादी सौंदर्य-दृष्टि की निवृति अपने आप मे महत्त्वहीन अनुसंधान नही है । अब दूसरा पक्ष लीजिए । मैं आपसे किसी ऐसे शोध-प्रबंध का नाम पूछना चाहूगा जो आलोचनात्मक गुणो के अभाव मे भी उत्तम अनुसधान का प्रमाण हो । आप भाषा-विज्ञान अथवा ऐतिहासिक अनुसधान के क्षेत्र से कदाचित् कुछ उदाहरण उपस्थित करेंगे किंतु मैं तो साहित्यिक अनुसधान की बात कर रहा हू । साहित्यिक अनुसधान के क्षेत्र से भी शायद आप इस प्रकार के शोध-प्रबधो के नाम लेना चाहे । विशिष्ट उदाहरण न देकर इस प्रसग मे सामान्य रूप से मैं यही निवेदन करना चाहूगा कि इस प्रकार के अकाट्य प्रमाण प्राय दुर्लभ ही है । ऐसे प्रबंध, जिनका मूल्य केवल तत्त्व-शोध पर आधृत है, उत्तम अनुसधान के सदर्भ-ग्रथो के रूप मे ही मान्यता प्राप्त कर सकेंगे । पश्चिम मे, और वहां के अनुकरण पर इस देश मे भी, ऐसे ग्रंथो का महत्त्व बढ़ रहा है । मैं इनका अवमूल्यन नही करता

किंतु ये सब तो अनुसंधान की सामग्री या साधन मात्र हैं। हिंदी मे ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं जिनके द्वारा प्रचुर नवीन सामग्री प्रकाश मे आयी है। उनसे हिंदी-साहित्य और उसके अनुसधाता का निश्चय ही वडा कल्याण हुआ है किंतु कृपया उन्हे आदर्श अनु-संधान मानने का आग्रह न कीजिए। ये तो उत्तम अनुसधान के प्रारूप हैं। तत्त्व-दृष्टि से यदि हम विचार करें तो विद्या के सभी भेदो का ही उद्देश्य निर्धारित किया जा सकता है, और वह है सत्य की उपलब्धि। सत्य और तथ्य मे यह भेद है कि एक केवल वोध का विपय है और दूसरा अनुभूति का। वोध का अर्थ है ऐंद्रिय अथवा वौद्धिक प्रत्यय और अनुभूति का अर्थ है मर्म का साक्षात्कार। मर्म के साक्षात्कार के लिए तथ्य-वोध से आगे चलकर तथ्य के द्वारा व्यजित सत्य की अवगति आवश्यक है। यही आलोचना की चरम परिणति है और मेरा आग्रह है कि अनुसधान की चरम परिणति भी यही होनी चाहिए। तद्विपयक विधान के अनुवध-२—तथ्यो या सिद्धातो के आख्यान—के अंतर्गत यद्यपि इसका उल्लेख विकल्प रूप मे किया गया है, किंतु उसकी शब्दावली से निर्विवाद है कि यह अनुसंधान की उच्चतर भूमि है। इस लक्ष्य की सिद्धि के विना अनुसधान केवल तथ्य-वोध का साधन होकर रह जाता है, सत्य की सिद्धि का माध्यम नही।—तव फिर उसकी गणना विद्या के अतर्गत न करके उपविद्या के अतर्गत ही करनी चाहिए। मुझे विश्वास है कि प्रकृति और व्यवसाय दोनो से अनुसधाता होने के नाते आपको अनुसंधान की यह अधोगति स्वीकार्य नही होगी।

अनुसंधान के क्षेत्र मे आलोचना के इस विरोध का एक इतिहास है। लगभग १५-२० वर्ष पूर्व जव हिंदी मे अनुसंधान का कार्य विधिवत् आरभ हुआ, उस समय साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र मे आचार्य रामचद्र शुक्ल का एकाधिपत्य था। शुक्लजी की आलोचना-पद्धति मे तत्त्व-दर्शन के प्रति इतना प्रवल आग्रह था कि वे तथ्यो की चिंता अधिक नही करते थे। उनके इतिहास तथा भूमिकाओ एव सैद्धातिक निवधो मे तथ्या-धार स्पष्टत दुर्वल है। वस्तुत आत्मा का अनुसधान ही उनका ध्येय रहता था—तथ्यो के सकलन और साख्यिकीय पद्धति के अवलंवन के प्रति उनको रुचि नही थी। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि जायसी, सूर और तुलसी के काव्य के जिन मार्मिक रहस्यो का उद्घाटन वे अपनी सक्षिप्त भूमिकाओ मे कर गये हैं, परवर्ती अनुसंधाताओं के विशालकाय ग्रंथ आज तक उनमे कोई आश्चर्यजनक अभिवृद्धि नही कर पाये। विहारी, घनानद आदि कवियो के विपय मे चितन के जो सूक्ष्म तत्त्व वे अपने इतिहास मे निकालकर रख गये है, परवर्ती अनुसंधाता अव तक तथ्यो के आधार पर या तो उनकी पुष्टि कर रहे हैं या विस्तार। वास्तव मे मूल अनुसधेय क्या है—तत्त्व ही न ? इस तत्त्व-शोध की सामान्यत. दो विधिया हैं : एक दर्शन की, दूसरी विज्ञान की। पहली गति ऋजु और त्वरित है—वह लक्ष्य पर सीधा आक्रमण करती है, दूसरी का आधार अधिक दृढ और पुष्ट है किंतु गति मंथर एवं विलंवित है। दोनो के अपने गुण-दोष हैं : पहली के परिणाम शीघ्रगम्य हैं किंतु भ्रातिपूर्ण भी हो सकते हैं; दूसरी मे भ्राति की आशंका अपेक्षाकृत वहुत कम है, किंतु उसमे एक वडी आशंका यह है कि अनुसंधाता की दृष्टि तथ्य-जाल मे उलझ जाती है और तत्त्व की उपेक्षा हो जाती है—तथ्यो के तर्क

के स्वाद मे तत्त्व के नवनीत का स्वाद भूल जाता है। शुक्ल जी के अनुसधान मे पहली पद्धति के गुण-दोष थे। लगभग उन्ही दिनों हमारे कुछ-एक विद्वान् विदेश से शोध-कार्य कर लौटे थे जहा वैज्ञानिक पद्धति का साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र मे भी यथावत् प्रयोग हो रहा था। यहां आकर इन्होने देखा कि हिंदी-अनुसंधान के क्षेत्र मे इसका सर्वथा अभाव था, उसकी प्रविधि और प्रक्रिया अत्यंत अपूर्ण और अव्यवस्थित थी। फलतः डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि ने वैज्ञानिक पद्धति को हिंदी-शोध के क्षेत्र मे भी प्रतिफलित करने का व्यवस्थित प्रयत्न किया और एक नवीन शोध-प्रणाली का आविर्भाव हुआ, जो प्रचलित प्रणाली के साथ सघर्ष मे आने लगी। उसी सघर्ष से इस नारे का जन्म हुआ कि अनुसंधान आलोचना नही है। इस पृथक्करण से लाभ और हानि दोनो ही हुए। लाभ तो यह हुआ कि अनुसंधान मे तथ्यान्वेषण का महत्त्व बढा—पुष्ट तथ्याधार से विवेचन मे प्रामाणिकता और प्रत्यय-शक्ति का विकास हुआ। प्रविधि और प्रक्रिया मे वैज्ञानिक व्यवस्थिति एव पूर्णता आयी। दृष्टि को निस्सग निरीक्षण की क्षमता प्राप्त हुई। व्यक्तिगत रुचि-वैचित्र्य का सयमन और उससे प्रभावित अशुद्ध निष्कर्षण की प्रवृत्ति का नियत्रण हुआ। इससे न केवल हिंदी-अनुसधान का वरन् हिंदी आलोचना का भी कल्याण हुआ, किंतु हानि भी कम नही हुई। अतर्दृष्टि अवरुद्ध होने लगी—तथ्य पर दृष्टि केंद्रित हो जाने से तत्त्व-दर्शन का महत्त्व कम होने लगा। अनुसंधाता शाखाओ मे उलझकर मूल को भूलने लगा। विश्लेषण के स्थान पर गणना का आधिक्य होने लगा। हृदय के सुदर रहस्यो को व्यक्त करने के लिए यात्रिक परीक्षा की जाने लगी। कल्पना का नियत्रण करने के दुराग्रह ने विचार और चिंतन को भी क्षीण कर दिया। बाह्य रूप-विधा का गौरव इतना बढा कि साहित्य का प्राण-रस सूखने लगा। साहित्य के अतर्दर्शन को नए आलोचक छायावादी आलोचना कहने लगे। एक अतिवाद से मुक्त होकर हिंदी-अनुसंधान एक दूसरे घातक अतिवाद का शिकार हो गया। यह प्रवृत्ति और भी अधिक चिंत्य थी और यदि समय पर इसका नियमन न हुआ होता तो हमारे यहा विद्या का स्तर निश्चय ही गिर जाता। वास्तव मे इस प्रवृत्ति के मूल मे एक आधारभूत सिद्धात की उपेक्षा निहित थी। वह सिद्धात यह है कि प्रत्येक विषय के अध्ययन की प्रविधि-प्रक्रिया उस विषय को अपनी प्रकृति में से ही प्राप्त होनी चाहिए। अध्ययन के नियम और प्रविधि-प्रक्रिया निरपेक्ष नही है, वे सदा विषय पर ही आश्रित रहते हैं। अत जो विद्वान् विज्ञान की निस्सग दृष्टि और एकात वस्तुपरक प्रविधि-प्रक्रिया का आरोपण साहित्य के अध्ययन पर करना चाहते हैं वे इस मौलिक सिद्धात को भूल जाते हैं कि रूपाकृति तो आत्मा का प्रतिबिंब मात्र है। अतः साहित्य की आत्मा का अनुसधान करने के लिए विज्ञान का उतना उपयोग तो श्रेयस्कर है जितना कि मानवात्मा के उत्कर्ष के लिए नाना प्रकार के भौतिक और सामाजिक विज्ञानो का। पर, इसके आगे बढना खतरनाक होगा। उससे साहित्यिक मूल्यों का विपर्यय हो जाने की बडी आशंका है।

और, यह आशका आज हिंदी-अनुसंधान के क्षेत्र मे सत्य सिद्ध हो रही है। अनुसंधान आलोचना नही है, इस भ्रांत धारणा से अन्य भ्रांतियो का जन्म हो रहा है।

हिंदी का अनुसधाता यह समझने लगा है कि अनुसधान का कार्य केवल अन्वेषण करना है · सत्साहित्य और असत्-साहित्य—यहा तक कि साहित्य और असाहित्य की परख से उनका क्या वास्ता ? फलत आज साहित्यिक अनुसंधान के नाम पर ऐसे वाड्मय का सग्रह हो रहा है जो किसी भी लक्षण से साहित्य के अंतर्गत नही आता। मैंने भारतीय हिंदी परिषद् की निबध-गोष्ठी के सभापति-पद से यह प्रश्न उठाया था। उस समय समयाभाव के कारण मैं अपने मतव्य को स्पष्ट नही कर पाया था, और, सुना था कि बाद मे कतिपय विद्वानो को मेरे वक्तव्य पर आपत्ति भी थी। मेरा अभिप्राय वास्तव मे यह है कि साहित्यिक अनुसधान साहित्य की परिधि के भीतर ही रहना चाहिए—ऐसी सामग्री को जो साहित्य के अतर्गत नही आती अर्थात् जो अपनी विषय-वस्तु और प्रतिपादन-शैली द्वारा सहृदय के चित्त को चमत्कृत करने मे सर्वथा अक्षम है, साहित्य के अनुसधान के अतर्गत सग्राह्य नही मानना चाहिए। आज हिंदी के अनुसधाता आदिकाल, भक्तिकाल, आधुनिक हिंदी साहित्य के पूर्वार्ध आदि से सबद्ध ऐसी प्रचुर सामग्री का ढेर लगाते जा रहे है जो साहित्य नहीं है। उदाहरण के लिए, राम-काव्य अथवा कृष्ण-काव्य के कलेवर को विगत १०-१५ वर्षो मे नवीनता के अन्वेषको ने ऐसे अनेक साप्रदायिक ग्रथो से भरकर फुला दिया है जो किसी भी परिभाषा के अनुसार काव्य नहीं हैं। आप कहेगे उनका ऐतिहासिक एवं सास्कृतिक मूल्य है—ठीक है, मैं भी इसे मानता हू, किंतु अनुसधान के विषय का शीर्षक तो राम-काव्य या कृष्ण-काव्य है रामभक्ति अथवा कृष्णभक्ति संप्रदायो का इतिहास नही है। जो स्पष्टतः अकाव्य है उस सामग्री का पृष्ठभूमि आदि का निर्माण करने के लिए उपयोग कर लीजिए, किंतु काव्य शीर्षक के अतर्गत उनका अनुसधान करने की कृपा न कीजिए। आदिकाल को ही लीजिए—नाथो और सिद्धो की सैंकडो रचनाओ का हमारे खोजियों ने साधुओ की गुदडियो मे से निकालकर ढेर लगा दिया है - आयुर्वेद, कृषि, समकालीन राजनीति आदि से सबद्ध राशि-राशि ग्रथ हिंदी साहित्य का सीमा-विस्तार आयुर्वेद और कृषिशास्त्र तक करते जा रहे है। निर्गुण सतो की साप्रदायिक वानिया, जिनकी रचना शुद्ध साप्रदायिक उद्देश्य से हुई थी और कवित्त के नितात अभाव के कारण किसी भी प्राचीन काव्य-रसिक ने जिनका भूल कर भी उल्लेख नही किया, आज के वैज्ञानिक अनुसंधान के फलस्वरूप हिंदी-काव्य की श्रीवृद्धि कर रही हैं। इसी प्रकार आधुनिक काल मे भारतेन्दु और द्विवेदी युगो की सपूर्ण पत्रकारिता का हिंदी साहित्य मे अविकल रूप से समावेश किया जा रहा है। उधर लोकसाहित्य का आक्रमण भी जोर से हो रहा है—और लोकसाहित्य तक तो कुशल थी क्योकि साहित्य शब्द के साहचर्य के कारण लोक-हृदय की करुण-मधुर अनुभूतियो से उसका कुछ-न-कुछ सपर्क बना रहता था। किंतु अब तो हमारा अनुसधान लोकवार्ता तक प्रगति करता जा रहा है—उस वार्ता तक, जिसके विषय मे सस्कृत काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य का निर्भ्रांत निर्णय था :

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिण ।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ॥

भामह काव्यालकार, २।८७

अर्थात् सूर्यास्त हो गया, चद्रमा चमक रहा है, पक्षिगण अपने घोसले मे जा रहे हैं—यह भी क्या कोई काव्य है ? इसे तो वार्ता कहते है । अर्थात् वार्ता शब्द हमारे काव्य-शास्त्र मे अकाव्य का पर्याय माना गया है ।

मैं एक भ्रांति का निराकरण करने के लिए दूसरी को जन्म देना नही चाहता। इसलिए अपने मतव्य को थोडा और स्पष्ट करना आवश्यक है। मैं एक क्षण के लिए भी इस प्रकार की सामग्री का अवमूल्यन करना नही चाहता—सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक अनुसंधान मे इसका अपना विशिष्ट मूल्य है। भारत की मध्यकालीन संस्कृति का इतिहास प्रस्तुत करने मे सिद्धो, नाथो और संतो की बानियो का अपूर्व महत्त्व है—देश के नवजागरण का इतिहास भारतेन्दु और द्विवेदीयुगीन पत्रकारो का चिर-आश्रित रहेगा, इसी प्रकार लोक-सस्कृति और समाजशास्त्र के लिए लोकवार्ताओ का महत्त्व अक्षुण्ण है। मध्ययुग अथवा आधुनिक काल के हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप मे भी उपर्युक्त सामग्री अत्यत मूल्यवान है, प्रेरक स्रोतो के रूप मे इसका उपयोग किया जा सकता है, कवि-मानस के निर्माण के लिए तत्कालीन परिवेश की महत्ता भी असंदिग्ध है। किंतु वह तो क्षेत्र ही दूसरा है। आज तो सतकाव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य शीर्षक के अंतर्गत इस प्रकार की अकाव्यमयी सामग्री का समावेश होता जा रहा है। और, इसका कारण क्या है ? केवल यह गलत नारा कि अनुसधान आलोचना नही है—इसलिए आलोचक-दृष्टि के अभाव मे अनुसंधाता काव्य के नवनीत के साथ उस 'सप्रेटा' को फिर से मिलाकर रख देता है जिसे आचार्य शुक्ल जैसे मर्मी इतिहासकारो ने निकालकर फेंक दिया था। जैसा कि मैंने अन्यत्र निवेदन किया है, यह सब कच्चा माल है—इसे आलोचना की परिष्कारिणी (रिफाइनरी) मे साफ करके ही इस्तेमाल करना चाहिए। आखिर, काव्यानुसधान का लक्ष्य क्या है ? काव्य-सत्य की शोध ही न ? जिस अनुसधान मे काव्यत्व अर्थात् काव्य का मूल सत्य ही खो जाए वह फिर और किसकी खोज करना चाहता है ?

मैं स्वभाव और वृत्ति से अध्यापक हू। कक्षा मे प्रत्येक व्याख्यान के बाद मैं इस विषय मे आश्वस्त होने का प्रयत्न करता हू कि सभी विद्यार्थी मेरे वक्तव्य को समझ गए या नही, मेरे वक्तव्य से उनके मन मे कुछ भ्रांतिया तो उत्पन्न नही हो गई और मेरे द्वारा प्रस्तुत सामग्री का विद्यार्थी किस प्रकार से उचित उपयोग कर सकेंगे। आपको विद्यार्थी मानने का दंभ तो मैं कैसे करू ! किंतु यह विश्वास लेकर कि आप सब जिज्ञासु भाव से यहा उपस्थित है, मै अपनी इस प्रविधि की आवृत्ति करना चाहता हू और अनुसंधान के विषय मे अपने प्रतिपाद्य विषय से सबद्ध कुछ व्यावहारिक संकेत देकर आज के वक्तव्य को समाप्त करूगा। मेरी स्थापनाए संक्षेप मे इस प्रकार हैं :

१ अनुसधान और आलोचना निश्चय ही पर्याय नही है—अनुसधानकर्मी को यह समझकर अपने कार्य मे प्रवृत्त होना चाहिए। इससे उसकी प्रवृत्ति तथ्यशोध के प्रति जागरूक रहेगी और उसके विवेचन का तथ्याधार पुष्ट हो जाएगा। वह परागत तथ्यों पर निर्भर न रहकर स्वय भी नवीन सामग्री के संकलन का प्रयत्न करेगा या

कम-से-कम प्राप्त सामग्री की प्रामाणिकता की परीक्षा स्वयं करेगा। प्रत्येक शोधकर्त्ता को इस प्रवृत्ति का विकास करना चाहिए।

२. अनेक विषय ऐसे हो सकते हैं जिनके अंतर्गत तथ्यान्वेषण से भी काम चल सकता है। कम-से-कम पी-एच० डी० की उपाधि के लिए उतना पर्याप्त हो सकता है। किन्तु यह अनुसंधान का अथ है, इति नही है। उसी विषय पर तथ्याख्यान और सम्यक् आलोचना के द्वारा गहनतर अनुसंधान की संभावनाएं बनी रहती है। वही शोधार्थी अथवा कोई अन्य उनसे यथाविधि लाभ उठा सकता है और उसे उठाना चाहिए। उदाहरण के लिए, ध्रुवदास के जीवनवृत्त और कविवृत्त पर शोध करने के पश्चात् वही या अन्य कोई अनुसंधाता ध्रुवदास की काव्यकला, दार्शनिक भूमिका आदि पर सूक्ष्मतर अनुसंधान कर सकते हैं।

३. तथ्यान्वेषण अनुसंधान का आधार मात्र है और प्रारंभिक रूप होने के नाते अपेक्षाकृत निम्नतर रूप भी है। डी० लिट्० के लिए इस प्रकार के शोध-कार्य की संस्तुति करने मे मुझे अत्यंत संकोच होगा, जब तक कि उसका क्षेत्र बहुत ही व्यापक न हो।

४ आलोचनात्मक प्रतिभा के बिना मैं उत्कृष्ट अनुसंधाता की कल्पना नही कर सकता। शोध-नियमो के अनुसार भी परीक्षक को यह प्रमाणित करना पड़ता है कि अनुसंधाता ने अपने प्रबंध मे आलोचन-क्षमता का परिचय दिया है। सत्य-शोध के तीन सस्थान है—तथ्य-संग्रह, विचार और प्रतीति। उपलब्ध तथ्य को विचार मे परिणत किये बिना ज्ञान की वृद्धि संभव नही है और विचार को प्रतीति मे परिणत किये बिना सत्य की सिद्धि संभव नही। तथ्य को विचार-रूप देने के लिए भावन की आवश्यकता पड़ती है और विचार को प्रतीति मे परिणत करने के लिए दर्शन अनिवार्य है—और ये दोनो ही साहित्यालोचन के अतरंग तत्त्व है। अत. उत्कृष्ट साहित्यिक आलोचना साहित्यिक अनुसंधान का उत्कृष्ट रूप है—शोधार्थी को इस महत्त्वपूर्ण तथ्य के विषय मे निभ्रांत रहना चाहिए।

इसलिए मेरे तरुण मित्रो! आप शक्ति और साधन के अनुसार अपने गतव्य का निर्धारण कर लें। आपकी दृष्टि यदि व्यावसायिक है तो सामान्यत. अज्ञात या अर्धज्ञात कवि-लेखक के वरदान से ही तथ्यान्वेषण के द्वारा उपाधि मिल जाएगी, यदि अपनी प्रतिभा के प्रति आप जागरूक हैं और आपकी मनस्विता निम्नकोटि की सफलता से संतुष्ट नही हो सकती तो आपको अपनी आलोचन-शक्ति को आजना और मांजना होगा जिससे कि आप तथ्यों की व्यंजना को समझ और समझा सकें और उससे भी आगे बढ़कर यदि आप अनुसंधान के क्षेत्र मे अमर उपलब्धि करना चाहते हैं तो निरंतर साधना के द्वारा साहित्य-दर्शन की क्षमता का विकास करना होगा।

हिंदी में शोध की कुछ समस्याएं

हिंदी मे शोध की सबसे प्रमुख समस्या है शोधार्थियो की वर्तमान सख्या की। अभी कुछ दिन पहले दक्षिण के एक विद्वान् हमारे विश्वविद्यालय मे पधारे थे। उन्होने बडे उत्साह के साथ अपनी भाषा और साहित्य की प्रगति का वर्णन किया। काफी देर तक आदरपूर्वक सुनने के बाद मैंने उनसे पूछा कि आपके साहित्य मे सभी विश्वविद्यालयो को मिलाकर कितने विद्यार्थी एम० ए० की परीक्षा मे बैठते है, और अनुसंधाताओ की कुल संख्या कितनी है? उन्होने बडे गर्व से मेरी ओर देखा और उत्तर दिया : कोई तीस-चालीस छात्र एम० ए० मे बैठते है और शोधार्थियो की सख्या आठ-दस जरूर होगी। विद्वान् मित्र ने फिर यही प्रश्न मुझसे किया। मैंने कहा कि आप विश्वास कर सकें तो अपनी दोनो सख्याओ को कम-से-कम ५० से गुणा कर दीजिए। यह वर्धमान सख्या हमारे लिए यदि गर्व का कारण नही है तो कम-से-कम चिंता का कारण भी नही है। किंतु यह एक समस्या अवश्य है जो समाधान की अपेक्षा करती है। सबसे पहले तो विषयो की समस्या खडी होती है—नित्य नवीन अनुसधेय विषय भी तो असख्य नही हो सकते। अनुसंधेय विषय से मेरा यह अभिप्राय है कि उस विषय की परिधि के भीतर तथ्य-शोध और तत्त्व-बोध दोनो के लिए ही वाछित अवकाश हो, पुनरावृत्ति न होने पाये और साथ ही उसके परिणाम भी ज्ञानवर्धक हो। दूसरी सबद्ध समस्या है निरीक्षको की। इतने निरीक्षक कहा से आएं? सख्या की यह वृद्धि जिस वेग से हो रही है, पूर्ति के साधन उसके अनुपात मे अत्यत अपर्याप्त है। बढती हुई बेकारी ने स्थिति को और भी दयनीय बना दिया है। आजकल जो अपरिचित व्यक्ति बहुत बडी सख्या मे भटकते हुए मेरे पास आते है, आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि उनमे से प्राय ३३ प्रतिशत नौकरी के लिए और ६७ प्रतिशत शोध-कार्य के लिए आते हैं। जब मुझ जैसे अदना आदमी का यह हाल है तो लब्ध-कीर्ति दिग्गजो के पास भटकनेवालो की दयनीय दशा की कल्पना आप सहज ही कर सकते हैं। जनसख्या की वृद्धि के समान शोधार्थी-संख्या की वृद्धि का नियत्रण भी आवश्यक है। किंतु यह नियत्रण आयोजन के रूप मे ही होना चाहिए, दमन के रूप मे नही। जहा तक विषयो का प्रश्न है, इसमे सदेह नही कि उनकी सख्या अनंत नही हो सकती, किंतु हिंदी साहित्य का विस्तार काल और कार्य दोनो की दृष्टि से इतना अधिक है कि अभी तक निराश होने की कोई आवश्यकता मुझे प्रतीत नही होती। अभी तक राजस्थान, ब्रज, पंजाब और अवध के क्षेत्रो मे इतना प्रचुर साहित्य अज्ञात पड़ा हुआ

है कि सैकड़ो अनुसधाताओ का श्रम उसमे सफल हो सकता है। इस अभाव-पूर्ति का एक और महत्त्वपूर्ण उपाय है अत साहित्यिक विषयो का चयन। अत:साहित्यिक से मेरा आशय ऐसे विषयो से है जिन पर भारत के विभिन्न साहित्यो मे परस्पर संबद्ध सामग्री उपलब्ध है। हमारे प्राचीन और नवीन साहित्य की अनेक प्रवृत्तिया ऐसी है जिनका भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओ मे समान रूप से विकास हुआ है और यह साम्य अनेक प्रकार का है कही मूल स्रोत का साम्य है, कही विकास की सरणिया समान हैं, तो कही-कही परस्पर आदान-प्रदान मिलता है—ये तथ्य अत्यत मूल्यवान् है : सत्य की शोध के लिए सामान्य रूप से और भारत की सास्कृतिक परपरा एव उसकी मौलिक एकता के लिए विशेष रूप से इनका महत्त्व है। इनका अनुसधान हिंदी-शोध के इतिहास मे एक नवीन दिशा का उद्घाटन करेगा।

इसी प्रसग से सबद्ध पुनरावृत्ति की समस्या भी है : हिंदी-शोध के क्षेत्र मे यह शिकायत बार-बार सुनने मे आती है कि भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयो मे एक-से विषयो पर अनुसधान हो रहा है जिससे श्रम का अपव्यय और स्तर का ह्रास हो रहा है। इस तथ्य मे सत्य का अश है, इसमे सदेह नही—किंतु उचित आयोजन से इस दोष का परिहार हो सकता है। कई स्थानो पर एक ही विषय पर शोध होना अपने आप मे दोष नही है यह विषय पर निर्भर है। यदि विषय की परिधि सीमित है तो पुनरावृत्ति की आशका हो सकती है, अन्यथा व्यापक विषयो पर तो शोध के लिए अनत अवकाश है—सत्य के अनेक पहलुओ का उद्घाटन भी ज्ञान के विस्तार मे अमूल्य योगदान करता है। इस दिशा मे शोध-सस्थानो के कार्य को आयोजित और समजित करने की आवश्यकता है—जो विश्वविद्यालय-स्तर पर, या विभागीय स्तर पर और भी आसानी से किया जा सकता है। इस प्रकार पुनरावृत्ति का दोष गुण बन जाएगा, एक ही विषय के अनेक पक्षो का उद्घाटन होगा और विवेचन मे गभीरता और [illegible] आएगी। दूसरा प्रश्न निरीक्षको का है। यह प्रश्न निश्चय ही थोडा जटिल है [illegible]तु इसका समाधान भी असभव नही है। निरीक्षण-कार्य व्यवस्थित करने के लिए विश्वविद्यालयो को अपने अंतर्गत अनुसंधान-कक्षो की व्यवस्था करनी चाहिए—जहा पर शोध की विधि (मेथोडौलोजी) की सामूहिक रूप से नियमित शिक्षा दी जा सके। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयो के बाहर के शुद्ध साहित्यिक सस्थानो और हिंदी तथा अन्य भाषाओ के हिंदी-प्रेमी विद्वानो और स्रष्टा साहित्यकारो से भी सपर्क स्थापित करना एक विशिष्ट सीमा के भीतर लाभप्रद हो सकता है। ऐसे अनेक साहित्यकार आज हमारे बीच विराजमान हैं जो हिंदी के शोध-कार्यो मे अनेक दृष्टियो से अमूल्य सहयोग दे सकते हैं। उपाधि के अभाव मे उनके सहयोग से अपने को वचित करते रहना वस्तुत. श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता।

स्तर का प्रश्न और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। आजकल चारो ओर से यह शिकायत आ रही है कि हिंदी मे शोध का स्तर बहुत गिर गया है और बराबर गिरता जा रहा है। इस विषय मे मेरा आपसे निवेदन है कि यह आरोप सर्वथा सत्य नही है—परिमाण की वृद्धि के साथ एकदम 'ए-वन' माल की आशा करना सगत नही है,

परतु सारा माल या अधिकाश माल घटिया है, यह कहना अन्याय है। वास्तव मे इस आरोप के मूल में अनेक कारण हैं—विश्वविद्यालयो के बीच अस्वस्थ स्पर्धा-भाव, पडितो की पारस्परिक ईर्ष्या, जेठी पीढी के लोगो की अनुदारता, हिंदीतर भाषाओ और विषयो के विद्वानो का हिंदी के विपय मे अज्ञान और उसकी प्रगति के प्रति द्वेष आदि। यदि आप स्थिर मन से स्थिति का विश्लेपण करें तो रहस्य प्रकट हो जाएगा। शिकायत करने वाले कौन लोग है ? हर जेठी पीटी के लोगो का यह अटूट विश्वास होता है कि योग्यता के जो मानदड उन्होने और उनके साथियो ने स्थिर कर दिए, वे अटल हैं—बाद की पीढिया तो निरतर अवनति की ओर बढ रही है। जब हर पहली पीढी का मैट्रिक पास अगली पीढी के एम० ए० को पढा सकता है तो आज की पीढी का शोध-कार्य पिछली पीढी के शोधको की दृष्टि मे सर्वथा हेय हो, इसमे आश्चर्य ही क्या ! इस प्रसग मे मै अत्यत नम्रतापूर्वक यह निवेदन करना चाहूगा कि प्रतिभा और निपुणता किसी पीढी का एकाधिकार नही है। एक ओर यदि पिछली पीढी के कुछ प्रबध आज भी हमारे लिए आदर्श है तो दूसरी ओर कुछ ऐसे प्रबधो पर भी बुजुर्ग लोग बडी-से-बडी उपाधि मार ले गए है जिनको छपाने का साहस भी आज उनको नही है। हिंदीतर भाषाओ और विषयो के विद्वानो की आलोचना प्राय· अज्ञान, शंका और द्वेष से प्रेरित है। आखिर इन विषयो का भी शोध-कार्य तो सामने है—अधिकाश के लिए तो प्रकाशक ढूढ़े नही मिलता और जो प्रकाशित हो गये है उनके स्तर से किसी प्रकार आतकित होने का कारण हमे दिखाई नही देता। शेष दो कारण स्वभावजात हैं। अस्वस्थ स्पर्धा धीरे-धीरे स्वस्थ रूप धारण करती जा रही है, विभिन्न विश्वविद्यालयो के हिंदी विभागो के बीच सौमनस्य स्थापित होता जा रहा है। लक्ष्य की एकता और अधिकारो तथा कर्तव्यो का उचित विभाजन इस सौहार्द को शीघ्र ही दृढ कर देंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। पिछले पद्रह वर्ष के शोध-कार्य का निस्सग विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी-क्षेत्र के प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय ने आगे या पीछे इस दिशा मे पर्याप्त योगदान किया है, आगे काम करने वालो को यदि पथ-दर्शन का गौरव प्राप्त है तो पीछे बढने वालो को विकास का श्रेय है। परस्पर सहयोग से और भी अधिक लाभ की आशा है। किंतु मेरा यह आशय कदापि नही है कि जो कुछ हो रहा है वह सर्वथा सतोषजनक है, उसमे किसी प्रकार के सशोधन की आवश्यकता नही है। स्तर से सबद्ध कुछ समस्याए वास्तव मे अत्यंत गभीर हैं। उनके समाधान के लिए आवश्यक उपाय होने चाहिए। सबसे पहला उपाय तो है उचित निरीक्षण की व्यवस्था। अभ्यर्थियो की वर्धमान संख्या के अनुपात मे निरीक्षको की संख्या वास्तव मे बहुत ही कम है। परिणाम यह होता है कि एक-एक निरीक्षक के अधीन अनेक प्रकार का शोध-कार्य हो रहा है, कही निरीक्षक और अनुसधाता मे कम-से-कम पूरे ५०० मील की दूरी है और पूरी अवधि के भीतर मुश्किल से ही दो-तीन बार मुलाकात हो पाती है, कही निरीक्षक को शोध-प्रबध पढने का अवकाश ही नही है और कही शोधार्थी अनुभव करता है कि निरीक्षक महोदय मे तो मैं ही अधिक जानता हू ! ये परिस्थितिया वास्तव मे चिन्त्य हैं किंतु इनके लिए निरीक्षक या

प्राध्यापकों को दोष देना सर्वथा अनुचित होगा। विद्यार्थी की माग इतनी अधिक है कि निरीक्षक लाचार हो जाता है। परतु यह लाचारी समस्या का समाधान तो नहीं है। निरीक्षक की अपनी सीमाए होती है—बौद्धिक भी और शारीरिक भी। शारीरिक का अर्थ यह है कि वह अपने नैत्यिक कार्य के साथ-साथ तीन-चार से अधिक शोध-प्रबधो का निरीक्षण नही कर सकता—और बौद्धिक का आशय यह है कि निरीक्षक विशेषज्ञ ही हो सकता है, सर्वज्ञ नही। हमारे विश्वविद्यालयो मे विवश होकर ऐसे विषय स्वीकार करने पड जाते हैं जिनमे निरीक्षक का कोई प्रवेश नही—कभी-कभी तो निरीक्षक विषय मे सर्वथा अबोध होता है। एक ही निरीक्षक को आल्हखड, कामायनी की भाषा, छायावाद, रीतिकाल और कहानी की शिल्पविधि जैसे सर्वथा असबद्ध विषयो का निर्देशन करना पडता है। कही-कही निरीक्षक का नाममात्र पाने के लिए भटकता हुआ छात्र अनेक भौतिक सीमाओ को पार कर किसी ऐसे निरीक्षक से जा टकराता है जिसके साथ संपर्क भी प्राय दुर्लभ होता है। ऐसी स्थिति मे सर्वत्र ऊचे स्तर की आशा करना व्यर्थ होगा। मेरा सुझाव है कि कम-से-कम इस प्रकार के निरीक्षण-कार्य पर अवश्य प्रतिबध लगना चाहिए। यह न नैतिक दृष्टि से उचित है, न शैक्षिक दृष्टि से ही। इसके अतिरिक्त पहले निरीक्षक को और बाद मे परीक्षक को थोडी निर्ममता बरतनी चाहिए—निर्मम न्याय चाहे न किए जाए, किंतु कम-से-कम सदय न्याय तो करना ही चाहिए। और, इसमे अतत विद्यार्थी का अहित नही होता। तात्कालिक सतोष के लिए कच्ची-पक्की रचना को स्वीकृति दे देना अपने विषय और व्यवसाय के प्रति अन्याय है, साथ ही विद्यार्थी के लिए भी अत्यत अहितकर होता है क्योकि आरभ से ही वह गंभीर अनुसधान से पराङ्मुख होकर लीपा-पोती करने की आदत डाल लेता है जो अत मे जाकर नितात घातक सिद्ध होती है। आरभ मे एक-आध वर्ष अधिक परिश्रम कर लेना विद्यार्थी के हित मे पहले होता है, शिक्षा के हित मे बाद मे। इनके अतिरिक्त एक तीसरा ठोस उपाय है शोधपूर्व शिक्षण-क्रम की व्यवस्था। मैंने स्वय इस उपाय का व्यवहार करके देखा है और मुझे इससे बडा सतोष है। विद्यार्थी को उसकी रुचि के अनुकूल विषय देकर निर्देशन की व्यवस्था कर देनी चाहिए और यह शर्त लगा देनी चाहिए कि सामग्री का सकलन और कम-से-कम भूमिका भाग लिख लेने के बाद ही उसका नियमित प्रवेश हो सकेगा। इससे दो लाभ होते हैं। एक तो उन विद्यार्थियो की झूठी भूख मर जाती है जो किसी और कार्य के अभाव मे इच्छा-अनिच्छापूर्वक शोध के लिए टूट पडते हैं। इस प्रकार अनधिकारी व्यक्तियो के छंट जाने से अनुशासन मे भी दृढता आती है। दूसरे, सच्चे शोधक को अपनी सीमा और शक्ति समझने, शोध का पूर्वाभ्यास करने और विधि-विधान का उचित ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिल जाता है— उसकी दृष्टि स्थिर हो जाती है और लपक-झपक में उपाधि प्राप्त कर लेने की अस्वस्थ स्पृहा का शमन हो जाता है। सब मिलाकर इस पद्धति से विद्यार्थी नुकसान मे नही रहता क्योकि तीन वर्ष तो शोध-प्रबंध लिखने मे लग ही जाते हैं।

आज वास्तव मे परिस्थितियो के कारण शोध के प्रति अभीष्ट दृष्टिकोण का

लोप हो गया है। इसलिए आवश्यकता यह है कि उपयुक्त वातावरण उत्पन्न कर शुद्ध बौद्धिक एवं शैक्षिक दृष्टिकोण का पुनर्विकास किया जाए। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि शोध-उपाधि का सबध व्यावसायिक उन्नति के साथ एक उचित सीमा के भीतर ही रहना चाहिए : उत्कर्ष की कामना तो होनी ही चाहिए किंतु उत्कर्ष की धारणा केवल आर्थिक या व्यावसायिक न होकर बौद्धिक और आत्मिक भी होनी चाहिए। यह काम अधिकारियो के करने का है—उन्हे ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि पी-एच० डी० कॉलेज-शिक्षा के लिए एल० टी० की स्थानापन्न न बन जाए। इससे शिक्षा और शोध दोनो की हानि है। प्रत्येक अच्छा शोधक अच्छा शिक्षक नही होता, कभी-कभी वह साधारण से भी निकृष्ट अध्यापक सिद्ध होता है, इसलिए दोनो के उद्देश्य और पद्धति मे भ्राति नही करनी चाहिए। शोध-कार्य के पुरस्कार को शिक्षा के क्षेत्र तक ही सीमित कर देने के परिणाम अत्यंत अप्रिय हो सकते है और हो रहे है—उसके लिए अलग व्यवस्था होनी चाहिए, अलग प्रतिष्ठान होने चाहिए जहा अनुसधाता की प्रतिभा और उपलब्धि का सम्यक् उपयोग किया जा सके। इस भ्राति के निराकरण से स्तर मे वृद्धि असदिग्ध है।

स्तर से सबद्ध एक और व्यावहारिक समस्या है पी-एच० डी० और डी० लिट्० के सापेक्षिक मूल्याकन की। अभी तक इस विषय मे बडी गडबड रही है। पहले तो प्रायः अकेली डी० लिट्० की ही उपाधि थी—फिर पी-एच० डी० और डी० लिट्० दो उपाधिया चलने लगी—कही केवल एक और कही तारतम्य से दोनो। आज स्थिति प्राय स्पष्ट हो चुकी है, उत्तर भारत के अधिकाश विश्वविद्यालयो मे पी-एच० डी० प्रथम शोध-उपाधि हो गई है और डी० लिट्० उसके बाद की —जो अपने क्षेत्र मे उच्चतम उपाधि है। मैं समझता हूं इस अतर को नियमित मान्यता प्रदान कर स्तर-भेद की उचित व्यवस्था अनिवार्यत हो जानी चाहिए। जिन विश्वविद्यालयो मे ऐसा नही है वहा भी शिक्षा-क्रम की एकरूपता की दृष्टि से ऐसा हो जाना आवश्यक है। इस व्यवस्था के बाद फिर शोध के निरीक्षण-परीक्षण का भी क्रम-भेद स्पष्ट हो जाना चाहिए। डी० लिट्० के लिए निरीक्षक की आवश्यकता नही है—परामर्शदाता की भी नही। जो दूसरे का आसरा डी० लिट्० मे भी तकें उन्हे कुछ और काम करना चाहिए। मूल्याकन की दृष्टि से भी हमारी धारणा सर्वथा निर्भ्रांत हो जानी चाहिए : पी-एच० डी० की अपेक्षा डी० लिट्० के शोध-प्रबंध मे विषय का विस्तार, विवेचन का गांभीर्य और प्रतिपादन की सर्वांगपूर्णता निश्चय ही अधिक होनी चाहिए और इसी आधार पर उसका मूल्याकन होना चाहिए। डी० लिट्० का प्रबंध एक दूसरा शोध-प्रबध मात्र नही है वह स्पष्टत एक गुरुतर और गंभीरतर शोधकार्य है—सस्तवन करने से पूर्व इस विषय मे परीक्षक को निश्चय ही आश्वस्त हो जाना चाहिए; तभी वाछित क्रम-भेद की रक्षा हो सकेगी और दोनो का अतर सार्थक हो सकेगा।

अब तक मैंने एक व्यावसायिक अध्यापक और निरीक्षक की हैसियत से समस्या के व्यावहारिक पक्ष का विवेचन किया है। साहित्यिक पक्ष का विवेचन अभी शेष है, जो अन्यत्र करूगा।

आधुनिक साहित्य और अनुसंधान

समसामयिक साहित्य के विरुद्ध अनुसधान के विशेषज्ञो के मन में एक प्रकार का पूर्वग्रह आरभ से ही रहा है —और अब भी है। इसके दो मुख्य कारण है :

(१) अनुसधान मे अन्वेषण की धारणा अनिवार्यत निहित है और चूकि नये साहित्य के विषय मे प्राय सभी कुछ ज्ञात एव उपलब्ध रहता है—अन्वेषण या खोज के लिए विशेष अवकाश नही रहता, इसलिए वह अनुसधान के लिए उपयुक्त विषय नही हो सकता।

(२) समसामयिक साहित्य का स्वरूप सर्वथा अस्थिर एव परिवर्तनशील होता है, इसलिए उसका प्रामाणिक अध्ययन सभव नही है। जिसका रूप अभी बन रहा है उसका स्वरूप-विश्लेषण आप क्या करेंगे ? और, यदि करते भी हैं तो उससे कोई विशेष लाभ नही क्योकि काफी सभावना इस बात की है कि जिस आधार को आप लेकर चल रहे है वह ही बदल जाए। लेखक या कवि के सदर्भ मे यह तर्क और भी सही बैठता है —जब तक वह अपना कृतित्व पूरा नही कर लेता तब तक आप उसका मूल्याकन कैसे कर सकते है ? जो कलाकार जितना ही अधिक जीवत और प्राणवान् होगा, अपने सर्जनात्मक जीवन मे वह उतने ही नये मोड लेगा—नयी दिशाओ का उद्घाटन करेगा, नये क्षितिजो की ओर बढेगा। ऐसी स्थिति मे यदि आप उसके जीवनकाल मे ही अनुसधान करेंगे तो आपके निष्कर्ष खडित एवं अपूर्ण रह जाएगे। और इन खडित निष्कर्षो के आधार पर अनुसधान कैसे प्रामाणिक बन सकेगा ?

प्रस्तुत प्रसग पर सिद्धात और व्यवहार दोनो की दृष्टि से विचार करना है। क्या वास्तव मे समसामयिक साहित्य अनुसधान के लिए उपयुक्त विषय नही है ? इस सदेह के मूल मे, जैसा कि मैंने ऊपर सकेत किया है, यह धारणा है कि अनुसधान का प्राणतत्त्व अन्वेषण है नवीन तथ्यो का अन्वेषण। हमारे एक पडोसी राज्य के किसी कृषिमत्री के विषय मे बडा मनोरजक प्रवाद प्रचलित है। अपने विभाग के बजट मे एक अच्छी-खासी रकम रिसर्च की मद मे देखकर मत्री महोदय ने सचिव से कहा— "व्हाई स्पेंड सो मच मनी ऑन रिसर्च परचेज न्यू मैटीरियल अर्थात् इतनी धनराशि अनुसधान पर क्यो खर्च की जाए . नयी सामग्री खरीद लीजिए।" आरभ मे अनुसंधान का अर्थ बहुत कुछ ऐसा ही किया गया। यही समझा गया कि अनुसधान के अतर्गत खोयी हुई सामग्री या अनुपलब्ध तथ्यो की खोज ही मुख्य है। और चूकि नये साहित्य के विषय मे प्राय. सभी कुछ उपलब्ध रहता है, इसलिए उसे अनुसंधान की

परिधि से बहिष्कृत कर दिया गया। यह आक्षेप वस्तुत अनुसधान के स्वरूप की भ्रात कल्पना पर ही आश्रित है। आज यह सिद्ध करने की आवश्यकता नही रह गई कि अनुसधान का एकमात्र आधार तथ्यान्वेषण नही है। उच्चतर विद्या के किसी भी क्षेत्र मे तथ्यान्वेषण पर्याप्त नही होता—साहित्य के क्षेत्र मे तो उसकी स्थिति और भी गौण है अर्थात् वह साधन से अधिक नही है। शोध के अनुबधो मे तथ्यान्वेषण और तथ्याख्यान दोनो का स्पष्ट उल्लेख है—किंतु शब्दावली से यह भी स्पष्ट है कि इन दोनो मे दूसरे का गौरव ही अधिक है। वास्तव मे तथ्य-शोध और तत्त्व-शोध मे विकल्प के लिए स्थान ही नही है। इस विषय मे मै अपना मत अत्यत निर्भ्रांत रूप से अन्यत्र व्यक्त कर चुका हू—उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक होगी। इस प्रकार पहले आक्षेप का निराकरण तो सरलता से हो जाता है। किंतु दूसरा तर्क अपेक्षाकृत अधिक गभीर है : समसामयिक साहित्य के स्वरूप की अस्थिरता अनुसधान मे बाधक होती है। इसमे संदेह नही कि अस्थिर पदार्थ की अपेक्षा स्थिर पदार्थ का स्वरूप-विश्लेषण सरल होता है, किंतु सरलता तो अंतिम प्रमाण नही है। यह ठीक ही है कि समसामयिक साहित्य एक गतिमयी धारा है और उसका स्वरूप चिर-परिवर्तनशील है, परंतु गति और परिवर्तन भी तो अनुसंधान के उत्तम विषय हो सकते है। स्थिर पदार्थ-विषयक निर्णय कदाचित् अधिक निश्चित हो सकते हैं, किंतु निर्णयो की निश्चितता ही तो अनुसंधान का एकमात्र लक्षण नही है। यह बहुत-कुछ विषय पर निर्भर है कि अनुसंधान के परिणाम किस सीमा तक निश्चित होते हैं। निश्चित शब्द से कभी स्थिर का और कभी स्पष्ट का बोध होता है—जहा तक स्पष्टता का संबध है वहा तक तो कोई मतभेद नही हो सकता क्योकि प्रत्येक अनुसधाता की दृष्टि स्पष्ट और अनाविल होनी चाहिए। परंतु प्रत्येक स्थिति मे सर्वथा निश्चित या अपरिवर्तनीय निर्णय प्रस्तुत करने का प्रयास न सभव है, न समीचीन। कला और साहित्य के क्षेत्र मे हम क्षण भर के लिए इस विषय पर विवाद भी कर सकते है। किंतु समाजशास्त्र के क्षेत्र मे तो समसामयिक विषयों का सापेक्षिक महत्त्व स्वत सिद्ध है। वहा तो अनुसधान का केंद्र प्राय वर्तमान जीवन ही होता है जो सर्वथा अनिश्चित और अस्थिर रहता है। उदाहरण के लिए, उतरते-चढते हुए मूल्यो का अध्ययन अर्थशास्त्र मे एक अत्यंत महत्त्व-पूर्ण विषय है और इसमे अधिक अस्थिर अन्य क्या विषय होगा ? मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि विषय के स्वरूप की अस्थिरता या परिवर्तनशीलता अनुसंधान को अपेक्षाकृत कठिन बना सकती है किंतु उसके कारण कोई विषय अनुपयुक्त सिद्ध नही होता। अनुसधान का उद्देश्य सर्वथा अतिम या स्थिर निष्कर्षो की उपलब्धि नही है—इस प्रकार के निष्कर्षो की सभावना भी प्राय. नही रहती क्योकि आरभिक स्थिति मे अपरिवर्तनीय तथ्यो के रूप मे ज्ञान की कल्पना कदाचित् अधिक सगत नही है। विषय के रूप-परिवर्तन के साथ-साथ अनुसधान की उपलब्धियो मे भी सशोधन अनिवार्यत होगा, और उससे इन उपलब्धियो की सार्थकता नष्ट नही होगी—परिवर्तनशील विषय की वर्तमान स्थिति का अध्ययन भावी विकास-स्थितियो के अध्ययन मे अन्वय-व्यतिरेक से सहायक होता रहेगा, इसमें सदेह नही।

अत नवीन तथ्यो की उपलब्धि की कम सभावना होने से या स्वरूप की परिवर्तनशीलता के कारण ही समसामयिक साहित्य को अनुसंधान के योग्य न मानना समीचीन नही हो सकता। यह तथ्य अव प्राय. स्पष्ट हो चुका है और विश्वविद्यालयो मे समसामयिक साहित्य की प्रवृत्तियो पर अनुसधान की छूट बहुत पहले से मिली हुई है। 'नई कविता', 'प्रेमचंद-परवर्ती हिंदी-उपन्यास', 'शुक्लोत्तर आलोचना' आदि विपयो पर शोध-प्रवध लिखे जा रहे हैं—स्वीकृत भी हो चुके है। परंतु जीवित लेखको के सबध मे अब भी प्रतिबध है। तर्क वही है, व्यक्ति के सामने आ जाने से समसामयिक पर टीका-टिप्पणी न करने की सामान्य प्रवृत्ति और भी उभर आती है। नैतिक कारणो एवं व्यावहारिक कठिनाइयो के साथ मिलकर शास्त्रीय तर्क और भी कठोर हो जाते हैं। इसमे सदेह नही कि जीवित प्रवृत्ति की अपेक्षा जीवित व्यक्ति का पक्ष थोडा दुर्बल है, फिर भी इस विपय मे कोई अधा नियम नही बन सकता। आप ऐसे कवि या लेखक को कुछ समय के लिए छोड सकते है जो अभी अपने कृतित्व के मध्याह्न मे तप रहा है, किंतु जो प्रौढि को प्राप्त कर चुका है—जिसका कृतित्व पूरा हो चुका है, उसके विषय मे रूढि का पालन करना व्यर्थ है। कवि निराला का उदाहरण लिया जा सकता है· उनकी मृत्यु से १०-१५ वर्ष पहले ही उनका कृतित्व पूर्ण हो चुका था, परतु हमारे विश्वविद्यालय अनुसधान की अनुमति देने के लिए मानो उनके भौतिक शरीरपात की प्रतीक्षा करते रहे। उनकी आखें बद होते ही प्राय. प्रत्येक विश्व-विद्यालय मे उनसे संबद्ध एक या दो विपय तुरत ही स्वीकृत हो गये और आज एक साथ १५-२० शोधार्थी निराला के व्यक्तित्व एव कृतित्व पर शोध कर रहे है। इस प्रकार का प्रतिबध वास्तव मे घोर विडवना है। हिंदी मे आज ऐसे अनेक समर्थ कलाकार हैं जिन पर अत्यधिक सफल एव मूल्यवान् अनुसधान के लिए पूरा अवकाश है, पर विश्वविद्यालय का नियम अभिधार्थ मे 'घातक' सिद्ध हो रहा है।

व्यवहार-दृष्टि भी समसामयिक साहित्य के अनुकूल ही पडती है। जैसे-जैसे हिंदी-अनुसधान का विकास हो रहा है, शोध-विपयो की कमी होती जा रही है। उधर हमारे आज के अनुसधाता का सपर्क एक ओर प्राचीन विचार-सरणियो और दूसरी ओर उनकी माध्यम भापाओ—ब्रज तथा अवधी आदि से टूटता जा रहा है। ब्रज-मडल तथा अवध-प्रदेश मे भी ऐसा हो रहा है—अन्य राज्यो की, विशेपकर अहिंदी राज्यो की, तो बात ही क्या? ऐसी स्थिति मे नया शोधार्थी वर्तमान साहित्य की ओर स्वभावत ही अधिक उन्मुख हो रहा है। वर्तमान भापा और वर्तमान विचार उसके अधिक निकट हैं। अतः वर्तमान साहित्य को शोध के अयोग्य या अनुपयुक्त घोपित कर देना अव्यावहारिक भी होगा।

इस प्रकार, प्रस्तुत प्रश्न के सभी पहलुओ पर विचार करने के बाद मेरा अपना मत यही है कि समसामयिक साहित्य पर निश्चय ही उपयोगी शोधकार्य हो सकता है। किंतु इस विपय मे दो तथ्य स्पष्ट हो जाने चाहिए: (१) समसामयिक साहित्य को व्यापक अर्थ मे ही ग्रहण करना उचित है अर्थात् केवल छायावादोत्तर साहित्य को समसामयिक साहित्य मानना उचित नही—प्रस्तुत विवेचन मे मैंने उसका

इसी व्यापक अर्थ मे प्रयोग किया है। समसामयिक साहित्य के क्षेत्र मे अनुसधेय विषय की गरिमा पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान देना चाहिए क्योकि प्राचीन विषय के चारो ओर समय की दूरी के कारण अपने आप ही जो एक स्वर्णिम परिवेश बन जाता है, वर्तमान साहित्य उससे स्पष्टत. वचित रहता है। वास्तव मे, मै अनुसधेयता के लिए अन्य बातों की अपेक्षा विषय की गरिमा पर ही अधिक बल देना चाहता हू—साहित्यिक गरिमा से विहीन प्राचीन-से-प्राचीन विषय भी निर्मूल्य हो सकता है और उससे मडित नया विषय भी सर्वथा ग्राह्य माना जा सकता है। 'घाघ की कविता (?) मे स्वास्थ्य-संबधी सकेत' की अपेक्षा 'पत के काव्य मे बिब-विधान' कही अधिक उपयुक्त विषय है। उधर, इसका विकल्प भी उतना ही मान्य है—अर्थात् नवीनता के जोश मे प्राचीन विषयो को निस्सार घोषित कर कच्ची-पक्की नई रचनाओ को प्राथमिकता देना भी उतना ही अनुचित है नई पत्रिकाओ के पन्नो मे मुरझा जाने वाली नई रचनाओ के अनिर्मित या अर्धनिर्मित बिब-जाल से माथापच्ची करने की अपेक्षा किसी अज्ञात भक्त-कवि या रीति-कवि के सरस छंदो का विश्लेषण हिंदी-साहित्य के विकास के लिए अधिक श्रेयस्कर होगा।

नवीन शोध-विज्ञान और हिंदी-साहित्य के अनुसंधान में उसकी उपयोगिता

यो तो हिंदी भापा और साहित्य के क्षेत्र मे अनुसधान का प्रारंभ ग्राज से लगभग ५० वर्प पूर्व माना जा सकता है जबकि श्री जे० एन० कारपेंटर ने लदन विश्वविद्यालय से 'डॉक्टर ऑफ डिविनिटी' की उपाधि प्राप्त की थी, परतु उसका स्वरूप वर्तमान शताब्दी के चतुर्थ दशक मे ही व्यवस्थित हुआ। भारतीय विश्व-विद्यालयो मे विधिवत् शोधकार्य वस्तुत १९४० ई० के बाद ही हुआ : उससे पहले देश के विभिन्न विश्वविद्यालयो से सब मिलाकर ५-६ शोधग्रथ ही स्वीकृत हुए थे। आज कोई तीस संस्थानो मे शोधकार्य पूरे वेग से चल रहा है और इस बढते हुए वेग के कारण तरह-तरह की समस्याए सामने आ रही हैं—साथ ही अनेक प्रकार के आक्षेप भी हो रहे हैं। इनमे से कुछ समस्याए निश्चय ही अवास्तविक हैं और अनेक आक्षेप द्वेप से प्रेरित हैं। फिर भी, २५ वर्ष की इस अत्यंत सक्रिय शोध-साधना के बाद अपनी सिद्धि और असिद्धि का पुनरीक्षण करना अनुचित न होगा।

हिंदी मे स्थूल रूप से दो क्षेत्रो मे अनुसधान हो रहा है भाषा के क्षेत्र मे और साहित्य के क्षेत्र मे। इनमे भापा के क्षेत्र मे तो अभी अनत अवकाश है क्योकि हिंदी के विराट् कलेवर मे अनेक उपभापाए और बोलिया अतर्भुक्त हैं और भापा-विज्ञान मे शोध की नित्य-नवीन प्रणालियो का विकास होता चला जा रहा है। यह मेरा विपय नही है, फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि इस दिशा मे हमारे यहा विशेप प्रगति नही हुई। कारण अनेक है साधनो का अभाव, प्रशिक्षित शोधकर्ताओ और शोधनिर्देशको का अकाल और साथ ही विदेश की, विशेषकर अमेरिका या रूस की, अत्याधुनिक यान्त्रिक प्रक्रियाओ को यथावत् स्वीकार करने मे भारतीय विद्यार्थी की मनोवैज्ञानिक असमर्थता। हमे इनका उपयोग करना है, परतु विवेक के साथ यह मानकर कि भापा केवल जड ध्वनि-समूह नही है, वरन् मानव अनुभूतियो का चैतन्य माध्यम है। हिंदी साहित्य के क्षेत्र मे अब तक शोध की अनेक पद्धतियो का अवलबन होता रहा है, जिनमे मुख्य हैं .

१ सर्वेक्षण-पद्धति : इसके द्वारा हिंदी-साहित्य के किसी काल-खड, अग-विशेप अथवा प्रवृत्ति-विशेप का क्रमवद्ध विवरण उपस्थित किया जाता है। यद्यपि यह पद्धति अधिक गंभीर और उत्कृष्ट नही है, फिर भी शोध की आरभिक अवस्थाओ मे

इसका अवलबन अनिवार्य होता है क्योकि अधिक सूक्ष्म-गहन अध्ययन के लिए भूमि इसी के द्वारा तैयार होती है।

२. आलोचनात्मक अध्ययन-पद्धति : यह अपेक्षाकृत गंभीर पद्धति है। इसमे अनुसधाता का ध्यान कवि अथवा कृति आदि पर केन्द्रित रहता है और वह उसके विभिन्न साहित्यिक पहलुओ का सांगोपाग विवेचन प्रस्तुत करता है। यह अध्ययन कई प्रकार का हो सकता है (क) काव्यशास्त्रीय अध्ययन—इसमें कवि अथवा कृति के काव्यपक्ष के विविध अंगो का—काव्यरूप, अभिव्यजना-शिल्प, भाषा-शैली, भाव-तत्त्व तथा प्रभाव-गुण आदि का व्यवस्थित और युक्तियुक्त विवेचन रहता है। (ख) समाजशास्त्रीय अध्ययन—यहां साहित्य के सामाजिक तत्त्वों अर्थात् अपने सामाजिक परिवेश के साथ उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष सबधो का तथा नैतिक-दार्शनिक तत्त्वो का अध्ययन रहता है। इसे व्यापक अर्थ मे ऐतिहासिक पद्धति भी कहते हैं। (ग) भाषा-वज्ञानिक तथा शैली-वैज्ञानिक पद्धतिया—ये पद्धतिया भी शास्त्रीय पद्धतियो के समकक्ष हैं। भाषा और शैली की संरचना का भाषा-विज्ञान तथा शैलीशास्त्र की दृष्टि से विश्लेषण इनका लक्ष्य होता है। शैलीशास्त्र वास्तव मे काव्यशास्त्र और भाषा-विज्ञान का मध्यवर्ती अनुशासन है। (घ) मनोवैज्ञानिक पद्धति—इसमे कृतिकार की अंतश्चेतना क द्वारा कृति का अध्ययन विवक्षित रहता है। यह रचना को चैतन्य क्रिया मानकर साहित्य का विवेचन प्रस्तुत करता है।

३. समस्यामूलक पद्धति : इसमे केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति और भी अधिक रहती है और शोधकर्ता का लक्ष्य सागोपाग अध्ययन नही होता—वह एक विशिष्ट सूत्र का अनुसंधान करता है जो साहित्य की किसी मौलिक समस्या को उभार कर सामने रखता है : उदाहरण के लिए आधुनिक हिंदी-कहानी मे त्रासदीय तत्त्व, हिंदी-प्रेमगाथा-काव्य मे सूफी तत्त्व आदि।

४. तुलनात्मक-पद्धति : यहा दो या दो से अधिक भाषाओ के समान कवियो, कृतियो तथा प्रवृत्तियो आदि के समान-असमान तत्त्वो का विवेचन प्रमुख रहता है। इसके द्वारा अध्ययन को व्यापक परिप्रेक्ष्य मिलता है।

५. वर्गीय अध्ययन : इसके अंतर्गत अध्ययन का विषय विशेष लेखक या कृति न होकर लेखको या कृतियो का वर्ग-विशेष होता है। यो तो प्रत्येक कृतिकार का अपना वैशिष्ट्य है, परंतु अनेक कृतिकार वर्ग के रूप मे भी साहित्य-साधना करते है—वे कुछ सामान्य सिद्धात और लक्ष्य लेकर चलते है जो व्यक्तिवैचित्र्य रहने पर भी उनके साहित्य को समान रूप से अनुप्राणित करते रहते है। अंगरेजी मे 'लेक पोइट्स' आदि का और प्राचीन हिंदी-साहित्य में 'अकबरी दरबार के कवियो' का या नए साहित्य में 'सप्तक के कवियो' का वर्ग-सापेक्ष अध्ययन हुआ है।

६. क्षेत्रीय अध्ययन : इस पद्धति के अनुसार किसी क्षेत्र-विशेष की साहित्यिक प्रवृत्तियो का अध्ययन उन्हे प्रतिफलित करने वाले लेखको और कवियो के

साहित्य के माध्यम से किया जाता है। एक विशेष परिवेश मे उद्भूत साहित्य का उस परिवेश के सदर्भ मे अध्ययन करना भी अपने ढग से अत्यत सार्थक हो सकता है और इस दृष्टि से प्रस्तुत पद्धति का अपना पृथक् महत्त्व है। 'दिल्ली के कहानीकार', 'अवध के कवि', 'बुदेलखड के वीर-गीत', 'हरियाणा के लोकगीत' आदि इसी प्रकार के शोध-प्रयास हैं।

७ इनके अतिरिक्त विषय-विवेचन की दो और प्रमुख पद्धतिया हैं—अनुगम पद्धति और निगमन पद्धति . जो सामान्यत अध्ययन-पद्धति के प्राय सभी प्रकार-भेदो मे आधार रूप से विद्यमान रहती हैं। शास्त्रीय अध्ययन अनुगम-विधि से भी हो सकता है और निगमन-विधि से भी। शास्त्र के अगो को सामने रखकर उनके आलोक मे जो विवेचन किया जाएगा वह निगमन पद्धति से होगा और साहित्य के अगो का विश्लेषण करने के बाद उपलब्ध तथ्यो का शास्त्र के तत्त्वो और नियमो के अनुसार जो अध्ययन होगा उसकी पद्धति अनुगम पद्धति होगी। काव्य-शास्त्रीय, समाजशास्त्रीय, ऐतिहासिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक—इसी प्रकार के अध्ययन उक्त दोनो पद्धतियो से हो सकते है।

यहा एक बात स्पष्ट हो जाती है और वह यह कि साहित्यिक अनुसधान के उपर्युक्त सभी प्रकार आलोचना के भी प्रकार-भेद हैं और इसका कारण यह है कि साहित्यिक अनुसधान और साहित्यिक आलोचना की जाति ही नही, उपजाति भी एक है—ये दोनो एक ही विद्या, साहित्य-विद्या के दो उपभेद है। मेरी यह स्थापना आज भी विवाद का विषय बनी हुई है . परतु मै आधुनिक अनुसंधान के विधि-विज्ञान से सबद्ध दो-एक प्रसिद्ध ग्रथो के उद्धरण देकर अपने मत का पोषण करना चाहूंगा। पश्चिम मे अनुसधान की पद्धति और क्रियाविधि आदि पर प्रचुर साहित्य उपलब्ध है जिसमे प्रत्येक अग को लेकर अत्यत सूक्ष्म और व्यवस्थित विवेचन किया गया है। इनमे से अधिकाश ग्रंथो का सीधा सबध सामाजिक विज्ञान और भौतिक-विज्ञान विषयक अनुसधान से है। परतु हम उनके मूल सिद्धातो और नियमो का साहित्यिक अनुसधान के लिए भी विवेकपूर्वक उपयोग कर सकते हैं। इस विषय की एक प्रसिद्ध पुस्तक है 'अनुसधान की पद्धतिया (मेथड्स ऑफ रिसर्च)'—लेखक कार्टर गुड और डगलस स्केट्स, जिसका सबंध प्रमुख रूप से शिक्षावैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक और समाजवैज्ञानिक अनुसंधान से है। इसके अनुसार अनुसंधान का लक्ष्य, सामान्य रूप से, इस प्रकार पारिभाषित किया जा सकता है :

"ज्ञान के प्रति मनुष्य की आकाक्षा की पूर्ति, उसकी विवेक-शक्ति का विकास और क्षमता की वृद्धि—उसके श्रम-भार को कम करना, कष्टो को दूर करना और अनेक प्रकार से जीवन की सुख-सुविधाओ का विस्तार . ये ही अनुसधान के प्रमुख एवं मौलिक उद्देश्य है। X X X अत मे, जीवन की समृद्धि और मानव के उत्कर्ष मे योगदान करना ही अनुसधान की चरम सार्थकता है।" (पृष्ठ १५)

उपर्युक्त उद्धरण चूकि शिक्षाशास्त्रीय एव समाजशास्त्रीय अनुसधान से संबद्ध है, अत इसमे जीवन के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल है; जीवन के स्थान पर चिंतन

और अनुभूति शब्दों का प्रयोग करने से यही साहित्यिक अनुसंधान का उद्देश्य बन जाता है। इस सूत्र के अनुसार मानवीय चिंतन और अनुभूति—मानव-चेतना की समृद्धि और परितोष ही साहित्यिक अनुसधान का चरम लक्ष्य है। उधर साहित्यिक आलोचना का भी चरम लक्ष्य इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है? दोनो मे जो भेद है वह लक्ष्य का नही है, बलाबल का है। अनुसधान मे ज्ञान पक्ष प्रबल है और आलोचना मे संस्कार।—लक्ष्य की यह एकता ही पद्धतियो के साम्य के लिए उत्तरदायी है।

पाश्चात्य शोध-सस्थानो मे क्रियाविधि के प्रशिक्षण पर बडा जोर दिया जाता है। पर इन संस्थानो का संबंध भी प्राय· सामाजिक विज्ञानों या शुद्ध विज्ञानो से ही अधिक है। इनमे जो शोध-विषयक शोध हो रही है वह प्राय. उक्त क्षेत्रो मे ही हो रही है। साहित्य के क्षेत्र मे भी प्राय. वैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय क्रियाविधि को ही आवश्यक संशोधन के साथ उपयोग मे लाने की चर्चा रहती है। क्रियाविधि के प्रमुख अंग हैं· सामग्री-संकलन, परीक्षण (प्रमाणीकरण), त्याग और ग्रहण, विश्लेषण-सश्लेषण (वर्गीकरण); निष्कर्ष और निर्णय।

इनमे प्राथमिक अग है सामग्री-सकलन—जिसकी विभिन्न विधियो का निर्देश संक्षेप मे इस प्रकार किया जा सकता है :

(क) सूत्र-सग्रह या टिप्पण-विधि · अनुसंधान की यह प्राय सर्वसामान्य विधि है, जिसके द्वारा अनुसधाता विभिन्न स्रोतो से प्राप्त सूचना को सक्षिप्त टिप्पणियों के रूप मे, बाद मे उपयोग करने के उद्देश्य से, एकत्र करता है। इसके लिए तरह-तरह के उपायो का प्रयोग किया जाता है जिनमे सबसे अधिक सुगम है कार्डों का उपयोग। यह विधि यो तो प्राय सभी प्रकार के शोधकार्यों के लिए आवश्यक है—परतु साहित्यिक अनुसधान के लिए यह अनिवार्य एव सर्वाधिक उपयोगी है। वास्तव मे, साहित्यिक अनुसधान मे तो पहला व्यावहारिक कदम यही है।

(ख) प्रश्नोत्तर विधि · इसमे अनुसधाता विषय के विभिन्न पक्षो से संबद्ध प्रश्नावली तैयार करता है और विभिन्न वर्गों के व्यक्तियो से उत्तर प्राप्त कर, उनके आधार पर तथ्यो का सकलन करता है।

(ग) साक्षात्कार-विधि : इसके अनुसार विषय से सबद्ध व्यक्तियो से साक्षात् वार्तालाप कर सामग्री-सकलन तथा मत-सग्रह किया जाता है जो अत मे सामग्री का ही अंग बन जाता है। अतिम दोनो विधियो का आजकल समाज-विज्ञान, नृतत्त्वशास्त्र, मनोविज्ञान, भाषा-विज्ञान आदि के क्षेत्र मे बडा प्रचार है चारो ओर सग्रहकर्त्ताओ (इन्फॉर्मेन्ट्स) का एक जाल बिछा रहता है जो संबद्ध व्यक्तियो से सपर्क स्थापित कर वैज्ञानिक रीति से प्रश्नो के उत्तर एकत्र कर उनका संपादन करते हैं। देखा-देखी साहित्य मे भी अब इनका उपयोग होने लगा है। परंतु हमारे क्षेत्र मे इनकी—प्रश्नोत्तर विधि और साक्षात्कार विधि—दोनो की ही उपयोगिता इतनी सीमित है कि इनका अविचारित उपयोग करने से अनुसंधाता को मार्ग-भ्रम और दिग्भ्रम हो सकता है। इनका

उपयोग सामान्यत. समयसाध्य है और अपने यहा के लोगों की मनोवृत्ति ऐसे कार्यों के अनुकूल नही है—जिस देश के साहित्यकार अत्यंत आवश्यक व्यावहारिक पत्रो का भी उत्तर देना असाहित्यिक कर्म समझते हो वहा क्रमबद्ध प्रश्नावली के व्यवस्थित उत्तर देने का प्रश्न ही नही उठता। वास्तव मे लिखित और मौखिक प्रश्नोत्तर के लिए प्रश्नकर्त्ता और उत्तरदाता दोनो के लिए ही एक विशेष प्रकार के प्रशिक्षण की अपेक्षा रहती है जो अभी सर्वत्र सुलभ नही है। फिर भी, मैं मानता हूं कि साहित्यिक अनुसधान मे भी उक्त दोनो विधियो का सही और सार्थक उपयोग हो सकता है और होना चाहिए। उदाहरण के लिए, वर्तमान युग की साहित्यिक प्रवृत्तियो और साहित्यकारो से सबद्ध शोधकार्य मे साक्षात्कार पद्धति और प्रश्नावली पद्धति—दोनों की उपयोगिता असंदिग्ध है। प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त के व्यक्तित्व के सबध मे उनके निकटस्थ व्यक्तियो से साक्षात्कार कर अनेक ऐसे प्रामाणिक तथ्य सहज ही उपलब्ध किए जा सकते है जो अन्यथा दुर्लभ हैं। पंत की रचनाओ के सदर्भो का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्वय कवि के साथ प्रश्नात्मक वार्तालाप जितना उपयोगी हो सकता है, उतने अन्य उपाय नही हो सकते। परंतु यहा भी अनुसंधाता को सावधान रह कर कार्य करना होगा क्योकि इस प्रकार प्राप्त सभी उत्तर व्यक्ति-संसर्गों से लिप्त होते हैं। जब कोई शोधार्थी मुझसे मेरी अपनी आलोचना-पद्धति के विषय मे प्रश्न करता है तो मुझ जैसा व्यक्ति भी, जो अनुसधान के स्वरूप और प्रयोजन से अवगत है और जिसका पेशा ही दूसरो को तटस्थ परिपृच्छा की शिक्षा देना है, निस्सग नही रह पाता। ऐसी स्थिति मे कृतिकार से, जो इस प्रकार के शिक्षण मे होकर नही गुजरा, यह आशा कैसे की जा सकती है कि वह अपने कृतित्व के विषय मे सर्वथा वस्तुगत सूचनाए दे सकेगा? अत. शोधार्थी को विवेकपूर्वक उचित बट्टा (डिस्काउंट) काटने का शिक्षण और अभ्यास होना चाहिए।

क्रियाविधि का दूसरा अग है सामग्री का परीक्षण एव प्रमाणीकरण—अथवा शुद्धाशुद्ध का निर्णय। इसके लिए शोधविज्ञान मे अनेक उपायो की व्यवस्था है जिनमे वैज्ञानिक परीक्षण (जैसे संवद्ध पदार्थों के रासायनिक परीक्षण), मनोविज्ञान अथवा जीवविज्ञान आदि की पद्धतियो से मानसिक क्रियाओ तथा व्यवहार आदि के परीक्षण, और नाना प्रकार के समाजवैज्ञानिक अथवा मनोवैज्ञानिक प्रयोगो का उल्लेख किया जा सकता है। वास्तव मे ये पद्धतिया भौतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, मनोविज्ञान आदि के लिए अधिक उपयोगी हैं। साहित्य के क्षेत्र मे भाषा-सबधी अनुसधान मे तो इनका प्रभावी उपयोग होता है, परतु अन्यत्र इनकी सार्थकता सीमित ही है। कागज, स्याही आदि के रासायनिक परीक्षण से पाठ-विज्ञान की अनेक समस्याए हल करने मे सहायता मिलती है और उधर मनोविज्ञान आदि मे प्रयुक्त पद्धतियो के द्वारा लेखको की मनोवृत्तियो एवं मानसिक प्रक्रियाओ के विषय मे प्रामाणिक निष्कर्ष प्राप्त करना अधिक सभाव्य हो जाता है। परतु इनके विषय मे हमे ज्यादा हडवडी करने की जरूरत नही है क्योकि

साहित्य मे इनकी उपयोगिता प्राय. अप्रत्यक्ष ही होती है कभी-कभी इस प्रकार के कच्चे-पक्के प्रयोगो के द्वारा अनुसधाता साहित्य के मर्म से दूर हटकर तरह-तरह के कौतुक करने लगते हैं जिनसे साहित्य के अध्ययन मे कोई सहायता नही मिलती।

सामग्री के परीक्षण के उपरात त्याग और ग्रहण का प्रश्न आता है। जो अशुद्ध और अप्रामाणिक है उसका तो स्वत. ही त्याग हो जाता है, परतु उसके बाद भी काफी सामग्री ऐसी रह जाती है जो अनावश्यक अर्थात् विषय से असवद्ध होती है: उसका भी त्याग अपेक्षित है। अगला कदम है विश्लेषण-सश्लेषण। यह सयोजन (प्लानिंग) का कार्य है और सामाजिक विज्ञानो मे सयोजन अपने आप मे एक महत्त्वपूर्ण विषय है जिसकी अपनी विधि और अपना शास्त्र है। सामग्री का उचित सयोजन करने मे इन विधियो और नियमो का पालन निश्चय ही उपयोगी हो सकता है। शोध का अंतिम सोपान है निष्कर्ष और निर्णय जो शोध-साधना का गुणनफल है। शोध के नवीन विधि-विज्ञान मे निष्कर्ष आदि प्राप्त करने मे साख्यिकी की विधियो को वडा महत्त्व दिया जा रहा है। निष्कर्षण प्रक्रिया मे प्राय. विशेष से सामान्य की सिद्धि—विशेष तथ्यो से सामान्य नियमो के विधान—प्रमुख है। इसमे प्रायः औसत और सामान्य गुणनफल आदि निकालने की पद्धतियो का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रयोग किया जाता है। निष्कर्षों और परिणामो को अधिकाधिक प्रामाणिक बनाने के लिए साख्यिकी की विधियो का प्रयोग क्रमशः सभी अनुशासनो मे वढता जा रहा है और अनुसधान के विशेषज्ञो का मत आज प्राय. यह बन गया है कि निष्कर्षों को व्यक्ति-तत्त्व से मुक्त रखने के लिए इनका अवलंबन अनिवार्य है। मनोविज्ञान के क्षेत्र मे मानव-चेतना की विभिन्न शक्तियो के गुण-परिणाम आदि का आकलन करने के लिए भी इनका उपयोग हो रहा है। साहित्य मे कलाकार की प्रतिभा के विभिन्न गुणो के आकलन का, किसी कृति के गुणात्मक प्रभाव आदि का निर्धारण करने का प्रश्न अनेक प्रकार से उपस्थित होता है और वहा अनुसधाता को अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करने के लिए प्रायः अनुमान और कल्पना का आश्रय लेना पडता है; पर नवीन शोधविज्ञान ठोस आकडो पर आश्रित साख्यिकी की पद्धतियो का अवलबन अधिक प्रामाणिक मानता है। उदाहरण के लिए, यदि सूर और तुलसी की कल्पना-शक्ति का सापेक्षिक मूल्याकन करना हो तो साख्यिकी का विशेषज्ञ इस बात की चिंता नही करेगा कि इन दोनो कवियो के काव्य से उसकी या किसी अन्य प्रमाता की कल्पना कहा तक उद्वुद्ध होती है: वह तो दोनो कवियो की कल्पना-शक्ति के मूर्त परिणामो—जैसे बिंबो और अलकारो आदि—की गणना को ही मुख्य प्रमाण मानेगा। यह वास्तव मे एक छोटा-सा उदाहरण है: साख्यिकी-शास्त्र मे अत्यत सूक्ष्म विधियो का विकास हो चुका है जिनको समझना भी साहित्य के विद्यार्थी के लिए कठिन है, उनका उपयोग करना तो दूर की बात रही।

इस प्रकार पश्चिम मे—यूरोप के देशो मे, विशेषकर अमेरिका मे, शोध-विज्ञान विविध अनुशासनो की प्रामाणिक पद्धतियो का उपयोग करता हुआ एक स्वतत्र विज्ञान के रूप मे विकसित हो रहा है और वहा प्रति वर्ष ऐसे ग्रथो का प्रकाशन होता है जिनमे अनुसधान के अग-प्रत्यग का विस्तार के साथ सूक्ष्म एव व्यवस्थित विवेचन रहता है।

हिंदी-साहित्य के शोधार्थी के लिए उक्त शोध-विज्ञान और इसकी क्रियाविधि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना लाभप्रद है, इसमे सदेह नही। परतु उसके प्रयोग मे विवेक से काम लेना भी उतना ही आवश्यक है। पश्चिम के देशो मे, विशेपकर उन देशो मे जिनके पास अपार भौतिक साधन हैं, इन साधनो का उपयोग करने का लोभ इतना वढता जा रहा है कि उससे गभीर चिंतन को खतरा पैदा होने लगा है। प्रत्येक क्षेत्र मे अनुसंधान का विधि-विज्ञान अधिकाधिक यान्त्रिक होता जा रहा है और ऐसा लगता है जैसे सभी प्रकार का ज्ञान-विज्ञान मानव-चेतना की क्रिया न होकर केवल भौतिक क्रियाओ का सघात मात्र है। इसलिए साहित्य के अनुसधाता को सतर्क होकर इस यंत्रव्यूह मे प्रवेश करना चाहिए—और कुछ ऐसे सिद्ध मत्र है जिनका ध्यान वरावर रखना चाहिए। ये मंत्र सक्षेप मे इस प्रकार है

साहित्य मानव-चेतना की परिष्कृत अनुभूतियो की वाणी है—उसका भूमि के साथ सहज सवध है, परतु वह भूमि से लिपटा न रहकर निरतर ऊपर की ओर उठने के लिए व्यग्र रहता है, अतः यान्त्रिक विधियों से उसका उचित विवेचन एव मूल्याकन नही किया जा सकता। अन्य अनुशासनो की प्रवृत्ति जहा वहिर्मुखी है, वहा मानविकी विद्याओ—विशेपकर दर्शन और साहित्य की प्रवृत्ति मूलत अतर्मुखी होती है, अतः उनके साधन और उपकरण साहित्य तथा दर्शन आदि से सवद्ध अनुसधान मे यथावत् प्रयुक्त नही किये जा सकते।

साहित्य मे आत्मतत्त्व की प्रधानता है, अत साहित्य के अध्ययन मे आत्मतत्त्व का वहिष्कार कर एकात वस्तुपरक अध्ययन की संभावना नही है। इस प्रकार का अध्ययन वस्तु से उलझकर जड वन जाएगा—क्योकि साहित्य तत्त्वत वस्तु नही है, अनुभूति है।

साहित्य का वाह्य पक्ष—काव्यवध, काव्यरूढिया, भाषा-शैली, लय-विधान आदि—भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण होता है, इसमे सदेह नही और उधर उसका सामाजिक पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नही होता, परतु इन सबकी मूल प्रेरणा है सौदर्य-भावना, जो मानव-मन की अत्यत सूक्ष्म-तरल वृत्ति है। अतएव काव्य के वाह्य उपकरणो तथा सामाजिक तत्त्वो का अपने-आप मे स्वतत्र मूल्य नही है—और आधुनिक शोध-विज्ञान की विधियो द्वारा उनका यान्त्रिक अध्ययन काव्य के अध्ययन मे एक सीमा तक ही योगदान कर सकता है। अपनी मूल प्रेरणाओ से विच्छिन्न होकर जहा इस प्रकार का अध्ययन स्वतंत्र वन जाता है वहा उसका उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है और वह साधक न होकर वाधक वन जाता है।

आवश्यकता इस वात की है कि साध्य और साधन तथा आत्मा और शरीर के भेद को स्पष्ट रूप से समझते हुए साधन का उपयोग साध्य की पूर्ति के लिए और शरीर का उपयोग आत्मा या चेतना के सवर्धन के लिए किया जाए। जीवन मे भौतिक शरीर-साधना का वडा महत्त्व है : आज से नही आरभ से ही 'शरीर-माद्यं खलु धर्मसाधनम्' का सिद्धात मान्य रहा है—और इसलिए भौतिक जीवन के संवर्धन के सभी उपाय—उसके निमित्त होने वाले नव-नव आविष्कार निश्चय ही काम्य

हैं। परंतु शरीर-साधना जीवन का लक्ष्य नही है और इस दृष्टि से उसका स्वतत्र महत्त्व भी नही है। शरीर का संवर्धन इसीलिए आवश्यक है कि उसके माध्यम से चेतना का संवर्धन होता है—स्वतंत्र रूप मे शरीर-साधना पशुओ का धर्म है। साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र मे नवीन विधियो का उपयोग इसी दृष्टि से होना चाहिए।

पश्चिम के देशो मे इस समय उद्योग-विज्ञान का विकास और विस्तार हो रहा है और उसकी यंत्र-दृष्टि का आक्रमण साहित्य तथा दर्शन आदि पर भी होने लगा है जिसका परिणाम इन क्षेत्रो मे उत्पन्न गतिरोध तथा स्तरो के अध:पात मे स्पष्ट रूप से लक्षित हो रहा है। बुद्धिमानी इसमे है कि अपने चिंतन की परपराओ और उनसे मर्यादित अपनी आवश्यकताओ के अनुसार हम केवल उपयोगी व अनुकूल विधियो एवं उपकरणो को ग्रहण करें और जिनसे पाश्चात्य विद्याओ का अपना ही अपकर्ष हो रहा है, उनका अंधानुकरण न करें।

साहित्य का अपना स्वारूप्य है—यद्यपि उसमे विज्ञान के तत्त्व भी हैं और दर्शन के भी, फिर भी वह न विज्ञान है और न दर्शन—उद्योग-विज्ञान से उसकी प्रक्रिया और उद्देश्य दोनो ही अत्यंत भिन्न हैं। अत: साहित्य के अध्ययन के लिए मुख्य रूप से साहित्यिक विधियो का अवलंबन ही श्रेयस्कर है : अन्य विधिया भी उपयोगी सिद्ध हो सकती है, किंतु उनका उपयोग साहित्य के उद्देश्यों और क्रियाविधि के संदर्भ मे ही होना चाहिए।

उपनिषद् मे दो मित्र पक्षियो के रूपक द्वारा ब्रह्म और जीव के भेद का सुदर व्याख्यान है। इनमे से एक पक्षी ऐसा है जो सर्वथा तटस्थ एवं निर्विकार है और दूसरा फलो का स्वाद ले रहा है। मुझे लगता है कि वर्तमान युग मे वृक्ष पर एक पक्षी और आ बैठा है जो फलो के स्वाद मे रुचि न लेकर उनकी गणना और साज-संवार मे लगा हुआ है। इनमे पहला पक्षी दर्शन या शुद्ध विज्ञान का प्रतीक है जो निर्विकार रूप से जगद्दर्शन करता है, तीसरा पक्षी उद्योग-विज्ञान का प्रतीक है जो जीवन की साज-संवार मे लगा हुआ है और दूसरा पक्षी साहित्य का प्रतीक हैं जो जीवन का रस ले रहा है। हमे इसी दूसरे पक्षी का उचित रीति से पोषण करना है जिससे कि यह निरतर जीवन का रस ग्रहण करता रहे।

(ख) सिद्धांत

मेरी साहित्यिक मान्यताएं—१

किसी भी लेखक से यह प्रश्न करना कि 'आपकी साहित्यिक मान्यताए क्या हैं ?' वस्तुत उसे आत्मविश्लेषण और आत्मस्वीकृति के लिए विवश कर देना है। मेरे लिए शास्त्र का आश्रय लेकर प्रस्तुत प्रश्न का क्रमबद्ध बौद्धिक विवेचन करना कठिन नही है, किंतु मैं आत्म-निरीक्षण की पद्धति को ही अधिक प्रामाणिक मानता हूं, अत पूरी ईमानदारी के साथ मैं अपनी साहित्यिक मान्यताओ का अत विश्लेषण करने का ही प्रयत्न करूगा।

आज से लगभग ३५ वर्ष पहले जब किशोर-वय मे प्रवेश करने के साथ मैंने कॉलेज के अपेक्षाकृत मुक्त वातावरण मे पदार्पण किया तो किशोर-सुलभ कल्पना के संस्पर्श मे रागात्मक चेतना की लहरो मे मानो रग-से घुलने लगे और कविता के प्रति एक विशेष प्रकार का आकर्पण बढने लगा। जो कविता केवल पाठ्यक्रम का अग थी, वह अब जैसे अनुभव का विषय बनने लगी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि मन मे उठने वाली रग-बिरगी भावनाओ को काव्य की उक्तियो द्वारा एक विशेष प्रकार का परितोष मिलता हो। रसमयी उक्तिया सुनने-सुनाने के साथ-साथ धीरे-धीरे रचने की स्पृहा और अभ्यास भी बढने लगा। काव्य की उक्तियो के वाचन और रचना से अपनी भावनाओ को व्यक्त करने मे एक अपूर्व आत्म-परितोप मिलता था। इस प्रकार कविता मेरे रागात्मक जीवन के आरंभ मे आत्माभिव्यक्ति के माध्यम-रूप मे ही प्रकट हुई। कविता का यह स्वरूप आज भी मेरे सस्कारो मे पूरी तरह रमा हुआ है। कविता को—व्यापक अर्थ मे रस के साहित्य अथवा ललित वाङ्मय को—मैं मूलत आत्माभिव्यक्ति ही मानता हू। रागात्मक जीवन के साथ उसका अनिवार्य और अतरग संबध है। मेरे इस कथन को लेकर हिंदी मे काफी ऊहापोह और विवाद हुआ है। एक सीधा आक्षेप यह है कि उक्त कथन कोई स्पष्ट और निश्चित धारणा हमारे मन मे उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि 'आत्माभिव्यक्ति' शब्द का अर्थ ही अपने-आप मे अधिक परिभाषित नही है। मैं यह मानता हू कि प्रत्येक साहित्यिक कृति का संबध कृतिकार के व्यक्तित्व से है। कृतिकार का अपना रागात्मक जीवन और उसके आधार पर निर्मित जीवन-

दर्शन कृति में अनिवार्यतः प्रतिफलित होता है। यह प्रतिफलन प्रत्यक्ष हो, ऐसा आवश्यक नही है। प्राय: यह अप्रत्यक्ष और प्रच्छन्न ही होता है। परतु वह भी आत्माभिव्यक्ति का ही प्रकार है। सामान्य व्यवहार मे हम देखते है कि एक व्यक्ति जहा अपने मत को सीधा व्यक्त कर देता है वहा दूसरा अपने को पीछे रखकर प्रसग के माध्यम से उसे व्यक्त करता है। अभिव्यक्ति की आकाक्षा दोनो को ही है, भेद केवल विधि का है। साहित्य मे भी यही होता है। एक कलाकार अपनी रागात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से करता है और दूसरा प्रसग या कथा के व्याज से। वास्तव मे अनुभूति तो एक प्रकार का अमूर्त संवेदन मात्र है जिसको व्यक्त करने के लिए प्रतीक और बिब की आवश्यकता होती है। जो कवि-कलाकार प्रत्यक्ष रूप से अपनी अनुभूति को व्यक्त करता है, उसे भी प्रतीको और बिबो का ही प्रयोग करना पडता है। परंतु उसके बिब प्राय प्राथमिक और सरल होते हैं, जबकि दूसरे कलाकार के प्रतीक और बिब रूढ और सश्लिष्ट होते हैं। वास्तव मे अपने मूल रूप मे प्रकरण और प्रसग भी तो प्रतीक और बिब ही हैं। अर्थ के साथ एक का संबध सीधा है, दूसरे का परपरित। 'विनयपत्रिका' और 'रामचरितमानस' दोनो ही तुलसी की आत्माभिव्यक्ति के दो रूप हैं—इन दोनो मे मूल प्रेरणा का भेद न होकर माध्यम-प्रतीको और बिबो का ही भेद है। दोनो के माध्यम से ही तुलसी ने आत्माभिव्यक्ति की है, केवल उसके प्रकार मे भेद है; एक मे आत्माभिव्यक्ति प्रत्यक्ष है अर्थात् लघु-सरल प्रतीकों के द्वारा हुई है और दूसरे मे व्यापक एव सश्लिष्ट प्रतीको के द्वारा। अभिव्यक्ति के प्रतिपक्ष मे प्राय. निर्मिति या सृष्टि के सिद्धात की स्थापना की जाती है। उसके पीछे यह तर्क है कि कलाकार का लक्ष्य कलाकृति की रचना ही होता है। सच्चा कलाकार सौंदर्य की सृष्टि करने के लिए ही कला की साधना करता है—अपनी भावनाओ अथवा विचारो का प्रसार सच्चे कलाकार का उद्देश्य नही होता। बात कुछ ठीक-सी लगती है, किंतु यहा भी तत्त्व का भेद न होकर दृष्टि का ही भेद है—एक ही चीज को दूसरे पहलू से देखा गया है। इसमे संदेह नही कि सच्चे कलाकार का लक्ष्य सौदर्य की सृष्टि ही रहता है, अपने भावो और विचारो का प्रसार नही। किंतु सौंदर्य कोई निरपेक्ष वस्तु नही है। उसका निर्माण भी तो कलाकार की अपनी भावनाओ और धारणाओ के आधार पर ही होता है। वास्तव मे भावनाओ और धारणाओ का प्रचार तो आत्माभिव्यक्ति का अत्यंत स्थूल रूप है। उसका सूक्ष्म और उत्कृष्ट रूप तो सौंदर्य की सृष्टि ही है। कला की सृष्टि शून्य मे नहीं हो सकती। उसके लिए कुछ-न-कुछ आधार चाहिए जिसे कलाविद् मूर्त उपकरण का नाम देते आए हैं। और ये मूर्त उपकरण है क्या ? कलाकार का अपना भावबोध ही कला का मूल उपकरण है। अत निर्मिति का सिद्धात अभिव्यक्ति से मूलत भिन्न नही है : भेद केवल बलाबल का है। अभिव्यक्ति मे वस्तु-तत्त्व माध्यम है और आत्म-तत्त्व प्रधान, जबकि निर्मिति मे आत्म-तत्त्व प्रच्छन्न रहता है और वस्तु-तत्त्व उभरकर सामने आ जाता है। तत्त्व-दृष्टि से विचार करने पर सौंदर्य चेतना का ही फूल है, प्रकृति का नहीं। अनेक कला-मर्मज्ञों ने सौंदर्य की सर्जना मे कलाकार की तटस्थ दृष्टि को

ही प्रमाण माना है। उनका स्पष्ट कथन है कि कला भाव का मोचन नही, बल्कि भाव से पलायन है; अहम् की अभिव्यक्ति नही, वरन् अहम् का विसर्जन है। कृती कलाकार अपने राग-द्वेप को व्यक्त करने के लिए या अपने अहकार के परितोप के लिए कला की रचना नही करता, वरन् अपने राग-द्वेप के परिष्कार के लिए या अहम् से मुक्ति पाने के लिए ही वह कला की साधना करता है। अभिव्यक्ति-सिद्धात का इस स्थापना से कोई विरोध नही है, उसके अनुसार भी व्यक्तिगत राग-द्वेष का उद्गार कविता नही है। अभिव्यक्ति अर्थात् कला-सृजन की प्रक्रिया मे पडकर व्यक्तिगत भाव भी स्व-पर की सीमाओ से मुक्त होकर व्यापक चेतना—शास्त्रीय शब्दावली मे, निर्विघ्न प्रतीति—का विषय वन जाता है। अत कविता भाव का वमन नही है, यह तो मैं भी मानता हू, किंतु यह मान्यता आत्माभिव्यक्ति के सिद्धात के विरुद्ध नही है क्योकि अभिव्यक्ति वमन नही है।

इसी प्रसग मे मुझे कवि पंत के कथन का अनायास ही स्मरण हो आता है। उनका मंतव्य है कि काव्य मे अनुभूति को मुख्य और कल्पना को गौण मानना समीचीन नही है। कुछ अन्य कलाविदो की तरह वे शायद अनुभव और अनुभूति मे भेद करते हैं · लौकिक जीवनगत अनुभव अनुभव है और कलात्मक अनुभव अनुभूति है जिसके अंतर्गत सुदर कल्पनाए भी आती हैं। 'तुम समर्पण-सी भुजाओ मे पडी हो' जैसे मासल और अनगढ लौकिक अनुभव की अपेक्षा मानव के स्वर्णिम भविष्य या किसी 'चिर-सुदर' की कल्पना या कल्पनात्मक अनुभूति अधिक काव्योचित है—यह तर्क मेरे मन मे नही बैठता। कल्पना के पीछे जब तक अनुभव की शक्ति नही रहती तब तक वह घट मे नही उतरती, हवा मे तैर जाती है। मानव के सुख-दुख की सह-अनुभूति पर आश्रित मधुर-तिक्त चित्रो मे जो कवित्व है, वह उसके ऊर्ध्व विकास की भव्य कल्पनाओ मे नही है।

यही काव्य के प्रयोजन का प्रश्न भी उठता है। कुछ विद्वानो का मत है कि काव्य का कोई प्रयोजन नही हो सकता। प्रयोजन की आकाक्षा तो व्यवसाय-वुद्धि मे ही सभव है और साहित्य की उच्चतर भूमिका मे व्यवसाय-बुद्धि के लिए स्थान कहा? लेकिन यह भी एक बात को कहने का खूबसूरत ढग ही है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि काव्य का कोई भौतिक और स्थूल प्रयोजन नही होता—धन, यश, उपदेश या प्रचार काव्य का लक्ष्य नही हो सकता। यह मैं भी मानता हू, और पूरी निष्ठा के साथ सिद्धात तथा व्यवहार मे इसका पालन करता हू। किंतु, मैं यह भी मानता हू कि निष्प्रयोजन कर्म ससार मे नही होता। जिस किसी सदर्भ मे प्रयोजन के अभाव की कल्पना की जाती है वहा अभाव का अर्थ केवल प्रच्छन्नता होता है। जैसे, जीवन मे कोई व्यक्ति यदि अपने किसी सत्कर्म का चैक फौरन ही भुनाना चाहता है तो हम उसकी वणिग्-वृत्ति की निंदा करते है; इसी प्रकार काव्य मे भी वणिग्-वृत्ति को निंद्य ही मानना चाहिए। किंतु इससे प्रयोजन का निषेध नही होता, क्योकि वास्तव मे निष्प्रयोजन कर्म निरर्थक कर्म का ही पर्याय वन जाता है। अव सवाल यह है कि काव्य का प्रयोजन क्या है? मेरा उत्तर है—आनंद। शास्त्र मे आनद के प्रतिस्पर्धी अनेक

प्रयोजनों की कल्पना की गई है। इनमे समष्टि के धरातल पर 'लोक-कल्याण' और व्यष्टि के धरातल पर 'चेतना का परिष्कार' मुख्य है। मैं दोनो को यथावत् स्वीकार करता हू। लेकिन ये भी आत्यंतिक प्रयोजन नही है, इनका प्रयोजन भी तो आनद ही है। मनुष्य अपने सभी कर्म 'आत्मन. कामाय' ही करता है। इसके प्रतिपक्ष मे विचारको के दूसरे वर्ग ने 'लोकहिताय' की प्रतिष्ठा की है। किंतु, यह केवल दृष्टि का ही भेद है। आत्मवादी जहा प्रकृति को अपनी चेतना के भीतर खीचकर उसका भोग करता है, वहा लोकवादी आत्मा का प्रकृति मे विस्तार करता है। पर ये दोनो ही अपने-अपने ढग से आनद-साधना ही करते है। वैसे भी, आनंद से बडा कल्याण और क्या हो सकता है ? और, जो कल्याणकर नही है वह आनंद ही कैसे होगा ? व्यष्टि के धरातल पर चेतना का परिष्कार भी एक प्रक्रिया ही है, परिणति नही है। परिणति उसकी भी आनद ही है। अत आनंद का निषेध मैं जीवन और काव्य दोनो मे ही असंभव मानता हू।

काव्य के तीन सर्वमान्य तत्त्वो—भाव, कल्पना और बुद्धि—मे, मै भाव को ही आधार मानता हूं। शेष दो उसके सहायक है। अत काव्य का आस्वाद मूलतः भाव का ही आस्वाद है—इंद्रियगम्य प्रकृत भाव का नही, वरन् कल्पनागम्य शुद्ध अथवा निर्वैयक्तिक भाव का। आस्वाद के इसी रूप को शास्त्र मे रस कहा गया है। इस प्रकार काव्य के संदर्भ मे आनंद का विशिष्ट अर्थ है रस, और यही काव्य का प्रयोजन है।

काव्य के मूल्य का प्रश्न भी इसी से संबद्ध है। काव्य-मूल्य का अर्थ है वह गुण अथवा गुण-समवाय जिसके द्वारा काव्य की सिद्धि का निर्धारण किया जाता है। इस दृष्टि से मूल्य का आधार अंतत प्रयोजन ही सिद्ध होता है। काव्य का प्रयोजन जब रस या आस्वाद है तो उसका मूल्य हुआ आस्वाद्यत्व। जिस काव्य मे रागात्मक आस्वाद प्रदान करने की क्षमता जितनी अधिक होगी, उतना ही उसका मूल्य होगा।

यहां फिर एक प्रश्न उठता है कि क्या मैं रसास्वाद के अतर्गत शुक्लजी द्वारा कल्पित कोटियो का हामी हूं ? मेरे मन मे इस संबंध मे द्विविधा रही है। रसानुभूति की कोटियो की कल्पना शास्त्र को सर्वथा अग्राह्य है; किंतु व्यवहार मे तो हम रस के मात्रा-भेद की बात करते ही हैं। यदि रस की कोटियो की कल्पना अग्राह्य है तो 'शाकुतलम्' की अपेक्षा 'उत्तररामचरितम्' अधिक सरस है अथवा एक छद की अपेक्षा दूसरा अधिक सरस है—इसका क्या अर्थ ? मेरे विचार से रस का मात्रा-भेद केवल विस्तार मे है, गुण मे नही—अर्थात् सिद्धि की अवस्था मे रस का स्वरूप अखड है; किंतु संकलित प्रभाव की अवस्था मे, रागात्मक स्थितियो के सख्या-भेद से, मात्रा का भेद हो जाता है। 'साकेत' 'यशोधरा' की अपेक्षा अधिक सरस है, इसका अर्थ यह है कि 'साकेत' मे रसात्मक स्थितिया अपेक्षाकृत अधिक हैं जिनका सकलित प्रभाव अधिक स्थायी तथा सघन होता है। स्फुट छंद के सदर्भ मे यह तर्क अधिक कारगर नही प्रतीत होता। किंतु नहीं; वहा भी जो भेद है, वह भी विस्तार का ही है। जो छद अधिक सरस है उसके द्वारा अपेक्षाकृत अधिक चित्तवृत्तियो की समाहिति संपन्न होती है और

अधिक चित्तवृत्तियो की समाहिति के कारण रस-दशा अधिक समय तक रहती है। चित्तवृत्तियो का जाल जितना विस्तृत और जटिल होता है, उनकी समाहिति मे उतना ही समय लगता है—और इसी समय के अनुपात से उसमे स्थायित्व भी अधिक होता है। मात्रा का भेद आस्वाद मे नही है—आस्वाद-दशा के स्थायित्व मे है। रसास्वाद की आवृत्ति से उसमे स्थायित्व के साथ घनत्व का भी अनुभव होने लगता है। रस मे मात्रा-भेद की प्रतीति की यही व्याख्या है। यह भेद स्वरूपगत नही है, गुणात्मक भी नही है—कालिक और नैतिक है अर्थात् आस्वाद-दशा के स्थायित्व और उसके सत्-असत् प्रभाव का ही मापक है।

रसात्मक मूल्यो के अतिरिक्त काव्य के मनीषियो ने नैतिक, सास्कृतिक तथा कलात्मक मूल्यो का भी निर्वचन किया है। इन मूल्यो का निषेध कौन कर सकता है? वस्तुतः काव्य के महत्त्व का निर्णय करने मे इनका योगदान असदिग्ध है। किंतु ये मूल्य मौलिक तथा आत्यतिक नही है—या तो आनुषगिक हैं या माध्यमिक, अर्थात् नैतिक और साहित्यिक मूल्यो का महत्त्व इसीलिए है कि उनके द्वारा रसात्मक बोध मे स्थिरता एव स्थायित्व आता है; और, कलात्मक मूल्य—सही शब्दो मे शिल्पगत मूल्य—रस-सिद्धि के माध्यम हैं, स्वतत्र नही हैं क्योकि शिल्प या कला का मूल्य भी तो रस ही है। वास्तव मे यह विवाद नया नही है। पुरा काल मे एक ओर ध्वनि अथवा वक्रोक्ति तथा दूसरी ओर औचित्य-सिद्धात के रूप मे उपर्युक्त मूल्य प्रकारातर से रस के प्रतिद्वंद्व मे सामने आ चुके हैं और रस के साथ इनके आतरिक सबध तथा रस के संदर्भ मे इनके सापेक्षिक महत्त्व का निर्णय इतिहास कर चुका है।

अभी कुछ दिन पूर्व एक गोष्ठी के उपरात किसी मित्र ने प्रस्तुत प्रसग मे एक रोचक प्रश्न उठाया था "क्या रस-सिद्धात की शब्दावली मे आधुनिक कविता का सम्यक् विवेचन एव मूल्याकन किया जा सकता है?" इस प्रश्न का उत्तर मैं अपनी पुस्तक मे दे चुका हू। अमुक काव्य मे कौन-सा रस है या विभाव-अनुभाव का चक्र पूरा हुआ कि नही—यह प्रश्न सार्थक नही है। सार्थक प्रश्न तो यह है कि उक्त काव्य के काव्य-गुण का आधार मूलतः उसका रागात्मक प्रभाव है या नही? रस-सिद्धात एक विकासशील सिद्धात है—सिद्धात के विकास के साथ उनकी विवेचन-पद्धति और शब्दावली मे भी परिवर्तन-सशोधन होता रहा है। आचार्य शुक्ल इस युग के सर्वाधिक समर्थ रसवादी आलोचक थे। उन्होने तुलसी, सूर और जायसी के प्राचीन (आधुनिक नही) काव्यो का विवेचन एव मूल्याकन मूलत रस-सिद्धात के आलोक मे ही किया है, किंतु उनकी तीनो महनीय कृतियो मे आलंबन-उद्दीपन अथवा अनुभाव-विभाव का परिगणन करने वाली रूढ पद्धति ता प्रयोग नही हुआ। जहा कही उन्होने रसागो का रूढ विवेचन किया भी है वहा उनका उपेक्षा-भाव सर्वथा मुखर हो उठा है—मानो पुराणपथ के परितोष के लिए ही खास रियायत कर रहे हो। आचार्य शुक्ल ने जहा भाव, विभाव, अनुभाव आदि शब्दो का नवीन आलोचनाशास्त्र और मनोविज्ञान के प्रकाश मे अर्थविस्तार किया है वहा 'रागात्मक सबधो' तथा 'मार्मिक प्रसगो' के अनु-संधान, सौंदर्य-शक्ति-शील के निरूपण, सूक्ष्म, अवदात और उदात्त भावनाओ के

विश्लेषण तथा 'व्यक्ति एवं लोक की भावभूमियों' के उद्घाटन द्वारा रससिद्धांत का युगानुकूल पोषण एवं विकास भी किया है। छायावाद-युग के आलोचक ने 'ऐंद्रिय' और 'अतींद्रिय' अनुभूतियो, 'प्रत्यक्ष' एवं 'परोक्ष' आलंबन, मानव तथा प्रकृति की 'रम्याद्भुत सौंदर्य-विवृतियो' का विश्लेषण कर रस-सिद्धात का और भी अधिक परिधि-विस्तार किया। छायावाद-युग में रस के स्थान पर सौंदर्य का प्रयोग होने लगा—जैसे आत्मा का सौदर्य, भाव का सौदर्य आदि। प्रकृति पर चेतना का आरोपण भी तत्त्व-रूप मे सुंदर और सरस के भेद को मिटाने का आग्रह था। हिंदी के पूर्ववर्ती कवियो के विरुद्ध यह आक्षेप था कि उनके लिए प्रकृति की सत्ता भावना के स्थूल उद्दीपक से अधिक नही रह गई थी जिसके फलस्वरूप विश्व-सौंदर्य का अधिकाश रस की परिधि से बहिष्कृत हो चला था। छायावाद के आलोचक ने स्पष्ट किया कि प्रकृति में केवल आलंबनत्व की ही नही, आश्रयत्व की भी प्रतिष्ठा हो सकती है। रस के रम्य पाश मे हरिण-हरिणी तो कालिदास के समय मे ही फंस चुके थे :

शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्।

—अ० शा० ।१७६

अब सूर्य-उषा, चंद्र-निशा, आकाश-पृथ्वी, सागर-सरिता भी फसने लगे। छायावादी काव्य के अशरीरी सौदर्य और अतींद्रिय शृंगार की व्याख्याएं एकांत रसपरक ही थी। भेद इतना था कि स्थायी भाव का स्थान सौंदर्य-चेतना ने ले लिया था और उधर अवचेतन मन का (छायावाद मे इस संदर्भ मे 'अंतश्चेतन' का प्रयोग ही अधिक हुआ है) द्वार खुल जाने से प्रतीकों के माध्यम से भाव-परिधि के अनंत विस्तार की सभावनाएं उत्पन्न हो गई थी। समसामयिक काव्य मे एक ओर मानव-करुणा और द्वंद्व, दूसरी ओर संवेदना, सह-अनुभूति तथा भाव-बोध स्थायी-संचारी के ही विकास-रूप हैं। महामानव के स्थान पर लघुमानव आलंबन बना और रस के चक्रों में हंसों तथा मयूरों के स्थान पर कौवे और मुर्गे तथा मत्तगयंदो के स्थान पर आलसी गैंडे फंसने लगे। अत· रस के स्वरूप-विकास के साथ-साथ रसात्मक बोध की व्याख्या नही बदली—यह धारणा और तर्क दुराग्रह के ही द्योतक हैं।

वास्तव मे प्रस्तुत विवाद का मूल गहरा है। इसका संबंध केवल काव्य-दर्शन से न होकर संपूर्ण जीवन-दर्शन से है। एक मत तो यह है कि जीवन के मूल्य चिरंतन हैं : देश-काल के अनुरूप उनमे संशोधन और विकास होता रहता है, परंतु मूल तत्त्व अक्षुण्ण रहते हैं। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि जीवन-मूल्य सापेक्षिक ही हो सकते हैं अर्थात् देश-काल के अनुसार उनमे परिवर्तन अवश्यभावी है। किसी भी देश-युग के सिद्धातो का जन्म सदा अपने परिवेश से ही होता है, अ.। उनकी सार्थकता वही तक सीमित है—भविष्य के लिए उनका महत्त्व ऐतिहासिक ही रहता है। इस दृष्टि से कोई भी सिद्धात सार्वभौम और सार्वकालिक नही हो सकता। हमारी अपनी धारणा पहले मत के पक्ष मे ही है। वास्तव मे सत्य सार्वभौम और सार्वकालिक है; जो ऐसा नही है वह सत्य नही है। किसी भी सिद्धात के मूल्यांकन का आधार उसका मूलवर्ती सत्य ही हो सकता है; अतः जिस सिद्धांत के मूल मे सत्य का अंश जितना अधिक

होगा, उतना ही वह सार्वभौम एवं सार्वकालिक होगा और उतना ही उसका महत्त्व होगा। देश-काल के अनुसार संशोधन तथा विकास की क्षमता उसमें स्वभावतः निहित रहती है क्योंकि सत्य जड तो हो ही नहीं सकता, किंतु विकास की कल्पना मूल के आधार पर ही की जा सकती है, मूल से उच्छिन्न होकर नहीं। इसी तर्क से मैं रस को सार्वभौम और सार्वकालिक काव्य-सिद्धांत मानता हूं।

मेरी साहित्यिक मान्यताएं—२

कविता या रस के साहित्य के सदर्भ मे मैं नये-पुराने का कायल नही हू। तत्त्व-दृष्टि से जिस तरह नये और पुराने आदमी का भेद करना बेमानी है, उसी तरह नये या पुराने काव्य मे आत्मा का भेद मानना भी निरर्थक है। मेरी इस मान्यता को लेकर भी लिखित और मौलिक रूप से काफी विवाद हुआ है। अनेक साहित्य-चितक इस प्रकार की स्थापना पर आश्चर्य करते है। उन्हे यह समझने मे ही कठिनाई होती है कि नये-पुराने के सर्वथा स्पष्ट भेद से इनकार करना आज के युग मे कैसे संभव हो सकता है? उनकी दृष्टि मे यह भेद इतना प्रत्यक्ष है कि उसके लिए प्रमाण की भी आवश्यकता नही है। लेकिन उनका यह अकाट्य विश्वास और उससे प्रेरित आश्चर्य भी मेरे मन में प्रत्यय उत्पन्न नही कर पाता। वास्तव मे स्थिति न इतनी प्रत्यक्ष है और न इतनी सरल। अतः इस विषय पर थोडा विस्तार से विचार करना आवश्यक हो जाता है।

प्रश्न यह है कि क्या मानव के स्वभाव मे कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिन्हे हम शाश्वत मान सकते हैं—अर्थात् जिनके विषय मे हम यह मान सकते हैं कि उनकी अभिव्यक्ति का प्रकार मात्र बदलता है, उनका मूल रूप नही। यदि यह सत्य नही है कि मानव-प्रकृति के कुछ मूल तत्त्व ऐसे हैं जो देश-काल से परे है अर्थात् देश-काल के भेद से जिनमे भेद नही आता, तो फिर प्रत्येक प्रसग मे मानवता की दुहाई देने का क्या अर्थ है? फिर तो मानव-कल्याण, मानव-मूल्य आदि शब्दो का कोई अर्थ नही रह जाता। मानवता, मानव-कल्याण, मानव-मूल्य आदि शब्दो के निरतर और सर्वव्यापी प्रयोग से यह सिद्ध हो जाता है कि मानव-प्रकृति मे कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो सार्वभौम तथा सार्वकालिक हैं, जो विभिन्न देश-काल के मानव-प्राणियो मे मूलत. समान है। इन्ही तत्त्वो की अभिव्यक्ति जीवन के नाना रूपो और कर्मों मे होती है। काव्य भी उनमे से एक है और अपनी परिष्कृति तथा प्रभाव के कारण उसका विशिष्ट गौरव है। जिस प्रकार मानव-स्वभाव के व्यक्त रूपों मे देश-काल के अनुसार परिवर्तन होता रहता है, किंतु उसके मूल तत्त्व (=मानवत्व) स्थिर रहते हैं, इसी प्रकार कविता के व्यक्त रूपों में परिवर्तन होता रहता है—नये-पुराने का भेद भी होता रहता है—किंतु उसके मूल तत्त्व (=कवित्व) का स्वरूप स्थिर रहता है। अत कविता के संदर्भ में नई-पुरानी की जगह अच्छी-बुरी या इससे भी आगे कविता-अकविता का भेद मुझे अधिक सार्थक प्रतीत होता है। इसका अभिप्राय यह नही है कि बिहारी और पंत

या घनानंद और गिरिजाकुमार की कविता के भेद की प्रतीति मुझे नहीं है—भेद तो स्पष्ट ही है : कथ्य का भी और कथन की भंगिमा का भी; किंतु यह भेद मात्र कवित्व-गुण का निर्णय नहीं करता—यह स्वरूप-वर्णन में सहायक होता है, मूल्यांकन में नहीं। अज्ञेय को नई रूप-विवृत्तियों का अधिक सटीक ज्ञान है—केवल इसी एक तथ्य के आधार पर वे रत्नाकर से अधिक समर्थ कवि नहीं बन जाते। प्रश्न है रूप की सूक्ष्म-गहन अनुभूति और उसकी अधिकाधिक पूर्ण अभिव्यक्ति का। प्रकार के भेद को आत्मा का भेद मान लेने से ही—या फ़ैशन को ही सौंदर्य मान लेने से, आज का मूल्य-बोध इतना खंडित और एकांगी, तथा अपनी एकांगिता में इतना दुराग्रही, हो गया है कि विकृति और प्रकृति का भेद करना उसके लिए कठिन हो रहा है।

मेरे विचार में आधुनिकता अपने-आप में मूल्य नहीं है। इसकी अपेक्षा तो युग-बोध का अधिक महत्त्व है, किंतु वह भी मूल्य नहीं है—कम-से-कम मौलिक मूल्य नहीं है। जीवन-बोध या उससे आगे आत्म-बोध ही वास्तविक मूल्य है। आधुनिकता या युग एक परिप्रेक्ष्य मात्र है जिसका दृष्टि के लिए अपना महत्त्व है, किंतु परिप्रेक्ष्य या दृष्टि भी सत्य का का स्थान तो नहीं ले सकती! नया कहानीकार प्रेमचंद की अपेक्षा या नया कवि प्रसाद की अपेक्षा युग-सत्य के अधिक निकट है, यह नारा आज आम हो गया है और आज का हर नया लेखक इसी के द्वारा अपने को स्थापित करने का उग्र प्रयत्न कर रहा है। पर इस नारे की बुनियाद ही ग़लत है क्योंकि सत्य युगापेक्षी नहीं है। प्रेमचंद भी अपने युग-सत्य के अधिक निकट थे किंतु उनके साहित्य का वही अंश अमर रहेगा जो युग-सीमित सत्य की नहीं, युग-मुक्त सत्य की अभिव्यक्ति करता है। वास्तव में नया लेखक अपनी सुविधानुसार 'कालयुक्त' और 'कालमुक्त' सत्य—दोनों का ही उपयोग करता है। अपनी समसामयिक दो विरोधी प्रवृत्तियों के, जिन्हें रूढ़ शब्दावली में हम स्वच्छंदतावाद और प्रगतिवाद कहते आ रहे हैं—मुकाबले में वह दो परस्पर विरोधी शस्त्रों का प्रयोग करता है। रोमानी काव्य-चेतना के विरोध में वह युग-केन्द्रित या क्षण-(प्रति)बद्ध है और सामाजिक काव्य-चेतना के मुकाबले में वह कालमुक्त है। मैं समझता हूं, ईमानदारी इसी में है कि सत्य को कालमुक्त ही मान लिया जाय—काल एक परिप्रेक्ष्य मात्र है सत्य के दर्शन का, वह सत्य की सीमा नहीं है।

रस के प्रति मेरे आग्रह से यह भ्रांति हो सकती है कि अभिव्यंजना या कला का मेरी दृष्टि में विशेष मूल्य नहीं है। परंतु बात ऐसी नहीं है। रस-सिद्धांत के अंतर्गत अभिव्यक्ति की उपेक्षा कैसे हो सकती है? आरंभ में तो रस की प्रकल्पना कला-रूप में ही की गई और बाद में जब वह अनुभूति या आस्वाद के रूप में ही मान्य हो गया तब भी 'गुणालंकार-संपदा' का आधार उसके लिए अनिवार्य बना रहा। वास्तव में शब्दार्थ के बिना तो काव्य की सत्ता ही नहीं रहती और काव्य का माध्यम यह शब्दार्थ अनिवार्यतः चमत्कृत होता है, इसमें मुझे संदेह नहीं। चमत्कार शब्द को लेकर हिंदी-आलोचना में काफ़ी विवाद हुआ है परंतु यह भारतीय काव्यशास्त्र का अत्यंत व्यंजक शब्द है। चमत्कारपूर्ण शब्दार्थ से अभिप्राय ऐसे शब्दार्थ का है जो कवि की सुंदर,

कल्पना-रमणीय अनुभूतियो से भारित होकर पाठक के चित्त में वैसी ही सुदर प्रतीति उत्पन्न करने में सक्षम होता है। अर्थ और वाणी का अभिन्न सबध एक स्वीकृत तथ्य है. अर्थ के चमत्कृत होते ही वाणी भी अनिवार्यत चमत्कृत हो जाती है। हृदय के उच्छ्वास से वाणी का उच्छ्वसित हो जाना सामान्य, अनुभूत घटना है। मोटे शब्दो मे, 'हृदय का उच्छ्वास' यदि रस या रस का निकटवर्ती अनुभव है तो वाणी का उच्छ्वास वक्रता या अलकार का ही समानार्थक शब्द-समूह है। अतः अनुभूति की रमणीयता का अनिवार्य माध्यम रमणीय शब्दावली ही हो सकती है—अर्थात्, अभिव्यजना-कला काव्य का अनिवार्य तत्त्व है, इसमे सदेह के लिए अवकाश नही है। अनुभूति और अभिव्यक्ति के परस्पर सबध के विषय मे तीन मत हैं: (१) अनुभूति का अभिव्यक्ति के बिना, सवेदनपुज के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नही होता। जब हम प्रेम, घृणा, निराशा आदि की अनुभूति की बात करते हैं तो इस अनुभूति मे अभिव्यक्ति निहित रहती है। अनुभूति अपने मूल रूप मे संवेदनो का पुज है; मानसिक अभिव्यक्ति के द्वारा ही वह रूप धारण करती है। इस मत के अनुसार अभिव्यक्ति के दो रूप हैं—एक मानसिक या आतरिक, जो मन के भीतर ही पूर्ण हो जाता है और दूसरा बाह्य, जो शब्दार्थ, रग-रेखा आदि के द्वारा इस आतरिक अभिव्यक्ति को भौतिक, इद्रियगम्य आकार देता है। यह अभिमत क्रोचे का है। (2) अनुभूति और अभिव्यक्ति का पृथक् अस्तित्व है: अनुभूति के तत्त्व अभिव्यक्ति के तत्त्वो के माध्यम से रूप धारण करते हैं।—यह रीतिवादियो का मत है। (3) अनुभूति और अभिव्यक्ति तत्त्वत अभिन्न हैं परंतु व्यावहारिक धरातल पर—विवेचना के लिए—उनकी पृथक् सत्ता की कल्पना न केवल असगत ही नही है वरन् उपयोगी भी होती है।—भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र के गभीरचेता आचार्यो का प्रायः यही मत है—तत्त्व-दृष्टि से शायद पहला मत ही ठीक हो, परतु व्यवहार-दृष्टि से तीसरा ही ग्राह्य है। पहला मत दर्शन के क्षेत्र मे उपयोगी हो सकता है, परतु आलोचना के लिए—विशेषकर व्यावहारिक आलोचना के लिए, तीसरे मत को स्वीकार किये बिना कोई चारा नही है। स्वभावत मुझे यही मध्यवर्ती स्थिति अधिक ग्राह्य है। अनुभूति और अभिव्यक्ति का अभिन्न सबध है—परतु विवेचन की सुविधा के लिए उनको पृथक् मानना आवश्यक हो जाता है। अनुभूति और अभिव्यक्ति के अभिन्न संबंध की स्वीकृति ही अभिव्यक्ति की अनिवार्यता को सिद्ध कर देती है—और अभिव्यजना के सौंदर्य को मैं कविता का अनिवार्य तत्त्व मानता हू। दोनो को यदि पृथक् रूप मे देखा जाय, तो अनुभूति का सापेक्षिक महत्त्व निश्चय ही अधिक है क्योकि कविता का प्राण वही है और अभिव्यक्ति के सौदर्य का आधार भी वही है—अर्थात् अनुभूति से अनुविद्ध होकर ही अभिव्यक्ति मे सौदर्य या चमत्कार की सृष्टि होती है। उक्ति-वक्रता के बिना भी काव्य की स्थिति सम्भव है, यह मैं नही मानता; किंतु शब्द-अर्थ के प्रयोग मे हाथ की सफाई दिखाकर चमत्कार उत्पन्न कर देने से कविता की सृष्टि नही हो सकती, यह भी स्वत-सिद्ध है। ऐसा चमत्कार कृत्रिम ही होता है क्योकि वाणी का असली चमत्कार तो भाव-प्रेरित ही हो सकता है। इस प्रकार आचार्य शुक्ल की इस स्थापना

को तो मैं यथावत् स्वीकार करता हूं कि भाव-प्रेरित वक्रता ही कविता के अंतर्गत आती है किंतु उनकी इस दूसरी मान्यता को स्वीकार करना मेरे लिए कठिन है कि रमणीय भाव की अभिव्यक्ति वक्रता के अभाव मे भी सभव है। आखिर, अभिव्यक्ति की रमणीयता है क्या ? भाव और कल्पना का जब शब्द-अर्थ मे अनुवेध हो जाता है तो अनायास ही उसमे भी चारुत्व का समावेश हो जाता है और चारुत्व तथा वक्रता शास्त्र मे पर्याय है। आज से बीस वर्ष पहले जब हिंदी साहित्य मे प्रगतिवाद का जोर था, काव्य मे सामाजिक चेतना के प्रति आग्रहशील विद्वानो का आक्षेप था कि मैं शिल्प के साथ पक्षपात करता हू और आज नवलेखन के समर्थक यह शिकायत करते है कि मैं शिल्प की उपेक्षा करता हू। किंतु काव्य के मौलिक तत्त्वो के विषय मे मेरी स्थिति मे कोई परिवर्तन नही हुआ। मेरा विश्वास तब भी यह था और आज भी है कि भाव के सौंदर्य से दीप्त शब्द-अर्थ का सौदर्य ही कविता है। सौदर्य अत्यत व्यापक है, उसकी विवृति के अनेक रूप एवं प्रकार हैं और इस दृष्टि से उसमे विकास तथा परिवर्तन की प्रचुर सभावनाएं हैं। किंतु इस विकास और परिवर्तन की एक सीमा अवश्य है जिसके भीतर ऐसे भाव-रूप और वस्तु-रूप नही आ सकते जो प्रतीति और परिणति दोनो मे ही अप्रीतिकर हैं। पिछले पचीस वर्षों की निरतर साहित्य-साधना के फलस्वरूप यह तथ्य मेरी चेतना मे निरतर भास्वर और बद्धमूल होता गया है। विरोधी इसे स्थविरता कह सकता है और अविरोधी इसे स्थिरता मान सकता है। मैं भी एक ऐसी मान्यता को, जो मैंने बिना किसी पूर्वग्रह के प्राप्त की है और जो पिछले पचीस वर्षों के अध्ययन-मनन से निरतर पुष्ट होती रही है, अशुद्ध या सदोष कैसे मान लू ?

कविता की अभिव्यजना के दो मूल तत्त्व हैं—बिंब और छद। अमूर्त अनुभूति को मूर्त बनाने मे ही इनकी सार्थकता है। अनुभूति मन या हृदय का विषय है, उसे इद्रियो का विषय बनाना ही अमूर्त को मूर्त करना है, क्योकि इद्रियो के माध्यम से ही श्रोता या पाठक का मन विषय का अनुभव करता है। अत. कवि अपनी अनुभूति को बिंबो के द्वारा मूर्तित करता हुआ पाठक के मन मे सह या सम अनुभूति जगाने का प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न ही कला-साधना है। ये बिंब सामान्यत तो पाच ज्ञानेंद्रियो—चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, घ्राण और रसना—के विषय-क्रम से पाच प्रकार के हो सकते हैं, किंतु इनमे प्रमुख दो ही है : चाक्षुष और श्रौत। रूप-बिंब चाक्षुष होते हैं और लय-बिंब श्रौत। यद्यपि ये दोनो ही बिंब हैं पर प्रचलित अर्थ मे चाक्षुष बिंब को ही प्रायः बिंब कहते है। श्रौत बिंब-विधान का नाम रूढ शब्दावली मे छद है—और प्रायः इन दोनो मे विरोध भी हो जाता है या मान लिया जाता है। उदाहरण के लिए, आज कविता का पूरा बल चाक्षुप बिंब पर ही हैं, श्रौत बिंब अनपेक्षित ही नही, कवित्व मे बाधक भी मान लिया गया है। मेरे विचार मे यह विरोध मिथ्या है और कविता की खडित धारणा का ही परिणाम है। भारतीय काव्य-चिंतन आरभ मे ही साहित्य शब्द के सार्थक प्रयोग द्वारा इस सभावना का निराकरण कर चुका है। चाक्षुप बिंब अर्थ का रूपात्मक प्रस्फुटन है और श्रौत बिंब या छद शब्द की गत्यात्मक योजना है। अतः मुझ जैसे व्यक्ति के लिए, जो साहित्य को शब्द-अर्थ का सामजस्य मानता है और

कविता को साहित्य का सर्वश्रेष्ठ रूप इसलिए मानता है कि उसमे यह सामजस्य अधिकाधिक पूर्ण होता है, कविता की इस खंडित परिभाषा को नवचिंतन का एक प्रवाद मात्र मानने के अलावा कोई चारा नही रह जाता। छद कविता नही है, यह मान्यता प्राय. आरंभ से ही रही है; आज इसका रूप उलटकर यह हो गया है कि कविता छद नही है, अर्थात् कविता के लिए छंद की आवश्यकता नही है, बिंब मात्र कविता के लिए पर्याप्त है। बात यही रुक जाती तब भी ठीक था पर वह तो और आगे बढ गई है : कविता अर्थ भी नही है, कविता कविता भी नही है—कविता अकविता है। ये सब आस्थाहीन चिंतन के चमत्कार हैं जो बालमनोवृत्ति के लोगो को ही आकृष्ट कर सकते हैं।

वास्तव मे कविता की वह पुरानी परिभाषा आज भी असिद्ध नही हुई है—कविता आज भी शब्दार्थ के माध्यम से भाव की कल्पनात्मक अभिव्यक्ति है। भाव का रूप उच्छ्वासमय होता है, अतः उससे गर्भित होकर शब्द में गति=लय अनायास ही उत्पन्न हो जाती है और चूंकि अभिव्यक्ति की स्थिति तक पहुचते-पहुचते यह भाव समाकलित हो जाता है, अतः लय भी समाकलित होकर सहज क्रम से छद बन जाती है। उधर कल्पनात्मक अभिव्यक्ति का एक ही अर्थ है—बिंबो द्वारा मूर्तीकरण। अतः छंद और बिंब कविता की अभिव्यंजना के अनिवार्य तत्त्व है, ऐसी मेरी निश्चित धारणा है। जिस प्रकार कविता केवल छंद नही है, इसी प्रकार वह केवल बिंब भी नही है। वह तो छंद और बिंब द्वारा अभिव्यक्त रमणीय (भावसंपृक्त) अर्थ है। यह बात पुरानी हो सकती है, पर सही है।

साहित्य के कला-पक्ष के प्रति अनुराग होने के कारण उसकी रूप-विधाओं मे भी मेरी गहरी दिलचस्पी रही है और अपनी व्यावहारिक तथा सैद्धातिक दोनो प्रकार की आलोचनाओं मे मैं विस्तार से उनके विषय मे लिखता रहा हूं। परतु विधाओ के इस भेद को मैं न मौलिक मानता हू और न तात्त्विक; अर्थात् मैं यह नही मानता कि रूप के भेद से काव्य के आस्वाद मे कोई मौलिक अंतर पड जाता है। जैसा कि शब्द से स्पष्ट है, रूप का भेद आत्मा का भेद कैसे हो सकता है ? इसका अर्थ यह हुआ कि गद्य-काव्य और पद्य-काव्य के विभिन्न उपभेदों के अंतर से, या इसके भी आगे गद्य-काव्य तथा पद्य-काव्य के अंतर से भी, आस्वाद मे मूल अंतर नही पडता। प्रश्न उठता है कि क्या प्रबध-काव्य और प्रगीत-काव्य अथवा उपन्यास और नाटक या प्रबध-काव्य और नाटक-उपन्यास का आस्वाद एक-सा ही होता है ? क्या माध्यम-भेद से आस्वाद में अंतर नही आता ? अपने अनुभव के आधार पर मेरा उत्तर है—नही। माध्यम के सूक्ष्म भेद से प्रक्रिया मे भेद हो जाता है—किंतु परिणति की स्थिति मे भेद मैं नही मानता। प्रबंध और प्रगीत का भेद या प्रबंध-काव्य और उपन्यास का या प्रगीत और कहानी की आस्वादन-प्रक्रिया का भेद तो स्वतः स्पष्ट है, किंतु परिणति सबकी चित्त की समाहिति मे अथवा चेतना की विश्राति मे ही होती है या होनी चाहिए। प्रबध मे भी अनायास ही प्रगीतमय प्रसंगो की उद्भावना और प्रगीत मे भी संदर्भ की सृष्टि—इसी प्रकार उपन्यास और प्रबंध मे नाट्य-तत्त्व या प्रबंध और

नाटक मे आख्यान की विविध प्रविधियो का अनायास समावेश इस बात का प्रमाण है कि रूप-विधा का भेद मौलिक नही है। बाहर से प्रगीत और प्रवंध-काव्य का भेद अत्यत स्पष्ट प्रतीत होता है, परंतु जब हम प्रबंध-काव्य के कवित्व-गुण का निर्धारण करते हैं तो अनायास ही शुक्लजी की तरह (जो स्वयं प्रबंधकाव्य के अत्यत प्रबल समर्थक थे) हम उसके मार्मिक भावपूर्ण स्थलो की ही खोज करने लगते है—अर्थात् प्रबध के काव्यगुण का आधार भी प्राय उसके प्रगीतात्मक प्रसग ही ठहरते है। इसीलिए एक अंग्रेज मनीषी ने वेलाग कह दिया कि समस्त काव्य मूलतः प्रगीत ही होता है। ऐसा ही एक अन्य सिद्धात-वाक्य यह है—"समस्त काव्य मूलत' रोमानी ही होता है।" इन सूत्रो मे अतिव्याप्ति हो सकती है, और है भी, किंतु इनसे यह सकेत अवश्य मिलता है कि साहित्य के रूप-भेदो मे मौलिक अभेद है।

मेरी साहित्यिक मान्यताएं—३

मैं व्यवसाय से आलोचक हू, अतः आपके मन मे यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि आलोचना के विषय मे मेरी मान्यताएं क्या है ? किंतु वास्तविकता यह है कि आलोचना के विषय मे मैंने सबसे कम सोचा है। यह बात विचित्र लग सकती है, किंतु है नही; क्योकि आलोचना मेरे व्यवहार का विषय है, विचार का नही। जिस प्रकार कवि असल मानी मे कविता की रचना से ही सरोकार रखता है, उसके तत्त्व-चिंतन से नही, उसी प्रकार आलोचक भी मूलतः काव्य का ही विचार करता है, आलोचना का नही। लेकिन जिस तरह कवि-कर्म के प्रति प्रबुद्ध कवि काव्य का तत्त्व-चिंतन कर सकता है और प्राय. करता भी है, इसी तरह आलोचक के लिए भी अपने कर्म की व्याख्या, अर्थात् उसके आदर्श तथा व्यवहार की व्याख्या, प्रस्तुत करना कठिन नही है : और, जो हाज़िर है उसमे हुज्जत क्या !

आलोचना को मैं निश्चय ही ललित साहित्य का अग मानता हू। आलोचना कला है या विज्ञान ? यह प्रश्न नया नही है।—लेकिन आलोचना के स्वरूप-निर्धारण मे इसकी सार्थकता आज भी असदिग्ध है। आलोचना की आत्मा कलामय है, किंतु इसकी शरीर-रचना वैज्ञानिक है। आत्मा के कलामय होने का अर्थ यह है कि आलोचना भी मूलतः आत्माभिव्यक्ति ही है—यहा भी आलोचक कलाकृति के विवेचन-विश्लेषण के माध्यम से आत्मलाभ करता है। आलोचना का विषय रसात्मक होता है और आलोचना की परिणति भी आत्मसिद्धि मे ही होती है, अत. रस का अभिषेक आलोचना मे भी रहता है। शरीर-रचना के वैज्ञानिक होने का आशय यह है कि आलोचना की पद्धति मे विज्ञान के रीति-नियमो का पालन करना आवश्यक तथा उपादेय होता है। यही वह गुण है जो आलोचक को सामान्य सहृदय से वैशिष्ट्य प्रदान करता है। मैंने आज से लगभग पचीस वर्ष पूर्व आत्म-निरीक्षण के आधार पर अपने एक लेख मे यह स्थापना की थी कि आलोचक एक विशिष्ट रसग्राही पाठक ही होता है। उस समय मेरा शास्त्र से घनिष्ठ परिचय नही था, इसलिए शास्त्र के परिचित पारिभाषिक शब्द 'सहृदय' के स्थान पर मुझे 'रसग्राही पाठक' शब्दावली का प्रयोग करना पडा था। मेरी मान्यता अब भी वही है, शास्त्र ने उसे और पुष्ट कर दिया है। कृति के रस-ग्रहण के सदर्भ मे आलोचक सहृदय से अभिन्न है, किंतु इस रस-तत्त्व के विवेचन मे वह पाठक से विशिष्ट है। दोनो के भेद की बात बहुत-कुछ वैसी ही है जैसी कि क्रोचे ने साधारण कलाकार और विशेष व्यवसायी कलाकार के

भेद के विषय में कही है। क्रोचे के मत से प्रत्येक व्यक्ति कलाकार होता है—उसमें और व्यावसायिक कलाकार मे भेद प्रकृति का नही होता गुण और मात्रा का होता है अर्थात् व्यावसायिक कवि के पास सामान्य व्यक्ति-कवि की अपेक्षा अपनी सहजानुभूति को मूर्त रूप प्रदान करने के साधन एव उपकरण अधिक होते हैं। यही भेद सामान्य सहृदय और विशेष सहृदय अर्थात् आलोचक मे होता है। साहित्य का आस्वादन दोनों ही करते हैं, किंतु उस आस्वादन का विश्लेषण आलोचक ही कर सकता है। कुछ विदग्धो के मन मे यह शका उठती है कि इस विवेचन-विश्लेषण से क्या लाभ ? अर्थात् भोक्ता और कर्त्ता के बीच मे इस मध्यस्थ अभिकर्त्ता की क्या आवश्यकता ? आलोचक के प्रति उनका दृष्टिकोण प्राय: वैसा ही होता है जैसा कि जीवन-व्यवहार मे सामान्य उपभोक्ता का अभिकर्त्ता या एजेंट के प्रति होता है। किंतु यह सहज स्थिति नही है। वैसे तो अर्थ-विधान के अतर्गत अभिकर्त्ता का महत्त्व भी कम नही है—वह निर्माता के समकक्ष नही है, यह ठीक है, परतु निर्माता उस पर काफी हद तक निर्भर करता है, यह भी उतना ही सत्य है। फिर भी आलोचक अभिकर्त्ता नही है। उसकी भूमिका कही अधिक सर्जनात्मक है। वह कवि या कथाकार की कोटि का सर्जक नही है, किंतु उसका कर्म भी अपने ढग से सर्जनात्मक है, इससे इनकार नही किया जा सकता। काव्य का विषय जीवन है पर कवि अपने विषय का सृजन नही करता, पुन:-सृजन ही करता है। इसी तरह आलोचना का विषय काव्य है और आलोचक भी एक प्रकार से अपने आलोच्य विषय का पुन सृजन करता है। सृजन के ही अर्थ मे आलोचनाशास्त्र के अतर्गत एक और सरल शब्द का प्रयोग होता है और वह है आख्यान। काव्य की एक अत्यत परिचित परिभाषा है—काव्य जीवन का आख्यान है। इसी शब्द का प्रयोग करते हुए सीधे तौर पर कहा जा सकता है कि आलोचना काव्य का आख्यान है। यहा भी, स्पष्ट है कि आख्यान विवेचन मात्र का वाचक न होकर पुन.-सृजन का ही वाचक है, अन्यथा 'काव्य जीवन का आख्यान है'—यह वाक्य सही अर्थ खो बैठता है। आलोचना के सदर्भ मे भी आख्यान वस्तु-विश्लेषण मात्र नही है, यहा भी पुन सृजन की प्रक्रिया चलती है। भेद केवल दो है। पहला भेद करण या साधन का है—अर्थात् कवि के साधनो मे भावना और कल्पना प्रधान है, बुद्धि प्राय. सश्लेषण मे ही सहायक होती है, जब कि आलोचक के कर्म मे मूलत भावना और कल्पना का सम्यक् उपयोग रहते हुए भी बुद्धि अधिक सक्रिय रहती है। दूसरा भेद सृजन-शक्ति के बलाबल का है। कवि जीवन का पुनःसृजन करता है और आलोचक काव्य का, अर्थात् जीवन के पुन सृजन का पुन सृजन करता है। सृजन का परिणाम है पदार्थ और पुन सृजन का परिणाम है बिंब। अतएव कवि-व्यापार मे बिंब-रचना का ही प्राधान्य रहता है। इस पद्धति से पुन सृजन के पुन.सृजन का अर्थ होता है बिंब के भी बिंब=प्रतिबिंब का निर्माण, अर्थात् ऐसे बिंब का निर्माण जो रचना-प्रक्रिया मे बिंब की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और धूमिल हो जाता है। इस प्रकार, आलोचक का कर्म कवि-कर्म की अपेक्षा कम सर्जनात्मक रह जाता है, यह सच है। कवि-कर्म मे जहा बिंबो के प्रयोग की प्रचुरता रहती है वहा आलोचना मे इन बिंबो की धारणा या प्रत्यय अधिक उपयोग

मे आते है—और सही शब्दो मे काव्य मे ऐंद्रिय-मानसिक बिंब प्रमुख रहते हैं जबकि आलोचना मे मानसिक-प्रज्ञात्मक बिंबो का आधिक्य रहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि कवि-कथाकार और आलोचक की सर्जन-क्षमता मे मात्रा और साधन-उपकरण का ही भेद अधिक है, प्रकृति का भेद इतना नही है। जिस प्रकार काव्य भाव का उफान या कल्पना की क्रीडा नही है, उसी प्रकार आलोचना भी बुद्धि का विलास नही है। कविता, उपन्यास या नाटक की भाति आलोचना भी सर्जनात्मक सदर्शन (क्रिएटिव विजन) से अनुविद्ध एव परिव्याप्त रहती है। कवि यदि रमणीय (राग-कल्पनात्मक) अनुभूतियो के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति करता है तो आलोचक कवि की इस आत्माभिव्यक्ति के आख्यान के माध्यम से। इसी अर्थ मे, और इसी कारण से, आलोचना को मैं ललित साहित्य का अंग मानता हू।

आलोचना का यही तात्त्विक (या सात्त्विक) स्वरूप है। इसके आगे आलोचना और आलोचक के कुछ अन्य कर्त्तव्य-कर्मो की भी चर्चा की जाती है—जैसे साहित्य का मूल्याकन, उसकी गतिविधि का नियमन, आदि। मेरी दृष्टि मे यह सब आरोपित दायित्व है, और काफी हद तक व्यावसायिक कर्म है। मूल्याकन की उपेक्षा मैं नही करता—वह भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे अनायास ही हो जाता है। कृति के आस्वाद का विश्लेषण करते हुए आपसे-आप दोनो प्रकार के तत्त्व उभरकर सामने आ जाते हैं : ऐसे तत्त्व जो उसके आस्वाद्यत्व के साधक हैं, और वे तत्त्व भी जो उसमे बाधक हैं। आस्वाद के विश्लेषण मे उसके उन स्थायी और अस्थायी तत्त्वो की परीक्षा भी निहित रहती है जो अतत. नैतिक और मानवीय मूल्यो से सबद्ध हो जाते है। इस प्रकार मूल्याकन कोई स्वतत्र प्रक्रिया न होकर आख्यान की प्रक्रिया का ही अग—सही शब्दो मे—परिणामी अंग है, और, इस रूप मे वह काम्य भी है, कम-से-कम, उपादेय तो है ही। किंतु स्वतत्र कर्म के रूप मे वह व्यवसाय बन जाता है और व्यवसाय तथा धर्म मे जितना अतर है, उतना अतर ही मूल्याकन और आलोचना के सहज रूप मे भी पड जाता है : स्वतत्र रूप मे मूल्याकन, वास्तव मे, सर्जनात्मक नही रह जाता।

साहित्य की गतिविधि के नियमन का दायित्व और भी अधिक व्यावसायिक है, उसमे रस के स्थान पर शक्ति की स्पृहा ही प्रमुख हो जाती है। वहा सर्जना का तो प्रश्न ही नही उठता, निर्माण या रचना का कार्य भी पीछे पड जाता है और राजनीति अर्थात् बलाबल की नाप-तोल ही सामने रहती है। मैं समझता हू कि यहां साहित्यकार स्वधर्म से च्युत हो जाता है। निश्छल आत्माभिव्यक्ति के स्थान पर मताग्रह का बोलबाला हो जाता है और राग-द्वेष के विगलन के स्थान पर अहकार का सवर्धन ही मुख्य हो जाता है। स्पष्ट है कि रस के साहित्य के अतर्गत यह सब नही आ सकता। इस प्रकार का दभ लेकर जो आलोचक चलता है, वह समर्थ प्रचारक तो बन सकता है, मर्मवेत्ता साहित्यकार नही।

आप शायद साहित्य के इतिहास से कुछ प्रमाण देकर मेरी स्थापना का खडन करना चाहे। मल्लिनाथ की यह गर्वोक्ति सस्कृत-साहित्य के इतिहास मे प्रसिद्ध है :

भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता ।
एषा सञ्जीवनी व्याख्या तामद्योज्जीवयिष्यति ॥
—मल्लिनाथ, स० टी० कुमारसभव १।१

—कालिदास की भारती दुर्व्याख्या के विष से मूर्च्छित पडी थी, मेरी यह संजीवनी टीका आज उसे जीवनदान करेगी ।

आचार्य शुक्ल ने भी क्या जायसी का उद्धार नही किया ? मैं समझता हू कि यह दृष्टिभ्रम है । मल्लिनाथ और आचार्य शुक्ल को निमित्त होने का श्रेय अवश्य दिया जा सकता है—किंतु कालिदास या जायसी के निर्माता ये कैसे माने जा सकते हैं ? कालिदास के सदर्भ मे मल्लिनाथ की गर्वोक्ति का महत्त्व आलोचक के आत्मतोष से अधिक मानना क्या किसी मर्मज्ञ के लिए सभव है ? वास्तव मे उसे अभिधार्थ मे ग्रहण करने की मूर्खता कौन कर सकता है ? इसमे सदेह नही कि जायसी को प्रकाश मे लाने का श्रेय शुक्लजी को है, किंतु शुक्लजी को अधिक-से-अधिक अनुसधान का ही गौरव दिया जा सकता है । रत्न की खोज या परख करने वाला, रत्न की मूल्यवत्ता का कारण नही हो सकता । इसी अर्थ मे, बडे-से-बडा आलोचक भी कवि को बनाने या बिगाड़ने का गर्व नही कर सकता । महावीरप्रसाद द्विवेदी के विषय मे मैथिली-शरण गुप्त के निर्माण का दावा करना उतना ही गलत है जितना 'विशाल भारत' के सपादक के लिए निराला को नष्ट कर देने का दभ करना ।

इसी प्रकार, साहित्य की गतिविधि के नियत्रण का दायित्व भी आलोचक के स्वधर्म से बाहर की बात है । साहित्य का विकास प्रज्ञा के आधार पर न होकर सर्जना के आधार पर ही होता है, और, जैसा कि मैं अभी स्पष्ट कर चुका हू—समान स्तर पर तुलना करने पर—कलाकार की सर्जना-शक्ति आलोचक की सर्जना-शक्ति से अधिक प्रबल ठहरती ही है । जो साहित्य आलोचना की गर्मी से मुरझा जाय या जिसके विकास के लिए आलोचना के सहारे की जरूरत पडे, उसमे प्राण-शक्ति कम ही माननी चाहिए । साहित्य को दिशा तो स्रष्टा कलाकार ही देता है । आलोचक सघात और प्रतिघात से उसकी प्रतिभा पर शाण रखने का कार्य करता है । उदाहरण के लिए, शुक्लजी जैसे आलोचक की मेधा की चट्टान से टकराकर छायावादी कवियो की प्राण-धारा मे और भी अधिक वेग आ गया था । अभी किसी लेखक ने नयी कविता की सफाई मे लिखा था कि उसे वैसे समर्थ आलोचक नही मिले जैसे कि छायावाद को अनायास ही प्राप्त हो गए थे । मैं समझता हू कि यह उलटी दलील है । वास्तव मे छायावाद की आलोचना इसलिए अधिक पुष्ट और प्रौढ है कि उसका आलोच्य विषय अपेक्षाकृत अधिक भव्य है; क्योंकि यह तो एक परीक्षित तथ्य है कि किसी युग की आलोचना का स्तर उसके साहित्य के स्तर को अबाध रूप से प्रतिबिंबित करता है । अत: साहित्य की गतिविधि का नियंत्रण करने की महत्त्वाकाक्षा आलोचक के लिए कल्याणकर नही हो सकती । मेरे मन मे यह आकांक्षा कभी नही उत्पन्न हुई; आलो-चना-कर्म के प्रति मेरे अपने दृष्टिकोण मे इसके लिए कोई अवकाश ही नही रहा । इसीलिए प्राय. प्रतिष्ठित, या ऐसा काव्य ही, जिसमे स्थायी मूल्य स्पष्ट लक्षित हो,

मेरी आलोचना का विषय रहा है—किसी कृति को या कृतिकार को स्थापित करने की स्पृहा मेरे मन मे नही आयी । इसीलिए, शायद अपने समसामयिक या नये लेखकों मे मैं लोकप्रिय नही हो सका । पर, मैं इसे अपना दुर्भाग्य नही मानता, क्योकि आलोच्य विषयो की गरिमा से जो कुछ मैंने पाया है वह इस लोकप्रियता से अधिक काम्य और स्थायी है ।

साहित्य का धर्म

इस देश मे साहित्य और धर्म का ऐसा अभिन्न सबध रहा है कि आधुनिक साहित्य-स्रष्टा और आलोचक को इन दोनो को पृथक् करने के लिए परिश्रम करना पडा। पाश्चात्य समीक्षको ने जब यह कहकर भारतीय साहित्य को हेय सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वह शुद्ध साहित्य की ऐहिक विभूतियो से हीन प्राय धर्म का ही अग है, तो भारत की प्रबुद्ध बौद्धिक चेतना के लिए अपने साहित्य की धर्म-निरपेक्ष सत्ता की स्थापना अनिवार्य हो गई। परिवर्तनकाल मे मूल्यो मे कुछ ऐसी अस्थिरता आ गई कि साहित्य और धर्म मे एक प्रकार से विरोध का आभास होने लगा। इस धारणा का अभी अंत नही हुआ है और इसका कारण यह है कि साहित्य और धर्म दोनो ही शब्दो के अर्थ अत्यत अनिश्चित है। अब भी शब्दार्थ की यह नम्यता भ्राति उत्पन्न कर सकती है, अत: साहित्य और धर्म शब्दो के अर्थ का निश्चय आज के इस परिसवाद की पहली आवश्यकता है।

साहित्य—भारतीय काव्यशास्त्र मे प्रस्तुत प्रसग मे दो शब्दो का प्रयोग होता है—(१) वाड्मय, और (२) साहित्य। पारिभाषिक दृष्टि से वाड्मय का अर्थ अधिक व्यापक है; उसकी परिधि मे वाणी का संपूर्ण आलेख आ जाता है। वाड्मय के दो प्रमुख भेद हैं : इह वाड्मयमुभयथा शास्त्र काव्यञ्च (राजशेखर)। आधुनिक शब्दावली मे शास्त्र का अर्थ है ज्ञान का साहित्य और काव्य का अर्थ है रस का साहित्य। आज के परिसवाद के अतर्गत साहित्य का अभीष्ट अर्थ है 'रस का साहित्य' (वस्तुत सस्कृत मे 'साहित्य' शब्द का प्रयोग 'रस का साहित्य' के अर्थ मे ही होता है—उसका वर्तमान व्यापक रूप और तज्जन्य अस्थिरता उसे अगरेजी शब्द 'लिटरेचर' का पर्याय मान लेने का परिणाम है। संस्कृत मे इसका स्वरूप और प्रयोग सर्वथा परिनिष्ठित है . काव्य=साहित्य=रस का साहित्य (क्रिएटिव लिटरेचर)। साहित्य का शाब्दिक अर्थ है : सहित का भाव अर्थात् सहभाव। कुछ विद्वानो ने सहित का अर्थ हितसहित या कल्याणमय करने का प्रयत्न किया है, किंतु वह वर्तमान वाग्विलास है, काव्यशास्त्र मे उसके लिए कोई प्रमाण नही मिलता। इसी प्रकार गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने भी आधुनिक विचारधारा के सदर्भ मे उसका अर्थ-विस्तार किया है : "सहित शब्द से साहित्य मे मिलने का एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रथ-ग्रथ का मिलन नही है; परतु मनुष्य के साथ मनुष्य का—अतीत के साथ वर्तमान का·· मिलन है।" किंतु यह भी कवि के अपने वैदग्ध्य का चमत्कार है। शास्त्र

मे उसका एक ही निर्भ्रान्त अर्थ है—शब्द-अर्थ का सहभाव : शब्दार्थयो. यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या (राजशेखर)। सहभाव का यहा विशिष्ट अर्थ है—पूर्ण सामजस्य, ऐसा समभाव, जिसमे दोनो मे से कोई न न्यून हो और न अतिरिक्त : यही साहित्य का तात्त्विक अर्थ है। अत. साहित्य से अभिप्रेत है वाङ्मय का वह रूप जिसमे शब्द और अर्थ का पूर्ण सामजस्य हो। यह एक ओर शास्त्र से भिन्न है क्योकि उसमे अर्थ की गुरुता शब्द को भाराक्रात कर देती है, और दूसरी ओर संगीत आदि से भी, जिसमे शब्द की तरलता मे अर्थ का क्षय हो जाता है।

दूसरा शब्द है धर्म। धर्म का व्युत्पत्त्यर्थ है—ध्रियते अनेन यः सः धर्म., जो धारण करे वह धर्म है। वे मूल विशेषताए या गुण जो किसी पदार्थ के अस्तित्व को धारण करते हैं (एसेन्शल्स)—सक्षेप मे प्राण-तत्त्व, मूल प्रवृत्ति, प्रकृति या स्वभाव। धर्म का एक दूसरा अर्थ भी है कर्तव्य-कर्म, जो मूल अर्थ का ही विकास है क्योकि प्रवृत्ति ही अनुशासित होकर कर्तव्य का रूप धारण कर लेती है। अतएव धर्म का समन्वित अर्थ होता है प्रकृति और कर्तव्य-कर्म।

इस प्रकार 'साहित्य के धर्म' के अंतर्गत आज हमारा विवेच्य विषय है—आधुनिक आलोचना-शास्त्र की शब्दावली मे, 'ललित वाङ्मय की प्रकृति और उद्देश्य' और सस्कृत काव्यशास्त्र की शब्दावली मे, 'काव्य की आत्मा एव प्रयोजन'।

जैसा कि मैंने अभी निवेदन किया, शास्त्र की प्रकृति या प्राण-तत्त्व है शब्द और अर्थ का पूर्ण तादात्म्य—अर्थ का शब्द के साथ पूर्ण तादात्म्य वाणी की चरम सिद्धि है। तत्त्व-रूप मे अर्थ आत्मा की अनुभवज्ञानमयी स्थिति का ही नाम है और शब्द का अर्थ है प्राकट्य, अत अर्थ का शब्द-रूप मे प्राकट्य आत्म-साक्षात्कार की ही एक प्रमुख प्रक्रिया है। भारतीय काव्य-दर्शन मे इसी तर्क के आधार पर अर्थ को शभु और शब्द को शिवा या शक्ति कहा गया है—'रुद्रोऽर्थ: अक्षरस्सोमा'—और उन दोनो के अर्धनारीश्वर-रूप मे साहित्य की कल्पना की गयी है। आत्मसाक्षात्कार का नाम आनद है। प्रकृति के विविध उपादानो के द्वारा आत्मा अपना साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता रहता है—यह प्रयत्न या साधना ही जीवन है, साधना की सफलता-विफलता ही जीवनगत सुख-दुःख और उसकी सिद्धि ही 'आनद' है जो सुख और दुःख से अतीत पूर्ण आत्म-लाभ या सामरस्य की स्थिति है। आनद का मूल रूप एक और अखड है, माध्यमभेद से उसके नामो मे भेद हो जाता है। वाणी के माध्यम से जो आत्म-सिद्धि प्राप्त होती है उसका शास्त्रीय नाम रस है। इस व्याख्या के अनुसार अर्थ और शब्द का साहित्य सहज रसमय होता है—रस उसका *अंतरग लक्षण है*, बहिरग विशेषण मात्र नही है। एक वाक्य मे, साहित्य की प्रकृति या प्राण-तत्त्व है रस और यही उसका प्रयोजन है। भारतीय काव्यशास्त्र का विवेचन इतना मार्मिक और आप्त है कि उसमे लक्षण और प्रयोजन—साधन और सिद्धि—शरीर और आत्मा का भेद मिट जाता है।[1]

1. अमृतसर—सत विनोबा के तत्त्वावधान में आयोजित साहित्य-गोष्ठी मे दिया गया वक्तव्य।

साहित्य के मानदंड

मानदड और मूल्य आदि शब्द मूलतः साहित्य के शब्द नही है—पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र मे भी इनका समावेश अर्थशास्त्र अथवा वाणिज्यशास्त्र से किया गया है। जीवन मे भौतिक-आर्थिक प्रभाव की वृद्धि होने से आर्थिक शब्दावली का भी प्रयोग अन्य क्षेत्रो मे होने लगा: स्थूल तथ्यपरक विषयो के अतिरिक्त सूक्ष्म तत्त्व-परक विषयो के भी मूल्य और मानदड या मापदड होने लगे। भारतीय काव्यशास्त्र मे स्थिति इसके विपरीत थी—यहा की दृष्टि मूलत अध्यात्मपरक होने से यहा दार्श-निक या अधिमानसिक (मेटाफिज़ीकल) शब्दावली का प्रभाव था। साहित्य के मान-दडो का विवेचन यहा साहित्य अथवा काव्य की 'आत्मा' और काव्य के 'प्रयोजन' की चर्चा के अतर्गत किया गया है। आत्मा का अर्थ है आधार-तत्त्व तथा प्रयोजन का अर्थ है उद्देश्य, और ये ही दो तत्त्व किसी वस्तु के मानदड का मूल्य का भी निर्धा-रण करते है—अतएव यहा आत्मा और प्रयोजन के विवेचन मे मानदड का विवेचन व्यंग्य रूप मे निहित है। काव्य की आत्मा रस है, ध्वनि है, अलकार अथवा वक्रता है—इसका तर्क-सम्मत निरूपण कर भारतीय आचार्य ने व्यंजना से यह भी स्पष्ट कर दिया कि काव्य का मूल तत्त्व क्या है जो काव्य के काव्यत्व को सार्थक करता है—यही काव्य की कसौटी या मानदड भी था। परतु आत्मा के विवेचन में भारतीय आचार्य काव्यशास्त्र की परिधि मे बाहर नही गया। रस के द्वारा अनुभूति-तत्त्व को, ध्वनि के द्वारा कल्पना-तत्त्व को—क्रोचे के शब्दो मे सहजानुभूति को, और वक्रता अथवा अलकार के द्वारा अभिव्यजना—और स्पष्ट शब्दो मे अभिव्यजना-कौशल को काव्य का आधार-तत्त्व और व्यग्य रूप से मूल मान घोषित करता हुआ वह काव्यशास्त्र की परिधि मे ही रहा। हा, काव्य के प्रयोजन मे उसने जीवन की विस्तृत भूमि मे पदार्पण किया और अनेक प्रयोजनों की चर्चा की, जिनमे से कुछ वैयक्तिक थे, कुछ सामाजिक। उदाहरण के लिए, आनद और बौद्धिक विकास व्यक्तिगत सिद्धिया थी। आनद को प्राचीनतर आचार्यों ने—भामह और वामन आदि ने—प्रीति तथा कुतक आदि परवर्ती आचार्यो ने आह्लाद अथवा चमत्कार कहा, और बौद्धिक विकास के लिए भरत ने बुद्धि-विवर्धन शब्द का प्रयोग किया जिसके अतर्गत भामह का कला-वैचक्षण्य भी आ जाता है। उधर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चार पुरुषार्थो की सिद्धि और लोकोपदेश आदि सामाजिक प्रयोजन थे। इस प्रकार अपने ढग से हमारे आचार्य ने भी काव्य की वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनो प्रकार की ही सिद्धियो का काव्य-प्रयोजन के अतर्गत

समावेश कर लिया था। स्वान्त:सुख और लोक-हित दोनो के प्रति वह आरभ से ही जागरूक था, इसमे सदेह नही; किंतु यह भी सत्य है कि इन दोनो के सापेक्षिक महत्त्व के विषय मे भी उसे कोई भ्राति नही थी। आनंद को इसीलिए उसने निर्भ्रान्त शब्दो मे सकल-प्रयोजन-मौलिभूत कहा है। कुतक की निर्भीक घोषणा है :

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥

जिसका भावार्थ यह है कि काव्यामृत-रस का चमत्कार चतुर्वर्ग-फलास्वाद से भी बढकर है।

कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार काव्य की आत्मा आनद-रूप रस और मूल प्रयोजन आनंद माना गया है—और व्यंजना से यही उसका मानदड था आधारभूत मूल्य भी है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र पर काव्येतर मूल्यो का समाघात बहुत पहले ही हो गया था। वहा नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीति, और अब पिछले वर्षों मे अर्थशास्त्र आदि के आघात के फलस्वरूप अनेक मूल्यो का आरोप काव्य पर होता रहा है। सामान्यत. वहा भी दो प्रकार के मूल्यो मे द्वद्व रहा है· (१) सौंदर्यमूलक, और (२) उपयोगितामूलक—जिनका पर्यवसान क्रमश. आनंद और लोक-हित मे होता है। इन्ही को लेकर पश्चिम के सौंदर्यवादी, कलावादी, मनोवैज्ञानिक और समाजवादी आलोचक उलझते रहे हैं।

हमारा मत है कि उपर्युक्त दोनो मानदंड परस्पर-विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक ही है। आनद और कल्याण को परस्पर-विरोधी मानना असगत है; परंतु इन दोनो मे सापेक्षिक मूल्य आनद का ही अधिक है, आनद की व्यापक परिधि मे हित की भावना अतर्भूत है और हित की परिणति भी आनद ही है। वास्तव मे हित जहा खड-चेतना का साध्य है वहा आनद अखड चेतना का साध्य है। अखंड चेतना का साध्य होने के कारण ही रस को अखंड माना गया है। आई० ए० रिचर्ड्स ने रूढ शब्दावली मे आनंद शब्द का त्याग करते हुए भी वृत्तियो के समन्वय (सिस्टमेटाइजेशन ऑफ इम्पल्सेज) को काव्य का अतिम मूल्य मान कर अंत मे चेतना के इसी तन्मयता-रूप आनंद को ही प्रकारातर से स्वीकार कर लिया है। इधर आचार्य शुक्ल की 'हृदय की मुक्तावस्था' शब्दावली की भी आनद से भिन्न स्थिति नही है; क्योकि यह अवस्था यदि अभावात्मक है तो अपूर्ण और खडानुभूति है और यदि भावात्मक है तो आनद के अतिरिक्त और कोई नाम इसे नही दिया जा सकता।

रस की कल्पना वस्तुत अत्यत व्यापक आधार पर की गयी है। आज की शब्दावली मे उसका पुनराख्यान कर आधुनिक काव्यालोचन के सभी मान उसकी परिधि मे आ जाते हैं। यूरोप के आधुनिक सौंदर्यवादियो की भाति वह जीवन से असंपृक्त नही है—वह तो जीवन के स्थायी भावों पर ही मूलत निर्भर है। नैतिक मूल्य भी अपने उदात्त रूप मे रस मे अतर्भूत है, क्योकि रस-सिद्धांत नीति-विरोधी नही है—नीति-विरोधी तत्त्वो को रसाभास रूप मे अभिशंसित कर वह जीवन के

स्वस्थ-नैतिक दृष्टिकोण का पोषण करता है। सत्त्व के उद्रेक को रस-परिपाक का अनिवार्य उपबध मानकर रस-सिद्धात ने उदात्त नैतिक मूल्यो का प्रबल समर्थन किया है। जीवन के नैतिक मूल्य ही बहिर्मुख होकर अपनी स्थूलता मे उपयोगितावादी मूल्य बन जाते हैं। काव्य का रस चित्त-वृत्तियो का परिष्करण और समजन करता हुआ अपनी चरम उपयोगिता सिद्ध करता है—वैसे भी, आनद से अधिक उपयोगी तत्त्व की कल्पना मानव-मन कदाचित् अभी नही कर सका। मानववाद के विकास के फल-स्वरूप पश्चिम के काव्यशास्त्र, और उसके प्रभाव से हमारे काव्यशास्त्र मे भी मानव-मूल्यो का समावेश हुआ। मानव-मूल्य निस्सदेह जीवन के चरम मूल्य है—मानवता से अधिक उपयुक्त मानव-जीवन का मानदड क्या हो सकता है! भारतीय रस-शास्त्र आज से सहस्र वर्ष पूर्व अपने साधारणीकरण सिद्धात मे इन्ही मानव-मूल्यो को स्वीकृति देकर अपनी सार्वभौमता एव सार्वकालिकता सिद्ध कर चुका है। अतएव मेरा विनम्र मत है—साहित्य का चरम मान रस ही है, जिसकी अखडता मे व्यष्टि और समष्टि, सौदर्य और उपयोगिता, शाश्वत और सापेक्षिक का अतर मिट जाता है; अन्य कथित मान या तो रस के एकागी व्याख्यान है या फिर असाहित्यिक मान हैं, जिनका आरोप साहित्य के लिए अहितकर है।

साहित्य का स्तर

वर्तमान हिंदी-साहित्य के परिप्रेक्ष्य मे इस प्रश्न पर दो पहलुओ से विचार किया जा सकता है . एक, आज हिंदी-साहित्य का स्तर क्या होना चाहिए ? दूसरे, हिंदी-साहित्य का स्तर आज कैसा है ?

पहला प्रश्न सैद्धातिक विवेचन से सबधित है और दूसरा व्यावहारिक समीक्षा का अग है। साहित्य का स्तर क्या होना चाहिए—इस प्रश्न के साथ ही प्रत्येक समृद्ध भाषा मे शास्त्रीय समीक्षा का जन्म हुआ है । सत्साहित्य का निर्माण पहले ही हो जाता है और उसके विश्लेषण के आधार पर फिर समीक्षक उन नियमो का निष्कर्षण करते हैं जिनके द्वारा सत्साहित्य का निर्माण सभव हुआ और आगे भी हो सकता है । इस प्रकार कालजयी साहित्यिक कृतिया, जो समय की कसौटी पर खरी सिद्ध हो जाती हैं, सत्साहित्य के नियमो का निर्धारण और उसके स्तर का निर्णय करती हैं। भारतीय वाड्मय मे शास्त्रीय समीक्षा का और पाश्चात्य वाड्मय मे आभिजात्यवादी समीक्षा का विकास इसी पद्धति से हुआ है। शास्त्रीय समीक्षा प्रत्येक काव्यरूप के आदर्श का विधान कालजयी कृतियो के आधार पर ही करती है : महाकाव्य के लक्षणो का निर्माण रघुवंश, किरातार्जुनीय आदि के, नाटकीय लक्षणो का विधान शाकुतल, उत्तररामचरित तथा मुद्राराक्षस आदि के, और मुक्तक के नियमो का निर्धारण अमरुक आदि के आधार पर ही किया गया है । पाश्चात्य काव्यशास्त्र के इतिहास में भी यही हुआ है—अरस्तू, होरेस आदि ने, और बाद मे उसके अनुकरण पर अनेक फ्रासीसी तथा अग्रेज आलोचको ने यूनानी तथा लातीनी भाषाओ के अमर नाटको एव काव्यो के आधार पर नाट्यनियमो और काव्यसिद्धातो का निर्माण किया है। उत्तर-मध्ययुग मे तो वहा 'अमर काव्यो का अनुकरण' मूल्याकन का मानदड ही बन गया था—और 'प्रकृति के अनुकरण' का अर्थ हो गया था 'अमर काव्यो का अनुकरण'। आगे चलकर इसका विरोध हुआ · स्वच्छंदतावादी काव्य-मूल्यो मे अनुकरण का निषेध किया गया और क्राति तथा मौलिक सृजन के प्रति आग्रह बढा। परंतु आभिजात्यवादी मूल्यो का पूर्ण निषेध कभी संभव नही हुआ और स्वच्छंदतावाद के चरम उत्कर्ष के उपरात भी मैथ्यू आर्नल्ड जैसे आलोचको ने अनुकरण का विरोध करते हुए सच्चे अर्थ मे 'अमर काव्यो के आदर्श' की पुन:प्रतिष्ठा की। आधुनिक युग मे भी आदर्श के प्रति यह निष्ठा नष्ट नही हुई; आचार्य शुक्ल और इधर समसामयिक लेखको मे डॉ० देवराज जैसे 'नये लेखक' (?) ने भी 'अभिजात काव्य' के आदर्श का अपने-

अपने ढंग से प्रतिपादन किया। इस आदर्श-निष्ठा का अर्थ यह है कि अमर साहित्य के आधार पर ही वर्तमान साहित्य के स्तर का नियमन करना चाहिए : नये प्रबंध-काव्य का स्तर वही होना चाहिए जो कालजयी महाकाव्यों का—प्राचीनो मे 'रामचरित-मानस' और नवीनो मे 'कामायनी', 'साकेत', 'प्रियप्रवास' आदि का है, प्रगीत का स्तर वही होना चाहिए जो सूर, मीरा या निराला, पत, महादेवी के प्रगीतो का है; उपन्यास का स्तर 'गोदान', 'त्यागपत्र', 'मृगनयनी', 'दिव्या' और 'शेखर' के समान होना चाहिए—आदि, आदि। इस स्थापना के दो अर्थ किये गए : एक तो यह कि अमर काव्यो का अनुकरण ही साहित्य के स्तर की रक्षा कर सकता है, और दूसरा यह कि अमर काव्यो के अनुकरण से नही वरन् उनमे सिद्ध कला-मूल्यो के प्रतिफलन से ही साहित्य के स्तर की रक्षा होती है। पाश्चात्य साहित्य और भारतीय साहित्य के रीतियुग मे, जब दृष्टि रूढिबद्ध हो गई थी, पहला अर्थ ग्रहण किया गया; किंतु जब दृष्टि मुक्त और विचार स्वस्थ रहे, तब दूसरा अर्थ ही मान्य हुआ. सत्तरहवी-अठारहवी शती के फ्रासीसी और अग्रेज आलोचको की दृष्टि बहिरग के अनुकरण तक ही गई, किंतु आर्नल्ड और शुक्ल जैसे आभिजात्यवादी आलोचक अतरग मूल्यो की सिद्धि पर बल देते रहे। वास्तव मे उपर्युक्त दोनो अर्थो मे विकल्प के लिए अवकाश नही है। यदि साहित्य के स्तर का सरक्षण करने के लिए 'अमर काव्य के आदर्श' का कुछ भी अर्थ है तो वह यही हो सकता है कि उसके द्वारा प्रतिष्ठित साहित्य-मूल्यो की साधना की जाये; अनुकरण न सभव है और न काम्य—उससे तो मौलिक साधना का मार्ग ही अवरुद्ध हो जायगा। उदाहरण के लिए, 'कामायनी' को लीजिये : महाकाव्य के परपरागत लक्षणो का निर्वाह वहा नही है, स्वदेश-विदेश के किसी भी कालजयी महाकाव्य के विधान का अनुसरण 'कामायनी' मे नही किया गया, किंतु महाकाव्य के अतरग मूल्यो की सिद्धि उसमे निश्चय ही की गई है, और मौलिक रीति से की गई है। अत वह अमर काव्य बन गया है और उसके साथ ही वर्तमान अथवा भावी महाकाव्य के मूल्याकन का निकष भी। कहने का अभिप्राय यह है कि साहित्य के स्तर की रक्षा के लिए अनुकरण का तो प्रश्न ही नही उठता, क्योकि जीवन की भाति साहित्य मे भी अनुकरण से आभिजात्य की नही, मिथ्या आभिजात्य की ही सृष्टि हो सकती है। साहित्य के स्तर की रक्षा का एक ही उपाय सभव है—साहित्यिक मूल्यो की साधना ! साहित्य का स्तर क्या होना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर, मेरी समझ मे, एक ही है—'साहित्यिक'। 'साहित्य का स्तर साहित्यिक होना चाहिए'—बात कुछ अटपटी-सी लगती है, और शास्त्रीय दृष्टि से भी यह एक प्रकार का उक्ति दोष है, परतु मेरी भी अपनी विवशता है कि मैं अपने मतव्य को अन्यथा व्यक्त नही कर सकता। इतना अवश्य कर सकता हू कि 'साहित्यिक' शब्द की व्याख्या मैं अपने विचार के अनुसार प्रस्तुत कर दू।

'साहित्यिक' विशेषण का प्रयोग मैं दो रूपो मे कर रहा हू : अभावात्मक और भावात्मक। अभावात्मक रूप मे साहित्यिक का अर्थ है अराजनीतिक—अर्थात् साहित्यिक स्तर की रक्षा के लिए पहली आवश्यकता यह है कि साहित्य मे राजनीतिक

मूल्यो का प्रवेश निषिद्ध रहना चाहिए। राजनीति से अभिप्राय है भेद-नीति, जो सांसारिक या भौतिक लाभालाभ पर आश्रित रहती है : इसमे सभी प्रकार की स्वत्व-भावना, साप्रदायिक भावना, व्यावसायिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण, वर्गगत या दलगत भावना और उग्र भेद-बुद्धि पर आधृत नैतिक एव दार्शनिक भावना आदि निहित हैं। अतः साहित्यिक स्तर का अर्थ है ऐसा स्तर जो उन सभी भेदक मूल्यो से ऊपर उठा हुआ हो, जिसमे किसी राजनीतिक या साप्रदायिक मतवाद का प्रचार हो, या आर्थिक लाभालाभ की भावना निहित हो, या किसी वर्ग अथवा दल के समर्थन की आकाक्षा विद्यमान हो, या किसी नैतिक अथवा सैद्धातिक पूर्वग्रह के प्रति राजनीतिक आकर्षण हो। भावात्मक रूप मे—साहित्य का प्राणतत्त्व है आत्माभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति स्वरूपत. पूर्ण ही हो सकती है · खडित अभिव्यक्ति वास्तव मे असफल अभिव्यक्ति का ही नाम है। अत. आत्माभिव्यक्ति का अर्थ है सर्जनालीन कलाकार के व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति—और सर्जना के क्षणो मे कलाकार का व्यक्तित्व समजित हो जाता है, यह कला एव सर्जना दोनो का अनिवार्य नियम है। सर्जना की प्रक्रिया खड-प्रक्रिया नही हो सकती—निर्माण खडशः हो सकता है, किंतु सृष्टि चेतना की अखड स्थिति मे ही हो सकती है और एक अखड इकाई के रूप मे ही हो सकती है। खडित चेतना दुःस्वप्नो मे बिखर सकती है किंतु सृष्टि नही कर सकती, और खडित सर्जना का अर्थ है भ्रूणपात। इसी प्रकार सौदर्य भी पूर्णधर्मा ही होता है—वह सामजस्य का ही वाचक है · अनेकता मे एकता की स्थापना ही कला है, वही सौदर्य है। अत सौदर्य की अभिव्यक्ति, जो साहित्य या कला का अपर नाम है, अनुभूति और अभिव्यक्ति की पूर्णता की ही वाचक है। भावात्मक रूप मे साहित्य अखंड अभिव्यक्ति या अखड अनुभूति की अखड अभिव्यक्ति का पर्याय है। इस लक्षण के अनुसार साहित्यिक स्तर की रक्षा के लिए दूसरी और मौलिक आवश्यकता है अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की पूर्णता—अर्थात् निश्छल आत्माभिव्यक्ति या आत्मसर्जना—जो प्रकृत्या पूर्ण एव अखड ही हो सकती है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि आज या कल हिंदी-साहित्य या किसी भी साहित्य के स्तर की रक्षा का एक ही उपाय है और वह यह कि आत्माभिव्यक्ति को ही प्रमाण माना जाय और उसे साहित्येतर मूल्यो के आरोपण से मुक्त रखा जाय।

यहा यह भ्रम हो सकता है कि मैं आज पचास वर्ष बाद फिर 'कला कला के लिए' का नारा बुलद कर रहा हूं। किंतु मेरा अर्थ यह नही है। जीवन और साहित्य के अतरग सबध से मैं इनकार नही करता—वास्तव मे उसमे मेरा पूर्ण विश्वास है। साहित्य को आत्माभिव्यक्ति मानने का अर्थ ही यह है कि वह जीवन की अभिव्यक्ति है . विज्ञान, दर्शन, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि द्वारा व्याख्यात जीवन की नही वरन् साहित्यकार के 'आत्म' द्वारा अनुभूत—दूसरे शब्दो मे आत्मसात्—जीवन की अभिव्यक्ति। उसमे सिद्धात की नही, अनुभूति की प्रधानता है। सिद्धात वहा तिरस्कृत या अप्रासगिक नही है जैसा कि कलावादियो के वृत्त मे माना जाता है। वह कलाकार के समग्र व्यक्तित्व मे ओतप्रोत रहता है, उसी के आधार पर कलाकार वर्तमान में

जीता है और भविष्य मे जीने का उपक्रम करता है। किंतु कला मे वह कलाकार की समजित चेतना या अनुभूति मे रमा हुआ है· उससे पृथक् नही रहता, नही रह सकता। कला के लिए समस्या तभी खडी होती है जब सिद्धात अनुभूति से अलग होकर उस पर आक्रमण करता है। और, यह समस्या कोई नई नही है· आरभ से ही यह अनुभूत सिद्धात कभी धर्म, कभी दर्शन, कभी नीतिशास्त्र, कभी राजनीति, कभी अर्थशास्त्र और कभी कोरे सौंदर्यशास्त्र की खाल ओढकर कला और साहित्य पर आक्रमण करता रहा है। साहित्य के स्तर की रक्षा का अर्थ है इसी सिद्धातवाद और उससे प्रेरित साहित्येतर मूल्यो से साहित्य की मूलभूत चेतना—मानवीय सवेदना की सर्जनात्मक शक्ति—की रक्षा करना, जो अपने सहज रूप मे शिव और सुदर है।

साहित्य की प्रेरणा

कविता-पाठ समाप्त करके ज्यो ही कवि ने अपना स्थान ग्रहण किया, रस-विमुग्ध सुदरी बोल उठी, "इन कविताओ की प्रेरणा तुमको कहा से मिलती है, कवि ?"

कवि ने सुदरी के आर्द्र-आयत नयनो की ओर एक बार दृष्टि उठाई, फिर चुप हो गया, कुछ देर प्रतीक्षा करने के बाद सुदरी ने प्रश्न को फिर से दुहराया ।

इस बार कवि सुंदरी के नेत्रो मे दृष्टि गडाये उनकी ओर तब तक देखता रहा जब तक कि उसकी आखें पूर्णत: वाष्प-धूमिल न हो गईं; लेकिन मुह से बोला कुछ भी नही ।

सुदरी का कौतूहल और उत्कठा अब और भी बढ गई । उसने तीसरी बार फिर उत्तर के लिए आग्रह किया । इस मधुर आग्रह को कवि अब और टाल न सका । बोला, "सुदरी, उत्तर तो तुम्हे मेरी इन आखो ने दे ही दिया । लेकिन शायद तुम उसे समझी नही । तो सुनो : अभी तुमने देखा कि तुम्हारी आखो को देखने-देखते मेरे मन के गहन स्तरो मे सोई हुई वासना-रूप पीडा एक साथ द्रवित होकर आखो मे आ गई—मेरी कविता के स्फुरण की ठीक यही कहानी है । सौदर्य के उद्दीपन से जब जीवन के सचित अभाव अभिव्यक्ति के लिए फूट पडते हैं, तभी तो कविता का जन्म होता है । कविता के उद्रेक के लिए सौदर्य का उद्दीपन अर्थात् आनद और अभाव की पीडा दोनो का संयोग अनिवार्य है—अभाव की पीडा मे जब मुझे माधुर्य की अनुभूति होने लगती है, तभी मेरे मानस से कविता की उद्भूति होती है—केवल आनद या केवल पीडा कविता की सृष्टि नही कर सकती । मैं बस इतना ही जानता हू, इससे अधिक जानने की इच्छा हो तो (सामने बैठे श्वेतजटाश्मश्रु आचार्य की ओर सकेत करते हुए कहा) गुरुदेव की शरण लो ।"

सुंदरी की जिज्ञासा अभी पूर्णत. शात नही हो पाई थी, निदान उसने आचार्य की ओर जिज्ञासु दृष्टि से देखा ।

आचार्य ने ईषत् हास्य के साथ कहना शुरू किया : "कवि ने स्वयं अपनी प्रेरणा की जितनी सुदर व्याख्या की है उतनी मेरी शक्ति से बाहर है, परतु मैं समझता हू कि शायद कवि की कविता के बाद तुम्हे आचार्य के गद्य की भी आवश्यकता है । अच्छा सुनो, हमारे शास्त्र मे काव्य की प्रेरणा का सीधा आख्यान नही मिलता । यह तो नही माना जा सकता कि भारतीय साहित्यकार उससे सर्वथा अपरिचित था । उदाहरण के लिए कविता के प्रथम स्फुरण से संबद्ध यह जनश्रुति ही इसका अकाट्य

प्रमाण है . 'यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।' इसमे काम-मोहित अवस्था मे क्रौंच के वध से उत्पन्न करुणा की प्रेरणा स्वीकार की गई है—साधारण वध से उत्पन्न करुणा की नही—अर्थात् इस करुणा मे काम का अंत.सूत्र है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारा साहित्यकार यह जानता था कि करुणा और काम अर्थात् अभाव और आनद के सयोग से काव्य का जन्म होता है। परतु फिर भी वैज्ञानिक रूप से भारतीय साहित्य-शास्त्र मे केवल काव्य-प्रयोजन और काव्य-हेतु की ही चर्चा है। इन दोनो के विवेचन मे से ही हमे प्रेरणा-विषयक सकेत ढूढने होगे।

काव्य के प्रमुख प्रयोजन दो हैं . श्रोता या पाठक के लिए प्रीति और कवि के लिए कीर्ति—

प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ।

प्रीति का अर्थ है आनद, जीवन मे रस, और श्रोता के लिए यही मुख्य है।

कवि के लिए यश और अर्थ, और इसके साथ ही शिवेतर का क्षय भी काव्य-प्रेरणा का कार्य करता है। इनमे शिवेतर का क्षय तो आज के बेचारे कवि के लिए सभव नही है। यह सुन कर कि 'गगा-लहरी' की रचना से सस्कृत के पडितराज जगन्नाथ और हिंदी के पद्माकर का कोढ ठीक हो गया था, हमारे एक मित्र ने काफी मनोयोग से अपनी प्रेमिका को पाने के लिए काव्य-रचना की, परतु आखिर उन्हे अदालत की कार्यवाही काव्य-रचना की अपेक्षा अधिक सार्थक जान पडी। अर्थ और यश मे प्रेरित होकर आज भी लोग लिखते ही है, परतु ये दोनो तो बडे उथले साधन हैं। किसी कवि को लिखने की साधारण प्रेरणा तो ये दे भी सकते हैं, परंतु रस-सृष्टि करने की प्रेरणा इनमे कहा ? यह ठीक है कि बिहारी-जैसे कवियो को एक दोहे के लिए एक मुद्रा का वचन मिला हो, परतु मुद्रा की प्रेरणा केवल दोहे की रचना-मात्र के लिए ही उसको उत्साहित कर सकी होगी। यही यश के लिए भी कहा जा सकता है। यह तो स्पष्ट ही है कि यश की प्रेरणा अर्थ की प्रेरणा की अपेक्षा सूक्ष्म और आतरिक है, परंतु फिर भी यश की लालसा और रस-सृजन की प्रवृत्ति दोनो का तादात्म्य कर देना सर्वथा असंगत होगा। काव्य-प्रयोजन के उपरात काव्य-हेतु मे प्रेरणा की व्याख्या खोजने से भी कोई विशेप लाभ नही होता। काव्य के जो तीन हेतु सर्वमान्य हैं—शक्ति, निपुणता और अभ्यास—इनके व्याख्यान मे भी सस्कृत के आचार्यों ने प्रेरणा का विवेचन लगभग नही के बराबर ही किया है। शक्ति के भिन्न-भिन्न नाम हैं। भामह और भट्ट-तोत आदि इसे प्रतिभा कहते हैं, अभिनवगुप्त प्रज्ञा। इन तीनो मे भी प्रतिभा मुख्य है। प्रतिभा को नवनवोन्मेपशालिनी और अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा कहा गया है। और स्पष्ट शब्दो मे, प्रतिभा मन का वह जन्मातर्गत संस्कार-विशेष है, जिसके द्वारा कवि अपने वर्ण्य विपय मे अलौकिक सौदर्य का दर्शन कर सशक्त शब्दो मे उसकी अभिव्यक्ति करने मे समर्थ होता है। निपुणता या व्युत्पत्ति प्राप्त करने के लिए कवि का अनुभव और ज्ञान विस्तृत होना चाहिए—उसके लिए दर्शन, कला, नीति, कामशास्त्र, इतिहास, राज-नीति आदि की अपेक्षा होती है। अभ्यास से तात्पर्य है रचना-अभ्यास का—अलकार, छंद, साहित्यशास्त्र के अनुशीलन और प्रयोग का। शास्त्रीय विवेचन से परिणाम

वास्तव मे यह निकलता है कि हमारे आचार्यों के अनुसार कवि एक व्युत्पन्न प्रतिभा-वान् व्यक्ति है और उसका कर्म है जीवन के क्षेत्र में से रागात्मक तत्त्वो को संचित कर उनको इस प्रकार संघटित करना कि सघटित होते ही उनमे आप-से-आप रस का सचार हो जाए, जिस प्रकार भूतवादियो के मतानुसार जीव-सृष्टि मे होता है। यह कवि-कर्म के बाह्य रूप की व्याख्या है, क्रिया मे संलग्न कवि के मानस का विश्लेषण नही है।

सस्कृत-शास्त्र के तत्त्ववेत्ता ने जितना परिश्रम रसग्राही पाठक की मन स्थिति का विश्लेपण करने मे किया है, उसका एक सूक्माश भी रससर्जक के मनोविश्लेषण पर खर्च नही किया। उसने यह तो बडी सफाई से ढूढ निकाला कि दुष्यंत और शकुतला की रति का अभिनय या मानसिक चित्र देखकर सहृदय के मन मे स्थित वासना-रूप रति उद्‌बुद्ध होकर रस मे परिणत हो जाती है, परतु इसके आगे एक दूसरे महत्त्वपूर्ण तथ्य का विश्लेषण उसने विशेष रूप से नही किया कि दुष्यंत और शकुतला की रति का इतना सशक्त और तीव्र चित्रण, जो सहृदय की वासना को उद्‌बुद्ध कर रस रूप मे परिणत कर सके, कवि के लिए किस प्रकार संभव होता है। यहां उसको काव्य-प्रेरणा का मौलिक विवेचन करने की आवश्यकता पडती, और वह निश्चय ही कवि के व्यक्तित्व मे उसे ढूढ निकालता। उसके लिए इस परिणाम पर पहुच जाना कठिन नही था कि ऐसा करने के लिए कवि को भी उसी मानसिक स्थिति मे मे गुजरना आवश्यक है—और वास्तव मे भट्टतोत ने तो कहा ही था कि 'नायकस्य कवे श्रोतु. समानोऽनुभवस्ततः ; परतु विधान-रूप मे स्वीकृत नही किया गया। बस, यही वह चूक गया और स्थूलत प्रतिभा-निपुणता आदि मे इस प्रश्न का अकाट्य समाधान पाकर अपने विवेचन को अधूरा छोड गया। और इसका एक बहुत बडा कारण था—वह यह कि भारतीय परपरा अखंड रूप से काव्य के केवल निर्वैयक्तिक रूप को ही मानती रही—यदि ऐसा न होता तो भट्टनायक या अभिनव-जैसे अतलदर्शी तत्त्वज्ञो के लिए यह समस्या विशेष जटिल नही थी।

पश्चिम मे काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान दोनो मे साहित्य की प्रेरक प्रवृत्ति-विषयक चर्चा मिलती है। पहले साहित्यशास्त्र के पडितो के सिद्धातों को लीजिए। वहा के आदि-आचार्य अरस्तू ने अनुकरण की प्रवृत्ति को काव्य की मूल प्रेरणा कहा है। उनका कथन है कि जो प्रवृत्ति बालक को अपने माता-पिता आदि की भाषा, व्यव-हार आदि का अनुकरण करने के लिए प्रेरित करती है, वही प्रवृत्ति मानव को साहित्य-रचना की भी प्रेरणा देती है। यह बहुत ही आरभिक विचार था और आज इसको वाच्यार्थ मे प्रायः कोई नही स्वीकार करता। साहित्य या कला अनुकरण-मात्र नही है, आनंदपूर्ण सृजन है। अरस्तू ने भी अंत मे प्रकारातर से यही कह दिया है।

दूसरा सिद्धात मानव के जन्मजात सौंदर्य-प्रेम को, उसकी आत्म-प्रदर्शन और अनुकरण-प्रवृत्ति को साहित्य की मूल प्रेरणा मानता है। मानव-आत्मा ज्ञान के चिर सौंदर्य से उद्‌भासित है, उसी को वह विभिन्न रूप मे व्यक्त करती रहती है, जिनमे सबसे प्रत्यक्ष और सहज रूप है साहित्य और कला। सौंदर्यानुभूति के क्षणो मे हमारी

आत्मा मे आनंद का जो स्रोत आविर्भूत होता है, उसी का उच्छलन कविता है। काव्य-प्रेरणा का यह रहस्यात्मक सिद्धात पूर्व और पश्चिम मे अत्यंत लोकप्रिय और मान्य रहा है। विदेश मे काट का नाम इसके साथ संबद्ध है।

तीसरा प्रमुख सिद्धात है क्रोचे का अभिव्यजनावाद, जिसके अनुसार काव्य शुद्ध सहजानुभूति है। ससार मे आकर मानव अपने से बाहर जगत की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए अर्थात् जगत् के ससर्ग से मन मे उत्पन्न होने वाली अरूप झकृतियो को रूप देने के लिए जितने प्रयत्न करता है, काव्य या कला उनमे सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है। उसके द्वारा ही मानव-आत्मा को अनात्म की भव्यतम सहजानुभूति होती है। स्पष्ट शब्दो मे इसका अर्थ यह है कि मानव-मन मे जगत् के नाना पदार्थों के प्रतिक्रिया-रूप अनेक छायाचित्र घूमते रहते है, अनुभूति के कुछ विशेष क्षणो मे उनको अभिव्यक्त करना उसके स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य हो जाता है। अभिव्यक्ति की यही अनिवार्यता काव्य या कला की जननी है, साहित्य को सृजन की आवश्यकता मानने वाला सिद्धात इसी मूल सिद्धात की एक शाखा-मात्र है।

काव्यशास्त्रियो के ये सिद्धात बहुत-कुछ सगत और सूक्ष्मान्वेषी होते हुए भी आत्यतिक नही हैं। वे एकदम मूल तक नही पहुच पाते। यो कहिए कि वे सभी मूल से एक सस्थान आगे से चलते हैं। धुर मूल तक पहुचने के लिए हमे मनोवैज्ञानिको की शरण लेनी होगी।

सबसे प्रथम सिद्धात फ्रॉयड का है। वह कला या साहित्य को अभुक्त काम की प्रेरणा मानता है। उसके अनुसार काव्य और स्वप्न का एक ही मूल है हमारा अतर्मन, हमारी अतृप्त काम-वासना, जो स्वप्न के छाया-चित्रो का सृजन करती है, वही काव्य के भी भाव-चित्रो की जननी है। सिद्धात इस प्रकार है कि हमारी वासना को यदि प्रत्यक्ष जीवन मे तृप्ति नही मिलती, तो वह अतर्मन मे जाकर पड जाती है और फिर ऐसी अवस्था मे जब कि हमारा चेतन मन जागरूक नही होता, वह अपने को परितृप्त करने का प्रयत्न करती है। यह अवस्था या तो स्वप्न की अचेतनावस्था है या काव्य-सृजन की अर्घ-चेतनावस्था—तन्मयता की अवस्था है।

काम के दमन मे स्वभाव मे जो ग्रथियां पड जाती है, उनमे सबसे मुख्य है मातृ-रति की ग्रथि, जो न केवल स्वप्न और काव्य के अनेक स्थायी प्रतीको की वरन् जीवन की अनेक प्रवृत्तियो की भी जननी है। ऑटोरैंक का कथन है कि संसार के साहित्य मे जो मूल कथाए हैं उनका आधार-सबध इसी ग्रथि के विभिन्न रूपो मे है। पूर्व और पश्चिम के पुराणो मे तो स्थान-स्थान पर इसकी स्पष्ट स्वीकृति ही है, जैसे—ब्रह्मा और उसकी कन्या की कहानी मे। प्रसिद्ध कलाकार लियोनार्दो द विंची का मनो-विश्लेषण करने मे फ्रॉयड ने उसके शैशव की ऐसी ही एक फेंटैसी को अधिक महत्त्व दिया है। विंची ने अपने बचपन की एक विचित्र काल्पनिक धारणा का उल्लेख किया है। उसके मन मे कुछ ऐसी धारणा बध गई थी कि एक बार जब वह पालने मे लेटा हुआ था कि एक गृद्ध आकर उसके पास बैठ गया और अपनी पूछ को बार-बार उसके मुह मे डालने-निकालने लगा। इस कल्पना के आधार पर—अपने प्रतीक-सिद्धात के

द्वारा फ्रॉयड ने निष्कर्ष निकाला कि उसकी वासना समकामिकता मे अभिव्यक्त हुई थी और उसका प्रेम प्रेरक नही था, प्रेरित था। इस प्रवृत्ति का मूल कारण यह था कि पिता के अभाव मे उसकी मातृ-रति अत्यंत जागृत हो गई थी जो उसे किसी भी स्त्री की ओर आकर्षित न होने देती थी। 'मोना लीसा' के चित्र मे वह इसी मातृ-रति की अभिव्यक्ति देखता है।

फ्रॉयड का सिद्धात उसके जीवन-दर्शन से संबंध रखता है—वह तो काम को जीवन की ही मूल प्रेरणा मानता है। काम का अस्वस्थ दमन जीवन की विनाशात्मक क्रियाओ मे और उसका स्वस्थ सस्कार जीवन की रचनात्मक सस्थाओ मे अभिव्यक्त हो रहा है। मानव के सौदर्य-प्रेम का उसकी काम-वृत्ति से, और हमारी सौदर्य-भावना का हमारी प्रीति से, सहज सबध है।

स्वस्थ रूप मे, काम का उपभोग न कर जब उसको चितन मे परिवर्तित कर दिया जाता है तो साहित्य की सृष्टि होती है; और अस्वस्थ रूप मे, जैसा मैंने अभी कहा, काम अमुक्त रहकर साहित्य के मूलवर्ती स्वप्न-चित्रो की सृष्टि करता है। साहित्यशास्त्र का सौदर्य-प्रेम को काव्य की मूल-प्रेरणा स्वीकार करने वाला दूसरा सिद्धांत बहुत-कुछ इसी सिद्धात के अंतर्गत आ जाता है।

फ्रॉयड का समसामयिक और शिष्य ऐडलर, जो मानव की चिरतन हीनता की भावना को ही जीवन की मूल प्रेरणा मानता है, साहित्य के मूल कीटाणु क्षतिपूर्ति की कामना में खोजता है। उसके अनुसार समस्त साहित्य हमारे जीवनगत अभावों की पूर्ति है जो हमे जीवन मे अप्राप्त है उसी को हम कल्पना मे खोजते हैं। जीवन की क्षणिकता, जीवन के अशिव और उसकी कुरूपताओ से हार मानकर ही तो आर्ष कवि ने सत्य, शिव और सुदर की कल्पना की थी। वास्तव मे हमारा आदर्श हमारी हीनता का ही तो प्रतिक्रिया रूप है। जीवन मे त्रिविध दुख की अनिवार्यता ही ब्रह्मानंद-कल्पना की जननी है। सामयिक जीवन मे गो-ब्राह्मण का हनन करने वाले मुसलमानो के विरुद्ध विवश होकर ही तुलसी ने गो-ब्राह्मण प्रतिपालक, दुष्टदलन राम की कल्पना की थी। प्रत्यक्ष जीवन मे सौदर्य-उपभोग से वचित रहकर ही तो छायावादी कवि ने अतीद्रिय सौदर्य के चित्र आके। पलायन का चिर-परिचित सिद्धात इसी का एक प्रस्फुटन है।

उपर्युक्त दोनो सिद्धातों को आशिक सत्य मानते हुए एक तीसरे मनोविज्ञानी युग ने जीवनेच्छा को ही जीवन की मूल प्रेरणा माना है। उसके अनुसार मानव के सपूर्ण प्रयत्न अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए ही होते है। पुत्र, वित्त और लोक की एषणाए जीवनेच्छा की ही शाखाए है। साहित्य भी इसी उद्देश्य-पूर्ति के निमित्त किया हुआ एक प्रयत्न है। जीवन अथवा अपने अस्तित्व—जीवन की गति—को अक्षुण्ण रखने के लिए यह जरूरी है कि हम अपने को अभिव्यक्त करते रहे। वैसे तो हमारी सभी क्रियाए हमारी प्राण-चेतना की अभिव्यक्तियां हैं, परतु साहित्य उसकी एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है, अन्य क्रियाओ की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और आंतरिक। इस प्रकार साहित्यशास्त्र का अभिव्यजनावादी सिद्धांत युग के सिद्धात मे ही अंतर्भूत

हो जाता है ।"

इतना कहकर आचार्य मौन हो गए ।

"पौरस्त्य और पाश्चात्य काव्य-सिद्धातो का विवेचन सुनकर मैं धन्य हो गई, महाराज !" सुदरी ने अपनी सहज कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा ।

"परतु तुम्हारी आखो के प्रश्नवाचक सकेत तो अब भी कह रहे है कि जिज्ञासा अशेप नही हुई और तुम अभी मेरा अपना मतव्य सुनना चाहती हो ।"

"गुरुदेव ने मेरा आशय ठीक ही समझा है ।" सुदरी ने उत्तर दिया ।

"अच्छा, मेरा अपना मतव्य सुनो । यह तो मैं तुमसे पहले ही कह दू कि मेरा मतव्य कोई सर्वथा स्वतत्र मतव्य नही है—उपर्युक्त सिद्धातो से पृथक् उसका अस्तित्व नही है और न हो ही सकता है । मैं जीवन को अह का जगत् से या आत्म का अनात्म से सघर्ष मानता हू । इस सघर्ष की सफलता जीवन का सुख है और विफलता दु ख । साहित्य इसी सघर्ष के मानस-रूप की अभिव्यक्ति है । मानस-रूप की अभिव्यक्ति होने के कारण उसमे दु ख का अभाव होता है, क्योकि सघर्ष की घोरतम विफलता भी मानस-रूप धारण करते-करते अपना दशन खो देती है । मैंने भी कविता लिखी है—मैं जब स्वय अतर्मुख होकर अपने से पूछता हू कि मैं क्यो लिखता हू, तो तो इसका उत्तर यही पाता हू कि अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करना मेरे जीवन के लिए अनिवार्य है; और मेरा यह व्यक्तित्व मेरे राग-द्वेषो का, जिनमे से अधिकाश काम-चेतना के प्रोद्भास हैं, सश्लिष्ट समूह है । मेरे इन राग-द्वेषो मे भी उन्ही को अभिव्यक्त करने की उत्कट आवश्यकता होती है, जिनका सबध अभाव से है । क्योकि अभाव मे पुकारने की प्रेरणा होती है, पूर्ति मे शात रहने की । इसका तात्पर्य यह है कि मैं कविता या कला के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा मानता हूं; और चूकि आत्म के निर्माण मे काम-वृत्ति का और उसकी अतृप्तियो का योग है, इसलिए इस प्रेरणा मे उनका विशेष महत्त्व मानना भी अनिवार्य समझता हू ।"

"तो इसका अर्थ यह हुआ गुरुदेव, कि प्रत्येक व्यक्ति साहित्य की रचना करता है ?"

" 'हा' भी और 'नही' भी । 'हा' इसलिए कि अपने जीवन के विशिष्ट क्षणो मे प्रत्येक व्यक्ति अवश्य साहित्य की सृष्टि करता है, चाहे वह कोई स्थिर आकार धारण करके हमारे सामने न आए, और 'नही' इसलिए कि रूढ अर्थ मे जिसे साहित्य कहते है वह साधारण व्यक्तित्व की साधारण अभिव्यक्ति नही है, विशेष व्यक्तित्व की विशिष्ट अभिव्यक्ति ही है । विशिष्ट व्यक्तित्व का अर्थ उस व्यक्ति से है जिसके राग-द्वेष असाधारण रूप से इतने तीव्र हो कि उसके आत्म और अनात्म के बीच होने वाला सघर्ष असाधारणत प्रखर हो । ऐसा ही व्यक्ति प्रतिभावान् कहलाता है—जिस व्यक्ति के अह और वातावरण मे या प्रवृत्ति और कर्त्तव्य मे अथवा फ्रॉयड की शब्दावली मे अंतश्चेतन और अधि-चेतन के बीच जितना ही उत्कट सघर्ष होगा, उसकी प्रतिभा भी उतनी ही प्रखर होगी और उतनी ही प्रखर उसकी सृजन की प्रेरणा भी ।

इस प्रकार संक्षेप मे मेरे निष्कर्ष ये है :

१. काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की ही प्रेरणा है।

२. यह प्रेरणा व्यक्ति के अंतरंग—अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म और अनात्म के सघर्ष से उद्भूत होती है। कही बाहर से जान-बूझकर प्राप्त नही की जा सकती।

३. हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियो से होता है, उनमे काम-वृत्ति का प्राधान्य है, अतएव हमारे व्यक्तित्व मे होने वाला आत्म और अनात्म का सघर्ष मुख्यतः काममय है, और चूकि ललित साहित्य मूलतः रचनात्मक होता है, अतः उसकी प्रेरणा मे काम-वृत्ति की प्रमुखता असदिग्ध है।"

साहित्य में कल्पना का उपयोग

कल्पना शब्द क्लृप् धातु मे वना है, जिमका अर्थ है (करने की) सामर्थ्य रखना : सृजन करना—'यथापूर्वमकल्पयत' ।

विदेश के साहित्यशास्त्र मे कल्पना का वडा गौरव है । काव्य के चार प्रमुख तत्त्वो मे सभी ने उसका स्थान सर्वप्रमुख माना है । संस्कृत के रसशास्त्र मे कल्पना का पृथक् रूप से विवेचन नही मिलता, यद्यपि उसकी सत्ता सर्वत्र स्वीकार की गई है ।

भारतीय दर्शन के अनुसार अत करण के चार अग हैं—मन, बुद्धि, चित्त तथा अहकार । यद्यपि इन चारो की परिधिया मिली-जुली हैं, फिर भी इनके धर्मों का स्पष्ट पार्थक्य भी निर्दिष्ट है । मन को न्याय मे संकल्प-विकल्पात्मक कहा है—'सकल्पविकल्पात्मकं मनः' । सव प्रकार के सकल्प-विकल्पो का माध्यम हमारा मन ही है । सकल्प और विकल्प, ये शब्द कल्पना के सगोत्रीय अवश्य है यद्यपि इनका सीधा सवंध उसमे नही है । सकल्प का तात्पर्य अनुभूत वस्तु से सवद्ध पहली मानसिक धारणाओ मे है—विकल्प उनकी अनुयोगी अथवा प्रतियोगी धारणाए हैं । प्रत्यक्ष इद्रिय-ज्ञान (परिज्ञान) मे जो हमारे अंत करण पर प्रभाव-प्रतिविव पडते है, उनका मन ही समीकरण करके उन्हें बुद्धि के समक्ष उपस्थित करता है । "यही मन वकील के सदृश कोई वात ऐसी है (सकल्प) अथवा इसके विरुद्ध वैसी ही है (विकल्प) इत्यादि कल्पनाओ को बुद्धि के सामने निर्णय देने के लिए पेश करता है । इसीलिए इमे 'मकल्प-विकल्पात्मक' अर्थात् विना निश्चय किए कल्पना करने वाली इद्रिय कहा गया है ।"—ऐसा 'गीता-रहस्य' मे आता है, और यही पश्चिमी दार्शनिको के मत से कल्पना का भी सवसे साधारण और पहला धर्म है ।

इस प्रकार मन ही कल्पना का आधार सिद्ध होता है । इसी विवेचन को कुछ और स्पष्ट करते हुए रायवहादुर वाबू श्यामसुदरदास लिखते हैं "दार्शनिको ने सव प्रकार के ज्ञान की पाच अवस्थाए मानी हैं परिज्ञान, स्मरण, कल्पना, विचार और सहज ज्ञान । सवसे पहले हमे वाह्य पदार्थों का ज्ञान अपनी ज्ञानेंद्रियो द्वारा होता है । जव हम किसी मनुष्य के सामने जाते हैं, तव हमारे नेत्रो के द्वारा उसका प्रतिविव हमारे मन पर पडता है···इस प्रकार के ज्ञान को 'परिज्ञान' कहते हैं । यदि हमने उस मनुष्य को ध्यान से देखा है तो, पीछे से आवश्यकता पडने पर 'स्मरण' शक्ति की सहायता से उस मनुष्य के रूपादि का कुछ ध्यान कर सकते हैं·· मान लीजिए कि उक्त मनुष्य एक अगरेज है । हमने एक सन्यासी को भी देखा है और हमे उस सन्यासी

के रूप, आकार तथा उसके वस्त्रो के रंग का स्मरण है। अब हम चाहे तो अपने मन मे उस अँगरेज का सूट-बूट छीनकर उसे संन्यासी का गेरुआ वस्त्र पहना सकते हैं और तब हमारी मानसिक दृष्टि के सामने एक अँगरेज संन्यासी का चित्र उपस्थित हो जाता है···मन की एक विशेष क्रिया से स्मरण-शक्ति द्वारा संचित अनुभवो को विभक्त करके और फिर उनके पृथक्-पृथक् भागो को इच्छानुसार जोडकर हमने मन मे एक ऐसे नवीन व्यक्ति की रचना कर ली, जिसका अस्तित्व बाह्य जगत् मे नही है। मन की इस क्रिया को कल्पना कहते हैं।" एक प्रकार से, अचेतन दशा मे जो स्वप्नावस्था है, वही चेतन दशा मे कल्पनावस्था समझनी चाहिए।

यह तो रहा कल्पना का तत्त्व-दृष्टि से विवेचन। रस-दृष्टि से विवेचन करते समय हमारा रसशास्त्र कुछ अधिक सहायता नही देता। यह बात नही कि वह कल्पना का अस्तित्व ही स्वीकार नही करता। वास्तव मे उसकी सत्ता के बिना तो कोई काव्यशास्त्र एक पग आगे नही बढ सकता। अतर केवल इतना ही है कि विदेश मे उसे काव्य का एक अनिवार्य तत्त्व माना है, और यहा अनिवार्य उपकरण। काव्य के अंग-प्रत्यग मे कल्पना ओत-प्रोत है—उसके बिना काव्य का अस्तित्व ही सभव नही—इसी कारण कदाचित् उसका पृथक् निर्देश अनावश्यक समझा गया हो। सस्कृत अलकारशास्त्र का 'स्वभावोक्ति' और 'वक्रोक्ति'-विषयक वाद-विवाद मेरे कथन की पुष्टि करेगा। चित्त को चमत्कृत करने की जिस शक्ति का उल्लेख हमारे यहा स्थान-स्थान पर मिलता है, यह और कुछ नही, शब्द-भेद से काव्य का वही गुण है, जिसे अँगरेज आलोचक एडीसन ने कल्पना का प्रसादन कहा है। इसके अतिरिक्त सस्कृत-साहित्य की आत्मा 'ध्वनि' का आधार कल्पना के सिवाय और क्या हो सकता है? व्यजना शत-प्रतिशत कल्पना के आश्रित है। 'सूर्यास्त हो गया।'—व्यजना का यह उदाहरण रसशास्त्रियो मे बहुत प्रसिद्ध है। इसको सुनते ही प्रत्येक श्रोता अपने अनुकूल अर्थ निकाल लेगा : ग्वाला घर लौटने का, विद्यार्थी संध्यावदन करने का, अभिसारिका सकेत-स्थल की ओर प्रस्थान करने का · इत्यादि। मन की जिस शक्ति द्वारा यह अर्थ-ग्रहण संभव है, वही वास्तव मे कल्पना है। इसी प्रकार गुणीभूतव्यग्य-काव्य मे भी कल्पना का आधार निश्चित है।

कल्पना को साधारणत· प्रत्यक्ष अनुभव का विरोधी गुण समझा जाता है—और एक निर्दिष्ट सीमा तक, स्थूल रूप मे यह सत्य भी है। कल्पित और सत्य मे—घटित के अर्थ मे— इसी दृष्टि से पार्थक्य भी किया जाता है। उदाहरण के लिए 'नाट्यशास्त्र' कहता है कि नाटक की कथावस्तु ऐतिहासिक, सत्य अथवा घटित, और प्रकरण की कल्पित, काल्पनिक होनी चाहिए। कपोल-कल्पित आदि शब्दो का प्रयोग भी इसी अर्थ से सबध रखता है। परतु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कल्पना प्रत्यक्ष के सर्वथा अनाश्रित नही हो सकती। हम प्रायः उस वस्तु की कल्पना कर ही नही सकते जिसके समस्त स्वरूप का अथवा पृथक् अवयवो का हमने प्रत्यक्षीकरण न किया हो। इसीलिए तो कल्पना की तुलना उस पक्षी से की गई है जो सुदूर आकाश मे उडता हुआ भी पृथ्वी पर दृष्टि बाधे रहता है।

कल्पना के स्वरूप की थोडी-बहुत व्याख्या करने के उपरात, अब उसके काव्यगत विभिन्न प्रयोगो का विवेचन करना सगत होगा। अँगरेजी आलोचक कॉलरिज और रिचर्ड्स ने इन रूपो का बडा स्वच्छ विवेचन किया है।

सबसे पहले तो उसका प्रयोग मन पर पड़े हुए प्रत्यक्ष पदार्थ-चित्रो से सबध रखता है। प्रत्यक्ष जगत् मे हम जो-कुछ देखते या सुनते हैं उसके विषय मे हमारे मन मे अनेक भाव-तरंगें अनायास ही उठने लगती है—मन इनको समवेत करके चित्रो के रूप मे परिणत कर देता है। यह मन की वही प्राथमिक क्रिया है जिसका विवेचन तिलक महाराज ने अपने 'गीता-रहस्य' मे किया है। काव्य की दृष्टि से इसका अधिक मूल्य नही, यद्यपि स्थूल वस्तु-दर्शन मे इसी का प्रयोग होता है। इस युग की टेकनीक मे, सभव है, इसका मूल्य बढ जाए, परतु साधारणत मन इतने से ही सतुष्ट नही होता। वह उस चित्र को अपने अनुरूप गढना चाहता है और इस प्रकार उसमे अपनी रुचि के अनुसार काट-छाट करता रहता है। इसी को विक्टर कजिन ने 'अनजाने मे प्रकृति की आलोचना' कहा है। पश्चिमी साहित्यशास्त्र मे मन का यह कार्य आदर्शीकरण के नाम से प्रसिद्ध है। यह आप-ही-आप बिना किसी प्रयत्न के होता रहता है और काव्य मे तो प्रयत्नपूर्वक भी इसका बचाव नही हो सकता। हा, भाव-प्रधान रचनाओ मे इसका उपयोग मुख्य और वस्तु-प्रधान कृतियो मे अपेक्षाकृत गौण होता है। आगे चलकर भावना-विशेष पर केंद्रित होकर कल्पना का यही प्रयोग प्रतीको का सृजन करने मे समर्थ होता है।

कल्पना का दूसरा प्रयोग अलकारो—अप्रस्तुतविधान—मे किया जाता है। साम्य और वैषम्यमूलक जितने अलकार हैं उनका प्रधान साधन कल्पना ही है। वस्तु और भाव के उत्कर्ष को बढाने के लिए कल्पना का योग अनिवार्य है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि साम्यमूलक अलकारो मे साम्य की स्थापना और विरोध, विषम, विभावना आदि वैषम्यमूलक प्रयोगो मे वैषम्य की धारणा कल्पना के आश्रय से की जाती है। अतिशयोक्ति मे भी यही बात है। साम्य मे समानधर्मा वस्तुओ का, वैषम्य मे विपरीत-धर्मा वस्तुओ का, और अतिशयोक्ति मे दूरस्थित वस्तुओ का समीकरण किया जाता है।

> दृढ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रति लट से खुल
> फैला पृष्ठ पर, बाहुओ पर वक्ष पर विपुल।
> उतरा ज्यो दुर्गम पर्वत पर नैशाधकार,
> चमकती दूर ताराएँ हो ज्यो कही पार।

अनुपात का ध्यान न होने से यही समीकरण विचित्र तमाशे खड़े कर देता है। सस्कृत-हिंदी रीति-साहित्य मे इस प्रकार के उदाहरण भरे पडे हैं। फारसी और उर्दू मे भी इसी तरह तखैयुल के साथ भरपूर खिलवाड हुई है। पत की 'स्याही की बूद' कविता पेश की जा सकती है—

> गोल तारा-सा नभ से कूद !

यहां 'बूद' मे और 'तारे' मे साम्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है—परतु अनुपात को सर्वथा भुलाकर !

कल्पना का तीसरा प्रयोग संकुचित अर्थ मे किया जाता है। किसी सीधे-सादे व्यक्ति को यह कहते हुए सुनकर कि मैं तो अमुक चित्र अथवा मूर्ति अथवा कविता मे कोई विशेषता नही देखता, हम प्राय' कह उठते है कि तुम्हारी कल्पना तो निर्धन है। यहा कल्पना से तात्पर्य कलाकार की मानसिक अवस्था का अनुभव करने की क्षमता का है। शब्द-शक्ति लक्षणा का सबध कल्पना के इसी अर्थ से है। यदि कलाकार अपनी मनोदशा को प्रेषणीय नही बना सकता तो कलाकार मे कल्पना की कमी है, और अगर पाठक, श्रोता अथवा दर्शक उस मनोदशा को ग्रहण करने मे मंथर है तो यह उसकी कल्पना की हीनता कही जाएगी। यही कारण है कि भाषा के लाक्षणिक प्रयोगो को कल्पनाहीन पाठक सरलता से नही समझ सकता।

इसके अतिरिक्त कल्पना का प्रयोग होता है आविष्कार के अर्थ मे। इसी दृष्टि से वैज्ञानिक आविष्कर्ताओ को उत्कट कल्पनाशील कहा जाता है। काव्य मे इस प्रकार का प्रयोग अद्भुत दृश्यो के चित्र मे, असंभाव्य घटनाओ के विधान मे, अपार्थिव स्त्री-पुरुषों के सृजन मे किया जाता है। हिंदी का उपन्यास 'चद्रकाता सतति' इसका उदाहरण है। यहा कल्पना दूर की कौडियो को इकट्ठा तो कर देती है, परतु सम्यक् समन्वय नहीं कर सकती। इसीलिए उनमे भराव नही आ सकता। और यही कारण है कि इस प्रकार की कृतियो से हमारी मनस्तुष्टि नही हो सकती।

कल्पना का एक मुख्य कार्य है रिक्त स्थानो को भरना अर्थात् विषमताओ को एकसार करना। जगत् मे हम देखते हैं कि वस्तुए पूर्ण नही है, उनमे न्यूनताएं एव दोष हैं अर्थात् उनमे बीच-बीच मे स्थान रिक्त रह गए हैं। बस, हमारी कल्पना आप-ही-आप उनको भरने का प्रयत्न करने लगती है। ऐसा करने के लिए उसको उन स्थानो के रिक्त होने का कारण खोजना पडता है और वह देखती है कि वास्तव मे उन वस्तुओ के विभक्त अंगो मे परस्पर सबध था, जो विशेष व्यतिक्रमो से अब टूट गया है। इस प्रकार हमारी कल्पना उन लुप्त, परतु सगत, सबधो का पुन.स्थापन करके समस्त वस्तु को एकता प्रदान कर देती है। इसी को रूप-विधान कहते हैं। काव्यगत टेक-नीक मे कल्पना का इसी अर्थ मे प्रयोग होता है। परतु यह आवश्यक नही कि ऐसा जान-बूझकर ही किया जाय। अनजाने मे भी हमारी कल्पना प्राय यह करती रहती है।

अब कल्पना का सबसे अतिम एव सशक्त प्रयोग रह जाता है, जिसका अँगरेज कवि-समालोचक कॉलरिज ने वर्ड्सवर्थ के काव्य के प्रसग मे इतने सबल शब्दो मे विवेचन किया है "इस समन्वय और जादू की शक्ति के लिए ही मैने कल्पना शब्द का प्रयोग किया है। इसका धर्म है विरोधी या असबद्ध गुणो का एक-दूसरे के साथ सतुलन अथवा समन्वय करना अर्थात् एकरूपता का अनेकरूपता के साथ, साधारण का विशेष के साथ, भाव का चित्र के साथ, व्यष्टि का समष्टि के साथ, नवीन का प्राचीन के साथ, असाधारण भावावेश का असीम सयम अथवा अनुक्रम के साथ अथवा चिर-जागृत विवेक एवं स्वस्थ आत्म-सयम का दुर्गम उत्साह तथा गंभीर भावुकता के साथ···इसी के बल पर कवि अनेकता मे एकता ढूढ निकालता

है और विभिन्न विचारो एव भावो को एक विशेष विचार अथवा भाव से अन्वित कर देता है।" शेक्सपियर ने इसे ही स्वस्थ कल्पना कहा है। कल्पना का यह रूप कवि की सबसे बडी गौरव-कसौटी है, क्योकि इस प्रकार के समन्वय की क्षमता उन्ही विश्व-दर्शी कलाकारो मे हो सकती है जिनके हृदय विशाल हो, जो जगत् की विभिन्नताओ को पचा सकें। खल और संत समाज की एक श्वास मे वदना करने वाला तुलसीदास, विश्व की विषमताओ को एकरस होकर ग्रहण करने वाला शेक्सपियर, शैतान के विद्रोह और ईश्वर के न्याय पर एक साथ मुग्ध होने वाला मिल्टन, राम का अनन्य भक्त होते हुए भी उनके विरोधियो के प्रति सहानुभूति रखने वाला मैथिलीशरण अथवा इस कोटि का कोई अन्य कवि ही इतना ऊंचा उठ सकता है। कल्पना का यह प्रयोग समस्त काव्य मे ही नही, एक वाक्य तक मे सफलता से हो सकता है। अँगरेजी के प्रसिद्ध मनोविज्ञानी आलोचक रिचर्ड्स ने इसी दृष्टि से ट्रैजेडी को काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण स्वरूप माना है, क्योकि उसमे भय (जो हमे पात्र से दूर हटाता है) और करुणा (जो पात्र के प्रति आकृष्ट करती है) का पूर्ण सामजस्य होता है।

अँगरेजी मे कल्पना के लिए एक और शब्द प्रयुक्त होता है 'फैसी', जिसका अर्थ साधारणत कल्पना की ललित क्रीडा समझा जाता है। कॉलरिज ने उसका जो अर्थ किया है—स्मरण का एक प्रकार—वह हमारी समझ मे नही आता और न वह प्रचलित ही है।

कल्पना के ये ही प्रमुख रूप हैं, उसके विभिन्न प्रयोग इन्ही के अतर्गत आ जाते है। परतु फिर भी उनकी पृथक् सीमाओ का निर्देश करना साहित्य के विद्यार्थी के लिए उतना ही कठिन है जितना दार्शनिक के लिए निश्चयपूर्वक यह कहना कि कल्पना केवल मन की ही क्रिया है अथवा मन, बुद्धि और चित्त तीनों की।

कविता क्या है ?

कविता क्या है ? यह एक जटिल प्रश्न है। अनेक आलोचक यह मानते है कि कविता की परिभाषा और स्वरूप-विवेचन सभव नही है; परतु मेरा मन इतनी जल्दी हार मानने को तैयार नही है। यो तो जीवन के सभी सूक्ष्म और गहन सत्य सरलता से परिभाषा का बधन स्वीकार नही करते; फिर भी जिसकी अनुभूति हो सकती है उसके विवेचन को मैं असभव नही मानता। अपूर्ण वह अवश्य रहेगा, परतु अपूर्णता तो भाषा की सहज परिसीमा है, वह तो किसी भी अनुभव की अभिव्यक्ति पर घट सकती है। फिर कविता की परिभाषा के विषय में ही इतनी निराशा क्यो!

मैं एक उदाहरण लेकर इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करूगा—

स्याम गौर किमि कहहुँ बखानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी ।।

तुलसी की यह अर्धाली कविता का उत्कृष्ट उदाहरण है, इसमे सदेह नही हो सकता; शताब्दियो से सहृदय-समाज इसके कवित्व की प्रशस्ति करता आया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हरिऔध आदि समर्थ प्रमाता मुक्तकठ से इसका यशोगान कर चुके है।

राम और लक्ष्मण के सौदर्य से प्रभावित सीता की सखी की यह सहज भावाभिव्यक्ति है : श्यामांग राम और गौर-वर्ण लक्ष्मण के सौदर्य का वर्णन किस प्रकार संभव हो सकता है ! क्योकि वर्णना की माध्यम-इद्रिय वाणी नेत्रविहीन है और सौदर्य-दर्शन के माध्यम नेत्रो के वाणी नही है। अर्थात् नेत्र उनके सौदर्य का आस्वाद तो कर सकते है किंतु उसका वर्णन नही कर सकते और वाणी उस सौदर्य का वर्णन करने मे तो समर्थ है किंतु उसका वास्तविक आस्वाद वह नही कर सकती। इसका मूल भाव है सौदर्य के प्रति प्रबल सात्त्विक आकर्षण— इन शब्दो मे पुरुष के सौदर्य के प्रति नारी का सहज उन्मुखी भाव व्यजित है। इस उन्मुखी भाव मे वासना का कर्दम नही है, अर्थात् वैयक्तिक इच्छा और उसकी पूर्ति के फलस्वरूप ऐंद्रिय-मानसिक सुख की लिप्सा का मिश्रण नही है। अत. यहा सात्त्विक सौंदर्य-चेतना की व्यजना है। औचित्य की दृष्टि से यह व्यजना सर्वथा स्तुत्य है। राम और लक्ष्मण अभी पर-पुरुष हैं—कवि की योजना के अनुसार वे सीता और उर्मिला के वरेण्य हैं—इस दृष्टि से सखी की भाव-व्यजना मे वासना (वैयक्तिक इच्छा) का समावेश किसी प्रकार भी उचित नही था। कवि को तो यहां सीता के पूर्वराग का उद्दीपन ही अभीष्ट है।

अतएव सखी की इस उक्ति मे वह केवल विस्मय और उल्लास से युक्त तीव्र आकर्षण की ही व्यजना करता है। साराश यह है कि प्रस्तुत सूक्ति मे 'औचित्य' द्वारा अनुमोदित अर्थात् नैतिक, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शुद्ध, जीवन के अत्यंत मधुर भाव, किशोर वय के आकर्षण की अभिव्यजना है।

अब अभिव्यजना की दृष्टि से परीक्षा कीजिये। प्रस्तुत प्रसग मे कवि का साध्य है—सौंदर्य द्वारा उत्पन्न प्रभाव का सप्रेषण। सौदर्य का प्रभाव निश्चय ही एक अमूर्त तथा मिश्र प्रतिक्रिया है जिसमे रति, उल्लास, क्रीडा आदि अनेक भावो का समन्वय है। वक्ता की 'मुग्धा' अवस्था के कारण 'अभिव्यजना' और भी कठिन हो जाती है। अत. कवि ने वर्णना की चेष्टा ही नही की—'किमि कहहुं बखानी' के द्वारा अर्थात् वर्णन की असमर्थता की स्वीकृति के द्वारा सौदर्य की अनिर्वचनीयता की व्यजना की है। यह अनिर्वचनीयता 'अतिशय' की द्योतक है, किंतु अनिर्वचनीयता होते हुए भी वह अनुभवातीत नही है—वास्तव मे वक्ता को उसकी अत्यत प्रबल अनुभूति हो रही है। अर्थात् यह सौदर्य इतनी तीव्र अनुभूति उत्पन्न करता है कि उसको व्यक्त करने के लिए शब्द नही है। इस प्रकार कवि सौदर्य की सूक्ष्म किंतु तीव्र अनुभूति का वर्णन न कर, वक्ता की असमर्थता द्वारा उसकी व्यजना करता है। यह वर्णन की वक्र-शैली है जिसे कुतक ने 'सवृति-वक्रता' के नाम से अभिहित किया है। दूसरे चरण मे असमर्थता का कारण दिया गया है—वाणी के नेत्र नही है और नेत्रो के वाणी नही है; अलकारशास्त्र मे इसका नाम अर्थान्तरन्यास है। इस उक्ति मे लक्षणा का चमत्कार है; क्योकि शरीर-हीन वाणी मे नेत्रो की और इसी प्रकार नेत्रो मे वाक्-शक्ति की कल्पना सामान्यत निराधार है। अत लक्षणा के आधार पर ही यह उक्ति सार्थक बनती है। इसके अतिरिक्त यहा प्रच्छन्न विरोधाभास भी विद्यमान है—प्रत्यक्ष रूप से यह अत्यत स्पष्ट तथ्य है, किंतु लक्षणा का आधार इसमे तर्क की शक्ति उत्पन्न कर देता है। वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच यह विरोधाभास निश्चय ही चमत्कार का कारण है :

इसी प्रकार आरभ के दोनो शब्दो—स्याम और गौर—मे भी चमत्कार विद्यमान है · ध्वनिवादी जिसे पर्यायध्वनि, वक्रोक्तिवादी विशेषण-वक्रता और अलकारवादी किसी लक्षणामूलक अलकार का नाम दे सकते हैं।

अब नाद-सौदर्य की दृष्टि से लीजिये। उद्धृत अर्धाली मे अत्यत प्रसन्न पदावली का प्रयोग है जिसमे सूक्ष्म वर्णमैत्री के नाद-सौदर्य की कोमल अनुगूज है—कवि ने पवर्ग और कवर्ग के वर्णो की आवृत्ति और दूसरे चरण मे 'न' की आवृत्ति के द्वारा सहज वर्ण-सामजस्य पर आश्रित शब्द-सगीत का सृजन किया है। उधर लघुमात्रिक चौपाई छद मुग्धा के मन की इस भाव-तरग का अत्यत उपयुक्त माध्यम है।

अब प्रश्न यह है कि इनमे से किस तत्त्व का नाम कविता है ? मूल भाव अर्थात् सौदर्य-चेतना का ? उक्ति-वक्रता अथवा अलकार के चमत्कार का ? अथवा वर्णमैत्री का ? या फिर छद-सगीत का ? उत्तर भी कठिन नही है। मूल भाव कविता नही है—यहा सयोग से यह भाव सौदर्यानुभूति है, सामान्यतः कुछ भी हो सकता है। किंतु

भाव कविता नही है; जीवन मे सब मनुष्य ही नही, पशु-पक्षी भी भाव की अनुभूति करते हैं, पर वह कविता तो नही कही जा सकती। न जाने कितने स्त्री-पुरुष, और तिर्यक् योनि में भी न जाने कितने नर-मादा, एक-दूसरे के यौवन-सौदर्य के प्रति आकृष्ट होते हैं; किंतु इस आकर्षण को कविता तो नही कहा जा सकता।

तो क्या उक्ति-वक्रता कविता है ? अर्थात् क्या सौदर्य के इस अनुभव को विदग्ध रीति से शब्दबद्ध करना कविता है ? नही; क्योकि अपने नित्यप्रति के व्यवहार मे हम अपने आशय को न जाने कितनी बार अनेक वचन-भंगिमाओ के द्वारा व्यक्त करते रहते है। वह तो कविता नही है। क्या अलकार का चमत्कार— नयन' और 'वाणी' का लाक्षणिक प्रयोग, अथवा वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच सूक्ष्म विरोधाभास कविता है ? यहा कतिपय काव्य-रसिक तर्क-वितर्क कर सकते हैं। किंतु मेरा स्पष्ट मत है—'नही,' क्योकि बोलचाल मे निरतर हम न जाने मुहावरो के रूप मे कितने लाक्षणिक प्रयोग करते रहते हैं। विरोधाभास का चमत्कार भी सभा-चतुर व्यक्तियो के लिए साधारण चमत्कार है। यह सब तो कविता नही है। इसी प्रकार सामान्य के द्वारा विशेष के कल्पनात्मक समर्थन को भी कविता कैसे कहा जाय ! नवीन आलोचनाशास्त्र की शब्दावली मे उक्ति-वक्रता, लाक्षणिक प्रयोग, अलकार-चमत्कार आदि मे कल्पना का वैभव है। अतएव सारत यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार केवल भाव कविता नही है, उसी प्रकार केवल कल्पना भी कविता नही है।

अब रह जाता है सगीत-तत्त्व—वर्ण-संगीत और लय-सगीत। वह भी निश्चय ही कविता नही है, क्योकि वर्ण-सगीत और लय-सगीत दोनो ही निरर्थक पदावली मे भी संभव है।

तो फिर वास्तव मे कविता क्या है ? इन सभी तत्त्वो का समन्वय कविता है। यह समस्त अर्धाली ही कविता है। सौदर्य-चेतना कविता नही है, उक्ति-वक्रता कविता नही है, अर्थान्तिरन्यास अलकार कविता नही है, वर्ण-सगीत कविता नही है, चौपाई की लय कविता नही है। इन सबका समजित रूप ही कविता है—अर्थात् रमणीय भाव, उक्ति-वैचित्र्य और वर्णलय-सगीत तीनो ही मिलकर कविता का रूप धारण करते हैं। अब फिर यह प्रश्न उठता है कि क्या कविता के लिए इन तीनो की स्थिति अनिवार्य है ? क्या इनमे से किसी एक का अभाव कविता के अस्तित्व मे बाधक होगा ? उदाहरण के लिए, क्या बिना रमणीय भाव-तत्त्व के कविता नही हो सकती ? इसका उत्तर देने से पूर्व रमणीय शब्द का आशय स्पष्ट करना आवश्यक है।—रमणीय का अर्थ केवल मधुर नही है— कोई भी भाव, जिसमे हमारे मन को रमाने की शक्ति हो, रमणीय है। इसी दृष्टि से क्रोध, ग्लानि, शोक आदि भावो के भी विशेष रूप रमणीय हो सकते हैं, काव्य मे होते ही हैं। मैं यह कहना चाहता हू कि एक तो केवल प्रेम, श्रद्धा, विस्मय आदि सुखद भाव ही रमणीय नही हैं; शोक, ग्लानि, अमर्ष आदि अप्रिय भाव भी रमणीय हो सकते है। दूसरे, भावो के सभी रूप रमणीय नही होते, शृगार जैसे मधुरतम भाव के भी अनेक रूप सर्वथा अरमणीय और अकाव्योचित हो सकते हैं, होते

है। जीवन की इन अनुभूतियो के वे ही रूप रमणीय होते है जिनके साथ सहृदय का मन तादात्म्य स्थापित कर सके, जिनमे सहृदय की अतवृ॑त्तियो मे सामजस्य स्थापित करने की शक्ति हो। भाव की रमणीयता इसी का नाम है। तो क्या इस रमणीय भाव-तत्त्व के अभाव मे कविता नही हो सकती? मेरा स्पष्ट उत्तर है—नही; इसके अभाव मे जो चमत्कार आपको मिल सकता है वह बौद्धिक चमत्कार ही हो सकता है, जैसे पहेली के समाधान आदि मे मिलता है। तथाकथित चित्रकाव्य मे इसी की उपलब्धि होती है। बौद्धिक चमत्कार कविता का धर्म नही है अतः जिस उक्ति से केवल बौद्धिक चमत्कार प्राप्त होता है वह कविता नही। अब दूसरा तत्त्व लीजिए—उक्ति-वैचित्र्य। क्या उक्ति-वैचित्र्य के बिना कविता हो सकती है? इस प्रश्न के उत्तर के विषय मे बडा मतभेद है। आचार्य शुक्ल जैसे रसज्ञ आचार्य का दृढ मत है कि हा, हो सकती है। प्राचीन रसवादी आचार्यों का इस विषय मे यही मत था—कदाचित् शुक्ल जी की यही धारणा है। परतु मुझे सदेह है: आनदवर्धन आदि रसध्वनिवादी तो ध्वनि के साथ कल्पना की अनिवार्यता मानकर काव्योक्ति मे वैचित्र्य की स्थिति निश्चित रूप से स्वीकार कर लेते हैं, क्योकि कल्पना के योग का नाम ही तो वैचित्र्य है। शुक्ल जी ने भी अनेक प्रसगो मे इस भाव-प्रेरित वक्रता का यशोगान किया है, किंतु अपने पूर्ववर्ती काव्य के अतिशयचमत्कारवाद से क्षुब्ध होकर सिद्धात रूप में वे उसका निषेध कर देते हैं। मुझे खेद है कि आचार्य शुक्ल की यह धारणा मैं स्वीकार नही कर सकता, क्योकि इसमे एक अतिवाद के विरुद्ध दूसरे अतिवाद की प्रस्थापना है और मनोविज्ञान के इस स्वयसिद्ध तर्क का निषेध है कि मन के उच्छ्वास के साथ वाणी अनिवार्यत. उच्छ्वमित हो जाती है। वाणी का यही उच्छ्वास उक्ति-वैचित्र्य है; इसलिए व्यापक अर्थ मे उक्ति-वैचित्र्य का अभाव कविता मे सभव नही है। प्रकारातर से हम यह भी कह सकते हैं कि उक्ति-वैचित्र्य के अभाव मे कविता नही हो सकती। तीसरा तत्त्व है सगीत। इसके विषय मे तो मतभेद और भी अधिक है। सस्कृत-काव्यशास्त्र का निर्भ्रांत मत है कि छद कविता का वैकल्पिक उपकरण है। उधर हिंदी के मध्ययुगीन आचार्यो के लिए छद के अभाव मे कविता तो क्या, साहित्य के किसी रूप की कल्पना सभव नही थी। यूरोप में इस प्रश्न को लेकर नियमित रूप से दो दल बन गए थे—एक ओर अरस्तू और कॉलरिज जैसे आलोचक छद को वैकल्पिक मानते थे, दूसरी ओर ड्राइडन आदि के मत से छद का सगीत कविता का अनिवार्य माध्यम था। मेरा मत भी छद के 'इस पुराने ग्राम्य विशेषण' को कविता का अनिवार्य तत्त्व मानने के ही पक्ष मे है। छद कविता का सहज वाहन है। प्रत्येक साहित्य-रूप की अपनी-अपनी सहज विधा है . नाटक के लिए संवाद, कथा-साहित्य के लिए वर्णनात्मक गद्य, आलोचना के लिए विवेचनात्मक गद्य, निबध के लिए ललित गद्य और कविता के लिए छंद। नाटक के रग-सकेतो मे वर्णनात्मक गद्य का प्रयोग होता है, उपन्यास मे सवाद का, आलोचना मे ललित गद्य का और निबध मे विश्लेषणात्मक गद्य का—ऐसे ही कविता मे लययुक्त गद्य-सगीत का कुछ कवियो ने सफल प्रयोग किया है। किंतु यह सहज स्थिति नही है; यहा एक विधा के तत्त्व दूसरी

की सीमा मे प्रवेश कर जाते हैं, जैसे वास्तुकला मे मूर्तिकला या चित्रकला का भी प्रयोग प्राय: होता आया है। वास्तव मे समस्त कला तथा साहित्य-रूपो का मूल तत्त्व तो एक ही है, रूप-विधाएं भिन्न हैं, अतः उनके बाह्य उपकरण बहुधा एक-दूसरे की सीमा का अतिक्रमण करते रहते हैं। नाटक मे आख्यान-तत्त्व का, उपन्यास मे नाट्य-तत्त्व का, आलोचना मे लालित्य का समावेश हो जाता है; परतु फिर भी उनके वैशिष्ट्य मे कोई अंतर नही पडता। इसी प्रकार गद्य-साहित्य के अनेक रूप रस के प्राचुर्य से काव्यात्मक हो सकते हैं और कविता मे भी नाट्य-तत्त्व का समावेश हो सकता है, कविता आलोचनात्मक भी हो सकती है और गद्यवत् भी; किंतु वह उसका सहज या शुद्ध रूप नही है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि नाटक, उपन्यास, निबध आदि की भाति कविता भी रस के साहित्य की एक विशिष्ट विधा है—मूल तत्त्व तो सभी का एक ही है—रस, किंतु माध्यम के आधार पर इनमे परस्पर भेद है जो इनके वैशिष्ट्य की रक्षा करता है। कविता नाम की साहित्य-विधा का माध्यम है छद। संस्कृत काव्यशास्त्र मे काव्य रस के साहित्य का पर्याय है जिसके अंतर्गत नाटक-उपन्यास आदि का समावेश है। आज काव्य और कविता मे भेद हो गया है काव्य समस्त रस-साहित्य या पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र की शब्दावली मे सर्जनात्मक साहित्य का पर्याय है, कविता उसका पर्याय नही है—एक रूप है, जो छद के माध्यम के कारण अन्य रूपो से भिन्न है।

साराश यह है कि पूर्वोक्त तीनो तत्त्व—रमणीय अनुभूति, उक्ति-वैचित्र्य और छद अर्थात् वर्ण-सगीत और लय-संगीत—कविता के लिए अनिवार्य हैं। इनमे से किसी एक का नाम कविता नही है, इन तीनो का समजित रूप ही कविता है। पहले दो तत्त्व काव्य अथवा रस के साहित्य के भी अनिवार्य अग हैं। तीसरा तत्त्व अर्थात् छद ही कविता को काव्य के अन्य रूपो से पृथक् करता है। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि कविता रस के साहित्य की उस विधा का नाम है जिसका माध्यम छद है। यहा एक और शंका का भी समाधान कर लेना अनुपयुक्त न होगा : वह यह कि क्या रस के साहित्य के अन्य रूपो और कविता मे केवल रूप-विधा अथवा माध्यम का ही अंतर है, और स्पष्ट शब्दो मे—क्या उपन्यास और प्रबंध-काव्य मे केवल यही अतर है कि एक अनियतलय गद्य मे लिखा हुआ है और दूसरा नियतलय छद मे ? क्या दोनो के भाव-तत्त्व अथवा मूल सवेद्य मे कोई अतर नही है ? अनेक आलोचको के मत से दोनों मे मूल सवेद्य का अतर भी है। उनका विश्वास है कि उपन्यास का आस्वाद और प्रबध-काव्य का आस्वाद भिन्न होता है। इस धारणा मे केवल इतना ही सत्य है कि आस्वाद के रूप पर माध्यम का प्रभाव भी पडता है। उदाहरण के लिए, जंगल मे वृंत पर खिले हुए गुलाब और किसी नागरिक के सुसज्जित कमरे मे गुलदस्ते मे सजे हुए गुलाब की सौदर्यानुभूति मे थोडा अंतर निश्चय ही पड जाता है। इसी प्रकार यह निर्विवाद है कि रसात्मक तत्त्व के अतिशय के कारण ही कविता स्वभावतया छंद के माध्यम से स्फुरित होती है और छद का सगीत उसके रसात्मक तत्त्व को और भी समृद्ध कर देता है। इस दृष्टि से आस्वाद अथवा मूल सवेद्य मे भी थोडे से अतर की

कल्पना असंगत नही है; किंतु यह अंतर मात्रा का अतर है, प्रकार या प्रकृति का अतर नही। इसलिए मैं अपनी उस स्थापना को फिर यथावत् दोहराता हू कि कविता रस के साहित्य की उस विधा का नाम है जिसका माध्यम छद है।

अंत मे, एक मौलिक समस्या का समाधान कर इस प्रसग को समाप्त कर दूगा। काव्यशास्त्र मे मनोविज्ञान के वर्धमान प्रभाव के फलस्वरूप अनेक नवीन आलोचको ने यह मत प्रस्तुत किया है कि कविता एक अनुभूति अथवा अनुभूतियो का वर्ग है। उदाहरण के लिए इस युग के सर्वश्रेष्ठ अँगरेज आलोचक रिचर्ड्स का कथन है कि कविता अनुभूतियो का एक वर्ग है। तुलसीदास की पूर्वोक्त अर्धाली को ही आधार मानकर चलें तो यह कहा जा सकता है कि इन आलोचको के मत से 'स्याम गौर किमि कहहुँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी' कविता नही है, वरन् इससे प्राप्त सहृदय की अनुभूति ही कविता है। बात निश्चय ही बहुत गहरी है, परतु व्यावहारिक दृष्टि से उससे उलझन ही पैदा होती है। इसीलिए कदाचित् अत्यत गभीर दार्शनिक आधार ग्रहण करने पर भी भारतीय आचार्य इस प्रपच मे नही पडा, उसकी व्यवहार-बुद्धि ने सहृदय की अनुभूति को स्पष्ट शब्दो मे रस कहा है और इस अनुभूति को उत्पन्न करने वाले शब्दार्थ को कविता। तत्त्व-दृष्टि से कदाचित् रिचर्ड्स का मत ही ठीक हो, किंतु व्यवहार-दृष्टि से—समझने-समझाने की दृष्टि से—हमारे आचार्यों की स्थापना ही ग्राह्य है : 'शब्दार्थौ काव्यम्'। इस प्रकार मैं घूम-फिर कर फिर वही पहुच जाता हू : रसात्मक शब्दार्थ ही काव्य है और उसकी छदोमयी विशिष्ट विधा आधुनिक अर्थ मे कविता है।

काव्य-भाषा और व्यवहार-भाषा

१. क्या काव्य-भाषा एक विशिष्ट भाषिक संरचना—अर्थात् शब्दार्थ का विशिष्ट प्रयोग है ?

—अर्थात् क्या काव्य की भाषा और गद्य अथवा सामान्य व्यवहार की भाषा मे मौलिक—या तात्त्विक—भेद होता है ?

इस विषय मे सामान्यत: दो अतिवादी मत प्रचलित हैं :

(क) एक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते है—आग्ल कवि वर्ड्सवर्थ, जिनकी निर्भ्रांत धारणा है कि 'गद्य और पद्य की भाषा मे न कोई मौलिक अंतर है और न हो सकता है ।'

(ख) दूसरे अतिवादी विचार की चरम परिणति है कार्ल शैपिरो जैसे आधुनिक आलोचको के वक्तव्यो मे । कार्ल शैपिरो के अनुसार काव्य-भाषा का माध्यम शब्द न होकर अ-शब्द (नॉट-वर्ड्स) होते है, जो अपने (मूल) अर्थ से अपसरण कर एक अतिरिक्त छादस अर्थ का अर्जन कर लेते हैं। (दीज नॉट-वर्ड्स इन दिअर रिट्रीट फ्रॉम मीनिंग एराइव ऐट ए सेंस-बियोन्ड-सेंस)

इन दोनो अतिवादो का निराकरण मिलता है—विगत शताब्दियो मे, कॉलरिज आदि काव्यविद् मनीषियो, और आधुनिको मे क्रीगर तथा स्पिट्ज़र जैसे भाषाविद् आलोचको के मतव्यो मे :

लिओ स्पिट्ज़र—कविता मे ऐसे शब्दो का प्रयोग होता है, जो अपने मूल अर्थ को सुरक्षित रखते हुए, छादस विधान के अंतर्गत क्रियाशील कवि-प्रतिभा के जादू से, एक अतिरिक्त अर्थ से गर्भित हो जाते हैं ।

—अर्थात् सर्जन-प्रक्रिया मे पडकर, अनुभूति से आविष्ट कल्पना के सघात से, भाषा अनिवार्यत लयात्मक एवं बिंबमय बन जाती है और इस प्रकार काव्यभाषा का स्वरूप सामान्य भाषा से भिन्न हो जाता है ।

२. यह भेद किस प्रकार का है ?—काव्य-भाषा के भेदक लक्षण क्या हैं ?

इस समस्या के प्रति काव्य-मर्मज्ञो के सामान्यत दो प्रकार के दृष्टिकोण मिलते हैं :

शास्त्रीय अथवा रीतिवादी दृष्टिकोण

(क) प्राचीन भारतीय आचार्यों का शास्त्रीय दृष्टिकोण—

(१) भोज का तथ्यमूलक विश्लेषण :

किं साहित्यम् । य. शब्दार्थयो. सम्बन्ध· । स च द्वादशधा (१) अभिधा, (२) विवक्षा, (३) तात्पर्यम्, (४) प्रविभाग, (५) व्यपेक्षा, (६) सामर्थ्यम्, (७) अन्वय., (८) एकार्थीभाव, (९) दोषहानम्, (१०) गुणोपादानम्, (११) अलंकारयोगः, (१२) रसावियोगश्चेति ।

इनमे प्रथम आठ शब्द-अर्थ के तर्कमय सबंध हैं, जो भाषा के सभी रूपो मे अनिवार्यत. विद्यमान रहते हैं—किंतु अतिम चार अतर्कित संबंध हैं, जो काव्यभाषा के अपने विशेष धर्म हैं ।

(२) आनदवर्धन के अनुसार काव्य-भाषा का प्राणतत्त्व है 'व्यंजना'—काव्य की भाषा का अभिप्राय वाच्य न होकर व्यग्य होता है ।

(३) कुतक ने 'वक्रता' को काव्य-भाषा का व्यावर्तक धर्म माना है । वक्रता का अर्थ है 'विचित्र अभिधा' अर्थात् कवि-प्रतिभा से प्रेरित विचित्र विन्यास-क्रम, जो एक ओर शास्त्रादि मे प्रयुक्त शब्द-अर्थ के स्थिर उपनिबंध से और दूसरी ओर व्यवहारगत शब्द-अर्थ के रूढ प्रयोग में भिन्न अथवा विशिष्ट होता है । इस भाषिक संरचना मे शब्द और अर्थ के बीच निरतर स्पर्धा का भाव रहता है । इसी प्रकार का प्रयोग काव्य-भाषा के अंतर्गत आता है, सामान्य प्रयोग वार्ता मात्र है ।

(ख) नये समीक्षको का संरचनामूलक अथवा भाषिक दृष्टिकोण—

(i) काव्य-भाषा लक्षणा या उपचार की भाषा है—(विमसाट) ।

(ii) इसका आधार है श्लेष अथवा अनेकार्थता—(ऐम्पसन) ।

(iii) काव्य-भाषा का मूल गुण है तनाव (टेंशन) या शब्दार्थ-सतुलन—(टेट) ।

(iv) इसका मूल तत्त्व है विडबना (आयरनी)—(क्लीन्थ ब्रुक्स) ।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

(१) काव्य की भाषा कल्पनात्मक अथवा रागात्मक भाषा होती है, जबकि व्यवहार तथा शास्त्र की भाषा सकेत-प्रधान होती है, जिसमे शब्द की सार्थकता अर्थ-बोध से आगे नही जाती । (आई० ए० रिचर्ड्स)

समन्वित दृष्टिकोण

उपर्युक्त दोनो अवधारणाए विरोधी न होकर एक-दूसरे की पूरक हैं—केवल उनके कथन की भगिमाए भिन्न हैं ।

इसमे सदेह नही कि काव्य की भाषा कल्पनात्मक अथवा रागात्मक भाषा होती है—(जिसे व्यापक अर्थ मे 'कलात्मक भाषा' कहते हैं) । यहा शब्द की सार्थकता केवल अर्थ-बोध अथवा प्रत्यय की उद्भूति मे ही नही, वरन् बिंब की सृष्टि और उसके माध्यम से रागात्मक संवेदना की उद्बुद्धि मे निहित रहती है । शब्द मे इस नवीन शक्ति के सचार का मूल स्रोत है कवि की कल्पना, जो प्रबल अनुभूतियो के आवेश से अत्यंत सक्रिय हो जाती है । कवि की यह सर्जक कल्पना अपनी अभिव्यक्ति के लिए

नाना रूपो एवं भंगिमाओ की सृष्टि करती रहती है—जिन्हे भिन्न-भिन्न आलोचको ने अपने-अपने कलागत दृष्टिकोण के अनुसार विभिन्न नामो से अभिहित किया है। प्राचीन सस्कृत-आचार्यों ने इन्हे 'गुणालकारसपदा' कहा है—जिसका भोज ने चार तत्वो मे विश्लेषण किया है : दोष का अभाव, गुण का सद्भाव, अलंकार-योग और रस का समावेश। दंडी ने इस सपूर्ण वैशिष्ट्य को 'श्लेष' मे, आनदवर्धन ने 'व्यजना' मे, और कुतक ने 'वक्रता' मे समाहृत कर दिया है। आधुनिक समीक्षको ने इसी संदर्भ मे कुछ अन्य पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया है, जैसे—उपचार या लक्षणा, श्लेष अथवा अनेकार्थता, विडंबना, और तनाव या सतुलन आदि; किंतु, उनका अभिप्राय प्राय. समान ही है। उन सभी का आशय यह है कि आवेग-दीप्त कवि-कल्पना के सर्जनात्मक प्रभाव से काव्य की माध्यम-भाषा मे कुछ ऐसे गुण उत्पन्न हो जाते हैं, जो भाषा की मूलभूत अर्थबोधन-क्षमता की क्षति किए बिना, उसे अधिक कलात्मक एव प्रभावी बना देते है। इस प्रकार काव्य-भाषा मे भाषा के सहजगुण—अर्थबोधन-क्षमता—का निषेध नही, वरन् उसका विस्तार एव सवर्द्धन होता है—यानी सामान्य भाषा से काव्य-भाषा का भेद प्रकृतिगत न होकर मूलतः गुणात्मक ही होता है। यद्यपि काव्य-भाषा मे शब्द-अर्थ के बीच एक ऐसा सबध रहता है जो सामान्य तर्क से परे होता है, फिर भी उसके स्वरूप का विश्लेषण बुद्धिगम्य अथवा तर्कसम्मत भाषा के द्वारा ही हो सकता है, और होना चाहिए। व्याख्या की भाषा मे न तो कल्पनाप्रवण स्वच्छदतावादी विचारकों के उच्छ्वासो से (जैसे शैले की 'विद्युन्मयी भाषा', या ऐबरक्रॉम्बी की 'मन्त्र-भाषा' आदि से) प्रयोजन की सिद्धि हो सकती है, और न शैपिरो जैसे अत्याधुनिक भाषाविद् समीक्षको की शाब्दिक कला-बाजियो से, जो काव्य-भाषा के लिए 'अ-शब्दो' का प्रयोग अनिवार्य मानते हैं।

वास्तव मे, काव्य-भाषा के स्वरूप का निर्धारण काव्य-सर्जना की प्रक्रिया के आधार पर ही हो सकता है, जिसके द्वारा कवि, कल्पना की सहायता से, अपनी अनुभूतियो के लिए उपयुक्त भाषिक पर्याय खोजने का प्रयास करता है। कवि की भाषा अनिवार्यत लयात्मक अथवा छादस भाषा ही होती है, इसमे अर्थव्यक्ति स्थिर एवं प्रभात्मक प्रतीको के द्वारा नही, वरन् गतिमय एव व्यंजनात्मक बिबो के माध्यम से ही सभव हो सकती है, जहा शब्द-अर्थ का सबध बुद्धि एवं तर्क के द्वारा नही बल्कि कल्पना और भावना के द्वारा उपपन्न होता है।

सौंदर्यानुभूति का स्वरूप

भारतीय वाङ्मय मे यो तो सगीत, चित्र-रचना, मूर्तिकला तथा वास्तुशिल्प आदि अन्य ललित कलाओ पर भी कुछ-एक प्रामाणिक ग्रथ उपलब्ध है, परन्तु सौंदर्य-शास्त्र के आधार-तत्त्वो का विवेचन मूलत काव्यशास्त्र के अतर्गत ही किया गया है। अत सौंदर्यानुभूति या कलानुभूति का विश्लेषण यहा प्रमुख रूप से रस के सदर्भ मे ही हुआ है जो भारतीय सिद्धात के अनुसार काव्य अथवा कला के आस्वाद का प्राण-तत्त्व है। आरंभ मे रस नाट्यकला का तत्त्व था, वहा से वह काव्य मे आया और काव्य से उसका प्रवेश चित्र, संगीत आदि कलाओ मे भी हो गया। इस प्रकार भारतीय काव्य-शास्त्र मे निरूपित सौंदर्यानुभूति के स्वरूप का निर्णय करने के लिए हमे रसविवेचन को ही आधार मानकर चलना होगा।[1]

१ इस प्रसग मे यह प्रश्न किया जा सकता है कि सौंदर्य के अनेक रूप ऐसे हो सकते हैं जिनमे भाव की सत्ता नही रहती, अत सौंदर्यानुभूति के लिए भाव का आधार अनिवार्य नही है। भारतीय काव्यशास्त्र मे अलकारवादी और उनके सहधर्मी रीति सिद्धात के अनुयायी काव्य को शब्दार्थ का चमत्कार ही मानते है—रस, भाव आदि भी शब्दार्थ मे चमत्कार की सृष्टि करने के कारण ही काव्य के अग बन पाते हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे बिंबवाद तथा अन्य आधुनिक काव्यादोलन भी स्पष्ट शब्दो मे भावना से विनिर्मुक्त सौंदर्य अथवा कवित्व की सत्ता स्वीकार करते हैं जिसमे बिंब आदि की सृष्टि ही सौंदर्य का आधार रहती है। एक कलामर्मज्ञ ने इसी प्रश्न पर विचार करते हुए कहा ताजमहल को देखकर हम एक स्निग्ध सौंदर्यजन्य प्रसादन की चेतना का अनुभव करते हैं—प्रेम आदि की सवेदना का नही। ऐसी स्थिति मे कलानुभूति मे मानव-सवेग का अनिवार्य आधार मानना समीचीन नही है।—इस शका का समाधान हम अन्यत्र विस्तार से कर चुके हैं। शब्दार्थ का चमत्कार आखिर है क्या, और उसकी सृष्टि कैसे होती है? काव्य के सदर्भ में अर्थ का चमत्कार वास्तव मे कुतूहल का पर्याय न होकर रमणीयता का ही वाचक है और रमणीयता का समावेश केवल कल्पना के द्वारा नही, भाव-प्रेरित कल्पना के द्वारा ही सभव हो सकता है। कविता का उद्देश्य केवल चकित कर देना नही है, कविता तो चित्त को प्रभावित और सवेदनाओ को जाग्रत करती है। अत जो यह मानते हैं कि शब्दार्थ का चमत्कार भावना से विनिर्मुक्त होता है, वे या तो 'चमत्कार' शब्द का सकुचित और गलत प्रयोग करते है या भाव का अर्थ केवल स्थायी भावो तक सीमित कर देते है—या फिर मूल तत्त्व की उपेक्षा कर केवल बाह्य तथ्य को ही महत्त्व देते हैं। भारत मे अलकार और रीति सिद्धात की अस्वीकृति, और उधर पश्चिम मे बिंबवाद आदि का पराभव इसका प्रमाण है। ऐसी स्थिति में कला के सदर्भ मे सुदर और सरस मे अभेद ही रहता है और सौंदर्यानुभूति अथवा कलानुभूति रस से मूलत भिन्न नही मानी जा सकती।

भरत से लेकर भामह् तक प्राचीन आचार्यों की दृष्टि मे रस का स्वरूप वस्तुपरक था—नाट्य के संदर्भ में रस एक प्रकार से भाव-प्रेरित नाट्य-सौंदर्य का वाचक था और काव्य के संदर्भ मे वह इसी प्रकार के भाव-प्रेरित शब्दार्थ-सौदर्य का। किंतु बाद में शैवाद्वैत दर्शन के प्रभाव से, जिसके सर्वाधिक समर्थ व्याख्याता थे अभिनवगुप्त, रस का स्वरूप सर्वथा आत्मपरक हो गया। अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्य-सौदर्य नाट्य का अंग है और शब्दार्थ-सौदर्य काव्य का—यह स्वय रस नही है, रस तो इसके आस्वाद का नाम है। आगे चलकर भारतीय काव्यशास्त्र मे यही धारणा सर्वमान्य हुई। अभिनव से लेकर विश्वनाथ या जगन्नाथ तक उन सभी आचार्यों के, जिन्होने कि रस को आस्वाद-रूप माना है, मतो का सारांश इस प्रकार है :

१. सौदर्यानुभूति अथवा कलानुभूति का आधार मूलतः मानव-भावनाए है। यह अनिवार्यत· आह्लादमयी होती है—यह् एक प्रकार की आनदमयी मन.स्थिति है—आत्म-साक्षात्कार अथवा आत्मोपलब्धि की स्थिति है।

२. यह स्वप्रकाशानद और चिन्मय है—अर्थात् ऐंद्रिय तत्त्वो से प्राय· मुक्त है। कलानिबद्ध होने पर लौकिक भाव व्यक्तिगत रागद्वेष से ऊपर उठ जाते है—देश और काल की सीमाओ से मुक्त होकर वे साधारणीकृत अथवा सार्वभौम बन जाते है। परिणामत. वे प्रत्यक्ष अनुभव के विषय नही रह जाते। उनके द्वारा सहृदय का भाव-बोध परिष्कृत और चेतना निर्मल हो जाती है।

३. फिर भी, यह शुद्ध आध्यात्मिक आनंद नही है क्योकि न तो यह आनद की स्थायी अवस्था है और न लौकिक तत्त्वो से पूर्णत. मुक्त होती है।

अत भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार सौदर्यानुभूति अथवा कलानुभूति एक प्रकार के अतींद्रिय आनंद की स्थिति है—अथवा लौकिक शब्दावली मे, एक प्रकार की आत्मोपलब्धि की स्थिति है—जो कला के द्वारा परिशुद्ध—विशदीकृत भावनाओं के माध्यम से प्राप्त होती है।

किंतु वर्तमान युग मे उपर्युक्त सभी धारणाए शंका-धूमिल हैं और आधुनिक विचारक के मन मे प्रस्तुत सदर्भ मे तीन प्रश्न अनायास ही उपस्थित हो जाते हैं :

१. कलानुभूति और भावानुभूति मे क्या संबंध है ?

२. क्या कलानुभूति अनिवार्यतः आनंदमयी होती है ?

३. यदि ऐसा हो तो इस आनंद का स्वरूप क्या है ?

इन प्रश्नो के समाधान के बिना आज के कला-रसिक का मन परितोष नही हो सकता। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि वर्तमान आलोचनाशास्त्र एवं कला-सिद्धातो के आलोक मे इनका आख्यान किया जाए।

१. कलानुभूति और भावानुभूति में क्या संबंध है ?

कलानुभूति का आधार मूलत. मानव-भावनाएं ही हैं। सौदर्य के किसी ऐसे रूप की कल्पना करना सभव नही है जिसमे प्रच्छन्न अथवा प्रकट, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मानव-भावना का संस्पर्श न हो। भारत के अधिकाश कला-मर्मज्ञ काव्यगत भावना

और मानव-भावना के पारस्परिक सबंध के विषय मे सर्वथा आश्वस्त हैं . न भाव-हीनोऽस्ति रसो, न भावो रस-र्वाजत (भरत)—अर्थात् न भाव के बिना रस की स्थिति है और न रस के बिना भाव की । फिर भी कलागत भाव मानव-भाव या लौकिक भाव से भिन्न है और किसी भी प्रसग मे दोनो का ऐकात्म्य संभव नही है । भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार रस के आधारभूत स्थायी भाव दो वर्गों मे विभक्त किए जा सकते है (क) रति, विस्मय, उत्साह और हास्य—जिनका आस्वाद लोक मे प्रीतिकर होता है, और (ख) शोक, क्रोध, भय तथा जुगुप्सा—जिनका अनुभव अप्रीतिकर है । किंतु जब ये भाव काव्य या कला के विषय बन जाते हैं तो इन सभी का दश अनिवार्यत नष्ट हो जाता है । कला का विषय बन जाने पर शोकादि भावो का अनुभव क्लेशकर नही रह जाता · कला-सर्जना की प्रक्रिया मे पडकर उनकी कटुता समाप्त हो जाती है, यह सामान्य अनुभव का विषय है ।—अत. काव्यगत भाव लौकिक भाव से भिन्न है—यह सिद्ध करने के लिए विशेष युक्ति-प्रमाण की अपेक्षा नही है ।

लौकिक भाव या तो स्वगत होता है या परगत—अर्थात् या तो वह स्वानुभव रूप होता है या दूसरे के अनुभव की प्रतिक्रिया-रूप होता है । स्वानुभव भी दो प्रकार का हो सकता है—प्रत्यक्ष और परोक्ष । कलानुभूति प्रत्यक्ष अनुभव नही है, यह हम अभी सिद्ध कर चुके है । तो फिर क्या यह परोक्ष अनुभव है ? परोक्ष से अभिप्राय ऐसे अनुभव से है जो आलबन के अनुपस्थित होने पर भी पूर्वानुभव के आधार पर हमारी चेतना मे उद्बुद्ध हो जाता है । सामान्यत वह किसी प्रत्यक्ष पूर्वानुभव की स्मृति रूप होता है । कलानुभूति किसी प्रत्यक्ष लौकिक अनुभव की स्मृति नही है क्योकि स्मृति भी तो अनिवार्यत व्यक्ति-ससर्गो से युक्त होती है, वह मूल अनुभव के स्वरूप के अनुसार ही सुखात्मक अथवा दुःखात्मक होती है । उदाहरण के लिए सयोग की स्मृति सुखद और वियोग की दु खमय होती है—समय की दूरी अथवा अनुभव की परोक्षता उसके स्वरूप को एकदम नही बदल सकती । उसकी तीव्रता बहुत कम हो जाती है और दश का भी बहुत-कुछ परिहार हो जाता है, फिर भी वियोग की स्मृति मे दुःख का अश तो होता ही है । अत कलानुभूति स्वगत अनुभव नही है —न प्रत्यक्ष और न परोक्ष । एक दृष्टात लीजिए 'अभिज्ञानशाकुतलम्' के चतुर्थ अक का प्रेक्षण करते हुए हमे जो अनुभव होता है वह न तो हमारी अपनी कन्या के तात्कालिक वियोग का अनुभव है और न वह इस प्रकार के किसी विगत प्रसंग की स्मृति का अनुभव है । तो फिर क्या वह परगत अनुभव है—अर्थात् क्या वह किसी अन्य के अनुभव की प्रतिक्रिया है ?—उपर्युक्त प्रसग मे, क्या वह रगमच पर प्रस्तुत कण्व के वैक्लव्य की प्रतिक्रिया है ? इस प्रश्न का उत्तर भट्टनायक ने अत्यत प्रभावी रीति से दिया है । उनका तर्क है कि यदि प्रमाता के अनुभव की व्याख्या काव्य-निबद्ध पात्र के अनुभव—अथवा प्रमाता के मन मे उत्पन्न उसकी प्रतिक्रिया के रूप मे की जाएगी तब तो सारी व्यवस्था ही भग हो जाएगी । राम-सीता या किसी अन्य प्रेमी-युग्म के शृ गार-प्रसंगो का प्रेक्षण कर हमारे मन मे तरह-तरह की अप्रिय प्रतिक्रियाएं होने लगेंगी—जीवन के एकात आत्मीय प्रसंगो के सार्वजनिक प्रदर्शन से तो सकोच या

ग्लानि की ही भावनाएं मन मे जगेंगी—निश्चय ही इस प्रकार की प्रतिक्रिया कलानुभूति नही हो सकती।

अतएव यह स्पष्ट है कि मूलतः मानव-भावनाओ पर आधृत होने पर भी कलानुभूति भावानुभूति से भिन्न है। यह न तो प्रमाता का प्रत्यक्ष या परोक्ष स्वगत अनुभव है और न काव्य-निबद्ध पात्रों—अनुकार्य-अनुकर्ता—की भावानुभूतियों के प्रति उसकी ऐंद्रिय-मानसिक प्रतिक्रिया है। कलानुभूति भावों पर आवृत है किंतु फिर भी भावानुभूति से भिन्न है—इस कथन मे कुछ अंतर्विरोध-सा प्रतीत होता है, परतु ऐसा है नही। कलानुभूति व्यक्तिगत भाव का आस्वाद नही है—यह तो व्यक्तिगत राग-द्वेष से मुक्त—साधारणीकृत—भाव का आस्वाद है। यह चित्त की मुक्तावस्था का अनुभव है जो अहंकार के कडवे स्वाद मे निर्व्याप्त रहने के कारण प्रीतिकर ही होता है। यह काव्य मे निबद्ध विशदीकृत भावो के माध्यम से आत्मसाक्षात्कार अथवा आत्मोपलब्धि का अनुभव है। आत्मोपलब्धि का अनुभव अन्य क्रिया-विधियो से भी संभव है—उदाहरण के लिए, कर्म-योग, भक्ति अथवा आत्मसमर्पण तथा ध्यान-धारणा आदि के द्वारा भी आत्म-साक्षात्कार की अनुभूति संभव है, किंतु वह सौंदर्यानुभूति नही है। सौंदर्यानुभूति के लिए मानव-भावनाओ का आधार और कला का माध्यम अनिवार्य है। संक्षेप मे, सौंदर्यानुभूति=कलानुभूति राग-द्वेष से विनिर्मुक्त चित्त द्वारा निर्वैयक्तिक भाव का आस्वाद है।

२. क्या कलानुभूति अनिवार्यत. आनंदमयी चेतना है ?

यह काव्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण किंतु अत्यंत विवादास्पद प्रश्न है। कला या काव्य का आस्वाद बहुधा आनदमय होता है—इसका तो निषेध नही किया जाता, किंतु विवाद यह है कि क्या वह अनिवार्य रूप से प्रीतिकर है—अर्थात् क्या शोक, भय आदि भाव-प्रसंगो का भी आस्वाद प्रीतिकर होता है ? यद्यपि भारतीय तथा पाश्चात्य आलोचको का बहुमत आनद-सिद्धात के ही पक्ष मे है, पर इसका विरोध भी कम नही है और वर्तमान युग मे तो वह और भी उग्र होता जा रहा है। 'रस-सिद्धात' मे मैंने भारत मे भरत से लेकर आधुनिक मनीषियो तक और पश्चिम मे प्लेटो से लेकर आई० ए० रिचर्ड्स एवं कतिपय अन्य कला-मर्मज्ञों तक—प्राय. सभी मौलिक आचार्यों के विचारो का आधार लेकर प्रस्तुत समस्या का समाधान करने का प्रयास किया है। यहा उनकी आवृत्ति न कर केवल प्रतिनिधि विचार-बिंदुओ का आकलन करना ही पर्याप्त होगा.

(क) कलानुभूति या सौदर्यानुभूति निश्चय ही आनंदरूप है जिसके सामान्यत: दो भेद किये जा सकते हैं—(१) आत्मा या अतश्चेतना का आनद, और (२) मानसिक आनद। एक तीसरा रूप भी है—मनोरंजन, जो क्रीडादि से सद्ध होकर हीनतर अर्थ का वाचक बन गया है। किंतु इसका भी एकदम बहिष्कार नही किया जा सकता क्योंकि मनोरंजन के साथ कला का थोडा-बहुत सबंध आरभ से ही रहा है। इन तीनों मे प्रीति का तत्त्व समान है—अर्थात् कलानुभूति, चाहे उसे आध्यात्मिक आनद माना

जाय या परिष्कृत मानसिक आनद या उससे भी निम्न स्तर पर मनोरजन रूप माना जाए, प्रत्येक स्थिति मे प्रीतिकर होती है।

(ख) अपनी विषयवस्तु के अनुरूप यह सुखात्मक और दुःखात्मक दोनो प्रकार की होती है।

(ग) इसमे सुख और दुःख का सम्मिश्रण रहता है। प्रत्येक भाव के अनुभव मे सुख और दुःख के तत्त्व विद्यमान रहते हैं, अत भावो पर आधृत कलात्मक अनुभूति मे भी सुख और दु ख का ताना-बाना रहता है।

(घ) यह न सुखात्मक है, न दु खात्मक—यह तो चित्त की मुक्तावस्था है जिसमे व्यक्ति के राग-द्वेष और उनसे उत्पन्न हर्ष-विषाद की चेतना निःशेष हो जाती है—यह एक प्रकार से चित्त की समाहिति का अनुभव है।

(ङ) कलानुभूति सरल अनुभूति न होकर अनुभूतियो का विधान है जिसमे बहुविध और प्राय विरोधी अत वृत्तियो का सूक्ष्म सामजस्य रहता है।

प्रस्तुत प्रश्न का समाधान करने के लिए उपर्युक्त दृष्टि-बिंदुओ का सम्यक् परीक्षण करना आवश्यक है। कुछ स्पष्ट कारणो से विचार-बिंदु (ख) से आरभ करना अधिक उपयोगी होगा : विषयवस्तु के अनुसार कलात्मक अनुभूति सुखात्मक और दु खात्मक दोनो प्रकार की होती है। प्रस्तुत सदर्भ मे हमारी पहली प्रतिक्रिया तो यही होती है कि शोकादि के प्रसगो की अनुभूति स्वभावत. दु'खात्मक ही होनी चाहिए, किंतु इसके विरोध मे कुछ ऐसे स्पष्ट प्रमाण हैं जिनका खडन करना सरल नही है। दु ख के प्रति मानव-मन की अप्रवृत्ति इतनी स्वाभाविक और प्रबल है कि सामान्यत कोई भी व्यक्ति उसका भोग करने के लिए धन और समय का व्यय नही करना चाहेगा। यह ठीक है कि मनुष्य जीवन मे अनेक बार दु ख का सामना करता है, वरन् और आगे बढ कर कभी-कभी उसका वरण भी करता है। सूफी और सत कवियो ने बार-बार अपने काव्य मे दु ख की कामना की है और उधर बौद्ध दार्शनिको ने दु ख को आर्य सत्य माना है। फिर भी तथ्य का विश्लेषण करने पर यह निर्णय करना कठिन नही है कि दु.ख साध्य नही है, साधन मात्र है। उपर्युक्त स्थितियो मे भी दु ख साध्य न होकर साधन मात्र ही रहता है। सत या सूफी दु ख की कामना दु'ख के लिए नही करता वरन् इसलिए करता है कि वह इष्ट के प्रीति-स्मरण का मधुर साधन है। इसी प्रकार, बौद्ध दर्शन मे भी दु.ख को आर्य सत्य इसलिए माना गया है कि अत मे उसी की विनिवृत्ति के माध्यम से जीव को निर्वाण प्राप्त होता है। अत' यहा भी अतिम लक्ष्य दु'ख नही वरन् दु.ख की निवृत्ति ही है। और फिर, पाठक या प्रेक्षक न सूफी-सत होता है न दार्शनिक; ऐसी स्थिति मे यह सिद्ध करना सभव नही है कि वह शोकादि के प्रसगो का प्रेक्षण अथवा श्रवण-मनन दु.खानुभूति के लिए करता है।

आनद-सिद्धात के विरुद्ध एक तर्क और है—करुण प्रसग का आस्वाद तो वास्तव मे क्लेशकर ही होता है, परतु प्रेक्षक या पाठक कलात्मक सौंदर्य के कारण उसके प्रति आसक्त रहता है। किंतु यह तर्क भी अतत. मान्य नही हो सकता : (अ) त्रासिक परिस्थितियो से उत्पन्न शोक और भय अपने आप मे इतने प्रबल

हो सकते हैं कि कला के समस्त साधन—अलंकार, लय-संगीत, रंग-सज्जा आदि उनका परिहार नहीं कर सकते। (आ) और फिर, भाव तथा कला-सौंदर्य की पृथक् अथवा विभक्त धारणा भी तो मान्य नहीं हो सकती—काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों के ही अनुसार इस प्रकार की प्रकल्पना रूढ़ और अप्रामाणिक है। सामान्य जन को इन सूक्ष्म प्रसाधनों की पहचान नहीं होती और कलाविद् का काव्य अथवा रंगमंच के बहिरंग प्रसाधन मात्र से परितोष नहीं हो सकता। (इ) साथ ही, स्थायी भावों के आधार पर कलानुभूति के रूप में भेद मान लेने से रस के स्वरूप की अखंडता भी भंग हो जाती है।

अब विकल्प संख्या (ग) और (ङ) पर विचार करना चाहिए, जिनके अनुसार कलानुभूति एक प्रकार की मिश्र अनुभूति है। इन दोनों में थोड़ा-सा अंतर यह है कि एक मत के प्रतिपादक जहां केवल सुख और दुःख के मिश्रण की बात करते हैं वहां आधुनिक मनोवैज्ञानिक कला के आस्वाद को 'अनुभूतियों का गुम्फविधान' मानते हैं। भारतीय चिंतक इन धारणाओं से अनभिज्ञ नहीं रहा, किंतु उसके विचार से मिश्रण की यह स्थिति भावन की प्रक्रिया तक ही सीमित रहती है—परिणति तक नहीं पहुंचती, जहां भावना की विभिन्न मानसिक प्रतिक्रियाएं मिल कर एक अविभक्त अनुभूति में समजित हो जाती हैं। कलासर्जन की प्रक्रिया में कलाकार चित्र-विचित्र अनुभवों में हो कर गुज़रता है जिनमें से कुछ सुखद होते हैं और कुछ दुःखद, किंतु अंतत वह इन अनुभूतियों में सामंजस्य स्थापित कर लेता है—जिसका मूर्त परिणाम होती है कला। कला का जन्म सामंजस्य अथवा समन्विति में से ही होता है, उसके बिना कला-सर्जना अपूर्ण रह जाती है। इसी प्रकार कला के रसास्वादन की प्रक्रिया में भी सहृदय तरह-तरह के अनुभव प्राप्त करता है जो अंत में एक संश्लिष्ट विधान के रूप में परिणत हो जाते हैं और सहृदय की अंतिम अनुभूति इस विधान की अनुभूति होती है जो निर्मिति की दशा में मिश्र और जटिल रहती हुई भी परिणति में समंजस एवं अविभक्त हो जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि जो सिद्धांत कलानुभूति को मिश्र अनुभूति या अनुभूतिविधान मान कर चलते हैं—उनकी सार्थकता केवल प्रतिक्रिया तक ही सीमित है: परिणति की अवस्था में यह अनुभूति मिश्र या विभक्त न रह कर समंजस एवं अखंड बन जाती है—जिसे आई० ए० रिचर्ड्स ने अंतर्वृत्तियों का समीकरण कहा है। स्पष्टतः अंतर्वृत्तियों के समीकरण की यह स्थिति आनंद की अवस्था है—या कम-से-कम उसकी भूमिका अवश्य है। यह ठीक है कि रिचर्ड्स और कतिपय अन्य मनीषी आलोचक इसे सुखात्मक नहीं मानते, किंतु वे भी प्रकारांतर से इतना तो स्वीकार कर ही लेते हैं कि यह परितोष की अवस्था है—एक ऐसी मनःस्थिति है जिसमें कि सहृदय परितृप्ति और आत्मलब्धि का अनुभव करता है। इस युक्ति से विकल्प (घ) का भी निराकरण हो जाता है।

—इस प्रकार, कलानुभूति की आनंदरूपता के विरुद्ध जो तर्क और विकल्प प्रस्तुत किए गए हैं वे अंततः असिद्ध ही हो जाते हैं।

३. इस आनंद का स्वरूप क्या है ?

इसमे सदेह नही कि आनद के भी अनेक प्रकार है जो गुण की दृष्टि से एक-दूसरे मे भिन्न हैं और कलानुभूति के स्वरूप का कोई भी विवेचन तब तक अपूर्ण माना जाएगा जब तक कि उसमे निहित आनद का स्वरूप निश्चित न हो जाए। इसके लिए फिर एक बार भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विशाल भू-खंडो की लबी यात्रा आवश्यक है, परतु यहा भी स्वदेश-विदेश के आचार्यों के मतव्यो का साराश मात्र देना ही अल होगा। स्थूल रूप से, इस विषय मे चार अभिमत प्रसिद्ध हैं

१ कला का आनद एक प्रकार का भौतिक—अर्थात् मानसिक-ऐंद्रिय आनंद है। प्राचीन मनीषियो मे प्लेटो और नवीन विचारको मे मार्क्स तथा फ्रॉयड आदि ने अपने-अपने भिन्न दृष्टिकोण से इस मत का प्रतिपादन किया है।

२. यह एक प्रकार का आत्मिक आनद है। एक ओर भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य अभिनवगुप्त, जगन्नाथ आदि और दूसरी ओर पश्चिम के आत्मवादी दार्शनिको—प्राचीनो मे प्लोटिनस और आधुनिको मे काट तथा हीगेल आदि—का यही मत है।

३. कला का आनद वस्तुतः कल्पना का आनद है। इस धारणा का बीज तो अरस्तू के काव्यशास्त्र मे ही मिल जाता है, बाद मे चलकर अठारहवी शती मे एडिसन ने इसे स्पष्ट शब्दावली मे पल्लवित किया और अत मे बीसवी शती के आरभ मे क्रोचे ने सहजानुभूति के आनद के रूप मे व्याख्या करते हुए प्रस्तुत सिद्धात को एक निश्चित दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित कर दिया।

४. लौकिक और आत्मिक आनद के समस्त प्रकार-भेदो से भिन्न यह अपने आप मे स्वतत्र, एक विलक्षण आनद है। यह एक प्रकार की निरपेक्ष अनुभूति है जिसकी व्याख्या लौकिक अनुभव के सदर्भ मे सामान्य शब्दावली मे सभव नही है। यह धारणा वैसे तो अत्यंत प्राचीन है, परतु बीसवी शताब्दी मे ब्रैडले, क्लाइव बैल तथा अन्य सौंदर्यवादी विचारको ने एक नवीन दृष्टिकोण से इसकी स्थापना की है। इस स्थापना मे रहस्यवाद के तत्त्व विद्यमान है और रिचर्ड्स ने इसे निश्चय ही काट और हीगेल के आत्मवादी सिद्धातो से अनुप्रेरित माना है। किंतु फिर भी विलक्षण आनद और आत्मिक आनद की धारणाओ को अभिन्न मानना युक्तिसंगत नही, क्योकि सौदर्यवादी आलोचक के अनुसार तो कला का आनद केवल भौतिक आनंद से ही नही आत्मिक आनद मे भी उतना ही भिन्न है—वास्तव मे वह तो और आगे बढकर इसके लिए आनद शब्द का भी प्रयोग नही करता।

सबसे पहले अतिम विकल्प को ही लीजिए क्योकि युगानुयुगव्यापी परपरा के रहते हुए भी यह मत औरो की अपेक्षा अधिक दुर्बल है। काव्यानद की विलक्षणता के पक्ष मे जितने भी तर्क प्रस्तुत किए गए हैं उनसे केवल तीन तथ्यो का प्रकाशन होता है: कला की अनुभूति प्रत्यक्ष व परोक्ष मानसिक-ऐंद्रिय अनुभूति से भिन्न है, शुद्ध बौद्धिक अनुभूति से—उदाहरण के लिए किसी समस्या या प्रतिज्ञा को सिद्ध करने की अनुभूति से—भिन्न है, और आत्मिक अनुभव, योग-साधन आदि के अनुभव, से भी

भिन्न है। किंतु इसका अर्थ यह तो नही हुआ कि यह इस लोक का अनुभव नही है और मानव-चेतना की प्रकृत अनुभूतियो के अतर्गत इसकी व्याख्या संभव नही है। इस अनुभूति मे ऐंद्रिय और बौद्धिक तत्त्व निश्चय ही विद्यमान रहते है, और जो आत्मा की सत्ता मे विश्वास करते हैं उनके लिए आत्मिक तत्त्व भी। इसका समस्त विधान जीवन के सामान्य अनुभवो से भिन्न अथवा विशिष्ट अवश्य होता है किंतु इसके आधार-तत्त्व मूलतः भिन्न नही होते। अतः रूप का भेद होने पर भी प्रकृति का भेद इसमे नही है, क्योंकि अनासक्त अनुभूति या निर्वैयक्तिक अथवा साधारणीकृत अनुभूति भी तो मानसिक-ऐंद्रिय अनुभूति का ही परिष्कृत एवं विकसित रूप होती है। डॉ० रिचर्ड्स का यह तर्क सर्वथा अकाट्य है कि आखिर कलानुभूति की संपूर्ण प्रक्रिया मे हमारी ज्ञानेंद्रिया, चित्त और प्रज्ञा का ही तो विनियोग रहता है—इसलिए जब तक सौंदर्य के अनुभव के लिए किसी स्वतत्र ज्ञानेंद्रिय का आविष्कार नही होता, सौंदर्य अथवा कला की अनुभूति को विलक्षण मानने का कोई आधार नही है।—मैं समझता हू कि इस तर्क के सामने सौंदर्यवादी सिद्धात स्थिर नही रह सकता।

कला का आनद कल्पना का आनद है—यह केवल आशिक सत्य है। इस स्थापना मे कला-दर्शन का यह मौलिक सत्य उपेक्षित ही रह जाता है कि सौंदर्यानुभूति का आधार मानव-भावनाए हैं। कला के समस्त रूपो का आधार मानव-सवेदनाएं ही है, कल्पना केवल माध्यम है—यद्यपि माध्यम के रूप मे वह अनिवार्य है, इसमे भी सदेह नही है। फिर भी, मानव-भावनाओ के आधार के बिना केवल कल्पना के द्वारा कला की सृष्टि नही हो सकती। अत कला का आनंद केवल कल्पना का आनद नही है। कला के क्षेत्र से बाहर भी—जैसे कि वैज्ञानिक आविष्कार आदि मे—कल्पना का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। किंतु वैज्ञानिक द्वारा अनुभूत कल्पना का आनद तो कला का आस्वाद नही हो सकता। आर्कमेडीज का हर्षोच्चार—'यह मिल गया!' तो कविता नही हो सकती। इसके अतिरिक्त, कल्पना भी मानव-चेतना की ही वृत्ति है और इसलिए कल्पना का आनद भी मानसिक-बौद्धिक आनद का एक भेद मात्र है, कोई स्वतत्र कोटि या प्रकार नही है।

कला का आनद आत्मिक आनद है—इस प्रसग मे यदि हम शैव दर्शन की परिभाषा को स्वीकार कर लेते है तब तो कोई विवाद ही नही रह जाता, क्योकि उसके अनुसार आनद के विभिन्न रूपो का अतर मिट जाता है। किंतु, व्यवहार मे तो ऐसा नही होता, व्यवहार मे हम निश्चित भेद करते और मानते है। वास्तव मे आत्म-वादी भी कला के आनद और आत्मानद को अभिन्न नही मानते। भारतीय मनीषा के अनुसार रस ब्रह्मानंद-सहोदर है, ब्रह्मानद-रूप नही है, उधर पाश्चात्य दार्शनिक भी यह मानते हैं कि कलास्वाद की प्रारभिक स्थिति मे मन और इद्रियो का सन्निकर्ष निश्चय ही रहता है, यद्यपि अंत मे प्रमाता उनका अतिक्रमण कर शुद्ध चैतन्य के क्षेत्र मे प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार कला के आनद और आत्मानद का भेद स्पष्ट है; यद्यपि वह भेद तात्त्विक न होकर गुणात्मक ही होता है, फिर भी भेद तो है ही। आत्मानद जहा परम चैतन्य का निरपेक्ष और परिपूर्ण आस्वाद है वहा कला के आनद

मे भौतिक आधार अनिवार्यत· विद्यमान रहता है। माना कि यह आधार अत्यत सूक्ष्म और परिष्कृत होता है—यह अनुभव निश्चय ही निर्वैयक्तिक होता है, फिर भी इसका लौकिक आधार तो रहता ही है क्योकि निर्वैयक्तिक या साधारणीकृत अनुभव भी तो अतत· लौकिक अनुभव ही होता है। निस्सदेह यह चेतना का ऊर्ध्व विकास, चित्त की मुक्तावस्था है; परतु है अततः चित्त का ही विषय—योग अथवा भक्ति के अनुभव के समान मानवीय चेतना से परे नही है।

अब शेष रह जाता है पहला विकल्प . कला का आनद लौकिक आनद है। यद्यपि इस सिद्धात के प्रतिपादको ने—एक ओर प्लेटो ने, दूसरी ओर मार्क्स तथा फ्रॉयड ने—इसे कुछ स्थूल और अनगढ रूप मे प्रस्तुत किया है, फिर भी, मेरे विचार से, इसका निषेध करना अत्यत कठिन है। कला से प्राप्त आनद लौकिक ही हो सकता है : कला की सृष्टि के उपकरण और माध्यम लौकिक ही होते हैं, अत· इसका आस्वाद भी लौकिक ही होना चाहिए। रहस्यवादी काव्य के अतिरिक्त कला के सभी रूप-भेदो के मूल विषय सामान्य मानव-अनुभव ही होते हैं, इसके उपकरण और अभिकरण—कल्पना एवं बुद्धि—मानव-चेतना के ही अग है, आस्वादन के माध्यम हैं लौकिक स्तर पर ज्ञानेंद्रिया और उच्चतर मनोभूमिका पर सूक्ष्म भाव-बोध; और अत मे, इसका भोक्ता भी कोई योगी या भक्त न होकर सवासन मानव ही होता है। अत कला-सवेदना की लौकिकता मे अविश्वास करना अथवा यह मान लेना कि कला का आस्वाद मानवीय अनुभव नही है, अत्यत दुष्कर कार्य है। ऐसी स्थिति मे हमे मानव-चेतना की परिधि के भीतर और मनोविज्ञान की शब्दावली मे ही इसके स्वरूप का निर्णय करना होगा।

अत मे, केवल सिद्धात-विवेचन करने की अपेक्षा किसी मूर्त कलाकृति को आधार मान कर अपनी धारणाओ का विश्लेषण एव समीकरण करना अधिक श्रेयस्कर होगा। भवभूति का एक सरस छद इस प्रकार है :

विनिश्चेतु शक्यो न सुखमिति वा दु खमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्प. किमु मदः।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च समीलयति च ॥

(उत्तररामचरित—१।३५)

अर्थात—मैं नही समझ पाता कि यह सुख है अथवा दु ख, मोह है या निद्रा, विप का सचार है या मद का : तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श से मुझे एक ऐसा विचित्र अनुभव हो रहा है जो समस्त इद्रियो पर सम्मोहन-सा करता हुआ मेरी चेतना को कभी उद्भ्रात और कभी एकदम विफल कर देता है···।

इस छद को पढकर मेरे मन की प्रतिक्रिया निश्चय ही प्रीतिकर होती है। इसका विपय है रति, इसकी काव्य-कला का प्रीतिकर आस्वाद प्राप्त करने से पूर्व मेरी चेतना निश्चय ही रति और उसके सचारी भावो मे होकर गुजरती है। फिर भी, इसमे संदेह नही कि इस अनुभूति और रति की प्रत्यक्ष अनुभूति मे स्पष्ट अतर है

जिसका परिज्ञान मुझे है—प्रत्येक सहृदय को निश्चय ही होता है। यह अतर किस प्रकार का है ? कलानुभूति के स्वरूप का निर्णय करने के लिए कला के आस्वादन की संपूर्ण प्रक्रिया का विश्लेषण करना आवश्यक होगा।—जब मै उपर्युक्त छद को पढता हू तो इसकी शब्दावली और लय-योजना का सगीत मेरी श्रवणेद्रिय को चमत्कृत करता है; तभी प्राय. अलक्ष्यक्रम से इसका अर्थ मेरे मन मे व्यक्त हो जाता है, इसके बाद काव्य-भाषा—अर्थात् भाषा के कल्पनात्मक प्रयोग के चमत्कार से मेरी कल्पना सक्रिय हो जाती है और मन की आखो के सामने तरह-तरह के स्वच्छद बिब या मानस-प्रतिमाए थिरक उठती हैं जिनके साथ अनेक प्रकार के मनोविकार अनायास ही लिपट जाते हैं। इसी क्रम मे इन सचारी भावो के आघात से प्रेम की अत:वृत्ति मेरी चेतना मे उद्‌बुद्ध हो जाती है—जो उस समय रागद्वेष से इसलिए निर्लिप्त रहती है क्योकि उसमे व्याप्त प्रेम की यह वृत्ति किसी आलबन विशेष के प्रति उन्मुख न होने के कारण अव्यक्तिगत तथा निस्सग ही होती है; और अत मे यह सपूर्ण ऐंद्रिय-मानसिक प्रक्रिया एक सुखद अनुभूति मे परिणत हो जाती है।

मानव-अनुभूतियो को स्थूल रूप से तीन वर्गो मे विभक्त किया जा सकता है—(क) ऐंद्रिय, (ख) मानसिक, और (ग) बौद्धिक। यह वर्गीकरण निश्चय ही बहुत स्थूल है और इनमे से कोई भी वर्ग अपने आप मे स्वत पूर्ण नही हो सकता, क्योकि हमारे अनुभव वास्तव मे अपने आप मे इतने अधिक अतर्ग्रथित और अन्योन्याश्रित होते हैं कि इनमे मानव-व्यक्तित्व की समस्त वृत्तिया प्रायः एक साथ ही सक्रिय रहती हैं। फिर भी, मानव-चेतना की किसी एक या दूसरी वृत्ति की प्रमुखता के आधार पर इस वर्गीकरण को हम साधारणत· व्यावहारिक मानकर चल सकते है। इसके अनुसार किसी प्रियजन के आलिंगन का अनुभव ऐंद्रिय आनद है, उसका स्मरण मानसिक आनद है, और किसी रागात्मक समस्या के—उदाहरण के लिए, प्रस्तुत सदर्भ मे, इस रागात्मक अनुभव के—सफल विवेचन का आनद बौद्धिक आनद है। अब प्रश्न यह है कि उपर्युक्त प्रणयगीति से उपलब्ध आनद इनमें से किस कोटि के अतर्गत आएगा ? निश्चय ही, यह प्रियजन के साक्षात् स्पर्श-सुख का अनुभव नही है क्योकि यह प्रत्यक्ष अनुभव नही है और इसलिए उतना प्रखर भी नही है। इसी प्रकार यह किसी शृगारिक अनुभूति के सफल विश्लेषण का भी आनद नही हो सकता। तो फिर क्या यह किसी पूर्वानुभूत प्रणय-प्रसग के सुखद स्मरण का आनद है ? इस विकल्प पर हमे थोडा विचार करना होगा, क्योकि काव्यजन्य अनुभूति और इस अनुभूति मे कुछ न कुछ साम्य अवश्य है। कला के आनंद की तरह मधुर स्मरण का यह अनुभव भी एक प्रकार का परोक्ष अनुभव है जिसमे कल्पना का प्रमुख योग रहता है। फिर भी, दोनो मे अभेद है, ऐसा नहीं माना जा सकता; क्योकि स्मृति भी तो मूलत: एक प्रकार का वैयक्तिक अनुभव ही है जिसके साथ प्रमाता की अहं भावना और उसके राग-द्वेष अनिवार्यतः संलिप्त रहते हैं। यह अनुभव अनासक्त नही होता और न देश-काल की परिसीमाओ से सर्वथा मुक्त ही रहता है। यह अनुभव 'स्मृति' पर निर्भर करता है जिसमे कल्पना का निष्क्रिय योग मात्र रहता है। इस पद्धति से यह किसी पूर्वानुभव का

पुनरुद्बोध मात्र होता है, जबकि कला की अनुभूति, इससे भिन्न सक्रिय अथवा सर्जनात्मक कल्पना की क्रिया होने के कारण, पूर्वानुभव का पुनरुद्बोध मात्र नही वरन् पुन सृष्टि होती है। अत. कला की अनुभूति स्मरण की अनुभूति से अपनी मुक्त, निर्वैयक्तिक एव सर्जनात्मक प्रकृति के कारण भिन्न होती है और ये दोनो गुण ऐसे हैं जो प्रकृत अनुभव को विकारो से मुक्त कर अनिवार्य क्रम से उसमे प्रीति-तत्त्व का समावेश कर देते हैं।

इस प्रकार कलानुभूति भावना के कलात्मक पुनःसृजन की आनंदमयी अनुभूति है जो मूल रूप मे कलाकार की चेतना मे घटित होती है और फिर कलाकृति के सन्निकर्ष मे गौण रूप मे प्रमाता की चेतना मे। कलाकार का कर्म मौलिक है, इसलिए सामान्य प्रयोग मे उसको सृजन कहते हैं यद्यपि व्यवहार मे वह पुन:सृजन ही होता है—जबकि प्रमाता का कर्म गौण एव परावलबी होता है क्योकि वह वस्तुतः कलाकार के कर्म से प्रेरित रहता है। उधर कल्पनात्मक पुनःसृजन की इस प्रक्रिया मे बुद्धि का योगदान भी कुछ-न-कुछ अवश्य होता है क्योकि कुछ सीमा तक, कम-से-कम रचना-क्रम के अतिम क्षणो मे, इसके पीछे सुविचारित प्रयत्न का आधार निश्चय ही रहता है।—जिसके कारण कलानुभूति के विधान मे बुद्धि-तत्त्व का समावेश हो जाता है।

साराश यह है कि कलानुभूति एक प्रकार की प्रीतिकर—सश्लिष्ट अनुभूति है जिसमे राग-तत्त्व और बुद्धि-तत्त्व का लवण-नीर सयोग रहता है। इसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है क्योकि यह शुद्ध रागात्मक अनुभूति की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और बौद्धिक अनुभूति की अपेक्षा अधिक रमणीय होती है।

काव्य-बिंब : स्वरूप और प्रकार

काव्य-कला के संदर्भ मे विंब का प्रयोग आधुनिक ही है और यह अंगरेजी शब्द 'इमेज' का पर्याय है। पश्चिम का आधुनिक काव्यशास्त्र 'इमेज=विंब' को काव्य का अनिवार्य माध्यम-उपकरण मानता है, उपकरण ही नहीं वरन् वह काव्यक्रियाकल्प का अनिवार्य अंग है। कला की सर्जना वस्तुत. विंब-रचना का ही नाम है। स्वभावत: पश्चिम की भाषाओ के आलोचना-शास्त्र मे काव्य-बिंब का अत्यंत सूक्ष्म, विस्तृत एवं वैविध्यपूर्ण विवेचन हुआ है। केवल अगरेजी मे ही अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं जिनमे काव्य-विंब के अंतरग और बहिरग रूपों के सूक्ष्म और सर्वांग विवेचन का प्रयत्न किया गया है। परतु दुर्भाग्य से विंब के स्वरूप-विश्लेषण मे इतने विविध दृष्टिकोण और प्रविधि भेद उलझ गए है, उस पर अलंकारशास्त्र के अतिरिक्त मनोविज्ञान, नृतत्त्वशास्त्र, पुराणविद्या, समाजविज्ञान आदि इतने अधिक 'अनुशासनो' का आक्रमण हुआ है और उसका स्वरूप इतना अस्थिर, जटिल, व्यापक एवं अमूर्त बन गया है कि विंब का स्पष्ट विंब—इमेज की सही इमेज—जिज्ञासु के मन मे स्पष्ट नही हो पाता। कम-से-कम इस अध्ययन के फलस्वरूप मेरे मन मे विंब का सही चित्र नही बन सका—ऐसा लगा जैसे पश्चिम का आलोचक बिंव के महत्त्व से इतना आक्रांत है कि उसकी संपूर्ण काव्य-चेतना ही बिंब से परिव्याप्त हो गई है और वह व्यावर्तक तत्त्वो को पृथक् कर एक ऐसी स्पष्ट रूपरेखा निर्धारित करने मे अपने को असमर्थ पाता है जो उसे अन्य समानातर धारणाओ से पृथक् कर सके। मैं यह विवेचन मूलत आत्मबोध के लिए ही कर रहा हू—यदि यह अन्य जिज्ञासुओ का भी, जो मेरी तरह कठिनाई का अनुभव करते हों, परितोष कर सका तो प्रस्तुत प्रयास और भी अधिक सार्थक हो जाएगा।

'विंब' का अर्थ स्पष्ट करने के लिए वास्तव मे, 'इमेज' के ही शब्दार्थ की व्याख्या अपेक्षित है क्योंकि प्रस्तुत संदर्भ मे 'विंब' स्वतंत्र या मौलिक शब्द न होकर 'इमेज' का हिंदी-रूपातर है। अंगरेजी के प्रामाणिक कोशो के अनुसार 'इमेज' के अर्थ हैं: किसी पदार्थ का मनश्चित्र या मानसी प्रतिकृति[1]; कल्पना अथवा स्मृति मे उपस्थित चित्र अथवा प्रतिकृति जिसका चाक्षुष होना अनिवार्य नहीं है[2]; किसी

१. शॉर्टर ऑक्सफ़ोर्ड डिक्शनरी
२. चेम्बर्स ट्वेंटिएथ सेंचुरी डिक्शनरी

व्यक्ति या पदार्थ की प्रतिकृति[1]; मूर्त और दृश्य प्रत्यंकन[2]; एक पदार्थ के लिए किसी ऐसे मूर्त अथवा अमूर्त पदार्थ का प्रयोग जो उसके अत्यधिक समान हो अथवा उसे व्यजित करता हो जैसे 'मृत्यु' के लिए 'निद्रा' का प्रयोग ।[3] मनोविज्ञान मे 'इमेज' से अभिप्राय किसी ऐसे प्रत्यक्ष अनुभव की स्मृति से है जिसका परवर्ती अनुभव के द्वारा रूपातर हो जाता है और जिसमे अतर्मनोवैज्ञानिक तथा बहिर्मनोवैज्ञानिक उद्दीपन द्वारा उद्‌बुद्ध बौद्धिक एव रागात्मक तत्त्व अतर्भुक्त रहते हैं । वह सग्राहक यन्त्र पर अकित उद्दीपक पदार्थ की प्रतिच्छवि का पर्याय है ।[4]

इमेज से अभिप्राय है ऐसी सचेत स्मृति का जो मूल उद्दीपन की अनुपस्थिति मे किसी अनुभव का समग्र अथवा अश रूप मे पुनरुत्पादन करती है ।[5]

'इमेज' का हिंदी (संस्कृत)-रूपातर है 'बिंब', जिसका शब्दार्थ है · सूर्य-चद्र-मंडल, प्रतिच्छवि, प्रतिच्छाया, प्रतिबिंबित अथवा प्रत्यकित रूप, चित्र ।[6]

—इस प्रकार, 'इमेज' के पर्याय-रूप मे बिंव का प्रयोग सामान्यतः ठीक ही है, और प्रस्तुत लेख मे हम इसका 'इमेज' के अर्थ मे ही प्रयोग करेंगे ।

काव्य के सदर्भ मे बिंब का प्रयोग प्रायः मूल अर्थ मे ही होता है—अर्थात् काव्य-बिंव के पारिभाषिक प्रयोग मे बिंव (इमेज) का मूल अर्थ प्रायः सुरक्षित रहता है । पश्चिम के आलोचको ने काव्य-बिंब की अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार अनेक परिभाषाए प्रस्तुत की हैं, जिनमे से कुछ इस प्रकार है :

काव्य-बिंब एक प्रकार का भाव-गर्भित शब्द-चित्र है ।[7]

बिंव ऐंद्रिय माध्यम द्वारा आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक सत्यो तक पहुचने का मार्ग है ।[8]

बिंव किसी अमूर्त विचार अथवा भावना की पुनर्निर्मिति है ।[9]

बिंव पदार्थों के आतरिक सादृश्य की अभिव्यक्ति है ।[10]

इन व्याख्याओ और परिभाषाओ का विश्लेषण करने के बाद बिंब के विषय मे अनेक मूलवर्ती धारणाए स्पष्ट हो जाती हैं

बिंव पदार्थ नही है वरन् उसकी प्रतिकृति या प्रतिच्छवि है । मूल सृष्टि नही, पुन सृष्टि है ।

बिंव एक प्रकार का चित्र है जो किसी पदार्थ के साथ विभिन्न इन्द्रियो के सन्निकर्ष से प्रमाता के चित्त मे उद्‌बुद्ध हो जाता है ।

१-२-३ वेब्सटर्स थर्ड न्यू इटरनेशनल डिक्शनरी
४, वही
५ सी० डब्ल्यु० व्रे—एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका मे उद्धृत
६. सस्कृत-इगलिश डिक्शनरी—मोनियर विलियम्स
७ दि पोइटिक इमेज (अष्टम सस्करण)—सी० डे० लीविस, पृ० १६
८ सूज़ान के० लैंगर
९ व्हैले
१०. टी० ई० ह्यूम

पदार्थ के साथ हमारी इंद्रियों का सन्निकर्ष प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो रूपो में होता है—प्रत्यक्ष सन्निकर्ष मे इंद्रियो की क्रिया मुख्य रहती है; परोक्ष सन्निकर्ष मे कल्पना का योगदान प्रमुख हो जाता है, यद्यपि इद्रिया भी गौण रूप से सक्रिय रहती हैं।

बिंब का मूल विपय मूर्त और अमूर्त दोनो प्रकार का हो सकता है—अर्थात् पदार्थ का भी बिंब हो सकता है और गुण का भी। किंतु उसका अपना रूप मूर्त ही होता है। अमूर्त बिंब नही होता; जिन बिंबो को अमूर्त माना जाता है वे अचाक्षुष होते हैं, अगोचर नही होते।

काव्य-बिंब दूसरी कोटि के ही बिंब है जो उद्दीपक पदार्थ की अनुपस्थिति मे कल्पना के द्वारा उद्बुद्ध होते हैं, जिनमे ऐंद्रिय तत्त्व परोक्ष रूप से विद्यमान रहता है।

काव्य-बिंब का माध्यम शब्द-अर्थ है। यो तो प्रत्येक सार्थक शब्द मे कोई बिंब निहित रहता है—वास्तव मे प्रत्येक अर्थ का एक बिंब होता है पर उसका ऐंद्रिय या गोचर रूप निरतर प्रयोग से घिस जाता है। इसीलिए काव्य के लिए सामान्य प्रयोग के शब्द अधिक उपयोगी नही रहते और कवि को अपनी समृद्ध भावना तथा कल्पना के द्वारा इन बिंबो को फिर से उभारना पडता है या शब्दो को नये बिंबो से गर्भित करना पड़ता है। यही भाषा का भाव-कल्पनात्मक प्रयोग है: संस्कृत साहित्यशास्त्र की लक्षणा और व्यजना इसी कल्पनात्मक प्रयोग के माध्यम-उपकरण हैं। सामान्य बिंब से काव्य-बिंब मे यह भेद होता है कि (१) इसका निर्माण सक्रिय या सर्जनात्मक कल्पना से होता है, और (२) इसके मूल मे राग की प्रेरणा अनिवार्यत रहती है।

इस प्रकार काव्य-बिंब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस-छवि है जिसके मूल मे भाव की प्रेरणा रहती है।

आधार-तत्त्व. काव्य-बिंब का प्रेरक तत्त्व है भाव। भाव के सस्पर्श के बिना काव्य-बिंब का अस्तित्व सभव नही है: लीविस ने उसे अनिवार्य माना है और ठीक ही माना है। काव्य-बिंब स्वभावत. सामान्य बिंब की अपेक्षा अधिक रंगमय और समृद्ध होता है और उसे यह रंग या समृद्धि भाव से ही प्राप्त होती है। उसका निर्माण सक्रिय या सर्जनात्मक कल्पना से होता है—स्मृति या निष्क्रिय कल्पना का भी उपयोग उसमे रहता है, पर वह उपकरण के रूप मे ही रहती है। इस प्रकार सर्जनात्मक कल्पना काव्य-बिंब का करण-तत्त्व है और ऐंद्रिय अनुभव इसके मूल उपकरण-तत्त्व हैं। सामान्यत. प्रत्येक ज्ञानेंद्रिय का अनुभव एक प्रकार का बिंब उद्बुद्ध करता है, फिर भी चक्षु का योगदान सर्वाधिक रहता है। जैसा कि मैंने अभी स्पष्ट किया है, बिंब का विधान अनिवार्यत मूर्त ही होता है और चूकि ऐंद्रिय अनुभवो मे चाक्षुप अनुभव-रूप सर्वाधिक मूर्त होता है, अत. बिंब मे रूप-तत्त्व का प्राधान्य रहता है। शब्द, स्पर्श, रस और गंध के भी अपने-अपने बिंब होते हैं, पर प्राय. उन्हे भी रूप का आधार लेना पड जाता है। यही कारण है कि साम्य के समस्त रूपो मे सादृश्य का महत्त्व सबसे अधिक है और अलकार-तत्र का अधिकाश सादृश्य पर आश्रित है। यहा तक तो हुई काव्य-बिंब के मानस-रूप की बात। पर अपने परिणत रूप मे काव्य शब्दार्थमय

होता है, अतः काव्य-बिंब भी शब्दार्थ=सार्थक शब्द के माध्यम से मूर्त रूप धारण करता है—यों कहना चाहिए कि सार्थक शब्द ही वह उपकरण-सामग्री है जिसमे बिंब का मूर्त रूप प्रकट होता है। इस सार्थक शब्द का भी अपना एक बिंब होता है जो काव्य-बिंब से स्वतन्त्र होता है। कवि के सामने यह कठिनाई आती है कि अपनी उप-करण-सामग्री के इन स्वतंत्र बिंबों का काव्य-बिंब के निर्माण में किस प्रकार उपयोग करे और वह इस कठिनाई को या तो ऐसे शब्दो के चयन द्वारा हल करता है जिनके बिंब अभीष्ट काव्य-बिंब के अनुकूल होते हैं या फिर इन शब्दो को नये बिंबों से भारित कर अपने अनुकूल ढाल लेता है।

समानधर्मा काव्य-उपकरणो के साथ संबंध : साम्य और वैषम्य : काव्य के अनेक उपकरण ऐसे होते हैं जिनका बिंब के साथ निकट संबंध है; इस साम्य-वैषम्य के उद्घाटन से बिंब का स्वरूप स्पष्ट करने मे सहायता मिलेगी।

सबसे पूर्व लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को लीजिए। लक्षणा और व्यंजना दोनो ही बिंब का विधान करती हैं—प्रत्येक लक्ष्यार्थ एक प्रकार का बिंब होता है : 'गगा पर घर' मे 'पर' के लक्ष्यार्थ से तीरवर्ती घर के नैकट्य का बिंब अनायास ही उभर आता है। इसी प्रकार 'सामने देखा, खडा था अस्थिर-पंजर एक'—या 'आंचल मे है दूध और आंखो मे पानी'—लक्षणा के ये सभी प्रयोग बिंब-रूप हैं। दुर्बलता के आधिक्य को, जो अपने-आप मे एक अमूर्त धारणा है, अस्थि-पंजर के बिंब द्वारा मूर्त किया गया है। वात्सल्य के लिए 'आचल के दूध' और विरह के लिए 'आखो के पानी—आंसू' का बिंब प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार लक्षणा द्वारा व्युत्पन्न अर्थ प्राय: बिंब रूप ही होता है, अतः लक्षणा बिंब-योजना का अत्यत समर्थ उपकरण है, इसमे सदेह नही। परंतु लक्ष्यार्थ और बिंब का पर्याय-संबंध नही है। क्योंकि बिंब का स्वरूप जहा अनि-वार्यत. मूर्त होता है, वहां लक्ष्यार्थ अमूर्त भी होता है। लक्षणा मे केवल अमूर्त के लिए मूर्त का—अर्थात् गुण के लिए गुणी का प्रयोग ही नही होता वरन् मूर्त के स्थान पर अमूर्त का प्रयोग भी उतना ही चमत्कारपूर्ण होता है : उदाहरण के लिए—

मेरे मन मे आज अचानक राक्षस जागा।

यहां अमूर्त तमोगुणी वृत्तियो के लिए मूर्त 'राक्षस' का प्रयोग किया गया है, तमोगुण अमूर्त है, उसको मूर्तित करने के लिए लक्षणा राक्षस का बिंब प्रस्तुत करती है। इसके विपरीत—'राक्षसता उनको विलोक कर थी लज्जा से लोहित-सी।' यहां 'राक्षसता' अमूर्त है, उसका अपना बिंब नही बनता; जो कुछ बनता भी है वह 'राक्षस' का ही बनता है। 'मेरे मन का पाप आज चीत्कार कर रहा'—यहां पाप की धारणा का अपना बिंब नही है, जो बिंब बनता है वह पाप-कर्म का या फिर 'चीत्कार' का ही बनता है। कहने का अभिप्राय यह है कि लक्षणा बिंब-विधान का अत्यंत समर्थ उपकरण है—बिंब के निर्माण मे उसका योग प्राय रहता है परतु लक्ष्यार्थ और बिंब में ऐकात्म्य नहीं है। इसी प्रकार व्यंग्यार्थ-ध्वन्यर्थ भी बिंब-रूप होता है : 'सूर्यास्त हो गया' वाक्य से विभिन्न श्रोता जो विभिन्न अर्थ ग्रहण करते हैं, उनके अलग-अलग बिंब होते हैं—जैसे संध्या-वंदन का बिंब, अभिसार का बिंब आदि। किंतु ध्वन्यर्थ सदा बिंब-रूप

नही होता; वस्तुध्वनि तो बिंब-रूप होती है, पर रस-ध्वनि का स्वरूप बिंबमय नही होता। रस-ध्वनि, जिसके अतर्गत भाव-ध्वनि आदि का भी समावेश रहता है, निश्चय ही अनुभूति-रूप होती है—बिंब उसका माध्यम अवश्य होता है, किंतु उसका स्वरूप अनुभूतिमय होता है।

उपमान और प्रतीक के साथ भी बिंब का घनिष्ठ सबंध है। उपमान बिंब-रचना का साधन है· सादृश्य-विधान उपमान की सहायता से होता है। प्रत्येक उपमान का अपना बिंब होता है जो उद्दिष्ट अर्थ —अनुभूति या विचार—को मूर्तित करने मे सहायक होता है। वास्तव मे उपमान की अपेक्षा बिंब की परिधि कही अधिक विस्तृत और व्यापक है : बिंब-विधान के अनेक उपकरणो मे से उपमान एक अत्यत उपयोगी उपकरण है। प्रतीक एक प्रकार से रूढ उपमान का ही दूसरा नाम है, जब उपमान स्वतत्र न रहकर पदार्थ-विशेष के लिए रूढ हो जाता है तो वह प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक प्रतीक अपने मूल रूप मे उपमान होता है, धीरे-धीरे उसका बिंब-रूप या चित्र-रूप संचरणशील न रहकर स्थिर या अचल हो जाता है। अत: प्रतीक एक प्रकार का अचल बिंब है जिसके आयाम सिमट कर अपने भीतर बंद हो जाते हैं।

अलकार और बिंब का सबध और भी गहरा है—यहा तक कि अलकार-विधान और बिंब-विधान दोनो प्राय· अप्रस्तुत-विधान के वाचक और परस्पर समानार्थक बन जाते हैं। फिर भी अलंकार और बिंब मे भेद है। यह ठीक है कि दोनो अभिव्यजना के उपकरण हैं और दोनो के कर्तव्य-कर्म प्राय. समान हैं, परतु अलकार की परिधि अधिक व्यापक है। बिंब का क्षेत्र औपम्य=साम्यमूलक अलकारो तक ही सीमित है : विरोध मे भी साम्य का विपरीत रूप होने से विरोधमूलक अलकारो मे भी बिंब की कल्पना की जा सकती है। किंतु इनके अतिरिक्त भी रचनानुक्रम, श्लेष आदि पर आश्रित अनेक अलकार रह जाते है जिनमे बिंब की कल्पना नही की जा सकती—जब तक कि बिंब की व्याप्ति अर्थ मात्र तक न मान ली जाए।

अत मे, काव्यशास्त्र मे प्रयुक्त कुछ और धारणाए भी हैं जो बिंब के निकट हैं—जैसे कल्पकथा (मिथ), रूपक (मेटाफर), अन्योक्ति-रूपक (एलिगरी) आदि। इनके अतिरिक्त एक और धारणा है—सहजानुभूति (इट्यूशन) जो क्रोचे के सौदर्य-दर्शन का मूल आधार है। इनमे से सहजानुभूति वास्तव मे आत्मा की वह क्रिया है जो बिंब का उत्पादन करती है—किसी भी पदार्थ की सहजानुभूति मनुष्य को बिंब रूप मे ही होती है, अत क्रिया रूप मे सहजानुभूति और बिंब मे अभेद सबध है यद्यपि मूलत सहजानुभूति और बिंब मे उत्पादक-उत्पाद्य सबध है। रूपक (मेटाफर के अर्थ मे) लक्षणा के प्रयोग का ही पर्याय है जिसका विवेचन हम अभी कर चुके हैं : वह बिंब का साधन है। अन्योक्ति-रूपक और कल्पकथा सश्लिष्ट प्रबंध बिंब के विशेष प्रकार हैं। अमूर्त सिद्धात या विचारधारा को मूर्त रूप देने के लिए जिस शृंखलित या निबद्ध बिंब-विधान की सृष्टि की जाती है, वही अन्योक्ति-रूपक है। जब इस प्रकार के बिंब जन-जीवन के विश्वास के अग बन जाते हैं—गल्प न रहकर तथ्य

प्रतीत होने लगते हैं तो वे पुराकथा का रूप धारण कर लेते हैं। इसलिए अन्योक्ति-रूपक और कल्पकथा या पुराकथा निश्चय ही बिंब-प्रकार हैं : एक मे कल्पना के साथ विचार का और दूसरे मे विश्वास का अनिवार्य आधार होने से उनका स्वरूप सामान्य बिंब से विशिष्ट हो जाता है।

प्रकार · बिंब के प्रकार-भेदो का निर्धारण उसके विधायक तत्त्वो के आधार पर किया जा सकता है। बिंब मे ऐंद्रिय आधार प्रमुख रहता है, अत ऐंद्रिय माध्यम के आधार पर बिंब के पाच भेद किए जा सकते हैं—दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य. घ्रातव्य और रस्य या आस्वाद्य। दृश्य या चाक्षुष बिंब आकारवान् होते हैं। इनका स्वरूप सबसे अधिक स्पष्ट होता है क्योकि उसके आयाम अधिक मूर्त होते हैं। यही कारण है कि ऐसे प्रत्येक अनुभव के लिए जिसमे किसी भी इद्रिय का सीधा सन्निकर्ष होता है, 'प्रत्यक्ष' 'विश्लेषण का ही प्रयोग किया जाता है और जीवन तथा काव्य मे दृश्य बिंबो का प्रयोग सर्वाधिक होता है—इसीलिए अलकार-तंत्र मे भी सादृश्य का इतना अधिक महत्त्व रहा है। श्रव्य या नादात्मक बिंब वे होते हैं जिनका ग्रहण कर्णेंद्रिय के द्वारा किया जाता है · वर्ण-ध्वनि, छान्दस लय, तुकात आदि के बिंब श्रव्य हैं अनुप्रास, वृत्ति आदि से भी श्रव्य बिंबो का उत्पादन होता है। प्रत्येक छद का अपना एक बिंब होता है। 'घन घमड नभ गर्जत घोरा' मे महाप्राण वर्ण-ध्वनि का अपना श्रव्य बिंब है, उधर चौपाई की लय का अपना स्वतत्र बिंब है—और दोनो के समन्वय से एक सश्लिष्ट बिंब का निर्माण होता है।

इसके अतिरिक्त अनेक श्रव्य बिंब ऐसे हैं जो ध्वनि-प्रतीको पर आश्रित रहते हैं · जैसे वीणा, वशी, मृदग, कोकिल, केकी आदि। इनके अपने-अपने चाक्षुष बिंब भी होते है, परतु वे अप्रासगिक होते है।—उदाहरण के लिए 'हृदय-वीणा' (=हृदय का सगीत) आदि मे वीणा का श्रव्य बिंब ही सामान्यतः सार्थक है। छायावाद के कवियो ने इसी रूप मे उसका प्रयोग किया है—'लोकायतन' मे पत का 'नितबमयी वीणा' प्रयोग, जो वीणा के चाक्षुष बिंब पर आधृत है, एक प्रकार का अपवाद है। स्पृश्य बिंब मे स्पर्शजन्य सवेदनो के समन्वय से बिंब का निर्माण होता है—पेशल या कोमल, कर्कश, कठोर आदि विशेषण इसी प्रकार के स्पर्श-बिंबो के वाचक शब्द हैं जिनके बिंबात्मक रूप अतिप्रयोग के कारण जड बन गए हैं। 'मखमली घास', 'रेशमी वर्ण-योजना' आदि मे स्पृश्य बिंबो का चमत्कार है। गध-बिंब काव्य मे और भी विरल होते हैं, विश्व के काव्य मे ऐसे उदाहरण एकत्र करना कठिन है जिनमे सश्लिष्ट घ्रातव्य बिंब प्रस्तुत किए गए हो। कीट्स जैसे कवि के काव्य मे भी, जिसका ऐंद्रिय सवेदन अत्यत प्रखर था, इस प्रकार के उदाहरण दो-चार ही मिलते हैं और उनका ग्रहण भी सर्व-सुलभ नही है। भिन्न-भिन्न गध-रूपो के प्रतीक फूलो आदि के द्वारा भी घ्रातव्य बिंबो का उत्पादन होता है और इस प्रकार के बिंब प्राय उपलब्ध भी होते है, परंतु उनकी बिंबता बहुत-कुछ रूढ हो जाती है। इनकी अपेक्षा आस्वाद्य बिंब अधिक सुलभ होते हैं क्योकि सौंदर्य के आस्वाद की अभिव्यक्ति और व्याख्या दोनो मे ही आस्वाद-परक बिंबो का प्रयोग स्वभावत. सरल होता है। 'मीठी लगैं अँखियान लुनाई'—या

'नयन सलौने अधर मधुर कहि रहीम घटि कौन ?' में आस्वाद्य बिंबो का स्पष्ट प्रयोग है। अंत में ऐंद्रिय बिंबो के विषय में एक बात ध्यान देने की यह है कि इनका प्रायः विपर्यय होता रहता है—'मधुर रूप' मे दृश्य के लिए आस्वाद्य बिंब का प्रयोग है; 'कोमल स्वर' और 'कटु स्वर' में श्रव्य के लिए क्रमशः स्पृश्य तथा आस्वाद्य बिंबों का और 'कोमल पेय' (सौफ्ट ड्रिंक) मे आस्वाद्य के लिए स्पृश्य बिंब का प्रयोग अनायास ही होता रहता है। इस विपर्यय का कारण यह है कि विभिन्न इंद्रिया केवल एक ही चेतना के माध्यम-भेद हैं।

बिंबो का वर्ग-विभाजन सर्जक कल्पना के आधार पर ही हो सकता है। जब कल्पना प्राय निष्क्रिय रहती है और स्मृति के द्वारा ही बिंब की उद्बुद्धि होती है तब 'स्मृत' बिंब की सृष्टि होती है। अतीत अनुभव के आधार पर यथार्थपरक बिंब स्मृत बिंब कहलाते हैं। इसके विपरीत कविप्रौढोक्ति-सिद्ध बिंब, जो सक्रिय कल्पना की सृष्टि होते हैं, 'कल्पित बिंब' कहलाते हैं। इन्ही के समानातर 'लक्षित' और 'उपलक्षित' बिंब-वर्ग हैं। लक्षित बिंब का आधार प्रस्तुत और उपलक्षित का आधार अप्रस्तुत होता है :

दृढ जटा-मुकुट हो विपर्य्यस्त प्रति लट से खुल,
फैला पृष्ठ पर, बाहुओ पर, वक्ष पर विपुल।
उतरा ज्यो दुर्गम पर्वत पर नैशांधकार,
चमकती दूर ताराएँ हो ज्यो कही पार।

('राम की शक्ति-पूजा')

यहां पहली दो पंक्तियो मे अंकित राम का चित्र लक्षित बिंब का उदाहरण है और अंतिम दो पक्तियो मे उपस्थित कविप्रौढोक्ति-सिद्ध अप्रस्तुत-विधान उपलक्षित बिंब का।

इसी प्रकार प्रेरक अनुभूति के आधार पर बिंबो के 'सरल', 'मिश्र', 'जटिल', 'पूर्ण' या 'समाकलित' बिंबो की कल्पना की गई है। सरल अनुभूति से प्रेरित बिंब सरल होता है. जैसे—

लज्जा ने घूँघट काढा।
मुख का रंग किया गाढा॥ ('साकेत')

मिश्र अनुभूति का बिंब मिश्र होता है : जैसे—

लाली बन सरल कपोलो मे
आँखों मे अजन-सी लगती
कुंचित अलको सी घुंघराली
मन की मरोर बन कर जगती।
चचल किशोर सुदरता की
मैं करती रहती रखवाली
मैं वह हलकी सी मसलन हूँ
जो बनती कानो की लाली।

('कामायनी')

और, जटिल अनुभूति का बिंब जटिल होता है

> कोमल किसलय के अचल मे नन्ही कलिका ज्यो छिपती-सी,
> गोधूली के धूमिल पट मे दीपक के स्वर मे दिपती-सी,
> मंजुल स्वप्नो की विस्मृति मे मन का उन्माद निखरता ज्यो,
> सुरभित लहरो की छाया मे बुल्ले का विभव बिखरता ज्यो,
> वैसी-ही माया मे लिपटी अधरो पर उँगली धरे हुए,
> माधव के सरस कुतूहल का आँखो मे पानी भरे हुए;
> नीरव निशीथ मे लतिका-सी तुम कौन आ रही हो बढती ?
> कोमल बाँहे फैलाए-सी आलिगन का जादू पढती ?
> किन इन्द्रजाल के फूलो से लेकर सुहाग-कण राग-भरे,
> सिर नीचा कर हो गूँथ रही माला, जिससे मधु धार ढरे ?
>
> ('कामायनी')

पहले विंब की रेखाए और रग स्पष्ट हैं। लज्जा के उदय से 'मुख की लालिमा मे बृद्धि' और शील के प्रभाव से 'घूघट-सा कढ आना' . रग भी एक है और रेखाएं भी स्पष्ट हैं। दूसरे मे भी लज्जा के ही प्रभाव का वर्णन है, पर उसमे अनेक रगमिले हुए हैं और उधर रेखाए भी एक-दूसरे के साथ गुथी हुई हैं—कपोलो की लाली, आखो मे शील का अंजन, कुचित अलको की घूघर और उसके समान मन की मरोड, सुदर बाला की किशोरावस्था-जन्य चचलता, उसकी अभिभाविका के रूप मे लज्जा, का नियत्रण; अंत मे मन मे होने वाली कामपीडा की मसलन और उससे प्रेरित कर्ण-मूलो की लाली। इस प्रकार, काम और शील के द्वद्व को मूर्तित करने के लिए रति की प्रेरक और रोधक मानसिक-शारीरिक क्रियाओ के व्यजक विभिन्न रगो और रेखाओ के मेल से मिश्र बिंब की रचना की गई है। तीसरा बिंब निश्चय ही जटिल है, उसकी रेखाएं उलझी हुई और रग धूमिल हैं . प्रमाता को अपनी कल्पना के द्वारा क्रम लगाकर बिंब की रूपरेखा पूर्ण करनी पडती है।

खडित अनुभूति 'खडित बिंबो' और बिखरी हुई अनुभूति 'विकीर्ण बिंबो' की सृष्टि करती है। मूलतः खंडित बिंब और विकीर्ण बिंब मे परिमाण का भेद है, गुण का नही। विकीर्ण बिंब भी खडित बिंब ही होता है—वास्तव मे विकीर्ण बिंब एक प्रकार की खडित बिंबावली का नाम है। खंडित एव विकीर्ण बिंबो का प्रयोग नयी कविता की विशेषता है। अन्य कवियो के संदर्भ मे खंडित बिंब का विधान जहा अभि-व्यक्ति की असफलता का द्योतक था, और आज भी है, वहा नया कवि सिद्धातत· आज की अनुभूति को खडित मानता हुआ अपनी अभिव्यंजना मे खडित बिंब-योजना की स्थिति अनिवार्य समझता है :

> इसी अहाते के अदर
> है, वहाँ मध्य मे
> उलटे तिरछे खडे पुराने पेड
> ऊँचाई पर बड़ेख ड्ड मे

उन पेड़ो की डालो मे से, एक
झाँक रही कत्थई रुखाई जो कि
वह बँगला है, लाल भवन है, क्योंकि
कोई रक्तिम केन्द्र
उसी केन्द्र की तलाश मे चुपचाप
घूम रहा हूँ आप।
सुना है कि उस केन्द्र-सत्य मे, खाट
डालकर सोता है विभ्राट्
कोई मर गया किसी से गुप्त युद्ध मे
उसी अहाते के अंदर,
तरु-घिरे मध्य में। ('चाँद का मुँह टेढ़ा है')

'पूर्ण' अथवा 'समाकलित' बिंब समाकलित अनुभूति की सृष्टि होता है : सर्जक चेतना की संचारी अनुभूतियो के समाकलन के साथ ही उनके बिंब भी समाकलित होकर एक समंजस बिंब का निर्माण करते हैं। कला का गौरव इस प्रकार के बिंबो पर ही निर्भर करता है। 'राम की शक्ति-पूजा' से उद्धृत शब्दचित्र इसी प्रकार के समाकलित बिंब का अत्यंत भव्य उदाहरण है। पंत के 'परिवर्तन' से इसी प्रकार का एक बिंब निम्नांकित है :

अहे वासुकि सहस्रफन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर !
शतशत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे है घनाकार जगती का अंबर !
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पांतर,
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुडल
दिङ्मडल !

काव्यार्थ की दृष्टि से दो-तीन प्रकार के बिंब सामने आते हैं—(१) 'एकल' या 'मुक्तक' जो अपने मे स्वतंत्र और अन्य बिंबों के पूर्वापर संबंध से मुक्त होते हैं, (२) 'संश्लिष्ट' या 'निबद्ध' जिनमे अनेक बिंब परस्पर संबद्ध रहते हैं। उपरिविवेचित सरल बिंब एकल होते हैं और मिश्र तथा समाकलित बिंब संश्लिष्ट होते हैं। उदाहरण लीजिए :

१. सरल बिंब—

व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छाया-छवि मे आप,
सुनहला फैला केश-कलाप
मधुर, मंथर, मृदु, मौन ! ('संध्या'—पंत)

२. संश्लिष्ट बिंब—

अब हुआ सांध्य [स्वर्णाभ लीन,
सब वर्ण वस्तु मे विश्व हीन।
गंगा के चल जल मे निर्मल, कुम्हला किरणो का रक्तोत्पल
है मूंद चुका अपने मृदु दल
लहरो पर स्वर्ण-रेख सुन्दर, पड गई नील ज्यो अधरो पर
अरुणाई, प्रखर शिशिर से डर।
तरुशिखरो से वह स्वर्ण-विहग, उड गया खोल निज पख सुभग
किस गुहा-नीड़ मे रे किस मग !
मृदु-मृदु स्वप्नो से भर अंचल, नव नील-नील कोमल कोमल
छाया तरु-वन मे तम श्यामल !

('संध्यातारा'—पंत)

प्रबंध-काव्य के संदर्भ मे बिंबो का अपना अलग स्वरूप और उपयोग है। प्रबध-कवि अपने ढंग से छोटे-बड़े बिंबो का प्रयोग करता है। कथावस्तु का लघुतम रूप है घटना, घटनाओ के संघात से प्रकरण का निर्माण होता है और प्रकरणो के संयोजन मे कथानक का। प्रबंध-काव्य मे इनके अपने-अपने बिंब होते हैं वरन् यह कहना अधिक संगत होगा कि ये सभी वस्तुतः बिंब हैं। जिस प्रकार काव्यगत भाव का स्वरूप अनुभूतिमय न रहकर बिंबात्मक बन जाता है, इसी प्रकार काव्यगत घटना का स्वरूप भी बिंबात्मक ही होता है। तत्त्व-दृष्टि से जीवन की भी प्रत्येक घटना किसी अनुभूति की भौतिक अभिव्यक्ति—बिंब रूप ही होती है। काव्य के क्षेत्र मे तो यह स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है : काव्य मे वर्णित घटना की भौतिक सत्ता गौण होती है : मुख्य होती है वह अनुभूति जिसको इस घटना के द्वारा व्यक्त किया गया है। 'घटना-बिंबों' के समन्वय मे 'प्रकरण-बिंबो' का निर्माण होता है। 'अभिज्ञान-शाकुंतल' मे 'दुर्वासा का शाप' एक प्रकरण है जिसमे दुर्वासा का भिक्षा के लिए आना, शकुंतला की विरह-मूढ दशा और उसके कारण की उपेक्षा, दुर्वासा का शाप, प्रियवदा द्वारा अनुनय और दुर्वासा द्वारा शाप-मुक्ति के उपाय का उपदेश आदि घटनाएं समवेत हैं। इनमे से प्रत्येक घटना किसी-न-किसी अनुभूति का बिंब है और इनमे निर्मित 'दुर्वासा-शाप' का संश्लिष्ट बिंब एक विशेष काव्यार्थ का व्यंजक माध्यम-बिंब है, जिसके तथ्यार्थ का विशेष मूल्य न होकर व्यंग्यार्थ का ही कलात्मक महत्त्व है। इसी प्रकार संपूर्ण कथानक भी एक वृहद् बिंब है जिसका निर्माण अनेक प्रकरण-बिंबो से मिलकर होता है। यही 'प्रबंध-बिंब' है। जिस प्रकार घटना या प्रकरण किसी काव्यार्थ के व्यंजक माध्यम होते हैं, इसी प्रकार संपूर्ण कथानक भी किसी काव्यार्थ का व्यंजक होता है जिसे काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने 'प्रबंध-ध्वनि', 'महाकाव्यार्थ' आदि नामो से अभिहित किया है। कथाकाव्य के अन्य अंगों—पात्र, परिवेश आदि के विषय मे भी यही स्थिति है। प्रत्येक पात्र के चारित्रिक गुणो के भी अपने-अपने बिंब होते हैं और संपूर्ण चरित्र का भी एक

बिंब होता है। किसी चरित्र का गौरव इस बात पर निर्भर करता है कि उसके बिंब की रेखाएं कितनी पुष्ट, रंग कितने गाढ़े और योजना कितनी समंजस है। यही परिवेश के संदर्भ मे भी सही है; हर एक कथानक का अपना परिवेश अर्थात् देश-काल होता है जो बिंब-रूप मे ही पाठक की कल्पना मे उपस्थित होता है।

इनके अतिरिक्त काव्यदृष्टि के आधार पर (१) 'वस्तुपरक' अथवा 'यथार्थ' और (२) 'रोमानी' अथवा 'स्वच्छंद' बिंबो की प्रकल्पना भी की जा सकती है और अनेक आलोचको ने अपनी व्यावहारिक समीक्षा में 'रोमानी बिंब-विधान' आदि का स्पष्ट रूप मे प्रयोग किया है। मनोविश्लेषणशास्त्र के क्षेत्र मे बिंब के कतिपय अन्य प्रकारो का भी उल्लेख मिलता है—जैसे स्वप्न-बिंब और आद्य बिंब। स्वप्न-बिंबो की सृष्टि व्यक्ति का अवचेतन मन करता है: फ्रॉयड ने इनका विस्तार से विवेचन किया है। आद्य बिंब सामूहिक अवचेतन की सृष्टि होते है—इनकी प्रकल्पना युग ने की है। ये आदिम अनुभूतियो के संस्कार रूप मे आज भी मानव-जाति के अवचेतन मन मे विद्यमान हैं और अनेक प्रकार से अपनी अभिव्यक्ति करते रहते हैं। इसमे संदेह नही कि काव्य-बिंब का इनके साथ थोड़ा-बहुत साम्य है जैसा कि काव्य का स्वप्नो या आद्य कल्पनाओं के साथ साम्य है। फिर भी जिस प्रकार काव्य अवचेतन मन की क्रियाओ से प्रभावित होने पर भी चेतन मन की ही क्रिया है, इसी प्रकार काव्य-बिंब भी अपनी निर्मिति-प्रक्रिया मे स्वप्न-बिंबो तथा आद्य-बिंबो को काव्य-बिंब के भेद न मानकर उपादान मानना अधिक सगत होगा। जिस प्रकार चेतन कल्पना अवचेतन मन की क्रिया से भी प्रभावित रहती है और अनजाने उसका उपयोग करती है, इसी प्रकार कवि-कल्पना भी जाने-अनजाने, प्रायः अनजाने ही, स्वप्न-बिंबो तथा आद्य बिंबो का उपयोग करती है। इसके आगे अवचेतन मनोविज्ञान की सीमाओ मे प्रवेश करना पड़ेगा, जो साहित्य के आलोचक के लिए न सुगम है और न उपयोगी।

अंत मे, बौद्धिक या प्रज्ञात्मक बिंबों का भी प्रश्न सामने आता है। परंतु ये तथाकथित प्रज्ञात्मक बिंब वास्तव में धारणा-रूप होते हैं और धारणा स्वीकृत अर्थ मे बिंब नही होती। क्रोचे ने बिंब और धारणा को आत्मा की दो भिन्न उपक्रियाओं की सृष्टि माना है। उसके अनुसार, आत्मा की मूलतः दो क्रियाएं होती है— व्यावहारिक तथा विचारात्मक। विचारात्मक क्रिया के भी दो भेद होते हैं—सहजानुभूति और प्रज्ञा। सहजानुभूति बिंबो का उत्पादन करती है और प्रज्ञा प्रत्ययो या धारणाओ का। बिंब का रूप विशेष होता है और धारणा का सामान्य; बिंब का विषय पदार्थ होता है और धारणा का विषय होता है पदार्थों का संबंध। अतः बिंब और प्रत्यय अथवा धारणा का भेद अत्यंत स्पष्ट है—धारणा प्रायः बिंब का विपरीतार्थक शब्द है। ऐसी स्थिति मे धारणा के बिंब अथवा प्रज्ञात्मक बिंब की प्रकल्पना अधिक संगत नही हो सकती। न्याय, पाप, पुण्य, सत्य, अहिंसा, क्षमा आदि धारणाएं ही हैं, बिंब नही है। इनके बिंबों की कल्पना दो रूपो मे ही की जा सकती है: एक तो इस रूप मे कि प्रत्येक सार्थक शब्द का एक बिंब होता है और इस प्रकार धारणा का भी कुछ-न-कुछ बिंब अवश्य बनता है—चाहे वह कितना ही अमर्त क्यों न हो; दूसरे, उस स्थिति मे जब कि धारणा

भौतिक कर्म अथवा घटना पर आरूढ होकर उसी की पर्याय बन जाती है—जैसे कि न्याय या पाप विचार-रूप मे बिंबहीन है, परतु कर्म-रूप मे वह बिंबात्मक बन जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रज्ञात्मक बिंब की स्थिति लक्ष्यार्थ मे ही मानी जा सकती है, वैज्ञानिक अर्थ मे उसे स्वीकार कर लेने से बिंब का अर्थ फिर उलझ जाएगा। कम-से-कम काव्य के सदर्भ मे इस प्रकार के बिंब का विशेष मूल्य नही है।

इसी प्रसग मे भावात्मक बिंबो का प्रश्न भी लिया जा सकता है। न्याय, पुण्य, पाप, तप, निष्ठा आदि के समान ही पीडा, संशय, वासना, लालसा, क्रोध आदि भावो का प्रयोग भी काव्य मे सादृश्य-विधान के लिए प्राय किया जाता है

१—बढने लगा विलास-वासना-सा वह भैरव जलसघात।

('कामायनी')

२—धीरे धीरे संशय-से उठ बढ अपयश-से शीघ्र अछोर;
नभ के उर मे उमड मोह-से, फैल लालसा-से निशि-भोर।

('बादल'—पंत)

३—मेरा गीत दर्द-सा उठा और आह-सा बिखर गया।

इन्हे बिंब माना जाय या नही ? हमारा उत्तर यह है कि इनमे से कुछ तो मूलत भाव होते हुए भी वर्तमान संदर्भ मे धारणा के रूप मे प्रयुक्त हुए है : जैसे 'वासना', 'सशय' और 'मोह' का प्रयोग संवेदन के रूप मे न होकर 'धारणा' के रूप मे हुआ है, अतः संवेदनशील होने पर भी इनकी स्थिति प्रायः वैसी ही है जैसी कि किसी शुद्ध धारणा की होती है। शुद्ध 'धारणा' के सदर्भ मे विचार के स्थान पर प्रायः व्यवहार या कर्म का बिंब उपस्थित होता है और यहा भाव के स्थान पर उसके अनुभवो का—प्राय. आतरिक अनुभवो का। उदाहरण के लिए 'बादल' के चित्र की प्रथम पंक्ति मे 'अपयश' एक धारणा है और 'अपयश की तरह फैलने' मे 'अपयश' का अर्थ है अपयश-संबंधी सूचना, जिसका माध्यम है जन-वार्त्ता आदि। अत. अपयश से अपयश-सबधी जनवार्त्ता आदि का बिंब ही हमारे सामने उपस्थित होता है। 'संशय', 'वासना', 'मोह', 'लालसा', 'दर्द' (पीडा)—आदि के बिंब आतरिक अनुभावो—अर्थात् इन धारणाओ से सबद्ध मानसिक-ऐंद्रिय (स्नायविक) क्रियाओ के बिंबो के रूप मे उपस्थित होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रज्ञात्मक बिंबो की भाति भावात्मक बिंबो के भी स्वतत्र अस्तित्व की प्रकल्पना सार्थक नही मानी जा सकती।—भेद केवल इतना ही है कि भावना में धारणा की अपेक्षा ऐंद्रिय तत्त्व अधिक होने के कारण उसके स्वरूप मे गोचरता और बिंबात्मकता स्वभावत अधिक रहती है और इसीलिए 'असत्य' की अपेक्षा 'मोह' का या 'आदर' की अपेक्षा 'प्रेम' का बिंब अपने सहज रूप मे ही अधिक स्पष्ट होता है।

कठिनाई वास्तव मे यह है कि चाक्षुष बिंबो के अतिरिक्त अन्य बिंब गोचर होते हुए भी इतने अमूर्त होते हैं कि अपनी अमूर्तता मे वे प्राय. मानसिक प्रक्रियाओं के निकट पहुच जाते हैं—'भूख-प्यास' मे और 'तीव्र इच्छा' मे मानसिक-ऐंद्रिय

(स्नायविक) क्रियाएं इतनी अधिक समान होती हैं कि उनका भेद करना सामान्यतः कठिन होता है। अतः एक मत (यद्यपि यह अल्पमत ही है) यह भी है कि बिंब चाक्षुष ही होते हैं—स्पृश्य, आस्वाद्य आदि अन्य तथाकथित बिंबों को संवेदन ही मानना चाहिए। बाह्य दृष्टि से यह मत सहज ग्राह्य प्रतीत होता है, परंतु वैज्ञानिक विश्लेषण करने पर इसकी अप्रामाणिकता अनायास ही सिद्ध हो जाती है। विज्ञान की दृष्टि से रूप, रस, गंध आदि के ग्रहण की प्रक्रिया प्रायः एक-सी ही होती है. सभी में पदार्थ के साथ इंद्रिय का सन्निकर्ष चेतना में किसी-न-किसी प्रकार के बिंब या बिंब-विधान की उद्बुद्धि करता है। दृष्टि-पटल (रेटिना) पर पदार्थ का जो अक्स पड़ता है उसे रूप कहते हैं और त्वचा पर जो अक्स पड़ता है उसे स्पर्श कहते हैं. जैसे लालिमा, नीलिमा आदि रूप-बिंब हैं, ऐसे ही कोमलता-कठोरता आदि स्पर्श-बिंब हैं, सुगंध-दुर्गंध आदि घ्राण-बिंब हैं, कटु-तिक्त आदि स्वाद-बिंब हैं। पत्थर और किसलय के स्पर्श से, चंपा और केवड़े की गंध से या वीणा तथा वंशी के स्वर से केवल संवेदन ही उत्पन्न होकर नहीं रह जाते, वरन् ये संवेदन संश्लिष्ट होकर स्पष्ट मानस-छवियों का निर्माण करते हैं जो चाक्षुष न होकर भी गोचर होती हैं। व्यवहार-दृष्टि से भी बिंब अनुभूति की मूर्तन-क्रिया का अंग है—मनोगोचर को इंद्रिय-गोचर बनाने का साधन है : अतः यदि इसे केवल एक इंद्रिय—नेत्र की क्रिया तक ही सीमित कर दिया जाएगा तो इसकी परिधि और उपादेयता अत्यंत सीमित हो जाएगी, सौंदर्य केवल रूप का ही पर्याय बन जाएगा और कला केवल नयन-विलास होकर रह जाएगी।

बिंबों के सामान्यतः ये ही या इसी तरह के प्रकार-भेद हो सकते हैं : कुछ अन्य दृष्टियों से भी इन भेदों का संख्या-विस्तार किया जा सकता है. पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र में अनेक प्रकार से बिंबों के इतने अधिक भेद कर दिये गये हैं कि वे प्रायः एक-दूसरे की सीमा में प्रवेश कर जाते हैं और अर्थ के समस्त प्रकार और रूप बिंबात्मक हो जाते हैं।

उदाहरण के लिए, निश्चित आधार के अभाव में स्केल्टन का वर्गीकरण लिया जा सकता है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'दि पोएटिक पैटर्न' में काव्यात्मक बिंबों के कुछ इस प्रकार के भेद किए हैं : सरल, तात्कालिक, विकीर्ण, अमूर्त, संयुक्त-मिश्र, संयुक्त-अमूर्त, मिश्र-अमूर्त, अमूर्त-संयुक्त और अमूर्त-मिश्र। हमारे विचार से इस प्रकार की अतिव्याप्ति से बिंब-विवेचन एकदम उलझ जाता है और उसके स्वरूप, सीमा तथा क्षेत्र का निर्धारण असंभव हो जाता है।

अतिव्याप्ति तथा आवृत्ति को बचाते हुए स्थूल रूप से निम्नलिखित बिंब-भेद मानना व्यवहार-दृष्टि से अधिक संगत होगा :

(वर्ग-१) दृश्य (चाक्षुष), श्रव्य (श्रौत), स्पृश्य, घ्रातव्य और रस्य (आस्वाद्य); (वर्ग-२) लक्षित और उपलक्षित; (वर्ग-३) सरल और संश्लिष्ट; (वर्ग-४) खंडित और समाकलित; (वर्ग-५) वस्तुपरक और स्वच्छंद।

ये भेद स्वतंत्र या एक-दूसरे से असंबद्ध नहीं हैं : इनका परस्पर संबंध हो सकता है और प्रायः होता है। उदाहरण के लिए चाक्षुष बिंब लक्षित भी होता है और उपलक्षित भी। इसी प्रकार लक्षित चाक्षुष बिंब सरल भी हो सकता है और संश्लिष्ट भी—और यह संश्लिष्ट लक्षित चाक्षुष बिंब वस्तुपरक तथा स्वच्छंद दोनों तरह का हो सकता है—अर्थात् हम समग्र रूप मे एक 'वस्तुपरक समाकलित लक्षित चाक्षुष बिंब' की कल्पना अनायास ही कर सकते हैं।

हमारा विश्वास है कि इनका निर्भ्रांत ज्ञान होने से कवि अथवा कविता की बिंब-योजना का विश्लेषण करने मे सहायता मिल सकती है।

भारतीय काव्यशास्त्र में बिंब-विषयक संकेत

भारतीय काव्यशास्त्र का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण है—वास्तव मे प्रत्येक देश और जाति के काव्य एवं काव्यशास्त्र का अपना दृष्टिकोण होता है। फिर भी, जीवन की भांति काव्य के भी कतिपय तत्त्व ऐसे हैं जो चिरंतन और सार्वभौम हैं—विभिन्न देशो की चितन-पद्धति मे उनके नाम-रूप भिन्न हो सकते हैं, किंतु तत्त्वदृष्टि से उनमे मौलिक भेद नही होता। काव्य के क्षेत्र में एक तो उसका सवेद्य तत्त्व है और दूसरी है उसकी मूर्तन-प्रक्रिया : इन दोनो के भी पृथक् अस्तित्व की कल्पना तत्त्वतः अधिक संगत नही है, पर व्यवहार मे इनको प्राय. अलग करके देखना अनिवार्य हो जाता है। भिन्न-भिन्न भाषाओ के काव्यशास्त्र मे इनके अलग-अलग नाम हैं, इनमे संबद्ध धारणाओ मे और दृष्टिकोणो अथवा विवेचन-पद्धतियो मे भी अतर है, पर ये दोनो तत्त्व किसी-न-किसी रूप मे सर्वत्र ही मिलते हैं। बिंब या बिंब-विधान का संबंध मूर्तन-प्रक्रिया से है और इसलिए प्रत्येक काव्यशास्त्र मे उसका किसी-न-किसी रूप मे विचार अनिवार्यत. होना ही चाहिए। भारतीय काव्यशास्त्र मे काव्य के तत्त्व व रूप दोनो का अत्यत सूक्ष्म-गभीर और विस्तृत विवेचन किया गया है, अत. बिंब-विषयक धारणाओ का भी विवेचन यहा अनेक प्रसगो मे प्रकारातर से किया ही गया है।

कल्पना की सृष्टि होने के कारण बिंब का सवध अलंकार, ध्वनि, वक्रता के साथ अधिक घनिष्ठ है और रीति के साथ अपेक्षाकृत कम है। अलकार-विधान मे सादृश्यमूलक अलंकार प्राय बिंबात्मक होते हैं, जिनमे सादृश्य प्रतीयमान रहता है उनमे बिंब की स्थिति और भी अधिक निश्चित रहती है। दृष्टात और निदर्शना अलंकारो के लक्षणो मे सयोग से बिंब शब्द का प्रयोग भी हुआ है :

दृष्टांत—दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।[1]

जहा उपमेय, उपमान और साधारण धर्म का बिंब-प्रतिबिंब भाव हो वहा दृष्टांत अलंकार होता है।[2]

> सुख-दुख के मधुर-मिलन से यह जीवन हो परिपूरन
> फिर घन मे ओझल हो शशि, फिर शशि से ओझल हो घन। (पत)

यहा उपमेय-उपमान 'सुख-दुख' तथा 'शशि-घन' और उधर 'मधुर-मिलन' तथा 'एक-दूसरे मे ओझल होना' मे बिंब-प्रतिबिंब भाव है।

१. साहित्य-दर्पण, १०/५०
२. काव्य-दर्पण, पृ० ३८०

निदर्शना—यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना।[१] जहा वस्तुओ का परस्पर संबंध उनके बिंब-प्रतिबिंब भाव का बोध करे वहा निदर्शना अलकार होता है।[२]

चुप बैठ जाना द्रोहियो से सधि करके
आँगन मे सोना है लगाके आग घर मे। (वियोगी)

यहा पहली पक्ति मे निहित तथ्य उपमेय है और दूसरी मे निहित तथ्य उपमान है—इनमे कोई संबंध नही है, परंतु बिंब-प्रतिबिंब भाव पर आधृत कल्पित उपमा के द्वारा संबंध बन जाता है।

उपर्युक्त दोनो संदर्भों मे बिंब-प्रतिबिंब शब्द-युग्म का प्रयोग एक प्रकार से (प्रतीयमान) प्रभाव-साम्य या भाव-साम्य के अर्थ मे किया गया है। फिर भी यहां अप्रस्तुत-विधान निश्चय ही प्रस्तुत भाव अथवा विचार का बिंब उपस्थित करता है। दृष्टात के उदाहरण मे जीवन में सुख-दु ख के समन्वय की भावना को मूर्तित करने के लिए आकाश मे शशि-घन के मिलन का बिंब प्रस्तुत किया गया है और निदर्शना के उदाहरण मे भी 'द्रोहियो से संधि कर चुपचाप आश्वस्त भाव से बैठ जाना खतरनाक है।'—इस विचार को मूर्त रूप देने के लिए कवि ने जो अप्रस्तुत-योजना की है—'आँगन मे सोना है लगाके आग घर मे', वह भी निश्चय ही बिंब रूप है। उपर्युक्त दोनो बिंब एक प्रकार से दृश्य बिंब है। फिर भी दृष्टात और निदर्शना के लक्षणो में प्रयुक्त 'बिंब' शब्द का अर्थ उसके आधुनिक अर्थ से भिन्न है। उक्त लक्षणो मे बिंब-प्रतिबिंब भाव का अर्थ प्राय उपमेय-उपमान भाव ही है—अर्थात् बिंब यहा अमूर्त मूल भाव का वाचक है और प्रतिबिंब उसके मूर्ति-विधान का, जबकि आधुनिक आलोचना मे बिंब मूल भाव का नही वरन् उसको बिंबित करने वाले मूर्ति-विधान का ही वाचक है। इस प्रकार, संस्कृत अलंकारशास्त्र मे 'प्रतिबिंब' का प्रयोग ही आधुनिक 'बिंब' के निकट है, 'बिंब' का अर्थ प्राय इसके विपरीत है। परंतु शब्द को छोड यदि सदर्भ का विश्लेषण करें तो कुछ रोचक संकेत यहा अवश्य मिल जाते है।

भारतीय अलकारशास्त्र मे सादृश्यमूलक अलकार अप्रस्तुत-विधान पर निर्भर करते है। अप्रस्तुत-विधान मे प्रस्तुत तथ्य अथवा अभीष्ट अर्थ को प्रभावी रीति से व्यक्त करने के लिए कल्पनात्मक साम्य पर आधृत अप्रस्तुत उपकरणो का प्रयोग किया जाता है। ये उपकरण प्रस्तुत विषय के अंग न होकर कल्पनाजात होते हैं, अतः इनके लिए 'अप्रस्तुत' शब्द का प्रयोग होता है और सामान्यत प्रस्तुत विषय का इनके साथ उपमेय-उपमान संबंध होता है। इस प्रकार यह अप्रस्तुत-विधान सादृश्य-मूलक होने के कारण प्रायः बिंबात्मक ही होता है। परंतु आधुनिक आलोचनाशास्त्र का बिंब-विधान और भारतीय अलंकारशास्त्र का अप्रस्तुत-विधान एक नही हैं—उनमे सहव्याप्ति मानना समीचीन नही है। बिंब-विधान की परिधि मे प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनो का समावेश हो सकता है केवल अप्रस्तुत ही नही, प्रस्तुत भी बिंब रूप हो

१ साहित्य-दर्पण, १०/५०-५१
२ काव्य-दर्पण, पृ० ३८१

सकता है और होता है :

सोहत ओढे पीत पट स्याम सलोने गात।
मनहुं नीलमनि-सैल पर आतप पर्यो प्रभात ।।

इसमे पीतपट से विभूषित श्याम-सलोना शरीर प्रस्तुत है और प्रात कालीन आतप से आलोकित नीलमणि शैल अप्रस्तुत है। इस अप्रस्तुत-विधान मे निश्चय ही सुदर बिंब-योजना निहित है, परंतु इसका सबंध केवल दूसरे चरण के साथ ही है। आधुनिक बिंब-विधान की परिधि व्यापक है, दूसरे चरण—अप्रस्तुत योजना मे तो बिंब का विधान है ही, पहले चरण—प्रस्तुत योजना—मे भी बिंब की सत्ता स्पष्ट है। 'पीतपट भूषित श्याम-सलोने शरीर का अपना अलग बिंब है जिसे आधुनिक शब्दावली मे लक्षित बिंब कहते हैं और कविकल्पना-प्रसूत उपमान-वाक्य का अपना अलग बिंब है जिसका पारिभाषिक नाम है उपलक्षित बिंब। इसके अतिरिक्त इन दोनो के सयोग से एक परिपूर्ण बिंब का भी निर्माण होता है और बिंब-सिद्धात के अनुसार वही वास्तविक या सच्चा बिंब है। इस प्रकार बिंब-विधान का क्षेत्र अप्रस्तुत-विधान की अपेक्षा अधिक व्यापक है—अप्रस्तुत-विधान बिंब-विधान का एक अंग है।

बिंब का सबंध लक्षणा और व्यंजना अथवा ध्वनि से अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ठ है। लक्षणा मे मूर्ति-विधान की स्वाभाविक क्षमता निहित है, अतः बिंब-निर्माण उसका सहज गुण है। 'दिन समाप्त हो गया' के स्थान पर लक्षणा की सहायता से हम 'दिन डूब गया' इसलिए कहते हैं कि उसके द्वारा हमारा अभिप्रेत अर्थ बिंब-रूप मे उपस्थित होकर और अधिक आकर्षक एवं ग्राह्य बन जाता है। इस दृष्टि से भाषा को चित्रमय बनाने मे लक्षणा का योगदान सर्वाधिक है और गौणी, साध्यवसाना आदि भेदो के प्रसग मे प्रकारातर से शब्द की बिंबविधायिनी शक्ति का विवेचन विस्तार से हुआ है।

व्यजना मे भी बिंब उद्बुद्ध करने की शक्ति है और ध्वनि के अनेक भेद बिंब-रूप होते हैं। उदाहरण के लिए यह वाक्य सुनकर कि 'दिन डूब गया' श्रोताओ के मन मे अपनी-अपनी मन स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के बिंब उद्बुद्ध हो जाते है। लक्षणा द्वारा उद्बुद्ध बिंब जहा शब्दार्थ से संबद्ध होते हैं, वहां ये बिंब स्वतंत्र होते हैं—इनका सबंध शब्दार्थ से न होकर श्रोता की कल्पना से होता है। रिचर्ड्स ने इसी दृष्टि से प्रथम वर्ग के बिंबो को सबद्ध और दूसरे वर्ग के बिंबो को स्वच्छद कहा है।

ध्वनि का मूल आधार वैयाकरणो का स्फोट माना गया है। यद्यपि स्फोट का मौलिक सबध शब्द के साथ है, फिर भी उसी से सकेत ग्रहण कर आनदवर्धन ने ध्वनि की प्रकल्पना की है, इसमे सदेह नही।

'बुधैर्वैयाकरणै प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृत । ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भाविताच्यव्यंग्यव्यंजनक्षमस्यशब्दार्थं युगलस्य।' अर्थात् 'बुध' वैयाकरणो ने प्रधानभूत 'स्फोट' रूप व्यग्य की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द के लिए 'ध्वनि' पद का प्रयोग किया था। उसके बाद उनके मत का अनुसरण करने वाले अन्यो (अर्थात् साहित्यशास्त्र के आचार्यों) ने भी वाच्यार्थ को गौण बना देने वाले व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति कराने मे समर्थ शब्द तथा अर्थ दोनों के

लिए (ध्वनि पद का प्रयोग करना आरंभ कर दिया) ।[१] स्फोट का अर्थ है : स्फुटति अर्थः यस्मात् स स्फोट—जिससे अर्थ स्फुटित होता है उसे स्फोट कहते हैं। 'गकार, औकार, विसर्जनीय के योग से मिलकर बना हुआ जो गौः पद गाय का बोध कराता है, वह श्रोत्र से सुनाई देने वाली ध्वनि नही, उससे व्यक्त मानस-स्फोट है । श्रोत्र से सुनाई देने वाली ध्वनि तो क्षणिक और अस्थिर है । एक ध्वनि के उच्चारण के बाद जब दूसरी ध्वनि का उच्चारण किया जाता है तब तक पहला ध्वनि-रूप वर्ण नष्ट हो जाता है इसलिए अनेक वर्णों के समुदाय रूप पद की उपस्थिति एक साथ नही हो सकती । इसी प्रकार उनके पदो के समुदाय-रूप वाक्य की भी एक साथ उपस्थिति नही हो सकती । तब पदार्थ या वाक्यार्थ की प्रतीति कैसे होती है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए वैयाकरणों ने 'स्फोट सिद्धात' की कल्पना की है । उनका अभिप्राय यह है कि पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है । उस संस्कार से सहकृत अन्त्य वर्ण के श्रवण से तिरोभूत वर्णों को ग्रहण करने वाले एक मानसिक पद की प्रतीति उत्पन्न होती है । इसी का नाम 'पदस्फोट' है । अर्थ की प्रतीति इस पदस्फोट के द्वारा ही होती है, श्रोत्र से गृहीत शब्द या ध्वनि से नही, क्योकि उस रूप में तो अनेक वर्णों के समुदाय रूप पद की स्थिति ही नहीं बन सकती । इसी प्रकार—'पूर्वपूर्वपदानुभवजनित संस्कार-सहकृत—अन्त्य-पद श्रवण से अनेक पदावगाहिनी जो मानसी वाक्य-प्रतीति होती है, वैयाकरण उसको वाक्य-स्फोट कहते हैं । इस वाक्य-स्फोट से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है । वर्णध्वनि से वर्ण-स्फोट की अभिव्यक्ति होती है ।' (काव्यप्रकाश—आचार्य विश्वेश्वर—प्रथम उल्लास, ४।२, पृ० २९-३०)

मैं समझता हू कि स्फोट की प्रकल्पना बिंब के मूल रूप के काफी निकट है । प्रत्येक सार्थक शब्द के द्वारा—अथवा वाक्य के द्वारा—जो बिंब स्फुटित होता है वह वैयाकरणो के स्फोट से भिन्न नही है—और प्रत्येक काव्योक्ति के द्वारा जिस काव्य-बिंब की उद्बुद्धि होती है उसका अतर्भाव भारतीय काव्यशास्त्र की ध्वनि मे अनायास किया जा सकता है ।

भारत के देहवादी अथवा रूपवादी काव्य-सप्रदायो मे कुतक ने वक्रोक्ति सिद्धात के माध्यम से कवि-व्यापार का अत्यत सूक्ष्म-गभीर वर्णन किया है । वक्रोक्ति-विवेचन में बिंब-विधान के नाना रूपो और प्रणालियो का समावेश स्वभावत. हो गया है क्योकि व्यापक अर्थ मे हम यह मान सकते हैं कि कवि-व्यापार एक प्रकार से बिंब-विधान का ही बृहत्तर रूप है । वक्रता के अधिकाश भेदो मे चारुत्व का निबधन अर्थात् सौंदर्य की उद्भावना बिंब रूप में ही होती है ।

वास्तव मे इन वक्रता-भेदो के चमत्कार का रहस्य ही यह है कि पर्याय, विशेषण, लिंग, कारक आदि के विशेष प्रयोग से उद्बुद्ध बिंब अधिक स्पष्ट और मूल भावना के अधिक अनुकूल होते हैं । उदाहरण के लिए, वीर रस के प्रसग मे कृष्ण के लिए 'वशीधर' की अपेक्षा 'चक्रधर' पर्याय के प्रयोग की सार्थकता यही है, इसका बिंब

१. काव्यप्रकाश (आचार्य विश्वेश्वर), प्रथम उल्लास, कारिका ४, सूत्र २, पृ० २९

रस-परिपाक मे अधिक सहायक होता है। उचित विशेषण या लिंग की सार्थकता भी यही है कि वह रस-परिपोष मे सहायक बिंब का उत्पादन करता है। 'रघुवंश' में कालिदास ने विरही राम के साथ मृगियो और लताओं द्वारा सहानुभूति-प्रदर्शन का वर्णन किया है, मृगो और वृक्षो का उल्लेख नही किया—यह लिंग-वैचित्र्य-वक्रता का उदाहरण है। यहा पर भी स्त्रीलिंग का प्रयोग नारी के सरस-कोमल स्वभाव का बिंब उद्‌बुद्ध कर चमत्कार की सिद्धि करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त वक्रता-भेदों मे भी बिंब का चमत्कार ही प्रधान है। उदाहरण के लिए, वर्णविन्यास-वक्रता मे श्रौत बिंबो की योजना रहती है, पदपूर्वार्ध और पदपरार्ध वक्रता के पर्याय, विशेषण, लिंग, कारक, उपचार आदि पर आश्रित रूपो मे बिंबात्मकता का आधार सर्वथा स्पष्ट है। वाक्य-वक्रता अलंकार-विधान का ही दूसरा नाम है और उधर वस्तु-वक्रता मे वस्तु के रमणीय स्वरूप को कल्पना के द्वारा भास्वर करने मे भी बिंब-विधान का आश्रय लेना पडता है : विशेषकर आहार्य वस्तु का सौदर्य-विधान प्राय: लक्षित-बिंबो के माध्यम से ही सभव होता है। इसी प्रकार प्रकरण-वक्रता और प्रबंध-वक्रता के भेदो के वर्णन मे भी कुतक ने नाना प्रकार के प्रकरण-बिंबो और प्रबध-बिंबो का व्याख्यान किया है। रीति-सिद्धात का बल शब्दार्थ की रचना पर अधिक रहा, अत· कल्पना-निर्भर बिंब-विधान का उसके साथ उतना घनिष्ठ संबंध नही बैठता। फिर भी रीतियो और वृत्तियो की कल्पना मे श्रौत बिंबो का आधार अत्यंत स्पष्ट है और उधर अर्थव्यक्ति जैसे गुण की परिभाषा मे शब्द-योजना द्वारा उत्पादित बिंब की स्फुटता को ही अर्थ-प्रसादन का प्रमाण माना गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि—

१. भारतीय काव्यशास्त्र के लिए बिंब कोई अज्ञात वस्तु नही है—अनेक रूपो मे और अनेक प्रकार से बिंब का विवेचन यहा मिलता है। परंतु यह विवेचन प्रकारातर अथवा अप्रत्यक्ष रीति से ही हुआ है—जिस रूप मे बिंब का विवेचन-विश्लेपण यूरोप के साहित्य के अंतर्गत वर्तमान शती मे हुआ है, उस रूप मे भारतीय काव्यशास्त्र मे नही मिलता।

२ बिंब शब्द का प्रयोग आधुनिक अर्थ मे भारतीय काव्यशास्त्र में नही हुआ। दृष्टात और निदर्शना के लक्षणो मे प्रयुक्त 'बिंब-प्रतिबिंब भाव' मे बिंब का प्रयोग मूल (अमूर्त) भाव अथवा विचार के अर्थ मे किया गया है और प्रतिबिंब का प्रयोग उसको मूर्तित करने वाले अप्रस्तुत-विधान के लिए, जो साम्य पर आधृत रहता है। इस प्रकार आधुनिक 'बिंब' के समानार्थक रूप मे अलंकार-ग्रंथो मे प्रतिबिंब का प्रयोग तो किसी सीमा तक माना भी जा सकता है, 'बिंब' का नही।

३. बिंब की प्रकल्पना यहा सादृश्यमूलक अलंकारो, लक्षणा तथा ध्वनि के प्रसंग मे अधिक सार्थक रूप मे हुई है। सामान्य अर्थ-स्फोट शब्दार्थ के मूल बिंब और वाच्यातिशायी प्रतीयमान अर्थ-स्फोट काव्य-बिंब के अत्यंत निकट बैठता है।

४. कुंतक के कवि-व्यापार के अंतर्गत जिन अनेक कल्पनात्मक प्रणालियों का विवेचन है उनमे बिंब-विधान के अनेक रूपों का सम्यक् रूप से समावेश है। कुतक का कवि-व्यापार बिंब-विधान का बृहत्तर रूप है।

मनोविज्ञान में बिंब का स्वरूप

काव्य-बिंब बिंब का एक विशिष्ट भेद है। अतः काव्य-बिंब के स्वरूप को समझने के लिए बिंब के स्वरूप का मनोवैज्ञानिक विवेचन आवश्यक है। बिंब हमारे मनोव्यापार का महत्त्वपूर्ण उपकरण है। इसमे सदेह नही कि पश्चिम के मनोवैज्ञानिको मे बिंब के महत्त्व—यहां तक कि अस्तित्व के विषय मे भी मतभेद है: साहचर्यवादो मनोवैज्ञानिक जहा उसको मानसिक जीवन का आधारभूत उपकरण मानते हैं, वहां व्यवहारवादी तथा वस्तुसिद्धातवादी सामान्यतः इसका निषेध करते हैं। इन पडितों के तर्कजाल मे फंसना साहित्य के विद्यार्थी के लिए आवश्यक नही है; अत. प्रस्तुत प्रसग मे बहुमत के अनुसार—और सामान्य अनुभव के आधार पर, हम यह मानकर चल सकते हैं कि बिंब हमारे मनोव्यापार का आवश्यक उपकरण है।

बिंब के सामान्यत. दो रूप हैं—एक वस्तुगत रूप, जिसका संबध शरीरविज्ञान से है और दूसरा भावगत रूप, जो मुख्यत मनोविज्ञान का विषय है।

बिंब का वस्तुगत रूप : ऐंद्रिय बिंब[1]

ऐंद्रिय बिंब का विवेचन शरीरविज्ञान का विषय है। शरीरविज्ञान की दृष्टि से बिंब का सर्वप्रमुख रूप है दृष्टि-बिंब[2]। दृष्टि-बिंब आंख के प्रकाशकीय यत्र द्वारा वर्तित (प्रतिक्षिप्त) किसी पदार्थ का वह चित्र है जो दृष्टि-पटल पर अकित हो जाता है। यह पदार्थ के सीधे समतल दृश्य-रूप का प्रायः यथार्थ प्रत्यकन होता है। जब कोई पदार्थ हमारी दृष्टि के सामने आता है तो उस पदार्थ से प्रतिक्षिप्त प्रकाश के द्वारा हमारी अक्षि-तन्त्रिकाओ मे अनेक प्रकार के सवेदन उत्पन्न हो जाते हैं। ये अक्षि-तन्त्रिकाएं मस्तिष्क से सबद्ध हैं, अत. इनके माध्यम से उक्त सवेदन-धाराए मस्तिष्क मे जाती हैं जहां ये परस्पर सबद्ध, वर्गीकृत और संश्लिष्ट होकर रूप या आकार धारण कर, बोध या प्रत्यभिज्ञान का विषय बन जाती हैं। यही पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान है जो ऐंद्रिय-बिंब के रूप मे हमारी चेतना मे उपस्थित होता है।[3]

१. सैसरी इमेज

२ Retinal image: a picture of an object on the retina when reflected through the optical system of the eye (English and English. A Comprehensive Dictionary of Psychological and Psycho-analytical Terms, 1958)

३. देखिए: वुडवर्थ एड मारक्विस, १९६३, साइकोलोजी—पृ० ४३३

उपर्युक्त वर्णन 'रूप' तन्मात्रा के बिंब का है। शब्द, स्पर्श, रस और गध के बिंबों का निर्माण भी इसी प्रक्रिया से होता है। बाह्य उद्दीपन के सन्निकर्ष से अन्य इंद्रियो की तंत्रिकाओ मे भी इसी प्रकार संवेदन की धाराएं प्रवाहित होने लगती हैं जो सहज क्रम से मस्तिष्क में पहुंचने के उपरात वर्गीकृत एव संश्लिष्ट होकर रूपाकार धारण कर लेती हैं। उदाहरण के लिए, केवडे के सन्निकर्ष से हमारी घ्राणेंद्रियो की तंत्रिकाओ मे अनेक सवेदन उत्पन्न हो जाते हैं और ये सवेदन हमारे मस्तिष्क मे पहुंच कर परस्पर संबद्ध-सश्लिष्ट होकर एक विशेष-अनुभूति के रूप मे परिणत हो जाते हैं जिसका परिचित नाम है 'केवड़े की गध'। संवेदन और प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा इंद्रिय-बोध मे भेद यह है कि इद्रिय-बोध किसी-न-किसी पदार्थ से सबद्ध होता है—दूसरे शब्दो मे संवेदन अ-रूप होता है और इंद्रिय-बोध स-रूप। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान प्रायः मानव-मस्तिष्क मे ऐंद्रिय संवेदनो के सश्लेषण से निर्मित एक बिंब के रूप मे उपस्थित होता है।

बिंब का भावगत रूप : मानसिक बिंब

मानसिक बिंब का स्वरूप-विवेचन मूलत. मनोविज्ञान का विषय है। मनोविज्ञान के अनुसार बिंब किसी पूर्वानुभूत किंतु तत्काल अनुपस्थित पदार्थ या घटना के गुणो या विशेषताओ के न्यूनाधिक पूर्ण मानसिक प्रत्यकन—मानस-चित्र का नाम है, जिसमे मूल अनुभूति की अतीतता का अभिज्ञान निहित रहता है। यह पूर्व अनुभव की पुनरुद्बुद्धि है जो मूल के सदृश होने पर भी अनिवार्यतः उसकी यथावत् प्रतिकृति नही होती। बिंब किसी पदार्थ या घटना के प्रत्यक्ष ज्ञान की पुनरावृत्ति है जो मूल पदार्थ या घटना के बिना ही घटित होती है।

बिंब और प्रत्यक्षज्ञान

प्रत्यक्षज्ञान की अपेक्षा बिंब के कुछ स्पष्ट भेदक धर्म है—(१) बिंब का स्वरूप अपेक्षाकृत धूमिल, अपूर्ण या अनिश्चित होता है। (२) बिंब अस्थिर होते हैं—उनकी प्रवृत्ति संचारी होती है, और चूंकि वे किसी पूर्वानुभव की आवृत्ति का निरूपण करते हैं, अतः उनसे सबद्ध पदार्थ या स्थिति के विषय मे किसी नवीन तथ्य का प्रकाशन नही होता। (३) बाह्य उद्दीपन के अभाव मे—जैसे आख मूद लेने पर या कान बद कर लेने पर, जबकि पूर्वानुभव की आवृत्ति के लिए अधिक अवकाश मिल जाता है—बिंबो की निर्मिति अधिक सरल और सुगम हो जाती है। (४) बिंबो के लिए आवश्यक नही है कि वे वास्तविक पदार्थों के सर्वथा अनुरूप हो; वस्तुतः उनमे बाह्य पदार्थों की जो प्रतिच्छवियां उपस्थित होती है वे प्रायः अस्त-व्यस्त, विकृत, अतिरंजित, अपूर्ण अथवा किसी दूसरे प्रकार से परिवर्तित या मिश्रित होती है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्षज्ञान की अपेक्षा बिंब व्यक्ति की आतरिक आवश्यकताओ के अधिक अनुकूल पड़ते है। ज्यो-ज्यो चिंतन बहिर्मुख या यथार्थोन्मुख होता जाता है त्यो-त्यों बिंबो की सख्या घटती जाती है तथा प्रत्यक्षज्ञान का उपयोग बढ़ता जाता है, और

जैसे-जैसे चिंतन अंतर्मुख होता जाता है वैसे-वैसे प्रत्यक्षज्ञान का महत्त्व गौण होने लगता है और बिंबो की सख्या एवं शक्ति बढती जाती है।[1]

बिंब-परिवार के अन्य सदस्य हैं फोटो-चित्र, व्यंग्य-चित्र आदि। फोटो-चित्र मे पदार्थ की यथावत् प्रतिकृति रहती है, वह निश्चित आयाम से युक्त एक पदार्थ है। इसी प्रकार से व्यंग्य-चित्र के भी अपने निश्चित आयाम हैं। इन दोनो के वस्तु-रूप अपने-आप मे स्वतत्र होते हैं, किंतु बिंब का अस्तित्व वस्तुपरक न होकर मानसिक ही होता है, उसका महत्त्व स्वतत्र न होकर व्यजित अर्थ के सदर्भ मे ही होता है।

बिंब की रचना मे व्यक्ति के विगत अनुभवो का योगदान रहता है। जन्म के क्षण से ही वाह्य-जगत् के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रभाव इंद्रियो के माध्यम से हमारी चेतना मे निरंतर प्रवेश करते रहते हैं। आरभ मे ये प्रभाव अस्पष्ट प्रकाश, शब्द या गति के रूप मे रहते हैं, पर जैसे-जैसे वालक का विकास होता है, पदार्थों और व्यक्तियो के रूप मे उनका अस्तित्व स्पष्ट आकार धारण करने लगता है। वस यही से चेतन-बिंब-रचना प्रारभ हो जाती है। शैशव मे दुनिया का चित्र शिशु की कल्पना मे एक मकान, या शायद कुछ-एक सडको या किसी वाग के रूप मे उपस्थित होता है, लेकिन ज्यो-ज्यो बालक वडा होता जाता है, त्यो-त्यो दुनिया का विस्तार होता जाता है। उसको यह प्रतीति होती है कि मैं नगर मे हू, देश-विदेश मे हू, पृथ्वी पर हू। वह अपने को व्यक्तिगत सबंधो के ऐसे ताने-बाने के बीच पाता है जो निरतर जटिलतर होता जाता है। वाह्य जगत् का प्रत्येक प्रभाव किसी-न-किसी अश मे उसके इस मानस-चित्र मे संशोधन-परिवर्तन करता है और जैसे-जैसे इस मानस-चित्र मे परिवर्तन होता है, वैसे-वैसे उसके व्यवहार-क्रम मे भी परिवर्तन होता जाता है।[2]

बिंब-रचना की इसी विकसित शक्ति के कारण मनुष्य इतर प्राणियो से भिन्न है। अन्य प्राणियो की अपेक्षा मनुष्य मे बाह्य जगत् के प्रभावो को ग्रहण करने की क्षमता अधिक नही है। मनुष्य के आख-कान विकसित पशुओ की आखो और कानो से अधिक सक्षम नही हैं—और उसकी घ्राणेंद्रिय तो उनकी तुलना मे निश्चय ही अक्षम है। मनुष्य का गौरव वास्तव मे यह है कि वह इन प्रभावो को वृहत् और जटिल बिंबो मे अन्वित करने मे समर्थ है। यो तो मनुष्य के देशिक बिंब भी इतर प्राणियो के देशिक बिंबो की अपेक्षा अधिक व्यापक होते हैं, परंतु संभवतः उनकी प्रकृति मूलत भिन्न नही होती। लेकिन मनुष्य के कालिक बिंब निश्चय ही अत्यधिक व्यापक होते हैं—और इसका कारण यह है कि भाषा का अमूल्य साधन उसे उपलब्ध है। इसमे सदेह है कि पशु अपने वर्तमान क्षण के आगे-पीछे की कल्पना भी कर सकता है या नही—कम-से-कम उसका यह कालिक बिंब उसके अपने निजी अनुभव तक ही सीमित रहता है। कुत्ता यह कल्पना नही कर सकता कि उसके पहले भी कुत्तो का अस्तित्व था और उसके बाद मे भी उसका वश चलता रहेगा। इसके

१. देखिए विनाके, दि साइकोलोजी ऑफ थिंकिंग, पृ० १६७
२ बोल्डिंग, कैनेथ ई० : दि इमेज ('५६), पृ० ६-७

विपरीत, मनुष्य अपने-आपको कालक्रम मे स्थिर रूप से अवस्थित अनुभव करता है। उसकी चेतना में अतीत का स्पष्ट बिंब है जो उसके अपने जीवन और अनुभव की सीमा से बहुत दूर तक व्याप्त है, और इसी प्रकार उसके मन मे भविष्य का भी ऐसा ही एक बिंब है। इस कालिक बिंब-विधान के साथ ही जुड़ा हुआ है उसके सबंधो के ताने-बाने का बिंब। चूकि हमें काल की चेतना है, इसलिए हमे कार्य-कारण, नैरंतर्य और क्रम की, आवर्तन तथा विवर्तन की भी चेतना है।[1]

बिंब और विचार/धारणा

बिंब और विचार/धारणा को प्राय. एक-दूसरे से भिन्न माना जाता है। मनोवैज्ञानिको का मत है कि जैसे-जैसे मनुष्य के चिंतन मे प्रौढता आती जाती है, उसकी बिंबन-शक्ति क्षीण होने लगती है। किशोरावस्था बिंबो के पूर्ण उत्कर्ष का काल होता है, और प्रौढावस्था मे उनका ह्रास हो जाता है। इसका आशय वास्तव मे यह है कि चिंतन ज्यो-ज्यों सूक्ष्म, अमूर्त और सामान्यीकृत होता जाता है, त्यो-त्यो उसमे बिंबो का उपयोग कम होता जाता है: उनका स्वरूप धूमिल और संख्या कम होती जाती है—और एक स्थिति मे पहुंचकर ऐसा लगता है जैसे बिंबों का एकांत अभाव ही हो गया हो। इसीलिए अनेक विशेषज्ञ बौद्धिक चिंतन को बिंबहीन मानते हैं।

मनोविज्ञान के कोशो के अनुसार धारणा ज्ञान का वह रूप है जिसमे पदार्थों के गुणो, पहलुओ और संबंधो का विचार निहित रहता है। इसका निर्माण तुलना, सामान्यीकरण, अमूर्तन और तर्कणा आदि के आधार पर होता है। धारणा के वाचक प्राय शब्द-संकेत ही होते है।[2] धारणा से अभिप्राय है ऐसे विचार का जो किसी सामान्य अर्थ को प्रस्तुत करता हो, जिसमें किसी वर्ग या जाति के सामान्य गुणो का समावेश हो।[3] दर्शनशास्त्र में धारणा शब्द का प्रयोग किसी ऐसे सामान्य विचार के अर्थ मे होता है जो इद्रियों द्वारा प्राप्त विशेष अनुभवो के आधार पर व्युत्पन्न होकर निर्विशेष रूप धारण कर लेता है। जिस मानसिक प्रक्रिया के द्वारा धारणा का निर्माण होता है उसे अमूर्तन प्रक्रिया कहते हैं। उदाहरण के लिए, अनेक नावो की तुलना के द्वारा मानव-मस्तिष्क किसी ऐसी विशेषता अथवा विशेषताओ का निष्कर्षण कर लेता है जिनके आधार पर 'नाव' की धारणा व्युत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार 'नाव' की धारणा का निर्माण उन गुणों के आधार पर होता है जिनके कारण सभी नावें, प्रत्येक का अपना अलग-अलग वैशिष्ट्य होने पर भी, परस्पर समान हैं। 'नाव' की धारणा इन सामान्य विशेषताओं के फलितार्थ का नाम है।[4]

क्रोचे ने तत्त्वदृष्टि से बिंब और धारणा को आत्मा की दो भिन्न प्रवृत्तियों

१. देखिए : बोल्डिंग, कैनेथ ई० : दि इमेज, पृ० २४-२५
२. ए डिक्शनरी ऑफ साइकोलोजी—जेम्स ड्रेवर
३. देखिए · वेब्स्टर
४. देखिए . एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, भाग ६

की सृष्टि माना है : बिंब स-रूप होता है और उसका संबंध 'विशेष' के साथ होता है; धारणा अ-रूप होती है और उसका संबंध 'सामान्य' से होता है। परतु अनेक विद्वान् इस स्थापना को यथावत् स्वीकार नही करते, उनका मत है कि धारणा या बौद्धिक चिंतन मे बिंबो की सत्ता रहती है, परतु विचारक का ध्यान चूकि तत्त्व या निष्कर्ष पर केंद्रित रहता है, इसलिए वह बिंबो की उपेक्षा कर जाता है। बिंब होते तो है, पर लक्षित नही होते। जैसा कि क्रोचे ने लिखा है, बिंबो के विषय पदार्थो के गोचर रूप होते हैं और धारणाओ के विषय पदार्थों के परस्पर संबध होते है। रूपो के आयाम स्पष्ट होते है, अतः उनका स्वरूप मूर्त होता है; संबधो के निरूपण मे भी पदार्थो के रूपात्मक आयाम नष्ट नही होते, परतु प्रमाता का ध्यान पदार्थों के सयोजक अंत सूत्रो पर केंद्रित रहने के कारण, ये आयाम उपेक्षित हो जाते है : उसका चिंतन-व्यापार चित्रो की अपेक्षा प्राय बिंदुओ और रेखाओ के माध्यम से ही चलता है।

बिंब के प्रकार

मनोवैज्ञानिको ने बिंब के अनेक रूपो और प्रकार-भेदो का विवेचन किया है। बिंब-भेदो का वर्गीकरण दो प्रकार से हो सकता है : (अ) प्रत्यक्ष अनुभव से संबद्ध बिंब-भेद—और (ब) परोक्ष अनुभव से सबद्ध बिंब-भेद। प्रत्यक्ष अनुभव से सबद्ध बिंबो के, सवेदक इद्रिय के आधार पर, पाच स्पष्ट भेद किये जा सकते हैं (१) चक्षु के माध्यम से गृहीत रूप-बिंब; (२) श्रवण द्वारा गृहीत शब्द-बिंब या नादबिंब; (३) घ्राणेंद्रिय द्वारा गृहीत गध-बिंब; (४) रसना द्वारा अनुभूत स्वाद-बिंब, और (५) त्वचा द्वारा अनुभूत स्पर्श-बिंब। इनके अतिरिक्त कुछ मनीषियो ने गति-बिंब की सत्ता भी स्वीकार की है। गति को वे उक्त पाच से स्वतंत्र छठी ऐंद्रिय अनुभूति मानते है जो पेशियो और स्नायुओ से उत्पन्न होती है। पर पश्चिम मे भी इसके विषय मे मतभेद अभी बना हुआ है, और इधर भारतीय चिंतन के साथ भी इसकी संगति नही बैठती। वास्तव मे गति-बिंब मे रूप और शब्द के तत्त्व ही अधिक स्पष्ट रहते हैं, अत. रूप-बिंब तथा शब्द-बिंब से सर्वथा भिन्न गति-बिंब की स्वतंत्र कल्पना अधिक ग्राह्य नही है।

उक्त बिंबो की सार्थकता यह है कि बाह्य उद्दीपन के अभाव मे मनुष्य पूर्वानुभव के आधार पर उसका मनसा साक्षात्कार कर लेता है : प्रिय जन की अनुपस्थिति मे, मन से उसका दर्शन कर लेता है—उसके स्पर्श का अनुभव कर लेता है, गंध विशेष के अभाव मे भी प्रसग आने पर घ्राणेंद्रिय के माध्यम से उसका मानस-बिंब सहसा हमारी चेतना मे उपस्थित हो जाता है अथवा किसी पदार्थ के न होने पर भी हमे उसके कडवे-मीठे स्वाद का अनुभव-सा होने लगता है।

इन बिंबो का आधार ऐंद्रिय ज्ञान होता है और प्राय सभी मनुष्य इनका अनुभव न्यूनाधिक मात्रा मे करते हैं। इतना अवश्य है कि मनुष्यो मे भिन्न-भिन्न ऐंद्रिय सवेदनो की क्षमता प्राय. भिन्न होती है—किसी की घ्राण-शक्ति अधिक तीव्र होती है और किसी की श्रवण-शक्ति। इंद्रियो के इस क्षमता-भेद से विभिन्न मनुष्यो

की बिंब-निर्माण-क्षमता में भी भेद हो जाता है—किसी व्यक्ति के चिंतन-व्यापार मे चाक्षुष बिंबो का प्राचुर्य रहता है, किसी के मे श्रव्य बिंबों या स्पृश्य बिंबो का। और, यह क्षमता-भेद एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति की चिंतन-पद्धति मे भेद उत्पन्न कर देता है। उदाहरण के लिए, जिन व्यक्तियो मे चाक्षुष बिंबो के निर्माण की क्षमता अधिक होती है, उनमे सटीक या सजीव, दृश्यात्मक वर्णन करने की शक्ति स्वभावत अधिक होती है। इसी क्षमता-भेद के आधार पर विभिन्न व्यक्तियो की भाषा-शैली मे भेद हो जाता है। अनेक लोगो की भाषा मे रूपात्मक बिंबो का प्राचुर्य रहता है, कुछ की भाषा मे नादात्मक बिंबो या स्पर्श-बिंबो का, और अन्य की भाषा मे गध-बिंबो अथवा स्वाद-बिंबो का। और, चूकि हमारे विभिन्न ऐंद्रिय सवेदन चेतना मे जाकर प्राय. मिलते रहते हैं, इसलिए उन पर आश्रित बिंबो का भी परस्पर मिश्रण तथा गुफन होता रहता है।

परोक्ष अनुभव से संबद्ध बिंब-भेद

इनके अतिरिक्त मनोविज्ञान मे बिंब के कुछ और भी भेदो का विवेचन किया गया है—जिनका सबंध परोक्ष अनुभव से है : जैसे—

अनुबिंब[1], प्रत्यक्ष बिंब[2], स्मृति-बिंब, कल्पना-बिंब, स्वप्न-बिंब, तंद्रा-बिंब[3], मिथ्याप्रत्यक्ष-बिंब[4] आदि। इनमे अनुबिंब प्रत्यक्ष ज्ञानजन्य ऐंद्रिय बिंबो के अत्यत निकट है। प्रत्यक्ष अनुभव मे हम देखते है कि किसी पदार्थ विशेष पर—जिसका रूप-संवेदन तीव्र हो, जैसे किसी बिजली के बल्ब या फानूस पर—कुछ समय तक दृष्टि केंद्रित रखने के बाद, उसकी ओर से आख फेर लेने पर भी, थोडी देर के लिए हमारी आखो के सामने बिंब प्रायः यथावत् विद्यमान रहता है। यह बिंब प्रत्यक्ष रूप-बिंब न होने पर भी प्राय वैसा ही होता है, इसलिए इसे प्रत्यक्ष बिंब का तत्काल परवर्ती होने के कारण अनुबिंब कहते हैं। यह अनुबिंब रूप के अतिरिक्त शब्द, स्पर्श, रस और गंध—सभी का हो सकता है। किसी भी प्रबल ऐंद्रिय अनुभव के बाद, वाह्य उद्दीपन से सपर्क टूट जाने पर प्रमाता की चेतना मे प्रत्यक्ष अनुभव से उत्पन्न बिंब प्राय. ज्यो का त्यो अटका रह जाता है—यही अनुबिंब है। चूकि यह प्रत्यक्षज्ञान के अत्यत निकट है, अत मनोविज्ञान मे इसका दूसरा नाम संवेदन-बिंब[5] भी है। प्रत्यक्ष बिंब को प्राथमिक बिंब भी कह सकते हैं। यह प्रत्यक्षज्ञानजन्य बिंब से भिन्न होने पर भी अत्यंत स्पष्ट होता है; इद्रियो का प्रत्यक्ष सन्निकर्ष न होने पर भी इसमे ऐंद्रिय तत्त्व अत्यत प्रबल होता है और इसकी रूपरेखा सर्वथा मूर्त एवं सजीव होती है। इसका सबध जीवन के प्रबल और प्राथमिक अनुभवो के साथ है। वास्तव मे ऐंद्रिय बिंबो और इन

१ आफ्टेर इमेज
२ आइडेटिक इमेज
३. हिप्नोगोगिक इमेज
४ हेल्युसिनेशन इमेज
५. सेंसेशन इमेज

दोनो बिंब-भेदों मे इतना सूक्ष्म अंतर है कि अनेक विशेषज्ञ इनकी स्वतंत्र सत्ता मानने में भी आपत्ति करते हैं। स्मृति-बिंब मे, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, किसी अनुपस्थित पदार्थ के प्रत्यक्ष बिंब का—पूर्वानुभव के आधार पर—स्मृति के द्वारा पुनरुद्बोधन किया जाता है। प्रत्येक अनुभव अंतश्चेतना मे अपना संस्कार छोड जाता है और हमारी स्मृति, अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न होने पर, उसे फिर से उपस्थित कर देती है। पूर्व-स्मृतियां वस्तुत बिंब-रूप ही होती हैं जिनके साथ अनेक कडवे-मीठे अनुभव लिपटे रहते हैं। कल्पना-बिंब का स्वरूप मूलत: स्मृति-बिंब से अधिक भिन्न नही होता। दोनो मे भेद यह है कि स्मृति-बिंबों मे जहा पूर्वानुभूतियों का पुनरुद्बोधन मात्र होता है, वहां कल्पना-बिंबो मे पूर्वानुभवों के त्याग, ग्रहण तथा यदृच्छिक संयोजन आदि के द्वारा नवनिर्माण की प्रवृत्ति मुख्य रहती है। स्मृति और कल्पना में जो मूल भेद है, वही स्मृति-बिंब और कल्पना-बिंब मे भी लक्षित होता है। स्मृति निष्क्रिय होती है, कल्पना सक्रिय, स्मृति जहा पूर्वानुभव को प्राय: यथावत् पुनरुद्बुद्ध करती है, वहा कल्पना उसका पुन:सृजन करती है—अर्थात् कल्पना मन की सर्जनात्मक शक्ति है। इसी क्रम से स्मृति-बिंब जहा बहुत-कुछ वस्तुपरक होते हैं, वहा कल्पना-बिंबो मे व्यक्ति की निर्माणक्षमता का चमत्कार रहता है। उदाहरण के लिए, हम किसी आश्रम मे एक साधु को देखते हैं—और आश्रम से लौटते हुए नगर मे एक सुंदर-सौम्य अंगरेज़ को। स्मृति के द्वारा इन दोनो की अनुपस्थिति मे भी दोनो के जो पृथक्-पृथक् बिंब हमारी चेतना मे उद्बुद्ध होते हैं, उन्हे स्मृति-बिंब कहते हैं। पर कल्पना इतने से संतुष्ट नही होती; वह साधु की वेशभूषा के बिंब का अंगरेज़ के शरीर पर आरोपण कर 'अंगरेज़ साधु' के एक नये बिंब की सृष्टि कर लेती है। यही कल्पना-बिंब है। तंद्रा-बिंबो की उत्पत्ति अर्ध-निद्रित अवस्था में होती है, जबकि हमारे प्रत्यक्ष ज्ञानजन्य अनेक बिंब-संस्कार प्राय उपचेतन मन की सक्रिय शक्तियो के द्वारा, विभिन्न इंद्रियो के सन्निकर्ष से, अनेक प्रकार के संश्लिष्ट एवं खंडित रूपाकार धारण करते रहते हैं: दिवास्वप्नो की सृष्टि भी प्राय: इसी प्रक्रिया से होती है। स्वप्न-बिंबों की सृष्टि निद्रित अवस्था मे होती है—जबकि अवचेतन या अचेतन मन नाना प्रकार के पूर्वानुभवो के संस्कारो का संयोजन कर चित्र-विचित्र बिंबो का निर्माण करता रहता है। मिथ्याप्रत्यक्ष-बिंबो का संबंध अचेतन मन के साथ और भी गहरा होता है: ये प्राय रुग्ण चेतना की सृष्टि होते हैं। पदार्थ के अभाव मे उसका प्रत्यक्षज्ञान मिथ्या-प्रत्यक्ष कहलाता है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष होने पर भी मिथ्या या अवास्तविक होता है। अनेक प्रबल इच्छाएं, जो दमित होकर अवचेतन मे जाकर छिप जाती हैं, मन और शरीर की व्याधियो के दुष्प्रभावो के साथ मिलकर इंद्रियो की क्रिया मे इस प्रकार के विकार उत्पन्न कर देती हैं कि उन्हें बाह्य उद्दीपन के अभाव मे भी उसका (बाह्य उद्दीपन का) प्रत्यक्षज्ञान होने लगता है: रोगी ऐसे व्यक्ति या वस्तु को प्रत्यक्ष देखने लगता है जो वास्तव मे सामने नहीं है, ऐसा शब्द सुनने लगता है, या ऐसे स्वाद, गंध अथवा स्पर्श का अनुभव करने लगता है जिसका वास्तविक आधार नही है। ये भी अपने ढंग के विचित्र बिंब होते हैं जिनका रूप सर्वथा प्रत्यक्ष होता है, पर आधार नही

होता।

उक्त भेदों मे से अंतिम तीन का संबंध अवचेतन या अचेतन मनोविज्ञान से है। मनोविश्लेषणशास्त्र के अनुसार मनुष्य की दमित वासनाएं उसके अवचेतन मे जाकर संकलित हो जाती हैं जहां से वे नाना प्रकार के छद्म रूप धारण कर दिवास्वप्न, तंद्रा-स्वप्न तथा निद्रा-स्वप्न मे व्यक्त होती रहती हैं। विकृति गहरी और अधिक स्थायी हो जाने से ये दमित वासनाएं मिथ्याप्रत्यक्ष मे भी परिणत हो जाती हैं। अवचेतन मनोविज्ञान के संदर्भ में बिंबो से तात्पर्य इन्ही छद्म रूपो का है। सामान्यत ये छद्म रूप 'प्रतीक' नाम से अभिहित किये जाते हैं, परंतु इनमे प्रतीकात्मकता—अर्थात् मूलवर्ती वासनाओ की सांकेतिक व्यजना के साथ ही बिंबात्मकता भी पूर्ण रूप से विद्यमान रहती है। विशेषज्ञो ने अनेक प्रकार के प्रयोग और विश्लेषण करने के बाद, प्रेरक वासना के आधार पर वर्गीकरण कर, इन चित्र-विचित्र छद्म रूपो की व्याख्या के लिए तरह-तरह की वैज्ञानिक पद्धतियो का आविष्कार किया है। यह अवचेतनविद्या मन के रहस्यो का अत्यंत रोचक पद्धति से उद्घाटन करती है; साथ ही चेतन मन के अनेक गूढ व्यापारो को समझने में भी—जिसके अंतर्गत अनिर्वचनीय कला-रूपो की सर्जना भी निहित है—इसका योगदान अपूर्व है।

आद्य बिंब

आद्य बिंब का सबध भी अवचेतन मनोविज्ञान से है। आद्य बिंब की शोध या परिकल्पना मनोविश्लेषणशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य युग ने की है। यो तो उपर्युक्त सभी बिंबभेदो—दिवास्वप्न, निद्रास्वप्न आदि—का काव्य और कला से घनिष्ठ सबध है, पर आद्य बिंब का योगदान अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष और गहरा है। संक्षेप मे, आद्य बिंब का विवेचन स्वय युग के शब्दो मे इस प्रकार है : 'सामूहिक अचेतन चेतना का एक अग है : वैयक्तिक अचेतन से इसका अभावात्मक भेद यह है कि उसकी तरह इसका निर्माण व्यक्तिगत अनुभवो के आधार पर नही होता, और इसलिए यह व्यक्तिगत संपत्ति नही होता। व्यक्तिगत अचेतन का निर्माण जहां अनिवार्यत: ऐसी सामग्री से होता है जो किसी समय चेतन अनुभव का विषय थी किंतु अब विस्मृत अथवा दमित होकर चेतन मन से विलुप्त हो गई है, वहां सामूहिक अचेतन की सामग्री चेतन मन का विषय और व्यक्तिगत अनुभव-सपत्ति कभी नही बनती वरन् पूर्णत. आनुवशिकता पर ही निर्भर करती है। व्यक्तिगत अचेतन मे अधिकतर ग्रथिया ही निहित रहती है, जबकि सामूहिक अचेतन का निर्माण केवल आद्य बिंबो से होता है।

आद्य बिंबो की धारणा से, जो सामूहिक अचेतन की धारणा के साथ अनिवार्यत: सबद्ध है, मानव-चेतना मे ऐसे अनेक रूपो (या बिंबो) के अस्तित्व का सकेत मिलता है जो सार्वभौम और सार्वकालिक प्रतीत होते हैं। पुराणविद्या-संबंधी अनुसंधान मे इनको 'प्रयोजन' के नाम से अभिहित किया जाता है, आदिमानव-विषयक मनोविज्ञान मे ये लेवी ब्रूल द्वारा प्रतिपादित 'सामूहिक प्रतिच्छवियो' की धारणा के समवर्ती हैं और तुलनात्मक धर्मशास्त्र के क्षेत्र मे ह्यूबर्ट और मौस ने इन्हे 'कल्पना की

कोटियां' कहा है। आज से बहुत पहले अडोल्फ बस्टि आन ने इन्हें 'प्राथमिक' अथवा 'आदिम विचार' का नाम दिया था।

अत. मेरी स्थापना यह है : 'हमारी प्रत्यक्ष चेतना के अतिरिक्त, जो पूर्णतः वैयक्तिक है और जिसे हम एकमात्र आनुभविक चेतना मानते है, चेतना का एक दूसरा स्तर भी है जो सामूहिक, सार्वभौम तथा अवैयक्तिक होता है और जो सभी व्यक्तियो मे समान रूप से विद्यमान रहता है। यह सामूहिक अचेतन व्यक्तिगत रूप मे विकसित न होकर आनुवंशिक रूप मे प्राप्त होता है। इसका निर्माण पूर्ववर्ती रूपो, दूसरे शब्दो मे—आद्य बिबो, के द्वारा होता है। यद्यपि ये बिब केवल गौण या अप्रत्यक्ष रूप से ही चेतन अनुभव का विषय बनते हैं, फिर भी इनसे अतश्चेतना मे विद्यमान सामग्री (अनुभव-सस्कारो) को निश्चित रूपाकार धारण करने मे सहायता मिलती हैं।'[1]

इन आद्य बिबो की अभिव्यक्ति प्रायः आदिम जातियो की विद्या, पुराकथा या परियो की कहानियो आदि के माध्यम से होती है। युग के मत से इन्हे साध्यवसान रूपक या अन्योक्ति-रूपक न कहकर प्रतीक ही मानना चाहिए। साध्यवसान रूपक मे जहा चेतन अनुभव की व्याख्या रहती है वहां प्रतीक अचेतन संस्कार की अभिव्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन होता है : उसके स्वरूप के विषय मे केवल अनुमान भर लगाया जा सकता है क्योकि वह अत तक अज्ञात रहता है। सूर्य को केवल उदित और अस्त होते देखकर आदिमानव के मन का परितोष नही हो सकता था। इस बाह्य घटना का उसकी चेतना मे भी घटित होना अनिवार्य था। उसके लिए आवश्यक था कि सूर्य का यह विकासक्रम किसी महापुरुष अथवा देवता के उत्थान-पतन का प्रतीक होकर सामने आये—और इस महापुरुष या देवता का अस्तित्व उसकी अपनी आत्मा के अतिरिक्त और कहा हो सकता था ? प्राकृतिक घटनाओ के चारो ओर इसी प्रक्रिया से पहले आद्य बिबो का और फिर पुराकथाओ का ताना-बाना बुनता चला गया और ये आद्य बिब मानव-जाति के सामूहिक अचेतन की सार्वभौम तथा सार्वकालिक सपत्ति बनते गये। युग-युग के और देश-देश के मानव के अचेतन मन मे ये आद्य बिब वशानुक्रम से—जन्म से ही वरन् जन्म के पहले से ही, विद्यमान रहते हैं और अनेक रहस्यमयी विधियो के द्वारा उसके मनोव्यापार को प्रभावित करते रहते हैं।

बिब का दार्शनिक विवेचन

दर्शन के क्षेत्र मे भी बिब का अपने ढग से तात्त्विक विवेचन किया गया है। पाश्चात्य दर्शन मे प्लेटो के अध्यात्मवाद और भारतीय दर्शन मे शैवाद्वैत सिद्धात के प्रतिबिंबवाद के अंतर्गत बिब-विषयक स्पष्ट संकेत मिलते हैं।

प्लेटो के सिद्धांत के अनुसार सत्य या मूल तत्त्व की स्थिति आत्मा मे ही है; संसार के नाना पदार्थ सत्यरूप न होकर सत्य के प्रतिबिंब मात्र हैं। काव्य या कला के विरुद्ध उनके तर्क का साराश यह है कि कलाकार अपनी रचना मे केवल भौतिक

१. दि आर्कीटाइप्स एड दि कलेक्टिव अनकाशस (अनुवादक—हल), पृ० ४२-४३

पदार्थ का अनुकरण करता है जो स्वयं वास्तविक न होकर उस मूल या सत्य पदार्थ की अनुकृति होता है जिसकी रचना ईश्वर ने की है। ईश्वरकृत यह पदार्थ विशेष एवं भौतिक न होकर सामान्य तथा तात्त्विक होता है; वह भौतिक आयामों से परिबद्ध स्थूल वस्तुरूप न होकर सूक्ष्म बिंब का रूप होता है। प्लेटो ने इस मूल तत्त्व को अरूप प्रत्यय न मानकर सूक्ष्म बिंब (फॉर्म) रूप माना है। यही वह मूल रूप है जिसका भौतिक प्रतिरूप कारीगर तैयार करता है; फिर चित्रकार अपने उपकरणों के द्वारा इस भौतिक प्रतिरूप की प्रतिकृति रचता है। इस प्रकार कलाकृति आत्मा में स्थित पदार्थ के मूल रूप के प्रतिरूप की प्रतिकृति है—और चूंकि मूल रूप ही वास्तविक रूप है, अतः कलाकृति सत्य से दुगुनी दूर हो जाती है। प्लेटो के मत से ससार का प्रत्येक पदार्थ उस मूल बिंब का प्रतिरूप (या प्रतिबिंब) है जिसकी सत्ता परम चैतन्य मे रहती है, जो ईश्वरीय विधान के अनुसार प्रकृति के उपकरणो के माध्यम से प्रत्यक्ष रूप धारण करता है—अर्थात् प्रत्येक पदार्थ प्रतिबिंब मात्र है जिसका सूक्ष्म बिंब चेतना मे विद्यमान रहता है।[1]

शैवाद्वैत के अनुसार : चेतनो हि स्वात्मदर्पणे भावान् प्रतिबिंबवत् आभासयति—वह परम चैतन्य तत्त्व अपने ही दर्पण में सासारिक पदार्थों को प्रतिबिंब के समान आभासित करता है—(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी)। इसका अभिप्राय यह है कि नाम-रूपात्मक जगत् परम सत्ता का ही प्रतिबिंब है। जगत् का प्रत्येक पदार्थ उस परम तत्त्व का प्रतिरूप है जो मूलत. अभेद और अरूप होने पर भी अपनी इच्छा से नाना रूपों के द्वारा अपने को व्यक्त करता है। इस प्रकार संपूर्ण विश्व अरूप ब्रह्म की प्रतिमा या प्रतिच्छवि है। जिस प्रकार बीज के अंतर्गत वृक्ष का संपूर्ण रूपाकार निहित रहता है या अंडे के अंतर्गत मयूर का पूरे-का-पूरा रूप प्रच्छन्न करता है जो अनुकूल परि-स्थिति मे प्रकट हो जाता है, इसी प्रकार परम तत्त्व में यह संपूर्ण विश्व निमीलित रहता है और उसकी अपनी इच्छा से असंख्य नामरूपो में प्रकट हो जाता है। दार्श-निक शब्दावली मे 'नाम' प्रतीक का वाचक है और 'रूप' बिंब का। अत. दर्शन के अनु-सार बिंब से अभिप्राय है उस गोचर रूप का जिसके माध्यम से अगोचर तत्त्व अपने को अभिव्यक्त करता है। इन दोनो का अर्थात् अगोचर तत्त्व और गोचर रूप का बिंब-प्रतिबिंब संबंध है, दोनों मूलतः अभिन्न होते हुए भी भिन्न प्रतीत होते हैं।

अन्य बिंब-भेदो के साथ काव्य-बिंब का सबध

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर बिंबो का वर्ग-विभाजन संक्षेप मे इस प्रकार किया जा सकता है :

मनोविज्ञान के अनुसार बिंबो के मूलतः दो व्यापक वर्ग हैं : प्रत्यक्ष अनुभव से संबद्ध बिंब और परोक्ष अनुभव से सबद्ध बिंब। प्रत्यक्ष अनुभव से संबंद्ध बिंबो के, माध्यम ज्ञानेंद्रियो के आधार पर, पाच भेद हैं—रूप-बिंब, शब्द-बिंब, गंध-

१. देखिए : रिपब्लिक (अनुवादक : लिण्ड्से), पृ० ५९५-६०८

बिंब
प्रत्यक्ष अनुभव से संबद्ध बिंब
मध्यवर्ती बिंब
परोक्ष अनुभव से संबद्ध बिंब
अनुबिंब
प्रत्यक्ष बिंब
रूप-बिंब
शब्द-बिंब
गंध-बिंब
स्वाद-बिंब
स्पर्श-बिंब
चेतन मन के बिंब
अचेतन मन के बिंब
स्मृति-बिंब
कल्पना-बिंब
वैयक्तिक अचेतन के बिंब
सामूहिक अचेतन के बिंब
स्वप्न-बिंब
तंद्रा-बिंब
मिथ्याप्रत्यक्ष-बिंब
आद्य बिंब
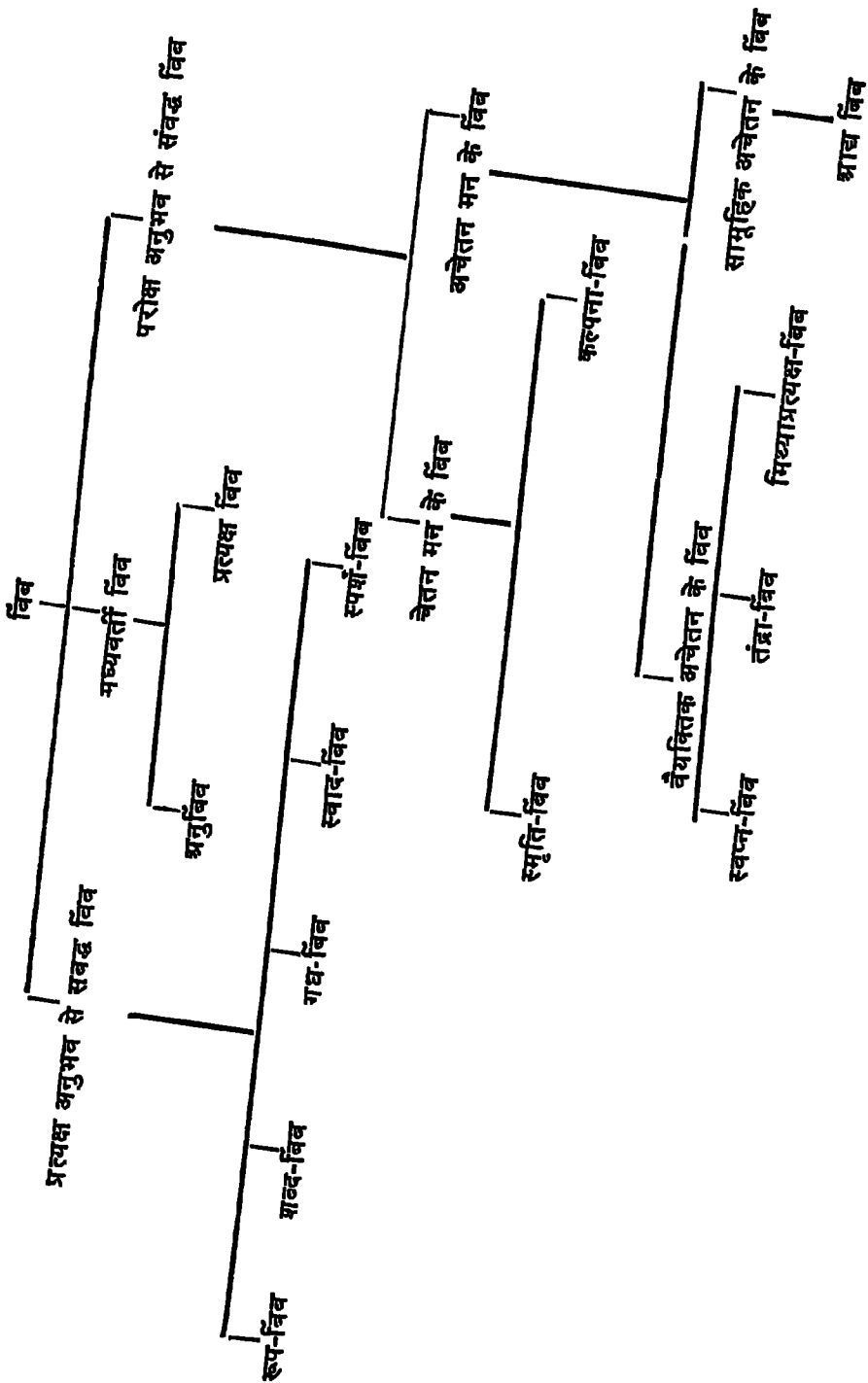
बिंब, स्वाद-बिंब और स्पर्श-बिंब । इनके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने पृथक् रूप से गति-बिंब का भी उल्लेख किया है। इनसे अनतिभिन्न प्रत्यक्ष और परोक्ष अनुभवों के मध्यवर्ती दो और बिंबो की सत्ता मानी गई है—अनुबिंब और प्रत्यक्ष बिंब या प्राथमिक ऐंद्रिय बिंब। परोक्ष अनुभव से संबद्ध बिंब भी चेतन और अचेतन मन की क्रिया के भेद से दो वर्गों मे विभक्त किये जा सकते हैं—चेतन मन के बिंब और अचेतन मन के बिंब। चेतन मन के बिंबों के दो प्रमुख भेद हैं—स्मृति-बिंब और कल्पना-बिंब। उधर अचेतन मन के दो स्तर हैं—वैयक्तिक अचेतन और सामूहिक अचेतन। वैयक्तिक अचेतन के बिंबो के अतर्गत सामान्यतः स्वप्न-बिंब, तंद्रा-बिंब तथा मिथ्या-प्रत्यक्ष-बिंब—ये तीन भेद आते हैं, और सामूहिक अचेतन के बिंबो का पारिभाषिक नाम है आद्य बिंब।

काव्य-बिंबो का स्वरूप इन सभी से भिन्न है—और इस अर्थ मे भिन्न है कि इनमे से कोई भी बिंब-भेद अपने प्रकृत रूप मे काव्य-बिंब का पर्याय नही है। परंतु यह भी निर्विवाद है कि काव्य-बिंब का उक्त समस्त भेदो के साथ अनेक प्रकार का संबध है। प्रत्यक्ष अनुभव से सबद्ध रूप, रस, शब्द आदि के बिंब काव्य-बिंबो की रचना मे उपकरण-सामग्री के रूप मे काम आते हैं। कवि अपनी अमूर्त अनुभूति का मूर्त प्रत्यक्षीकरण करने के लिए प्रत्यक्ष अनुभव के विषयभूत इन बिंबो का मुक्त प्रयोग करता है। जिस प्रकार सामान्य भाषा-प्रयोग और व्यवहार मे भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी ऐंद्रिय क्षमता के अनुपात से इन बिंबों का सापेक्षिक प्रयोग करते हैं, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कवि-कलाकारो के बिंब-विधान मे भी उनकी अपनी-अपनी ऐंद्रिय क्षमता के अनुपात से इनकी न्यूनता या अधिकता रहती है। जिस व्यक्ति की जो इद्रिय अधिक प्रबल होती है, वह प्राय. उससे संबद्ध बिंबो का प्रयोग अधिक करता है। कवि के विषय मे भी सामान्यतः यही सत्य है—एक कवि की रचना मे रूप या वर्ण-बिंबो और दूसरे की मे नाद-बिंबो के प्राचुर्य का एक कारण यह भी हो सकता है कि पहले की चक्षुरिंद्रिय और दूसरे की श्रवणेंद्रिय अधिक प्रबल एव सवेदनशील है। अधा होने के बाद मिल्टन की कविता मे नाद-बिंब या लय-बिंब अत्यधिक प्रबल हो गए थे। सूरदास के जन्माध होने के विपक्ष मे एक अकाट्य तर्क यह भी है कि उनके काव्य मे रूप-बिंबो का प्राचुर्य और वैचित्र्य मिलता है। ऐंद्रिय तत्त्व का सद्भाव बिंब का एक अनिवार्य लक्षण है क्योंकि बिंब अगोचर नही होता। अत॰ यह स्पष्ट है कि कवि अपनी काव्य-सामग्री मे ऐंद्रिय तत्त्व का समावेश उक्त बिंबो के द्वारा ही करता है—इनके उपयोग के बिना काव्य-सामग्री बिंब का रूप धारण नही कर सकती।

'परोक्ष-अनुभव' वर्ग के स्मृति-बिंब और कल्पना-बिंब का काव्य-बिंब के साथ सीधा सबंध है। ये ही वे सिक्के हैं जिनके द्वारा काव्य का व्यापार चलता है। प्रत्यक्ष ऐंद्रिय बिंब वास्तव मे स्मृति-बिंबो के रूप मे परिणत होकर ही काव्य-सामग्री का अंग बनते हैं क्योकि काव्य का विषय प्रत्यक्ष अनुभव न होकर अनुभव का संस्कार ही होता है। कल्पना-बिंब का सबध और भी घनिष्ठ है—कवि की कारयित्री प्रतिभा इन्ही के द्वारा काव्य-बिंबो की रचना करती है। स्मृति-बिंब जहां निष्क्रिय उपकरण मात्र हैं,

वहां कल्पना-बिंब काव्य के सक्रिय उपादान हैं : अचेतन वर्ग के सभी बिंब-भेदों का उपयोग भी प्रायः सामग्री के रूप में ही होता है। निर्माण-विज्ञान मे सामग्री के सामान्यतः दो भेद किए गए हैं—एक कच्चा माल और दूसरा तैयार माल। प्रस्तुत प्रसग मे सवेदन कच्चा माल हैं और चेतन मन के स्मृति-बिंब आदि तैयार माल के समान हैं, जिनका सीधा उपयोग होता है। वैयक्तिक अचेतन मन के स्वप्न-बिंब, दिवा स्वप्न-बिंब और उधर सामूहिक अचेतन के आद्य बिंबों की स्थिति एक प्रकार से मध्यवर्ती है : इन्हे न तो सवेदनों की तरह एकदम कच्चे माल के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है, क्योकि ये अरूप न होकर रूपाकारवान् होते है, साथ ही इन्हें चेतन मन के स्मृति-बिंब आदि की तरह एकदम तैयार माल कहना भी गलत होगा क्योकि ये ज्यो के त्यो सर्जना के यंत्र मे डालने लायक नहीं होते—इनकी गढाई-सफाई करना सर्वथा आवश्यक होता है। काव्य-बिंब मे और स्वप्न-बिंब मे मूल भेद यह है कि काव्य-बिंब की अन्विति स्पष्ट और दृढ होती है—उनकी योजना क्रमबद्ध और व्यवस्थित होती है—जिसके पीछे विवेक और तर्क का निश्चित आधार रहता है, जबकि स्वप्न-बिंब की अन्विति शिथिल—प्रायः छिन्न भिन्न भी होती है, उनकी योजना में क्रम और तर्क का आधार प्राय. नही होता। फ़्रॉयड ने कविता और स्वप्न को सगोत्रीय माना है। उनका तर्क यह है कि स्वप्न और कविता दोनो ही दमित इच्छा की पूर्ति के माध्यम हैं। हमारी अनेक इच्छाएं जो चेतन व्यवहार में अपूर्ण रहकर अचेतन में निमज्जित हो जाती हैं, स्वप्नों के द्वारा अपनी पूर्ति का मार्ग खोजती रहती है। कविता या कला का उद्गम भी यही है—नाना प्रकार के कला-रूपो का जन्म भी अवचेतन मे स्थित अपूर्ण इच्छाओ की पूर्ति के निमित्त ही होता है। इस प्रकार फ्रॉयड के मत से स्वप्न और कला का प्रकृत सबध है। इस विषय मे हमारा विचार यह है कि पहले तो फ्रॉयड का यह सिद्धात ही विवादास्पद है, और यदि उसे बीज रूप मे सत्य मान भी लिया जाए, तब भी स्वप्न-बिंब और काव्य-बिंब की एकता सिद्ध नही होती। काव्य-बिंब के निर्माण मे अवचेतन की प्रबल प्रेरणा होने पर भी चेतन मस्तिष्क की क्रिया अत्यत प्रमुख रहती है, परंतु स्वप्न-बिंबों के निर्माण मे चेतन निष्क्रिय रहता है। स्वप्न-सिद्धांत के समर्थक अपने पक्ष मे कोलरिज की प्रसिद्ध रचना 'कुबला खां' का उदाहरण देते हैं, जिसकी रचना, साहित्यिक अनुश्रुति के अनुसार, स्वप्न मे हुई थी। भारत के भी साहित्य-वृत्तों में इस प्रकार के अनेक प्रवाद प्रचलित हैं कि अमुक कवि की अमुक रचना स्वप्न मे सरस्वती के दर्शन से स्फुरित हुई थी—एक धार्मिक प्रवाद के अनुसार हनुमान जी स्वप्न मे आकर 'मानस' के अनेक प्रसंगो मे संशोधन कर जाते थे। हमारे विचार से इनमे अर्थवाद का अंश प्रमुख है—इनका साकेतिक अर्थ ही ग्राह्य हो सकता है और वह यह है कि अनेक रचनाओ मे सहजानुभूति का तत्त्व अत्यत प्रबल रहता है और उनके अनेक बिंब अनायास निर्मित या स्वत स्फूर्त होते हैं। शास्त्र के नियमानुसार भी प्रत्येक सफल काव्यकृति चित्त की समाहिति या तन्मयीभाव से उद्भूत होती है—परंतु चित्त की यह समाहिति स्वप्न के अत्यंत निकट होने पर भी स्वप्न से भिन्न है।—काव्य-बिंब और स्वप्न-बिंब के पारस्परिक संबंध

का निर्णय उपर्युक्त व्याख्या के संदर्भ में ही होना चाहिए।

काव्य-बिंब के साथ आद्य बिंब का संबंध और भी जटिल है। युंग ने जिस रूप में आद्य बिंब का लक्षण प्रस्तुत किया है, उसको स्वीकार कर लेने के बाद यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि संपूर्ण काव्य के विधान मे आद्य बिंब प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रीति से, अत्यंत जटिल रूप मे, गुथे हुए है। काव्य के अनेक रूप तो ऐसे हैं जिनमे आद्य बिंबो का प्रयोग प्रत्यक्ष रीति से हुआ है—उदाहरण के लिए, आदिम प्रकृति-काव्य, पुराण-काव्य, लोकगीत, रहस्यवादी काव्य आदि मे काव्य-बिंब प्रायः आद्य बिंबों पर आरूढ होकर प्रकट होते हैं। जैसा कि स्वयं युग ने स्पष्ट किया है, प्राचीन प्रबंध-काव्यों और लोकगाथाओं के 'प्रयोजन'[1] वास्तव मे आद्य बिंबो के पर्याय हैं। वेदो में संकलित प्रकृति-विषयक कल्पकथाएं, तंत्र-साहित्य के नानाविधि कथारूपक, रहस्यवादी कविताओं के प्रतीक-गुंफ आद्य बिंबों की उलझी हुई शृखलाएं अपने कलेवर मे समेटे हुए हैं। प्रबंध-काव्यों के कथानक-बिंबो के भीतर ये ही आद्य बिंब अनेक रूपों मे निहित रहते हैं। इन्ही के सार्वभौम अस्तित्व के कारण विभिन्न देशो के कथानको की रूपरेखा और रूढियो में अद्भुत समानता मिलती है; और कथा-साहित्य के विशेषज्ञ प्रायः यह कहते सुने जाते है कि विश्व-साहित्य का विशाल भवन केवल चार-पाच कथा-तन्त्रो के आधार पर खड़ा हुआ है। कहने का अभिप्राय यह है कि आद्य बिंबो का काव्य-बिंबों के साथ गहरा और जटिल जन्मजात संबंध है, इसमे सदेह नही; परंतु दोनो मे अभेद संबंध नही है, यह भी निर्विवाद है। दोनो का भेद स्पष्ट है और वह यह कि काव्य-बिंब अपने परिपूर्ण रूप मे जहा चेतन मन की सृष्टि हैं वहा आद्य बिंब मूलतः अचेतन मन की ही सृष्टि है : चेतन और अचेतन मन की क्रियाओ में जो भेद है वही स्वभावतः काव्य-बिंब और आद्य बिंब के स्वरूपों मे भी प्रतिफलित होता है।

किसी पदार्थ के स्वरूप के यथार्थ के लिए जिस प्रकार उसके उपादानो का स्वरूप-विश्लेषण आवश्यक होता है, इसी प्रकार काव्य-बिंब के स्वरूप को सम्यक् रीति से हृदयगम करने के लिए, उसे उपर्युक्त प्रत्यक्ष और परोक्ष, ऐंद्रिय एवं मानसिक, चेतन और अचेतन बिंब-भेदों के परिप्रेक्ष्य में देखना उपयोगी होगा—ऐसा विश्वास सहज ही किया जा सकता है।—अस्तु !

१ मोटिफ

बिंब-रचना की प्रक्रिया

मुझे स्ममण है—आज से १०-१२ वर्ष पूर्व किसी निर्वाचन-समिति मे मेरे एक सहयोगी ने अचानक ही अभ्यर्थी से जब यह प्रश्न कर दिया कि कलाकार अपनी अनुभूति को किस प्रकार रूपायित करता है, तो मैं निर्वाचक की भूमिका से उतर कर स्वय ही अपने मन के भीतर इस जटिल प्रश्न का उत्तर ढूढने लगा था। वास्तव मे काव्य-मनोविज्ञान का यह अत्यत रोचक प्रसग है और आज एक युग के बाद मैं फिर यही विचार कर रहा हू कि कवि अपनी अनुभूति को बिंब-रूप मे किस प्रकार परिणत करता है।

प्रस्तुत प्रसंग मे स्वभावत. सबसे पहले 'अनुभूति' का स्वरूप-विवेचन करना अधिक उपयोगी होगा। भारतीय दर्शन—विशेषकर न्याय दर्शन—मे और इधर पाश्चात्य मनोविज्ञान मे भी 'अनुभव' के स्वरूप का अत्यत सूक्ष्म-गभीर विश्लेषण किया गया है। परंतु हम दर्शन और मनोविज्ञान की इन जटिल प्रतिपत्तियो मे न उलझकर सामान्य व्यावहारिक तथ्यो का ही आधार लेकर विषय-विवेचन करेंगे। अनुभव या अनुभूति का सबध चार तत्त्वो से है: (१) आत्मा—जिसके लिए अंतश्चेतना शब्द का प्रयोग करना अधिक समीचीन होगा, (२) मन, (३) इद्रिया, और (४) विषय। सबसे पूर्व विषय का इद्रियो के साथ सन्निकर्ष होता है, फिर इद्रियो का मन के साथ और अत मे मन का अतश्चेतना के साथ, जहां अनुभूति का वृत्त पूरा हो जाने पर उसके स्वरूप का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक अनुभूति के साथ ऐंद्रिय-मानसिक तत्त्वो के अतिरिक्त मूर्त पदार्थ आधार रूप मे सपृक्त रहते हैं और अनुभूति की प्रक्रिया मूर्त से आरभ होकर अमूर्त बन जाती है। एक उदाहरण लीजिए: किसी सुदर सुगंधित फूल को देख-सूघ कर प्रमाता को एक प्रकार का सुखद अनुभव होता है जिसे हम 'प्रीति' कहते हैं। सबसे पहले फूल के वर्ण और गध के साथ हमारी चक्षु और घ्राण नामक इद्रियो का सन्निकर्ष होता है जिसके फलस्वरूप कतिपय ऐंद्रिय सवेदन उत्पन्न हो जाते हैं। इसके बाद उक्त इद्रियो का मन के साथ संपर्क होता है और उसके स्वरूप का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक अनुभूति के साथ ऐंद्रिय-मानसिक तत्त्वो के परिणामस्वरूप मन म भी अनेक संवेदनो का आविर्भाव हो जाता है। अत मे अंतश्चेतना के साथ मन का संपर्क होता है जहा पहले से ही विद्यमान सस्कारो के साथ सश्लिष्ट होकर ये सवेदन 'प्रीति' नामक अनुभूति के रूप मे समन्वित हो जाते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान मे भी अनुभूति के स्वरूप का बहुत-कुछ ऐसा ही लक्षण दिया गया है: अनुभूति=क्षण-विशेष मे या नियत समय पर किसी व्यक्ति की

मन.स्थिति का समाकलन अथवा उसका कोई विशिष्ट अवयव या पहलू; क्षण-विशेष मे होने वाली ऐसी मानसिक घटनाओ का सर्वयोग या सकलन जिनका ग्रहण व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से करता है ('डिक्शनरी ऑफ साइकोलोजी'—वारेन)।

यह अमूर्त अनुभूति वाणी और कर्म के माध्यम से फिर मूर्त रूप धारण करती है और इस प्रकार जीवन-व्यापार चलता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जीवन-व्यापार मे अर्थात् आत्म और अनात्म अथवा अंतश्चेतना और बहिर्जगत् के सन्निकर्ष मे (१) अमूर्तन, और (२) मूर्तन की क्रियाएं निरंतर होती रहती हैं। बिंब-रचना का सबध वाणी द्वारा मूर्तन की क्रिया से है।

इस मूर्तन-क्रिया का सबसे स्थायी और सफल माध्यम है शब्दार्थ। जब मनुष्य कहता है कि मेरे सिर मे या पेट मे दर्द है तो वह अमूर्त अनुभूति को शब्दार्थ द्वारा व्यक्त ही तो करता है। भाषा के विकास-क्रम मे 'दर्द' शब्द एक विशेष प्रकार की अनुभूति का प्रतीक बन गया है और सामान्य व्यक्ति नित्य व्यवहार मे इसका सहज उपयोग कर अपनी उस अनुभूति विशेष को व्यक्त कर लेता है। किंतु कभी-कभी उसकी अनुभूति तीव्र हो जाती है और फलत. उसकी वाणी भी उच्छ्वसित हो उठती है। ऐसी स्थिति मे रूढ प्रतीक पर्याप्त नही होते; मन के उच्छ्वास को वहन करने के लिए उसे अधिक प्रभावी शब्दार्थ का प्रयोग करना पडता है और वह कह उठता है. 'सिर फटा जा रहा है!'—'पेट मे सुइया-सी चुभ रही हैं।' यह शब्दावली निश्चय ही बिंबात्मक है; दोनो वाक्यो से हमारी कल्पना मे मूर्त छविया उपस्थित हो जाती है जिनसे हमारे मन पर तुरत ही प्रभाव पडता है। कवि इससे भी आगे बढकर स्मृति और कल्पना के द्वारा दर्द की इस अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति करता है, यानी दर्दभरी कविता लिखता है :

जरत बजागिनिक रु पिउ छाहाँ। आइ बुझाइ अगारन्ह माहाँ।
तोहि दरसन होइ सीतल नारी। आइ आगि तें करु फुलवारी।
लागिउँ जरै, जरै जस भारू। फिरि फिरि भूंजेमि, तजिउँ न वारू।
सरवर हिया घटत नित जाई। टूक टूक होइ कै बिहराई।
(नागमती-विरह, पद्मावत)

इस प्रकार आप देखें कि अनुभूति की अभिव्यक्ति मे किस तरह क्रमशः बिंबात्मकता की सवृद्धि होती जाती है। यह सब किस प्रक्रिया से होता है—हमारा विवेच्य यही है। जैसा कि मैं अनेक प्रसंगो मे स्पष्ट कर चुका हू, काव्य, स्थूल रूप से, शब्दार्थ के माध्यम से मानव-अनुभूति की कल्पनात्मक पुन सृष्टि का नाम है। अनुभूति की यह सृष्टि या पुन.सृष्टि भोग की अवस्था मे अर्थात् अनुभूयमान स्थिति मे सभव नही है। घटित होने के बाद अनुभूति संस्कार बन जाती है—और संस्कार बनने के बाद ही वह काव्य मे परिणत हो सकती है। अतः अनुभूति को बिंब रूप मे परिणत करने की प्रक्रिया का पहला चरण है भोगावस्था की समाप्ति के बाद अनुभूति का संस्कार मे रूपातर। काव्य-रचना के समय समान प्रेरक परिस्थितियों मे स्मृति और कल्पना की सहायता से कवि इस संस्कार को पुनर्जीवित करता है—अर्थात्

अपनी पूर्वानुभूति की कल्पनात्मक आवृत्ति करता है। इस प्रक्रिया में सबसे पहले तो वह इस अनुभूति से संबद्ध भौतिक उपकरणों का आकलन करता है—अर्थात् कल्पना के द्वारा उन पदार्थों—व्यक्तियो, वस्तुओ और घटनाओं की पुनःसर्जना करता है जिनके संदर्भ और परिवेश में उस या वैसी ही अनुभूति का निर्माण हुआ था या होता रहता है। सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा कवि की दर्शना-शक्ति अधिक तीव्र एवं सूक्ष्म होती है, और उसका कल्पना-क्षेत्र अधिक व्यापक होता है; अतः अनेक प्रकार की अनुभूतियो के संस्कार उसकी चेतना मे संचित रहते हैं। पुनःसर्जना की स्थिति में इन संस्कारों के मानस-चित्र अनायास ही उसकी पश्यंती कल्पना मे उद्बुद्ध होने लगते हैं और वह अपने विवेक के द्वारा अनावश्यक का त्याग तथा आवश्यक का ग्रहण करता हुआ उनका उचित संश्लेषण कर अभीष्ट बिंबों की रचना कर लेता है। उदाहरण देकर हम अपने मंतव्य को और स्पष्ट कर सकेंगे।

सुंदरता कहुँ सुंदर करई। छवि-ग्रह दीपसिखा जनु बरई। (तुलसी)

सीता के रूप के प्रति मुग्ध राम की उक्ति है: सीता के रूप से जनकवाटिका का सौंदर्य और भी दीपित हो रहा था—जैसे दीपशिखा के आलोक से चित्रशाला सहसा जगमग हो उठती है। इस अर्धाली का सामान्य अर्थ भी प्रचलित है: 'सीता का रूप सौंदर्य को भी सुदर बना रहा है—उसे देखकर ऐसा लगता है मानो शोभा के गृह मे दीपशिखा जल रही हो।'—किंतु हमारे विचार से यह अर्थ अपने आप में अमूर्त है और प्रस्तुत संदर्भ मे पूरी तरह नही बैठता। विषय यही है।—दिव्य गुणो से दीपित सीता के रूप की झांकी प्रस्तुत करना तुलसी का अभीष्ट है। अनुभूति अमूर्त है। संभव है तुलसी ने अपने जीवन मे इस प्रकार के किसी दिव्य रूप का अवलोकन किया हो और उसका संस्कार उनकी अंतश्चेतना मे विद्यमान हो—या निरंतर सगुण भक्ति की साधना से सीता के दिव्य रूप का मनसा साक्षात्कार तो उन्होंने किया ही था। उधर किसी मदिर की चित्रशाला मे बलती हुई दीपशिखा के प्रभाव का भी अवलोकन वे कर चुके थे और उसका भी संस्कार उनके मन मे था—साथ ही काव्य में अंकित ऐसे चित्रो के संस्कार भी निश्चय ही उनकी चेतना मे थे। अत. 'मानस' मे जब यह प्रसंग उपस्थित हुआ तो स्मृति और कल्पना के द्वारा वे अथवा ऐसे अनेक बिंब अनायास ही उभर आये और कवि ने इनमे से सर्वाधिक आकर्षक बिंब का चयन कर शब्दबद्ध कर दिया। पुन.सर्जना की इस प्रक्रिया मे पडकर अनुभूति व्यक्तिगत वासनाओ से मुक्त हो गई, क्योकि एक तो वह एक ऐसे काव्यगत पात्र पर आरोपित हो गई जिसका अपना व्यक्तित्व ही कल्पना की सृष्टि थी, दूसरे स्वतंत्र बिंबो पर आरूढ़ होकर उसका स्वरूप व्यक्तिगत परिस्थितियो से स्वतंत्र हो गया। इसके बाद प्रश्न आया इन मानस-बिंबो को शब्दार्थ के द्वारा मूर्त रूप प्रदान करने का। यहां शब्दो के अपने-अपने स्वतंत्र बिंबो की समस्या आयी होगी पर कवि ने अपने समृद्ध कोष से ऐसे शब्दो का चयन कर, जिनके बिंब इन मानस-बिंबो के अनुकूल पड़ते थे, इस समस्या का समाधान कर लिया और अनुकूल या सहायक शब्द-बिंबो के माध्यम से उन्हे मूर्त रूप मे प्रस्तुत कर दिया। दिव्य आभा से मंडित सीता के रूप के लिए

"दीपशिखा', उसके प्रभाव-विस्तार के लिए 'वल्लरी', और उधर जनकवाटिका के परिवेश के लिए 'छवि-गृह' आदि ऐसे ही शब्द थे जिनके उज्ज्वल बिंब कल्पना के आलोकमय बिंबो को मूर्तित करने में अनायास ही सहायक बन गये।—दिव्य रूप की अनुभूति बिंब मे परिणत हो गई।

बिंब-रचना के विविध सोपान

बिंब-रचना-प्रक्रिया का पहला चरण है अनुभूति का निर्वैयक्तीकरण। स्वगत अनुभूति भोग का विषय है और भोग निष्क्रिय होता है—वह सर्जना नही कर सकता। जैसाकि मैंने अभी स्पष्ट किया, सर्जना के लिए पहली आवश्यकता यह है कि अनुभूति की भोगावस्था समाप्त होकर वह सस्कार बन जाए। जैसे कि एकदम गर्म पिघले हुए धातु-द्रव से पदार्थ का निर्माण नही किया जा सकता—इसी प्रकार अनुभूयमान स्थिति मे बिंब की सर्जना नही हो सकती। धातु-द्रव जब थोडा ठंडा पडकर पिंड रूप होने लगता है तभी उसमे निर्माण की क्षमता आती है, इसी प्रकार अनुभूति जब भोगावस्था को पार कर संस्कार बन जाती है तभी उसके आधार पर बिंब का निर्माण हो सकता है। संस्कार बन जाने के बाद फिर इस अनुभूति का व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त होना आवश्यक है क्योकि जब तक अनुभूति व्यक्ति अथवा विषयी का अभिन्न अश रहेगी, उससे पृथक् विषयभूत नही बनेगी, तब तक उसका काव्य-सृष्टि के लिए प्रयोग नही हो सकता। विषय बनने के लिए उसे आत्मतत्त्व से पृथक् होना पडेगा और यह कार्य निर्वैयक्तीकरण की प्रक्रिया से सपन्न होता है।

निर्वैयक्तीकरण कल्पना या भावन के व्यापार के द्वारा सिद्ध होता है—यह साधारणीकरण व्यापार का ही अंग है और इसकी सिद्धि के अनेक उपाय हैं। इनमे से एक उपाय है आत्मतत्त्व से असंपृक्त उपकरणो का प्रयोग—ऐसे उपकरणो का उपयोग जिनमे हमारी अहंता लिप्त नही है। इन उपकरणो का आहरण कवि प्रकृति अथवा भौतिक जीवन के क्षेत्र मे करता है और ये प्रायः ऐसे उपकरण होते हैं जो हमारी वासना के विषय न होकर तटस्थ अनुभव के विषय मात्र होते हैं। अपने से बाहर के पदार्थों के साथ अनुभूति का संबंध स्थापित हो जाने से वह बहिर्मुख हो जाती है और उसका अहंता से स्वतंत्र, व्यापक बहिर्जगत् मे विस्तार होने लगता है।—दूसरा उपाय है अपने व्यक्तित्व से स्वतंत्र तटस्थ व्यक्तियो अथवा पदार्थों पर अनुभूति का आरोपण। भारतीय काव्यशास्त्र मे विभाव, अनुभाव आदि के विधान की व्यवस्था इसी उद्देश्य से की गई है : प्रसंग अथवा परिवेश की उद्भावना के द्वारा कवि अनुभूति को मूर्त रूप प्रदान करता है :

> ध्यान करत नँदलाल को, नए नेह मे बाम।
> तनु बूड़त रँग पीत मे, मन बूड़त रँग स्याम॥ (मतिराम)

> पिय-आगम सुनि बाल-तन, बाढ़े हरष बिलास।
> प्रथम बूंद बारिद उठै, ज्यौं बसुमती सुबास॥ (मतिराम)

पहले दोहे में 'नए नेह' की अनुभूति को वाम और नंदलाल पर आरोपित कर आलंबन (नंदलाल), उद्दीपन (पीतांबर का आकर्षण या श्यामल छवि), अनुभाव ध्यान करना, कल्पना के द्वारा पीतांबर में डूबना), संचारी (स्मृति, औत्सुक्य) के विधान के द्वारा बिंबित किया गया है। इसी प्रकार दूसरे दोहे में भी प्रियागमन-जन्य उन्माद की अनुभूति को बाल और प्रिय के प्रसंग के माध्यम से 'वर्षा की प्रथम फुहार में उद्बुद्ध भूमि-गंध' के अप्रस्तुत-विधान द्वारा व्यक्त किया गया है।—छायावाद के कवियों ने प्रकृति-छवियों पर अपनी भावनाओं को आरोपित कर उन्हें वस्तुगत रूप प्रदान करने का उपक्रम किया है। इस पद्धति से अमूर्त अनुभूति को मूर्त रूप में प्रस्तुत करने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। लोक-जीवन में नाना प्रकार के अनुभवों में से गुजरते हुए नर-नारियों के मानसिक और शारीरिक व्यवहार अपने-आप में मूर्त होते हैं—जिनका वर्णन करना—शब्दों के द्वारा जिनका अनुकरण या चित्रण करना—अपेक्षाकृत सुकर होता है। इसीलिए रस के परिपाक के लिए अमूर्त स्थायी भाव का चित्रण न कर उसके कारण-कार्य आदि के वर्णन की ही व्यवस्था की गई है। स्थायी भाव अमूर्त है, अतः उसकी व्यंजना ही संभव है, विभाव और अनुभाव मूर्त हैं जिनका वर्णन किया जा सकता है; अतः कवि मूर्त कारण-कार्य का वर्णन कर अमूर्त भाव की व्यंजना करने में सफल होता है। इस प्रकार प्रसंग-नियोजन या विभावानुभाव-योजना अमूर्त के मूर्तन का सबसे सुगम एवं व्यावहारिक उपाय है।

किंतु प्रसंग-नियोजन अपने-आप में पर्याप्त नहीं होता। प्रसंग में नियोजित 'विशेष' का साधारणीकरण भी अनिवार्य होता है। कवि को 'विशेष' के ऐसे गुणों और धर्मों को उभार कर रखना पड़ता है जो सर्व-संवेद्य हों—अर्थात् जिनके साथ सहृदय-समाज सहज ही तादात्म्य कर सके। उपर्युक्त उदाहरणों में यही किया गया है। उनमें वर्णित वामा और श्याम—नायक और नायिका—विशिष्ट न होकर आकर्षक पुरुष और प्रणयलुब्ध नारी के प्रतीक हैं : पुरुष के रिझावनहार रूप पर बल दिया गया है और नारी की रिझवार-प्रवृत्ति पर। ये दो धर्म ऐसे हैं जो सर्व-संवेद्य हैं। यहाँ आकर मूर्तन-प्रक्रिया क्रमशः सांद्रण-[1]व्यापार की ओर प्रवृत्त हो जाती है जिसमें बिंब-विधान विकीर्ण न रहकर सांद्रित हो जाता है और बिंबों की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है।

यह सब तो कल्पना का व्यापार है। इसके आगे अभिव्यंजना की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है जिसके लिए कवि शब्द-अर्थ, लय, संगीत आदि का प्रयोग करता है। इधर सार्थक शब्दों के अपने-अपने बिंब होते हैं और उधर लय, संगीत आदि भी और बिंबों में युक्त रहते हैं। काव्य-चित्रों की रचना में ये बिंब उत्पादन के रूप में काम आते हैं। यदि लक्षणा आदि के द्वारा इन रूढ़ और प्रयोग-धूमिल बिंबों में नया रंग भरता है और अप्रस्तुत-विधान के द्वारा उनके कलेवर को समृद्ध करता है। मतिराम के पहले दोहे के द्वितीय चरण में लक्षणा के द्वारा बिंबों में रंग भरा गया है :

१. कंडेंसेशन

'तनु बूड़त रँग पीत में, मन बूडत रँग स्याम।' और दूसरे दोहे के उत्तरार्ध मे अप्रस्तुत-विधान के द्वारा बिंब के कलेवर को समृद्ध किया गया है—

प्रथम बूंद बारिद उठे, ज्यौ बसुमती सुबास !

इस प्रकार काव्यगत बिंब-रचना अथवा बिंबन-प्रक्रिया के सोपान सामान्यतः ये हैं—

१. अनुभूति का निर्वैयक्तीकरण : सर्वप्रथम कवि अनुभूति से संबद्ध मूल परिस्थितियो—पदार्थों और व्यक्तियो—की स्मृति के आधार पर, आत्म-बाह्य उपकरणों के प्रयोग तथा अपर पदार्थों अथवा व्यक्तियो पर अनुभूति के आरोपण द्वारा प्रसंग-विधान या विभावानुभाव-योजना करता है और इस प्रकार आत्मनिष्ठ अनुभूति को वस्तुनिष्ठ रूप प्रदान करता है।

२. साधारणीकरण : इसके बाद, प्रसंग-विधान के अंगभूत 'विशेष' के सामान्य सहृदय-संवेद्य धर्मों को उभारता हुआ प्रमुख तत्त्वो का सान्द्रीकरण करता है।

३. शब्दार्थ के माध्यम से अभिव्यक्ति : अंत मे, लक्षणा के प्रयोग द्वारा रूपरेखाओ में रंग भरकर और अप्रस्तुत-विधान की सहायता से कलेवर को समृद्ध करता हुआ, बिंब को पूर्णता प्रदान कर देता है।

ये उपमान मैले हो गये हैं !

देवता इन प्रतीको के कर गये हैं कूच—
कभी वासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।—(अज्ञेय)

बिंब-विधान के संदर्भ मे मौलिकता अथवा नूतनता का प्रश्न भी विवेचक का ध्यान आकृष्ट कर सकता है। जिस प्रकार प्राचीन या परंपरागत उपमान निरंतर प्रयोग के कारण निष्प्राण हो जाते हैं—अधिक घिसने से उनका मुलम्मा छूट जाता है, इसी प्रकार परंपरागत बिंब भी निर्जीव हो जाते हैं—उनमे वैचित्र्य और आकर्षण का अभाव हो जाता है। अत. रूढ़ उपमानो और उन पर आश्रित बिंबो का त्याग कर नया कवि अपनी नवीन सौंदर्य-चेतना के अनुरूप नये उपमानो की शोध और उनके द्वारा नये बिंबो के निर्माण मे प्रवृत्त होता है। इस प्रकार बिंब-योजना में नवीनता का विशेष महत्त्व है।

यह तर्क निस्सार नहीं है। काव्यशिल्प के विकास में—और उधर अलंकार-शास्त्र के इतिहास मे भी, यह प्रश्न अनेक वार सामने आ चुका है। यूरोप के काव्य-शास्त्र मे आज से दो हज़ार वर्ष पूर्व लोजाइनस ने उपमानो व अलंकारो की रूढता एवं जड़ता पर प्रहार कर जीवत अनुभवो के आधार पर नये उपमानो और प्रयोगों पर वल दिया था, मध्य युग में दाते ने अपने युग की आवश्यकताओ के अनुरूप इसकी आवृत्ति की, पुनर्जागरण काल मे शेक्सपियर ने व्यवहार में काव्य-शिल्प की जड़ता को छिन्न-भिन्न कर उसे अनंत विस्तार प्रदान किया, उन्नीसवीं शती मे वर्ड्सवर्थ ने नव्यशास्त्रवाद की रूढ़ियो का विरोध करते हुए सजीव भाषा और जीवंत काव्यसामग्री के प्रयोग के लिए आंदोलन किया और बीसवी शती मे आरंभ से ही नव प्रयोगो के पक्ष मे एक के वाद एक आंदोलन हो रहे हैं। भारतीय वाङ्मय के इतिहास मे कालिदास ने अलंकार और रीति संप्रदायों की जकड़बंदी के विरुद्ध आवाज़ उठाई थी—पुराणमित्येव न साधु सर्वम्; हिंदी मे रीतिमुक्त कवि ने रूढ़ उपमानों की भर्त्सना करते हुए लिखा था :

सीख लीन्हों मीन-मृग-खंजन-कमल नैन,
सीखि लीन्हो यश औ प्रताप को कहानो है।
सीखि लीन्हो कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिंतामणि,
सीखि लीन्हो मेरु औ कुबेर गिरि आनो है॥
ठाकुर कहत याकी वड़ी है कठिन वात,
याको कहूँ भूलि नहीं बाँधियत वानो है।

ढेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीनो खेल करि जानो है ।।

—(ठाकुर)

आधुनिक युग के द्वितीय चरण मे महावीरप्रसाद द्विवेदी ने स्पष्ट घोषणा की थी—"भारती को कुछ नवीन आभूषणो से अलंकृत करने मे हमे संकोच नही करना चाहिए। फिर क्या कारण कि बेचारी भारती के जेवर वही भरत, कालिदास, भोज इत्यादि के जमाने के ज्यो के त्यों बने हुए हैं? भारती को क्या नवीनता पसद नही?"[1] इधर 'पल्लव' की भूमिका मे कवि पंत ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये थे: "वे (अलंकार) वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं ... जहा भाषा की जाली केवल अलंकारो के चौखटे मे फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहा भावों की उदारता शब्दो की कृपण जडता मे बधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।"

यूरोप के रूमान-विरोधी आंदोलनों से प्रेरणा लेकर इसी तर्क को नये कवि ने अपने ढग से प्रस्तुत किया है:

चाँदनी चंदन-सदृश
हम क्यों लिखें?
मुख हमे कमलो सरीखे क्यों दिखें?
हम लिखेंगे
चाँदनी उस रुपये-सी है कि जिसमे
चमक है, पर खनक गायब है।
हम कहेगे जोर से
मुँह पर अजायब है
जहाँ पर बेतुके, अनमोल, जिन्दा और मुर्दा भाव रहते हैं।

(अजितकुमार)

इस विचार-शृंखला का सारांश यह है कि बिंब-योजना मे ताजगी और नवीनता का बड़ा महत्त्व है—नवीन उपमानो और बिंबो के द्वारा काव्य-शिल्प का विकास होता है। जहा तक इस तथ्य का संबंध है, इसमे किसे आपत्ति हो सकती है? प्रतिभा को आदिकाल से ही नवनवोन्मेषशालिनी और अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा कहा गया है, अत: नवीन बिंब-योजना काव्य-प्रतिभा का लक्षण है, इसमे संदेह नही। परंतु नवीनता अथवा अपूर्वता को निरपेक्ष रूप मे काव्य-बिंब का गुण नही माना जा सकता। नवीनता और अपूर्वता की कल्पना चारुत्व की परिधि के भीतर ही सार्थक मानी गयी है और आज भी स्थिति मे परिवर्तन नही हो सकता। वास्तव मे, जैसा कि भारतीय काव्यशास्त्र मे ध्वनि आदि के प्रसंग मे स्वीकार किया गया है, काव्य मे उत्कर्ष का विधान चारुत्व के आधार पर ही होता है:

१ 'भारती-भूषण' की प्रस्तावना में उद्धृत महावीरप्रसाद द्विवेदी का पत्र

वाच्यातिशायिनि व्यंग्ये ध्वनिः।—(सा० द०)
चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययो प्राधान्यविवक्षा।
(ध्वन्यालोक)

अर्थात् जहा वाच्य से अधिक व्यग्य की प्रधानता हो वहा ध्वनि होती है (सा० द०)—और, वाच्य तथा व्यग्य के प्राधान्य का मापक चारुत्व का तारतम्य ही है (ध्वन्यालोक)। कहने का तात्पर्य यह है कि ध्वनि आदि तत्त्वो के सदर्भ से भी जिन्हे काव्य की आत्मा माना गया है, व्यग्य मात्र पर्याप्त नही है : व्यंग्य मे चारुता होनी चाहिए।

चारुत्व के दो पक्ष हैं—एक वस्तुगत और दूसरा भावगत। वस्तुगत रूप मे चारुत्व औचित्य अर्थात् प्रसगानुरूपता का वाचक है और भावगत रूप मे वस्तु और प्रमाता की चित्तवृत्ति के तादात्म्य का। जो बिंब प्रसंग अथवा मूल भाव के अनुरूप है वही समीचीन है और सदर्भ की दृष्टि से वही सुदर है—इसमे सममिति आदि के गुण सहज ही अतर्भुक्त हैं। परतु इतना ही पर्याप्त नही है. बिंब मे रमणीयता का समावेश तभी होगा जब प्रमाता की चित्तवृत्ति का उसके साथ सामजस्य स्थापित हो सकेगा। परतु प्रमाता की चित्तवृत्ति कोई शून्य पटल नही है, उसमे असख्य सस्कार विद्यमान रहते हैं जो सामजस्य की प्रक्रिया मे साधक या बाधक होते रहते है। अतः चारुत्व का सबध सस्कारो के साथ भी अनिवार्यत स्थापित हो जाता है। किसी पदार्थ या बिंब की चारुता का निर्णय करने मे सस्कारो के साथ तादात्म्य का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण बन जाता है। यही प्रकारातर से साधारणीकरण का प्रश्न भी उठ खडा होता है—कोई बिंब, चाहे वह कितना ही विचित्र और मौलिक क्यों न हो, तब तक काव्य के लिए उपयोगी नही हो सकता जब तक वह प्रमातृवर्ग की चेतना मे अभीष्ट प्रतिक्रिया उत्पन्न न करे। कहने का अभिप्राय यह है कि बिंब की नवीनता मात्र पर्याप्त नही है, नवीनता का प्रत्येक रूप सुदर नही होता और हर नया बिंब काव्य-बिंब की कोटि मे नही आ सकता। काव्य के क्षेत्र मे कोरी कल्पना की उडान से या दूर की कौडी लाने भर से अपूर्वनिर्माण की क्षमता सिद्ध नही होती। इस स्थापना का परीक्षण कुछ बिंबो के विश्लेषण के द्वारा सरलता से किया जा सकता है। पहले नये कवि के उपर्युक्त सिद्धातपरक बिंब को ही लीजिए।

लेखक की ओर से इस प्रसग मे अनेक तर्क दिए जा सकते हैं। एक तर्क तो यही है कि चादनी को चदन की और मुख को कमल की उपमा देने की परंपरा हजारो वर्ष से चली आ रही है, अतः अब भी इसका पिष्ट-पेषण करते रहने से क्या लाभ ? चादनी के प्रति या मुख के प्रति आज के मानव की सर्वथा भिन्न प्रतिक्रियाएं भी होती हैं और हो सकती हैं जिनको व्यक्त करने के लिए रूढ बिंबो को छोडकर नये बिंबो का निर्माण अनिवार्य है। चादनी का प्रभाव शीतल और सुखकर ही हो यह आवश्यक नही है, आधुनिक सहृदय को उसमे एक प्रकार के भ्रामक सौंदर्य या निस्सार आकर्षण की प्रतीति भी हो सकती है। उसी प्रकार मुख मे विकलता या प्रफुल्लता की प्रतीति के स्थान पर यह प्रतीति भी हो सकती है कि वह मानव-हृदय के चित्र-विचित्र भावो के प्रदर्शन का माध्यम मात्र है। ये दोनो कल्पनाएं या

कल्पनात्मक धारणाएं सार्थक हैं, इनके बिंब भी साफ हैं; परंतु उनमे भाव की प्रेरणा नही—बुद्धि का चमत्कार ही अधिक है, अतः इनमे चारुत्व या रमणीयता का अभाव है और इसलिए वे काव्य-बिंबो की कोटि मे नही आते। सहृदय की बुद्धि तो इन्हे ग्रहण कर लेती है, पर उसकी सवेदना का तादात्म्य इनके साथ नही हो पाता :

इसकी अपेक्षा अज्ञेय के निम्नलिखित उद्धरण मे रमणीय तत्त्व अधिक हैं .

अगर मैं तुमको
ललाती साँझ के नभ की अकेली-तारिका
अब नही कहता,
या शरद के भोर की नीहार-न्हाई कुंई
टटकी कली चम्पे की वगैरह, तो
नही कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि केवल यही—
ये उपमान मैले हो गये हैं !
देवता इन प्रतीको के कर गये हैं कूच—
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।
मगर क्या तुम नही पहचान पाओगी
अगर मैं यह कहूँ—
'बिछली घास हो तुम
लहलहाती हवा मे कलगी छरहरे बाजरे की ?

यहा भी वास्तव मे कवित्व की सर्जना की अपेक्षा सिद्धात-कथन पर ही कवि का बल अधिक है। उसका तर्क यहा भी प्रायः वही है; प्रस्तुत प्रसंग मे वह रोमानी उपमानो और बिंबो का अति-परिचय तथा अति-प्रयोग के कारण तिरस्कार करता हुआ, निजी सहज, गहरे बोध के आधार पर, 'बिछली घास' और 'हवा मे लहलहाती बाजरे की छरहरी कलगी' जैसे उपमानों या बिंबो को प्राथमिकता देता है, जो आज के अनुभव के निकट हैं। इसमे सदेह नही कि इन दोनो बिंबो मे ताजगी है : तरुणी के छरहरे व्यक्तित्व, कोमल देहयष्टि और टटके रूप के लिए कवि ने सायास इनका प्रयोग किया है। इन उपमानो के रूप के अलग-अलग अगो के गुणो को व्यक्त करने की शक्ति है। फिर भी इनसे जिस बिंब का निर्माण होता है उसे क्या हम सफल काव्य-बिंब कह सकते है ? इसे असफलता अथवा अर्ध-सफलता के दो कारण हैं : एक तो यह कि कवि की उक्ति रूप की अनुभूति से प्रेरित नही है—'सहज गहरे बोध' का यहा कथन है, संवेदन नही है, क्योकि कवि का उद्देश्य यहा मुख्य रूप से बुद्धि-प्रेरित कल्पना की सहायता से सिद्धात-प्रतिपादन ही रहा है, और दूसरे यह है कि प्रस्तुत उपमानो और बिंबो के साथ प्रमाता के सस्कारो का तादात्म्य नही हो पाता : कवि की बुद्धि चाहे कुछ भी तर्क दे, प्रमाता का हृदय तो अपने संस्कारो के कारण साथ ही नही देता। 'चम्पे की कली' या 'शरद की नीहार-न्हाई कुंई' के चारो ओर भारतीय

कवियो की जो रमणीय कल्पनाएं लिपटी हुई हैं—जिनके संचित प्रभाव से, इन फूलो को बिना देखे हुए भी, मनोरम मानस-छवियां अनायास ही सहृदय की चेतना में उद्बुद्ध हो जाती हैं, उनके जादू को क्या नये कवि का तर्क सहज ही नष्ट कर सकता है ? इसीलिए मेरा यह विश्वास है कि केवल बिंब कविता नही है और इसीलिए मेरा यह निश्चित मत है कि बिंबो के निर्माण मे निपुण होने पर भी भावना की आंतरिक ऊष्मा के अभाव मे अज्ञेय अपने बिंबो को कविता मे नही ढाल पाते।

इसके विपरीत कुछ दूसरे कवियो के सफल काव्य-बिंब लीजिए :

१—मैंने कौतूहलवश आँगन के कोने की
गीली तह को यो ही उँगली से सहलाकर
बीज सेम के दबा दिये मिट्टी के नीचे।
किंतु एक दिन जब मैं संध्या को आँगन मे
टहल रहा था—तब मैंने सहसा जो देखा,
उससे हर्ष-विमूढ हो उठा मैं विस्मय से !
देखा आँगन के कोने मे कोई नवागत
छोटी-छोटी छाता ताने खडे हुए हैं।
छाता कहूँ कि विजय-पताकाएँ जीवन की,
या हथेलियाँ खोले थे वे नन्ही, प्यारी,—
जो भी हो, वे हरे-हरे उल्लास से भरे
पंख मार कर उड़ने को उत्सुक लगते थे,
डिम्ब तोडकर निकले चिडियो के बच्चो-से।

(पंत—आ : धरती कितना देती है)

पंत जी द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त बिंब रूढ़ अथवा परंपराभुक्त नहीं हैं। सेम के छोटे-छोटे पौधो की मुलायम ताज़गी को व्यंजित करने के लिए कवि ने तीन बिंबो का प्रयोग किया है—छाता ताने खडे हुए बच्चो का, नन्ही-प्यारी हथेलियां खोले हुए शिशुओ का और डिंब तोडकर उडने को उत्सुक विहग-शावको का। ये तीनो ही बिंब न रोमानी हैं और न बासी या मैले : एकदम टटके और ताज़ा हैं—'बिछली घास' और 'छरहरे बाजरे की कलगी' से कम ताज़गी इनमे नही है। परंतु उसके साथ इनमे एक और गुण है जो अज्ञेय के बिंब मे नही है और वह है मन की कोमल भावना—वत्सल भाव—का स्पर्श जो इनकी ताज़गी को सरस बना देती है।

२—तुम्हारे नयन पहले भोर की दो ओस-बूँदें हैं—
अछूती ज्योतिमय भीतर द्रवित।

(अज्ञेय)

अज्ञेय का यह बिंब जिन उपकरणो से बना है वे सभी पुराने हैं, फिर भी भावसिक्त रूप-संवेदना के कारण इसमे नयी चमक आ गई है : बासी उपमान एकदम ताज़ा हो गया है। इसी प्रकार—

रख दिये तुमने नजर में बादलो को साधकर
आज माथे पर सरल संगीत से निर्मित अधर
आरती के दीपको की झलमलाती छाँह में
बाँसुरी रक्खी हुई ज्यो भागवत के पृष्ठ पर।

(भारती)

इस बिंब के भी उपमान और उपकरण—बादल, संगीत, आरती, दीपक, बांसुरी और उधर भागवत भी—सभी रूढ एव परंपराभुक्त हैं, परंतु भाव के स्पर्श ने उनके संयोजन मे एक नयी स्फूर्ति भर दी है : रूप-साम्य और प्रभाव-साम्य के संयोग से बिंब मे अपूर्व सौंदर्य का समावेश हो गया है।

नवीन उपमानो और बिंबों की शोध वास्तव मे कोई नयी घटना नही है। पुराकाल से ही सचेष्ट कलाकार निरंतर इस दिशा में आगे बढ़ते रहे हैं। संस्कृत काव्य मे कालिदास की उद्भावनाएं तो प्रख्यात ही हैं। मैं समझता हूं कि नूतनता तथा वैचित्र्य की दृष्टि से उनके उपमानो और बिंबों का जवाब नही है, परंतु कवि की संवेदना ने कहीं भी उनका साथ नही छोड़ा—परिणामतः उनकी नूतनता प्रायः सर्वत्र ही सरस बनी रही है :

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात् पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुरांगना कर्षति खण्डिताग्रात् सूत्रं मृणालादिव राजहंसी॥

(वि० १.२०)

—आकाश मे उड़ती हुई उर्वशी पुरूरवा के मन को शरीर से इसी तरह तेजी से खींच कर ले जाती है जैसे राजहंसी खंडित अग्रभाग वाले मृणाल के तंतु को।

शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन् आभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः॥

(रघुवंश, ५। १५)

—समस्त धनराशि उपयुक्त पात्रो को अर्पित कर, रघु केवल देहावशिष्ट होकर इस प्रकार शोभित हो रहे थे जैसे ऋषियों द्वारा समस्त शस्य चुन ले जाने के बाद स्तम्बशेष नीवार हो।

माघ और श्रीहर्ष ने नूतनता के इस चमत्कार मे और वृद्धि की; परंतु इन प्रयोगों मे कल्पना की क्रीड़ा अधिक थी—कवि की संवेदना के साथ इनका वैसा अविच्छेद्य संबंध नही रहा जैसा कालिदास के प्रयोगो में था : सूर्यास्त की आभा विलीन हो गई, आकाश में तारे छिटक गए—मानो (मूढ़) आकाश ने स्वर्णपिंड बेचकर बदले मे कौड़ियां ले ली :

विक्रीय तं हेलिहिरण्यपिण्डं तारावराटानियमादित द्यौः

(नैषध, २२।१३)

नूतनता का लोभ और भी बढ़ा और आकाश मे छिटके तारे ऐसे प्रतीत होने लगे जैसे किसी ने अनार के दानो का रस चूसकर बीजों को थूक दिया हो :

पचेलिमं दाडिममर्कबिम्बमुत्तार्य संध्या त्वगिवोज्झितास्य ।
तारामय बीजभुजादसीय कालेन निष्ठ्यूतमिवास्थियूथम् ॥
(नैषध, २२ । १४-१५)

हिंदी के आचार्य कवि केशवदास को भी नवीनता का काफी शौक था और वे भी इस दिशा मे पीछे नही रहे :

चढ्यौ गगन-तरु धाइ, दिनकर बानर अरुन मुख ।
कीन्ह्यौं झुकि झहराइ, सकल तारका-कुसुम बिनु ॥
(रामचन्द्रिका)

रीतिकवि अपनी रूढ दृष्टि के लिए कुख्यात हैं; परंतु उनमे भी बिहारी, घनानन्द आदि ने, जो अपने काव्य-शिल्प के प्रति सचेत थे, नये उपमानो और बिंबों की शोध मे रुचि प्रदर्शित की है :

(१) वाही त्यौ ठहराति यह कबिलनुमा लौं दीठि । (बिहारी)
(२) आली, बाढतु बिरह ज्यो पाचाली कौ चीर ! (बिहारी)

बात यहां पर भी वही है । इसमे संदेह नही कि पहला उपमान और उस पर आश्रित बिंब अधिक सटीक है । दृष्टि के केन्द्रीभूत होने के लिए किब्ल.नुमा का बिंब एकदम ठीक बैठता है, फिर भी सहृदय का रागात्मक सबंध न होने के कारण यह विदेशी यंत्र-बिंब कल्पना को चमत्कृत कर ही रह जाता है, हृदय का स्पर्श नही कर पाता । इसके विपरीत, 'पाचाली का चीर' के साथ जहा घटना पुरानी है, परतु उसका उपमान के रूप मे प्रयोग प्राय· नया है, श्रोता के संस्कारो का लगाव है, इसलिए उसमे कवित्व का उन्मेष सरलता से हो गया है । काव्य-शिल्प के क्षेत्र मे छायावाद के कवियो ने रीतिकाव्य की रूढियो के प्रति विद्रोह किया और नवीन उपमानो तथा बिंबों की अत्यंत आतुरता से खोज आरंभ की—परंतु छायावाद मे रमणीय अथवा कमनीय तत्त्व की प्रधानता के कारण इनकी दृष्टि प्राय. प्रकृति के रम्य उपादानो से दूर नही भटकी । आरंभ मे इस वर्ग के कुछ कच्चे कवियो ने, विशेष रूप से ऐसे कवियों ने, जिनकी सौंदर्य-दृष्टि अनाविल नही थी, नूतनता की झोक मे तरह-तरह के कागजी फूल तैयार किए । परंतु जैसे-जैसे छायावाद का काव्यरूप स्थिर होता गया, अनुभूति के साथ कल्पना का सबंध घनिष्ठ होने लगा, वाग्विलास नियन्त्रित होता गया और अत मे वे ही उपकरण ग्राह्य हुए जिनमें वैचित्र्य और वैविध्य के साथ मानव-सवेदना का भी सहज स्पर्श था । कहने का अभिप्राय यह है कि बिंब-योजना मे नवीनता की स्पृहा कोई नयी घटना नही है : प्राचीन काल से प्रबुद्ध कवि की कल्पना इस क्षेत्र मे नवीन उद्भावनाएं करती रही है, परतु काव्य के क्षेत्र मे वे ही बिंब और उपमान स्थायी रहे हैं जो मानव-भावना के रस मे पग गये हैं ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर, बिंब-योजना के क्षेत्र मे नूतन प्रयोगो का विश्लेषण करने पर तीन-चार प्रवृत्तियां स्पष्ट रूप से सामने आती हैं । नूतन प्रयोगो का एक वर्ग तो ऐसा है जिसमे नूतनता की उद्भावना ही प्रमुख रहती है, कवि का ध्यान बिंब अथवा उपमान की नूतनता पर इतना अधिक केन्द्रित रहता है कि उसके

अन्य अनिवार्य गुण—औचित्य और चारुत्व आदि, उपेक्षित हो जाते हैं। फारसी के कवियो के मुबालगात और संस्कृत तथा हिंदी कवियो की सादृश्यमूलक ऊहाएं इसी कोटि मे आती हैं। इनसे कुछ-एक क्रीडा-रसिको का मनोरंजन चाहे हुआ हो, परतु गंभीर सहृदय-समाज ने कभी इनका आदर नही किया। नूतनता के लोभ के कारण ही श्रीहर्ष ने तारों को 'रस चूसकर थके हुए अनार के दाने' और केशवदास ने सूर्य को 'अरुणमुख बंदर' बना दिया है। दूसरा वर्ग वह है जहां नूतन कल्पना मे प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच रूप-साम्य और गुण-साम्य के साथ-साथ अनुपात की रक्षा तो होती है, परंतु रागात्मक संबंध की स्थापना नही हो पाती। बिंब के साथ कवि की संवेदना का उचित संपर्क न होने से वह सहृदय के चित्त को चमत्कृत करने मे असमर्थ रहता है, जैसे—

> चाँदनी उस रुपये-सी है कि जिसमे—
> चमक है, पर खनक गायब है।

इस प्रकार के बिंबों का तीसरा वर्ग वह है जिसमे नवीन उपकरणो और उपमानो का रागात्मक प्रयोग रहता है। वास्तव मे यहा नवीन से अभिप्राय ऐसे उपकरणो का है जिनका काव्य में सामान्यत प्रयोग नही होता रहा है—जो जीवन मे तो आ चुके हैं पर काव्य के क्षेत्र में जिनका प्रवेश पहली बार होता है। स्वभावत इनके साथ पाठक का रागात्मक सबंध प्राय. नही रहता परतु कवि की उद्दीप्त संवेदना इनमें राग का संचार कर देती है। वास्तव मे यह कठिन कार्य है—इसके लिए अत्यंत व्यापक और तीव्र संवेदना की अपेक्षा होती है और फिर भी यह निश्चित नही है कि वह सर्वत्र ही साधारणीकरण में सफल हो जाए। गिरिजाकुमार माथुर ने 'पृथ्वीकल्प' मे अणुविज्ञान के नवीन अनुसंधानो को काव्य मे ढालने के कुछ ऐसे ही प्रयास किए हैं, जो एक हद तक सफल होने पर भी सर्वत्र प्रेषणीय नही बन सके। परतु इस प्रकार के प्रयोग निरतर होते रहते हैं और सवेदनशील कवियो की उद्दीप्त कल्पना इनके द्वारा काव्य-शिल्प का क्षेत्र-विस्तार करती रहती है। यहां भी नवीन उपकरणो की शोध-मात्र पर्याप्त नही है—नवीन उपकरणो को सवेदना से वेष्टित करना अनिवार्य है जो केवल वैचारिक संकल्प से सिद्ध नही होता।

नूतन बिंब-विधान का चौथा भेद वह है जहां अपूर्वता नवीन उपकरणों के संकलन मे नही वरन् परिचित उपकरणो के नवीन प्रयोग मे निहित रहती है—और बिंब के साथ मानव-संवेदना का संपर्क अक्षुण्ण रहता है। नवीन बिंब-योजना का वास्तव में यही रूप अधिक काव्योचित है क्योकि बिंब-विधान, जैसा कि मैं अनेक प्रकार से स्पष्ट कर चुका हूं, काव्य की सिद्धि न होकर साधन ही है। काव्य का उद्देश्य है अनुभूति का सप्रेषण—अर्थात् कवि की अनुभूति को सहृदय तक संवेदित करना : कवि की अनुभूति को इस प्रकार संप्रेषित करना कि वह सहृदय के चित्त मे उसी प्रकार संवेदना जागृत कर सके। बिंब-योजना इसी सिद्धि की साधक-प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया मे स्पष्टत. ऐसे उपमान और बिंब अधिक उपयोगी होते हैं जो रागवेष्टित हैं—अर्थात् सहृदय-समाज के साथ जिनका रागात्मक सबंध है। इसमे संदेह नही कि रूढ़ उपमान,

जिनके भीतर अनुभूति का स्पंदन—युगानुयुगव्यापी यांत्रिक आवृत्ति के कारण—नष्ट हो चुका है, संवेदना का वहन करने मे असमर्थ हो जाते हैं। किंतु, यह भी निश्चित है कि एकदम नव-कल्पित उपमान, अथवा नये जीवन-व्यवहार के ऐसे उपकरण भी जिनमे अभी हमारे संस्कार नही रम सके हैं, अधिक कारगर नही होते। सामान्य जीवन का अग वन जाने से ही किसी पदार्थ के साथ सहृदय-समाज के संस्कार सलग्न नही हो जाते, उसके लिए आवश्यक है कि वह पदार्थ-विशेष हमारी संस्कृति का अग वन जाए। आज वर्षो से हम दीपशिखा के स्थान पर वल्व का प्रयोग कर रहे हैं—कमरो और दफ्तरो मे ही नही, पूजागृहो मे भी जीरो-पॉवर वल्व ही काम आता है, परंतु क्या यह जीरो-पॉवर वल्व आज भी काव्य-संस्कारो से वेष्टित हो पाया है ? वर्तमान जीवन में आतुर मन के सदेश का वहन करने के लिए टेलीफोन, तार या एक्सप्रेस लेटर से अधिक प्रभावी उपकरण और क्या हो सकता है ? शहरी दुनिया मे इन उपकरणो से न जाने कितने प्राण नित्य जुडाते हैं, पर आज भी इनके साथ हमारी रागात्मक कल्पना का संवध नही जुड पाया। अतः केवल यथार्थ अभिव्यक्ति के नाम पर, इनके आधार पर काव्य-विंवो की निर्मिति कृतकार्य नही हो सकती। वास्तव मे कविता का संवंध मूल मानववृत्तियो के साथ अत्यत घनिष्ठ है—अतः उसकी गतिविधि मे परिवर्तन वहुत धीरे-धीरे होता है। नवीन आविष्कार विज्ञान का विषय है: विज्ञान की अपेक्षा जीवन की गति मंथर है क्योकि विज्ञान के परिणामो को जीवन का अग वनने मे समय लगता है; जीवन की अपेक्षा संस्कृति की गति मंथर है क्योकि जीवन के अनुभवो को संस्कार वनने मे समय लगता है और उधर सस्कृति से भी अधिक मथर है काव्य की गति जिसका संवंध है मूल मानववृत्तियो के साथ, जो परिवर्तन को आसानी से स्वीकार नही करती। अतः काव्य के क्षेत्र मे नूतनता का स्वतंत्र या आत्यंतिक महत्त्व नही है। नवीनता की स्पृहा जीवन के अन्य क्षेत्रो की भाति काव्य मे भी स्वाभाविक है, परंतु उसकी सार्थकता नवीन उपकरणो की सृष्टि अथवा अप्रचलित उपकरणो के समाहार मे इतनी नही है जितनी कि प्रचलित रागसपृक्त उपकरणो को नवीन भंगिमा से दीपित करने मे। इसीलिए भारतीय आचार्य ने सौंदर्य की परिकल्पना मे 'प्रतिक्षण नवीनता' और प्रतिभा की परिभाषा मे 'अपूर्व-निर्माण-क्षमता' पर वल देते हुए भी सर्वथा स्पष्ट कर दिया है कि नवोन्मेष अथवा अपूर्व-निर्माण का अर्थ अभूत वस्तु का संपादन न होकर विद्यमान वस्तु के मर्म का उद्घाटन ही है: तदिदमत्र तात्पर्यम्—यन्न वर्ण्यमानस्वरूपा पदार्था. कविभिरभूता. सन्तः क्रियन्ते। केवलं सत्तामात्रेण परिस्फुटता चैषा तथाविध कोप्यतिशयः पुनराधीयते, येन कामपि सहृदय-हृदयहारिणी रमणीयतामधिरोप्यन्ते। तदिदमुक्तम्—

> लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते
> निर्मातु प्रभवेन्मनोरममिदं वाचैव यो वा वहिः।
> वन्दे द्वावपि तावहं कविवरौ···॥ (कुतक—हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, पृ० ३०६)

इसका यह अभिप्राय हुआ कि कवि वर्ण्यमान, अविद्यमान पदार्थो को उत्पन्न नही करते हैं। अर्थात् कवि जिनका वर्णन करता है, वे वर्ण्यमान पदार्थ उसके पूर्व

संसार मे न हो और कवि उनको उत्पन्न कर देता हो, यह बात नही । किंतु लोक में केवल सत्ता मात्र से प्रतीत होने वाले इन पदार्थों मे कवि कुछ इस प्रकार की विशेषता उत्पन्न कर देता है जिससे वे साधारण लौकिक पदार्थ भी सहृदयो के हृदय को हरण करने वाली किसी अपूर्व रमणीयता को प्राप्त हो जाते हैं । यही बात निम्नोक्त श्लोक मे कही है : जो वस्तुओ के भीतर निहित सूक्ष्म और सुंदर तत्त्व को अपनी वाणी से बाहर खीच लाता है और जो वाणी मात्र से इस जगत् की बाहर अभिव्यक्ति करता है, उन दोनो कविवरो को मैं नमस्कार करता हू···।

बिंब-विधान के संदर्भ मे भी यही सत्य है ।

काव्य-बिंब और काव्य-मूल्य

क्या काव्य-बिंब को हम मूल्य के रूप मे स्वीकार कर सकते हैं ? प्रस्तुत प्रश्न का समाधान करने के लिए यह निर्णय करना होगा कि क्या बिंब-प्रयोग के आधार पर हम किसी कवि की उपलब्धि या काव्य-कृति विशेष का मूल्यांकन अथवा विभिन्न कृतियो के काव्य-मूल्य के तारतम्य का निर्णय कर सकते हैं।

काव्य-बिंबो का प्रयोग निरपेक्ष तथ्य नही है। उसका आकलन बिंबो के गुण और परिमाण पर निर्भर करता है। बिंब का प्रमुख गुण है सजीवता अर्थात् बिंब की रूपरेखा इतनी सुस्पष्ट होनी चाहिए कि प्रमाता तुरत ही उसका ऐंद्रिय साक्षात्कार कर सके। बिंब का एक अन्य गुण है समृद्धि . यो तो इस शब्द का अर्थ सर्वथा परिभाषित नही है, पर सामान्यत. यह मधुर और उदात्त अथवा कोमल और विराट तत्वो के प्राचुर्य का द्योतक है। इन दोनो गुणो का अनुशासक गुण है औचित्य —अर्थात् प्रसंग के प्रति अनुकूलता या सार्थकता। उधर परिमाण की परिधि में प्राचुर्य और वैविध्य आदि गुणो का अतर्भाव है। अत· प्रस्तुत प्रश्न का निर्णय करने के लिए कतिपय संबद्ध प्रश्नो का उत्तर आवश्यक हो जाता है। क्या काव्य की दृष्टि से एक कृति दूसरी की अपेक्षा इसलिए अधिक मूल्यवान् है कि उसमे प्रयुक्त बिंब अधिक सजीव अथवा ऐंद्रिय हैं—या वे अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध हैं; या फिर उनमे औचित्य गुण का अधिक सन्निवेश है ?—अथवा वे सख्या में अधिक हैं या उनमे वैविध्य एवं वैचित्र्य अधिक है ?

मैं समझता हू कि उपर्युक्त प्रश्नो का नकारात्मक उत्तर देना कठिन होगा—अर्थात् यह न मानना कठिन होगा कि बिंब-योजना के गुण और परिमाण के आधार पर विभिन्न कृतियो के सापेक्षिक मूल्य का निर्णय किया जा सकता है। जिस कृति मे प्रयुक्त बिंब अधिक सजीव और ऐंद्रिय हैं वह, अन्य गुणावगुण बराबर रहने पर, दूसरी की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् है। यही बात अन्य गुणो के विषय मे कही जा सकती है : जिसके बिंब अधिक समृद्ध हैं—या अधिक प्रसंगानुकूल=सार्थक हैं, या जिसमे बिंबो का वैचित्र्य-वैविध्य अधिक है, उसका काव्यमूल्य, अन्य गुणावगुण बराबर रहने पर, अपेक्षाकृत अधिक है। परतु यह उत्तर आत्यतिक नही है क्योकि बिंब-योजना के गुण और परिमाण निरपेक्ष तत्त्व नही हैं। एक बिंब दूसरे की अपेक्षा अधिक सजीव है, इसका अर्थ यह है कि उसकी प्रेरक कविगत अनुभूति अधिक तीव्र और अनाविल है या थी—इतना ही नही वरन् यह भी कि उसके द्वारा उद्बुद्ध सहृदयगत अनुभूति अधिक

तीव्र और अनाविल होती है। कीट्स की बिंब-योजना शैले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और सजीव है क्योंकि उसकी प्रेरक अनुभूति भी उतनी ही अधिक प्रखर और तीव्र थी। इसी प्रकार बिंब की समृद्धि और सार्थकता भी मूलत और अंततः प्रेरक एवं प्रेरित अनुभूति की समृद्धि और सार्थकता के ही परिणामी गुण हैं। यही बात बिंबो के प्राचुर्य और वैविध्य-वैचित्र्य के विषय मे भी सत्य है। बिंबों का प्राचुर्य और वैविध्य एक ओर उनकी प्रेरक कविगत अनुभूति के विस्तार व वैचित्र्य का और दूसरी ओर उनसे संप्रेरित प्रमातृगत अनुभूतियो के विस्तार-वैविध्य का मापक है। तुलसी के बिंब-विधान मे सूर के बिंब-विधान की अपेक्षा वैचित्र्य और प्राचुर्य का कारण यह है कि तुलसी का अनुभूति-क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक व्यापक था।

परतु सवाल का दूसरा पहलू भी है : बिंब-रचना ही वास्तविक कवि-कर्म है, वही कला है। कवि-कर्म की सफलता स्पष्ट और प्रखर बिंब के निर्माण मे ही निहित है; बिंब का रागात्मक पक्ष काव्य-कला के लिए अप्रासंगिक है। इतना ही नही, राग की संकुलता बिंब की रूपरेखा को धूमिल बना देती है और उसकी आर्द्रता से बिंब की स्वच्छता बाधित हो जाती है। अत· राग से निर्लिप्त स्वच्छ-स्फुट बिंब अपना साध्य आप ही है, कला के वृत्त मे उसका अपना स्वतंत्र और केंद्रीय अस्तित्व है। विचार के संप्रेषण का माध्यम या अनुभूति की व्यंजना का साधन मानकर उसकी गौणता का प्रतिपादन करना कला के प्रति गलत दृष्टिकोण का परिचायक है। अनुभूति और विचार से असंबद्ध हो जाने पर बिंब के सौंदर्य आदि गुणो की कल्पना भी अप्रासंगिक हो जाती है क्योंकि वस्तुत इन गुणो का आधार भी तो अनुभूति ही है : माधुर्य का संबध चित्त के द्रवीभाव से और औदात्य का मन की ऊर्जा के साथ है। किसी बिंब का मूल्य इसलिए नही है कि वह चित्त को द्रवीभूत या ऊर्जस्वित करता है अथवा उसके द्वारा प्रमाता मे किसी भाव-विशेष का उद्रेक होता है। इस प्रकार का भावपरक या आत्मपरक दृष्टिकोण बिंब के वास्तविक मूल्य का आकलन नही कर सकता; बिंब का मूल्य तो उसकी अपनी सजीवता एवं प्रखरता के कारण ही होता है। यह तर्क और भी आगे बढता है। बिंब के औचित्य का विचार भी अनावश्यक है : बिंब की सार्थकता प्रसंग के अनुकूल होने मे ही नही है, प्रसंग से कटकर भी उसकी सार्थकता हो सकती है—रत्न की मूल्यवत्ता सिद्ध करने के लिए मुद्रिका का परिवेश आवश्यक नही है।

काव्य-बिंब के मूल्य के विषय मे ये दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण हैं। इनके सत्यासत्य का निर्णय करने मे दो विकल्प हमारे सामने आते हैं :

क्या कोई पद्यबंध जिसमे बिंब का स्वरूप धूमिल या गौण है, केवल रमणीय अनुभूति के बल पर सत्काव्य की कोटि मे आ सकता है ?

क्या कोई पद्यबंध, केवल अपने बिंब-विधान के बल पर, अनुभूति से असंपृक्त रहकर भी, सत्काव्य माना जा सकता है ?

केवल सैद्धातिक विवेचन न कर कुछ उदाहरणो के आधार पर इन प्रश्नो का समाधान करना अधिक उपयोगी होगा। (१) पहले कुछ ऐसे काव्यबंध लीजिए जिनका

काव्यगुण, बिंब का विशेष आकर्षण न होने पर भी, अनुभूति के बल पर ही सिद्ध है :

तत्त्व प्रेम कर मो अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा।
सो मन रहत सदा तोहि पाहीं। जान प्रीतिरस इतनेहि माहीं।
(रामचरितमानस)

'रामचरितमानस' मे राम की यह उक्ति अपनी प्रेरक अनुभूति की निश्छलता के कारण ही रमणीय है—इसमे बिंब का कोई विशेष आकर्षण नही है। इसके विपरीत सीता के प्रसंग मे यही कवि सावधान हो गया है

अवगुन एक मोर मैं जाना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना।
नाथ सो नैनन कर अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा।
बिरह अनल तनु तूल समीरा। स्वास जरै छन माहिं सरीरा।
स्रवहिं नयन जल निज हित लागी। जरहिं न पाइ देह बिरहागी।
(रामचरितमानस)

दूसरे काव्यबंध का बिंब निश्चय ही अधिक भास्वर है, परंतु कवित्व-गुण पहले मे ही अधिक है।

(२) अब कुछ ऐसे पद्यबंध लीजिए जिनमे बिंब तो एकदम स्पष्ट है, परंतु रागतत्त्व क्षीण है।

(क) चींटी को देखा ?
वह सरल, विरल, काली रेखा
तम के तागे-सी जो हिल-डुल
चलती लघुपद पल-पल मिल-जुल
वह है पिपीलिका-पाँति ! (पंत . युगवाणी—चींटी)

(ख) चाँद पूरा साफ
आर्ट-पेपर ज्यों कटा हो गोल
चिकनी चमक का दलदार
यह नही चेहरा तुम्हारा
गोल पूनम-सा ! (गिरिजाकुमार माथुर . चंदरिमा)

या

(ग) आज दिखता है दही-सा चाँद शीतल
कौन जाने स्याह शीशा चाँद हो कल ? (गि०कु० माथुर : हेमंती पूनो)

इनमे (क) और (ख) के बिंबो मे रूप-तत्त्व और (ग) के बिंब में रूप के साथ-साथ स्पर्श गुण भी अत्यंत प्रचुर मात्रा मे विद्यमान है। परंतु क्या अनुभूति की माधुरी के अभाव मे इनमे वांछित कवित्व-गुण का समावेश हो सका है ?

(३) तीसरे प्रकार के बिंब जिनमे अनुभूति और बिंब का अभिन्न संबंध है :

(क) ज्योत्स्ना-निर्झर ! ठहरती ही नही यह आँख ! (कामायनी)

(ख) जैसे रात दर्पणो की गली हो
और तुम एक चाँद बनकर निकली हो। (कुंवरनारायण)

(ग) भरी गोल गोरी कलाइयों मे पहनी थी
नयन-डोर-सी वे महीन रेशमी चूड़ियाँ;
गौर वर्ण की पृष्ठभूमि पर
चमक रही जो
रागरँगीली किरणो-जैसी
इस फूली चंपई साँझ मे ।
चंदन-बाँह उठाते ही मे
खिसल चली वे तरल गूँज से
श्वेत कमल की धुली पंखुरी पर
ज्यो ओस-बिंदु की माला । (गिरिजाकुमार माथुर)

(घ) मन का मृग भाग रहा
सुधि की अहेरिन यह
फूलो के बाण लिये फिरती है । (श्यामसुदर घोष)

उद्धरण संख्या (क) और (ख) मे रूपानुभूति की झलमलाहट से बिंब अनायास ही झलमला उठे है और गिरिजाकुमार माथुर के काव्यबंध मे शृंगार की सूक्ष्म-रोमानी अनुभूति सहज रूप से सूक्ष्म-कोमल रंगीन बिंबो में खिल उठी है। अंतिम चित्र की बिंब-योजना मे भावना और कल्पना का अपूर्व मणि-कांचन योग है; यहा कवि ने मीठी यादो मे भटकते हुए मन का बडा ही रमणीय चित्र अंकित किया है ।

काव्य के इन तीन रूप-भेदो का विश्लेषण करने से सत्य के संधान में सहायता मिलेगी । वर्ग (१) के दोनो उद्धरणो के तुलनात्मक विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि अनुभूति के प्रभाव से, बिंब की गौणता होने पर भी, कवित्व का उत्कर्ष बाधित नही होता—वरन् बिंब की प्रमुखता ही कभी-कभी अनुभूति को आच्छादित कर कवित्व के उत्कर्ष मे बाधक हो जाती है। वर्ग (२) के पद्यबधो का विश्लेषण इस तथ्य को और भी पुष्ट कर देता है कि अनुभूति से असंपृक्त कल्पना-चित्रों मे काव्य-तत्त्व क्षीण होता है । बिंब-विज्ञान की दृष्टि से, अत्यंत सफल होने पर भी, अनुभूति के अभाव मे अथवा उसके क्षीण पड़ जाने पर, बिंब स्वय निष्प्राण बन जाता है—कम-से-कम, काव्य-बिंब के चेतन सौंदर्य का उसमे अभाव हो जाता है । वास्तव मे, वह काव्य-बिंब न रहकर केवल बिंब रह जाता है—क्योंकि, जैसा कि लीविस आदि ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है, काव्य-बिंब तो अनिवार्यत. भाव-प्रेरित ही होता है ।

वर्ग (३) के काव्यबंधो का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमे अनुभूति और बिंब-योजना का समान उत्कर्ष है और इन दोनो के सयोग से ही काव्य का उत्कर्ष है । इस संदर्भ मे तीन विकल्प सामने आते हैं : (१) यहा अनुभूति के उत्कर्ष के कारण बिंब का सौंदर्य निखर आया है, या (२) बिंब के सौंदर्य के कारण अनुभूति मे सौंदर्य का समावेश हो गया है—या फिर (३) दोनो का सौंदर्य अन्योन्याश्रित और अविभाज्य है। सिद्धांत रूप मे—इनमे तीसरा विकल्प ही सत्य है अर्थात् अनुभूति और बिंब को एक-दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता । फिर भी, व्यवहार-

मे इनको पृथक् मानकर चलना अनिवार्य हो जाता है। स्वयं शंकर के अद्वैत दर्शन अथवा बौद्धो के शून्यवाद मे भी व्यवहार मे अहम् और इदम् का भेद करना ही पड जाता है। इस प्रकार पहले और दूसरे विकल्पो मे ही सत्यासत्य का निर्णय करना होगा। सामान्य व्यवहार मे हम अनुभूति के कतिपय पृथक् गुणो की चर्चा करते है: जैसे—सूक्ष्मता, तीव्रता, प्राबल्य, विस्तार या व्यापकता आदि। इनमे कल्पना का योग हो जाने से अनुभूति मे समृद्धि का समावेश हो जाता है और उधर नैतिक आदर्शों से सयुक्त होकर अनुभूति शुद्ध एवं सात्त्विक बन जाती है। सर्जना के क्षणो मे अनुभूति के ये नाना रूप कवि की कल्पना पर आरूढ होकर जब शब्द-अर्थ के माध्यम से व्यक्त होने का उपक्रम करते है तो इस सक्रियता के फलस्वरूप अनेक मानस-छविया आकार धारण करने लगती हैं—आलोचना की शब्दावली मे इन्हे ही काव्य-बिंब कहते हैं। इस प्रकार बिंब अमूर्त अनुभूति को शब्द-मूर्त करने के अत्यत प्रभावी माध्यम-उपकरण या दूसरे शब्दो मे मूर्तन-प्रक्रिया के अत्यत महत्त्वपूर्ण अग है, इसमे सदेह नही। परंतु इनका स्वतंत्र महत्त्व नही है: इनमे जो प्रभावी शक्ति है वह अनुभूति की ही है, काव्य-बिंब मे जो काव्य-तत्त्व है उसका आधार अनुभूति=भावानुभूति ही हैं। भाव से असपृक्त या अत्यत परोक्ष रूप मे सपृक्त इद्रिय-बोध या कल्पना (क्योकि भाव से सर्वथा असपृक्त इद्रिय-बोध या कल्पना हो ही नही सकती) बिंब की सृष्टि कर सकती है, काव्य-बिंब की नही। अतः अनुभूति के उत्कर्ष से बिंब का उत्कर्ष होता है, यही सत्य है। वर्ग (२) के उद्धरणो मे 'आज दिखता है दही-सा चाँद शीतल' आदि मे बिंब पूरा है, परतु वह रूपानुभूति का उत्कर्ष तो नही करता। उसका सबंध इद्रियबोध और उस पर आश्रित नीरस कल्पना के साथ ही बैठता है, रूप की अनुभूति के साथ नही जुड पाता, इसलिए उसमे काव्य-तत्त्व क्षीण ही बना रहता है। ऐसी स्थिति मे अनुभूति से स्वतंत्र अथवा अनुभूति के शोभादायक तत्त्व के रूप मे बिंब की प्रकल्पना असिद्ध है।

वास्तव मे इस विवाद का सबध मूलतः आत्मपरक जीवन-दर्शन और वस्तुपरक जीवन-दर्शन के विवाद से है। आत्मपरक जीवन-दर्शन आत्म-तत्त्व पर बल देता है और पदार्थ की स्थिति आत्म-तत्त्व के संदर्भ मे—उसी के निमित्त—स्वीकार करता है, जबकि वस्तुपरक दर्शन पदार्थ की मूल सत्ता को स्वीकार करता है। यहा विस्तार से इस शास्त्रार्थ की आवृत्ति करना अनावश्यक है। परतु जीवन के सदर्भ मे इन दोनो मे से पहला ही अधिक ग्राह्य है जो मानव-चेतना की सापेक्षता मे पदार्थ की सत्ता को स्वीकार करता है—जो यह मानकर चलता है कि मानव-चैतन्य के सपर्क से और उसी के विकास-विवर्धन के माध्यम-रूप मे भौतिक प्रकृति का मूल्य है। मूल सत्य जो भी हो, उसका निर्णय तो तत्त्वद्रष्टा करें, किंतु व्यवहार-सत्य यही है—और इस दृष्टि से हम यह निरापद भाव से स्वीकार कर सकते हैं कि—बिंब काव्य का अत्यत प्रभावी माध्यम है और इसलिए काव्य के सदर्भ मे उसका मूल्य असदिग्ध है; परतु वह स्वतत्र नही है—माध्यम ही है, प्राणतत्त्व नही है: काव्य का सहकारी मूल्य अवश्य है, प्राथमिक मूल्य नही है।

नव-निर्माण
'साहित्य की व्यापकता के उपादान'

इस भाषण-माला का नाम है 'नव-निर्माण' और प्रस्तुत भाषण का शीर्षक है 'साहित्य की व्यापकता के उपादान'। इनसे एक बात स्पष्ट होती है—हिंदी आज भारत की राष्ट्रभाषा है; उसे अपने पद के अनुरूप संपन्न बनाने के लिए उसका नव-निर्माण आवश्यक है। उसका शब्द-भंडार समृद्ध, उसका व्याकरण सरल तथा उसका साहित्य व्यापक होना चाहिए।

दूसरी बात इसके साथ यह उठती है कि साहित्य को व्यापक बनाने के साधन क्या हैं? अर्थात्, साहित्य की व्यापकता के उपादान क्या हैं?

मेरे जैसे व्यक्ति के मन मे, जो साहित्य को मूलत एक व्यक्तिपरक प्रतिक्रिया मानता है, साहित्य के निर्माण या नव-निर्माण की बात सहज ही नही बैठती। साहित्य को यदि हम वाङ्मय के अर्थ मे प्रयुक्त करें तब तो ठीक है। वाङ्मय के अंतर्गत तो सृजन और व्यवहार अथवा रस और ज्ञान दोनो का साहित्य आ जाता है। व्यवहार या ज्ञान का साहित्य प्राय. जीवन की व्यावहारिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता है; और जिस तरह हम जीवन मे अन्य व्यवहारगत स्थूल साधनो का निर्माण, संघटन अथवा आयो-जन-नियोजन करते रहते हैं, इसी तरह उनसे संबद्ध साहित्य का भी निर्माण किया जा सकता है और किया जाना भी चाहिए। और स्पष्ट शब्दों में, जहा तक हिंदी के विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि से संबद्ध पारिभाषिक साहित्य के नव-निर्माण का प्रश्न है, वह संभव ही नही, नितात वाछनीय है। इस क्षेत्र मे हिंदी का कोष निर्धन है और उसकी पूर्ति राष्ट्र का हिंदी के प्रति और हिंदी का राष्ट्र के प्रति दायित्व है।

परंतु प्रश्न रस के साहित्य का है जिसे डी क्विन्सी ने 'शक्ति का साहित्य' कहा है, प्राचीन भारतीय अलंकारशास्त्र मे जिसे 'काव्य' और आधुनिक पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र मे 'सृजन का साहित्य' नाम दिया गया है। इसके निर्माण या नव-निर्माण की सभावना कहां तक है? हमारा साहित्य असंपन्न नही है; परंतु उसकी और अधिक श्रीवृद्धि किसको अप्रिय होगी! पर प्रश्न यह है कि क्या हमारे सचेष्ट एवं संगठित प्रयत्नो द्वारा यह संभव होगा? क्या सृजन के साहित्य का सचेष्ट प्रयत्नों द्वारा निर्माण किया जा सकता है, और यदि किया जा सकता है तो क्या यह सृजन का साहित्य होगा? वास्तव मे सृजन के साहित्य का निर्माण, यह विचार ही एक

प्रकार का विरोधाभास है। सृजन किया नही जाता, होता है; चेष्टापूर्वक, योजना के अनुसार, निर्माण किया जाता है; सृजन तो अनिवार्य प्रेरणा के दबाव से होता है। उदाहरण के लिए, नागरी-प्रचारिणी सभा एक सामूहिक प्रस्ताव द्वारा 'शब्द-सागर' का निर्माण करा सकती थी, वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली तैयार करा सकती थी, राजनीति और अर्थशास्त्र पर ग्रथ प्रस्तुत करा सकती थी, अनेक प्राचीन ग्रथो का संपादन करा सकती थी, परंतु 'पल्लव' या 'सेवासदन' की सृष्टि नही करा सकती थी। आज भी कोई सरकारी या गैर-सरकारी संस्था वैधानिक शब्दावली का निर्माण करा सकती है, सविधान के एक-दो या तीन अनुवाद प्रस्तुत कर सकती है; परतु सविधान के मूल उद्देश्यो को सामने रखकर एक महाकाव्य की तो क्या, एक छोटे-से गीत की भी रचना नही करा सकती। इसका कारण स्पष्ट है; रस का साहित्य एक संगठित अथवा आयोजित प्रयत्न नही है, वह व्यक्ति का आत्म साक्षात्कार है, आत्माभिव्यजन है। और व्यापक धरातल पर राष्ट्र का 'आत्म-साक्षात्कार' तथा आत्माभिव्यजन भी हो सकता है, और होता है, परंतु उस रूप मे भी वह सामूहिक अथवा आयोजित प्रक्रिया नही होता, उस रूप मे भी राष्ट्र व्यक्ति के ही चिंतन द्वारा आत्म-साक्षात्कार करता है और व्यक्ति की ही वाणी मे आत्माभिव्यंजन करता है। उदाहरण के लिए, गांधी के चिंतन मे भारत ने आत्म-साक्षात्कार किया और रवीन्द्र की वाणी मे आत्माभिव्यंजन। भारतीय रसाचार्य ने इसी परम सत्य को अनुभव और विचार की कसौटी पर पूरी तरह कस कर देख लिया था। तभी उसने काव्य के हेतुओ मे सामूहिक या आयोजित प्रयत्न की कल्पना तक नही की। प्रतिभा, निपुणता और अभ्यास—ये तीनो ही वैयक्तिक गुण हैं। इन तीनो मे भी प्रतिभा को सर्वप्रमुख माना गया है—और प्रतिभा एकात वैयक्तिक संपत्ति है।

मैं यहां परंपरा के आचल मे शरण लेने का प्रयत्न नही कर रहा; बुद्धि को ही प्रमाण मान रहा हू। प्रतिभा को मैं अनिर्वचनीय जन्मातर-प्राप्त शक्ति के रूप मे ग्रहण नही कर रहा; यद्यपि वैसा भी कोई माने तो मै उससे विवाद नही करूगा। प्रतिभा को मैं यहा चेतना के रूप मे मानता हू। व्यक्ति की केंद्रीय शक्ति, जो अनुभूति, चिंतन, विचार, संकल्प, कल्पना आदि क्रियाए करती है, चेतना है। चेतना की प्रखरता, गहनता, सूक्ष्मता आदि को ही प्रतिभा का नाम दिया जाता है। जिसकी चेतना मे ये गुण हो वही प्रतिभावान् है; वह चाहे पूर्वजन्म के सस्कारों का परिणाम हो या इस जन्म की परिस्थितियो का। प्रतिभा का निर्माण नही किया जा सकता, वह इतनी जीवत है कि निर्माता का स्पर्श भी सहन नही कर सकती। हमारा सगठित प्रयत्न केवल एक ही सहायता कर सकता है और वह यह कि साहित्य-सृजन के लिए अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न कर दे। उदाहरण के लिए, राज्य यह कर सकता है कि वह साहित्यकार को साधारण निर्वाह की चिंताओ से मुक्त कर दे, सस्थाए आदि खोल कर उसके साहित्य के प्रकाशन-वितरण आदि की उचित व्यवस्था कर दे। कुछ सीमित परिधि मे यही कार्य परिषदो, सम्मेलनो और सभाओ द्वारा किया जा सकता है।

अव दूसरा प्रश्न यह है कि साहित्य की व्यापकता के उपादान क्या हैं ? यहा

भी मेरा दृष्टिकोण वही है। यदि आप मुझसे यह पूछें कि किन संगठित उपायो से हमारे साहित्य मे व्यापकता का समावेश किया जा सकता है, तब तो मेरा उत्तर फिर यही होगा कि इस प्रकार के संगठित उपाय और साधन रस के साहित्य के लिए उपादेय नही हो सकते, व्यवहार के साहित्य के लिए उनकी उपादेयता अवश्य है। हा, इस प्रश्न को दूसरी तरह हल किया जा सकता है। ऐसे उपादान कौन-से हैं जिनके द्वारा साहित्य मे व्यापकता आती है ? अर्थात् व्यापक साहित्य के उपादान-तत्त्व क्या हैं ? हमारे साहित्य मे ये किस मात्रा मे वर्तमान हैं ? उनका विकास कहा तक और किस प्रकार संभव है ? इसका उत्तर देने का प्रयत्न किया जा सकता है। साहित्य की व्यापकता का अर्थ उसके क्षेत्र की व्यापकता और उसके प्रभाव की व्यापकता। और इन दोनो के लिए सब से पहली आवश्यकता है साहित्यकार की चेतना की व्यापकता। चेतना की व्यापकता वास्तव मे साहित्य की व्यापकता का मूल उपादान-तत्त्व है। चेतना की व्यापकता का सर्वप्रमुख उपादान है अनुभूति की व्यापकता। जिस साहित्यकार का भाव-जगत् जितना विस्तृत, अनेक-रूप तथा समृद्ध होगा, उतना ही व्यापक उसके साहित्य का क्षेत्र होगा। जिस कवि या साहित्यकार को जीवन के विभिन्न पक्षो का अनुभव हो, जिसने जीवन को गहरे मे जाकर भोगा और सहा हो, उसी का भाव-जगत् विस्तृत और समृद्ध होता है। व्यापक अनुभूति का एक प्रमाण यह है कि उसमें परस्पर विरोधी पक्षो को भी ग्रहण करने की क्षमता होती है, उसके राग की परिधि मे अनुकूल-प्रतिकूल, स्व-पर, सत्-असत्, सुदर-कुरूप, मधुर-कटु और विराट्-कोमल सभी के लिए अवकाश रहता है। यही नही, उसकी अनुभूति की आंच मे परस्पर विरोधी तत्त्व घुल-मिल कर एक हो जाते हैं। वास्तव मे यह समन्वय चेतना की सबसे बडी सिद्धि है। व्यापक साहित्य का मूल उपादान यही है। इसी को दृष्टि मे रखते हुए संस्कृत के आचार्य ने महाकाव्य के लिए नाना रसो से विभूषित होना आवश्यक माना है। विदेश के मेधावी आलोचक रिचर्ड्स ने ट्रैजेडी—दु खात कथा—को इसीलिए काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप माना है। उन्होने काव्य का उद्देश्य माना है मनोवृत्तियो का समीकरण; और अंतर्वृत्तियो मे जितना ही अधिक विरोध होगा, उसका समीकरण उतना ही सफल और पूर्ण होगा। दु खात कथा में करुणा और भय का सामंजस्य है। करुणा आकर्षक वृत्ति है और भय विकर्षक; अतएव ये दोनो अत्यत विरोधी वृत्तिया हैं और इनका सामंजस्य स्वभावत. ही रचयिता की सबसे बडी सिद्धि है। इस प्रकार अनुभूति की व्यापकता साहित्य की व्यापकता का सबसे महत्त्वपूर्ण उपकरण सिद्ध होता है। प्रभाव की दृष्टि से तो इस उपकरण का महत्त्व और भी अधिक है—साहित्य मूलत. हृदय का व्यापार है और इसका माध्यम स्पष्टत· अनुभूति है। मानव-मानव के हृदय मे देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करता हुआ जो एक तार अनुस्यूत है, वह है राग। यह वह तार है जो हजारो वर्षों और मीलों के आर-पार आज भी वाल्मीकि या होमर और हमारे हृदय के बीच एक साथ झंकृत हो उठता है। रागात्मक जीवन के धरातल पर मानव-जीवन के सभी स्थूल भौतिक भेद मिट जाते हैं। यह शुद्ध मानवीय धरातल है, और शाश्वत साहित्य का सहज धरातल यही है।

इसकी स्वीकृति चिरंतन मानव-मूल्यो की स्वीकृति है। नैतिक मूल्यो की कठोरता साहित्य की कोमल आत्मा को सह्य नही; बौद्धिक मूल्यो की भेद-वृत्ति साहित्य की अखंड रसमयी आत्मा को प्रिय नही। मानव अपने अतरतम रूप मे जो है, वही साहित्य का विषय है। जहा वह न नीतिवादी है और न बुद्धिवादी, वहा वह रागात्मक है, और उसी से साहित्य का सीधा सबध है। भारतीय आचार्य ने साधारणीकरण के सिद्धात द्वारा इसी परम सत्य की घोषणा की है। साहित्य के अन्य उपादान कल्पना, विचार और अभिव्यक्ति भी हैं। परतु ये तीनो अनुभूति से स्वत -संबद्ध है। कल्पना और विचार-क्षेत्र की व्यापकता व्यापक अनुभूति का प्रायः सहज परिणाम ही होती है। जिसका अनुभव-क्षेत्र व्यापक है, उसकी कल्पना भी निश्चय ही व्यापक होगी और उसके विचारो मे भी व्यापकता होगी। इसी प्रकार अभिव्यक्ति भी पूर्णत. अनुभूति के आश्रित है। इन सब के इस अन्योन्याश्रय सबध के कारण ही क्रोचे ने काव्य का केवल एक उपादान माना है, और वह है सहजानुभूति, जिसमे उन्होने अनुभूति, कल्पना, विचार और अभिव्यक्ति सभी का समावेश कर दिया है।

इस प्रकार मेरे मतव्य का सार यह है कि साहित्य की व्यापकता का मूल और एकमात्र उपादान चेतना की व्यापकता है। हिंदी-साहित्य मे अब तक जो व्यापकता है उसका कारण उसके साहित्यकारो की चेतना का यही विस्तार है। प्रेमचद के साहित्य की व्यापकता के लिए उनकी चेतना की व्यापकता ही उत्तरदायी है, जो जाति और वर्ग-भावना से ऊपर थी, जिसमे समस्त उत्तर-भारत की जन-चेतना अतर्भूत हो गई थी। अब स्वतत्रता के बाद भारत के जीवन मे व्यापक परिवर्तन हुआ है। भारत की राष्ट्रभाषा होने के बाद हिंदी का प्रभाव-क्षेत्र व्यापक होता जा रहा है। वह अब उत्तर-पश्चिम भारत की भाषा न रहकर संपूर्ण भारत की भाषा स्वीकृत हो गई है, अब धीरे-धीरे उसका प्रयोग बढता जा रहा है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि हिंदी भाषा और साहित्य का स्वरूप व्यापक होगा। जब बगला, गुजराती, मराठी और दक्षिण की समृद्ध भाषाओ के साहित्यकार इस भाषा को बोलेंगे और लिखेंगे तो उनकी अभिव्यजनाए, उनके मुहावरे और कहावतें, उनकी रचना-भगिमाएं निश्चय ही इसमे आयेंगी और इसका रूप अधिक व्यापक और लचीला होता जायेगा। साहित्य की व्यापकता भी अनिवार्य है। हिंदी-साहित्यकार क्रमश' एक प्रदेश का नागरिक न रह कर भारत का नागरिक बन रहा है, उसका पाठक-समाज बृहत्तर होता जा रहा है जिसमे नाना प्रकार की अभिरुचि और सस्कारो के नर-नारियो का समावेश हो रहा है। इन सब कारणो से उसकी अपनी चेतना का विस्तार होना अनिवार्य है। जब वह प्रयाग या दिल्ली, उत्तरप्रदेश या बिहार के धरातल पर नही, भारतीय धरातल पर भावन करेगा, तब स्वभावत. वह भारतीय साहित्य की ही सृष्टि करेगा, जिसका रसात्मक प्रभाव कही अधिक व्यापक होगा। उसमे बंगला की भावोष्ण कला, मराठी की दृढता, गुजराती की व्यावहारिकता, दक्षिणी भाषाओ की संस्कारिता, और उर्दू की चटख और चमक हिंदी की समन्वय-शीलता मे पग कर एकरूप हो जायेंगी। इस दिशा मे भी हमारा सगठित प्रयत्न केवल

अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न कर सकता है। उदाहरण के लिए, भारत की समृद्ध भाषाओ के प्राचीन-नवीन ग्रथो के अनुवाद की व्यवस्था इस दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण कार्य होगा। उनके अध्ययन और मनन से हिंदी के साहित्यकार को अपनी निपुणता (Culture) का विकास करने मे सहायता मिलेगी। उसकी चेतना की समृद्धि मे भी इस अनूदित साहित्य का बडा योग होगा। दूसरा उपयोगी प्रयत्न हो सकता है अन साहित्यिक अध्ययन-केंद्रो की स्थापना। इनके द्वारा हिंदी का साहित्यकार भारतीय साहित्यकारो के साथ प्रत्यक्ष सपर्क मे आ सकेगा। प्रत्यक्ष संपर्क का अपना विशेष लाभ है, व्यक्तित्व का जीवित सस्पर्श चेतना को स्फूर्ति प्रदान करता है। तीसरा एक और भी आयोजन हो सकता है और वह कदाचित् अधिक उपयोगी हो सके। हिंदी के माध्यम से भारत के भिन्न-भिन्न साहित्यो की मूल प्रवृत्तियो का विश्लेषण कर समान तत्त्वो का सयोजन किया जाये। इससे एक तो भारतीय साहित्य की एक समन्वित रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकेगी, दूसरे हिंदी और हिंदी की भाति दूसरी भाषाओ के साहित्यकारो को व्यापक धरातल पर भावन करने मे भी सहायता मिलेगी। इसी प्रकार के और भी प्रयत्न सभव हैं। इनसे साहित्यकार की चेतना के उस अंग की श्रीवृद्धि मे सहायता मिलती है जिसे शास्त्र मे 'निपुणता' कहा गया है; क्योकि 'निपुणता' ही एक ऐसा गुण है जो बहुत-कुछ यत्न-साध्य है। परतु अत मे, मैं फिर निवेदन करता हू कि ये प्रयत्न केवल परिस्थिति-मात्र ही रह सकते हैं, प्रेरणा नही। प्रेरणा या दिशा-निर्देशन की दृष्टि से इनका योग इतना भी नही जितना कि यातायात की गतिविधि का नियत्रण करने मे चौराहे पर खड़े पुलिस के सिपाही का।

साहित्य और समीक्षा

साहित्य का जीवन से दुहरा संबंध है : एक क्रिया रूप मे, दूसरा प्रतिक्रिया रूप मे। क्रियारूप मे वह जीवन की अभिव्यक्ति है, सृष्टि है; प्रतिक्रिया रूप मे उसका निर्माता और पोषक है। जिस प्रकार एक सुपुत्र अपने पिता से जन्म और पोषण पाकर उसकी सेवा और रक्षा करता है, उसी प्रकार सत्साहित्य भी जीवन से प्राण और रक्त-मांस ग्रहण करके फिर उसको रस प्रदान करता है। जीवन की मूल भावना है *आत्म-रक्षण*, जिसे *मनोवैज्ञानिकों ने जीवनेच्छा कहा है*। *आत्मरक्षण के* उपायो मे सबसे प्रमुख उपाय आत्माभिव्यक्ति ही है। अत. क्रिया रूप मे साहित्य आत्म-रक्षण अथवा जीवन का एक सार्थक प्रयत्न है। यही अभिव्यक्ति जब ज्ञान-राशि का संचित कोष बन जाती है तब प्रतिक्रिया रूप मे मानव-जीवन का पोषण और निर्माण करती है।

उपयोगिता का प्रश्न

जैसा मैंने अभी कहा, मनुष्य की समस्त क्रियाएं आत्म-रक्षण के निमित्त होती हैं, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, सही या गलत, उनका यही उद्देश्य होता है—और वास्तव मे उनकी सार्थकता भी इसी मे है। अतएव हमारे प्रयत्नो का मूल्य आंकने की कसौटी यही है कि वे आत्म-रक्षण मे कहा तक सार्थक होते हैं। यहां आत्म का अर्थ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। आत्म-रक्षण का तात्पर्य उस स्वार्थवुद्धि से नही है जो अपने मे ही संकुचित रहती है। सचमुच आत्म-रक्षण की परिधि मे समाज, देश, विश्व सभी कुछ आ जाता है। अपनी रक्षा के लिए व्यक्ति को अपने वातावरण और परि-स्थिति से सामंजस्य स्थापित करना अनिवार्य है। व्यापक रूप मे जो-कुछ धर्म की परिधि में आता है, वही सब आत्म-रक्षण की परिधि मे भी आ जाता है, क्योंकि धर्म उन सभी प्रयत्नो की समष्टि है जो जीवन को धारण किये रहने के निमित्त होते हैं। अतएव हमे प्रत्येक क्रिया या वस्तु का मूल्य परखने के लिए एक बात देखनी चाहिए : वह कहा तक धर्मानुकूल, अर्थात् कहा तक जीवन के जीने मे उपयोगी है।

जहा तक इस कसौटी का प्रश्न है, हमारी धारणा है कि इस विषय मे आस्तिक-नास्तिक, विश्वासी-वैज्ञानिक, प्रगतिवादी और प्रतिक्रियावादी किसी का भी मतभेद न होगा। परंतु उपयोगिता की परीक्षा सब एक ढंग से न कर सकेंगे। उपयोगिता का एक तो स्थूल और प्रत्यक्ष रूप है जिसको पकड लेना सहज-सुलभ है। प्रत्येक युग का स्थूलद्रष्टा

सुधारक सदैव इसी को लेकर लंबे-चौड़े व्याख्यान देता रहा है—द्विवेदी-युग में साहित्य का यही रूप ग्रहण किया गया था। उस समय लोगों के पास कुछ मोटे-मोटे नैतिक सिद्धात थे, जिनके अनुसार साहित्य को परखकर वे उस पर सत् का लेबिल लगा देते थे। यह मूल्याकन किस प्रकार थोडा लाभ और अधिक हानि करता है, इसका ज्वलत प्रमाण है उस समय का साहित्य—जिसका महत्त्व आज प्रायः ऐतिहासिक ही रह गया है। इसके विपरीत उपयोगिता का एक सच्चा और सूक्ष्म रूप भी है, जिसको देखने के लिए मोटी नजर काम नही देती। बाहर से देखने पर जो बात अत्यंत जीवनप्रद मालूम पडती है, वह अपने आत्यंतिक रूप मे जीवन का गतिरोध करती है, ऐसा हम प्रायः देखते हैं। उदाहरण के लिए, अपने पिछले सुधार-युग—साहित्य मे जो द्विवेदी-युग है, समाज मे वही सुधार-युग—का जीवन लिया जा सकता है। नीति की चर्चा करते-करते किस प्रकार उस जीवन मे दंभ, पाखंड और असहानुभूति का प्रवेश हो गया, यह कोई रहस्य नही है। अतएव उपयोगिता को हमे गहराई मे जाकर देखना चाहिए और परखना चाहिए उसका स्थायी मूल्य, न कि तात्कालिक मात्र।

वस्तु का स्थायी महत्त्व बहुत-कुछ उसकी आनंददायिनी शक्ति पर निर्भर रहता है। जो आनददायक है वह उपयोगी है ही, इस बात को भूलकर आलोचक प्राय सुंदर-से-सुंदर साहित्य के प्रति अन्याय कर बैठता है। हिंदी के रीतिकालीन साहित्य की उपेक्षा इसका एक प्रमाण है। 'कला कला के लिए है' और 'कला जीवन के लिए है', इन दोनो सिद्धांतो मे जो द्वंद्व-युद्ध चलता है, वह बहुत-कुछ इसी भूल के कारण। 'कला कला के लिए है' सिद्धांत का प्रतिपादक भी वास्तव मे शुद्ध आनद को ही कला का उद्देश्य मानता है, उधर कला को जीवन की परिचारिका मानने वाला सप्रदाय भी उसके द्वारा पहले आनंद ही खोजता है। इसके प्रमाण मे स्वयं ऑस्कर वाइल्ड और रस्किन के अनेक उद्धरण पेश किये जा सकते हैं। आनद की उपेक्षा करके कला जीवित नही रह सकती। स्थूल-से-स्थूल रूप मे भी उसकी सार्थकता 'काता-सम्मिततयोपदेशयुजे' मे ही है। अतएव काव्य की कसौटी है उसकी शुद्ध आनददायिनी शक्ति, जिसे अपने शास्त्रकारो ने रस कहा है। रस का अर्थ व्यापक रूप मे आनंद से चलकर जीवन-पोषक तत्त्व तक है. चरक मे रस शब्द का यही तात्पर्य है। जीवन अथवा आनंद मनुष्य क्या, प्राणि-मात्र का चिरतन लक्ष्य है। समय के अनुसार उसका बाह्य सदैव बदलता रहा है—जीने की विधि बदलती है, परंतु जीना (आनंद-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना) तो निश्चय ही एक शाश्वत सत्य है—इसको घोर-से-घोर अशाश्वतवादी भी अस्वीकृत नही कर सकता।

यह मान लेने पर कि कलाकृतियो का सापेक्षिक महत्त्व उनकी आनददायिनी शक्ति पर आश्रित है, दो प्रश्न उठते हैं : आनंद का परिमाण कौन निश्चय करे ? और कैसे करे ? 'कौन' का उत्तर है : अधिकारी, भोक्ता या अनुभवकर्त्ता, जिसकी मैं निश्चित विशेषताएं मानता हूं संवेदनशीलता और संस्कृत-शिक्षित रुचि। काव्य का जीवन की अन्य अभिव्यक्तियो की भांति एक विशेष माध्यम है और एक विशेष शैली। अर्थात् वह जीवनाभिव्यक्ति की एक विशेष कला है, जिसका अपना

पृथक् रूप है, अपने पृथक् लक्षण-नियम हैं, और इनसे घनिष्ठ परिचय रखने वाला व्यक्ति ही उसके निर्णय करने का अधिकारी है। जीवन की विभिन्न विद्याओ और कलाओ की भाति ही वह अधिकारियो की, विशेषज्ञो की वस्तु है, जनसाधारण की नही। दूसरा प्रश्न है : कैसे करे ? तो विशेषज्ञ के लिए कलाकृतियो का सापेक्षिक महत्त्व आंकना, सूक्ष्म शब्दो मे आनंद का परिमाण आकना कठिन नही है। उसके लिए सबसे निर्भ्रान्त मार्ग है पहले यह देखना कि कृति का कर्त्ता कहा तक उसमे अपने व्यक्तित्व को अनूदित अर्थात् लय कर सका है और फिर यह भी देखना कि यह व्यक्तित्व अपेक्षाकृत कितना प्राणवान् है। अधिक प्राणवान् व्यक्तित्व का पूर्ण अनुवाद या लय कम प्राणवान् व्यक्तित्व के पूर्ण लय की अपेक्षा गुरुतर कार्य है, स्वभावत उसके द्वारा प्राप्त आनद अधिक सशक्त और परिपक्व होगा और कृति का महत्त्व भी गुरुतर होगा। कला का मूल्य कलाकार के आत्माभिव्यजन पर निर्भर है : उसका आत्म जितना प्राणवान् और जितना निष्कपट, तीव्र एवं संपूर्ण होगा, कला उतनी ही रसवती और जीवनप्रद होगी। हा, रस की अनुभूति और अभिव्यक्ति के विषय मे थोडा विवाद उठ सकता है। अनुभूति के लिए तो कोई निश्चित सिद्धात बना देना कठिन है, परंतु रसाभिव्यक्ति की शक्ति निश्चय ही कलाकार के आत्माभियंजन पर निर्भर है। यह आत्माभिव्यंजन जितना निष्कपट, तीव्र एवं संपूर्ण होगा कला उतनी ही रसवती होगी—वह एक प्राणवान् जीवन का जितना सफल अनुवाद होगी, उतनी ही जीवनप्रद भी होगी।

अत· साहित्य की आत्मा है रस, और इस रस की परीक्षा करना आलोचना का उद्देश्य है।

परीक्षण-विधि

अब हमे रस-परीक्षण की विधि का अध्ययन करते हुए उसके कुछ सिद्धातो को स्थिर करना है—ये ही वास्तव मे समीक्षा के मूल सिद्धांत होगे। रस की व्याख्या मैं ऊपर कर चुका हू इसका अर्थ है आनंद। कोई रचना रसवती तभी हो सकती है जब रचयिता उसमे अपने व्यक्तित्व को पूर्णत. अनूदित कर दे। अपने व्यक्तित्व का अनुवाद ही रचयिता के लिए सबसे बडा आनंद है, इसी के अनुसार उसकी रचना मे भी आनंद देने की शक्ति होगी—और आनद केवल मनोरंजन नही है, उसका अभिप्राय है अंतर्वृत्तियो का सामंजस्य।

धर्म की व्यवस्था करते हुए आचार्य ने उसके चार लक्षण बताये है आत्मनः प्रिय, सदाचार, स्मृति और वेद (के अनुकूल)। ये चार बातें हमे आलोचना के मूल सिद्धांत स्थिर करने मे सहायक होगी। सबसे पहली बात जो रस-परीक्षण के लिए आवश्यक है, वह है आत्मन प्रिय—कोई कृति आलोचक को स्वयं कैसी लगती है, उसका अध्ययन करने पर उसकी अपनी मानसिक प्रतिक्रिया क्या होती है, यह देखना। आलोचना कितनी ही वैज्ञानिक और राग-द्वेषहीन होने का दावा क्यो न करे, आलोचक की व्यक्तिगत धारणा और प्रतिक्रिया उसमे प्रमुख कार्य करेगी ही। तभी वह वास्तव मे साहित्य

का अंग बन सकती है। परंतु 'आत्मन प्रिय' का संकुचित अर्थ आलोचना के लिए उसी प्रकार घातक होगा, जिस प्रकार धर्म के लिए। आचार्य जहा धर्म का लक्षण 'अपनी आत्मा को प्रिय होना' करता है, वहां आत्मा से उसका तात्पर्य शुद्ध अविकृत अंतः-करण से है। इसी प्रकार आलोचक का आत्म भी शिक्षित और संस्कृत होगा, यह पहले से ही मान लिया गया है। साधारण पाठक की अपेक्षा उसकी रसानुभूति तीव्र और अभिरुचि परिष्कृत होगी, जो उसे बिना कठिनाई के सुदर और असुदर की पह-चान करा सकेगी। साथ ही वह केवल 'क्या सुदर है?' यही देखकर संतुष्ट न हो जाएगा, वरन् यह भी जानने का प्रयत्न करेगा कि ऐसा क्यो है। 'क्यो' का विवेचन उसे सीधा मनोविज्ञान और सौंदर्यशास्त्र की ओर ले जाएगा। वह कलाकार का मनो-विश्लेषण करता हुआ अपने मन की स्थिति का भी अध्ययन करेगा और दोनो के बीच तारतम्य ढूढकर किसी कलाकृति-विशेष के प्रिय अथवा अप्रिय लगने का कारण उप-स्थित करेगा। उधर सौंदर्यशास्त्र अथवा काव्यशास्त्र, जो मनोविज्ञान का ही एक अंग है, कृति के रूप का विवेचन करने में सहायता देगा, और वह अनुभूति के साथ अभि-व्यक्ति की प्रसादिनी अथवा अप्रसादिनी शक्ति का विश्लेषण भी कर सकेगा।

परंतु अभी उसका कार्य अपूर्ण ही है। 'आत्मन. प्रिय' के साथ धर्म की भांति साहित्य के लिए भी सदाचार, स्मृति और वेद के अनुकूल होना अनिवार्य है। आचार का अर्थ है : सता आचार—अर्थात् सज्जनो का आचार, और सज्जनों के आचार से तात्पर्य है सामाजिक हितों के अनुकूल व्यवहार। अतएव सत्साहित्य मे केवल व्यष्टि के ही प्रसन्न करने का गुण नही, समष्टि के भी प्रसादन का गुण होता है। आगे है स्मृति—अर्थात् विधान—राष्ट्र-नियम, और उसके आगे है वेद—शाश्वत ज्ञान—चिरंतन सत्य। इनमे दूसरा और तीसरा लक्षण बहुत सीमा तक काल-सापेक्ष है। समाज और राष्ट्र—आज हम इन दोनो का समाहार समाज शब्द मे ही कर सकते हैं—का विधान समय के अनुसार बदलता रहता है, अतएव हमे इनके अनुसार साहित्य का मूल्याकन करते समय सावधानी से काम करना चाहिए। हमें समाज के बाह्य आवरण को चीरकर उसके मूल मानवीय तत्त्वो को पकडना पड़ेगा। ऐसा करने का एक सीधा उपाय है। किसी प्राचीन कलाकृति को लेकर पहले तो आलोचक यह स्पष्ट करे कि जिस समय आलोच्य वस्तु की रचना हुई थी, उस समय समाज की क्या अवस्था थी—किन सामाजिक प्रेरणाओ ने उनके निर्माण मे योग दिया था, और फिर उन कारणो की छानबीन करे जिनके द्वारा एक देश-काल की कृति दूसरे—सर्वथा भिन्न देश-काल—के व्यक्तियो को प्रिय लगती है। कहने की आवश्यकता नही है कि यही वह मानवीय तत्त्वो को पकड़ लेगा और साहित्य को केवल सामयिकता की कसौटी पर कसने की भूल न करेगा।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया जा सकता है—साहित्य वैयक्तिक चेतना है या सामूहिक : सामाजिक? व्यक्ति और समाज, व्यष्टि और समष्टि दोनो मे अन्यो-न्याश्रय संबध है। व्यक्ति से ही समाज बनता है. दूसरी ओर व्यक्ति समाज की एक इकाई भी है। फिर भी समग्रत. विचार करते हुए यदि दोनो का सापेक्षिक महत्त्व

मार्के तो व्यक्ति की सत्ता समाज की सत्ता से अधिक बलवती ठहरती है। वैसे तो व्यक्ति समाज का एक अंग है और समाज पर निर्भर रहता है, पर समय आने पर वह उससे ऊपर उठ सकता है, उसको उपेक्षित ही नही ओवरहॉल भी कर सकता है। संसार का इतिहास लक्ष-लक्ष कर उठाकर इस सत्य का समर्थन कर रहा है। समाज का अधिकांश जनसाधारण—मैं वर्ग की ओर संकेत नही कर रहा—से ही बना हुआ है और महान् साहित्य की सृष्टि साधारण प्रतिभा की शक्ति से बाहर है—महान् साहित्य असाधारण प्रतिभा और उद्दीप्त क्षणो की अपेक्षा करता है—शेक्सपियर की 'फाइन फ्रैंजी' वाली उक्ति कोरी कविता नही है—वह एक स्वानुभूत सत्य है। व्यक्ति की चेतना पर समाज—देश का प्रभाव पडता है और खूब पडता है, परन्तु यह कहना कि रवीन्द्रनाथ के संपूर्ण साहित्य का श्रेय केवल उनके सामंतीय वातावरण और पूंजी-वाद को ही है अथवा कबीर की कविता के लिए केवल उनका हीन जाति मे जन्म लेना ही उत्तरदायी है, छिछली वर्ग-मनोवृत्ति का परिचय देना है।

आलोचना के प्रचलित संप्रदाय

आज आलोचना के कई सप्रदायो के नाम सुनाई देते हैं। इनमे तीन मुख्य हैं : १. प्रभाववादी, २. शास्त्रीय, और ३. वैज्ञानिक।

इनमे सबसे अधिक बदनाम है प्रभाववादी संप्रदाय। आज एक आलोचक दूसरे को हीन प्रमाणित करने के लिए उसे फौरन इम्प्रेशनिस्ट कह देता है। परंतु वास्तव मे आलोचना की पहली सीढी है—प्रभाव ग्रहण करना। उसकी बहुत-कुछ शक्ति इन प्राथमिक प्रभाव-प्रतिबिंबो पर निर्भर रहती है। फिर भी उसका कार्य यहीं समाप्त नही हो जाता। 'कैसा है ?' के साथ ही यदि वह 'क्यों है ?' की व्याख्या नहीं करती तो आलोचक की अपनी प्रतिक्रियाओ का महत्त्व रहने पर भी, उसकी आलो-चना हल्की और स्केची होगी, उसमे आश्वस्त करने की शक्ति नही होगी, जिसका परिणाम यह होगा कि पाठक अपनी अभिरुचि के अनुसार तुरत ही उनका ग्रहण या त्याग कर देगा। 'क्यो है ?' की व्याख्या, जैसा मैं पीछे कह आया हू, स्वभावत: मनो-विज्ञान, सौंदर्यशास्त्र आदि की अपेक्षा करेगी और आलोचक को शास्त्रीय शैली का भी आदर करना ही पडेगा ! वास्तव मे व्याख्या करने के लिए, आश्वस्त करने के लिए, आलोचना की शास्त्रीय पद्धति का आलंबन अनिवार्य है—आलोचना मे गांभीर्य और स्थायित्व इसी से आता है। इसके आगे वैज्ञानिक पद्धति आती है, जो वस्तु और परि-स्थिति के अंत:सबंध, वस्तु के तत्त्वो के वर्गीकरण और उसके स्थान-नियोजन पर विशेष बल देती है। पहली दो पद्धतियो मे—अर्थात् 'कैसा है ?' और 'क्या है ?' के विवेचन मे आलोच्य वस्तुओ का बहुत-कुछ मनोगत रूप व्यक्त किया जाता है, वैज्ञानिक पद्धति वस्तु के वस्तुगत रूप को स्पष्ट करने का दावा करती है। साहित्य या कला का एकांत वस्तुगत रूप क्या होता है और वैज्ञानिक पद्धति उसको कहा तक ग्रहण और स्पष्ट कर सकती है, यह मैं अभी नही समझ सका, परंतु इस पद्धति का अपना महत्त्व असदिग्ध है। इसकी सबसे बड़ी उपादेयता यह है कि आलोचक की अपनी धारणाओ

में राग-द्वेष की मात्रा अत्यत संयत हो जाती है, एवं उसकी अभिरुचि अधिक-से-अधिक बुद्धिसंगत हो जाती है। दूसरे, 'क्यो' की व्याख्या करने के लिए भी वस्तु और परिस्थिति के अंत संबंध का ज्ञान अनिवार्य है; तीसरे, उसका स्थायी महत्त्व आकने के लिए उसकी परंपरा स्थिर करते हुए इतिहास मे स्थान-नियोजन करना भी सर्वथा अभीष्ट है। इस प्रकार आलोचना की इन विभिन्न प्रणालियो मे अत.सापेक्ष्य है, विरोध नही। हां, अपने मे वे अवश्य अपूर्ण हैं। सुलझा हुआ आलोचक मतवादो के फेर मे न पडता हुआ, उनका सार्थक उपयोग करता है।

अंत में हम कह सकते हैं कि आलोचक के कर्तव्य-कर्म दो हैं : पहला है लेखक और पाठक के बीच द्विभाषण। इसकी परिधि मे व्याख्या, निर्णय और स्थान-नियोजन सभी-कुछ आ जाता है।

दूसरा है आलोच्य वस्तु के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करना, जिसके बल पर ही आलोचना साहित्य-पद को प्राप्त हो सकती है।

संक्षेप मे, मेरी साहित्य और समीक्षा-विषयक मान्यताएं निम्न है :

१. साहित्य आत्माभिव्यक्ति है। आत्माभिव्यक्ति ही आनंद है, रस है—पहले स्वयं लेखक के लिए, फिर प्रेषणीयता के नियमानुसार पाठक के लिए। और, रस जीवन का सबसे बडा पोषक तत्त्व है।

२. आत्माभिव्यक्ति आत्म-रक्षण का, जो जीवन की प्रेरक शक्ति है, प्रमुख साधन है।

३. जीवन की अन्य अभिव्यक्तियो की भाति साहित्य भी एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति है—उसका एक विशेष स्वरूप और विशेष शैली अथवा कला है—जिसको ग्रहण करने के लिए एक विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है। अतएव उसके अधिकारी पारखी उस कला के विशेषज्ञ ही हो सकते हैं, जनसाधारण नही, वे तो अधिक-से-अधिक उसका रस ले सकते हैं।

४. साहित्य का मूल्य साहित्यकार के आत्म की महत्ता और अभिव्यक्ति की संपूर्णता एव सचाई के अनुपात से ही आकना चाहिए। अन्य मान एकागी है, अत: प्राय. धोखा दे जाते हैं।

५. साहित्य वैयक्तिक चेतना है, सामूहिक नही। जब मैं ऐसा कहता हू तो व्यक्ति पर समूह के ऋण का तिरस्कार नही करता। परंतु मैं यह निश्चित रूप से मानता हूं कि समूह (समाज) अधिक-से-अधिक व्यक्ति का निर्माता हो सकता है, स्रष्टा नही। समाज का प्रभाव व्यक्ति पर उसकी अपनी शक्ति के विलोम अनुपात से पडता है। इसलिए इतिहास का केवल आर्थिक या भौतिक व्याख्यान करना मानव-शक्तियो का उपहास करना है। आज हमारे प्रगतिवादी आलोचक यही करके प्राचीन और नवीन साहित्य के साथ अन्याय कर रहे हैं।

६. समीक्षा मे भी मैं समीक्षक की आत्माभिव्यक्ति को—जिसमे उसकी भावुकता अर्थात् रसज्ञता, बुद्धि, मानसिक संतुलन आदि सभी कुछ आ जाता है—प्रमुख

मानता हूं। मानव-जगत् मे, विशेषकर साहित्य-जगत् मे, वस्तु का एकांत वस्तुगत रूप भी ग्रहण किया जा सकता है, यह मैं नही मानता।

७. स्वभावत. साहित्य के अन्य अंगो की भांति समालोचना मे भी साधारणीकरण को मैं अनिवार्य मानता हूं।

अर्थात् आलोचक एक विशेष रस-ग्राही पाठक है और आलोचना उस गृहीत रस को सर्वसुलभ करने का प्रयत्न। इस प्रयत्न में आलोच्य कृति के सहारे आलोचक जितनी सचाई और सफाई के साथ अपने को व्यक्त कर सकेगा, उतना ही उसकी आलोचना का मूल्य होगा।

नाटक का प्रेक्षक और समीक्षक[1]

नाटक के त्रिकोण के तीन बिंदु हैं : नाटककार, निर्माता (या सूत्रधार) और प्रेक्षक। अभिनेता का अतर्भाव निर्माता मे और समीक्षक का प्रेक्षक मे हो जाता है। इनमे नाटककार नाटक के सवेद्य तत्त्व की सृष्टि करता है, निर्माता उसका अभिव्यजन या संप्रेषण करता है और प्रेक्षक उसका ग्रहण अथवा भोग करता है। मेरे मन मे इस त्रिक की कल्पना एक ऐसे त्रिकोण के रूप मे आती है जिसका आधार ऊपर है और शीर्षबिंदु नीचे :
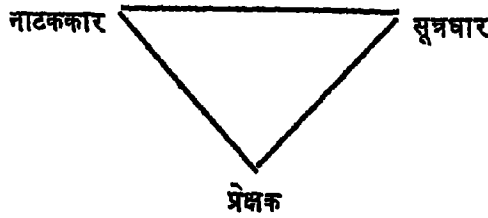
इस त्रिक मे स्वभावत नाटककार की स्थिति मूलवर्ती है और इसलिए प्राथमिक भी; सूत्रधार संप्रेषण का माध्यम है, जिसका महत्त्व अनिवार्य है, और प्रेक्षक इस सप्रेषण का लक्ष्य-बिंदु है। अभिनव ने इसी दृष्टि से कवि के रस को बीज और सामाजिक के रस को नाट्य का फल कहा है : "तदेवं मूलबीजस्थानीय· कविगतो रस.। · तत्र फलस्थानीय. सामाजिकरसास्वाद ।" भारतीय नाट्यशास्त्र मे इनके सापेक्षिक महत्त्व के विषय मे काफी चर्चा रही है। प्रारंभ मे सूत्रधार का महत्त्व अधिक था—वास्तव मे नाट्यकार वही था और नाट्यशास्त्र की रचना उसी को केन्द्र मानकर की गई है। भरत के विवेचन से स्पष्ट है कि नाटक अर्थात् शब्दार्थमयी नाट्यवस्तु संपूर्ण नाट्य-योजना का एक अग-मात्र है और उसी तर्क से नाटककार का स्थान सभर्ता[2] का है, निर्माता का नही। निर्माता या नाट्यकार का यह गौरव भरत-सूत्र के पहले दो व्याख्याताओ—लोल्लट और शकुक—तक अक्षुण्ण रहा। लोल्लट का आरोपवाद और शकुक का अनुकृतिवाद वस्तुत नाट्य-कला को ही रस का मूलाधार मान कर चलते हैं। इस प्रकार भारतीय नाट्यशास्त्र के विकास के आरभिक युग मे रस का अर्थ

१. 'अनामिका द्वारा आयोजित हिंदी नाट्य-महोत्सव की दर्शक-समीक्षक गोष्ठी के अध्यक्ष-पद से वाचित कलकत्ता, दिसबर, १९६४।

२. सप्लायर

नाट्यरस ही था और उसकी सिद्धि रगमंच पर ही मान्य थी। भरत के अनुसार रस का अर्थ था एक ऐसी भावप्रधान कलात्मक स्थिति जिसकी सृष्टि नाट्य-उपकरणो के माध्यम से रंगमच पर होती थी। लोल्लट ने रस-सूत्र की व्याख्या मे एक शब्द—'अनुसंधान' का प्रयोग किया है :

"···मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये, अनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलादिति।" (अभिनवभारती)

अर्थात् रस की मूल स्थिति अनुकार्य रामादि में रहती है, परन्तु नाट्य-कौशल के बल से प्रेक्षक को नर्तक मे भी उसकी प्रतीति हो जाती है। यह 'अनुसधान' शब्द भारतीय अभिनय-कला के इतिहास का अनुसंधान करने मे अत्यंत उपयोगी है। आचार्यों ने इसके सामान्यतः दो अर्थ किये हैं—(१) आरोप, और (२) अभिमान। यद्यपि इन दोनो शब्दो की व्यजना यही है कि प्रेक्षक नाट्य-सौंदर्य के प्रति प्रलुब्ध होकर कुछ समय के लिए अभिनेता को राम समझने लगता है, फिर भी दोनो की अर्थ-छायाओ मे सूक्ष्म भेद है जो अनुकार्य के साथ अनुकर्ता के तादात्म्य के मात्रा-भेद को स्पष्ट करता है। आरोप मे अनुकर्ता और अनुकार्य के पार्थक्य की प्रतीति अधिक है जबकि अभिमान मे यह भेद-प्रतीति अत्यत क्षीण हो जाती है—अर्थात् आरोप की अपेक्षा अभिमान द्वारा व्यंजित नाट्य-भ्रम अधिक अतरग और गहरा होता है। इसी प्रकार शकुक ने रस को अनुकृत स्थायी का पर्याय मानकर अनुकरण अर्थात् अभिनय-कला मे रस की मूल सिद्धि का व्याख्यान किया। कहने का अभिप्राय यह है कि ईसा की पाचवी-छठी शताब्दी तक नाट्यकार का महत्त्व नाटककार से कम नही था, थोडा ज्यादा ही हो सकता है। परंतु धीरे-धीरे इस क्रम मे परिवर्तन होने लगा और अभिनवगुप्त की आत्मवादी प्रतिपत्ति के बाद तो चतुर्विध-अभिनय-रूपा नाट्य-कला शब्दार्थ-सपदा के समान रसाभिव्यक्ति का माध्यम-उपकरण मात्र बनकर रह गई। भोज ने स्पष्ट शब्दो मे घोषणा कर दी "अतः अभिनेतृभ्य कवीन् एव बहु मन्यामहे···।" इतना ही नही, अभिनेता को केवल 'पात्र'—अर्थात् रसाभिव्यक्ति का वाहन मात्र मान लिया गया जो स्वय रसानुभूति करने मे असमर्थ होता है।

दोनो के सापेक्षिक महत्त्व की और अधिक विवेचना कर इस नाट्य-महोत्सव मे श्री जगदीशचद्र माथुर और श्री अलकाजी को लडाने का मेरा कोई इरादा नही है। सही बात तो शायद वही है जो भोज ने कही है; पर इस मान्यता का अधिक प्रसार हो जाने से भारतीय रंगमच का विकास अवरुद्ध हो गया जिसका प्रभाव उलटकर नाटक-साहित्य के विकास पर भी पडा। वास्तव मे स्रष्टा के गौरव के अधिकारी दोनो ही हैं· एक शब्दार्थ के माध्यम से कला की सृष्टि करता है और दूसरा चतुर्विध अभिनय के माध्यम से। विवाद को बढाया जाय तो प्रश्न किया जा सकता है कि इन दोनो मे से मूल सृष्टि कौन करता है ? नाटककार का पक्ष है कि उसकी सृष्टि ही मूल सृष्टि है और निर्माता या परिचालक की सृष्टि पुन सृष्टि है। उधर परिचालक का पक्ष है कि नाटक की कला की मूल सृष्टि शब्दार्थ के माध्यम से नही हो सकती —नाट्य उपकरणो के माध्यम से ही नाटक की कला की वास्तविक सृष्टि संभव है—

नाटककार जिसे कला कहता है वह तो कला का प्रारूप (स्क्रिप्ट) मात्र है। मैं समझता हूं कि सत्य का अंश दोनो ही वक्तव्यों में विद्यमान है और अपने अतिवादी रूप में दोनो ही सत्य से दूर हो जाते हैं। नाटक को मिश्र कला इसलिए माना जाता है क्योंकि उसकी सिद्धि साहित्य और नाट्य दोनो के योग पर निर्भर करती है। काव्य का महत्त्व असंदिग्ध है, किंतु काव्य की दृश्यता, जो 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' को सिद्ध करती है, सूत्रधार की कला की अपेक्षा करती है। फिर भी दोनों के सापेक्षिक महत्त्व के विषय मे भ्रम नही होना चाहिए। कला की सृष्टि वस्तुतः कौन करता है ? नाटककार या नाट्यकार (प्रोड्यूसर) ? सही उत्तर है—दोनो मिलकर; यह कला दोनो के समन्वित प्रयास की सिद्धि है। इसके विकास के लिए हमे समन्वय पर बल देना होगा : अतीत का नाटककार निर्माता से स्वतंत्र होकर नाटक के स्थान पर प्रायः संवादमय आख्यान की सृष्टि करता रहा और आज का निर्माता 'खेल'—'प्ले' का व्यवसाय करता है। अत: आज आवश्यकता दोनों के सहयोग की है। हिंदी-रंगमंच का विकास इस प्रकार करना चाहिए कि नाटककार को नाट्यकला का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हो और निर्माता साहित्य मे पूर्णत. व्युत्पन्न हो। हमारी नाट्यकला के विकास की बाधा केवल यही नही है कि हमारा नाटककार रंगमंच के व्यावहारिक ज्ञान से रहित है, वरन् यह भी है कि हमारे सूत्रधार और अभिनेता साहित्य के भव्यतर संस्कारों से वंचित हैं। अत. जब हम सहयोग की बात करें तो इस बात को न भूले कि नाटक मूलत साहित्य का ही रूप है और अधिक समृद्ध रूप है—इसलिए रंगमंच के विकास की योजनाएं मूलतः साहित्य को ही आधार मानकर कार्यान्वित करनी चाहिए। नाट्यकला साहित्य से भिन्न कला है, यह नारा गलत है। इससे साहित्य की ही क्षति नही होगी, सामान्यत हमारे समाज मे कला का स्तर भी गिर जाएगा। आज भी प्रसाद के नाटको को अभिनेय काव्य मात्र कहकर अर्धशिक्षित व्यावसायिक निदेशक सामान्य स्तर के नाटको का प्रचार कर रहे हैं : उनकी दृष्टि मे प्रस्तुति का मूल्य अपने-आप मे इतना बढ जाता है कि साहित्य तत्त्व गौण पड जाता है। यह नाट्यकला का विकास नही है : नाट्यकला का उपजीव्य साहित्य ही है और उसकी उपेक्षा करने से नाट्यकला के कल्याण की कामना करना आत्म-प्रवचना मात्र है। वास्तव मे अपने सहज रूप मे नाट्य और नाटक का संबंध अभिव्यक्ति और भावना का संबंध ही है—और अभिव्यक्ति के रूप मे उसका स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण होते हुए भी एकांत प्राथमिक नही है, क्योंकि उससे पूर्व शब्दार्थ के माध्यम से भी तो अभिव्यक्ति की एक प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। मेरे इस विश्लेषण का अभिप्राय केवल इतना ही है कि नाट्यकला को नाटक से स्वतंत्र या प्राथमिक महत्त्व देने का प्रयास अहितकर है। हिंदी-नाट्यकला का सम्यक् विकास हिंदी के नाटक-साहित्य के आधार पर ही हो सकता है। हमारे निदेशक अपनी कला का प्रशिक्षण प्राप्त करने के साथ ही हिंदी-साहित्य के मर्म का भी अवगाहन करें और हिंदी-नाटक की संभावनाओ के विकास मे योगदान करें। हिंदी मे उपयुक्त नाटक नहीं है, इसलिए जो दूसरी भाषाओ के नाटकों के अनुवादो से हिंदी-रंगमंच की श्रीवृद्धि का स्वप्न देखते हैं वे या तो हिंदी की जानबूझ-

कर अवमानना करते हैं या कला के इतिहास से अपरिचित हैं।

किंतु यह सब तो मैं प्रसगवश कह गया। इसे आप केवल परिपार्श्व मान सकते हैं। आज की गोष्ठी तो दर्शक-समीक्षक गोष्ठी है और मुझसे आप कदाचित् यह अपेक्षा करते हैं कि मैं हिंदी नाट्यकला के विकास मे दर्शक तथा समीक्षक की भूमिका पर प्रकाश डालू। भारतीय नाट्यशास्त्र मे दर्शक के लिए प्राय 'प्रेक्षक' और 'सामाजिक' शब्दो का प्रयोग किया गया है (१) "तथा नानाभिनयव्यञ्जितान् वागगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनस प्रेक्षका हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति।" (२) "स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भाव· तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशंकुक।" इनके अतिरिक्त एक शब्द और है—'सहृदय', जो प्रेक्षक के मौलिक धर्म का वाचक है। प्रेक्षक के लिए भरत ने सब से पहले 'सुमनस्' विशेषण का प्रयोग किया है जो प्राय उसके सभी आवश्यक गुणो का समाहार कर लेता है। आगे चलकर विभिन्न सदर्भो मे अनेक आचार्यो ने उसके स्वरूप का प्रकाशन किया है, जिसका साराश इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

प्रेक्षक का मौलिक गुण है सहृदयता—अर्थात् जीवन की विभिन्न स्थितियो के प्रति सवेदन की क्षमता; नवीन शब्दावली मे जिसे संवेदनशीलता कह सकते हैं। इनके अभाव मे उसकी स्थिति प्रेक्षागृह के काष्ठ-कुड्यादि के समान रह जाती है। किंतु सवेदनशीलता मौलिक गुण होने पर भी पर्याप्त नही है—वास्तव मे सहृदयता की परिधि उससे अधिक व्यापक है। इसके साथ-साथ एक अन्य गुण भी सहृदय के लिए अनिवार्य है—वह है विदग्धता, जो एक ओर विद्वत्ता से भिन्न होती है और दूसरी ओर प्रकृत भावुकता से भी. इसमे कल्पना की शक्ति निहित है। विदग्ध का अर्थ है कल्पनाशील भावुक, जो सौंदर्य-बोध से संपन्न होता है। विदग्धता विद्वत्ता से भिन्न होती है—इसका अर्थ यह नही है कि विदग्ध सामाजिक मे बौद्धिक व्युत्पन्नता का अभाव रहता है। वास्तव मे व्युत्पन्नता और बौद्धिकता के एक विशेष स्तर के बिना विदग्धता की कल्पना ही नही की जा सकती। इस प्रकार शास्त्र मे जिस सामाजिक को नाट्यरस का अधिकारी माना गया है उसके व्यक्तित्व मे एक विशेष स्तर की भावुकता, कल्पना और व्युत्पन्नता की अवस्थिति अनिवार्यतः स्वीकार की गई है। इसीलिए सामाजिक का अपर नाम 'सभ्य' भी है। यहा तक तो हुई सामाजिक के सामान्य व्यक्तित्व की बात। इसके अतिरिक्त प्रेक्षण के समय उसकी तात्कालिक मन स्थिति के विषय में भी शास्त्र ने स्पष्ट व्यवस्था दी है। भरत ने इसी संदर्भ मे उसे 'सुमनस्' कहा है। सौमनस्य का अर्थ यह है कि प्रेक्षण के समय सामाजिक का मन सभी प्रकार के व्यक्तिगत राग-द्वेष, सुख-दु ख तथा पूर्वग्रहो से मुक्त होना चाहिए। इस समय उसकी चेतना पूर्णत संवेदनशील होने के साथ-साथ मुकुर के समान निर्मल रहनी चाहिए जिससे कि वह कला के समस्त रागात्मक तत्त्वो को सहज रूप मे ग्रहण कर सके। अभिनव ने इसी मनःस्थिति को 'विमलप्रतिभान्' कहा है और व्यक्तिगत सुख-दु.ख के आवेग को रसास्वादन का प्रमुख विघ्न माना है। इस प्रकार भारतीय नाट्यशास्त्र मे जिस सामाजिक की कल्पना की गई है वह पाश्चात्य नाट्यशास्त्र मे

विवेचित आदर्श प्रेक्षक (आइडियल स्पैक्टेटर)[1] से प्रायः अभिन्न है। नाट्यकला की सृष्टि इसी के लिए की जाती थी—यही नाट्यरस का अधिकारी होता था। यहां प्रश्न उठ सकता है कि क्या नाट्यकला का जनसाधारण के साथ कोई सबंध नही था ? उत्तर यह है कि जनसाधारण प्रेक्षागृह से एकदम बहिष्कृत नही था, उसका भी प्रेक्षागृह में प्रवेश था जैसा कि प्राचीन नाट्य-साहित्य और नाट्यशास्त्र दोनो मे ही 'लोक' तथा 'जन' शब्दो के प्रचुर प्रयोग से सिद्ध है। परंतु अधिकारी वह नही था अर्थात् उसकी रुचि नाट्य-रचना का अनुशासन नही करती थी।

और, वह स्थिति आज भी यथावत् है। लोकतंत्र के इस युग मे पल्ली-समाज की (जिसका कि आपके वक्तव्य मे उल्लेख है) उपेक्षा आप नही कर सकते, उसके बहिष्कार का तो प्रश्न ही क्या ! फिर भी उसकी रुचि आज भी नाट्यकला की सिद्धि का निर्णय नही कर सकती। नाट्य-रस का अधिकारी आज भी उपर्युक्त गुणो से सपन्न सामाजिक ही रहेगा। परतु इस विषय मे भी सदेह नही रहना चाहिए कि अधिकारी के समस्त विशेषण सामाजिक स्थिति के वाचक न होकर मानसिक एवं सास्कृतिक स्थिति के ही वाचक हैं।

नाट्य-समीक्षक की स्थिति प्रेक्षक से तत्त्वतः भिन्न नही है। वह नाट्यकला के अधिकारी 'सभ्य' का ही समृद्ध एवं विशिष्ट रूप है। इसीलिए तो शास्त्र मे उसको समीक्षक न कहकर भावक ही कहा गया है। प्रेक्षक से समीक्षक, प्रकार मे भिन्न न होकर, गुण मे ही भिन्न होता है। उसमे भी सामान्यत· उन्ही विशेषताओ की अपेक्षा रहती है जिनके कारण प्रेक्षक नाटयकला का अधिकारी बनता है, किंतु दोनो मे गुण और मात्रा का भेद रहता है। उपर्युक्त तीनो ही विशेषताए उसमे इतनी अधिक विकसित अवस्था मे रहती हैं कि उसे प्रेक्षक से भिन्न (और शायद ऊंचा भी) 'समीक्षक' का दर्जा प्राप्त हो जाता है। अपने वर्ग मे प्रेक्षक जहा सामान्य होता है, समीक्षक वहा विशेषज्ञ बन जाता है और इस प्रकार उसका अधिकार और भी विकसित हो जाता है। प्रेक्षक केवल आस्वादन का ही अधिकारी होता है जबकि समीक्षक मूल्याकन का भी अधिकारी बन जाता है। ऐसे ही विशेषज्ञ सामाजिक को लक्ष्य करके कालिदास ने कहा था—

'आपरितोषाद् विदुषा न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।'

समीक्षक का यह गौरव आज भी अक्षुण्ण है। आज भी नाट्य-समीक्षक (ड्रामा-क्रिटिक) प्रेक्षागृह मे विशेषाधिकार का भोग करता है। किंतु आज शायद उससे कुछ ज्यादा की माग की जाती है। 'अनामिका' द्वारा प्रकाशित वक्तव्य के अनुसार—"आज नाटक की समीक्षा लिखने के लिए मात्र रस-सिद्धात की शास्त्रीय बारीकियो से काम नही चलता, आज तो समीक्षक को रसज्ञ होने के साथ-साथ युग-

1. To that Ideal Spectator or Listener, who is a man of educated taste and represents an instructed public every fine art addresses itself · he may be called the rule and standard of that art as the man of moral insight is of morals —Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art.

चेतना का प्रवक्ता होना होगा; उसे नाटक के आधुनिक उपकरणो के संतुलित प्रयोग और प्रभाव को परखना होगा; लेखन और परिचालन, अभिनय और मंचविधान, कथ्य का व्यंग्यार्थ और दर्शक की ग्रहणशीलता आदि को समूचे प्रस्तुतीकरण का अंतरंग अंग बनाकर समझना होगा और तब समीक्षा के निकष प्रस्तुत करने होगे।"—मानो गुप्तयुग के समृद्ध रगमच से परिचित कालिदास के नाटकों का समीक्षक केवल रस-सिद्धात की बारीकियो मे ही उलझकर रह जाता था—न वह कथ्य के व्यंग्यार्थ का पारखी था, न अभिनय और मचविधान के कला-रहस्यों से परिचित था और न अपने युग की चेतना का बोध उसे था—मानो रस-सिद्धात के साथ उपर्युक्त कला-तत्त्वो का सहज विरोध हो और रस की चतना इन समस्त शक्तियो को कुंठित कर देती हो अथवा इनके बिना ही रसबोध संभव हो जाता हो। वास्तव मे नाट्य-समीक्षक का कर्तव्य-कर्म आज भी प्रायः वही है जो कालिदास के समय मे था—अर्थात् नाट्यरस को ग्रहण कर उसे प्रेक्षक-समाज के लिए सुलभ करना, उसके साधक और बाधक तत्त्वो का विश्लेषण कर नाटक की सिद्धि-असिद्धि का विवेचन करना और इस प्रकार अपने युग की नाट्य-रचना को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करना। नाटक के सवेद्य तत्त्व या व्यंग्यार्थ के अवबोधन के लिए स्पष्ट है कि उसके माध्यम-उपकरणो के प्रयोग और प्रभाव और इसके भी आगे उनकी व्यंजना-क्षमता की पहचान जरूरी है—आज भी है और पहले भी थी, क्योकि तत्त्व-शोध के लिए माध्यम का भी सम्यक् परिज्ञान आवश्यक है। आज मंच के उपकरण एव प्रसाधन विज्ञान के वर्धमान प्रभाव के कारण अत्यधिक विकसित हो गए हैं और जागरूक नाट्य-समीक्षक के लिए उनका अंतरंग ज्ञान अनिवार्य है। इस कथन मे न कोई नवीनता है और न विचित्रता, क्योकि प्रत्येक कला-रूप का समीक्षक अपनी कला के माध्यम-उपकरणो का भी सूक्ष्म पारखी होता है। जिस प्रकार प्राचीन काव्य का समीक्षक शब्दार्थ की गुणालंकार-सपदा का भी रसिक होता था और आज का काव्य-समीक्षक उस शब्दार्थ-संपदा के नवीन उपकरणो—बिंब, प्रभाव-छवि आदि का, इसी प्रकार प्राचीन तथा नवीन नाट्यविधान के समीक्षक को भी नवीन उपकरणो के प्रभाव और प्रयोग से अवगत रहना चाहिए। किंतु इस संदर्भ मे एक बात साफ हो जानी चाहिए और वह यह कि ये उपकरण माध्यम मात्र हैं—ये साधन हैं, साध्य नही है। माध्यम का उद्देश्य है कला के रमणीय अर्थ की व्यजना, और जो माध्यम इस उद्देश्य की पूर्ति जितने प्रभावी एव सहज रूप मे कर सकेगा उतना ही वह सार्थक माना जायगा। आज विज्ञान के वर्धमान प्रभाव से जो भौतिक उपकरण नाट्यविधान को सुलभ हो गए हैं, उनकी भी सार्थकता यही है कि वे नाट्यार्थ की सहज अभिव्यक्ति मे सहायक हो। नाट्यकार के लिए वे नाट्यार्थ की अभिव्यक्ति के और नाट्य-समीक्षक के लिए उसकी प्रतीति के माध्यम हैं। इन उपकरणो की प्रचुरता और समृद्धि तभी तक उपयोगी है जब तक कि इनका प्रयोग साधन-रूप मे किया जाए : जहा इनका स्वतंत्र महत्त्व हुआ, वही मूल अर्थ बाधित हो जाएगा। काव्य के क्षेत्र मे भी यही होता रहा है; जहा गुणालकार-सपदा का प्रयोग माध्यम-रूप मे हुआ है वहा काव्यार्थ चमक उठा है और जहा इनका आकर्षण

अपने-आप मे लक्ष्य बन गया है वही काव्यार्थ बाधित हो गया है। आज के युग में नाट्य-उपकरणों की समृद्धि से यह खतरा पैदा हो गया है कि कही इस भौतिक समृद्धि की चकाचौंध मे नाटक की आत्मा का प्रकाश मंद न पड जाय। अतः आज के नाट्य-समीक्षक का कर्तव्य आधुनिक युग के उपकरणों के प्रयोग और प्रभाव को समझने के साथ-साथ नाटककार और प्रेक्षक को इस खतरे से भी सावधान करना है। आखिर नाटककार और नाट्यकार दोनो की सिद्धि क्या है? प्रेक्षक को रंग-विधान के सूक्ष्म प्रभावों से अभिभूत करना या अभिनय-कौशल से विस्मित कर देना या नाट्यार्थ के समंजित प्रभाव को संवेदित करना? उत्तर स्पष्ट है—अंतिम सिद्धि ही वास्तविक सिद्धि है, प्रथम दो सिद्धियां इस अंतिम सिद्धि के साधक तत्त्व मात्र है जो स्वतंत्र बन जाने पर मूल सिद्धि मे बाधक हो जाते हैं।

आपके वक्तव्य मे आज के समीक्षक के लिए युग-चेतना की आवश्यकता पर बल दिया गया है। प्रत्येक जागरूक व्यक्ति का—प्रेक्षक का सामान्य रूप से और समीक्षक का विशेष रूप से, क्योकि उसकी प्रतिभा अधिक प्रबुद्ध होती है—अपने परिवेश के साथ जीवंत संपर्क रहता है। किंतु इस सपर्क के अनेक रूप हैं: कही यह अधिक व्यक्त और स्थूल होता है, कही प्राय. बाह्य और सतही और कही सूक्ष्म एवं अप्रत्यक्ष। कलाकार तथा समीक्षक दोनो ही अपनी-अपनी प्रकृति और संस्कारो के अनुरूप इस युग-प्रभाव को ग्रहण करते है। कला-चेतना के विकास का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि यह प्रभाव जितना सूक्ष्म-गहन होगा, उतना ही अधिक सर्जनात्मक होगा। सर्जना का अर्थ है आत्माभिव्यक्ति; और, यदि आपके युग-बोध को आघात न लगे तो, आत्माभिव्यक्ति ही रस है। युग के सूक्ष्म प्रभावो को अपनी चेतना में रचाकर कलाकार जब आत्म-सर्जना करने मे सफल होता है, तभी रस-सृष्टि हो जाती है; और, समीक्षक यदि इस प्रक्रिया को भी थोडा-बहुत जान ले तो कोई नुकसान नही है। इसके आगे युग-चेतना को स्थूल अर्थ मे—नारे के रूप मे—ग्रहण करना न कला के लिए उपयोगी है और न कला-समीक्षा के लिए। और फिर, इस युग-चेतना का स्वरूप भी तो कितना अस्थिर है! अभी कल तक हमने सुना कि आधुनिक युग-चेतना का अर्थ है वर्ग-चेतना—और आज भी यह स्वर मुखर है। दूसरी ओर से आवाज आ रही है कि आज संसार मे व्याप्त सामूहिक आत्मघात की भावना की पहचान ही आधुनिक युग-बोध है। मैं समझता हूं, इस प्रकार के युग-बोध की अपेक्षा कला-समीक्षक के लिए परंपरा द्वारा परीक्षित एवं अनुमोदित कला-तत्त्वो का बोध अधिक कल्याणकर होगा। युग-चेतना को नारे के रूप मे ग्रहण करने वाला कलाकार 'भारत-भारती' और 'हुंकार' की रचना करता है और उसे कला-चेतना मे अंतर्मुक्त कर लेने वाला कलाकार 'साकेत' और 'कुरुक्षेत्र' की। इसी प्रकार युग-चेतना से आक्रांत आलोचक रवीन्द्रनाथ के काव्य मे सामंतीय प्रभावो का अनुसधान करता है और उसे कला-चेतना मे ही समाहित कर लेने वाला आलोचक प्रेमचन्द के उपन्यासो मे मानव-सवेदना की विवृति करता है। इसलिए आज के समीक्षक को धमकाकर युग-चेतना का नारा बुलद करने के लिए बाध्य न कीजिए:

उसे युग के प्रभाव को सहज रूप में ही पचाने दीजिए।

इस सदर्भ मे एक प्रश्न यह किया जा सकता है कि क्या कला क वृत्त में नाट्य-समीक्षक की स्थिति साहित्य के समीक्षक से पृथक् है ? प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर इसके मूलवर्ती प्रश्न के उत्तर के साथ संबद्ध है, और वह मूलवर्ती प्रश्न है · क्या नाटक की स्थिति साहित्य की परिधि से बाहर है ? इसमे सदेह नही कि जहां साहित्य की अन्य विधाओ के माध्यम-उपकरण शब्दार्थ तक ही सीमित हैं वहा नाटक के लिए शब्दार्थ के अतिरिक्त रग-उपकरणो की भी आवश्यकता रहती है। किंतु माध्यम का यह भेद इतना मौलिक नही है कि उसके आधार पर नाटक की जाति ही बदल जाए। अन्य कलारूपो मे जहा शब्दार्थ का माध्यम सर्वथा निःशेष हो जाता है, वहा नाटक मे वह अंत तक बना रहता है। वास्तव मे शब्दार्थ से रहित नाट्य-प्रयोग—जैसे रगसंभार, अभिनय, नृत्य, गीत आदि एक-एक कर अथवा मिलकर भी नाटक नही बन सकते। नाटक की सृष्टि शब्दार्थ के माध्यम के बिना सभर्व नही है—उपर्युक्त नाट्य-उपकरण उसके लिए अत्यत आवश्यक हैं परंतु वे शब्दार्थ के सहकारी ही रहते हैं, उसके स्थानापन्न नही बन सकते। मूक नाट्यो को देखकर कभी-कभी मेरी इस स्थापना के प्रति शंका हो सकती है, किंतु थोडा विचार करने पर ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वहा भी शब्द का अभाव नही है—शब्द तो वहा भी है, लेकिन उच्चरित नही है। अतः केवल इतने ही भेद को लेकर नाटक को जातिभ्रष्ट कर देने से नाट्य-कला की सेवा आप नही कर सकेंगे। वस्तुतः साहित्य का मूल धर्म समान है—और इस तर्क से उसकी भिन्न विधाओ का भी मूल धर्म समान ही रहेगा। प्रत्येक विधा का अपना अलग स्वरूप हैं— प्रबंधकाव्य, उपन्यास और नाटक अलग-अलग विधाएं हैं, प्रविधि के भेद से इनके रूप मे भेद अवश्य है, पर इनकी आत्मा मे भेद नही है। स्वदेश-विदेश के काव्यशास्त्र मे इनकी प्रविधि का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है, लेकिन प्रविधि-भेद का यह विस्तार उनकी मूल आत्मा को खडित नही करता। नाट्य-समीक्षक की स्थिति का निर्णय भी इसी तर्क-प्रणाली से अनायास हो जाता है। नाट्य-समीक्षक को नाट्य-विधान का अतरग और व्यापक ज्ञान होना चाहिए, किंतु उससे पूर्व उसे साहित्य के मर्म का ज्ञान होना चाहिए। साहित्य के अन्य रूपो के समीक्षक की भी प्राय यही स्थिति है। उदाहरण के लिए, काव्य के समीक्षक को काव्य के माध्यम-उपकरण—शब्दार्थ—की शक्तियो और सभावनाओ का अतरग ज्ञान होना चाहिए और उपन्यास के समीक्षक को उपन्यास की शिल्प-विधि का भी विशेषज्ञ होना चाहिए। नाट्य-समीक्षक का क्षेत्र थोडा और व्यापक है क्योकि उसकी परिधि मे कुछ ऐसे उपकरण भी आते हैं जो साहित्य की सीमा से बाहर पडते हैं। आज के युग मे विशेषज्ञता तो अनिवार्य हो ही गई है, इसलिए साहित्य के क्षेत्र मे भी नाट्य-समीक्षक का कार्य अन्य साहित्यिक विधाओ के समीक्षक के कर्तव्य-कर्म से मूल मे भिन्न न होकर केवल व्यवहार मे भिन्न है। इस तथ्य की उपेक्षा करने से प्रविधि का महत्त्व इतना अधिक बढ जायगा कि प्राणतत्त्व ही गौण पड जायगा। परिणाम यह होगा कि काव्य-समीक्षक रस-मर्मज्ञ की अपेक्षा भाषावैज्ञानिक के निकट पहुच जायगा

और नाट्य-समीक्षक कलाविद् की अपेक्षा रगमंच के अभियता से स्पर्धा करने लगेगा। मेरा विश्वास है नाट्य-समीक्षक के एकांत वैशिष्ट्य का आग्रह कर उसकी यह दुर्गति आप देखना नही चाहेगे।

किंतु, मेरी इस शास्त्रीय ऊहापोह के बाद भी आपके आयोजन का मूल प्रश्न तो वही-का-वही रह गया। हम सभी जानते हैं और मानते है कि हिंदी का नाट्य-साहित्य उसकी अन्य विधाओ की तुलना मे पिछडा हुआ है। इस स्थिति का परिमार्जन कैसे किया जाए ? मेरे विचार से इसका एक ही सीधा उपाय है—और वह यह कि सभी प्रमुख नगरो मे प्रेक्षागृह तथा नाट्य-केंद्रो की स्थापना की जाए। प्रेक्षागृह और नाट्य-केंद्र जहा आधुनिक रंग-सभार से सपन्न हो वहा इस देश की प्राचीन नाट्य-परपरा से भी संबद्ध हो, जहा एक ओर भारतीय वाङ्मय के अमर नाटको का प्रदर्शन भारतीय गरिमा के साथ हो सके और दूसरी ओर पाश्चात्य नाट्य-कला की प्राचीन एवं नवीन कलाकृतियो के सफल रूपातर प्रस्तुत किए जा सकें। इन प्रेक्षागृहो का परिचालन ऐसे प्रतिभाशाली कलाकारो के द्वारा होना चाहिए जो भारतीय साहित्य के मर्म से अवगत हो और जिन्होने नाट्य-कला की नयी-पुरानी शिल्प-विधियो का विधिवत् प्रशिक्षण प्राप्त किया हो, जो भारतीय साहित्य की समृद्ध परंपराओ मे इतने व्युत्पन्न हो कि पश्चिम के नव-प्रयोगो को उन्ही के भीतर आत्मसात् कर सकें, और साथ ही जो हिंदी भाषा के सौदर्य से भी परिचित हो अर्थात् जो नाटक की भाषा को केवल उसके साहित्यिक सौंदर्य के आधार पर ही रगमच के अनुपयुक्त घोषित करने के लिए अधीर न हो उठें। इस संदर्भ मे दो बातो के विषय मे हमें निर्भ्रान्त रहना चाहिए। एक तो यह कि नाट्य-कला की सिद्धि केवल प्रस्तुति की सफलता पर नही, वरन् उत्तम साहित्य-नाटक की सफल प्रस्तुति पर ही निर्भर करती है। जो निदेशक किसी कालजयी नाटक का अभिनय-सौकर्य के लिए इतना अगभग कर दे कि उसका मूल सौदर्य ही खडित हो जाए, उसके प्रशिक्षण को अपूर्ण ही मानना चाहिए। इसी प्रकार, जो निदेशक आधुनिकता की झोक मे 'मृच्छकटिक' को नौटंकी या 'अभिज्ञान-शाकुतल' को ऑपेरा बना दे, उसकी कला पर भी गर्व नही करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि हमे हिंदी की नाट्यकला का विकास करना है, अत. हिंदी की सभी साहित्यिक शैलियो को स्वीकार करना होगा; केवल बोलचाल की भाषा या उर्दू-मिश्रित भाषा ही प्रेक्षक-समाज को ग्राह्य है, यह भ्रम दूर हो जाना चाहिए। इस प्रकार उपयुक्त प्रेक्षागृहो एवं नाट्य-शिविरो की स्थापना से उत्तम नाट्य-प्रतिभाओ की सर्जना तो आप न कर सकेंगे, किंतु उसके विकास के लिए उपयुक्त भूमिका अवश्य तैयार हो जाएगी जिससे हमे आगे कभी यह मलाल न रहेगा कि प्रसाद जैसे नाटककार की प्रतिभा हिंदी-रंगमच के अभाव मे अर्धविकसित ही रह गई।

मैं बहुत कम कहना चाहता था, किंतु 'अनामिका' के 'वक्तव्य' से उत्तेजित होकर बहुत-कुछ कह गया। नाट्य-विधान से मेरा कोई जीवत सपर्क नही है : जीवन मे कॉलेज के दिनो मे सिर्फ एक बार अभिनय किया था और मेरी वजह से ही हमारा

वह 'खेल' प्रतियोगिता मे हार गया था। तब से आज तक अभिनय नही किया—अभिधार्थ मे तो बिलकुल ही नही किया और लक्ष्यार्थ मे भी अभिनय करने का उत्साह प्रायः नही होता। प्राविधिक ज्ञान से शून्य मुझ जैसे आदमी को नाट्यकला के 'तकनीकी माहिरो' की इस गोष्ठी का अध्यक्ष बनाकर आपने निश्चय ही अतिरिक्त उदारता का परिचय दिया है। उसके लिए कैसे धन्यवाद करू!

कहानी और रेखाचित्र

"शैलू बाबू, कैसा लगा हमारा शनिवार-समाज आपको ?"—कार स्टार्ट करते हुए मैंने पूछा।

"मैं तो काफी प्रभावित हुआ। पिछली बार मैंने कांता से पूछा था कि दिल्ली में साहित्यिक जीवन कैसा है, तो उसने कहा कि साहित्यकार तो यहां बुरे नही है, लेकिन साहित्यिक जीवन कोई खास नही है। ले-देकर शनिवार-समाज है, उसमें भी तू-तू मैं-मैं या हा-हा ही-ही रहती है। पर आज तो मैंने देखा कि यहां विचार-विमर्श का स्तर अच्छी शास्त्रीय परिषदो से ऊचा रहता है।"

"हा, कांता दो-तीन बार आयी थी। उन दिनो सचमुच थोड़ी-सी शिथिलता आ गई थी, जो सदा अस्वाभाविक नही होती। रही हा-हा ही-ही की बात—वह तो आज भी थी और मेरा खयाल है, मर्यादा के भीतर सदा रहनी ही चाहिए। आखिर यह कोई परीक्षा-भवन तो है नही और न यहा धार्मिक सत्संग ही होता है। वास्तव मे शनिवार-समाज दिल्ली के साहित्यिक जीवन की अभिव्यक्ति का अनिवार्य माध्यम बन गया है। बीच-बीच मे थोडा-सा शैथिल्य या मामूली-सी रगड़ भले ही पैदा हो जाए, पर साधारणत. इसे प्राय. सभी का सद्‌भाव प्राप्त है। पहले चिरंजीत ने इसे ठीक बना रखा था और अब विष्णुजी ने जब से इसे सभाला है, तब से इसमें फिर जान आ गई है। विष्णु आदमी भले है और कुशल भी।"

शैलेन्द्रमोहन जौहरी सेंट जॉन्स मे मेरे सहपाठी थे; उस्मानिया यूनिवर्सिटी मे छ· वर्ष तक अंगरेजी के अध्यापक रहने के बाद हाल ही में टोरेंटो से 'सौदर्यशास्त्र' पर पी-एच० डी० की डिग्री लेकर आए है। दिल्ली मे किसी सवंधी के यहा आए थे। पिछले से पिछले शनिवार की शाम को मेरे साथ थे। इस शर्त पर शनिवार-समाज में मेरे साथ आए थे कि उनको अपरिचित दर्शक ही रहने दिया जाए। इसलिए मुझसे कुछ थोड़ा हटकर कोने में बैठ गए थे और विना बोले सब-कुछ चुपचाप देखते-सुनते रहे थे। वैसे बडे तेजस्वी व्यक्ति है। हिंदी और अंगरेजी दोनो मे थोडा-सा लिखा है, पर जो कुछ लिखा है उसमे चमक और धार दोनो हैं।

दिल्ली-दरवाजे पर एक महिला को उतारने के बाद मैंने फिर बातचीत का क्रम जारी रखते हुए कहा, "आज का विषय जरा दुरूह-सा था। तुम्हारा क्या खयाल है ? तुम्हें किसकी बात ज्यादा जंची ?" मेरे वाक्य को सुनकर ऐसा लगा, जैसे उनकी मौलिकता पर कोई चोट लगी हो; हालाकि मेरा यह मतलब बिलकुल नही था।

बोले, "आई कैन थिंक फार माईसैल्फ; लेकिन फिर भी आज सभी के विचारो में पर्याप्त तथ्य था। आपके यहां कोई रेकार्ड नही रखा जाता क्या? मैं समझता हू आज की बहस को यदि लेखबद्ध कर दिया जाये तो कहानी और रेखाचित्र के अतर पर अत्यंत मौलिक निबंध बन सकता है।"

मैंने कहा, "ऐसा कोई सांग विवरण हम लोग नही रखते; किंतु आता मेरे मन मे भी है कि इसे लेखबद्ध किया जाये।"

शैलू बाबू बोले—"अच्छा।"

शैलू बाबू ने शायद उसी रात को बैठ कर वह लेख लिख डाला और दो-तीन दिन बाद टाइप कराकर ले आये। मैंने भी चार-छः दिन मे लिख डालने का वायदा किया; पर काम इतना आ पडा कि मैं न लिख पाया और शैलू बाबू पिछले सोमवार को चले गये। मैं सोच रहा था, आज तक तो अपना लेख तैयार कर ही दूगा और दोनों को ही शनिवार-समाज की बैठक मे पढ दूगा। परंतु मैं तो आज भी रह गया। इसलिए अब आपके सामने अपने मित्र डॉ० शैलेन्द्रमोहन का लेख ही प्रस्तुत किये देता हूं। अगली गोष्ठी मे अपना लेख भी निश्चय ही ले आऊंगा।

× × ×

उस दिन भाई नगेन्द्र के साथ दिल्ली के शनिवार-समाज मे गया। नगेन्द्र ने वायदा कर लिया था कि मुझे अपरिचित ही रहने दिया जायेगा, फिर भी मैंने कुछ और सावधानी बरती और उनसे थोडी दूर कोने मे चुपचाप बैठ गया। इससे मुझे दुगुना लाभ हुआ। अनावश्यक परिचय के उपहास से बच गया और साथ ही ध्यान-पूर्वक गोष्ठी के वार्तालाप को सुन सका जो शायद नगेन्द्र के पास बैठने से सर्वथा संभव नही था; क्योंकि उनमे गंभीरता और चंचलता का इतना अनमेल मिश्रण है कि दो-एक मिनट के अतर से ही वे गंभीर-से-गंभीर बात और फिजूल-से-फिजूल बक-वास कर सकते हैं। क्लास मे एकाध बार मुझे उनकी मेहरबानी से प्रोफेसर टंडन का अकारण ही कोप-भाजन बनना पडा था।

गोष्ठी मे कुछ देर उस दिन के लेखक-वक्ता श्री दर की प्रतीक्षा रही। उनके आते ही लेख-पाठ आरंभ हो गया। श्री दर दुहरे बदन के स्वस्थ-प्रसन्न व्यक्ति थे। युवावस्था का उत्साह और आत्म-विश्वास तथा प्रौढि का गांभीर्य उनमे था। थोडी-सी क्षमा-याचना के बाद उन्होने अपना लेख आरभ किया। इस क्षमा-याचना के दो कारण थे: एक तो समयाभाव के कारण लेख जल्दी मे लिखा गया और दूसरे, हिंदी मे, जिसे उन्होने अभी थोडे दिन से शुरू किया है। दोनो बातें ही ठीक थी। लेख में, जल्दी के कारण निश्चय ही असबद्धता आ गई थी, दूसरे उसमे विवेचन और विश्लेषण की अपेक्षा वर्णन अधिक था। भाषा मे उर्दू की चटक और चमक साफ जाहिर थी; फिर भी हिंदी के प्रति अत्यधिक सचेष्ट होने के कारण वह जगह-जगह कुछ 'गंभीर' हो जाती थी और दर साहब को रवानी बनाये रखने के लिए प्रायः लहजे को और कभी-कभी अपने चेहरे और गर्दन को झोल देना पडता था। खैर, यह तो मैं यो ही प्रसंगवश कह गया। दर साहब के लेख का प्रतिपाद्य अत्यंत स्पष्ट तथा निर्भ्रान्त था;

और इसका कारण यह था कि उन्होने केवल बौद्धिक रूप से नही, वरन् व्यावहारिक रूप से, अर्थात् एक तटस्थ आलोचक की भाति नही वरन् एक स्वतत्र संलग्न कलाकार की दृष्टि से, प्रश्न पर विचार किया था। उनका अभिमत था कि कहानी और रेखा-चित्र मे कोई मौलिक अंतर नही है। यह धारणा गलत है कि घटना की प्रधानता कहानी को रेखाचित्र से पृथक् करती है। कहानी के लिए घटना बिलकुल अनिवार्य नही है; और इसके अतिरिक्त घटना केवल स्थूल और भौतिक ही हो, यह भी जरूरी नही है, वह मानसिक भी हो सकती है। इसी प्रकार तथाकथित रेखाचित्रो मे भी घटना का एकदम अभाव नही हो सकता। अगर आप कहे कि रेखाचित्र मे चरित्र-अंकन की प्रधानता होती है, तो यह भी कहानी के क्षेत्र से बाहर की चीज नही है। इसलिए रेखाचित्र कहानी का ही एक रूप है। आज कहानी की परिभाषा इतनी व्यापक और उसकी रूपरेखा इतनी शिथिल हो गई है कि रेखाचित्र नाम की चीज अपने सभी रूपो में उसके भीतर ही आ जाती है।

इसके बाद बहस मे कुछ खालीपन-सा आ गया। लोग एक-दूसरे से अपने विचार प्रकट करने के लिए आग्रह करने लगे। अत मे नगेन्द्र को ही बोलना पडा। नगेन्द्र मे मैंने अब भी वही झिझक पायी जो आज से १८-१९ वर्ष पहले सेंट जॉन्स मे थी। यद्यपि उन्होने दो-चार पॉइंट लिख भी लिये थे; फिर भी वे जैसे कोई नियमित वक्तव्य देने से बच निकलने की कोशिश कर रहे थे। आखिर उन्होने कहना शुरू किया · 'कहानी और रेखाचित्र मे कोई आत्यतिक अंतर करना कठिन है, फिर भी दोनो मे अंतर अवश्य है; क्योकि ये दोनों शब्द आज भी बराबर प्रचलित हैं और इनका प्रयोग करने वाले इनके द्वारा एक ही अर्थ की व्यजना नही करते। कहानी के विषय मे तो किसी को विशेष भ्राति होने की गुजाइश नही है, रेखाचित्र के विषय मे ही कठिनाई है। स्पष्टतया ही रेखाचित्र चित्र-कला का शब्द है, जैसा कि नाम से ही व्यक्त है। इसमे चित्राकन का मूल आधार रेखाएं होती हैं। ज्यामिति मे रेखा की विशेषता यह है कि इसमें लबाई-मात्र होती है, मोटाई-चौडाई आदि नही होती। अतएव अपने मूल रूप मे रेखाचित्र मे मोटाई-चौड़ाई, अर्थात् मूर्त रूप और रग आदि नही होते। उसमे आकार तो होता है, पर भराव नही होता; इसलिए उसे खाका भी कहते हैं। जब चित्रकला का यह शब्द साहित्य मे आया तो इसकी परिभाषा भी स्वभावत. इसके साथ आयी अर्थात् रेखाचित्र एक ऐसी रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा जिसमे रेखाएं हो, पर मूर्त रूप अर्थात् उतार-चढाव—दूसरे शब्दो मे, कथानक का उतार-चढाव—आदि न हो, तथ्यो का उद्घाटन-मात्र हो; पूर्व आयोजन अथवा आयो-जित विकास न हो। रेखाचित्र मे तथ्य खुलते जाते हैं, संयोजित नही होते हैं। कहानी के लिए घटना का होना जरूरी नही है, पर रेखाचित्र के लिए उसका न होना जरूरी है; घटना का भराव वह वहन नही कर सकता। इसी प्रकार कहानी के लिए विश्लेषण किसी प्रकार भी अवाछनीय नही है; परंतु रेखाचित्र का वह प्राय. अनिवार्य साधन है।'—नगेन्द्र के वक्तव्य से लगता था, उनके मन मे कहानी और रेखाचित्र के सूक्ष्म अतर की एक निश्चित धारणा अवश्य है और वह स्पष्ट भी है। थोडा सोचने पर यह

मुझे, और मैं समझता हूं कुछ और व्यक्तियों को भी, स्पष्ट हो गया; पर उनके कहने का ढंग अच्छा नहीं था। उनका विचार स्पष्ट था पर उनके वाक्य एक-दूसरे में लिपट जाते थे और वे हकलाने लगते थे। यह देखकर सेंट जॉन्स के अनेक दृश्य याद आ गये जब वहस के समय नगेन्द्र की कैफियत रत्नाकर की गोपियों जैसी हो जाती थी—'नेकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं, रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं'। मुझे याद है कि एक दिन वे गुरुवर प्रो० प्रकाशचंद्र से भी लड़ पड़े थे, और महीनों उनके यहां नहीं गये थे।

उस दिन भी कई ऐसे व्यक्ति थे जिनको नगेन्द्र की बात उलझी-सी लगी। एक नौजवान उनसे उलझ भी पड़े। बोले—"डॉक्टर साहब उदाहरण देकर अपना मंतव्य स्पष्ट करें तो ठीक है।" नगेन्द्र मन में उदाहरण सोचने लगे थे कि विष्णु जी ने महादेवी के रेखाचित्रों की ओर संकेत किया। नगेन्द्र बोले : "हां, 'अतीत के चल-चित्र' और "स्मृति की रेखाएं' दोनों ही रेखाचित्रों के संकलन हैं। उधर प्रेमचंदजी की अधिकांश कथा-कृतियां 'आत्माराम', 'मंदिर', 'कफ़न' आदि कहानियां हैं।" पर प्रश्न-कर्ता इससे संतुष्ट नहीं हुए; उनका कहना था कि महादेवी की उपर्युक्त कृतियां रेखा-चित्र नहीं हैं, संस्मरण (मेमॉयर्स) हैं। परंतु यह लोगों को मान्य नहीं हुआ। उस समय तो मुझे भी उनका तर्क कुछ बेमानी-सा लगा और इसका कारण शायद यह था कि अंगरेजी का (मेमॉयर्स) शब्द इस प्रसंग में कुछ भ्रामक था। मेमॉयर्स में ऐतिहासिकता प्रायः अनिवार्य-सी ही रहती है और महादेवी के चित्रों में निश्चय ही वह बात नहीं है। परंतु प्रश्नकर्ता का तर्क सर्वथा असंगत नहीं था। महादेवी के वे चित्र प्रायः संस्मरण ही हैं; अंतर इतना ही है कि उनके विषय प्रसिद्ध व्यक्ति न होकर अपरिचित व्यक्ति हैं। लेकिन मेरी धारणा है कि संस्मरण और रेखाचित्र में किसी प्रकार का विरोध नहीं है, कोई मौलिक अंतर भी नहीं है। वास्तव में उनकी जाति एक ही है; या यों कहिये कि संस्मरण रेखाचित्र का एक प्रकार-मात्र है जिसमें एक व्यक्ति का चित्र होता है; और वह व्यक्ति प्रायः वास्तविक होता है, काल्पनिक नहीं।

'मेमॉयर्स' शब्द को लेकर एक और सज्जन सामने आये। बाद में मुझे मालूम हुआ कि वे प्रो० बालकृष्ण थे जो बहुत दिनों तक इतिहास के अध्यापक रहने के बाद आजकल राष्ट्रपति के प्रेस-अटेची हैं। उनका मत था कि मेमॉयर एक अलग चीज है; वह इतिहास की वस्तु है, उसके लिए ऐतिहासिक अंक-सकलन का निश्चित आधार अनिवार्य है। रेखाचित्र के साथ उसका कोई सीधा संबंध नहीं। परंतु प्रो० बालकृष्ण को नगेन्द्र की स्थापनाओं पर भी आपत्ति थी। उन्होंने कहा कि पूर्व आयोजन तो रेखाचित्र के लिए भी उतना ही आवश्यक है जितना कहानी के लिए; अतएव यह कहना ठीक नहीं है कि रेखाचित्र में केवल उद्‌घाटन मात्र होता है; यह अंतर सापे-क्षिक है। मूलतः तो कोई भी कृति अनायोजित नहीं होती। दोनों में मात्रा का अंतर है। प्रो० बालकृष्ण ने अपने तर्क को और आगे बढाते हुए कहा : अगर दोनों में आयोजन की मात्रा का ही अंतर है तब भी यह अंतर फ़ॉर्म या कलेवर के रूप-आकार का ही रहा, मूल आत्मा का नहीं। नगेन्द्र ने कहा : 'हां, बहुत-कुछ यह अंतर कलेवर

का ही है; यद्यपि कलेवर और आत्मा का एक-दूसरे से इतना सहज संबंध है कि इस विषय में सर्वथा ऐकांतिक निर्देश नहीं किया जा सकता। परतु सामान्यत. कहानी और रेखाचित्र एक-दूसरे के इतने निकट हैं कि दोनों का अंतर प्राणगत न होकर शरीरगत ही माना जा सकता है।' पता नही, प्रो० बालकृष्ण को यह मत कहां तक मान्य था, परंतु उनकी धारणा इस विषय में कुछ और ही थी। उनका कहना था कि रेखाचित्र मे रेखाओ का आधार होता है, रंग आदि का नही। अतएव उसमे संकेत अर्थात् व्यजंना का प्राधान्य रहता है। रेखा रंग की अपेक्षा सूक्ष्म है, जैसे संकेत कथन की अपेक्षा। इसलिए रेखाचित्र और कहानी का मूल अंतर यही है कि रेखाचित्र कहानी की अपेक्षा सांकेतिक अधिक होता है। नगेन्द्र ने उनकी यह स्थापना नही मानी; क्योकि कहानी में भी उनके अनुसार अधिकाधिक सांकेतिकता हो सकती है और प्राय: होती है। वह कहती कम है, पाठक के मन मे संकेतो द्वारा संसर्ग-चित्र ही अधिक जगाती है।

इस प्रश्नोत्तर के उपरांत एक और सज्जन श्री तिवारी ने हल्की परंतु विश्वस्त आवाज़ मे कहा 'भाई, अंतर दोनो मे एक ही है; कहानी गत्यात्मक होती है, रेखाचित्र स्थिर होता है।' इस पर जैनेन्द्रजी ने स्वीकृति-सूचक सिर हिलाया—मानो अब तक के विचार-विनिमय में पहली बार तथ्य की बात कही गई हो। परंतु जैनेन्द्रजी के आशीर्वाद के बावजूद भी एक मित्र तिवारीजी से गत्यात्मक (Dynamic) और स्थिर या स्थित्यात्मक (Static) शब्दो की परिभाषा को लेकर उलझ पडे। कुछ ही क्षणो में पारिभाषिक शब्दो का घटाटोप छा गया; क्योकि वादी-प्रतिवादी दोनों ही जाने-अनजाने मे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग कर रहे थे। प्रहार और प्रतिरक्षा दोनो का ही साधन पारिभाषिक शब्द थे। परंतु यह स्थिति अधिक देर तक नही रही और संयोजक महोदय ने इस तार्किक गत्यवरोध को भंग करने के लिए जैनेन्द्रजी से अपने विचार व्यक्त करने का अनुरोध किया। जैनेन्द्रजी से आरंभ में आग्रह किया गया था, परंतु उस समय उन्होने कहा था कि हमे कुछ कहना नहीं है। इस पर मुझे आश्चर्य भी हुआ था, क्योंकि मैंने रेडियो पर उनके कई वक्तव्य सुने थे जिनमें प्रत्युत्पन्नमति का अच्छा निदर्शन था। इधर नगेन्द्र ने भी इसकी पुष्टि करते हुए कहा था कि इस प्रकार के तात्कालिक परिसंवादो मे जैनेन्द्रजी की प्रतिभा विशेष रूप से निखर उठती है। इस बार जैनेन्द्रजी सहज भाव से प्रस्तुत थे। मुझे लगा, जैसे वे आरंभ के नहीं उपसंहार अथवा यो कहिये, वंदना के नही आशीर्वचन के अभ्यस्त हो। जैनेन्द्रजी ने धीरे-धीरे बीच के शब्दो को, प्राय· विभक्तियों को, खीचकर उच्चारण करते हुए बोलना शुरू किया : 'हमको तो तिवारीजी की बात ठीक लगती है, परंतु पारिभाषिक शब्द परेशानी पैदा कर देते है। इसमें संदेह नही कि कहानी गतिमती होती है और रेखाचित्र स्थिर। कहानी में रेखाचित्र से एक पहलू अधिक होता है। यदि रेखाचित्र मे एक पहलू होता है तो कहानी में दो; और अगर रेखाचित्र में दो मानिये तो कहानी मे तीन। यानी, अगर रेखाचित्र मे सिर्फ़ लंबाई ही है तो कहानी में लंबाई के अतिरिक्त चौड़ाई भी होती है; और अगर रेखाचित्र मे लंबाई और चौडाई होती है

तो कहानी मे मोटाई या गोलाई और माननी पडेगी । लेकिन यहा भी शब्दो की उल-झन खडी हो गई । एक मिसाल देकर मैं अपनी बात और साफ कर दू—सिनेमा मे जैसे क्लोज़-अप होता है, यह तो रेखाचित्र हुआ, जबकि एक चेहरा बडा होते-होते सारे स्क्रीन को ढक लेता है, और बाकी फिल्म कहानी हुई ।' जैनेन्द्रजी की बात अपने-आप मे साफ थी; वास्तव मे उनकी धारणाएं अपने-आप मे पर्याप्त स्पष्ट थी, और यदि कही कुछ उलझन रह भी जाती थी तो वह उनकी वाणी मे आते-आते सुलझ जाती थी । प्राय. लोगो के विचार वाणी से आगे दौडते हैं, जिसके कारण उनके शब्द उलझ जाते हैं । कुछ के विचारो और शब्दो मे उचित संतुलन होता है; परंतु एक तीसरा वर्ग भी होता है जिसके विचार तो पैने होते ही हैं, उनकी वाणी उनसे भी ज्यादा पैनी होती है जो विचारो मे और चमक पैदा कर देती है । जैनेन्द्रजी मे यही बात है । उनकी डायमेशन वाली बात नगेन्द्र की ही बात का स्पष्टीकरण थी, परतु, अपने-आप में वह नगेन्द्र के शब्दो से कही अधिक व्यंजक थी । फिर भी जैनेन्द्रजी को लगा कि जैसे उनकी बात का वाछित प्रभाव नही पडा । चारो ओर आखें घुमाकर अपनी बात को आगे बढाते हुए बोले : 'रेखाचित्र अपनी स्थिरता मे कुछ गतिहीन हो जाता है, वह शेष से कटकर अपने-आप मे स्वतत्र हो जाता है, इसलिए उसमे रस और तीव्रता की कमी होती है । वह कुछ 'सेक्यूलर' होता है ।' जैनेन्द्र जी जिस शब्द के लिए काफी देर से भटक रहे थे वह मानो उन्हे मिल गया था और श्रोता को चौका देने का उनका उद्देश्य मानो पूरा हो गया । इसलिए वे अनायास ही चुप होकर एक बार फिर इधर-उधर देखने लगे । 'सेक्यूलर' के इस विचित्र प्रयोग से मैं और मेरी तरह कुछ नये लोग वास्तव मे चौंक गये; लेकिन अधिकाश लोगो ने उसे हँसकर टाल दिया, मानो वह कोई नयी बात नही थी । सभव है ये लोग आचार्य विनोबा के वेदाती शब्द पर पहले ही चौंक लिये हो जिससे आज उसकी प्रतिध्वनि का बार खाली गया ।

जैनेन्द्रजी की बात को लेकर एक और सदस्य श्री महावीर अधिकारी ने भी अपने विचार प्रकट किये । उनको क्लोज़-अप वाली बात अर्थात् रेखाचित्र मे एक व्यक्ति-चित्र-विषयक स्थापना बहुत पसद आयी और उसी पर बल देते हुए उन्होने कहा : 'रेखाचित्र जहा एक व्यक्ति की तसवीर रखता है, वहा कहानी व्यक्ति को समाज के ससर्ग मे अकित करती है, अतएव कहानी मे रेखाचित्र की अपेक्षा अधिक सामाजिकता होती है ।' मुझे ऐसा लगा कि अधिकारीजी सामाजिकता आदि शब्दो पर ज़ोर देकर बहस मे कुछ प्रगतिशील रग लाने की कोशिश कर रहे थे, पर विषय सर्वथा सैद्धातिक एव पारिभाषिक था, इसलिए उन्हे कुछ गुजाइश नही मिली ।

बहस यहां आकर समाप्त हो गई और अत मे नियमानुसार आरभिक वक्ता श्री दर से बहस का जवाब देने के लिए कहा गया । श्री दर अब भी अपनी बात पर जमे हुए थे; उन्होने प्राय. सभी विरोधी युक्तियो को अपने पक्ष मे प्रयुक्त करते हुए फिर अपनी स्थापना को दृढ किया । उन्होने कहा कि कहानी मे तथ्य-उद्घाटन, विश्लेषण आदि सभी हो सकते हैं और होते हैं, उसमे दो डायमेशन भी होते हैं और तीन भी । इसी तरह एक व्यक्ति-चित्र का होना भी उसके क्षेत्र से बाहर की चीज़ नही है; चरित्र-

प्रधान कहानियों में प्राय. एक व्यक्ति-चित्र पर ही फ़ोकस रहता है। रेखाचित्र को कहानी से अलग नाम और रूप देने की कोशिश बेकार है।

× × ×

घर जाकर सोचा कि देर करने से कदाचित् मन के चित्र इतने स्पष्ट न रहें, इसलिए खाना-वाना खाकर ही लिखने बैठ गया। सबसे पहले तो मिस्टर दर की स्थापना ही सामने आयी। इसमें संदेह नही कि आज कहानी की परिभाषा इतनी शिथिल हो गई है कि रेखाचित्र भी उसमे समा सकता है; फिर भी इन दोनो शब्दो का दो अर्थों में सप्रयोजन प्रयोग होता है, अतएव दोनों में अंतर अवश्य है। रेखाचित्र मे दो डायमेशन होते हैं एक लेखक और उसके एकात्मक विषय के बीच की संबंध-रेखा, और दूसरी इस संबद्ध रूप और पाठक के बीच की संयोजक रेखा। रेखाचित्र का विषय निश्चय ही एकात्मक होता है, उसमे एक व्यक्ति या एक वस्तु ही उद्दिष्ट रहती है। कहानी मे एक डायमेशन और बढ जाता है; यह अतिरिक्त डायमेशन विषय के अंतर्गत होता है। कहानी का विषय एकात्मक नही रह सकता, उसमे द्वैत भाव होना चाहिए; अर्थात् एक व्यक्ति अपने मे कहानी नही बन सकता। उसका अपने-आप मे होना कहानी के लिए काफी नही है; कहानी मे उसे दूसरे या दूसरो की सापेक्षता मे कुछ करना होगा; प्रेम करना होगा, वैर करना होगा, सेवा करनी होगी, कुछ करना होगा, अपने मे सिमट कर रह जाना काफी नही होगा, अपने से बाहर निकलना होगा। इस प्रकार कहानी का विषय एक बिंदु न होकर दो या अनेक बिंदुओं की संयोजक रेखा होती है। यही एक अतिरिक्त डायमेंशन है जो कहानी मे बढ जाता है। इसी रूप मे आप चाहे तो उसे रेखाचित्र की अपेक्षा अधिक गत्यात्मक कह लीजिए। यद्यपि यह शब्द स्थिति को स्पष्ट न कर उसे उलझाता ही है; क्योकि उपर्युक्त अर्थ की व्यंजना यह सीधी नही करता। इसीलिए पाठक को लगता है कि कहानी मे रेखाचित्र की अपेक्षा रस अधिक होता है; क्योकि द्वैत मे निस्सदेह ही अद्वैत की अपेक्षा अधिक रस है, और अंत मे इसीलिए रेखाचित्र को पढ़कर ऐसा लगता है कि जैसे बात अधूरी रह गई। उसमे जिज्ञासा की उद्‌बुद्धि मात्र होकर रह जाती है, इसके विपरीत कहानी मे उसकी परितृप्ति हो जाती है, क्योकि जहाँ रेखाचित्र में 'मैं' और 'तू' रहते हैं—मैं अर्थात् मूलतः लेखक और परिणामतः पाठक और 'तू' अर्थात्, विषय—वहा कहानी मे 'मैं', 'तू' और 'वह' का वृत्त पूरा हो जाता है।

भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र

[एक भूमिका]

भारतीय काव्यशास्त्र का आरंभ

यो तो भाव-प्रेरित वाणी के प्रथम स्फुरण के साथ ही कविता का, और बुद्धि की प्रथम क्रिया के साथ ही शास्त्र का जन्म मानना चाहिए परतु हम यहा कविता और शास्त्र के जिस रूप की विवेचना कर रहे हैं उसका आविर्भाव मानव-सभ्यता की अत्यत विकसित अवस्था मे और क्रमश हुआ। भारतीय आस्तिकता को जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति का मौलिक संबध अलौकिक शक्तियो से स्थापित करने का अभ्यास रहा है। प्रत्येक विद्या किसी-न-किसी प्रकार ब्रह्म अथवा उसके किसी रूप से उद्भूत हुई है—ऐसी उसकी आस्था रही है। राजशेखर ने काव्य-मीमासा मे साहित्यशास्त्र की उत्पत्ति का अत्यत रोचक वर्णन किया है। सरस्वती-पुत्र काव्य-पुरुष को ब्रह्मा की आज्ञा हुई कि वह तीनो लोको मे साहित्यशास्त्र के अध्ययन का विस्तार करे। निदान उसने सब से पूर्व अपने मानस-जात सत्रह शिष्यों के समक्ष इसका व्याख्यान किया और फिर इन ऋषियो ने शास्त्र को १७ अधिकरणों मे विभक्त कर अपने-अपने विषयो पर स्वतत्र रीति-ग्रंथ लिखे—

"कविरहस्य सहस्राक्ष समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भ., रीतिनिर्णयं सुवर्ण-नाभ, आनुप्रासिक प्रचेतायन, यमोयमकानि, चित्र चित्रागद:, शब्द-श्लेष शेष., वास्तवं पुलस्त्य, औपम्यमौपकायन, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्य, उभयालंकारिक कुबेर, वैनोदिकं कामदेव, रूपकनिरूपणीय भरत:, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वर, दोषाधिकारिकं धिषण, गुणौपादानिकमुपमन्यु, औपनिषदिक कुचुमारा—इति।" विद्वानो की राय है कि यह सूची अधिक विश्वसनीय नही है—वैसे भी कुछ नाम तो स्पष्टत संगति बैठाने को गढे गए मालूम पडते हैं। परतु कुछ नामो का उल्लेख अवश्य मिलता है—जैसे काम-सूत्र मे औपनिषदिक के व्याख्याता कुचुमार और साप्रयोगिक के व्याख्याता सुवर्णनाभ का उल्लेख है। रूपक या नाट्यशास्त्र पर भरत का ग्रंथ तो किसी-न-किसी रूप मे आज भी उपलब्ध है। नन्दिकेश्वर के नाम से कामशास्त्र, गीत, नृत्य और तंत्र-सबधी ग्रंथों का उल्लेख तो मिलता है—परतु रस पर उनका कोई ग्रथ प्राप्त नही है। इस प्रकार राजशेखर का यह काव्यमय वर्णन शास्त्र की उत्पत्ति का इतिहास जुटाने मे हमारी कोई सहायता नही करता।

भारतीय वाङ्मय का सर्वप्रथम रूप जो आज प्राप्त है वह है वेद, और उसमे ऋग्वेद प्राचीनतम है। ऋग्वेद की ऋचाओ में काव्य का जो विस्तृत वैभव मिलता है, वह इस बात का स्वतः प्रमाण है कि इतिहास के उस युग मे भारतीय चेतना काव्य की विभूतियो से पूर्णत. परिचित हो चुकी थी। इन छंदो के काव्य-गुण का विश्लेषण स्पष्ट कर देता है कि उनके स्रष्टाओं मे दिव्य-भाव की प्रेरणा चाहे जितनी रही हो परंतु वे वाणी की शक्ति और उसके शृंगार आदि का भी विशेष ध्यान रखते थे—और उनके प्रति सचेत भी थे। उदाहरण के लिए—

हिरण्यकेशा रजसो विसारेहि धुनिर्वातर अजीमान शुचि भ्राजा उषसो नवेदा...

—सुनहली अलको वाला वह अंधकार को दूर कर दिशाओ मे फैल जाता है, अहि के समान वात-सा गतिशील और सबकी कंपन का कारण वह आलोकशोभी ऊषा का ज्ञाता है।

सहस्रहण्यं वियतावस्य पक्षौ परेहंसस्य पतत. स्वर्गम्।

—आकाश में उड़ता हुआ वह उज्ज्वल हंस अपनो सहस्रो वर्ष की दीर्घ-यात्रा तक पंख फैलाये रहता है।

रथी कशयाश्वां अभिक्षिपन्ना विर्दूतान् कृणुते वर्ष्यां अह।

—विद्युत-कशाघात ले बादल रूपी अश्वो को चलाते हुए रथी वीर के समान वर्षा के देव उपस्थित हो गये हैं।

उपर्युक्त ऋचाओ मे उपमा, रूपक, श्लेष, समासोक्ति आदि का अपूर्व वैभव है—और वह घुणाक्षर न्याय से घटित नही है—स्पष्ट ही उसका स्रष्टा अपने वैदग्ध्य और वाक्शक्ति से अनभिज्ञ नही था।

यह तो हुआ काव्य का व्यवहारगत रूप, परंतु इसके अतिरिक्त वेदों में कुछ ऐसे संकेत भी बिखरे मिल जाते हैं जिनका संबंध विवेचन से है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद की वे ऋचाएं ली जा सकती हैं जो वाक् को संबोधन करके लिखी गई हैं—

अहं सुराष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।

—अर्थात् मैं राज्ञी हूं—निधियो का संग्रह करने वाली यज्ञियों (पूज्यो) मे प्रथम।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तुमग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।

—मैं स्वयं उस शब्द को उच्चरित करती हूं जो देवताओं और मनुष्यों को समान रूप से प्रिय है। जिस व्यक्ति से मैं प्रेम करती हूं, उसे मैं अत्यंत पराक्रमी, मेधावी, ऋषि और ब्राह्मण बना देती हूं।

उपर्युक्त दोनों ऋचाओ मे वाणी के महत्त्व का वर्णन है—और 'वाणी' से यहां तात्पर्य है कवि की वाणी (साधारण वाणी से भिन्न)। कवि की वाणी सर्वकाम्य है, उसके द्वारा वैभव की प्राप्ति होती है—मेधा और पराक्रम की प्राप्ति होती है—और उसका प्रयोक्ता ऋषि अर्थात् मंत्रद्रष्टा तथा ब्रह्मवेत्ता के गौरव का अधिकारी

होता है। काव्य के प्रयोजन का स्पष्ट उल्लेख है इन पंक्तियो मे। यहां काव्यप्रकाश के 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये···' का संकेत ढूढना क्लिष्ट कल्पना नही होगी। आप देखिए मम्मट का 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' वेद की ऋचाओ मे कितना ठीक उतरा है।

इनके अतिरिक्त वेदो में नृत्य, गीत, छंद का सम्यक् विवेचन पृथक् रूप से भी मिलता है। छंद तो वेद के षडंगो मे से एक स्वतंत्र अंग ही है—उधर 'उपमा' शब्द का भी प्रयोग वहा अनेक स्थलो पर हुआ है। वेदो के उपरात ब्राह्मण ग्रथ आदि का विषय सर्वथा भिन्न है—अतएव उनमे इस प्रकार के विशेष सकेत नही हैं।

वैदिक काल के उपरांत महाकाव्य-काल आता है और आदिकवि के प्रथम उद्‌गार की वह प्रसिद्ध कथा अपनी सपूर्ण मनोवैज्ञानिक सभावनाओ के साथ हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। वैसे तो रामायण के बालकाड मे नव रसो का स्पष्ट उल्लेख भी है[1]—पर उसको प्रायः आज प्रक्षिप्त ही माना जाता है। किंतु प्रथम उच्चार की यह कथा काव्य की मूल प्रेरणा का अत्यंत भव्य व्याख्यान है—

निशम्य रुदती क्रौञ्चीमिदं वचनमब्रवीत् ॥
मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समा।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी. काममोहितम् ॥

उपर्युक्त काव्य-स्फुरण से स्वयं वाल्मीकि को आश्चर्य हुआ—परंतु बाद मे घटना का पर्यालोचन करने के उपरात वे इस निश्चय पर पहुंचे—

शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोकः भवतु नान्यथा।

अर्थात् मेरे शोकार्त मन का यह उच्चार कविता के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। शताब्दियो पश्चात् आनंदवर्द्धन और अन्य आचार्यों ने वाल्मीकि के इस वक्तव्य को रस और ध्वनि सिद्धात की प्रथम स्वीकृति घोषित किया। श्रीयुत शंकरन ने उपर्युक्त श्लोको का तत्त्व-विश्लेषण करते हुए उसमे रस-सिद्धात का निर्वाह करने का प्रयत्न किया है—"आहत क्रौंच का रक्तस्नात शरीर और क्रौंची का रुदन, जिसका कि ऋषि ने स्वयं साक्षात्कार किया था, प्रत्यक्ष अनुभव के क्षेत्र से आगे बढकर कल्पना के क्षेत्र मे पहुच गए—और वहा उन्होने विभाव और अनुभाव रूप में उपस्थित होकर ऋषि के मन की करुणावृत्ति को जाग्रत कर उस चरम स्थिति तक पहुचा दिया जिसमे कि उनकी वैयक्तिक चेतना सर्वथा लुप्त हो गई—केवल एक तीव्र करुणाविगलित मानसिक एकाग्रता-मात्र शेष रह गई, जो अत में एक प्रकार के अनिर्वचनीय आनद अर्थात् रस मे परिणत हो गई।"—शंकरन महोदय का यह मत संस्कृत रसशास्त्र से मेल नही खाता क्योंकि एक तो यहा प्रत्यक्ष स्थिति से ही रस का परिपाक सिद्ध होता

१. पाठ्ये गेये च मधुर च प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभि सप्तभिर्युक्त, तन्त्री-लय-समन्वितम्।
रसैः शृगारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः।
वीरादिभी रसैर्युक्त काव्यमेतद् गायताम्।

है, जो शास्त्र को मान्य नहीं है—दूसरे, काव्य के सर्जन मे ही कवि को रस-भोक्तृत्व प्राप्त हो जाता है जिसको शास्त्र ने कम-से-कम वैध रूप मे स्वीकृत नही किया। फिर भी इसमे संदेह नही है कि इन पंक्तियो मे वाल्मीकि की सूक्ष्म आलोचना-शक्ति का आभास तो मिलता ही है—साथ ही काव्यशास्त्र के निम्नलिखित कतिपय मूल सिद्धातो के संकेत भी स्पष्ट रूप से मिल जाते हैं :

१. काव्य की मूल प्रेरणा भावातिरेक है—
(सैद्धातिक शब्दावली मे काव्य की आत्मा भाव या रस है।)
२. काव्य अपने मूल रूप मे आत्माभिव्यक्ति है।
३. कवि रस-स्रष्टा होने से पूर्व रस-भोक्ता है।
४. भावोच्छ्वास और छद का मूलगत सबंध है।

महाकाव्यो के उपरांत व्याकरण, दर्शन आदि का निर्माण हुआ। यद्यपि इन दोनो शास्त्रों का काव्यशास्त्र से सीधा संबध नही है, फिर भी काव्यशास्त्र के अनेक सिद्धातो का आधार इनसे ही ग्रहण किया गया है।

भारत का व्याकरणशास्त्र जितना प्राचीन है, उतना ही समृद्ध भी। उसे तो वास्तव मे भाषा का दर्शन कहना चाहिए। व्याकरण के आदि ग्रंथ हैं निरुक्त और निघण्टु। यास्क ने वैदिक उपमा का विवेचन करते हुए उसके कुछ प्रकारो का विवरण दिया है—जैसे 'भूतोपमा', जिसमें उपमित उपमान बन जाता है, 'रूपोपमा,' जिसमे उपमित और उपमान का रूप-साम्य होता है; 'सिद्धोपमा', जिसमे उपमान सर्व-स्वीकृत और सिद्ध होता है; रूपक की समानार्थी 'लुप्तोपमा' या 'अर्थोपमा', जिसमे साम्य व्यक्त न होकर अव्यक्त ही होता है। पाणिनि के समय तक उपमा का स्वरूप निर्धारित हो चुका था और उसने 'उपमित', 'उपमान', 'सामान्य' आदि का स्पष्ट प्रयोग किया है। पाणिनि के उपरात पातंजलि का महाभाष्य भी इन रूपो की सम्यक् व्याख्या करता है। वास्तव मे व्याकरणशास्त्र हमारे काव्यशास्त्र का मूलाधार है—वाणी के अलकरण के जो सिद्धात काव्यशास्त्र मे स्थिर किये गये, उन पर व्याकरण के सिद्धातो का स्पष्ट प्रभाव है। भामह, आनदवर्द्धन जैसे आचार्यों ने अपने ग्रथो मे व्याकरण की स्थान-स्थान पर सहायता ली है। ध्वनि का प्रमुख सिद्धांत भी मूलतः व्याकरण के 'स्फोट' से लिया गया है।

व्याकरण के उपरात काव्यशास्त्र का दूसरा आधार दर्शन भी है—काव्यशास्त्र के कतिपय प्रमुख सिद्धातो का सीधा संबंध विभिन्न दार्शनिक सिद्धातो से है—उदाहरण के लिए, शब्द की तीन शक्तियो—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना का संकेत न्यायशास्त्र के शब्द-विवेचन मे मिलता है—नैयायिको के अनुसार अभिधार्थ से व्यक्ति, जाति और गुण तीनो का बोध हो जाता है। उन्होने शब्दार्थ को गौण, भाक्त, लाक्षणिक और औपचारिक आदि अर्थो मे विभक्त किया है। आगे शब्द-प्रमाण के संबध से न्याय और मीमासा दोनो में शब्द और वाक्य का वर्गीकरण और अर्थवाद आदि का सूक्ष्म विवेचन मिलता है। वास्तव मे न्याय और मीमांसा के विवेचन को व्याख्यात्मक आलोचना का उद्गम समझना चाहिए। इसी प्रकार व्यंजना द्वारा अभि-

व्यक्ति का सिद्धात साख्य के परिणामवाद से असंपृक्त नही है, जिसके अनुसार सृष्टि का आशय एक नवीन पदार्थ का उत्पादन नही, अभिव्यक्ति ही है। वास्तव मे कार्य कारण मे ही सन्निहित रहता है—वह सृजन नही है वरन् अभिव्यक्ति ही है। इससे भी स्पष्ट है कि वेदातिको का मोक्ष-सिद्धात जिसके अनुसार आनद या मोक्ष बाहर से प्राप्त नही होता, वह तो आत्मा का ही शुद्ध-बुद्ध रूप है जो माया का आवरण हट जाने के बाद स्वत: आनदमय रूप मे अभिव्यक्त हो जाता है। परतु उपर्युक्त विवेचन बहुत-कुछ अनुमान पर आश्रित है—इससे काव्यशास्त्र की उत्पत्ति के कोई निश्चित सिद्धांत स्थिर नहीं हो पाते।

निदान, काव्यशास्त्र का वास्तविक आरभ हमे दर्शन और व्याकरण के मूल ग्रथो के रचनाकाल के बहुत बाद का मालूम पडता है। डॉ० सुशीलकुमार डे, प्रो० काणे आदि विद्वानो का मत है कि ईसा की पहली पाच शताब्दियो मे ही उसका जन्म माना जा सकता है। शिलालेखो की काव्यमयी प्रशस्तिया, अश्वघोष और भास के ग्रंथ, बाद मे, कालिदास का अलकृत काव्य सभी इसकी ओर सकेत करते हैं। भरत के नाट्यशास्त्र का मूल रूप तो स्पष्टत. ही इसी काल की अत्यत आरंभिक रचना है। इतिहासज्ञ उसका रचनाकाल ईसा की पहली शताब्दी के आस-पास स्थिर करते हैं। भरत ने कृशाश्व और शिलालिन के नामो का उल्लेख किया है—उधर भामह ने मेधाविन्, और दंडी ने कश्यप आदि का, परंतु अभी तक इनके ग्रथ उपलब्ध नही हैं, अतएव इनके विषय मे चर्चा करना व्यर्थ है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आरंभ

पाश्चात्य साहित्य का प्राचीनतम रूप होमर का काव्य है। होमर का समय ईसा-पूर्व आठवीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है। उनका विभूतिमान काव्य न केवल अपने स्रष्टा की काव्य-प्रतिभा का ही, वरन् उसके युग के रुचि-संस्कार का भी परिचायक है। काव्य-प्रतिभा के अतर्गत भाव-वैभव के साथ आलोचन-शक्ति भी आती है। इलियड और ओडीसी की कविता का अभिव्यजना-वैभव होमर की काव्यालोचन-शक्ति का असंदिग्ध प्रमाण है, परंतु प्रत्यक्षत: कही भी उन्होने सिद्धात-विवेचन प्रासंगिक रूप से भी नही किया। होमर के अध्येताओ ने केवल एक ऐसा स्थल खोज निकाला है जिसमें काव्यशास्त्र के कुछ विशिष्ट सिद्धातो का पूर्व-सकेत मिल जाता है :

Bid hither [Says Alcinous] the divine ministrel Demodocus for the god hath given ministrelsy to him as to none other to make man glad in what way so ever his spirit stirs him to sing

[Odyssey VIII, 4345 trans.]

—"हे डेमोडोकस, उस दिव्य-प्रतिभाशाली कवि को यहा बुलाओ, देव ने जैसी काव्यशक्ति उसे दी है, वैसी दूसरे को नही दी—जिस रीति से भी उसकी आत्मा उसे

गाने के लिए प्ररित करती है, वह उसी रीति से मनुष्यो का मन प्रसादन कर सकता है।"

उपर्युक्त पंक्तियो से निम्नलिखित मूल सिद्धांतों पर प्रकाश पडता है :

१. कविता का उद्रेक दैवी प्रेरणा से होता है—अर्थात् कविता के लिए पहला अनिवार्य गुण है दैवी प्रतिभा, जिसे अन्यत्र 'शक्ति' आदि भी कहा गया है।

२. कविता का प्रयोजन आनंद है, शिक्षण नही।

होमर के महाकाव्यो के उपरांत यूनानी नाटको का युग आता है। इस युग के आरंभ से लेकर ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी तक अनेक हास्य-नाटको की सृष्टि हुई। उनमें जीवन की प्राय सभी वस्तुओ को हास्य का आलंबन बनाया गया है। फिर साहित्य जैसा विषय, जिसमे रुचिवैचित्र्य तथा मतभेद के साथ पारस्परिक स्पर्धा के लिए भी असीम क्षेत्र था, किस प्रकार अछूता रह जाता ? दुर्भाग्य से इस युग का अधिकाश साहित्य आज अप्राप्य है, परतु शीर्षको आदि के उल्लेखो से, जो परवर्ती साहित्य मे मिलते हैं, उनके वर्ण्य विषय पर यथेष्ट प्रकाश पडता है। उदाहरण के लिए उनके शीर्षक हैं—कविता, कवि, सैफो, रिहर्सल इत्यादि। इनके वर्ण्य विषय और आलंबन आदि का सीधा संबध साहित्य से है—अतएव निश्चय ही उनमे तत्कालीन साहित्य और कला-रुचि का उपहास किया गया होगा। वास्तव मे यूनानी राजनीति, आचार और साहित्य आदि सभी क्षेत्रो मे स्वभाव से पुरातन-प्रिय थे—उनमे नवीन आदर्शों और मूल्यों के प्रति एक विशेष उपहास और घृणा का भाव वर्तमान था। उसी के परिणामस्वरूप इन हास्यनाटको मे भी नवीन भावधारा और अभिव्यंजना आदि का उपहास किया गया है। इस साहित्य मे से केवल एरिस्टोफेनीज के ग्यारह नाटक आज प्राप्त हैं—इनमे एक है 'फ्राग्स' (मेढक)। इस नाटक मे यूनान के दो प्रसिद्ध नाटककार एस्काइलस और यूरिपाइडीज मे एक विस्तृत साहित्यिक विवाद चलता है जिसमे वे एक-दूसरे के नाटको की पहले राजनीतिक और नैतिक दृष्टि से, और फिर कला और शैली आदि की दृष्टि से तीखी आलोचना करते हैं। काव्यशास्त्र की दृष्टि से यह आलोचना अपना विशेष महत्त्व रखती है—इसमे सैद्धातिक और व्यावहारिक दोनों ही प्रकार की आलोचना के स्पष्ट सकेत मिल जाते हैं। एस्काइलस महान् कथा-वस्तु और महान् शैली के सिद्धात का मानने वाला है—वह विषय और शैली की विशिष्टता का समर्थक है—एक विशेष धरातल से नीचे उतरकर साधारण नित्य-प्रति के जीवन का साधारण व्यावहारिक शैली मे चित्रण करना, उसकी दृष्टि मे, साहित्य की महत्ता को खडित करते हुए उसे सस्ता और घटिया बना देना है। विषय और शैली का सहज और अनिवार्य सबंध है—विषय और भाव की गुरुता से वाणी भी अनिवार्यत: गुरु-गंभीर हो जाती है :

When the subject is great and the sentiment, then, of necessity great grows the word.

इसके विपरीत यूरिपाइडीज प्राचीन काव्यादर्शों के प्रति विद्रोह करता हुआ विषय तथा भाषा दोनों की व्यावहारिकता और ताजगी का पक्ष लेता है :

I put things on stage that come from daily life of business.

अर्थात् मैं अपने नाटको मे उन बातो का चित्रण करता हूं जिनका सीधा संबध नित्य-प्रति के जीवन और कार्य-व्यवहार से है :

इसी तरह—

Oh ! Let us at least use the language of men !

—आह, हमे कम-से-कम मनुष्यो की भाषा तो बोलने दो।

उपर्युक्त उदाहरणो मे, आप देखिए, काव्यशास्त्र का एक अत्यत मौलिक प्रश्न उठाया गया है। काव्य के विषय और शैली साधारण होते हैं अथवा असाधारण और विशिष्ट ? वास्तव मे यहा साहित्य के प्राचीन और आधुनिक मूल्यो का सघर्ष अत्यत स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त किया गया है, और नाटककार ने एस्काइलस के मुख से अत्यत सशक्त वाणी मे जो अपना निर्णय दिया है वह आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण और विवादास्पद बना हुआ है। उसके दो भाग किए जा सकते हैं·

१. काव्य-वस्तु और काव्य-भाषा का अनिवार्य सबध है।

२. काव्य की वस्तु और काव्य की भाषा अनिवार्यत असाधारण ही होती है।

एरिस्टोफेनीज़ की आलोचना का महत्त्व केवल वैयक्तिक ही नही वरन् सामाजिक भी है—उनके नाटको से तत्कालीन समाज के साहित्यिक धरातल और आलोचनात्मक शक्ति पर भी प्रकाश पडता है। उस समय, जैसा कि कुछ शताब्दियो पश्चात् भारतीय समाज मे भी हुआ, काव्य-रुचि और काव्य-ज्ञान एक प्रकार से सामाजिक व्यक्तित्व के अलकार समझे जाते थे—गोष्ठी मे सम्मान प्राप्त करने के लिए उनकी अनिवार्य आवश्यकता होती थी। दूसरे, उस समय एक लाक्षणिक अर्थवती आलोचनात्मक शब्दावली का प्रचार हो चला था—उदाहरण के लिए 'सृजनशील कवि', 'कार्य के चित्रण मे अस्पष्ट' आदि-आदि। कहने की आवश्यकता नही कि इनमे एक विचित्र लाक्षणिक नवीनता है—जैसी की रोमानी आलोचना मे बीसियो शताब्दी बाद जाकर मिली।

एरिस्टोफेनीज़ के कुछ और सहयोगियो के नाटको मे भी इस प्रकार के सकेत मिलते हैं, परतु वे सख्या और महत्त्व दोनो की ही दृष्टियो से विशेष उल्लेखनीय नही हैं।

इनके उपरात ईसा-पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी मे प्लेटो, अरस्तू आदि दार्शनिको ने तथा डायोनीसियस और लोजाइनस जैसे आलकारिको ने इस प्रश्न को अत्यत गभीरतापूर्वक ग्रहण कर लिया, और वही से पाश्चात्य काव्यशास्त्र का क्रमबद्ध विकास आरभ हो गया।

दृष्टिकोण

भारतीय और पश्चिमी काव्यशास्त्रो मे आधारभूत समानता यह मिलती है कि आरंभ से ही इन दोनो का दृष्टिकोण ऐहिक रहा है। भारतवर्ष मे जीवन के सभी

शास्त्रो पर अध्यात्म का इतना गहरा प्रभाव रहा है कि यह कल्पना सहज ही बंध जाती है कि वह काव्य जैसे गंभीर जीवन-तत्त्व का भी आध्यात्मिक व्याख्यान ही करेगा। परंतु हम देखते हैं कि आरंभ से उसने काव्य को लोकोत्तर कहते हुए भी आध्यात्मिक नही माना है। पश्चिम में, बल्कि, आरंभ में प्लेटो आध्यात्मिक आनंद और काव्यानंद के बीच का अंतर स्पष्ट अनुभव नही कर पाया, और उसने दोनो के बीच मे काफी भ्राति पैदा कर दी। परतु बाद मे, वहां भी इस त्रुटि का शीघ्र ही सशोधन हो गया और निर्भ्रान्ति रूप से काव्य को अध्यात्म से पृथक् रखा गया।

आगे चलकर दोनों मे एक विशेष अतर दिखाई देने लगा—वह यह कि पश्चिम मे काव्य की गणना कला के अंतर्गत की जाने लगी; परंतु इधर भारतीय दृष्टि ने कला और काव्य को सदैव पृथक् रखा। कला को हमारे यहा हीनतर विद्या माना गया—उसके सृजन मे शिक्षा और उसके प्रयोजन मे मनोरंजन का प्राधान्य रहा—इसके विपरीत काव्य के लिए दिव्य प्रेरणा और गभीर परिष्कृत आनद को अनिवार्य माना गया। उधर पश्चिम मे काव्य का अतर्भाव पंचकलाओ मे किया गया।

लेकिन वहा कला का स्तर अपेक्षाकृत ऊंचा माना गया है—उसके लिए मानसिकता अनिवार्य मानी गई है और उसी के आधार पर कलाओ का कोटि-क्रम स्थिर किया गया है। काव्य को वहा श्रेष्ठतम कला मानते हुए उसका स्तर अत्यंत ऊचा रखा गया है। इस प्रकार कला के अतर्गत गणना करके विदेशी काव्यशास्त्र ने साहित्य के गौरव की कोई हानि नही की, जैसा कि आचार्य शुक्ल ने अपने एक निबध मे सकेत किया है। वास्तव मे भारत और पश्चिम के आचार्य ने कला का जो स्वरूप स्थिर किया उसमे ही अतर है। भारत ने जहां कला का संबंध स्थूल शिल्प-गुण और मनोरंजन से मानते हुए उसको हीन पद दिया, वहा पश्चिम ने मानसिकता को ही कला का मूल और अनिवार्य तत्त्व मानते हुए उसे अधिक गौरव दिया—उससे कला के दो वर्ग किए—ललित कला और उपयोगी कला। भारत मे जिन क्रियाओ को कला माना गया है उन्हें यूरोप मे उपयोगी कलाओ के अंतर्गत ग्रहण किया गया है। कहने का तात्पर्य है कि दोनो काव्यशास्त्रो के दृष्टिकोण का यह अंतर सतह का ही है—मूलगत नही है। दोनो ने समान रूप से काव्य की मूल आत्मा और उसके स्तर को अत्यत

टिप्पणी—परतु इसका अर्थ यह नही है कि काव्य मे ऐंद्रियता का स्वच्छद विहार शास्त्र-सम्मत था, उस पर किसी प्रकार का नैतिक नियत्रण नही था। नही, नीति और धर्म की मर्यादा का दोनो काव्यशास्त्रो ने उचित सम्मान किया है—काव्य का आनद यदि अनीति और असयम से प्राप्त होता है, तो उसकी निंदा की गई है—यो कहना चाहिए कि काव्यानद का जो स्वरूप स्थिर किया गया है उसमे नैतिकता का भी अतर्भाव है। भारतीय काव्यशास्त्र मे अनैतिक आनद को रसाभास कह कर दूषित माना गया है। परतु फिर भी एक बात जो विशेषत मन को प्रभावित करती है वह यह है कि नैतिकता या धर्म को कहीं भी काव्य-गुण की कसौटी नहीं बनने दिया और न किसी अन्य रूप मे ही उसे उसके ऊपर हावी होने दिया है। उसका प्राण तो आनद ही है, नैतिकता इसी का आनुषगिक तत्त्व-मात्र है। इस मुख्य सिद्धात को लेकर समय-समय पर वाद-विवाद हुआ है—फिर भी इसका महत्त्व अक्षण्ण ही बना रहा। काव्य में नैतिकता कभी आनद को स्थानातरित नही कर सकी।

उच्च और असाधारण माना है—जो कुछ अंतर है, वह वास्तव मे कला की परिभाषा और धरातल मे ही है।

क्षेत्र-विस्तार

काव्यशास्त्र के दो भाग हैं—एक काव्य-दर्शन, दूसरा काव्य-रीति। काव्य-दर्शन के अतर्गत काव्य का स्वरूप, काव्य का प्रयोजन, काव्य की अनुभूति, रस का स्वरूप, काव्य की मूल प्रेरणा, काव्य के स्रष्टा की मन स्थिति एव सृजन-प्रक्रिया, भोक्ता (सहृदय) की मन स्थिति एव भोग-प्रक्रिया, रस की स्थिति, काव्य के मूल तत्त्व आदि आधारभूत प्रश्न आते हैं, और काव्य-रीति के अतर्गत शैली के तत्त्व, प्रकार —भाषा, अलकार, छंद आदि का विवेचन आता है। यूरोप मे सबसे पहले प्लेटो और अरस्तू सदृश दार्शनिको ने ही जीवन के अन्य शास्त्रो तथा विद्याओ के साथ-साथ काव्यशास्त्र को भी गभीरतापूर्वक ग्रहण किया। प्लेटो ने मुख्यतया काव्य के प्रयोजन अर्थात् नैतिक प्रभाव को अपने विवेचन का विषय बनाते हुए उसके स्वरूप के विषय मे भी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यो का निर्देश किया। उन्होने काव्य की अनुभूति को ऐंद्रिय मानते हुए उसे समाज के लिए हानिकारक बताया—जिसका उत्तर शताब्दियो बाद प्लोटीनस ने दिया। प्लेटो ने सत्य को काव्य की कसौटी माना और तत्कालीन नाटकों तथा अन्य साहित्य को सत्य की अनुकृति कहकर हेय घोषित किया। इस प्रकार प्लेटो ने काव्य का प्रयोजन, काव्यानुभूति का स्वरूप, काव्य का मूल-तत्त्व आदि काव्य-दर्शन के अनेक प्रश्नो पर विचार किया। प्लेटो के उपरात अरस्तू ने भी अपने गुरु के आक्षेपो का उत्तर देते हुए उपर्युक्त समस्याओ का विस्तृत तथा गहन विवेचन किया है। उन्होने प्लेटो के अनुकृति शब्द को ग्रहण करते हुए उसके वास्तविक अर्थ की व्याख्या की है और अंत मे उसे ही काव्य का मूल रूप माना है। इसके अतिरिक्त एक और महत्त्व-पूर्ण प्रश्न उन्होने उठाया है : वह यह कि दु:खात नाटक द्वारा आनद की उपलब्धि किस प्रकार होती है ? इसी के उत्तर मे उन्होने अपने प्रसिद्ध विरेचन[1] सिद्धात का प्रतिपादन किया है। अरस्तू ने काव्यशास्त्र के दूसरे अग काव्य-रीति का भी समुचित विवेचन किया है—अपने प्रसिद्ध ग्रथ 'पोयटिक्स' मे उन्होने विशेषकर दु खात नाटक और सामान्यत. महाकाव्य आदि के अगाग—वस्तु, पात्र, भाव (रस) तथा शैली आदि का विस्तार-व्याख्यान किया है; और उधर अलकारशास्त्र पर एक स्वतत्र ग्रथ ही लिखा है। दार्शनिको के इस तात्त्विक विवेचन के उपरात अलकारशास्त्रियो के अनेक ग्रथो की एक विस्तृत सूची मिलती है। इन अलकार-ग्रथो मे भाषा और भाषण को प्रभावशाली बनाने और सजाने वाली विभिन्न रीतियो का विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन किया गया है। इनके प्रतिपाद्य के अतर्गत अलकार, शैली के तत्त्व, शैली के प्रकार, शब्द-चयन, वाक्य-सगठन, लय, छद आदि का विवेचन-विश्लेपण है। शैली का वर्णन करते हुए डेमेट्रियस ने उसके चार भेद किये हैं—ऐलीगेण्ट (सुदर), प्लेन (स्पष्ट),

१. Catharsis

फोर्सिबिल (ओजस्वी) और ऐलीवेटेड (उदात्त)। ये भेद बहुत कुछ अपने काव्यशास्त्र के माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुणो से मिलते-जुलते है। लोजाइनस ने 'उदात्त' पर एक पृथक् निबध ही लिखा है। पश्चिम के इतिहासकार उसे पहला रोमानी आलोचक मानते हैं। ग्रीक के बाद लेटिन और फ्रेंच मे काव्य-रीति का विस्तृत विवेचन हुआ। परतु इन आचार्यो ने कोई नवीन मौलिक उद्भावनाए नही की—इनके विवेचन की सरणिया वे ही रही।

भारतीय काव्यशास्त्र की परिधि और भी विस्तृत है। काव्य-दर्शन के अतर्गत हमारे आचार्यो ने मुख्यत॰ काव्य का स्वरूप और परिभाषा, काव्य की आत्मा, काव्य के अग, प्रयोजन, हेतु, काव्य की अनुभूति (रस) का स्वरूप, रस के कारण (विभाव), कार्य (अनुभाव), स्थायी और सचारी भाव, रस की स्थिति आदि मूलभूत तथ्यो का गभीर विवेचन किया है। अनेक आचार्यो ने मीमासा, साख्य, वेदात आदि दर्शनो की भी सहायता लेकर रस-भोक्ता (सहृदय) के मन का अत्यंत सूक्ष्म विश्लेषण किया है। काव्य-रीति के क्षेत्र मे तो मेरी धारणा है कि उन्होने कुछ भी नही छोडा। वस्तु, पात्र के अनेकश. भेद, शैली के अनेक प्रकार, गुण, दोष, शब्द-शक्तिया, अलकारो के अगणित रूप, छंदो के शत-शत प्रस्तार पूरे विस्तार के साथ दिए हुए हैं। जहा तक विस्तार का संबध है, भारतीय आचार्य अपराजेय है—यूरोप का अलकारशास्त्र भारत के अलकारशास्त्र की तुलना मे अत्यत निर्धन है।

पश्चिमीय और भारतीय काव्यशास्त्रो के प्रतिपाद्यो मे विचित्र समताएं और विषमताए मिलती हैं।

समता

पश्चिम मे काव्य के तीन तत्त्व माने गए हैं—वस्तु (मैटर), शैली (मैनर) और आनद देने की शक्ति (कैपेसिटी टू प्लीज)। बाद मे आनद की व्याख्या की गई और एडीसन का सकेत ग्रहण करते हुए आनद का अर्थ हुआ कल्पना का आनद। इस बात को दूसरे प्रकार से भी कुछ व्याख्याताओ ने लिखा है—उन्होने वस्तु का भी विश्लेषण कर डाला— वस्तु=भाव और विचार, और इस प्रकार काव्य के तत्त्व हुए भाव, विचार, कल्पना और शैली, अर्थात् राग-तत्त्व, बुद्धि-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व और शैली। भारतीय काव्यशास्त्र मे काव्य-तत्त्वो के प्रसग मे आचार्यों ने एक रूपक बाधा है—जिसके अनुसार रस (या ध्वनि) काव्य-पुरुष की आत्मा है, शब्दार्थ शरीर है, माधुर्य आदि गुण अतरग गुण हैं, वैदर्भी आदि रीति अग-सस्थान है, और उपमादि अलकार आभूषण है। यहा रीति और अलंकार शैली के अग है—अतएव उनके स्थान पर शैली शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। गुण की स्थिति थोडी-सी विचित्र है—तत्त्व-रूप में तो उसे आत्मा अर्थात् रस की विशेषता माना गया है—परतु व्यवहार रूप मे शैली के प्रमुख अंग के रूप मे ही उसका प्रयोग हुआ है। अर्थ से तात्पर्य वस्तु (मैटर) का ही है। रस पर्याय है आनंद का, यह आनंद लौकिक या ऐंद्रिय नही है, कल्पना का ही आनंद है। इसी बात पर जोर देने के लिए आचार्यो ने रस की अपेक्षा ध्वनि को अधिक

महत्त्व दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य के तत्त्व दोनो शास्त्रो मे लगभग एक ही हैं—जिसे यूरोप के आचार्यो ने वस्तु कहा है—हमारे यहां भी अर्थ, वस्तु आदि अनेक नामो मे उसका वर्णन है, और जिसे वहां शैली या रीति कहा है, वह यहा भी 'रीति' आदि के रूप मे स्वीकृत है। आनंद देने की शक्ति, और स्पष्ट शब्दो में—कल्पना को आनंद देने की शक्ति बिल्कुल वही चीज है जो हमारा रस या रस-ध्वनि है—और जिस तरह हमारे यहा उसे काव्य की आत्मा माना गया है, उसी तरह वहा भी उसे प्रमुख तत्त्व माना गया है। इसमें सदेह नहीं कि कल्पना शब्द का प्रयोग हमारे यहा कही भी नही हुआ, परतु इससे उसके विषय मे अनभिज्ञता प्रकट नहीं होती। विभाव, अनुभाव और सचारी आदि की सृष्टि और फिर उनका सयोग, जिससे कि रसनिष्पत्ति होती है, कल्पना की ही क्रियाएं हैं। परतु कल्पना शब्द का प्रयोग न कर यहा भावन शब्द का प्रयोग किया गया है।

शैली और उसके तत्त्वो तथा भेदो मे भी दोनो शास्त्रों मे यथेष्ट समानता मिलती है। इसका कारण यह है कि शैली के पीछे मनोविज्ञान का दृढ आधार रहता है, और मनोविज्ञान देश-काल के बंधनो को एक सीमा तक ही स्वीकार करता है। शैली के तत्त्वों मे गुण, दोष और अलकार आते हैं—गुण उसके नित्य तत्त्व हैं और अलकार अनित्य तत्त्व। शैली की मूल प्रेरणा है अपने वक्तव्य को प्रभावशाली बनाने की भावना—उसके लिए वक्ता जिन विधियो का प्रयोग करता है वे ही यूरोप तथा हमारे देश के रीतिशास्त्र मे भिन्न नामो से पुकारी गई हैं। नामो मे भिन्नता चाहे कितनी हो, परंतु कम-से-कम प्रमुख विधियो की कल्पना दोनो शास्त्रो मे एक ही प्रकार से की गई है। उदाहरण के लिए, भारत के माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि यूरोप के ऐलीगेंट, फोर्सिबिल, और प्लेन हैं। यद्यपि संख्या-विस्तार की दृष्टि से भारतीय अलकार यूरोपीय अलंकारो से कई गुने हैं, परतु मूल अलंकार एक प्रकार से समान ही हैं. हमारे उपमा, रूपक, अत्युक्ति, विरोधाभास, वक्रता-मूलक अलकार श्लेष, यमक आदि पश्चिम के सिमिली, मैटाफ़र, हाइपरबोल, ऑक्सीमारन, इनुएंडो आदि के ही समानार्थक एवं समानधर्मी हैं। इसी प्रकार मूल दोष भी नाम-भेद से प्रायः एक ही हैं। शैली के तत्त्वो मे शब्द भी आते हैं। यूरोप के साहित्यशास्त्र मे शब्द-चयन पर बडा बल दिया गया है। वहा के अनेक प्रसिद्ध कलाकारो ने शब्द-चयन के लिए अत्यंत कठोर तपस्या की है। शब्द के प्रचलित अर्थ—लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ आदि की भी उनको सूक्ष्म परख थी—परतु फिर भी शब्द-शक्ति का जैसा विवेचन हमारे यहा हुआ है वैसा विदेश मे नही हुआ। संस्कृत आचार्यो का अभिधा, लक्षणा, व्यंजना तथा तात्पर्य का व्याख्यान अद्भुत है। यूरोप के काव्यशास्त्र में वास्तव मे यह हुआ है कि इनका अलग अस्तित्व न मानकर इन पर आश्रित अलंकारो की पृथक् उद्भावना की गई है। मेटोनिमी, सिनक्डकी, ट्रासफर्ड ऐपीथेट (विशेषण-विपर्यय), परसोनीफिकेशन (मानवीकरण) इनुएंडो (व्यंग्योक्ति), यूफ्यूमिज्म आदि अलकार लक्षणा और व्यंजना के ही उद्भव हैं।

अंतर

उपर्युक्त समानताओ के साथ-साथ इन दोनो काव्यशास्त्रो मे दृष्टिकोण का एक गंभीर आधारभूत अंतर है जो इस विशाल अंतराल के लिए उत्तरदायी है। भारतीय काव्यशास्त्र मे जहा रसभोक्ता सहृदय के मन का विश्लेषण है—और उसी को दृष्टि मे रखते हुए काव्य की मूलभूत समस्याओ को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है, वहा पाश्चात्य काव्यशास्त्र में रसस्रष्टा साहित्यकार की मानसिक प्रक्रिया का परीक्षण किया गया है और काव्य के प्राय' सभी तात्त्विक प्रश्नो को उसी के सबंध मे हल करने की चेष्टा की गई है। दोनो की काव्य-परिभाषाएं इसका रोचक प्रमाण है। यूरोप मे काव्य को जहा जीवन की (१) अनुकृति, (२) आलोचना, (३) भाव-स्मरण[1] आदि कहा गया है, वहा कहने वाले की दृष्टि कवि पर ही केंद्रित रही है—इसके विपरीत हमारे यहा जब उसे रसात्मक वाक्य, रमणीयार्थ प्रतिपादक आदि कहा गया है, तब कहने वाले का ध्यान सहृदय की ओर ही रहा है, जैसा कि मम्मट की काव्य-परिभाषा[2] से अत्यत स्पष्ट हो जाता है। काव्य के प्रति भारतीय दृष्टिकोण अव्यक्तिगत रहा है। कवि के विषय मे यहां शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीनो गुणों के अतिरिक्त और किसी बात की विशेष चर्चा ही नही है। इसके विपरीत पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य या साहित्य का वैयक्तिक रूप ही सामने रहा है—वहा कृति की आलोचना करते हुए कर्त्ता को नही भुलाया गया। इसलिए वहा आरंभ से ही व्यावहारिक आलोचना का प्राचुर्य रहा है, जबकि भारत मे अभी कुछ वर्ष पहले तक उसका एक प्रकार से अभाव ही था। हमारे प्राचीन काव्यशास्त्र मे रोमानी व्यक्तिवादी आलोचना का सर्वथा अभाव है—शैली, रस, सभी काव्य-तत्त्वो का विवेचन इस प्रकार किया गया है जैसे उनकी सृष्टि मे कवि के व्यक्तित्व का कोई भी हाथ न हो, वे केवल यांत्रिक सृष्टियां-मात्र हो। इसी मुख्य भेद के कारण भारतीय काव्यशास्त्र काव्य के अंगाग के भेद-प्रभेदो मे फंसा रहा, उधर पाश्चात्य काव्यशास्त्र अपनी परिधि व्यक्तित्व के सहारे मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, इतिहास आदि तक विस्तृत करता गया।

समन्वय

अंत मे इसी प्रमुख अंतर के आधार पर भारत और यूरोप के काव्यशास्त्रो का समन्वय किया जा सकता है। वास्तव मे ये दोनो ही अपनी-अपनी दिशा मे अत्यंत विकसित और समृद्ध है—भारतीय काव्यशास्त्र मे (सहृदय की) काव्यानुभूति का जितना सूक्ष्म और सटीक विवेचन है, उसको देखकर चकित रह जाना पडता है। पश्चिम के आचार्यों ने सहानुभूति और साधारणीकरण आदि जिन मूलगत सिद्धातो की चर्चा अब की है, उनका अत्यत पूर्ण विवेचन हमारे यहा सातवी-आठवी शताब्दियो

१. (१) अरस्तू, (२) आर्नल्ड, (३) वर्ड्सवर्थ।
२. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

मे हो चुका था। उधर कवि के मानस का और उसके निर्माण मे सहायक होने वाले विभिन्न प्रभावो—जैसे समाजशास्त्र, इतिहास दर्शन, मनोविज्ञान आदि—का जो व्याख्यान पश्चिम मे हुआ है यह अत्यत विस्तृत और रोचक है। इस प्रकार ये दोनो एक-दूसरे के विरोधी न होकर सहायक या पूरक हैं। इनके तुलनात्मक अध्ययन की सबसे बडी उपयोगिता यह हो सकती है कि इनका समन्वय करके एक पूर्णतर काव्यशास्त्र का निर्माण किया जाय, जिसमे स्रष्टा और भोक्ता के पक्षो का व्यापक विवेचन हो।

आधुनिकता का प्रश्न : साहित्य के संदर्भ में

'आधुनिक' शब्द का सामान्यतः तीन अर्थों में प्रयोग होता है। एक अर्थ केवल समय-सापेक्ष है जिसके अनुसार 'आधुनिक' एक विशेष कालावधि का द्योतक है। भारतीय इतिहास में आधुनिक युग का आरभ एक प्रकार से अठारहवी शती के उत्तरार्ध से माना जाता है जबकि देश के दक्षिण-पश्चिमी और पूर्वी प्रदेशो मे ब्रिटिश शासन स्थापित हो गया था—यद्यपि आधुनिक भारत की रूपरेखा वस्तुत १८५७ ई० के बाद स्फुटित हुई। यूरोप के इतिहास मे आधुनिक युग का आरंभ मूलतः पद्रहवी शती से—पुनर्जागरण के साथ-साथ हो गया था, परतु उसका भी रूप वास्तव मे सत्रहवी शती मे विज्ञान के विकास के साथ ही स्पष्ट हुआ।

इस कालवाचक अर्थ का एक दूसरा रूप भी है। जैसा कि शब्दार्थ से स्पष्ट है, आधुनिकता का सबंध वर्तमान से है और चूकि वर्तमान की धारणा समय-सापेक्ष है, अत आधुनिकता का यह रूप प्रत्येक युग में बदलता रहता है। सामान्य शब्दावली में 'आधुनिक' यहा 'अतीत से भिन्न' या 'नये' का वाचक होता है। इस अर्थ मे 'आधुनिक' हमारे अपने वर्तमान युग से संबद्ध नही रह जाता; प्राचीन इतिहास-युगो के भी अपने-अपने आधुनिक चरण रहे होंगे जो आज प्राचीन बन गए हैं—बौद्धकाल आज प्राचीन है, परतु अपने युग मे वह निश्चय ही आधुनिक था। स्वीकृत अर्थ मे इतिहास का जो आधुनिक युग है, वह भी आधुनिकता के अनेक चरणो में होकर गुज़र चुका है। अठारहवी शती की आधुनिकता तो पुरानी हो ही गई है, उन्नीसवी शती का उल्लेख प्राय. आधुनिक के विपर्याय-रूप मे किया जाता है और बीसवी शती के आरभ के आंदोलन भी आज प्रतिक्रियावादी प्रतीत होते है।

दूसरा अर्थ विचारपरक है जिसके अनुसार 'आधुनिक' एक विशिष्ट दृष्टिकोण —मध्ययुगीन विचार-पद्धति से भिन्न, एक नये जीवन-दर्शन का वाचक है, यद्यपि पहला अर्थात् ऐतिहासिक अर्थ भी उसमे गर्भित है। वस्तुतः आधुनिकता की धारणा का मूल आधार ऐतिहासिक चेतना ही है : आधुनिक दृष्टि मध्ययुगीन और प्राचीन की अपेक्षा इसलिए भिन्न है कि इसमे इतिहास-बोध की प्रधानता है; अर्थात् यह पर्यावरण के प्रति निश्चय ही सजग है। मध्ययुग और पुराकाल मे भी जीवन-दृष्टि अनिवार्यतः ही अपने परिवेश से प्रभावित थी, परतु वह उसके प्रति कदाचित् इतनी प्रबुद्ध नही थी : इतिहास की चेतना का विकास उस समय नही हुआ था। विचार-परक या दृष्टिपरक अर्थ मे आधुनिकता एक मिश्र धारणा है जिसका निर्माण अनेक तत्त्वो

से हुआ है। इनमे प्रथम और आधारभूत तत्त्व है अपने देश-काल के साथ जीवंत एवं सचेतन सबंध। पूर्ववर्ती युगो का जीवन प्रवृत्ति का जीवन था जिसमे देश-काल जीवन के अतर्गत रमा हुआ था, पर मनुष्य को उसकी पृथक् चेतना नही थी—प्रवृत्ति के प्राधान्य के कारण उसकी कदाचित् आवश्यकता नही होती थी, जैसे हमारे व्यक्तित्व मे प्रकृति के तत्त्व रमे रहते हैं पर हम उनके अस्तित्व के प्रति सजग नही हैं। 'आधुनिक' मनुष्य का जन्म उस समय हुआ जब वह अपने देश-काल के प्रति, अपने युग और इतिहास के प्रति, प्रबुद्ध हुआ। इस प्रबुद्धता के परिणामस्वरूप आधुनिक जीवन-दृष्टि मे सामाजिक चेतना और आरभिक चरण मे राष्ट्रीय चेतना का भी स्वतः ही समावेश हो गया था। कल्पना और आदर्श का आकर्षण कम हो गया था—जीवन-दृष्टि व्यावहारिक एव यथार्थपरक हो रही थी। भावुकता के स्थान पर विवेक का नियंत्रण बढ चला था और विज्ञान के वर्धमान प्रभाव के कारण सामान्य दृष्टिकोण क्रमशः बौद्धिक (वैज्ञानिक) होता जा रहा था। इस प्रकार विवेकयुक्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण आधुनिकता का दूसरा प्रमुख तत्त्व है। आधुनिक दृष्टि मे नवीन के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है, वस्तुत. काफी हद तक आधुनिक और नवीन मे पर्याय-संबध भी है। जैसी स्थिति है वही ठीक है या वैसी ही बनी रहे : एतादृशत्व की इस भावना के विरोध मे आधुनिक चेतना का विकास होता है। परपरा का विरोध इसनें नही है, परंतु परंपरा को स्थिर तथ्य मानकर यह नही चलती।—अतः रूढियो के विरुद्ध विद्रोह और नव-जीवन के विकास के लिए प्रयोग के प्रति आग्रह रहा अनिवार्य है।

यह 'आधुनिक' का पारिभाषिक अर्थ है जो समय से परिबद्ध नही है। इस अर्थ मे 'आधुनिक' एक विशिष्ट धारणा का—उपर्युक्त विशेषताओ की सहति का वाचक है। उस पर समय के क्रम का नियत्रण नही है। उदाहरण के लिए मध्ययुग के रोमी दार्शनिको की अपेक्षा अरस्तू अधिक आधुनिक हैं; शकराचार्य की अपेक्षा बुद्ध का जीवन-दर्शन अधिक आधुनिक है; हिंदी मे सूरदास की अपेक्षा कबीर अधिक आधुनिक हैं। यह अर्थ वर्तमान से असबद्ध नही है, परंतु वर्तमान से एकदम बधा हुआ भी यह नही है। वर्तमान मे जीवित प्रत्येक विचारक या कलाकार आधुनिक नही होता—आधुनिक युग के रत्नाकर की दृष्टि आधुनिक नही थी, आज के उपन्यासकार गुरुदत्त की विचारधारा और कला आधुनिक नही है। इस प्रकार प्रत्ययात्मक अर्थ मे 'आधुनिक' समसामायिक से भिन्न एव विशिष्ट बन जाता है।

किंतु आज के सीमित सदर्भ मे 'आधुनिक' का एक सकुचित अर्थ भी उभरकर सामने आया है। इस संदर्भ मे आधुनिकता का अर्थ है वर्तमान का युगबोध; यहा दृष्टि वर्तमान पर ही केंद्रित रहती है। आज की स्थिति का यथार्थ परिज्ञान ही आधुनिकता का आधार है। आज के जीवन का सबसे अधिक प्रभावी सत्य है—दूसरे महायुद्ध की विभीषिकाओ के सदर्भ मे विज्ञान का विकास, जो अभूतपूर्व वेग से हो रहा है। इसके कुछ परिणाम स्पष्ट हैं . प्रादेशिक सीमाएं प्रायः टूट गई हैं—देश और काल की बाधाओ का काठिन्य गलने लगा है। शक्ति का संघर्ष अत्यत भयंकर हो गया है—दो परस्पर विरोधी विचारधाराओ के प्रतिनिधि राष्ट्र आज इतनी अधिक विनाशकारी

सामग्री से संपन्न हैं कि संतुलन भंग हो जाने से किसी भी क्षण मानव-सृष्टि का पूर्ण संहार हो सकता है। उधर अंतरिक्ष-विजय की बढती हुई संभावनाओ के कारण जीवन की परिधि का अनत विस्तार हो रहा है और मानव प्राणी के स्वयसिद्ध गौरव के प्रति संदेह के कारण बढते जा रहे हैं। जैविक धरातल पर जीव-विज्ञान की उद्भावनाओं के फलस्वरूप और चेतना या अंतश्चेतना के क्षेत्र मे मनोविश्लेषणशास्त्र के शोधपरिणामो के प्रभाव से अतर्जीवन अर्थात् अनुभूत्यात्मक जीवन का स्वरूप ही बदल गया है : चेतना-प्रवाह के नैरंतर्य की सिद्धि के साथ-साथ भावनात्मक और वैचारिक प्रत्यय बिखरने लगे हैं। इसका एक परिणाम हुआ है तर्कशास्त्र का खडन और दूसरा परिणाम है रागात्मक अनुभवों की स्वतत्र सत्ता का निषेध। आदर्श टूटने लगे हैं और मूल्यो के ह्रास की धारणा बल पकडने लगी है। यह विश्वास उभरने लगा है कि जीवन के अखड प्रवाह मे अतीत तो सर्वथा विलीन हो चुका है और अनागत अभी अदृष्ट है; सत्य यदि है तो वह है वर्तमान क्षण का अनुभव। मनुष्य क्षण मे ही जीता है क्योकि उसका अनुभव क्षण मे ही निबद्ध है। अनुभव ही जीवन का एकमात्र सत्य है : और अनुभव का न भूत होता है, न भविष्यत्—उसका तो केवल वर्तमान ही होता है। इस प्रकार क्षणवाद की नये रूप मे स्थापना हो रही है। आस्तिक और धार्मिक किर्कगार्द ने आस्था के माध्यम से और नास्तिक सार्त्र ने अनास्था के माध्यम से क्षण-केंद्रित जीवन के आधार पर अपने-अपने ढग से अस्तित्ववाद की स्थापना की है। मानव-अस्तित्व ही एकमात्र सत्य है, लेकिन अपने सहज रूप मे यह अस्तित्व एक 'शाश्वत सकट' है—अस्तित्व और उसके रहस्य का अनुभव 'चिरतन भार' के रूप मे मनुष्य को होता है। अतः आज का मनुष्य अनवरत चिताग्रस्त है और अनवरत चिना की यह मन स्थिति आधुनिकता का एक अत्यंत स्पष्ट लक्षण है। जीवन की चेतना आज स्पष्टतः ही अत्यंत जटिल बन गई है—परपरागत जीवन-दर्शन मे स्वीकृत राग एवं विचार के पृथक्-पृथक् सूत्रो का अस्तित्व खंडित और विवेक तथा इच्छा के अनुसार उनका ताना-बाना बुनने का वाछित सुयोग नष्ट हो जाने के कारण जीवन के रंग उड गए हैं और रस सूख गए हैं।—शेष रह गई है जटिल और शुष्क अनुभूति या अनुभूतियो का जाल। इसीलिए आज के जीवन की चेतना एकदम उलझी हुई, रूखी और कठिन है। जीवन का सौंदर्य, यदि हम इस रूढ शब्द का प्रयोग करना ही चाहें, इसी रूखेपन, जटिलता और काठिन्य या उसके बोध मे निहित है। सामाजिक धरातल पर इसका प्रभाव यह हुआ है कि संबध टूटने लगे हैं, मनुष्य अपने को संदर्भ से कटा हुआ महसूस करने लगा है और समाज मे उसकी अपनी सार्थकता का विश्वास प्रायः नष्ट हो चुका है। उसे लगता है जैसे वह एकांत निर्वासित प्राणी है—समाज के साथ उसके सपर्क-सूत्र छिन्न-भिन्न हो गए है और सप्रेक्षण के साधन प्राय रीत चुके हैं। इस प्रकार आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक मूल्यो के विघटन के फलस्वरूप आधुनिक युग के प्रतिनिधि जिस जीवन-दर्शन का विकास हुआ है उसको अतर्मुख चिंतको ने 'अस्तित्ववाद' और बहिर्मुख विचारको ने 'निराशावादी वैज्ञानिक मानव-वाद' कहा है। सामान्य रूप से इस जीवन-दर्शन को ही आधुनिकता के सूत्रबद्ध लक्षण

के रूप मे स्वीकार किया जा रहा है।

पश्चिम के नये विचारक और उनसे प्रभावित हमारे यहा के भी नवचिंतक आधुनिकता की इसी प्रकार व्याख्या करते है। उनके अनुसार आज की आधुनिकता का यही रूप है—अथवा यो कहे कि आज के सदर्भ मे आधुनिकता का सही अर्थ यही या प्राय इसी प्रकार का है।

प्रस्तुत प्रसग मे दो-तीन प्रश्न अनायास ही हमारे मन मे उठते है। क्या आधुनिकता का यही एकमात्र रूप है—जिसमे सर्वत्र अधेरा और अवसाद है? क्या आज के सभी प्रबुद्ध विचारक आधुनिक युग-बोध की इसी प्रकार की निराशामयी व्याख्या करते हैं? यदि यही परिभाषा ठीक है तो आधुनिकता कहा तक काम्य है? क्या आधुनिकता को अपने-आप मे 'मूल्य' माना जा सकता है? आदि-आदि।

आधुनिकता के सही अर्थ-बोध के लिए इन पर क्रमशः विचार कर लेना उपयोगी होगा।

क्या आधुनिकता का यही एकमात्र रूप है? इसका उत्तर देने से पूर्व एक और प्रश्न सामने आता है और वह यह कि आधुनिकता के प्रेरक एव निर्णायक तत्त्व क्या है? इस दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि आधुनिक या किसी भी युग के स्वरूप का निर्माण वस्तुतः उस युग की ऐसी घटनाओ के द्वारा होता है जिनका प्रभाव अधिकाधिक गहरा और व्यापक होता है। वर्तमान युग की प्रमुख प्रेरक घटनाए हैं बाह्य जीवन मे विज्ञान की नवीनतम उपलब्धिया—अणुशक्ति का अनुसंधान, अतरिक्ष-विजय, आदि; अतर्जीवन मे अचेतन और अवचेतन मन का उद्‌घाटन। इन घटनाओ ने वर्तमान जीवन और उसकी चेतना को प्रभावित किया है, इसमे सदेह नही। बुद्धिजीवी वर्ग, जिसका एक प्रमुख अग है कलाकार, अपनी सूक्ष्म सवेदनाओ के द्वारा इनके सूक्ष्म प्रभावो को सीधा ग्रहण कर रहा है और जनसाधारण इनके स्थूल प्रभावो को प्राय परोक्ष रूप मे ग्रहण कर रहा है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या इनका प्रभाव केवल अवसादकारी ही है या हो सकता है? इसमे सदेह नही कि अणु-शक्ति आदि के उपयोग से सत्ता-सघर्ष मे जो एक नया आयाम उपस्थित हो गया है उसमे सार्वभौम प्रलय की सभावना भी निहित है और समय-समय पर आने वाले राजनीतिक भूकप अतिशय सवेदनशील व्यक्तियो के मन मे यह भय उत्पन्न कर सकते हैं कि खतरा शायद काफी नजदीक ही है। परंतु यह तो इस घटना का एक पक्ष है, और विकृत पक्ष है: मानव के सुख-सौभाग्य तथा जीवन की अधिकाधिक सार्थकता के लिए भी तो इसका उपयोग हो सकता है। वास्तव मे यह कल्पना ही कितनी असगत है कि आज के वैज्ञानिको की दिव्य मेधाएं केवल सार्वभौम विनाश के साधनो का ही आविष्कार कर रही हैं। खतरे की आशका गलत नही है, किंतु आशका का प्रयोजन सावधान करना है, हताश और कर्तव्यमूढ करना नही। इसी खतरे से सावधान होकर आज प्रायः सभी समर्थ लोकनायक और अनेक प्रबुद्ध चिंतक मानव-जीवन के शुभ्र पक्ष की कल्पना भी तो कर सकते है और कर रहे हैं। पर नया विचारक यह कहता है कि आधुनिक युग-बोध यह नही है—यह तो पुरातन दृष्टिकोण

है जो वस्तु को यथार्थ रूप मे न देखकर उसके अभीष्ट रूप की कल्पना करने मे ही विश्वास करता है। हमारे विचार से यह मताग्रह है, एक पूर्वग्रह का आरोप है। आज का यथार्थ केवल अगति और विघटन है, यह पूर्वग्रह है—अगति और विघटन भी यथार्थ हो सकता है, आज के अनेक सूक्ष्मचेता कलाकार पूर्ण संवेदना के साथ इसका अनुभव कर रहे हैं; परतु यह समग्र यथार्थ नही, खंड यथार्थ मात्र है। विज्ञान का नियम संघटन है, विघटन नही है : अणु के विघटन का उद्देश्य भी जीवन का संघटन ही है। अध्यात्म के क्षेत्र मे शक्ति की जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म कल्पना की गई थी, आज के वैज्ञानिक परीक्षण उसी की भौतिक परिणतिया हैं। इसी प्रकार अंतर्जीवन मे अचेतन और अवचेतन मन के उद्घाटन के फलस्वरूप निरतर चेतना-प्रभाव की सिद्धि से हमारे नैतिक और रागात्मक मूल्यो मे निश्चय ही संशोधन हुआ है : जैविक प्रवृत्तियो का महत्त्व बढा है और विवेक एवं प्रज्ञा का गौरव क्षीण हुआ है। परतु इसके कारण चेतना को नवीन अंतर्प्रकाश नही मिला—केवल अवसाद का अंधकार ही बढा है, यह कल्पना भी एकांगी है। फ्रायड ने आनंद-सिद्धात को ही समस्त जैविक जीवन का आधार माना है और उधर युग का सिद्धांत तो वर्तमान युग मे जीवनावस्था का सबसे प्रामाणिक आख्यान है।

ऐसी स्थिति मे आधुनिकता को एक व्यापी निराशा मे बाध देना युग-सत्य नही हो सकता—वह सत्य की विकृति या अधिक-से-अधिक सत्य का आभास मात्र हो सकता है। और, यदि तर्क के लिए यह मान भी लिया जाए कि आज आधुनिकता का लक्षण यही है, तो इस प्रकार की आधुनिकता क्या काम्य है ? यह ठीक है कि आज के कुछ विशिष्ट संवेदनशील मनीषियो को प्रायः इसी रूप मे यथार्थ-बोध हुआ है और उनकी अपनी संवेदना की तीव्रता के कारण यह चेतना संक्रामक रूप से नयी पीढी के अनेक समानधर्मा कलाकारो मे व्याप्त हो गई है। इस प्रकार के यथार्थ-बोध की सच्ची अनुभूति और सफल अभिव्यक्ति कला हो सकती है, इससे भी हम इनकार नही करते, परतु कला का आधार यहा अनुभूति की सचाई और अभिव्यक्ति की सफलता ही है—तथाकथित 'यथार्थ-बोध' या 'आधुनिकता' कला का आधार नही है। कहने का अभिप्राय यह है कि युग-बोध को आधुनिकता का लक्षण मानना तो उचित है, किंतु निराशा और अवसाद को ही आज के युग-बोध का लक्षण मान लेना उचित नही है सदा की तरह आज भी निराशा के अंधकार को चीरकर प्रकट होने वाला आशा का आलोक ही जीवन का लक्षण है। यथार्थ-बोध की ऐसी परिभाषा जो जीवन का निषेध करे, अयथार्थ ही मानी जाएगी। इसके अतिरिक्त यथार्थ-बोध को सचेतन प्रक्रिया न मानकर एक सहज अप्रत्यक्ष प्रक्रिया मानना ही संगत है—पहली स्थिति मे बोध प्रधान हो जाता है और अनुभूति गौण। विचार के—समाजशास्त्र आदि के—क्षेत्र मे तो बोध (और विश्लेषण) की प्रधानता ठीक है, परतु जीने की प्रक्रिया मे और उससे भी अधिक सर्जना की प्रक्रिया मे बोध की प्रमुखता बाधक ही हो सकती है। अतः आधुनिकता को मूल्य के रूप मे स्वीकार करना समीचीन नही होगा—आधुनिकता विधि मात्र है, विधि-रूप मे उसका प्रभाव अक्षुण्ण है, पर विधि से अधिक

उसका महत्त्व नही है ।

साहित्य के सदर्भ मे भी आधुनिकता का वैसा ही और उतना ही उपयोग एवं महत्त्व है, जैसा जीवन के सदर्भ मे :

१. जीना वर्तमान मे ही होता है, अतीत या अनागत मे नही; लेकिन मनुष्य वर्तमान मे अतीत के सस्कार और अनागत की कल्पना के साथ ही जीता है। अत. भूत से उच्छिन्न और भविष्यत् से पराङ्मुख आधुनिकता की धारणा वाग्विलास मात्र है। अनेक कल्पनाशील व्यक्ति और कलाकार, जो औरो की अपेक्षा अधिक कल्पनाशील होते है, अपनी स्वभावगत सीमाओ के कारण कभी-कभी वर्तमान की अपेक्षा अतीत और भविष्यत् मे ही अधिक जीने का उपक्रम करते है। परतु अतीत और भविष्यत् को भी वर्तमान मे जिये बिना उनके कृतित्व मे प्राण का सचार नही होता। जिस प्रकार जीवन के लिए वर्तमान का भोग अनिवार्य है, इसी प्रकार साहित्य के लिए भी वर्तमान की अनुभूति आवश्यक है। किंतु जिस प्रकार जीवन की स्थिति पूर्वापर-क्रम से टूटकर सभव नही है, इसी प्रकार कला की सर्जना भी अतीत के सस्कार और अनागत के स्वप्न के बिना संभव नही हो सकती। अर्थात् वर्तमान की परिपूर्ण चेतना भी रम्य-अद्भुत तत्त्वो से सर्वथा शून्य नही होती।

२. 'आधुनिक' का अर्थ व्यापक और गत्यात्मक ही मानना चाहिए। युग-बोध, परपरा का सशोधन, जीवन के वैविध्य की स्पृहा—अपने पर्यावरण के माध्यम से आत्मसिद्धि—विकास की आकाक्षा, आदि ही उसके सही लक्षण हैं—विघटन और अगति या निराशा और अवसाद आदि तक ही आज की या किसी भी युग की आधुनिकता को सीमित कर देना यथार्थ-बोध नही है। जो जीवन का ही लक्षण नही है वह आधुनिकता का लक्षण कैसे हो सकता है?

३. आधुनिकता की चेतना जीवन की भाति साहित्य-सर्जना की विधि का ही अग है और यह चेतना जितनी प्रच्छन्न तथा अतर्व्याप्त रहेगी उतनी ही उपयोगी होगी। फिर भी यह विधि ही रहेगी और विधि के रूप मे इसका अपना महत्त्व भी रहेगा, पर सच्चे अर्थ मे मूल्य यह नही बन सकती; अर्थात् उसके आधार पर ही साहित्य के स्वरूप और गुण का निर्णय करना उचित नहीं है। प्रबल अनुभूति की सफल अभिव्यक्ति ही साहित्य का मूल तत्त्व है और अनुभूति की प्रबलता तथा अभिव्यक्ति की सफलता के आधार पर ही साहित्य-गुण के तारतम्य का आकलन किया जा सकता है। अनुभूति के मूल्याकन की पहली कसौटी है उसका मानवीय गुण और मानवीय गुण के निर्णायक तत्त्व हैं—आनद और कल्याण प्रेय और श्रेय। उधर, अभिव्यक्ति की सफलता के मूल्याकन की कसौटी है सप्रेषण-क्षमता।—नया साहित्यकार शायद आज इसी रूढ दृष्टि के विरुद्ध आदोलन कर रहा है; पर मेरी भी अपनी मजबूरी साहित्य के इससे अधिक सच्चे निकष की प्रकल्पना नही कर सकती।

खंड–२

हिंदी साहित्य : प्रवृत्तियां

भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता

भारतवर्ष अनेक भाषाओं का विशाल देश है—उत्तर-पश्चिम मे पंजाबी, हिंदी और उर्दू; पूर्व मे उडिया, बंगला और असमिया; मध्य-पश्चिम मे मराठी और गुजराती और दक्षिण मे तमिल, तेलुगु, कन्नड तथा मलयालम। इनके अतिरिक्त कतिपय और भी भाषाएं हैं जिनका साहित्यिक एवं भाषावैज्ञानिक महत्त्व कम नहीं है—जैसे कश्मीरी, डोगरी, सिंधी, कोंकणी, तूरू आदि। इनमे से प्रत्येक का, विशेषतः पहली बारह भाषाओं मे से प्रत्येक का, अपना साहित्य है जो प्राचीनता, वैविध्य, गुण और परिमाण—सभी की दृष्टि से अत्यत समृद्ध है। यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के ही संपूर्ण वाङ्मय का संचयन किया जाये तो मेरा अनुमान है कि वह यूरोप के सकलित वाङ्मय से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होगा। वैदिक सस्कृत, सस्कृत, पालि, प्राकृतो और अपभ्रंशो का समावेश कर लेने पर तो उसका अनत विस्तार कल्पना की सीमा को पार कर जाता है। ज्ञान का अपार भाडार—हिंद महासागर से भी गहरा, भारत के भौगोलिक विस्तार से भी व्यापक, हिमालय के शिखर से भी ऊचा और ब्रह्म की प्रकल्पना से भी अधिक सूक्ष्म। इनमे प्रत्येक साहित्य का अपना स्वतत्र और प्रखर वैशिष्ट्य है जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्व से मुद्राकित है। पजाबी और सिंधी, इधर हिंदी और उर्दू की प्रदेश-सीमाएं कितनी मिली हुई है! किंतु उनके अपने-अपने साहित्य का वैशिष्ट्य कितना प्रखर है! इसी प्रकार गुजराती और मराठी का जन-जीवन परस्पर ओतप्रोत है किंतु क्या उनके बीच मे किसी प्रकार की भ्राति संभव है! दक्षिण की भाषाओं का उद्‌गम एक है : सभी द्रविड परिवार की विभूतिया हैं; परतु क्या कन्नड और मलयालम या तमिल और तेलुगु के स्वारूप्य के विषय मे शंका हो सकती है! यही बात बंगला, असमिया और उडिया के विषय मे सत्य है। बगला के गहरे प्रभाव को पचाकर असमिया और उडिया अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाये हुए हैं।

इन सभी साहित्यो मे अपनी-अपनी विशिष्ट विभूतियां हैं। तमिल का सगम-साहित्य तेलुगु के द्वि-अर्थी काव्य और उदाहरण तथा अवधान-साहित्य, मलयालम के सदेश-काव्य एव कीर-गीत (किलिप्पाट्टु) तथा मणिप्रवालम् शैली, मराठी के पवाडे, गुजराती के आख्यान और फाग, बंगला का मंगल-काव्य, असमिया के बड़गीत और बुरंजी साहित्य, पजाबी के रम्याख्यान तथा वीरगीत, उर्दू की गजल और हिंदी का रीतिकाव्य तथा छायावाद आदि अपने-अपने भाषा-साहित्य के वैशिट्य के उज्ज्वल प्रमाण है।

फिर भी कदाचित् यह पार्थक्य आत्मा का नही है। जिस प्रकार अनेक धर्मों, विचारधाराओ और जीवन-प्रणालियो के रहते हुए भी भारतीय सस्कृति की एकता असदिग्ध है, इसी प्रकार और इसी कारण से अनेक भाषाओ और अभिव्यजना-पद्धतियो के रहते हुए भी भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का अनुसधान भी सहज-सभव है। भारतीय साहित्य का प्राचुर्य और वैविध्य तो अपूर्व है ही, उसकी यह मौलिक एकता और भी रमणीय है। यहा इस एकता के आधार-तत्त्वो का विश्लेषण करना आवश्यक है।

दक्षिण मे तमिल और उधर उर्दू को छोड भारत की लगभग सभी भारतीय भाषाओ का जन्म-काल प्राय समान ही है। तेलुगु-साहित्य के प्राचीनतम ज्ञात कवि हैं नन्नय, जिनका समय है ईसा की ग्यारहवी शती। कन्नड का प्रथम उपलब्ध ग्रथ है 'कविराजमार्ग', जिसके लेखक हैं राष्ट्रकूट-वंश के नरेश नृपतुग (८१४-८७७ ई०); और मलयालम की सर्वप्रथम कृति है 'रामचरितम्' जिसके विषय मे रचनाकाल और भाषा-स्वरूप आदि की अनेक समस्याएं है और जो अनुमानत. तेरहवी शती की रचना है। गुजराती तथा मराठी का आविर्भाव-काल लगभग एक ही है। गुजराती का आदि-ग्रथ सन् ११८५ ई० मे रचित शालिभद्र भारतेश्वर का 'बाहु-बलिरास' है और मराठी के आदिम साहित्य का आविर्भाव बारहवी शती मे हुआ था। यही बात पूर्व की भाषाओ के विषय में सत्य है। बगला के चर्या-गीतो की रचना शायद दसवी और बारहवी शताब्दी के बीच किसी समय हुई होगी; असमिया-साहित्य के सबसे प्राचीन उदाहरण प्राय. तेरहवी शताब्दी के अत के हैं जिनमे सर्वश्रेष्ठ हैं हेम सरस्वती की रचनाए 'प्रह्लादचरित्र' तथा 'हरगौरीसंवाद'। उडिया भाषा मे भी तेरहवी शताब्दी मे निश्चित रूप से व्यग्यात्मक काव्य और लोकगीतो के दर्शन होने लगते हैं। उधर चौदहवी शती मे तो उडीसा के व्यास सारलादास का आविर्भाव हो ही जाता है। इसी प्रकार पजाबी और हिंदी मे ग्यारहवी शती से व्यवस्थित साहित्य उपलब्ध होने लगता है। केवल दो भाषाएं ऐसी हैं जिनका जन्मकाल भिन्न है—तमिल, जो सस्कृत के समान प्राचीन है (यद्यपि तमिल-भाषी उसका उद्गम और भी पहले मानते हैं) और उर्दू, जिसका वास्तविक आरभ पंद्रहवी शती से पूर्व नही माना जा सकता।

जन्मकाल के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय साहित्यो के विकास के चरण भी प्राय: समान ही हैं। प्राय सभी का आदिकाल पंद्रहवी शती तक चलता है। पूर्वमध्य-काल की समाप्ति मुगल-वैभव के अंत अर्थात् सत्रहवी शती के मध्य मे तथा उत्तर-मध्यकाल की अगरेजी सत्ता की स्थापना के साथ होती है और तभी से आधुनिक युग का आरभ हो जाता है। इस प्रकार भारतीय भाषाओ के अधिकाश साहित्यो का विकास-क्रम लगभग एक-सा ही है; सभी प्राय. समकालीन चार चरणो मे विभक्त हैं।

इस समानातर विकास-क्रम का आधार अत्यत स्पष्ट है, और वह है भारत के राजनीतिक एव सास्कृतिक जीवन का विकास-क्रम। बीच-बीच मे व्यवधान होने पर भी भारतवर्ष में शताब्दियों तक समान राजनीतिक व्यवस्था रही है। मुगल-शासन मे

तो लगभग डेढ सौ वर्षो तक उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम मे घनिष्ठ सपर्क बना रहा। मुगलो की सत्ता खडित हो जाने के बाद भी यह सपर्क टूटा नही। मुगल-शासन के पहले भी राज्य-विस्तार के प्रयत्न होते रहे थे। राजपूतो मे कोई एकछत्र भारत-सम्राट् तो नही हुआ, किंतु उनके राजवश भारतवर्ष के अनेक भागो मे शासन कर रहे थे। शासन भिन्न होने पर भी उनकी सामतीय शासन-प्रणाली प्राय: एक-सी थी। इसी प्रकार मुसलमानो की शासन-प्रणाली मे भी स्पष्ट मूलभूत समानता थी। बाद मे अगरेजो ने तो केंद्रीय शासन-व्यवस्था कायम कर इस एकता को और भी दृढ कर दिया। इन्ही सब कारणो से भारत के विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशो की राजनीतिक परिस्थितियो मे पर्याप्त साम्य रहा है।

राजनीतिक परिस्थितियो की अपेक्षा सास्कृतिक परिस्थितियो का साम्य और भी अधिक रहा है। पिछले सहस्राब्द मे अनेक धार्मिक और सास्कृतिक आदोलन ऐसे हुए जिनका प्रभाव भारतव्यापी था। बौद्ध धर्म के ह्रास के युग मे उसकी कई शाखाओ और शैव-शाक्त धर्मो के संयोग से नाथ-सप्रदाय उठ खडा हुआ जो ईसा के द्वितीय सहस्राब्द के आरभ मे उत्तर मे तिब्बत आदि तक, दक्षिण मे पूर्वी घाट के प्रदेशो मे, पश्चिम मे महाराष्ट्र आदि मे और पूर्व मे प्रायः सर्वत्र फैला हुआ था। योग की प्रधानता होने पर भी इन साधुओ की साधना मे, जिनमे नाथ, सिद्ध और शैव सभी थे, जीवन के विचार और भाव-पक्ष की उपेक्षा नही थी और इनमे से अनेक साधु आत्माभिव्यक्ति एव सिद्धात-प्रतिपादन दोनो के लिए कवि-कर्म मे प्रवृत्त होते थे। भारतीय भाषाओ के विकास के प्रथम चरण मे इन सप्रदायो का प्रभाव प्राय: विद्यमान था। इनके बाद इनके उत्तराधिकारी सत-सप्रदायो और नवागत मुसलमानो के सूफी-मत का प्रसार देश के भिन्न-भिन्न भागो मे होने लगा। सत-संप्रदाय वेदात दर्शन से प्रभावित थे और निर्गुण-भक्ति की साधना तथा प्रचार करते थे। सूफी धर्म मे भी निराकार ब्रह्म की ही उपासना थी, किंतु उसका माध्यम था उत्कट प्रेमानुभूति। सूफी सतो का यद्यपि उत्तर-पश्चिम मे अधिक प्रभुत्व था, फिर भी दक्षिण के बीजापुर और गोलकुडा राज्यो मे भी इनके अनेक केंद्र थे और वहा भी अनेक प्रसिद्ध सूफी सत हुए। इनके पश्चात् वैष्णव आदोलन का आरभ हुआ जो समस्त देश मे बडे वेग से व्याप्त हो गया। राम और कृष्ण की भक्ति की अनेक मधुर पद्धतियो का देश भर मे प्रसार हुआ और समस्त भारतवर्ष सगुण ईश्वर के लीला-गान से गुजरित हो उठा। उधर मुस्लिम संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव भी निरतर बढ रहा था। ईरानी सस्कृति के अनेक आकर्षक तत्त्व—जैसे वैभव-विलास, अलकरण-सज्जा आदि भारतीय जीवन मे बडे वेग से घुल-मिल रहे थे और एक नई दरबारी या नागर सस्कृति का आविर्भाव हो रहा था। राजनीतिक और आर्थिक पराभव के कारण यह सस्कृति शीघ्र ही अपना प्रसादमय प्रभाव खो बैठी और जीवन के उत्कर्ष एव आनदमय पक्ष के स्थान पर रुग्ण विलासिता ही इसमे शेष रह गई। तभी पश्चिम के व्यापारियो का आगमन हुआ जो अपने साथ पाश्चात्य शिक्षा-संस्कार लाये और जिनके पीछे-पीछे मसीही प्रचारको के दल भारत में प्रवेश करने लगे। उन्नीसवी शती मे अंगरेजो का प्रभुत्व

देश में स्थापित हो गया और शासक वर्ग सक्रिय रूप से योजना बनाकर अपनी शिक्षा, संस्कृति और उनके माध्यम से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे अपने धर्म का प्रसार करने लगा। प्राच्य और पाश्चात्य के इस संपर्क और संघर्ष से आधुनिक भारत का जन्म हुआ।

भारत के आधुनिक साहित्य का विकास-क्रम भी कितना समान है! विदेशी धर्म-प्रचारको और शासको के प्रयत्नो के फलस्वरूप पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के साथ संपर्क एव संघर्ष और उससे पुनर्जागरण युग का उदय, राष्ट्रीय आंदोलन की प्रेरणा से साहित्य मे राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का उत्कर्ष, साहित्य मे नीतिवाद एवं सुधारवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया और नई रोमानी सौंदर्य-दृष्टि का उन्मेष, चौथे दशक मे साम्यवादी विचारधारा के प्रचार से द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव, इलियट आदि के प्रभाव से नये जीवन की बौद्धिक कुंठाओ और स्वप्नो को शब्द-रूप देने के नये प्रयोग, और अंत मे स्वतंत्रता के बाद विश्व-कल्याण की भावना से प्रेरित राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का विस्तार—यही संक्षेप मे आधुनिक भारतीय वाङ्मय के विकास की रूपरेखा है, जो सभी भाषाओ मे समान रूप से लक्षित होती है।

अब साहित्यिक पृष्ठाधार को लीजिए। भारत की भाषाओ का परिवार यद्यपि एक नही है, फिर भी उनका साहित्यिक रिक्थ समान ही है। रामायण, महाभारत, पुराण, भागवत, संस्कृत का अभिजात साहित्य—अर्थात् कालिदास, भवभूति, बाण, श्रीहर्ष, अमरुक और जयदेव आदि की अमर कृतिया, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश मे लिखित बौद्ध, जैन तथा अन्य धर्मों का साहित्य भारत की समस्त भाषाओ को उत्तराधिकार मे मिला है। शास्त्र के अंतर्गत उपनिषद्, षड्दर्शन, स्मृतिया आदि और उधर काव्य-शास्त्र के अनेक अमर ग्रंथ—नाट्यशास्त्र, ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर आदि की विचार-विभूति का उपयोग भी सभी ने निरंतर किया है। वास्तव मे आधुनिक भारतीय भाषाओ के ये अक्षय प्रेरणा-स्रोत हैं और प्रायः सभी को समान रूप से प्रभावित करते रहते हैं। इनका प्रभाव निश्चय ही अत्यंत समन्वयकारी रहा है और इनसे प्रेरित साहित्य मे एक प्रकार की मूलभूत समानता स्वत: ही आ गई है।—इस प्रकार समान राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक आधारभूमि पर पल्लवित-पुष्पित भारतीय साहित्य मे जन्मजात समानता एक सहज घटना है।

अब तक हमने भारतीय वाङ्मय की केवल विषयवस्तुगत अथवा रागात्मक एकता की ओर संकेत किया है; किंतु काव्य-शैलियो और काव्य-रूपों की समानता भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। भारत के प्राय. सभी साहित्यों मे संस्कृत से प्राप्त काव्य-शैलिया—महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तक, कथा, आख्यायिका आदि के अतिरिक्त अप-भ्रंश-परंपरा की भी अनेक शैलियां, जैसे चरितकाव्य, प्रेमगाथा-शैली, रास, पद-शैली आदि प्राय: समान रूप मे मिलती हैं। अनेक वर्णिक छंदो के अतिरिक्त अनेक देशी छंद—दोहा, चौपाई आदि—भी भारतीय वाङ्मय के लोकप्रिय छंद हैं। इधर आधु-निक युग में पश्चिम के अनेक काव्य-रूपो और छंदो का—जैसे प्रगीत-काव्य और उसके अनेक भेदो, संबोधन-गीत, शोक-गीत, चतुर्दशपदी का और मुक्तछंद, गद्य-गीत

आदि का प्रचार भी सभी भाषाओ में हो चुका है। यही बात भाषा के विषय में भी सत्य है। यद्यपि मूलतः भारतीय भाषाएं दो विभिन्न परिवारो—आर्य और द्रविड परिवारो की भाषाएं हैं, फिर भी प्राचीन काल में सस्कृत, पालि, प्राकृतो और अपभ्रशो के और आधुनिक युग में अगरेजी के प्रभाव के कारण रूपों और शब्दो की अनेक प्रकार की समानताए सहज ही लक्षित हो जाती है। भारतीय भाषाएं अपनी व्यंजनात्मक तथा लाक्षणिक शक्तियों के विकास के लिए, चित्रमय शब्दो और पर्यायो के लिए तथा नवीन शब्द-निर्माण के लिए निरतर संस्कृत के भाडार का उपयोग करती रही हैं और आज भी कर रही हैं। इधर वर्तमान युग में अंगरेजी का प्रभाव भी अत्यत स्पष्ट है। अंगरेजी की लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शक्ति बहुत विकसित है। पिछले पचास वर्ष से भारत की सभी भाषाएं उसकी नवीन प्रयोग-भगिमाओ, मुहावरो, उपचार-वक्रताओं को सचेष्ट रूप से ग्रहण कर रही हैं। उधर गद्य पर तो अगरेजी का प्रभाव और भी अधिक है, हमारी वाक्य-रचना प्राय अगरेजी पर ही आश्रित है। अत इन प्रयत्नो के फलस्वरूप साहित्य की माध्यम भाषा मे एक गहरी आतरिक समानता मिलती है जो समान विषय-वस्तु के कारण और भी दृढ हो जाती है।

इस प्रकार यह विश्वास करना कठिन नही है कि 'भारतीय वाङ्मय अनेक भाषाओ मे अभिव्यक्त एक ही विचार है।' देश का यह दुर्भाग्य है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति तक विदेशी प्रभाव के कारण अनेकता को ही बल मिलता रहा। इसकी मूलवर्ती एकता का सम्यक् अनुसधान अभी होना है। इसके लिए अत्यत निस्संग भाव से, सत्य-शोध पर दृष्टि केंद्रित रखते हुए, भारत के विभिन्न साहित्यो मे विद्यमान समान तत्त्वों एव प्रवृत्तियो का विधिवत् अध्ययन पहली आवश्यकता है। यह कार्य हमारे अध्ययन और अनुसधान की प्रणाली मे परिवर्तन की अपेक्षा करता है। किसी भी प्रवृत्ति का अध्ययन केवल एक भाषा के साहित्य तक ही सीमित नही रहना चाहिए; वास्तव मे इस प्रकार का अध्ययन अत्यत अपूर्ण रहेगा। उदाहरण के लिए, मधुरा भक्ति का अध्येता यदि अपनी परिधि को केवल हिंदी या केवल बँगला तक ही सीमित कर ले तो वह सत्य की शोध मे असफल रहेगा। उसे अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओ मे प्रवाहित मधुरा भक्ति की धाराओ मे भी अवगाहन करना होगा। गुजराती, उडिया, असमिया तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम सभी की तो भूमि मधुर रस से आप्लावित है। एक भाषा तक सीमित अध्ययन मे स्पष्टतः अनेक छिद्र रह जाएगे। हिंदी-साहित्य के इतिहासकार को जो अनेक घटनाए सायोगिक-सी प्रतीत होती हैं, वे वास्तव मे वैसी नही हैं। आचार्य शुक्ल को हिंदी के जिस विशाल गीत-साहित्य की परपरा का मूल स्रोत प्राप्त करने मे कठिनाई हुई थी, वह अपभ्रश के अतिरिक्त दक्षिण की भाषाओ मे और बँगला मे सहज ही मिल जाता है। सूर का वात्सल्य-वर्णन हिंदी-काव्य मे घटने वाली आकस्मिक या ऐकातिक घटना नही थी, गुजराती कवि भालण ने अपने आख्यानो मे, पंद्रहवी शती के मलयालम कवि ने कृष्ण-गाथा मे, असमिया कवि माधवदेव ने अपने बडगीता मे अत्यत मनोयोगपूर्वक कृष्ण की बाल-लीलाओ का वर्णन किया है। भारतीय भाषाओ के रामायण और महाभारत

काव्यो का तुलनात्मक अध्ययन न जाने कितनी समस्याओ को अनायास ही सुलझाकर रख देता है। रम्याख्यान-काव्यो की अगणित कथानक-रूढिया विविध भाषाओं के प्रेमाख्यान-काव्यो का अध्ययन किये विना स्पष्ट नही हो सकती। सूफ़ी काव्य के मर्म को समझने मे फारसी के अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम की भाषाओ—कश्मीरी, सिंधी, पंजावी और उर्दू—मे विद्यमान तत्संबंधी साहित्य से अमूल्य सहायता प्राप्त हो सकती है। तुलसी के 'रामचरितमानस' मे राम के स्वरूप की कल्पना को हृद्गत किये विना अनेक भारतीय भाषाओ के रामकाव्य का अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा। इसी प्रकार हिंदी के अष्टछाप कवियो का प्रभाव वगाल और गुजरात तक अव्यक्त रूप से व्याप्त था। वहा के कृष्ण-काव्य के सम्यक् विवेचन मे इनकी उपेक्षा नही की जा सकती। इस अत.साहित्यिक शोध-प्रणाली के द्वारा अनेक लुप्त कडियां अनायास ही मिल जाएंगी, अगणित जिज्ञासाओ का सहज ही समाधान हो जायेगा और उधर भारतीय चिंताधारा एवं रागात्मक चेतना की अखंड एकता का उद्घाटन हो सकेगा।

किंतु यह कार्य जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही कठिन भी है। सबने पहली कठिनाई तो भाषा की है। अभी तक भारतीय अनुसंधाताओ का ज्ञान प्राय. अपनी भाषा के अतिरिक्त अगरेजी और संस्कृत तक ही सीमित है, प्रादेशिक भाषाओ से उनका परिचय नहीं है। ऐसी स्थिति मे डर है कि प्रस्तावित योजना कही पुण्य इच्छा मात्र होकर न रह जाये। पर यह बाधा अजेय नही है। व्यवस्थित प्रयास द्वारा इसका निराकरण करना कठिन नही है। कुछ भाषावर्ग तो ऐसे हैं जिनमे अत्यल्प अभ्यास से काम चल सकता है। उनमे तो रूपातर, यहां तक कि लिप्यंतर भी आवश्यक नहीं है। जैसे वँगला और असमिया, या हिंदी और मराठी मे, या तेलुगु और कन्नड़ मे कुछ शब्दो अथवा शब्द-रूपो के अर्थ आदि लेकर काम चल सकता है। हिंदी, उर्दू और पंजावी मे लिप्यंतर और कठिन शब्दार्थ से समस्या सुलझ सकती है। यही हिंदी और गुजराती तथा तमिल और मलयालम के विषय मे प्राय: सत्य है। अन्य भाषाओ के लिए अनुवाद का आश्रय लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक इतिहास, परिचय, तुलनात्मक अध्ययन, तुलनात्मक अनुसंधान, अंत.साहित्यिक गोष्ठियो आदि की सम्यक् व्यवस्था द्वारा परस्पर आदान-प्रदान की सुविधा हो सकती है। आज देश मे इस प्रकार की चेतना प्रवुद्ध हो गई है और कतिपय संस्थाएं इस दिशा मे अग्रसर हैं। किंतु अभी तक यह अनुष्ठान अपनी आरंभिक अवस्था मे ही है। इसके लिए जैसे व्यापक एवं संगठित प्रयत्न की अपेक्षा है, वैसा आयोजन अभी हो नही रहा। फिर भी 'भारतीय साहित्य' की चेतना की प्रवुद्धि ही अपने आप मे शुभ लक्षण है। भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए सास्कृतिक एकता का आधार अनिवार्य है और सांस्कृतिक एकता का सबसे दृढ एवं स्थायी आधार है साहित्य। जिस प्रकार अनेक निराशा-वादियो की आशंकाओ को विफल करता हुआ भारतीय राष्ट्र निरतर अपनी अखडता मे उभरता आ रहा है, उसी प्रकार एक समजित इकाई के रूप मे 'भारतीय साहित्य' का विकास भी धीरे-धीरे हो रहा है। यदि मूलवर्ती चेतना एक है तो माध्यम का भेद होते हुए भी साहित्य का व्यक्त रूप भी भिन्न नही हो सकता।

हिंदी-साहित्य का इतिहास : पुनर्लेखन की समस्याएं

(१)

इतिहास और इतिहास-दर्शन

अतीत की घटनाओ के क्रमबद्ध आलेख का नाम इतिहास है। इसका एक बाह्य विधान होता है और एक अंतर्विधान। बाह्य विधान का सबंध मानव-जीवन की ऐहिक घटनाओ के विकास-क्रम के साथ है और अंतर्विधान का इन घटनाओ मे अंतर्व्याप्त चेतना के विकास-क्रम के साथ। दृष्टि-भेद के कारण कही बाह्य विधान का महत्त्व अधिक रहा और कही अंतर्विधान का। भौतिकवादी दृष्टिकोण, जिसकी पहली प्रामाणिक अभिव्यक्ति यूनानी इतिहासकार हिरोदोतस मे मिलती है, ऐहिक जीवन के विकास को आधार मानकर चलता है। वहा इतिहास का सत्य तथ्यो पर आश्रित रहता है। वह मूलत वस्तु-सत्य है—अनुभूति का सत्य भी वहा वस्तु-रूप मे ही स्वीकार्य होता है। इस दृष्टिकोण की परिणति है द्वंद्वात्मक भौतिकवाद। इसके विपरीत है आत्मवादी दृष्टिकोण जिसकी व्याख्या प्रसाद जी ने इस प्रकार की है . "आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते हैं। तब भी उसके तिथि-क्रम मात्र से संतुष्ट न होकर, मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा, इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते हैं। उसके मूल मे क्या रहस्य है ? आत्मा की अनुभूति ! हा, उसी भाव के रूप-ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे सत्य घटनाएं स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव मे परिणत हो जाती है। किंतु सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरंतन सत्य के रूप मे प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग-युग के पुरुषो की और पुरुषार्थो की अभिव्यक्ति होती रहती है।"*

पुराकाल मे भारतीय दृष्टि प्राय यही या इसी प्रकार की थी—इसीलिए यहां इतिहास रूपक और पुराण का रूप धारण करता रहा। प्रसाद ने इसे चेतना का इतिहास कहा है जो मानव-घटनाओ को नही वरन् उनमे निहित मानव-भावो के सत्य को आधार मानकर चलता है।† आधुनिक युग मे कान्ट और हीगल ने अपने नव्य आत्मवाद

* आमुख : 'कामायनी'।

† चेतना का सुंदर इतिहास—
अखिल मानव-भावो का सत्य
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य
अक्षरो में अंकित हो नित्य। (श्रद्धासर्ग, 'कामायनी')

के आलोक में इसी को नये ढंग से प्रस्तुत किया तथा श्री अरविन्द ने सूक्ष्मतर रूप में विकसित किया है। पहले संदर्भ मे इतिहास मानव-जीवन की ऐहिक यात्रा का वाचक है और दूसरे मे उसकी अंतर्यात्रा का आलेख है। इन दोनो दृष्टिकोणो की शक्ति और सीमा का सापेक्षिक मूल्यांकन करने का यहां अवकाश नही है। यहा इतना ही मान लेना पर्याप्त होगा कि जिस प्रकार मानव-व्यक्तित्व देह मे अभिव्यक्त चेतना का वाचक है, इसी प्रकार मानव-इतिहास भी ऐहिक घटनाओ द्वारा अभिव्यक्त मानव-चेतना के विकास का आलेख है—अर्थात् इतिहास मे जीवन के समग्र रूप का—उसके वहिरंतर विकास की परंपरा का—निरूपण रहता है। विकास की धारणा के विषय मे मनीषियो में मतभेद रहा है। आत्मवाद अथवा उससे प्रेरित आदर्शवाद द्वद्व को प्रतिक्रिया के अतर्गत स्वीकार कर जीवन की परिणति सामरस्य मे मानता है; अतः उसके विधान मे विकास का अर्थ है वाद+प्रतिवाद=समवाद। भौतिकवाद और उसका परिणामी यथार्थवाद द्वंद्व को ही सत्य मानता हुआ उसी को गति अथवा जीवन-विकास का आधार मानता है। जीवन-विकास की इन दो मौलिक कल्पनाओं से जीवन-दर्शन के विविध रूपो का जन्म और उनके आधार पर इतिहास के क्षेत्र मे इतिहास-दर्शन की विभिन्न धारणाओ का आविर्भाव हुआ है। जिस प्रकार जीवन-दर्शन मे जीवन के विकास-क्रम के एक विशेष विधान की कल्पना रहती है, इसी प्रकार इतिहास-दर्शन मे भी ऐतिहासिक क्रम-विकास का एक विधान निहित रहता है। सारांश यह है कि इतिहास मानव-जीवन की विकास-परंपरा का आलेख है और इतिहास-दर्शन वह आधारभूत सिद्धांत है जो इस समस्त परियोजना का संगठन करता है।

साहित्य का इतिहास

स्वतंत्र धारणा : औचित्य और संभावना

साहित्य का इतिहास क्या अपने आप मे कोई स्वतन्त्र विधा है?—इस विषय को लेकर विद्वानो मे काफी विवाद रहा है। एक अतिवादी मत तो यह है कि इतिहास का संबंध अतीत के साथ है जबकि साहित्य कभी अतीत नही बनता क्योकि साहित्य की अमर विभूतियां कालजयी होती हैं। अत. चिरवर्तमान के इतिहास की कल्पना ही असंगत है। इसके समर्थन मे एक तर्क और दिया जाता है। साहित्य की प्रत्येक कृति अपने अस्तित्व और आस्वाद मे स्वत.पूर्ण है, अत. काल-क्रम से अन्य कृतियो की परंपरा मे रखकर उसका अध्ययन करने से क्या लाभ? दूसरा मत यह है कि साहित्य के इतिहास की कल्पना तो असंगत है किंतु वह स्वतंत्र विधा नही है। वह या तो सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास का अंग है, या आलोचना का। इसमे एक पक्ष यह है कि साहित्य के आंदोलन और प्रवृत्तियां सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलनो और प्रवृत्तियो से अभिन्न रूप मे संबद्ध होती हैं, अत. साहित्य का इतिहास सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास का ही अंग है। दूसरा पक्ष यह है कि साहित्य का इतिहास काल-क्रम से साहित्यिक कृतियों की आलोचना मात्र प्रस्तुत करता है, अत. वह आलोचना का ही एक

रूप है। ये सभी तर्क साहित्य के इतिहास के संबंध मे कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न अवश्य उठाते हैं, किंतु उसके स्वतंत्र अस्तित्व का निषेध नही कर सकते। पहले तर्क में यह सिद्ध करने का प्रयास है कि साहित्य की विभूतियो का महत्व शाश्वत है—अतः उनका अतीत नही होता और इसलिए इतिहास भी नही होता है। परंतु इसमें अतीत और वर्तमान का जो भेद किया गया है वह स्वयं अपने आप मे संगत नही है. वर्तमान और अतीत की अविच्छिन्न परंपरा को स्वीकार किए बिना न अतीत का अध्ययन संभव है और न वर्तमान का। अमर काव्य की रचना शून्य मे नही हो जाती, उसके निर्माण की प्रक्रिया मे अतीत को अनेकविध सांस्कृतिक-साहित्यिक परंपराओ का अनिवार्य योगदान रहता है। निर्माण की प्रक्रिया और उसमे योगदान करने वाली प्रभाव-परंपराओ का ज्ञान ही इतिहास है जिसके बिना उसके वर्तमान स्वरूप का अध्ययन संभव नही हो सकता, क्योंकि कोई भी कृति अपने वर्तमान रूप मे सहसा उद्भूत नही हो जाती—एक विशेष रचना-प्रक्रिया मे ढल कर ही वह रूप ग्रहण करती है। दूसरा तर्क और भी कमजोर है। सामाजिक-सास्कृतिक जीवन का अग होने पर भी साहित्य का स्वतंत्र अस्तित्व है : वह सामाजिक-सांस्कृतिक प्रवृत्तियो से केवल प्रभावित ही नही होता, वरन् उन्हें प्रभावित भी करता है—वह एक सीमा के भीतर नियमित होकर भी नियता बनने की शक्ति रखता है। साथ ही, उसमें ऐसे काफी तत्त्व हैं जो अपने युग की सामाजिक-सास्कृतिक गतिविधि से पृथक् या ऊपर रहते है। अत. साहित्य का इतिहास सामाजिक-सास्कृतिक इतिहास का अगमात्र नही होता, क्योंकि साहित्य की मूलभूत सौदर्य-चेतना सामाजिक-सास्कृतिक चेतना का अंग न होकर उसका नवनीत या सुगंध होती है, जिसका विकास युगीन परिस्थितियो के परिवेश मे होने पर भी अपने आतरिक नियमो से अनुशासित रहता है। जैसा कि रैने वैलेक ने कहा है, साहित्य के स्वतत्र अस्तित्व पर अनावश्यक बल देने से इस प्रकार का प्रयास साहित्य का इतिहास नही बन पाता और सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश को केन्द्र मानकर चलने से वह साहित्य का इतिहास नही बन पाता।

इसी सदर्भ मे एक और प्रश्न यह है कि साहित्य के इतिहास की आवश्यकता क्या है? इसका सीधा उत्तर यह है कि राष्ट्र के जीवन-विकास के अध्ययन के लिए जो महत्त्व राजनीतिक-सामाजिक इतिहास का हो सकता है, वही साहित्य के सम्यक् अध्ययन के लिए साहित्यिक इतिहास का है। जिस प्रकार राष्ट्र के वर्तमान जीवन की गतिविधि को समझने-परखने के लिए उसके अतीत की परंपराओ का ज्ञान अपेक्षित है, इसी प्रकार साहित्य के वर्तमान स्वरूप की अवगति के लिए भी उसकी परपराओ का अध्ययन आवश्यक है। किसी भी पदार्थ का अध्ययन करने के लिए परिवेश और परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता होती है, यही इतिहास-दृष्टि है जिसके बिना अध्ययन एकागी रह जाता है।

साहित्य के इतिहास का स्वरूप

हत्य की व्यावहारिक परिभाषा इस प्रकार की जाती है: साहित्य शब्द-अर्थ मे

संचित ऐसी सामग्री का कोष है, जो अपने कथ्य और कथन-शैली के द्वारा सहृदय की चेतना का अनुरंजन करती है। इसी प्रकार इतिहास की भी व्यावहारिक परिभाषा यह हो सकती है किसी पदार्थ, व्यक्ति, जाति अथवा राष्ट्र के विकास-क्रम का देश-काल के परिवेश मे निरूपण ही इतिहास है, अर्थात् इतिहास का अर्थ है—देश-काल के परिवेश मे विकास-क्रम का निरूपण। इस प्रकार साहित्य के इतिहास का सामान्य लक्षण हुआ—देश-काल के परिवेश मे साहित्य की विकास-परपरा का निरूपण। तत्त्व-रूप मे साहित्य सौंदर्य-चेतना की अभिव्यक्ति का नाम है, अतः इस दृष्टि से साहित्य का इतिहास देश-काल के परिवेश मे सौंदर्य-चेतना और उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम उपकरणो के क्रम-विकास का निरूपण है। साहित्य के तत्त्व है—कथ्य के अंतर्गत भाव एवं विचार और कथन के अंतर्गत भाषा और शैली। इतिहास के तत्त्व हैं: देश-काल का परिवेश, प्रामाणिक-अप्रामाणिक सामग्री का निर्णय, विकास-क्रम का निरूपण, परंपरा के समष्टि-प्रवाह मे विशेष व्यक्तियों व घटनाओ का स्थान-निर्धारण तथा मूल्याकन। —इन दोनो के सयोग से साहित्य के इतिहास के तत्त्व बनते हैं · देश-काल के परिवेश अथवा राजनीतिक-सामाजिक-सास्कृतिक पृष्ठभूमि का विधान, प्रामाणिक-अप्रामाणिक सामग्री तथा साहित्य-असाहित्य का निर्णय, कथ्य के अनुसार साहित्य की वृत्तियो और कथन-शैली के अनुसार रूप-विधाओ का वर्गीकरण; काल-क्रम से उनकी विकास-परंपरा अर्थात् समान रूप-गुण की रचनाओ के अत संबधों के निरूपण, और अत मे परपरा के समप्टि-प्रवाह मे कृती, कवि-कलाकारो, विशिष्ट कृतियो, साहित्यिक घटनाओ अर्थात् महत्त्वपूर्ण परिवर्तनो और आदोलनो का मूल्याकन एव स्थान-निर्धारण।

साहित्य के इतिहास के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करने के लिए आलोचना से उसके संबंध और भेदाभेद का विवेचन उपयोगी होगा। इस विषय मे भी काफी विवाद है। कुछ विद्वान् जहा यह मानते है कि दोनो मे कोई मूल सबध नही है, वहा दूसरो का मत है कि साहित्य का इतिहास आलोचना का एक अग मात्र है। मैं समझता हू कि इन दोनो मतव्यो मे ही अतिरंजना है। साहित्य के इतिहास मे विकास-क्रम पर अधिक बल रहता है, इसमे सदेह नहीं; किंतु विकास का निरूपण भी तो आलोचना की अपेक्षा करता है। इसके अतिरिक्त प्रवृत्ति-विश्लेषण, मूल्याकन और स्थान-निर्धारण, जो इतिहास के प्रमुख तत्त्व हैं, आलोचना के बिना कैसे सपन्न हो सकते हैं? विवेचनात्मक या आलोचनात्मक विशेपण के बिना भी साहित्य का इतिहास आलोचना का आशय लेकर चलता है: शुक्ल जी का मात्र 'साहित्य का इतिहास' डा० रामकुमार वर्मा के 'आलोचनात्मक इतिहास' या डा० सूर्यकात के 'विवेचनात्मक इतिहास' की अपेक्षा कम आलोचनात्मक या विवेचनात्मक नही है। आज जब सामान्य इतिहास भी वृत्त-सग्रह मात्र न होकर प्रवृत्तियो और तथ्यो का आलोचनात्मक निरूपण प्रस्तुत करता है, तो साहित्य के इतिहास मे उसका अभाव कैसे हो सकता है? अतः साहित्य के इतिहास का आलोचना के साथ अनिवार्य पोष्य-पोषक सबध है, और ऐतिहासिक आलोचना से तो उसकी सीमा-रेखा प्राय. मिल ही जाती है। किंतु, ऐसा

होने पर भी, पहले का दूसरे मे अंतर्भाव नही माना जा सकता। दोनो की मूल प्रकृति मे भेद है : एक का केंद्र-बिंदु है परंपरा का निरूपण और दूसरे का मूल प्रयोजन है स्वरूप-विवेचन। साहित्य के इतिहास के लिए ऐतिहासिक पद्धति का अवलंबन अनिवार्य है, परन्तु आलोचना की अपनी प्रविधि और प्रक्रिया होती है, जो इतिहास की अपेक्षा शास्त्र से अधिक प्रभावित रहती है। जैसा कि शुक्ल जी ने पं० पद्मसिंह शर्मा के प्रसग मे लिखा है : परंपरा का उद्घाटन भी आलोचना का एक अग है, किंतु वह केवल एक अग ही है; परंपरा के निरूपण की सार्थकता भी यही है कि उससे साहित्य की प्रवृत्ति या कृतिविशेष के स्वरूप-विवेचन मे सहायता मिलती है। आलोचना मे बल कृतियो पर रहता है, किंतु इतिहास मे उनके अत:सबधो का निरूपण प्रमुख होता है। अतः दोनों मे मूल प्रयोजन, विवेचन-पद्धति और बलाबल का भेद है।

दृष्टिकोण और रूप

साहित्य के इतिहास-लेखन के विषय मे मूलत: दो दृष्टिकोण हैं। एक दृष्टिकोण यह है कि साहित्य का इतिहास भौतिक अर्थात् राजनीतिक-सामाजिक जीवन की विकास-परंपरा का ही अग है, अत: इसी के परिवेश और परिप्रेक्ष्य मे उसका अध्ययन एवं आकलन होना चाहिए। टेन ने अंगरेजी-साहित्य का इतिहास इसी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है : मार्क्सवादी लेखको के इतिहास इसी सिद्धात का निष्ठापूर्वक अनुसरण करते हैं—कॉडवेल की पुस्तक 'इल्यूजन एंड रिएलिटी' मे भौतिक जीवन की भूमिका पर अंगरेजी-साहित्य के विकास का निरूपण किया गया है। हिंदी मे डा० रामविलास शर्मा ने 'भारतेंदु-युग' का इतिहास इसी दृष्टि से लिखा है और डा० वार्ष्णेय ने 'आधुनिक हिंदी-साहित्य की भूमिका' मे वादमुक्त भाव से प्राय: इसी पद्धति का अवलबन किया है। दूसरा दृष्टिकोण इसके विपरीत है वह साहित्य की स्वायत्त सत्ता मानकर स्वतत्र विकास-परपरा के आलेख को ही साहित्य का वास्तविक इतिहास मानता है। यहा भौतिक पृष्ठभूमि की विशेष सगति या सार्थकता नही है; साहित्य और युग-जीवन की धाराए समानातर नही चलती, अत जीवन-युग के परिवेश मे साहित्य की गतिविधि का आकलन भ्रामक हो सकता है। इस मत के अनुसार, उदाहरण के लिए, हिंदी-साहित्य के विकास का निरूपण करने के लिए मध्य युग तथा आधुनिक युग की राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियो का विवेचन इतना आवश्यक नही है, जितना कि पूर्ववर्ती सस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य की परपरा तथा अन्य निकटवर्ती भाषाओ के साहित्य की गतिविधि का आकलन।

इस प्रसग मे भी, वास्तव मे, इन दोनो सीमातो का मध्यवर्ती, समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही ठीक है। साहित्य के इतिहास के लिए युग-जीवन का परिवेश आवश्यक है, किंतु उसका मुख्य प्रतिपाद्य साहित्य की विकास-परंपरा का निरूपण ही होना चाहिए—अर्थात् युग-जीवन के परिवेश मे साहित्य की विकास-परपरा का निरूपण करना ही साहित्य के इतिहासकार का कर्तव्य-कर्म है : इसके बिना इतिहास एकागी और अपूर्ण रहेगा।

सामग्री का विभाजन

सामग्री के विभाजन की कई विधिया हो सकती है। सबसे सीधी विधि है कालपरक, जिसका ध्येय रहता है काल के प्रवाह को शताब्दियो मे विभक्त कर रचना-क्रम से साहित्य-राशि का विवेचन और उसमे व्याप्त चेतना के विकास का निरूपण। दूसरी प्रमुख विधि है प्रवृत्तिपरक, जिसमे कृतियो और रचनाओ के साहित्यिक सबंधो का विवेचन करते हुए, उनकी मूल प्रेरणाओ के आधार पर सामग्री का विभाजन किया जाता है। इसमे कृति या कृतिकार का मूल्याकन स्वतत्र इकाई के रूप मे न होकर प्राय. किसी-न-किसी प्रवृत्ति के अतर्गत होता है। इसी प्रकार साहित्य की विभिन्न विधाओ के आधार पर भी विभाजन किया जाता है और साहित्य का इतिहास कविता, नाटक, उपन्यास आदि विधाओ के विकास का सकलित रूप बनकर सामने आता है। विभाजन का आधार भाषा भी हो सकती है, ऐसा वही संभव होता है जहा मूल भाषा के अनेक रूप साहित्य के माध्यम हो या रहे हो; जैसे हिंदी-साहित्य के इतिहास का आकलन ब्रज, अवधी, खडी बोली, राजस्थानी आदि उपभाषाओ के आधार पर भी किया जा सकता है।—ये सभी विधिया, अपने-अपने ढग से, एक सीमा तक उपयोगी हो सकती हैं, किंतु इनमे से कोई भी एक साहित्य के इतिहास का समग्र रूप प्रस्तुत नही कर सकती। अत यहा भी इन सभी के योग से एक समन्वित पद्धति का निर्माण करना होगा। काल-क्रम के बिना विकास-क्रम का निरूपण नही हो सकता, प्रवृत्ति-विश्लेपण के बिना सबध-सूत्रो का सधान सभव नही है और भाषा तथा विधा के भेद-ज्ञान के बिना स्वरूप-विवेचन नही हो सकता। अतः साहित्य के इतिहास मे प्रवृत्तियो का विश्लेषण करते हुए, रूप-विधाओ के अनुसार, काल-क्रम से साहित्य के विकास का आकलन होना चाहिए। यही समग्र और व्यावहारिक दृष्टिकोण है।

काल-विभाजन

काल-विभाजन और नामकरण साहित्य के इतिहास की महत्त्वपूर्ण समस्याए है। काल-विभाजन और नामकरण के आधार सामान्यतः इस प्रकार माने गये हैं :

(१) ऐतिहासिक काल-क्रम के अनुसार : आदि काल, मध्य काल, सक्राति काल, आधुनिक काल, आदि।

(२) शासक और उसके शासन-काल के अनुसार : एलिजाबेथ-युग, विक्टोरिया-युग, मराठा-काल, आदि।

(३) लोकनायक और उसके प्रभाव-काल के अनुसार : चैतन्य-काल (बगला), गाधी-युग (गुजराती), आदि।

(४) साहित्य-नेता एव उसकी प्रभाव-परिधि के आधार पर : रवीद्र-युग, भारतेंदु-युग, आदि।

(५) राष्ट्रीय, सामाजिक अथवा सास्कृतिक घटना या आदोलन के आधार पर : भक्ति-काल, पुनर्जागरण काल, सुधार-काल, युद्धोत्तर काल (प्रथम महायुद्ध के बाद का काल-खड), स्वातंत्र्योत्तर काल, आदि।

(६) साहित्यिक प्रवृत्ति के नाम पर : रोमानी युग, रीतिकाल, छायावाद-युग आदि।

इस प्रसंग मे पहला प्रश्न तो यही है कि इस प्रकार के विभाजन की आवश्यकता क्या है ? इसका उत्तर स्पष्ट है और वह यह कि वस्तु के समग्र रूप का दर्शन करने के लिए भी उसके अंगो का ही निरीक्षण करना पडता है. हमारी दृष्टि शरीर के विभिन्न अवयवो का अवलोकन करती हुई, संपूर्ण व्यक्तित्व का दर्शन करती है। अवयवो को पृथक् मानकर उनका निरीक्षण करना खड-दर्शन है, किंतु उनको व्यक्तित्व के अंग मानकर देखना समग्र-दर्शन है। और, यही सहज विधि है क्योंकि निरवयव रूप का दर्शन अपने आप मे कठिन है। इसके अतिरिक्त जीवन या साहित्य को अखड प्रवाह-रूप मानने पर भी इस बात से तो इनकार नही किया जा सकता कि उसमे समय-समय पर दिशा-परिवर्तन और रूप-परिवर्तन होता रहता है। दृष्टि की अपनी सीमाएं होती हैं, वह सभी कुछ एक साथ नही देख सकती, इसलिए अंगो पर होती हुई ही अगी का अवलोकन करती है। अतः यह बराबर ध्यान मे रखते हुए कि साहित्य की अखंड परंपरा का निरूपण ही इतिहास का लक्ष्य है, समय-समय पर उपस्थित दिशा-परिवर्तनो और रूप-परिवर्तनों के अनुसार विकास-क्रम का अध्ययन करना सिर्फ़ उचित ही नही है, बल्कि जरूरी भी है।

दूसरा विचारणीय प्रश्न है आधार का काल-विभाजन का सही आधार क्या हो सकता है ? वर्ग-विभाजन प्राय· समान प्रकृति और प्रवृत्ति के आधार पर किया जाता है : समान प्रकृति के अनेक पदार्थ मिलकर एक वर्ग बनाते हैं और इस प्रकार समप्रकृति के आधार पर अनेक वर्गों मे विभक्त होकर अस्तव्यस्त समूह व्यवस्थित रूप धारण कर लेता है। जिस प्रकार प्रवाह के अंदर अनेक धाराए होती हैं, उसी प्रकार इतिहास मे भी अनेक प्रवृत्तिया होती हैं, और इन प्रवृत्तियो का आदि-अत या उतार-चढाव ही इतिहास के काल-विभाजन अर्थात् विभिन्न गुणो की सीमाओ का निर्धारण करता है. यह वर्ग-विभाजन परिपूर्ण नही हो सकता, इसका रूप प्राय स्थूल और आनुमानिक होता है, फिर भी समूह का पर्यवेक्षण करने मे इससे बडी सहायता मिलती है। काल-विभाजन का आधार भी समान प्रकृति और प्रवृत्ति ही होती है। जन-जीवन की प्रवृत्तियो व रीति-आदर्शों की समानता के आधार पर सामाजिक इतिहास का काल-विभाजन होता है और राजनीतिक परिस्थितियो की समानता राजनीतिक इतिहास के काल-विभाजन का आधार बनती है। इसी प्रकार साहित्यिक प्रवृत्तियो और रीति-आदर्शों का साम्य-वैषम्य ही साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन का आधार हो सकता है। समान प्रकृति और प्रवृत्ति की रचनाओ का, काल-क्रम से वर्गीकृत अध्ययन कर साहित्य का इतिहासकार संपूर्ण साहित्य-समष्टि का समवेत अध्ययन करने का प्रयत्न करता है।

इसी प्रकार, नामकरण के पीछे भी कुछ-न-कुछ तर्क अवश्य रहता है, अथवा रहना चाहिए। नाम की सार्थकता इसमे है कि वह पदार्थ के गुण अथवा धर्म का मुख्यत. द्योतन कर सके। इस तर्क से, किसी काल-खड का नाम ऐसा होना

चाहिए जो उसकी मूल साहित्य-चेतना को प्रतिबिंबित कर सके। शासक के नाम पर भी काल-खड का नामकरण तभी मान्य हो सकता है या हुआ है, जब उस शासक विशेष के व्यक्तित्व ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से साहित्य की गतिविधि को प्रभावित किया है। उदाहरण के लिए, एलिजाबेथ और विक्टोरिया—दोनो के राजनीतिक एवं सामाजिक व्यक्तित्व एव शासन-तत्र ने अपने युग-जीवन को प्रभावित करते हुए साहित्य की गतिविधि पर भी गहरा प्रभाव डाला था। यही तर्क लोकनायक के विषय मे है। चैतन्य या गाधी का अपने युग के सास्कृतिक-सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव था, जो साहित्य मे व्यापक रूप से मुखरित होता रहा। उधर साहित्यिक नेता भी युग विशेष की साहित्य-चेतना का प्रतिनिधि होने पर ही इस गौरव का अधिकारी होता है। शेक्सपियर, रवीन्द्रनाथ या भारतेन्दु व्यक्ति न होकर सस्था थे—युग-निर्माता थे—जिनके कृतित्व ने अपने-अपने युग की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तियो को प्रभावित किया था। राष्ट्रीय महत्त्व की घटना—जैसे महायुद्ध, भारतीय स्वतन्त्रता की घोषणा, अथवा किसी व्यापक आदोलन या प्रवृत्ति के अनुसार नामकरण की सार्थकता और भी अधिक स्पष्ट है: भक्ति, पुनर्जागरण अथवा राष्ट्रीय आदोलन का प्रभाव जितना समाज पर था, उतना ही साहित्य पर भी। और, अत मे, साहित्यिक प्रवृत्ति के विषय मे तो कहना ही क्या? उसके अनुसार नामकरण की सार्थकता स्वत सिद्ध है। कहने का अभिप्राय यह है कि साहित्य के इतिहास मे नामकरण का मूल आधार है काल-विशेष की साहित्यिक चेतना का प्रतिफलन, जिसका माध्यम सामान्यत. उस युग की सर्वप्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति ही हो सकती है। लेकिन यह अनिवार्य नही है और इस प्रसग मे एक सीमा से आगे एकरूपता का प्रयत्न करना ही अधिक सगत नही है। यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक कालखड मे कोई एक प्रवृत्ति समग्र साहित्य-चेतना का प्रतिनिधित्व कर सके। जहा ऐसा होता है वहा नामकरण का प्रश्न आसानी से हल हो जाता है—जैसे रीति-काल मे या रोमानी युग मे या छायावाद-युग मे। लेकिन ऐसा सदा नही होता। कभी-कभी कोई राष्ट्रीय-सास्कृतिक प्रवृत्ति इतनी बलवती होती है कि वह समाज और साहित्य को एक साथ और समान रूप से प्रभावित करती है—जैसे भक्ति, पुनर्जागरण या सुधार-आदोलन। ऐसी स्थिति मे नामकरण का आधार सास्कृतिक प्रवृत्ति ही होगी, क्योकि साहित्य-चेतना की प्रेरक वही है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी किसी लोकनायक या साहित्य-नेता का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली होता है कि वह सपूर्ण युग की चेतना को व्याप्त कर लेता है: चैतन्य महाप्रभु, गाधी और रवीन्द्रनाथ का व्यक्तित्व ऐसा ही था। अत: यहा भी साहित्यिक प्रवृत्ति के अनुसार नामकरण उचित नही होगा। किसी-किसी युग मे ऐसा भी होता है कि किसी एक प्रवृत्ति को प्रमुख या प्रतिनिधि प्रवृत्ति मानना संभव नही होता। वहा सायास किसी प्रवृत्ति को आधार मानकर नामकरण अनुचित होता है: 'वीरगाथा काल' नाम इसका प्रमाण है,—अत. ऐसी स्थिति मे 'आदि काल' जैसा निर्विशेष नाम ही अधिक उपयोगी होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि काल-विभाजन और नामकरण मे एकरूपता अनिवार्य नही है। आवश्यकता इस बात की है कि काल-विभाजन विवेक-

सम्मत हो, जो साहित्य की परपरा को सही रूप मे समझने मे सहायक हो। साथ ही, नाम भी ऐसा होना चाहिए जो युग की साहित्य-चेतना का सही ढंग से प्रतिफलन करता हो, यदि साहित्यिक नामकरण मे भ्राति उत्पन्न होती हो तो अन्य उचित आधार ग्रहण करने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए : नाम के लिए रूप का बलिदान नही करना चाहिए।

रैने वैलेक ने अपने निबध मे इस मिश्रित पद्धति की आलोचना की है : "फिर भी प्रचलित नामो का यह मिश्रित आधार कुछ-न-कुछ परेशानी अवश्य पैदा करता है। 'सुधारवाद' चर्च के इतिहास से आया है; 'मानववाद' मुख्यतः प्राचीन मानविकी विद्याओ के इतिहास से; 'पुनर्जागरण' कला के इतिहास से, 'प्रजाधिपत्य' और 'पुनः-स्थापन' का सबंध राजनीतिक घटनाओ के साथ है। 'अठारहवी शती' पुराना संख्या-वाचक पद है जिससे 'ऑगस्टन', 'नव्य-शास्त्रवाद' तथा 'पूर्व-स्वच्छदतावाद' आदि साहि-त्यिक शब्दो का अर्थ-बोध होने लगा है। 'पूर्व-स्वच्छदतावाद' और 'स्वछंदतावाद' मुख्यत. साहित्यिक शब्द हैं, जबकि 'विक्टोरिया-युग', 'एडवर्ड-युग' और 'जॉर्ज-युग' नाम-पद राजाओ के शासन-काल से ग्रहण किये गये हैं। इसका अनिवार्य निष्कर्ष यह है कि यह नामावली राजनीति, साहित्य और कला के शब्दो का गोरखधधा मात्र है, जिसका औचित्य सिद्ध नही किया जा सकता।"—हमारे विचार से यह मंतव्य एक सीमा से आगे मान्य नही हो सकता। कम-से-कम व्यवहार मे अभी तक, केवल साहित्य-चेतना के आधार पर, काल-विभाजन तथा नामकरण मे आधार की एकरूपता का निर्वाह सभव नही हुआ और उसको सायास सिद्ध कर देने से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो सकती है। इसका अर्थ यह नही है कि अगरेजी-साहित्य के सभी काल-खडो के नाम ठीक है—एडवर्ड, जॉर्ज आदि शासको अथवा 'प्रजाशासन', 'प्रत्यावर्तन' आदि राज-नीतिक घटनाओ के नाम पर साहित्य के इतिहास का नामकरण तो एकदम असंगत है, क्योकि ये नाम-पद किसी प्रकार की साहित्य-चेतना की व्यजना नही करते। किंतु 'विक्टोरियन' शब्द व्यक्तिवाचक न रह कर एक विशेष जीवन-दृष्टि और साहित्य-चेतना का वाचक बन गया है और अब यह इतना अधिक अर्थ-गर्भित हो गया है कि इसके स्थान पर किसी दूसरे शब्द का प्रयोग करने से अनावश्यक भ्राति ही हो सकती है। इसी प्रकार सास्कृतिक नाम-पदो की भी अपनी सार्थकता है। वैलेक की तरह मैं भी साहित्य-चेतना पर पूरा बल देना चाहता हू, और मैं यह भी मानता हू कि नाम-करण के लिए प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति का आधार ग्रहण करना अधिक सगत है, किंतु प्रत्येक स्थिति मे किसी युग की समग्र साहित्य-चेतना का द्योतन किसी साहित्यिक प्रवृत्ति के द्वारा ही सभव है—यह मानना कम-से-कम व्यवहार मे कठिन हो सकता है, और है। इसलिए आधार को लचीला रखना होगा और यह मान कर चलना होगा कि कोई नाम पदार्थ के संपूर्ण व्यक्तित्व का वाचक नही हो सकता। सामान्यत' नाम संकेत मात्र होता है, विशेष परिस्थिति में प्रतीक हो सकता है, किंतु पूर्ण बिंब तो यह नही हो सकता। इतिहास मे नाम का प्रयोग प्रतीक के रूप मे करना ही अधिक संगत है और जहा यह संभावना न हो वहा संकेत मात्र से काम चल सकता है. नाम मे

अशुद्ध या अस्पष्ट प्रतीकार्थ भरने या उसे बिंब का रूप प्रदान करने की चेष्टा व्यर्थ है।

उक्त विवेचना का साराश यह है—

१. साहित्य का इतिहास एक स्वतत्र विधा है और इसका अपना महत्त्व है।

२. इसमे ऐतिहासिक दृष्टिकोण और पद्धति का अवलबन किया जाता है और आलोचना का विषय-प्रतिपादन मे साधन-रूप से प्रयोग होता है।

३. इसका मूल प्रयोजन है साहित्य की विकास-परपरा का निरूपण और अन्य मुख्य प्रयोजन हैं परिवेश के साथ साहित्य के सबध की स्थापना, कृतियो और कृतिकारो के साहित्यिक संबधो का विवेचन, उनके आधार पर प्रवृत्तियो और विधाओ का निरूपण, कला के प्रतिमानो द्वारा मूल्याकन और साहित्य की परपरा के अतर्गत स्थान-निर्धारण।

४. इसका मुख्य उद्देश्य साहित्य की परपरा का परिदर्शन ही है, परतु अध्ययन की सुविधा के लिए काल-विभाजन भी आवश्यक है।

५ काल-विभाजन साहित्यिक प्रवृत्तियो और रीति-आदर्शो की समानता के आधार पर होना चाहिए।

६ युगो का नामकरण यथासंभव मूल साहित्य-चेतना को ही आधार मान-कर, साहित्यिक प्रवृत्ति के अनुसार करना चाहिए; किंतु जहा ऐसा नही हो सकता वहा राष्ट्रीय-सास्कृतिक प्रवृत्ति को आधार बनाया जा सकता है या फिर कभी-कभी विकल्प न होने पर, निर्विशेप कालवाचक नाम को भी स्वीकार किया जा सकता है। नामकरण मे एकरूपता काम्य है किंतु उसे सायास सिद्ध करने के लिए भ्रातिपूर्ण नाम-करण करना उचित नही है।

७ युगो का सीमाकन मूल प्रवृत्तियो के आरभ और अवसान के अनुसार होना चाहिए। जहा साहित्य के मूल स्वर अथवा उसकी मूल चेतना मे परिवर्तन लक्षित हो और नये स्वर एवं नयी चेतना का उदय हो वहा युग की पूर्व-सीमा, और जहा वह समाप्त होने लगे वहा उत्तर-सीमा माननी चाहिए।

(२)
हिंदी-साहित्य का इतिहास

१. पुनर्लेखन की आवश्यकता

हिंदी-साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता है—इस विषय मे दो मत नही हो सकते। इसके दो स्पष्ट कारण हैं : साहित्य-चेतना का विकास और नवीन शोध-परिणाम। प्रत्येक युग मे साहित्य-चेतना मे निरतर परिवर्तन या विकास होता रहता है : वर्तमान युग का साहित्य-चिंतन वैसा नही है जैसा आचार्य शुक्ल के समय मे आज से चालीस वर्ष पूर्व था। यद्यपि साहित्य के मौलिक प्रतिमान अधिक नही बदलते, फिर भी बदलते हुए युग-बोध के कारण परिप्रेक्ष्य, प्रविधि-प्रक्रिया आदि

में परिवर्तन निश्चय ही होता है। दूसरा प्रमुख कारण यह है कि पिछले दशकों मे निरंतर अनुसंधान के फलस्वरूप प्रचुर नवीन सामग्री प्रकाश मे आयी है, और अनेक स्वीकृत तथ्यो का संशोधन हुआ है जिनसे पूर्ववर्ती निर्णय और निष्कर्ष अनिवार्यतः बदल गये है। इनके अतिरिक्त एक सूक्ष्मतर कारण और भी है। जैसाकि इलियट ने कहा है, केवल अतीत ही वर्तमान को प्रभावित नही करता—वर्तमान भी अतीत को प्रभावित करता है। इस तर्क से प्रत्येक युग में साहित्य के नये विकास-रूप उसके पूर्व-रूपो के मूल्याकन को प्रभावित करते रहते हैं। उदाहरण के लिए, मिश्रबंधुओ के समय तक श्रेष्ठ कवियो की जो परंपरा थी उसमें मैथिलीशरण, प्रसाद, निराला, पंत आदि के आविर्भाव के बाद निश्चय ही परिवर्तन हो गया है। हिंदी-महाकाव्य-परपरा में 'रामचरितमानस', 'रामचद्रिका' आदि का स्थान निर्धारण करने के लिए, 'प्रिय-प्रवास, 'साकेत' और 'कामायनी' की रचना के बाद, आज फिर से विचार करना पडेगा। किसी शृंखला में जब नयी कडिया जुडती हैं तो स्वभावत. पुरानी कडियो की स्थिति पूर्ववत् नही रह जाती। अत· नवीन शोध-परिणामो के आधार पर, विकास-शील साहित्य-चेतना के आलोक में, सपूर्ण प्ररिदृश्य का पुनरवलोकन सर्वथा आवश्यक है।

२. दो मौलिक प्रश्न

हिंदी-साहित्य के इतिहास के संदर्भ मे दो मौलिक प्रश्नो का समाधान कर लेना आवश्यक है :

(१) हिंदी का स्वरूप-विस्तार कहा तक है ?

(२) साहित्य की सीमा क्या है ?

हिंदी के स्वरूप-विस्तार का प्रश्न कुछ राजनीतिक कारणो से उलझ गया है। हिंदी-विद्वान् और अन्य भाषाविद् आरभ से ही स्वीकार करते आये है कि भारत-वर्ष के जितने भूभाग में वर्तमान हिंदी या खडी बोली हिंदी सामाजिक व्यवहार—अर्थात् पत्राचार, शिक्षा-दीक्षा, सार्वजनिक आयोजन, विचार-विनिमय तथा साहित्यिक अभिव्यक्ति आदि की माध्यम भाषा है, वह सब-का-सब हिंदी-प्रदेश है और उसके अंतर्गत वोली जाने वाली सभी भाषाएँ हिंदी की उपभाषाएँ हैं। इस दृष्टि से वर्तमान बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश व दिल्ली का इलाका हिंदी-क्षेत्र मे आता है और मैथिली, मगही, भोजपुरी, पूर्वी अवधी, पश्चिमी अवधी, बघेलखडी, ब्रज, कन्नौजी, बुदेलखंडी, राजस्थानी के विभिन्न रूप, कुमाऊनी आदि पहाडी बोलिया हिंदी की शाखा-प्रशाखाएं हैं। यह परिभाषा नयी नही है, इसका स्वरूप उस समय निर्धारित हो गया था जब भाषायी राज्यो और उनके प्रलोभनो की कल्पना भी किसी को न थी। हिंदी का यह 'बृहत्तर' या 'विशाल'—यानी राज-नीतिक उद्देश्यो से विस्तारित—रूप नही है, स्वाभाविक तर्कसम्मत रूप है, जिसके विषय मे अभी कुछ समय पूर्व तक कोई विवाद नही था। लेकिन अब लगभग पाच-छह वर्षों से यह विवाद जोर पकड रहा है। एक मत यह है कि हिंदी का अर्थ वर्तमान

हिंदी या खडीबोली हिंदी ही है। मैथिली और राजस्थानी तो स्वतंत्र भाषाए हैं ही—भाषाविज्ञान के आधार पर उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति हिंदी से अत्यत भिन्न हैं; अवधी और ब्रज का भी अपना पृथक् अस्तित्व है—ये दोनो एक-दूसरे से भी भिन्न हैं और वर्तमान हिंदी से भी। यह नारा हिंदी-विरोधी शिविर से उठाया गया है और हिंदी के भी कुछ-एक अधिक प्रगतिशील लेखक इसमे शामिल हो गये हैं। मैथिली और राजस्थानी को तो साहित्य-अकादमी जैसी सस्था ने मान्यता दे ही दी है, और उनके साहित्य के स्वतंत्र प्रकाशन तथा अध्ययन-अध्यापन का क्रम चलने लगा है। ब्रज तथा अवधी, जिनका साहित्य कही अधिक समृद्ध है, और भी औचित्यपूर्वक यह दावा कर सकती हैं। दूसरा मत विस्तारवादी है जिसके अनुसार उर्दू भी हिंदी की ही उप-भाषा है और ब्रजभाषा आदि की तरह उर्दू का साहित्य भी हिंदी-साहित्य का अग है। नागरी प्रचारिणी सभा तथा भारतीय हिंदी-परिषद् के इतिहासो मे उर्दू-साहित्य के विकास का भी निरूपण किया गया है।

इस विषय मे हमे सतुलित दृष्टि से विचार करना चाहिए। एक बात तो यह साफ है कि उर्दू का हिंदी-साहित्य के इतिहास मे अतर्भाव करना उचित नही है—प्रसाद और इकबाल को एक ही भाषा के कवि मानना संगत नही है। इसमे सदेह नही कि दोनो मे कुछ तत्त्व समान हैं, परतु असमान तत्त्व कही अधिक हैं। अत. हिंदी-साहित्य के इतिहास मे उर्दू के समावेश का बरबस प्रयास करना व्यर्थ है। मैथिली और राजस्थानी-साहित्य का इतिहास आदि काल से ही हिंदी-साहित्य के साथ सबद्ध रहा है और विद्यापति, चद, नरपति नाल्ह, पृथ्वीराज आदि कवियो को हिंदी-साहित्य के इतिहास मे निरतर महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता रहा है। परतु भाषा की कठिनाई के कारण, साथ ही पर्याप्त शोध-सामग्री का प्रकाशन न होने से, इन भाषाओ के कवि-लेखको तथा उनकी कृतियो के साथ उचित न्याय नही हुआ। परवर्ती शोध के परि-णामस्वरूप इन दोनो भाषाओ का समृद्ध साहित्य प्रकाश मे आया है। राजस्थानी मे रासो, मुक्तक, वीरकाव्य तथा नीतिकाव्य की समृद्ध परपरा तथा गद्य के विविध रूपो के पुष्ट उदाहरण मिलते हैं और उधर मैथिली के गीतकाव्य का माधुर्य भी अपूर्व है। इसी प्रकार गुरुमुखी मे लिपिबद्ध हिंदी गद्य-पद्य का प्रचुर साहित्य आज उपलब्ध है, जिससे हिंदी-साहित्य का इतिहासकार या तो अनभिज्ञ रहा है या पंजाबी समझ कर उसे उपेक्षित करता रहा है। इस सपूर्ण वाङ्मय का हिंदी-साहित्य के इतिहास मे विवेकपूर्वक उपयोग करना चाहिए, क्योकि हिंदी की सही परिभाषा के अनुसार यह सब हिंदी-साहित्य का ही अंग है।

कुछ ऐसी ही शंका आदि काल की हिंदी के विषय मे भी उठती है। उस समय की हिंदी का स्वरूप अपभ्रंश, डिंगल-पिंगल और सीमावर्ती क्षेत्रो मे गुजराती, पंजाबी आदि भाषाओ के साथ इस प्रकार उलझा हुआ है कि इतिहासकार भ्रम मे पड जाता है। वह वस्तुत. भारतीय भाषाओ का उद्भव-काल है, जिसमे प्राय सभी के स्वरूप अनिश्चित और अस्थिर हैं। इसीलिए हिंदी मे भी कुछ-एक पूर्ववर्ती और निकटवर्ती भाषा-रूपो का अतर्भाव हो जाना स्वाभाविक है। अत: इस विषय मे अधिक

शुद्धतावादी दृष्टिकोण अपनाना ठीक नही होगा। भाषा-विज्ञान ने अपभ्रंश भाषा-वर्ग के लक्षण एक सीमा तक स्थिर कर दिए हैं और यह भी काफी हद तक निश्चित हो गया है कि अपभ्रंश के विभिन्न भेद अपने-अपने क्षेत्रो की आधुनिक भारतीय भाषाओ के पूर्ववर्ती होने पर भी उनसे पृथक् हैं। ऐसी स्थिति मे अपभ्रंश-साहित्य को, पृष्ठभूमि के रूप मे ही ग्रहण किया जा सकता है। किंतु, फिर भी, हिंदी का कोई स्थिर या निश्चित स्वरूप मानकर चलना कठिन है। इस सदर्भ मे, व्यावहारिक दृष्टि-कोण यही है कि ऐसी सभी रचनाओ को, जिनके अधिकांश भाषिक रूप हिंदी की उपभाषाओ के भाषिक रूपो से अभिन्न हैं, हिंदी के अतर्गत मान लेना चाहिए।

दूसरा प्रश्न यह है कि इतिहास के संदर्भ मे साहित्य की सीमा कहा तक मानी जाए ? मेरा विचार यह है इस विषय मे हमारा दृष्टिकोण व्यापक ही होना चाहिए और रस के साहित्य के अतिरिक्त ज्ञान के साहित्य का भी अंतर्भाव करना चाहिए। यह ठीक है कि साहित्य का अर्थ मूलतः यहां भी सर्जनात्मक साहित्य ही है और एक सीमा से आगे सपूर्ण वाड्मय को उसके साथ समेटना सभव नही है। मध्य-युग मे आयुर्वेद, ज्योतिष आदि शास्त्र तथा साप्रदायिक साहित्य आदि—सभी कुछ—पद्य मे ही लिखे गये हैं और गद्य मे भी अनेक कच्ची-पक्की टीकाएं वचनिकाएं, वार्ताएं ख्यातें और वातें मिलती हैं। इधर आधुनिक युग मे ज्ञान-विज्ञान के असंख्य ग्रथो की रचना निरतर हो रही है। यह सब तो साहित्य के अतर्गत नही आ सकता। लेकिन साथ ही इस प्रकार के समस्त वाड्मय का नियमत. त्याग करना भी उचित नही है। उदाहरण के लिए, आदिकाल मे रचित गोरखनाथ आदि की बानी या परवर्ती युग का वार्ता-साहित्य शुद्ध साहित्य की परिधि मे नही आता; किंतु क्या इतिहासकार उनकी उपेक्षा कर सकता है ? उनके अभाव मे विकास-परंपरा की कुछ आवश्यक कड़ियां लुप्त हो जाएंगी। आधुनिक काल के आरंभ में रचित स्वामी दयानद का 'सत्यार्थ-प्रकाश' निश्चय ही ललित साहित्य का अंग नहीं है, परंतु क्या आलोचना की भाषा के विकास का अध्ययन उसके बिना संभव है ? इसी प्रकार, वर्तमान युग मे भी ज्ञान के साहित्य के ऐसे अनेक गौरव-ग्रथ हैं, जिनका उल्लेख इतिहास मे करना अनिवार्य है। एक ओर भाषाविज्ञान, पाठविज्ञान, कोशविज्ञान, पत्रकारिता आदि और दूसरी ओर दर्शन, इतिहास, भूगोल, राजनीतिशास्त्र आदि के क्षेत्रो की उपलब्धियां कथ्य की दृष्टि से साहित्य के अंतर्गत भले ही नही आती, किंतु वे प्रकारातर से गद्य-शैली के विकास मे योगदान करती हैं, इसका निषेध नही किया जा सकता। अतः इतिहासकार को यहां भी विवेकपूर्वक, प्रमुख और गौण का भेद करते हुए, वाड्मय के दोनो रूपो को स्वीकार कर चलना चाहिए—अर्थात् रस के साहित्य को प्रधान विषय बनाकर उसके पोषक रूप मे ज्ञान के साहित्य का आकलन करना चाहिए।

३. आधार-स्रोत

पिछले चार दशको मे अनेक नवीन आधार-स्रोतों का उद्घाटन हुआ है और प्रचुर सामग्री प्रकाश मे आयी है। वर्तमान शती के प्रथम चरण तक इस प्रकार के

साधन अत्यंत सीमित थे और इतिहासकार को प्राय: सभा की खोज-रिपोर्ट या विद्वानों के व्यक्तिगत प्रयासो पर ही निर्भर करना पडता था। परंतु आज सभी क्षेत्रो मे अनेक संस्थाएं व्यवस्थित रूप से कार्य कर रही हैं और नित्य नवीन सामग्री का प्रकाशन हो रहा है। स्वभावतः इन शोध-परिणामो का उपयोग करना इतिहासकार के लिए आवश्यक हो गया है। परतु इस विषय मे काफी सावधान होकर कार्य करना चाहिए। इतिहास मे ऐसी सामग्री का ही उपयोग करना चाहिए जिसकी प्रामाणिकता असदिग्ध है। संदिग्ध का भी, यदि वह साहित्य के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, उल्लेख करना आवश्यक हो सकता है, परतु उस पर प्रश्नवाचक चिह्न अवश्य रहना चाहिए। हमारे साहित्य की काफी महत्त्वपूर्ण सामग्री ऐसी है जिसकी अप्रामाणिकता सिद्ध हो चुकी है—उसके प्रति मोह अनुचित है और इतिहासकार के सामने वस्तुस्थिति को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नही है। किंतु प्रामाणिकता के प्रश्न पर भी अत्यत सतर्कता की आवश्यकता है। प्रत्येक नवीन शोध-परिणाम प्रामाणिक नही होता, प्रमाण-सिद्ध स्थापनाओं को समय-सिद्ध होने मे देर लगती है; अत नवीनतम के प्रति आग्रह भी इतिहास का गुण नही है। जिस प्रकार अप्रामाणिक मान्यताओ से चिपके रहना गलत है, इसी प्रकार हर नयी कच्ची-पक्की स्थापना के आधार पर समय-सिद्ध धारणाओ को नकारना भी खतरनाक है।

४ मौलिकता का प्रश्न

इतिहास के क्षेत्र मे मौलिकता का केंद्रबिंदु है प्रकल्पना, अर्थात् विकास-परपरा का परिदर्शन। वास्तव मे इतिहास-लेखन ऐतिहासिक अनुसधान का पर्याय नही है। ऐतिहासिक अनुसंधाता जहा नवीन तथ्यो के अन्वेषण और उपलब्ध तथ्यो के नवीन आख्यान पर बल देता है, वहा इतिहास-लेखक इन दोनो दिशाओ मे एक सीमा से आगे नही बढ सकता। उसके लिए नवीन की अपेक्षा प्रामाणिक और समय-सिद्ध का अधिक महत्त्व है नये तथ्यो और नये शोध-निष्कर्षो का वह आदर करता है, किंतु उसके लिए वे तब तक ग्राह्य नही होते जब तक कि समय का प्रमाणपत्र उन्हे प्राप्त न हो जाए। इसी प्रकार कृतियो तथा कृतिकारो की समीक्षा एवं मूल्याकन मे उसका अपना मौलिक दृष्टिकोण हो सकता है जो आलोचना के क्षेत्र मे निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है, परतु इतिहास मे एक सीमा से आगे उसका आग्रह करने से संतुलन भग हो सकता है। इतिहास मे तो समन्वयात्मक दृष्टिकोण और संतुलित विवेचन ही अधिक काम्य है।

६ सामग्री का विभाजन और संयोजन; काल-विभाजन

हिंदी-साहित्य के इतिहास-ग्रथो मे प्रायः चार पद्धतियो का अवलबन किया गया है। पहली पद्धति के अनुसार सपूर्ण इतिहास का विभाजन चार युगो अथवा काल-खडो मे किया गया है : (१) आदि काल, (२) भक्ति काल, (३) रीति काल, (४) आधुनिक काल। आचार्य शुक्ल और उनके अनुकरण पर नागरी प्रचारिणी सभा के इतिहास मे इसी का अनुसरण किया गया है। दूसरे क्रम के अनुसार केवल तीन युगो

की कल्पना ही विवेकसम्मत है · (१) आदि काल (२) मध्य काल और (३) आधुनिक काल। भारतीय हिंदी-परिषद् के इतिहास मे इसे ही स्वीकार किया गया है और डा० गणपतिचद्र गुप्त ने अपने वैज्ञानिक इतिहास मे इसी का अनुमोदन किया है। इसके पीछे तर्क यह है कि मध्यकालीन साहित्य की चेतना प्राय· एक है, सत्रहवी शती के मध्य मे या उसके आगे-पीछे उसमे कोई ऐसा मौलिक परिवर्तन नही हुआ, जिसके आधार पर युग-परिवर्तन की मान्यता सिद्ध की जा सके। सतकाव्य, प्रेमाख्यान काव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य, वीरकाव्य, नीतिकाव्य, रीतिकाव्य, आदि की धाराएं पूरे मध्यकाल मे पाच शताब्दियो तक अखड रूप से प्रवाहित होती रही—उनमे उतार-चढाव अवश्य आये किंतु मौलिक परिवर्तन नही हुआ। हिंदी-साहित्य के रसज्ञ, प्रसिद्ध इतिहासकार डा० रामप्रसाद त्रिपाठी का आरभ से यही मत रहा है।

तीसरी पद्धति साहित्य के इतिहास का विभाजन विधाओ के क्रम मे करती है। इसका आधार यह है कि समस्त साहित्य-राशि का एकत्र अध्ययन करने की अपेक्षा कविता तथा गद्य-साहित्य की विविध विधाओ के इतिहास का वर्गीकृत अध्ययन साहित्यशास्त्र के अधिक अनुकूल है। इस प्रकार के अनेक इतिहास या खड-इतिहास हिंदी मे उपलब्ध हैं।

इनके अतिरिक्त, एक और ऋजु पद्धति है जो शुद्ध काल-क्रम के अनुसार वस्तुगत विभाजन को ही अधिक यथार्थ मानती है। इसके प्रवक्ताओ का तर्क है कि किसी विचारधारा अथवा साहित्यिक दृष्टिकोण का आरोपण करने से परिदृश्य विकृत हो जाता है और यथार्थ-दर्शन मे बाधा पडती है—अत स्वाभाविक काल-क्रम के अनुसार ही सामग्री का विभाजन करना समीचीन है। इस पद्धति का अवलबन आरभ मे विदेशी विद्वानो द्वारा प्रस्तुत कुछ-एक इतिहासो मे ही आशिक रूप से किया गया है।

इन सभी पद्धतियो के अपने गुण-दोष है, परंतु यहा भी समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही श्रेयस्कर है। जैसा कि हमने पूर्व-विवेचन मे स्पष्ट किया है, साहित्य के इतिहास मे युग-चेतना और साहित्य-चेतना का अनिवार्य योग रहता है। अत साहित्य के विभाजन मे भी ऐतिहासिक काल क्रम और साहित्य-विधा दोनो का आधार ग्रहण करना होगा। साहित्य के कथ्य अर्थात् सवेद्य तत्त्व के विकास का निरूपण करने के लिए संपूर्ण युगो को आधार मानकर चलना होगा और उसके रूप का विकास-क्रम समझने के लिए अलग विधाओ को। इस समन्वित पद्धति को स्वीकार कर लेने पर हिंदी-साहित्य के काल-विभाजन की समस्या बहुत कुछ हल हो जाती है। सातवी शती मे ऐसी रचनाएं होने लगी थी, जिनकी भाषा मे हिंदी का प्रारंभिक रूप मिलता है। उस समय से लेकर चौदहवी शती के मध्य तक हिंदी भूभाग के सास्कृतिक इतिहास का प्रवाह दो परस्पर विरोधी, सामतीय और धार्मिक, काव्यधाराओ को लेकर एक नयी भाषा की अनगढ भूमि पर बहता रहा। इसके बाद भक्ति का व्यापक आदोलन सपूर्ण देश मे आरभ हो गया और हिंदी-भाषी प्रदेश मे नई भाषा हिंदी के विविध रूपो के माध्यम से उसकी प्रचुर अभिव्यक्ति होने लगी। यह निश्चय ही एक नये युग का उदय था, जिससे सास्कृतिक चेतना और उसके फलस्वरूप साहित्यिक चेतना मे एक

नया मोड आया। अतः यह मानने मे कोई कठिनाई नही होनी चाहिए कि यहां मे यानी चौदहवी शती के मध्य से साहित्य के इतिहास का दूसरा युग आरंभ होता है।

इस युग के अंत के विषय मे दो मत हैं। एक के अनुसार सपूर्ण मध्य काल उन्नीसवी शती के मध्य तक चलता है और दूसरे के अनुसार इसके दो खड हैं : एक—चौदहवी शती के मध्य से सत्रहवी शती के मध्य तक, और दूसरा—सत्रहवी के मध्य से उन्नीसवी शती के मध्य तक। इनमे दूसरा मत ही अधिक मान्य है। यह ठीक है कि संत-काव्य, प्रेमाख्यानकाव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य, नीतिकाव्य तथा वीरकाव्य की धाराएं पूरे मध्य युग मे प्रवाहित रही और रीतिकाव्य की रचना पूर्वार्घ मे भी हो रही थी, परतु मुगल-वैभव का अपकर्ष आरभ होते-होते अर्थात् सत्रहवी शती के मध्य तक आते-आते मुख्य प्रवृत्ति बदल चुकी थी। भक्तिभावना का प्राधान्य समाप्त हो चुका था और अलंकरण तथा शृंगार-विलास की प्रवृत्ति प्रमुख बन गयी थी—यहां तक कि भक्ति-भावना के क्षीण पड जाने से भक्ति के क्षेत्र मे भी विलास तथा अलंकार-रीति का समावेश हो गया था, और इससे काव्य की चेतना तथा काव्य के रूप, दोनो मे स्पष्ट अंतर आ गया था। अत. शुक्ल जी तथा उनके पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने मध्य युग को दो काल-खंडो मे बाट दिया है—और यही ठीक है। इसके बाद उन्नीसवी शती के मध्य मे भारत के इतिहास मे एक बहुत बडी घटना घटी और वह थी सन् १८५७ की क्राति। राष्ट्रीय चेतना और राजनीतिक जागरण का यह आंदोलन वास्तव मे मध्य युग की समाप्ति और आधुनिक युग के आरंभ का पहला उद्घोष था। भारतीय चेतना मे व्याप्त मध्ययुगीन सस्कार सहसा विक्षुब्ध हो उठे, भाग्यवाद पर आश्रित अकर्मण्यता की भावना, जो हर प्रकार के परिवर्तन के प्रति सशक थी, नवीन परि-स्थितियो के आघात से आदोलित हो उठी और जनमानस मे अपने राजनीतिक-सामाजिक स्वत्व को प्राप्त करने की आकाक्षा उत्पन्न हो गयी। इसके बाद ब्रिटिश राज्य की स्थापना हुई और खडो मे विभक्त भारत एक संगठित राज्य बन कर विदेशी साम्राज्य का प्रमुख अंग बन गया। पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान तथा सभ्यता-संस्कृति से भारतीय मानस का सपर्क और सघर्ष हुआ, जिसके फलस्वरूप आधुनिक युग का जन्म हुआ। अतः आधुनिक युग की पूर्व-सीमा सन् १८५७ या उन्नीसवी शती का मध्य ठीक ही है। यह युग आज एक शताब्दी पार कर चुका है—पूर्ववर्ती युगो की अपेक्षा इसमे परिवर्तन बडी तेजी से हुए हैं और आधुनिकता का रूप भी बदलता गया है। अतः इसके पूरे कलेवर को एक ही प्रवृत्ति मे समेट लेना उचित नही होगा। आधुनिक युग का आरंभ होने पर देश के राजनीतिक-सामाजिक जीवन और उसके प्रभावस्वरूप साहित्य मे पुनर्जागरण की जो चेतना उत्पन्न हुई थी, वह प्राय. शताब्दी के अंत यानी सन् १९०० ई० तक चलती रही। उस समय स्थिति मे फिर कुछ परिवर्तन हुआ : राष्ट्रीयता का स्वरूप स्पष्ट हुआ, देश को स्वराज्य ही चाहिए—यह भावना स्थिर हुई, सामाजिक, आर्थिक और नैतिक स्थिति मे सुधार की आवश्यकता पर बल दिया गया। यह आत्मनिरीक्षण और आत्मसुधार का समय था, जब देश देश मे 'अपने घर को ठीक करने' की भावना सर्वप्रमुख थी और इसका प्रतिफलन साहित्य मे भी हो रहा

था। उक्त स्थिति बीसवी शती के दूसरे दशक के अंत तक, सन् १९१८-१९ तक, चलती रही, जब राजनीतिक-सामाजिक जीवन मे गांधी जी तथा साहित्य मे गांधी व रवीन्द्र दोनो के प्रभाव से एक मोड फिर आया और अंतर्मुख आदर्शवाद की एक नवीन चेतना का उदय हुआ। यह चेतना भी चौथे दशक के अंत मे—१९३८-३९ के आस-पास—गाधी के प्रभाव के साथ क्षीण हो गयी और इसके स्थान पर एक अत्यंत यथार्थ-वादी सामाजिक चेतना का आविर्भाव हुआ, जिसमे देश में बढते हुए समाजवादी प्रभाव का गहरा रंग था। तब से अब तक तीन दशाब्द और बीत चुके हैं : इस अवधि मे भी नया लेखक दो-तीन बार—सन् '५३ और '६० मे—युग-परिवर्तन की घोषणा कर चुका है, परंतु अत्यधिक सामीप्य के कारण इस विषय में अभी कुछ निर्णय देना कठिन होगा।

६. नामकरण की समस्या

इस संदर्भ मे अंतिम प्रश्न है युगो के नामकरण का। आचार्य शुक्ल ने हिंदी-साहित्य के इतिहास को चार कालो मे विभक्त कर उनका नामकरण क्रमश. इस प्रकार किया है : १. वीरगाथा काल; २. भक्ति काल; ३. रीति काल और ४. आधुनिक काल। उन्होने जॉर्ज ग्रियर्सन और मिश्र बंधुओ से कुछ संकेत अवश्य ग्रहण किए हैं, परंतु काल-विभाजन और नामकरण की अंतिम तर्कपुष्ट व्यवस्था उनकी अपनी है। इनमे से 'भक्ति काल' और 'आधुनिक काल' को यथावत् स्वीकार कर लिया गया है, परंतु 'वीरगाथा काल' और 'रीति काल' के विषय मे विवाद रहा है। 'वीरगाथा काल' नाम के विरुद्ध अनेक आपत्तियां की गयी हैं जिनमे प्रमुख यह है कि जिन वीरगाथाओ के आधार पर शुक्ल जी ने यह नामकरण किया है, उनमे से कुछ अप्राप्य हैं और कुछ परवर्ती काल की रचनाएं हैं। इनके अतिरिक्त जो साहित्य इस कालावधि मे रचा गया है, उनमे सामंतीय और धार्मिक तत्त्वो का प्राधान्य होने पर भी कथ्य और माध्यम के रूपो की ऐसी विविधता और अव्यवस्था है कि किसी एक प्रवृत्ति के आधार पर उसका सही नामकरण नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति मे 'आदि काल' जैसा निर्विशेष नाम, जो भाषा और साहित्य की आरंभिक अवस्था मात्र का द्योतन करता है विद्वानो को अधिक मान्य है—और मैं समझता हूं कि इसका कोई विकल्प नही है। 'रीति काल' के विषय मे मतभेद की परिधि सीमित है। वहां विवाद का विषय इतना ही है कि उस युग के साहित्य मे रीति-तत्त्व प्रमुख है या शृंगार-तत्त्व ? प्राचुर्य दोनों का है; तो भी अधिक महत्त्व किसका है ? हमारा विचार है जिस युग मे रीति-तत्त्व का समावेश केवल शृंगार मे ही नही, भक्तिकाव्य और वीरकाव्य मे भी हो गया था—अथवा यह कहें कि जीवन का स्वरूप ही बहुत-कुछ रीतिबद्ध हो गया था—उसका नाम 'रीति काल' ही अधिक समीचीन है। इसके विकल्प 'शृंगार काल' मे अतिव्याप्ति है, क्योकि शृंगार का प्राधान्य तो प्राय. सभी युगो मे रहा : वह काव्य का एक प्रकार में सार्वभौम तत्त्व है, अत. उसके आधार पर नामकरण अधिक संगत नही होगा। इस युग का शृंगार भी रीतिबद्ध था, अत: रीति ही यहां प्रमुख है।

आधुनिक काल को शुक्ल जी ने तीन चरणों में विभक्त किया है और उन्हें प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय उत्थान कहा है। प्रथम और द्वितीय उत्थान के विषय में उन्होंने यह संकेत भी कर दिया है कि इन्हें क्रमशः 'भारतेन्दु-काल' और 'द्विवेदी-काल' भी कहा जा सकता है।* तीसरे उत्थान को, कदाचित् उसके प्रवाहमय रूप के कारण, उन्होंने कोई नाम नहीं दिया। पहला काल-खंड जीवन और साहित्य में पुनर्जागरण का युग था, जब अतीत की गौरव-भावना के परिप्रेक्ष्य में नवजागरण की चेतना विकसित हो रही थी। अतः इसे 'पुनर्जागरण-काल' नाम दिया जा सकता है और चूंकि भारतेन्दु के व्यक्तित्व और कृतित्व में, जिन्होंने अपने जीवन-काल में इस युग का नेतृत्व किया और जिनका प्रभाव मरणोपरान्त भी बना रहा, यह चेतना सम्यक् रूप से प्रतिफलित हो रही थी, इसलिए इसका नामकरण उनके नाम पर करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। प्रायः इसी पद्धति और युक्ति से द्वितीय उत्थान का नामकरण भी किया जा सकता है : उसे हम औचित्यपूर्वक 'सुधार-युग' या विकल्पतः 'द्विवेदी-युग' कह सकते हैं। तीसरे चरण की सर्वप्रमुख साहित्य-प्रवृत्ति है छायावाद, अतः उसका उचित नाम 'छायावाद-काल' ही हो सकता है। उसका परवर्ती काल हमारे अत्यंत निकट है और उसकी मूल चेतना इतनी जल्दी-जल्दी बदल रही है कि किसी एक स्थिर आधार को लेकर उसका नामकरण नहीं किया जा सकता। आरंभ में प्रगतिवाद का जोर था, जो कुछ ही वर्षों में समाप्त हो गया। इसके कुछ बाद प्रयोगवाद का आविर्भाव हुआ जो थोड़े समय तक इसके समानान्तर चलकर सन् '५३ के आसपास 'नवलेखन' में परिणत हो गया। अत्याधुनिक लेखक का दावा है कि नवलेखन का युग भी सन् '६० के बाद समाप्त हो गया है और इसके बाद की साहित्य-चेतना यथार्थ-बोध की प्रखरता के कारण अपनी पूर्ववर्ती साहित्य-चेतना से भिन्न है। अतः इस अस्थिर, और त्वरित गति से बढ़ते-बदलते हुए साहित्य-प्रवाह को किसी एक नाम में बांधा जाए या नहीं—यह प्रश्न है। कुछ आलोचक इसके पूर्वार्ध को 'प्रगति-प्रयोग काल' और उत्तरार्ध को 'नवलेखन-काल' कहना चाहते हैं और कुछ इस पूरे काल-खंड को 'छायावादोत्तर काल' के नाम से अभिहित करते हैं। इनमें से पहला नाम अधिक निश्चित और भावात्मक है और तीसरा नाम उतना ही अनिश्चित तथा अभावात्मक लगता है। पहले दोनों नामों में प्रमुख प्रवृत्तियों को रेखांकित किया गया है, जबकि दूसरा छायावाद के अवशिष्ट प्रभाव और उसके प्रति विरोधी प्रतिक्रिया को अधिक महत्त्व देता है। स्वतंत्रता की प्राप्ति इसी युग की घटना है, पर वह साहित्यिक चेतना को कोई नया मोड़ नहीं दे सकी, इसलिए नामकरण में उसकी कोई विशेष संगति नहीं है। अतः निर्णय उक्त दोनों विकल्पों के बीच ही करना है। सन् '३८-'३९ में आरंभ होने वाले वर्तमान युग का उपविभाजन किया जाए या नहीं ? यदि इस तर्क के आधार पर कि इतिहास को बहुत छोटे-छोटे खंडों में विभक्त करने में समग्र दर्शन में बाधा आती है अथवा यह मानकर

*शुक्ल जी का सीमांकन कुछ भिन्न है—उन्होंने पञ्चांगों का हिसाब रखा है, पर वह यथार्थ स्थिति के अनुकूल नहीं है, अतः उसमें थोड़ा बहुत संशोधन कर लेना अनुचित न होगा।

कि समसामयिक साहित्य का स्वरूप स्थिर होने मे कुछ देर लगती है, वर्तमान युग को एक नाम ही देना है, तो 'छायावादोत्तर काल' नाम अभावात्मक होते हुए भी असंगत नही है। किंतु, यदि यथार्थ को स्वीकार कर चलना है तो इसका दो काल-खंडों मे विभाजन करने मे भी कोई हानि नही है : १. प्रगति-प्रयोग काल—१९३८-१९५३ और २. नवलेखन काल—१९५३ से अब तक। सबसे अच्छा यह रहेगा कि शीर्षक-रूप मे 'छायावादोत्तर काल' ही रहे और प्रगति-प्रयोग काल' तथा 'नवलेखन काल' उसके अंतर्गत उपशीर्षक रहें।

७. उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष इस प्रकार है

(१) नवीन शोध-परिणामो और विकसित साहित्य-चेतना को ध्यान मे रखते हुए हिंदी-साहित्य के इतिहास का पुनर्लेखन आवश्यक है।

(२) ऐतिहासिक दृष्टि और आलोचना-शक्ति से युक्त एक लेखक यदि यह कार्य संपन्न कर सके तो उत्तम होगा। किंतु, यदि वह सभव न हो निश्चित परियोजना के अंतर्गत, निर्देशक सिद्धांतो का निर्धारण कर, कुछ लेखको का संघ घनिष्ठ संपर्क-सहयोग के आधार पर, यह अनुष्ठान पूरा कर सकता है। शैली-भेद होने पर भी ऐतिहासिक परिदर्शन की एकता इस प्रकार के समवेत प्रयास मे एकान्विति स्थापित कर सकती है।

(३) युग-चेतना और साहित्य-चेतना पर आधृत साहित्य के इतिहास के सश्लिष्ट स्वरूप को ही हमें स्वीकार करना चाहिए—और इसी के आधार एक समंजस रूपरेखा का निर्माण करना चाहिए। अर्थात् हिंदी-भाषी भू-भाग के सास्कृतिक इतिहास के परिवेश मे (जिसके अंतर्गत राजनीतिक-सामाजिक तत्त्व भी स्वतः ही अतर्भुक्त रहते हैं), उसके प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव मे विकसित हिंदी के विविध रूपो के माध्यम से अभिव्यक्त, साहित्य-चेतना के विकास-क्रम का साहित्यिक प्रतिमानो के आधार पर आकलन ही हिंदी-साहित्य के नये इतिहास का लक्ष्य होना चाहिए।

(४) इस लक्ष्य को आधार मानकर हिंदी-साहित्य का काल-विभाजन तथा नामकरण सामान्यत. इस प्रकार किया जा सकता है :

आदि काल—७वी शती के मध्य से १४वी शती के मध्य तक
भक्ति काल—१४वी के मध्य से १७वी शती के मध्य तक
रीति काल—१७वी के मध्य से १९वी के मध्य तक
आधुनिक काल—१९वी शती के मध्य से अब तक।

(१) पुनर्जागरण काल	(भारतेंदु का०)	१८५७-१९०० ई०
(२) सुधार काल	(द्विवेदी का०)	१९००-१९१८ ई०
(३) छायावाद काल		१९१८-१९३८ ई०
(४) छायावादोत्तर काल		१९३८ से अब तक
(क) प्रगति-प्रयोग काल		१९३८ से १९५३ तक
(ख) नवलेखन काल		१९५३ से अब तक

(५) नवीन शोध-सामग्री का उपयोग आवश्यक है, किंतु इस विषय मे सतर्कता भी उतनी ही आवश्यक है। प्रत्येक नवीन स्थापना यथावत् ग्राह्य एवं मान्य नही हो सकती। अत प्रामाणिक लेखको के मतो का सक्षेप मे उल्लेख करते हुए बहुमान्य और समय-सिद्ध निष्कर्षों को ही इतिहास मे ग्रहण करना अधिक विवेकसम्मत है।

(६) विषय-प्रतिपादन मे समन्वयात्मक पद्धति का अवलबन करना ही उचित है। बल तो साहित्य-परपरा अर्थात् साहित्यिक कृतियो के परस्पर सबंध के निरूपण पर ही रहना चाहिए, किंतु प्रवृत्ति-विश्लेषण तथा प्रमुख कवि-लेखकों व कृतियो के योगदान एव स्थान-निर्धारण का भी साहित्य के इतिहास मे उतना ही महत्त्व है।

(७) जीवन-वृत्त तथा ग्रंथ-विवरण साहित्यिक विवेचन से पूर्व देना ही अधिक सगत है। कुछ इतिहास-ग्रथो मे (जैसे लिगुइ और कजामिया के अंग्रेजी-साहित्य के इतिहास मे) इस प्रकार का विवरण पाद-टिप्पणी के रूप मे देने की व्यवस्था है, जो विवेचन की स्वच्छता की दृष्टि से ग्राह्य हो सकती है।

(८) समानुपात की रक्षा और उचित मूल्याकन के लिए इतिहास के समग्र रूप की कल्पना और उसके अनुसार पूर्व-योजना तथा रूपरेखा की रचना अनिवार्य है। विषय-विवेचन का कलेवर विषय के महत्व के अनुरूप ही होना चाहिए अन्यथा सतुलन और परिदर्शन मे व्याघात उत्पन्न हो सकता है।

(९) विक्रम सवत् अथवा अन्य सन्-सवत् से आज के पाठक का जीवंत सपर्क न होने के कारण, ईसवी सन् का प्रयोग करना उचित है।

(१०) मानचित्र तथा अनुक्रमणिका के द्वारा परपरा के निरूपण मे सहायता मिलती है, अत उनका यथास्थान प्रयोग करना चाहिए।

साहित्य के इतिहास-लेखन की दिशा मे हिंदी मे अभी उचित प्रगति नही हुई: अन्य भाषाओ मे स्थिति और भी खराब है। इसका कारण यह है कि इतिहास-विधा की हमारे देश मे विकसित परपरा नही रही और आज भी हम इस दिशा मे विशेष उन्नति नही कर पाये हैं। परिणाम यह है कि सौ से ऊपर इतिहास-ग्रथो के प्रकाशन के बाद भी हिंदी मे सर्वाधिक प्रामाणिक इतिहास आचार्य शुक्ल का ही है, जिसकी रचना सन् १९२९ मे हुई थी। यह स्थिति हिंदी के गौरव के अनुकूल नही है—विशेषत. जबकि हिंदी का आलोचना-साहित्य इतना समृद्ध हो चुका है। नागरी प्रचारिणी सभा ने बृहद् इतिहास की योजना द्वारा एक महान् अनुष्ठान का उपक्रम किया है। इस प्रकार के सार्वजनिक कार्य की अपनी सीमाए होती हैं, फिर भी इस महत्प्रयास के फलस्वरूप साहित्य-सामग्री की एक विशाल राशि भावी इतिहासकार के लिए एकत्र हो गयी है और हमारा विश्वास है कि शीघ्र ही साहित्य के कुछ प्रामाणिक इतिहास हमे हिंदी मे उपलब्ध हो सकेंगे।

ब्रजभाषा का गद्य (टीका-साहित्य)

इस प्रसंग में मुझे यूरोप के किसी नाटककार का एक मज़ाक याद आता है जिसमे एक पात्र बड़े गंभीर जिज्ञासु भाव से दूसरे से पूछता है—'मसियो, गद्य क्या होता है?' और जब दूसरा पात्र उसे बताता है कि जिस भाषा मे वह बोल रहा है वही गद्य है तो उसे बड़ा आश्चर्य होता है! ब्रजभाषा के साहित्यकार की अवस्था भी बहुत-कुछ ऐसी ही थी। यो तो ब्रजभापा गद्य की परपरा तेरहवी-चौदहवी शताब्दी से लेकर आधुनिक काल के आरभ तक निरतर चलती रही, परतु उसके काव्य-वैभव ने गद्य-साहित्य को इस बुरी तरह आच्छादित कर लिया था कि आज उसके अस्तित्व का विश्वास करना भी कठिन हो जाता है।

बारहवी-तेरहवी शताब्दी से लेकर उन्नीसवी शताब्दी के अत तक उपलब्ध ब्रजभाषा गद्य-साहित्य के स्थूल रूप से तीन वर्ग बनाये जा सकते है। पहले वर्ग के अंतर्गत ऐसी रचनाएं आती हैं जिनका विषय धार्मिक शास्त्र-चर्चा है। ये रचनाएं सामान्यत तीन प्रकार की हैं—(क) हठयोग आदि के ग्रथ, (ख) वैष्णव-धर्म के शास्त्रीय ग्रंथ, और (ग) साधारण ब्रह्म-ज्ञान-संबंधी ग्रंथ। गोरखनाथ के अनेक ग्रथ जैसे 'गोरखनाथ-गणेश-गोष्ठी', 'महादेव-गोरख-संवाद' आदि हठयोग के ग्रथ है। विट्ठलनाथ का प्रसिद्ध ग्रंथ 'शृंगार-रस-मडन', विष्णुपुरी की 'भक्ति-रचनावली' आदि वैष्णव धर्म के शास्त्रीय ग्रंथ हैं, और 'ज्ञान-मजरी' आदि का सबध ब्रह्म-ज्ञान से है। ये तीनो प्रकार के गद्य-ग्रंथ प्राय. ऐसे संस्कृत-ग्रथो के अनुवाद या छायानुवाद हैं जिनमे सिद्धांत-निरूपण किया गया है। स्वभावतः इनमें शास्त्रीय प्रतिपादन की सूत्र-वृत्ति शैली का अवलवंन किया गया है। वाक्य छोटे और अपूर्ण हैं। वाक्य-रचना मे विस्तार और व्यवस्था का अभाव है। यह शैली शास्त्रार्थ की शैली है। शब्दावली की दृष्टि से इनमे सस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। गोरख-पथियो की भाषा अपेक्षाकृत सरल है, क्योकि उनका जनता से सपर्क अधिक था; फिर भी सस्कृत के मूल ग्रंथो की विचारधारा के साथ-साथ सस्कृत की शब्दावली भी चली आयी है।

दूसरे वर्ग के अंतर्गत वर्णनात्मक गद्य-ग्रथ आते हैं जिनमे वार्ताएं, उपाख्यान, पुराण, नीति-कथा, अष्टयाम, ऐतिहासिक वृत्त आदि अनेक प्रकार की रचनाए अतर्भूत हैं। यह ब्रजभाषा गद्य का उत्कृष्ट रूप है। वाक्य-रचना व्यवस्थित और स्वच्छ है। पंडिताऊ कथभूती शैली से मुक्त होने के कारण भाषा मे प्रसार-क्षमता और प्रवाह है। शब्दावली मे बोलचाल के सरल-सुबोध तत्सम-तद्भव रूपो का प्रयोग है।

सस्कृत के साथ उर्दू-फारसी के प्रचलित शब्द भी सहज रूप मे ग्रहण किये गये हैं। वास्तव मे इसी गद्य को व्यावहारिक गद्य के विकास का सोपान मानना चाहिए।

तीसरे वर्ग मे टीकाओ तथा तिलक आदि का अतर्भाव है। रीति-ग्रथो मे प्रयुक्त वार्त्तिक तथा वचनिकाए आदि भी इसी के अतर्गत मानी जा सकती हैं। हिंदी-साहित्य के इतिहासकारो ने अनेक टीकाओ तथा तिलको का उल्लेख किया है। इनमे से कुछेक का सबध सस्कृत के शृंगार-मुक्तको से अवश्य है, परतु अधिकाश हिंदी-काव्य के अमर ग्रथो को लेकर ही चले हैं। उत्तर-मध्य युग की पंडित-गोष्ठियो मे सबसे अधिक प्रचार बिहारी-सतसई का था। अत. यह स्वाभाविक ही है कि सबसे अधिक टीकाए भी इसी ग्रथ पर लिखी गईं। बिहारी-काव्य के आचार्य कविवर रत्नाकर के अनुसार सतसई पर लगभग बीस टीकाए ब्रजभाषा गद्य मे लिखी गई है। इनमे से अधिकाश हस्तलिखित रूप मे उपलब्ध हैं। बिहारी-सतसई की इन टीकाओ मे सबसे प्रमुख हैं कृष्णलाल की टीका, अनवर-चद्रिका टीका, पन्ना-निवासी कर्ण कवि की साहित्य-चद्रिका टीका, सूरति मिश्र की अमर-चद्रिका, ईसवी खा की रस-चद्रिका, हरिचरणदास की हरिप्रकाश टीका, ठाकुर कवि द्वारा लिखित सतसैया-वर्णार्थ अर्थात् देवकीनंदन की टीका, और सरदार कवि की टीका। लोकप्रियता की दृष्टि से बिहारी के उपरात केशव तथा तुलसीदास का नाम आता है। केशव की 'कविप्रिया' पर दो प्रसिद्ध ब्रजभाषा टीकाए है—(१) हरिचरणदास की टीका (रचना-काल १७७८ ई०), और (२) लछमनराव की लछमन-चद्रिका टीका (समय १८१६ ई०)। 'रामचद्रिका' पर जानकीप्रसाद की टीका है जिसका रचना-काल सन् १८१५ है। 'रसिकप्रिया' पर सरदार कवि की टीका उपलब्ध है। यह ग्रथ प्रकाशित है और इसका समय सन् १८४६ है। 'रामचरितमानस' के टीकाकारो मे अयोध्या के महत बाबा रामचरन तथा काशी-नरेश ईश्वरीनारायण सिंह प्रमुख हैं। मतिराम आदि कुछ अन्य कवियो को भी यह सौभाग्य प्राप्त हुआ, परतु उनके ग्रथो की टीकाएं संख्या मे अत्यत नगण्य हैं।

इन सभी टीकाओ की स्वतत्र समीक्षा करने का तो अवकाश नही है और न उनमे इतना स्वतत्र वैशिष्ट्य ही है। अतएव उनके प्रतिपाद्य विषय, भाष्य-पद्धति तथा भाषा-शैली आदि का सामान्य विवेचन करना ही यथेष्ट होगा।

प्रतिपाद्य विषय—टीका का मूल प्रतिपाद्य तो अर्थ की व्याख्या ही है, परंतु अर्थ के सम्यक् निरूपण के लिए वक्ता-बोधव्य, प्रसग आदि का स्पष्टीकरण, रस, अलकार, ध्वनि, शब्दशक्ति, नायिका-भेद आदि काव्यागो का उद्घाटन भी आवश्यक हो जाता है। रीति-काल मे काव्यागो का सचेष्ट प्रयोग हुआ था—अतएव इस युग की प्रमुख रचनाओ की टीकाएं तो शास्त्रीय विवेचन के बिना पूर्ण ही नही हो सकती थी। बिहारी और केशव दोनो ही रीतिशास्त्र के मर्मज्ञ थे, अतएव उनकी टीकाओ मे अर्थ की व्याख्या की अपेक्षा काव्यागो का निरूपण अधिक आवश्यक था। बिहारी की टीकाओ मे प्रायः तीन रूप मिलते हैं—कृष्णलाल आदि की कुछ टीकाओ मे तो केवल वक्ता-बोधव्य का निर्देश करते हुए भावार्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

उदाहरण के लिए, एक दोहे की व्याख्या लीजिए :

पार्यौ सोर सुहाग कौ इन बिनु ही पिय नेह ।
उन दौंही अँखियाँ ककै कै अलसौंही देह ।।

'टीका : मुग्धा स्वाधीनपतिका सखी को बैन सखी सौ। हे सखी! इन राधिका बिन ही भरतार सौं नेह सुहाग को सोर पार्यौ है। सो कैसेक नायका के अलसौंही देह करने तें नायक दोनु ही अँखियाँ करिकैं देखि सो चित चढी।' इस टीका को पढकर जिज्ञासु पाठक के हाथ क्या लग सकता है, यह कहने की आवश्यकता नही। एक तो इसमे मूल दोहे का पाठ ही भ्रष्ट—'उनदौंही' एक शब्द है किंतु प्रतिलिपि-दोष के कारण कृष्णलाल ने 'उन' और 'दौंही' को दो पृथक् शब्द मान उनका इसी रूप मे अर्थ किया है। दूसरे अंतिम चरण का क्या तात्पर्य है, यह समझना अत्यंत कठिन है। कृष्णलाल ने अलंकार तथा रसाग आदि का निरूपण नही किया। अनवर-चंद्रिका का ढंग इसके विपरीत है—इसमे अलकार, वक्ता-बोधव्य आदि का ही निरूपण है, अर्थ की व्याख्या नही है। परंतु ऐसी टीकाओं की सख्या अधिक नही है। अधि-काश टीकाओ मे सबसे पूर्व वक्ता-बोधव्य, फिर अर्थ की ग्रथियो का उद्घाटन और अंत मे अलकार का निर्देश किया गया है। साहित्य-चद्रिका और रस-चद्रिका इस श्रेणी की टीकाओ मे प्रमुख हैं। इनमे व्याख्या तथा काव्यांग-विवेचन दोनो का उचित संयोग है। रस-चंद्रिका मे ईसवी खां नायिका-भेद तथा हाव-भाव आदि का भी यथा-स्थान निरूपण करते गए हैं। हरिचरणदास-कृत 'हरिप्रकाश टीका' मे, ठाकुर कवि की 'सतसैया-वर्णार्थ टीका' मे, तथा सरदार कवि-लिखित 'रसिकप्रिया' की टीका मे अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत निरूपण किया गया है। इनकी व्याख्या सूक्ष्म है, शब्द-चमत्कार की बारीकियो को खोलने की चेष्टा इनमे स्पष्ट परिलक्षित होती है। 'रामचरितमानस' तथा कृष्णकाव्य की टीकाओ में भक्ति-शास्त्र का आधार ग्रहण किया गया है। काव्यांग का निरूपण वहां गौण है, भक्ति-निरूपण ही प्रधान है।

व्याख्या-शैली—इन टीकाओ की व्याख्या-शैलियो पर भी सस्कृत की छाप स्पष्ट है। यद्यपि अधिकाश टीकाओ मे सामान्य वृत्ति-शैली का ही अवलंबन किया गया है, परतु दो-चार मे खंडान्वय-शैली का भी प्रयोग मिलता है। वृत्ति-शैली मे पूरे वाक्य या उपवाक्य का अर्थ किया जाता है, परतु खडान्वय मे स्वतंत्र पदो को या वाक्याशो को लेकर खड-रूप मे उनकी व्याख्या की जाती है। खंडान्वय की प्रणाली मे यद्यपि अर्थ तो अधिक स्पष्ट हो जाता है, और कभी-कभी अनावश्यक स्पष्टीकरण से पाठक का मन खीझने भी लगता है; जैसे 'उन दौंही कहा उजागरी, ककै कहा करिकै'—इत्यादि। खड-खड अर्थ करने से वाक्य टूट जाने से बात अधूरी रह जाती है, इसलिए टीकाकार को बार-बार टूटे वाक्य को जोड़ने के लिए प्रश्नोत्तर के रूप में कुछ शब्द अपनी ओर से रखने पड़ते हैं—सो कैसे हैं? कैसी है बाकी रूप? प्रिया कौ बोध कैसे? आदि। इसी को शुक्लजी ने 'कथंभूती' शैली कहा है। इस खंडान्वय-शैली मे कभी-कभी शब्दो की चीरफाड की नौबत भी आ जाती है। अनेकार्थ-निरूपण का चमत्कार दिखाने के लिए भी टीकाकार प्राय इस पर हाथ आजमाता है। सस्कृत-

टीकाओ की एक प्रमुख विशेषता है शास्त्रार्थ, जिनमे गूढ तथ्यो का उद्घाटन करने के लिए लेखक स्वय ही पाठक की ओर से प्रश्न उठाकर फिर उसका उत्तर देता है। इस प्रकार शका-समाधान के द्वारा अनेक ग्रथिया खुल जाती है। ठाकुर कवि ने अपनी 'सतसैया-वर्णार्थ टीका' मे, सरदार कवि ने 'अमर-चद्रिका' मे इसी पद्धति का अवलबन किया है। परंतु यह पद्धति सर्वत्र सफल नही होती, वास्तविक जिज्ञासा के अभाव मे केवल पाडित्य-प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त किए जाने पर इससे अनर्थ भी हो जाता है, तथा आशय और भी उलझ जाता है। 'अमर-चद्रिका' मे प्रायः यही हुआ है।

भाषा—व्रजभाषा की इन टीकाओ का स्मरण प्राचीन काव्य ग्रंथो के अध्ययन मे सहायक होने के कारण आज इतना नही होता, जितना कि प्राचीन गद्य—विशेषकर दुर्लभ व्रजभाषा गद्य—का उदाहरण होने के कारण। परतु व्रजभाषा गद्य के विकास मे इन्होने कोई विशेष योगदान नही किया; इनका महत्त्व वास्तव मे अवशेष (रैलिक) के रूप मे ही अधिक है।

साहित्यिक भाषा के दो गुण हैं : शुद्धि और शक्ति। प्रत्येक भाषा की अपनी प्रकृति और तदनुकूल व्याकरण होता है—उसका यथोचित निर्वाह ही भाषा की शुद्धि है। अतएव शुद्धि के अतर्गत किसी भाषा की प्रकृति और व्याकरण को दृष्टि मे रखकर संज्ञा, सर्वनाम, क्रियापद तथा कृदंत आदि के रूपो की परीक्षा की जाती है। व्रजभाषा की इन विवेच्य टीकाओ की शब्दावली मे शास्त्रीय निरूपण होने के कारण अमर्ष, ईर्ष्या, सचारी, स्वाधीनपतिका, अन्य-सभोग-दु:खिता, सुरतात, किंवा, सौभाग्य, आलस्यवलित, इष्ट, उल्लघन, कवि-निबद्ध आदि सस्कृत तत्सम शब्दो का मुक्त प्रयोग है। परतु सामान्य व्रजभाषा की प्रकृति तद्भव-प्रधान है। मूल ग्रंथो मे भी तद्भव शब्दो का प्राधान्य रहने के कारण टीकाओ मे भी उनकी बहुलता होना स्वाभाविक है। इनके अतिरिक्त अर्धतत्सम शब्द भी स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुए हैं, जो प्राय: भाषा की प्रकृति के अनुकूल नही पडते; जैसे रात्री, सूक्षम आदि। संस्कृत तथा भाषा की शब्दावली के साथ ही इनमे अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दो का भी अभाव नही है : अनेक टीकाओ की रचना मुसलमान शाहज़ादो और नवाबो के आश्रय मे या मुसलमान लेखको द्वारा हुई थी, इसलिए बहुत से अरबी-फारसी के घुले-मिले शब्दो का प्रयोग अनायास ही हो गया है। जैसे—मुलाकात, शोर या (सोरु) नजर, वास्ते आदि। समग्रत. इन टीकाओ की शब्दावली के विषय मे यही कहा जा सकता है कि वार्ता आदि के वर्णनात्मक गद्य की अपेक्षा इनमे सस्कृत के तत्सम तथा अर्ध-तत्सम शब्दो का प्रयोग अधिक है। यद्यपि ऐसा विषय-प्रतिपादन के आग्रह से ही हुआ फिर भी व्रजभाषा की प्रकृति के प्रतिकूल होने से सस्कृत के अधिकाश शब्द पानी पर तैरते हुए तैल-विंदुओ के समान पृथक् ही रहते हैं।

संज्ञा, सर्वनाम, क्रियापद, कारक तथा कृदत आदि के रूपो के विषय मे व्रज की सर्वमान्य काव्य-भाषा मे ही जब इतनी अव्यवस्था थी, तो उपेक्षित गद्य-भाषा की अवस्था तो और भी दयनीय होनी चाहिए। सज्ञा-रूपो मे ओकारात के साथ-साथ आकारात रूप भी प्राय. मिल जाते हैं—ईसवी खा ने प्राय: आकारात सज्ञा-रूपो का

प्रयोग किया है और उधर सरदार कवि पर भी खडी बोली के संज्ञा-रूपों का प्रभाव स्पष्ट है। सर्वनामों मे अनेकरूपता और भी अधिक है—'या' और 'वा' के साथ 'इस' और 'उस' का प्रयोग, 'मो' के साथ कहीं-कही 'मुझ' का प्रयोग भी मिल जाता है। सबसे अधिक अव्यवस्था है क्रियापदो, कृदंतो तथा कारक-चिह्नो मे। सामान्य वर्तमानकालिक क्रियाओं मे तिङंत रूपो के साथ-साथ 'ऐ'कारांत रूप—जो वास्तव मे तिङंत के ही घिसे हुए रूप हैं—प्रायः मिलते हैं। भूतकाल मे 'ओ' और 'औ' की भ्राति तो बहुत साधारण है। 'ओ' और 'यो' का विकल्प भी कम नही है, जैसे 'लिखो' और 'लिख्यो' दोनो का ही भूतकालिक प्रयोग हुआ है। मुसलमान लेखको ने और बाद के टीकाकारो ने खडी बोली के प्रभाववश आकारात प्रयोग भी मुक्त रूप से किए हैं। उदाहरण के लिए ईसवी खा और सरदार कवि दोनो मे 'हुआ', 'लिखा' आदि क्रिया-रूप कही भी मिल सकते हैं। इसी प्रकार भविष्यत् काल मे 'गे' और 'हैं' दोनो विकल्पों का प्रयोग है—जैसे 'आइंगे' और 'आइहैं'; 'रहिहैं' और 'रहेंगे' आदि। कारक-चिह्नो मे कर्म आदि में को, कौ, कौं, को—ये सभी रूप मिलते हैं और अपा-दान मे तें, ते, से, सो, सौं, पै, पर आदि का विकल्प है। कर्तृ-चिह्न 'ने' के साथ तो प्राय: अत्याचार किया गया है। संस्कृत वाच्य-रचना तथा अवधी के प्रभाववश, अथवा इन दोनो से भी अधिक काव्य-रचना के प्रभाव के कारण, गद्य मे भी 'ने' को छोड़ दिया गया है। यथा—'हे सखी इन राधिका बिन ही भरतार सी नेह सौहाग को सोर पार्यो है।' (कृष्णलाल-कृत बिहारी-सतसई-टीका)। या भारतेन्दु के भी परवर्ती सरदार कवि के ही उद्धरण लीजिए . 'इन फूल नयो जल भरि दीन्ह्यो उन कली कर दई, तब इन कलिका करी', आदि। वाक्य-रचना की स्थिति कदाचित् सबसे अधिक चिंत्य है। सामान्यत टीका मे वाक्य-रचना-सौष्ठव के लिए कम ही अवकाश रहता है, और यदि खंडान्वय-पद्धति का उपयोग किया जाए तब तो उसकी कोई संभावना ही नही रहती; परंतु इन सीमाओ के भीतर रहकर भी सस्कृत-टीकाओ मे गद्य का रूप अधिक विकृत नही होने पाया। उसके दो प्रमुख कारण हैं : एक तो सस्कृत भाषा अपनी अद्भुत समास-शक्ति के कारण लघु वाक्यो मे बिखरने नही पाती; दूसरे, संस्कृत की वाक्य-रचना क्रिया पर और विशेषकर पूरक क्रिया पर अपेक्षाकृत बहुत कम निर्भर रहती है। इसके विपरीत हिंदी-वाक्य सामान्य क्रियापद का और उससे भी अधिक पूरक क्रिया 'है' और 'था' आदि का मुहताज है, अतएव खंडान्वय की संगति हिंदी की वाक्य-रचना के साथ बिलकुल नही बैठती। यही कारण है कि इन टीकाओं के वाक्य प्राय अपूर्ण हैं, और पूर्णता के अभाव मे उनकी अर्थव्यंजना भी दूषित हो जाती है। भाषा बडी उखडी-सी प्रतीत होती है; प्रवाह का तो प्रश्न ही नही है, क्रम-व्यवस्था तक का निर्वाह नही हो पाया। मूल छद की मसृण पद-रचना और सरल-कोमल वाग्धारा की तुलना मे यह लद्धड और गुट्ठल गद्य भयकर लगता है, जिसके परिणामस्वरूप मूल अर्थ सुबोध होने के स्थान पर और भी दुर्बोध बन जाता है। उधर विराम-चिह्नो के एकात अभाव मे दुरूहता और भी बढ जाती है। विराम-चिह्नों का यह अभाव विशेष आश्चर्य की बात नही है; क्योकि हिंदी मे इनका आविर्भाव

आधुनिक युग मे अंगरेजी के प्रभाव से ही हुआ है । फिर भी कम-से-कम पूर्ण विराम का प्रयोग तो किया ही जा सकता था; उसका प्रयोग छंदो मे बराबर होता रहा है । परंतु सरदार कवि की टीका तक मे उसका प्रयोग नहीं मिलता । कुछ ही टीकाओ की प्रतियां ऐसी हैं जिनमे पूर्ण विराम के लिए कही खड़ी पाई और कही शून्य का अंक दिया हुआ है; परंतु इसके प्रयोग मे भी कोई क्रम नहीं है ।

भाषा का दूसरा गुण है शक्ति अर्थात् अर्थ-व्यंजना की सामर्थ्य, जिसके अंतर्गत भाषा का सौष्ठव भी अपने-आप आ जाता है । सामान्यतः परतंत्र होने के कारण टीका की भाषा में किसी प्रकार के कला-शिल्प के लिए अवकाश नही रहता; परंतु, फिर भी अर्थ-व्यंजना की सामर्थ्य तो उसके लिए भी उतनी ही आवश्यक है, वरन् यह कहना चाहिए कि अन्य रूपो की अपेक्षा कदाचित् यहा उसकी आवश्यकता और भी अधिक है । टीका में लेखक की सहृदयता और उसकी मर्मज्ञता की परीक्षा होती है । जिस टीकाकार में काव्य के सूक्ष्मतम सौंदर्य-रहस्यो के उद्घाटन की जितनी शक्ति होगी उतनी ही सफल उसकी टीका होगी । सौंदर्य-रहस्यो का यह उद्घाटन भाषा पर आश्रित है । अतएव टीका की भाषा के लिए तो सूक्ष्म व्यंजना-शक्ति और आनुगुणत्व पहली शर्त है । पर्याय आदि के चयन मे टीकाकार को कवि से कम परिश्रम नही करना पडता । वास्तव मे काव्य यदि सौंदर्य की अनुभूति की अभिव्यक्ति है तो सफल टीका इस सौंदर्य की प्रत्यनुभूति की अभिव्यक्ति है । कहने का तात्पर्य यह है कि टीका की भी अपनी कला होती है । उसकी भाषा-शैली का भी अपना पृथक् सौंदर्य होता है । मल्लिनाथ, पद्मसिंह शर्मा, रत्नाकर आदि कृती टीकाकारो की भाषा इसका प्रमाण है । किंतु अविकसित गद्य के अव्यवस्थित क्रियापदो और कारक-चिह्नो से जूझने वाले व्रजभाषा के टीकाकारो से इस कला-सौष्ठव की आशा करना उनके साथ अन्याय होगा ।

हिंदी में हास्य की कमी

(एक सवाद)

नगेन्द्र—आइए प्रो० साहब, नमस्ते !

प्रो० —नमस्ते, नगेन्द्र जी ! कहिए, क्या हो रहा है ?

नगेन्द्र —कुछ नही, हास्य पर फ्रांसीसी लेखक बर्गसा की यह पुस्तक पढ रहा था। इन फ़्रासीसी लेखको की दृष्टि कितनी पैनी और साफ होती है। मैं समझता हू साहित्यिक हास्य का ऐसा निर्मल विवेचन और किसी दार्शनिक या आलोचक ने नही किया।

प्रो०—वास्तव मे फ़्रांस का आलोचना-साहित्य अत्यत समृद्ध है। अच्छा, क्या कहते हैं आपके बर्गसा ?

नगेन्द्र—बर्गसां ने हास्य को परिभाषा मे बाधने का प्रयत्न नही किया। उन्होने 'हम क्यो हँसते है ?' इस प्रश्न को हल करने की चेष्टा करते हुए हास्य की परिस्थिति और प्रकृति का विश्लेषण किया है। उनके कुछ निष्कर्ष अत्यंत रोचक और सटीक हैं—उदाहरण के लिए १. हास्य सर्वथा मानवीय वृत्ति है। मानव-जीवन से बाहर उसकी गति नही है। २. हास्य के लिए भावुकता और उद्वेग का सर्वथा अभाव अनिवार्य है—हास्य और भावुकता एक-दूसरे के शत्रु हैं। ३. हास्य एक सामाजिक वृत्ति है—किसी प्रकार की भी असामाजिकता हास्य को जन्म दे सकती है—इत्यादि। इस विवेचन के फलस्वरूप वास्तव मे बर्गसा भी उसी निष्कर्ष पर पहुचते हैं जिस पर विदेश के अन्य आलोचक पहुचे हैं।

प्रो०—अर्थात् ?

नगेन्द्र—अर्थात् हास्य की मूलात्मा असंगति है।

प्रो०—यह तो हमारे आचार्यो का भी मत है। उनके अनुसार विकृत आकार, वाणी, वेश और चेष्टा आदि से हास्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार वे विकृति को हास्य का मूल तत्त्व मानते हैं। और, यह विकृति आपकी असंगति ही तो है। वेश, आकार आदि की हमारे मन मे जो धारणा बनी हुई है उसमे, और किसी व्यक्ति या वस्तु के वेश, आकार आदि में, असगति देखकर हमारे मन में गुदगुदी पैदा हो जाती है। यही बात वाणी, व्यवहार आदि सूक्ष्मतर वस्तुओ के लिए भी कही जा सकती है।

नगेन्द्र—हां, खीचतान कर बात तो ठीक बैठ ही जाती है। पर प्रोफेसर साहब, हमारे यहा हास्य रस का कितना अभाव है। विशेषकर हिंदी मे तो उसका

घोर दुष्काल है। मैं प्राय. सोचता हूं कि इसका क्या कारण है ? हमारा साहित्य काफी समृद्ध है—परतु हास्य एक तो है ही बहुत कम और जो है भी वह बडा स्थूल है।

प्रो०—नगेन्द्र जी, कुछ तो लोगो का प्रोपेगेंडा भी है—हिंदी का सभी हास्य स्थूल नही है। उदाहरण के लिए सूर मे जितना सूक्ष्म हास्य है उतना आपके अच्छे-अच्छे हास्य-लेखको मे भी नही मिलेगा। फिर इसमे सदेह नही कि हमारे यहा उत्कृष्ट हास्य का अत्यंत अभाव है। पुराने कवि पुरस्कार-दाताओ की कृपणता आदि का मजाक उडाकर या फिर हास्य-रस के उदाहरण-स्वरूप कुछ निर्जीव छद लिखकर अपना कर्तव्य पूरा कर बैठे हैं।

नगेन्द्र—बात तो आपकी ठीक है—वास्तव मे जो थोडा-बहुत हास्य हमारे यहा है भी वह अत्यत कृत्रिम है। स्वस्थ जीवन का सहज प्रोद्भास न होकर ऐसा मालूम पडता है कि दूसरो को हँसाने के उद्देश्य से लिखा गया है। यूरोप मे व्यंग्य (Satire), वक्रोक्ति (Irony), विदग्धता (Wit) और हास्य (Humour) चारो मे सूक्ष्म किंतु स्पष्ट अतर माना गया है। हास्य शेष तीनो से अपनी निर्मलता के कारण पृथक् है। व्यग्य सदा सोद्देश्य होता है—उपहास के द्वारा ताड़ना उसका अभिप्राय होता है। वक्रोक्ति मे चुभने वाली कटुता होती है, विदग्धता बुद्धि के चमत्कार पर आश्रित रहती है। परतु हास्य स्वस्थ मन का सहज उच्छलन होता है—उद्देश्य, कटुता आदि से पूर्णत मुक्त। हिंदी मे इन चारो को उलझा दिया गया है। हास्य के अतर्गत ये सभी खप जाते हैं। वैसे हिंदी मे हास्य के नाम पर प्राय. व्यग्य ही अधिक चलता है। हँसाने का उद्देश्य किसी-न-किसी प्रकार की सुधार-भावना लिये रहता है। इसके अतिरिक्त कुछ सूक्ष्मचेता लेखको ने वक्रोक्ति का भी सुदर प्रयोग किया है। परतु जिसे हास्य, निर्मल और शुद्ध कहा गया है उसके तो शायद दो-चार उदाहरण ही ढूढने पर मिलें। मैं प्राय: सोचा करता हू कि हास्य का यह दुष्काल क्यो है। आखिर इसका कारण क्या है ?

प्रो०—कारण स्पष्ट है। हिंदी को उत्तराधिकार मे जो साहित्यिक परपराए मिली हैं. उनमे ही हास्य का दैन्य रहा है। हिंदी ने अपनी सब साहित्यिक परपराएं सस्कृत से प्राप्त की हैं। और सस्कृत मे स्वयं हास्य का अभाव है। सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे हास्य को हीनतर रसो मे माना गया है: शृगार, करुण, वीर और शात को जो महत्त्व मिला है उसका एक अश भी हास्य को नही मिला। गभीर कवियो ने तो उसका स्पर्श ही नही किया—और जिन्होने किया भी है उनका हास्य सर्वथा रूढ और स्थूल है। कालिदास जैसे परिष्कृत-रुचि और सूक्ष्म-चेता कवि का हास्य भी इसी कोटि का है। 'शाकुंतलम्' जैसे नाटक का विदूषक भी भोजन अथवा भीरुता आदि की बाते कहकर हँसने-हँसाने का प्रयत्न करता है। प्रारभिक नाटको मे तब भी हास्य का थोडा-बहुत स्पर्श था—बाद मे वह भी लुप्त हो गया! सस्कृत के उत्तरकाल मे आकर अलकार की जकडबदी और शृगार के नग्न नृत्य के बीच साहित्य के अन्य महत्त्व-पूर्ण तत्त्व भी तिरोहित हो गए—हास्य तो पहले से ही उपेक्षित था। साहित्य के

विकास का प्राकृत और अपभ्रंश मे भी यही क्रम रहा । हिंदी साहित्य का विकास सीधा इसी परंपरा से हुआ है । अतएव उसमे हास्य का जन्म से ही अभाव रहा है ।

नगेन्द्र—लेकिन संस्कृत में भी हास्य का ऐसा अभाव क्यो है—इसका भी तो कारण होना चाहिए । आपके कहने का शायद तात्पर्य यह है कि भारतीय साहित्य-परम्पराए हास्य के अनुकूल नही हैं ! पर क्यो ?

प्रो०—प्रत्येक देश और जाति की अपनी प्रकृति और प्रतिभा होती है—भारतीय प्रकृति और प्रतिभा स्वभाव से गभीर है ।

नगेन्द्र—नही साहब, यह भी स्वयं कार्य है, कारण नही है । कारण ढूढने के लिए हमे भारतीय जीवन-दर्शन का विश्लेषण करना पडेगा । भारतीय दृष्टि सदैव भेद मे अभेद देखती रही है—द्वैत को मिटाकर अद्वैत की स्थिति को प्राप्त करना ही इसका लक्ष्य रहा है । यो तो समय-समय पर यहा अनेक दर्शनो की सृष्टि हुई है जो एक-दूसरे के विरोधी रहे हैं, फिर भी गहरे मे जाकर देखने से अद्वैत भावना प्राय: सभी मे मूल रूप से अनुस्यूत मिलती है । वास्तव मे अनेकता मे एकता की प्रतीति—भेद मे अभेद की प्रतीति के बिना पूर्ण आस्तिकता की स्थिति संभव नही है । परंतु आप देखेंगे कि यह जीवन-दृष्टि हास्य के एकात प्रतिकूल पड़ती है । हास्य के लिए भेद-प्रतीति अनिवार्य है । अभी मैंने विदेश के आचार्यों की चर्चा करते हुए कहा था कि वे प्राय: सभी असंगति को हास्य की आत्मा मानते हैं, और आपने सस्कृत आचार्यों का मत देते हुए विकृति को हास्य का मूल तत्त्व माना है । ये दोनो ही भेद की अपेक्षा करते हैं । असंगति के लिए औचित्य और अनौचित्य का भेद अनिवार्य है और विकृति के लिए कृति और उसके विकार का । कहने का तात्पर्य यह है कि हास्य की उद्‌बुद्धि के लिए असंगति अथवा भेद की सूक्ष्म और तीव्र चेतना अनिवार्य है और चूकि भारतीय प्रतिभा अपने दार्शनिक संस्कारो के कारण अभेदद्रष्टा रही है इसलिए वह हास्य के अधिक अनुकूल नही पडी ।

प्रो०—हा, भारतीय जीवन-दृष्टि सदा से ही गंभीर रही है, हास्य उसके अनुकूल कम ही पडा है ।

नगेन्द्र—हमारे यहा मानव-जीवन की दो मौलिक वृत्तिया मानी गई हैं . राग और द्वेष । इन्ही के अनुसार हमारे साहित्य मे शृंगार और करुण को महत्त्व मिला है । भारतीय मन या तो पूर्ण रूप से रागी रहा है और या फिर एकदम विरागी हो गया है । दोनो के बीच समझौता करना उसे अधिक नही भाया । इसलिए उसने हर्ष को ही महत्त्व दिया है, हास्य से उसे सतोष नही हुआ । जीवन मे उसने हर्ष को लक्ष्य बनाया है और यदि उसमे व्याघात पड़ा है तो वह विरक्त होकर उसे त्याग ही बैठा है । गंभीर प्रकृति का मनुष्य कुठित होने पर ठोकर मारना पसंद करेगा, हँसेगा नही ।

प्रो०—आपका कहना ठीक है, हँसाने के लिए रुक्ष और व्यावहारिक प्रकृति की आवश्यकता होती है—गंभीर भावुक प्रकृति उसके प्रतिकूल पडती है । अँगरेज़, विशेषकर स्कॉच, जितने सहज भाव से और खुलकर हँस सकता है उतना अन्य देश-वासी नही । और, ठीक इसी कारण जर्मन और भारतीय जातियो मे हास्य-वृत्ति

अपेक्षाकृत बहुत ही क्षीण है।

अंगरेज कवि शेक्सपियर जीवन की यातनाओ और विकलताओ का आघात पाकर सघन-से-सघन वातावरण में भी हँस सकता था। आप उसके दु:खात नाटको को ही लीजिए—उस व्यक्ति मे इतनी शक्ति है कि वह गहन-से-गहन परिस्थितियो मे भी हँस सकता है—उसका दृष्टिकोण इतना प्रकृतिस्थ और स्वस्थ-दृढ है कि न तो शोक की सघनता और न हर्ष की उत्फुल्लता ही उसको चचल कर सकती है। वह जीवन की व्यावहारिकता अथवा गतिशीलता के प्रति इतना आश्वस्त है कि उसके मार्ग में आने वाली प्रत्येक बाधा का वह उपहास करता है—वह बाधा चाहे भावात्मक हो या अभावात्मक—प्रेम की अतिशय गभीरता पर भी वह उसी प्रकार हँसता है जिस प्रकार शोक की जडता पर। परतु भारतीय कवि भवभूति या जर्मन कवि गेटे के लिए ऐसी परिस्थितियो मे चित्त की पूर्ण द्रुति या आत्मा का घोर आक्रोश ही सभव है।

परतु अब तक हम मौलिक कारणों का ही विश्लेषण करते रहे है—इनके अतिरिक्त प्रासगिक कारण भी अनेक हैं।

नगेन्द्र—प्रासगिक कारणो से क्या मतलब ?

प्रो०—अर्थात् वे कारण जिनका हिंदी भाषा और साहित्य से सीधा संबध है। उदाहरण के लिए हिंदी के जन्म और विकास की परिस्थितियो को ही लीजिए, जिन सघन और निविड़ परिस्थितियो मे उनका जन्म और विकास हुआ है, उनमे हँसाने और हँसने का अवकाश नही रहा—उनमे केवल गंभीर साहित्य की सृष्टि ही सहज और सरल थी। प्रसाद जी ने हिंदी मे हास्य के अभाव का यही मुख्य कारण बताया है। वे कहते हैं कि हास्य मनोरजिनी वृत्ति का विकास है—परतु हमारी जाति शताब्दियो से पराधीन और पद-दलित है, इसलिए हमे हँसने का अवकाश ही नही है। वास्तव मे वीरगाथा और भक्ति युगो मे तो उसके लिए स्थान ही कहाँ था—पहले में परिस्थिति की सघनता और दूसरे मे भावना का अतिशय उद्रेक, दोनो ही हास्य के प्रतिकूल पडते थे।

हा, रीति-युग मे आकर जब कविता का दरबार से संबंध स्थापित हो गया था, तब यह आशा की जा सकती थी कि आश्रयदाताओ के मनोरंजन के लिए कवि-जन हास्य की भी उद्बुद्धि करते। परंतु आप देखें कि इस युग मे हास्य का और भी अधिक अभाव है। इसका कारण यह है कि निर्मल हास्य सदैव स्वस्थ दशा मे ही संभव है। रीति-युग मे हमारा समाज मन और शरीर दोनो से ही रुग्ण था—राजा लोगो और उधर सपन्न सामाजिको का रोगी मन स्वस्थ-निर्मल हास्य की अपेक्षा शृगार की चुहल को ही अधिक पसंद करता था। आधुनिक युग मे आकर परिस्थति फिर गंभीर और सघन हो गई। इस प्रकार साहित्य की परिस्थितिया भी हास्य के सर्वथा प्रतिकूल रही हैं।

नगेन्द्र—परतु यहा एक आपत्ति हो सकती है। वह यह कि उर्दू साहित्य का विकास भी तो प्राय: इन्ही परिस्थितियों मे हुआ है। फिर क्या कारण है कि उसका हास्य काफी समृद्ध है।

प्रो०—इसके मेरे पास दो उत्तर हैं : एक तो यह कि परिस्थिति एकमात्र कारण नही होती, वह अनेक कारणो में से एक हो सकती है, दूसरे उर्दू और हिंदी की परिस्थितिया बाहर से एक-सी लगती है, अंदर से उनमें काफी अंतर है। उर्दू विजेताओं की भाषा थी, हिंदी विजितो की। उर्दू बाजार और मजलिसो की भाषा रही है, हिंदी जनता के हृदय की। स्वभावतः उर्दू मे शोखी और चटक अधिक है। और ये दोनो हास्य के अनिवार्य तत्त्व हैं। इसके अतिरिक्त दोनो की पृष्ठभूमिया तथा परंपराएं कितनी भिन्न हैं। उर्दू को फारसी की परपराएं प्राप्त हुई हैं, और फारसी में सूक्ष्म और परिष्कृत हास्य की कमी नही है। और फिर, हमारे और उर्दू वालो के सामाजिक जीवन मे कितना अतर है। क्लब-लाइफ जितनी अच्छी उर्दू वालो की रही है, उतनी हम लोगों की आज भी नही है।

नगेन्द्र—यानी आपका निष्कर्ष यह है कि हिंदी की प्रकृति ही गंभीर है, इसलिए उसमे हास्य का अभाव है।

प्रो०—हा, उसकी प्रकृति ही नही वरन् उसकी परपराएं, उसकी परिस्थितियां, उसके बोलने वालों की जीवन-दृष्टि आदि सभी गंभीर हैं। लेकिन अब प्रश्न यह है कि यह कमी पूरी कैसे हो ?

नगेन्द्र—साहित्य के अभाव प्रयत्न करके पूरे नही होते। उनकी जडें गहरी होती हैं। उनका संबंध जाति के संस्कारो से होता है। सामाजिक परिस्थितियो के परिवर्तन से जाति के सस्कारो मे परिवर्तन होने पर ही यह सभव हो सकता है। जीवन की विषमताओ से रगड खाकर भारतीयो का दृष्टिकोण जब आध्यात्मिक कम और व्यावहारिक अधिक हो जाएगा, आदर्श के भावमय स्वप्न न देखकर जब हम व्यवहार की रुक्षता के अभ्यस्त हो जाएगे, स्वभावत. हमारे अंदर हास्य-वृत्ति का विकास हो जाएगा। तभी हमारे साहित्य से भी हास्य का यह अभाव दूर हो जाएगा।

हिंदी-उपन्यास

कुछ दिनो से हिंदी उपन्यास पर एक लेख लिखने का भार मन पर झूल रहा था। कल रात को उसी की रूपरेखा बना रहा था। कभी प्रवृत्तियो के आधार पर वर्गीकरण की बात सोचता, कभी समस्याओ के, और कभी टेकनीक के आधार पर। रूपरेखा कुछ बनती भी थी। परंतु परसों शाम ही को सुना हुआ जैनेन्द्रजी का यह वाक्य गूज उठता था कि तुम लोग, यानी पेशेवर आलोचक (और उनका यह विशेषण मुझ जैसे लोगो को ही नही, आचार्य शुक्ल, डॉक्टर ब्रैडले जैसे आलोचको को भी आलिगन-पाश मे बाधने के लिए अपनी विशाल बाहे फैलाए हुए था) लेखक की आत्मा को पहचानने का प्रयत्न नही करते, बल्कि उस पर अपना ही मत थोपते रहते हो। अत मे मेरे मन मे एक बात आयी : क्यो न एक मूलग्राही प्रश्नावली द्वारा उपन्यास-कारो से मिलकर अपने-अपने उपन्यास-साहित्य के विषय मे उन सभी के दृष्टिकोण जान लू, और फिर उन्हे ही मनोविश्लेपण के आधार पर सश्लिष्ट कर एक मौलिक लेख तैयार कर लू ? यह विचार कुछ और आगे बढता परतु एक समस्या आकर खडी हो गई कि यह सब इतनी जल्दी कैसे हो सकता है और फिर हिंदी के सभी प्रतिनिधि उपन्यासकारो से मिलने के लिए तो इहलोक ही नही परलोक की भी यात्रा करनी पडेगी। लेख की मौलिकता, उसके द्वारा हिंदी-आलोचना मे एक नई दिशा प्रशस्त करने का लोभ अथवा और कुछ भी कम-से-कम इस दूसरे उपाय का प्रयोग करने के लिए मुझे राजी न कर सका। अत मे मानसिक श्रम से थककर मैं सो गया।

रात को मैंने देखा कि एक वृहत् साहित्यिक समारोह लगा हुआ है। साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन तो नही, क्योकि उसमे इस प्रकार के नगण्य विषयो के विवेचन का लोगो को कम ही अवसर मिलता है। पर कुछ भी हो, मैंने देखा, उसी समारोह के अंतर्गत उपन्यास अग को लेकर विशिष्ट गोष्ठी का आयोजन हुआ है, जिसमे हिंदी के लगभग सभी उपन्यासकार उपस्थित हैं। पहले उपन्यास के स्वरूप और कर्तव्य-कर्म को लेकर चर्चा चली। कर्तव्य-कर्म के विषय में यहा तक तो सभी सहमत हो गए कि जो साहित्य का कर्तव्य-कर्म है वही उपन्यास का भी, अर्थात् जीवन की व्याख्या करना। पहले श्रीयुत देवकीनदन खत्री का इस विषय में मतभेद था, परतु जब 'व्याख्या' के साथ 'आनदमयी' विशेषण जोड दिया गया तो वे भी सहमत हो गए। स्वरूप पर काफी विवाद चला। अत में मेरे ही समवयस्क-से एक महाशय ने प्रस्ताव किया कि इस प्रकार तो समय भी बहुत नष्ट होगा और कुछ सिद्धि भी नही होगी। हिंदी के सभी

प्रतिनिधि उपन्यासकार उपस्थित हैं, अच्छा हो यदि वे एक-एक करके बहुत ही संक्षेप में उपन्यास के स्वरूप और अपने उपन्यास-साहित्य के विषय में अपना-अपना दृष्टिकोण प्रकट करते चलें। उपन्यास के स्वरूप और हिंदी-उपन्यास के विवेचन का इससे सुंदर ढंग और क्या हो सकता है! प्रस्ताव काफी सुलझा हुआ था। फलतः सभी ने मुक्त कंठ से उसे स्वीकार कर लिया। विवेचन में एकता और एकाग्रता बनाए रखने के विचार से उन्ही सज्जन ने तत्काल एक प्रश्नावली भी पेश कर दी, जिसके आधार पर उपन्यासकारों से बोलने की प्रार्थना की जाए। उसमें केवल तीन प्रश्न थे—

१ आपके मत में उपन्यास का वास्तविक स्वरूप क्या है?

२. आपने उपन्यास क्यों लिखे हैं?

३. अपने उद्देश्य में आपको कहां तक सिद्धि मिली है?

यह प्रश्नावली भी तुरत स्वीकृत हो गई और प्रस्तावकर्ता से कह दिया गया कि आप ही कृपा करके इस कार्यवाही को गति दे दीजिए। अस्तु!

सबसे पहले उपन्यास-सम्राट् प्रेमचंदजी से शुरू किया जाता। लेकिन प्रेमचंदजी ने सविनय एक ओर इशारा करते हुए कहा—"नहीं, नहीं, मुझसे पहले मेरे पूर्ववर्ती बाबू देवकीनंदन खत्री जी से प्रार्थना करनी चाहिए। देवकीनंदनजी हिंदी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार हैं।" प्रेमचंदजी के आग्रह पर एक साधारण-सा व्यक्ति, जिसकी आकृति मुझे स्पष्टतः याद नहीं, धीरे से खड़ा हुआ और कहने लगा—"भाई, आज तुम्हारी दुनिया दूसरी है, तुम्हारे विचारों में दार्शनिकता और नवीनता की छाप है। हम तो उपन्यास को कल्पित कथा समझते थे। इसके अतिरिक्त उसका कुछ और स्वरूप हो सकता है, यह हमारे ध्यान में भी नहीं आता था। मैंने स्वदेश-विदेश की विचित्र कथाएं बड़े मनोयोग से पढ़ी थीं और उनको पढ़कर मेरे दिल में यह आता था कि मैं भी इसी प्रकार के अद्भुत कथानक लिखकर जनता का मनोरंजन करके यश-लाभ करूं। इसी-लिए मैंने 'चंद्रकांता-सन्तति' लिख डाली। अद्भुत के प्रति बहुत अधिक आकर्षण होने के कारण मेरी कल्पना उत्तेजित होकर उस चित्रलोक की रचना कर सकी। आखिर लोगों के पास इतना समय था और जीवन की गति इतनी मंद थी कि उन्हें आवश्यकता थी किसी ऐसे साधन की, जो उनमें उत्तेजना भर सके। बस, वे साहित्य में उत्तेजना की मांग करते थे। इसके अतिरिक्त मनुष्य यह तो सदा अनुभव करता है कि यह जीवन और जगत् रहस्यों का भंडार है, परंतु साधारणतः कल्पना की आंखें खुली न होने के कारण वह उनको देख नहीं पाता। उसका कुतूहल जैसे इस तिलिस्म के द्वार से टकराकर लौट आता है और उसे यह इच्छा रहती है कि ऐसा कुछ हो जाए इस जादूघर को खोल सके। मेरे उपन्यास मनुष्य की ये दोनों मांगें पूरी करते हैं—उसके मंद जीवन में उत्तेजना पैदा करते हैं और उसकी कुतूहल-वृत्ति की तृप्ति करते हैं। इसीलिए वे इतने लोकप्रिय रहे हैं—असंख्य पाठकों को उनसे जो वह चाहते थे मिला। इससे बढ़कर उनकी या मेरी सिद्धि और क्या हो सकती है? वे जीवन की व्याख्या करते हैं या नहीं, यह मैं नहीं जानता। मैंने कभी इसकी चिंता भी नहीं की—परंतु मनोरंजन अवश्य करते हैं—मन की एक भूख को भोजन देते हैं, बस।"

इसके उपरात मुशी प्रेमचद बिना किसी तकल्लुफ के आप-ही-आप खडे हो गए और निहायत ही सादगी और सचाई से कहने लगे—"भाई, सवाल तुम्हारे कुछ मुश्किल हैं। उपन्यास के स्वरूप या अपने उपन्यास-साहित्य का तात्त्विक विवेचन तो मैं आपके सामने शायद नही कर पाऊगा; पर मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हू—मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। मानव-चरित्र कोई स्वत· सपूर्ण तथ्य नही है, वह वातावरण सापेक्ष है, इसलिए उस पर वातावरण की सापेक्षता मे ही प्रकाश डाला जा सकता है। आज का उपन्यास-कार आज के वातावरण अर्थात् आज की राजनीतिक और सामाजिक समस्याओ की व्याख्या करता हुआ ही मानव-चरित्र की व्याख्या कर सकता है। लेकिन 'व्याख्या' शब्द को जरा और साफ करना होगा। व्याख्या से मेरा मतलब सिर्फ स्वरूप, कार्य-कारण वगैरह का विश्लेषण करके उसके भिन्न-भिन्न तत्त्वो को अलग-अलग सामने रख देना नही है। वह तो वैज्ञानिक का ही काम है—और दरअसल सच्चे वैज्ञानिक का भी नही, क्योकि वह भी उस विश्लेषण मे से कोई जीवनोपयोगी तथ्य निकालकर ही संतुष्ट होता है। उपन्यासकार की व्याख्या तो इससे बहुत अधिक है—वह तो निर्माण की अनुवर्तिनी है। मेरा जीवन-दर्शन वैज्ञानिक नही है, शुद्ध उपयोगितावादी है। यानी मैं मानता हू कि उपन्यासकार का कर्त्तव्य है कि वह परिस्थितियो के बीच मे रखकर मानव-चरित्र का विश्लेषण करके यह समझ ले कि वहा क्या गडबड है, और फिर क्रमश. उस अवस्था तक ले जाए जहा वह गडबड, वह सारी असगति मिट जाए—जो मानव-चरित्र का आदर्श रूप हो। यहा मैं स्वप्नलोक या स्वर्गलोक की सृष्टि की बात नही करता—वहा तो वास्तव का आचल ही आपके हाथ में से छूट जाता है। आज की भौतिक वास्तविकताओ मे घिरे हुए मानव-चरित्र का निर्माण इस प्रकार नही होगा। परिस्थिति के अनुकूल उसका एक ही मार्ग है और वह है आज के यथार्थ मे से ही आदर्श के तत्त्वो को ढूंढकर उसका निर्माण करना। मैं इसी भावना से प्रेरित होकर उपन्यास लिखता हू। मेरे उपन्यास कहा तक आज के मानव को आत्म-परिष्कार के प्रति, यानी परिस्थितियो के प्रकाश मे अपनी खामियो को समझकर उनको दूर करने के लिए जागरूक कर सके हैं, यह मैं नही जानता। पर मेरी सिद्धि इसी के अनुपात से माननी चाहिए। मेरा उद्देश्य केवल मनोरजन करना नही है—वह तो भाटो और मदारियो, विदूषको और मसखरो का··· (सहसा बाबू देवकीनदन खत्री की ओर देख-कर एकदम शर्म से लाल होकर फिर ठहाका मारकर हँसते हुए)—आशा है आप मेरा मतव्य गलत नही समझ रहे हैं।"

प्रेमचंदजी के बाद कौशिक जी खडे हुए। मुझे अच्छी तरह याद नही उन्होने क्या कहा, पर शायद उन्होने प्रेमचदजी की ही बात को दुहराया।

अब प्रसाद जी से प्रार्थना की गई। पहले तो वे राजी नही हुए। परतु जब लोगों ने विशेष अनुरोध किया तो वे अत्यंत शात-सयत मुद्रा मे खडे हुए और कहने लगे—"हिंदी के आलोचको ने मेरी कविता और नाटको को रोमाटिक आदर्शवाद की कक्षा मे रखा है और मेरे उपन्यासो को यथार्थवाद की कक्षा मे। मैं नही कह सकता कि

मूलत: मेरे साहित्य के बीच मे कोई ऐसी विभाजक रेखा खीची जा सकती है। फिर भी यह सत्य है कि मुझे कविता-नाटक की अपेक्षा उपन्यास मे यथार्थ को आकना सरल प्रतीत होता है। कारण केवल यही है कि वह अपेक्षाकृत सीधा माध्यम है। आज धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विषमताओ के कारण जीवन मे जो गहरी गुत्थिया पड गई हैं, उनसे मैं निरपेक्ष होकर पलायन नही कर सकता—आह, यदि यह सभव होता ! परंतु प्रेमचंदजी की तरह सामूहिक बहिर्मुखी प्रयत्नो मे मुझे उनका समाधान सरलता से नही मिलता। जिन संस्थाओ पर समाज बालक की तरह आश्रय के लिए झुकता है वे अदर से कितनी कच्ची और घुनी हुई है ? प्रवृत्ति के एक धक्के को भी सभालने का उनमे बल है ? मुझे विश्वास ही नही हो सकता कि सस्थाओ का यह नया व्यसन जीवन का किसी प्रकार भी गतिरोध कर सकेगा। ऐसा क्या है, जिसके नाम पर प्रवृत्ति को झुठलाया नही जाए ? और प्रवृत्ति भी क्या सत्य है ? यही आज के जीवन का दर्शन है—और मैं इसको पूरी चेतना के साथ अनुभव कर रहा हूं। यह आपको मेरे सपूर्ण साहित्य मे मिलेगा—उपन्यास मे प्रतीको के अधिक परिचित होने के कारण यह शायद अधिक मुखर हो गया है।"

इसके बाद बाबू वृंदावनलाल वर्मा के नाम से एक सज्जन, जिनके सिर पर शोभित फैल्ट कैप उनके परपरा-प्रेम की दुहाई दे रही थी, उठ खडे हुए और बोले—"भई, उपन्यास को मैं उपन्यास ही समझता हू, और बुंदेलखड के ये ही नदी-नाले, झीलें और पर्वतवेष्टित शस्य-श्यामल खेत मेरी प्रेरणा के प्रधान कारण हैं। इसलिए मुझको हिस्टोरिकल रोमास पसद है। अन्य कारण जानकर क्या करिएगा। इसी रोमाटिक वातावरण मे बाल्यकाल से मैं अपनी आखो से चारो ओर एक वीर जाति के जीवन का खडहर देखता आया हू, और अपने कानो से मैंने उसकी विस्मय-गाथाए सुनी हैं। अतएव स्वभाव से ही मैं आप-से-आप कल्पना के द्वारा उन दोनो को जोडने लगा। वे कहानिया इन खडहरो मे जीवन का स्पदन भरने लगी, और ये खडहर उन कहानियो मे जीवन की वास्तविकता। मैं उपन्यास लिखने लगा। मेरे उपन्यास आदि उस गौरव-इतिहास को आपके मन मे जगा पाते है तो वे सफल ही हैं।"

जिस समय ये लोग भाषण दे रहे थे एक हृष्ट-पुष्ट आदमी, जिसके लबे-लम्बे बाल, अधनगा शरीर एक अजीब फक्कडपन का परिचय दे रहे थे, बीच-बीच मे काफी चुनौती-भरे स्वर मे फिकरे कसकर लोगो का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। पूछने पर मालूम हुआ कि आप हिंदी के निर्द्वंद्व कलाकार उग्र जी है। वृंदावन-लालजी का भाषण समाप्त होने पर लोग उनसे प्रार्थना करने ही वाले थे कि आप ही उठ खडे हुए और बोले—"ये लोग तो सभी मुर्दा हो गए हैं। जिसमे जोश ही नही रहा वह क्या उपन्यास लिखेगा ? और जोश सुधार, आत्म-परिष्कार के नाम पर अपने को और दूसरो को धोखा देने वाले लोगो मे कहा ? जोश आता है नीति की चहार-दीवारी को तोडकर विधि-निषेधो का जी भरकर मजा लेने से। जोश आता है, जिसे ये लोग तामस और पाप कहकर दूर भागते हैं, उनका मुक्त उपभोग करने से, जबकि मनुष्य की सच्ची वृत्तियां दमन की शृखलाएं तोड़कर स्वच्छद होकर जीवन का मांसल

स्पष्ट देखता हूं (और यह कहते हुए अंचलजी की ओर देखकर वे अत्यंत गंभीर हो गए, जैसे जो कुछ कहने जा रहे हैं वह उन्हें अंचलजी के मुख पर साफ नज़र आ रहा है) कि आज के मानव की मुक्ति पीड़ा में नहीं है, जीवन की आर्थिक विषमताओं को दूर करने में है। आज मुझे शरत या गांधी नहीं बनना, शोलोखोव और स्तालिन बनना है।"

अब वात्स्यायन जी अपना दृष्टिकोण प्रकाशित करें—मांग हुई। वात्स्यायन जी ने अपना वक्तव्य आरंभ कर दिया। परंतु मैं चूंकि थोड़ा दूर बैठा था, मुझे सिर्फ उनके होंठ ही हिलते दिखाई देते थे, सुनाई कुछ नहीं पड़ता था। उग्रजी ने एक बार उनको ललकारा भी—"अरे सरकार, जरा दम से बोलिए, आखिर आप स्वगत-भाषण तो कर नहीं रहे, मजलिस में बोल रहे हैं।" पर वात्स्यायन जी पर जैसे उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे उसी स्वर में बोलते रहे। हारकर मुझे ही उनके पास जाना पड़ा। कह रहे थे,…"या यों कहिए कि आपके सामने मेरा एक ही उपन्यास है। उसमें, जैसा कि मैंने प्रवेश में कहा है, मेरा दृष्टिकोण सर्वथा बौद्धिक रहा है। एक व्यक्ति का पूरी ईमानदारी से, अपने राग-द्वेष को सर्वथा पृथक् रखकर, वस्तुगत चित्रण करना और तज्जन्य बौद्धिक आनंद को स्वयं ग्रहण करना तथा पाठक को ग्रहण कराना मेरा उद्देश्य रहा है। किसी व्यक्ति का, विशेषकर उस व्यक्ति का जो अपनी ही सृष्टि हो, चरित्र-विश्लेषण करने में अपने राग-द्वेषों को अलग रखते हुए पूरी ईमानदारी बरतना स्वयं अपने में एक बड़ी सफलता है। आप शायद यह कहेंगे कि यह व्यक्ति मेरी सृष्टि ही नहीं मैं स्वयं हूं और यह विश्लेषण अपने ही व्यक्ति-विकास का विश्लेषणात्मक सिंहावलोकन है। तब तो ईमानदारी और वस्तुगत चित्रण का महत्त्व और भी कई गुना हो जाता है। क्योंकि अपने को पीड़ा देना तो आसान है; पर राग-द्वेष-विहीन होकर अपनी परीक्षा करने में असाधारण मानसिक शिक्षण और संतुलन की आवश्यकता होती है, इससे प्राप्त आनंद राग-द्वेष में बहने के आनंद से कहीं भव्यतर है। मैंने इसी को पाने और देने का प्रयत्न किया है। 'शेखर' को पढ़ कर आप जितना ही इस आनंद को प्राप्त कर पाते हैं उतनी ही मेरी सफलता है।"

इतने ही में इलाचंद्रजी स्वतःप्रेरित-से बोल उठे—"वात्स्यायन जी की बौद्धिक निरुद्देश्यता का यह आनंद कुछ मेरी समझ में नहीं आया। मैं उनके मनोविश्लेषण की सूक्ष्मता और सत्यता का कायल हूं, परंतु व्यक्ति का विश्लेषण करके उसको एक समस्या बनाकर ही छोड़ देना तो मनोविश्लेषण का दुरुपयोग है। स्वयं फ्रॉयड ने भी मनोविश्लेषण को साधन ही माना है, साध्य नहीं। चरित्र में पड़ी हुई ग्रंथियों को सुलझाकर वह हमें मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करता है और इस प्रकार व्यक्ति की, फिर समाज की विषमताओं का समाधान करता है। यही आनंद सच्चा आनंद—स्वस्थ आनंद है।"

अब लोग थकने लगे थे। मुझे भी मन को एकाग्र रखने में कुछ कठिनाई-सी मालूम पड़ रही थी—शायद मेरी नींद की गहराई कम हो रही थी। इसलिए मुझे सचमुच बड़ा संतोष हुआ जब प्रश्नकर्त्ता महोदय ने उठकर कहा कि अब देर काफ़ी हो गई है, इतना समय नहीं है कि आज के सभी उदीयमान औपन्यासिकों के अपने मंतव्यों को सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो सके। अतएव अब केवल यशपालजी ही अपने विचार

प्रकट करने का कष्ट करें।

यशपालजी बोले—"वात्स्यायन जी की बौद्धिकता को तो मैं मानता हूं, परंतु उनके इस तटस्थ या वैज्ञानिक आनंद की बात मेरी समझ मे नही आती। वास्तव मे यह वैज्ञानिक आनद और कुछ नही शुद्ध आत्म-रति मात्र है। वात्स्यायन जी घोर व्यक्ति-वादी कलाकार हैं—उन्होने जीवन और जगत् को अपनी सापेक्षता मे देखा और अंकित किया है—जैसे सभी कुछ उनके अहं के चारो ओर चक्कर काट रहा हो। मेरा दृष्टि-कोण ठीक इसके विपरीत है। अपनी शक्तियो को अपनी व्यष्टि मे ही केंद्रीभूत कर लेना या अपनी व्यष्टि को सपूर्ण विश्व की धुरी मान लेना जीवन का बिलकुल गलत अर्थ समझना है। आत्म-रति एक भयकर रोग है। उससे जीवन मे विषमयी ग्रथिया पड जाती हैं। जीवन का समाधान तो इसी मे है कि व्यक्ति के घोघे से निकलकर समष्टि की धूप मे विचरण किया जाए। व्यक्ति मे उलझे रहने से जीवन की समस्याए और उलझ जाएगी। उनके लिए सामाजिकता अनिवार्य है। व्यक्तियो पर ध्यान केंद्रित करके उनको अनिवार्य महत्त्व देना मूर्खता है। सामूहिक चेतना जाग्रत कीजिए, गण-शक्ति का अर्जन कीजिए परतु इसके साथ ही जैनेन्द्रजी के आत्म-निषेध को भी मै नही मानता। जो है उसका निषेध करना बेमानी है और न कोई आत्म-निषेध करता है। आत्म-निषेध की सबसे अधिक बात करने वाले गाधीजी ही सबसे बड़े आत्मार्थी हैं। अध्यात्मवाद, वैज्ञानिक तटस्थता आदि व्यक्तिवाद के ही विभिन्न नाम हैं। आज हमे आवश्यकता इस बात की है कि भ्रमजाल से निकलकर जीवन की भौतिकता और सामाजिकता को स्वीकार करें। मेरे साहित्य का यही उद्देश्य है।"

गोष्ठी की कार्यवाही अब समाप्त हो चुकी थी। अत मे प्रश्नकर्त्ता महोदय ने वक्ताओ को धन्यवाद देते हुए निवेदन किया—"अभी आपके सामने हिंदी के कुछ प्रति-निधि उपन्यासकारो ने अपने-अपने दृष्टिकोणो की सुदर विवेचना की है। हिंदी-उपन्यास के लिए वस्तुत यह गौरव का दिन है जबकि हमारे आदि-उपन्यासकार से लेकर नवीनतम उपन्यासकार तक (बाबू देवकीनदन खत्री से लेकर यशपाल तक) सभी एक स्थान पर मौजूद है (यद्यपि ऐसा कैसे सभव हो सका, यह सोचकर वक्ता महोदय को बडा आश्चर्य हो रहा था) और उन्होने स्वय ही अपने दृष्टिकोणो का स्पष्टीकरण किया है। आपने देखा कि किस तरह इनका दृष्टिकोण क्रमशः बदलता गया है। किस तरह सामतीय से वह भौतिक-बौद्धिक हो गया है। देवकीनदन खत्री और यशपाल हमारे उपन्यास-साहित्य के दो छोर हैं। देवकीनदनजी का दृष्टि-कोण, उनके औपन्यासिक मान, शुद्ध सामंतीय हैं। साहित्य या उपन्यास उनके लिए एक जीवित शक्ति नही है, वह मनोरजन का—उपभोग का एक उपकरण मात्र है। वह जीवन की व्याख्या और आलोचना करने वाला एक चैतन्य प्रभाव नहीं है, उपभोग-जर्जर जीवन मे झूठी उत्तेजना लाने वाली एक खुराक है। शारीरिक उत्तेजना के लिए जिस प्रकार लोग कुश्ते खाते थे, मानसिक उत्तेजना के लिए इसी प्रकार वे 'तिलस्म' या 'चद्रकाता-सतति' पढते थे। इस तरह से, उस समय के जीवन के लिए 'चंद्रकांता' उपन्यास एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव था और कम-से-कम उसकी अनंत-विहारिणी कल्पना

का लोहा तो सभी को मानना होगा। वह मन को बुरी तरह जकड लेती है, यही उसकी शक्ति का असदिग्ध प्रमाण है। भारतीय जीवन की गति के अनुसार प्रेमचंद तक आते-आते यह दृष्टिकोण बदलकर विवेक और नीति का दृष्टिकोण हो जाता है। उनके लिए उपन्यास सामाजिक जीवन का निर्माण करने वाला एक चेतन प्रभाव है, उपयोगिता और सुधार उसके दो ठोस उद्देश्य हैं, नीति और विवेक दो साधन। जीवन से उसका घनिष्ठ सबध है। निदान उनका उपन्यास मानव-जीवन की ऊपरी सतह को छूकर नही रह जाता, वह उसके भीतर प्रवेश करता है। परतु चूंकि उसकी दृष्टि बहिर्मुखी है, सामाजिक जीवन पर ही केंद्रित रहती है, इसलिए उसकी भी तो पैठ सीमित माननी ही पडेगी। नीति और विवेक के प्राधान्य के कारण प्रेमचद का उपन्यास प्राण-चेतना के आर-पार नही देख पाता—विवेक को इसकी आवश्यकता ही नही पडती। विवेक की आखें बीच मे ही रुक जाती हैं, जीवन के अतल को स्पर्श नही कर पाती। इसीलिए तो 'प्रेमचदजी की दृष्टि की व्यापकता, उदारता और स्वास्थ्य का कायल होकर भी मुझे उनमे और शरत् या रवि बाबू मे बहुत अतर लगता है। प्रेमचदजी की इस बहिर्मुखी सामाजिकता को उसी समय प्रसाद, वृंदावनलाल वर्मा और उग्र ने चैलेंज किया—प्रसाद ने निर्मम होकर सामाजिक सस्थाओ का गर्हित खोखलापन दिखाया, वृंदावनलाल ने वर्तमान के इतिवृत्त को छोडकर अतीत के विस्मय-गौरव की ओर संकेत किया, उग्र ने उनकी उथली नैतिकता को चुनौती दी। परंतु गाधीवाद के व्यवहार-पक्ष का लोकरुचि पर उस समय इतना अधिक प्रभाव था कि प्रेमचंद का प्रतिरोध करना असभव हो गया। उस समय लोगो की दृष्टि गाधीवाद के व्यवहार-पक्ष तक ही सीमित थी, उनके अध्यात्म तक नही पहुच पायी थी। जीवन के इस तल तक पहुचने का प्रयत्न जैनेन्द्रजी ने किया है। विवेक और नीति से आगे आत्म-तत्त्व की ओर बढने का उनको और सियारामशरणजी को आरंभ से ही आग्रह रहा है। उनकी पीडा की फिलासफी मे गाधीवाद का अध्यात्म पक्ष ही तो है। इस दृष्टिकोण की दो तात्कालिक प्रतिक्रियाएं हमे भगवती बाबू की 'चित्रलेखा' और अज्ञेय के 'शेखर' मे मिलती हैं। भगवती बाबू आस्तिक प्रवृत्तिवादी हैं। पीडा मे उनका विश्वास नही। उनकी आस्था स्वस्थ उपभोग मे है—अहं के निषेध मे नही, अहं के परितोष मे है। अज्ञेय का दृष्टिकोण शुद्ध वैज्ञानिक और बौद्धिक है। ये नास्तिक बुद्धिवादी हैं। इनके इसी दृष्टिकोण की दृढता और स्थिरता के कारण वास्तव मे 'शेखर' हिंदी की एक अभूतपूर्व वस्तु बन गया। बुद्धि की इस दृढता के साथ काश अज्ञेय के पास आस्तिकता का समर्पण भाव भी होता! यशपाल मे यह प्रतिक्रिया एक पग और आगे बढ जाती है। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक न रह कर भौतिकवादी हो जाता है। अज्ञेय की बौद्धिकता उनमे भी है, परतु वैज्ञानिक आत्मलीनता उनमें नही है—ये अपने से बाहर जाते हैं; इनमे भौतिकवादी सामाजिकता है···"

ऊबे हुए लोगो मे से इतने मे ही एक तेज आवाज आयी—"आपने क्या खूब संश्लेषण किया है! बस अब छुट्टी दीजिए!"—मैंने आखें मलते हुए देखा कि काफी दिन चढ गया है और श्रीमती जी पूछ रही हैं—"छुट्टी है क्या आज ?"

स्वतंत्रता के पश्चात् हिंदी-साहित्य

हिंदी का यह सौभाग्य था और दुर्भाग्य भी कि देश की सविधान सभा ने उसे राजभाषा घोषित किया। सौभाग्य इसलिए कि स्वतत्र भारत जैसे महान देश की राष्ट्रीय एकता की सूत्रधारिणी बनने का गौरव उसे मिला। दुर्भाग्य इसलिए कि वह राजनीति के वात्याचक्र मे फँस गई। हिंदी का मंच राजनीतिक नेताओ से इतनी बुरी तरह घिर गया कि साहित्यकार के लिए उस पर बैठने की जगह भी नही रही। परिणाम यह हुआ कि हिंदी-साहित्यकार की चेतना दो भिन्न, प्राय विरोधी, सरणियो मे विभक्त हो गई। सबसे पहले तो उसे भाषा की समस्या मे उलझना पडा। फिर साहित्य की समृद्धि का प्रश्न सामने आया। व्यापक अर्थ मे साहित्य के दो अंग हैं: एक शास्त्र और दूसरा काव्य। शास्त्र से अभिप्रेत है ज्ञान-व्यवहार का साहित्य और काव्य रस के साहित्य का वाचक है। इस तरह स्वतत्रता के बाद हिंदी साहित्यकार के सामने तीन मौलिक समस्याएं उठ खडी हुईं, जो बाह्य रूप मे सबद्ध होती हुई भी तत्त्व रूप मे भिन्न थी: (१) भाषा की, (२) व्यावहारिक साहित्य की, और (३) काव्य अथवा रस के साहित्य की।

सन् १९४७ से लेकर सन् १९६१ तक, इन चौदह वर्षो मे, हिंदी-साहित्य के विकास की ये तीन रेखाएं हैं, जिन्हें आधार मानकर उसकी उपलब्धियो का सिंहावलोकन किया जा सकता है।

भारत की राजभाषा होते ही हिंदी भाषा के प्रश्न ने अनायास ही सर्वथा नवीन रूप धारण कर लिया। एक तो इसका शुद्ध राजनीतिक पहलू है, जिससे अनेक महारथी जूझ गए और आज भी जूझ रहे हैं। हमारे मन मे उनके प्रति वही भयमिश्रित आदर है जो सामान्य बुद्धिजीवी व्यक्ति को योद्धा के प्रति हो सकता है। वे हमारे नमस्य हैं। किंतु भाषा का एक साहित्यिक पक्ष भी है और वह हमारा अपना दायित्व है। यो तो रामप्रसाद निरंजनी से लेकर हमारी अपनी पीढी के हिंदी-लेखको तक हिंदी भाषा की शक्तियो का समुचित विकास हो चुका था—महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उसको स्थिर रूप दिया, पद्मसिंह शर्मा ने उसे गोष्ठी-मडन बनाया, प्रेमचंद ने उसकी व्यावहारिक शक्ति का विकास किया, रामचंद्र शुक्ल ने गभीर विवेचन के माध्यम रूप में उसका परिपाक किया, पंत ने उसको सूक्ष्म सौंदर्य-विवृतियो के उद्घाटन की क्षमता दी, और सन् १९४७ मे आधुनिक हिंदी एक प्रौढ परिपक्व भाषा के रूप मे विद्यमान थी। परंतु राजभाषा बनते ही उसके सामने अनायास ही अनेक समस्याए उठ खडी

हुई और काव्य-साहित्य के दायित्व को विश्वास के साथ निबाहने वाली भाषा नवीन दायित्वो के भार से जैसे कुछ समय के लिए काप गई। किंतु आधार पुष्ट था—और डॉ० रघुवीर जैसे मेधावी आचार्यों ने उसका पूर्ण उपयोग कर हिंदी की अतर्भूत शक्ति का सम्यक् विकास आरभ कर दिया। डॉ० रघुवीर के आगे-पीछे और भी शब्दकार इस दिशा मे बढे—जैसे महापडित राहुल साकृत्यायन और हिंदी के वयोवृद्ध कोशकार बाबू रामचंद्र वर्मा आदि। आरंभ मे आचार्य रघुवीर का बडा विरोध हुआ। पहली बार जब मैंने सविधान-अनुवाद-समिति मे उनके साथ कार्य आरभ किया तो मुझको भी उनके शब्द और शब्दों से भी अधिक उनकी असहिष्णु पद्धति सर्वथा अग्राह्य प्रतीत हुई। किंतु जैसे-जैसे हम शब्दो की आत्मा मे प्रवेश करते गए, वैसे-वैसे मुझे यह विश्वास होने लगा कि अपने समस्त गुण-दोषो के रहते हुए भी उनका मार्ग ही ठीक है। वास्तव मे आचार्य रघुवीर के दोष पहले सामने आते हैं और गुण बाद मे। उनका प्रमुख दोष यह है कि हिंदी भाषा और साहित्य की आतरिक प्रकृति से उनका सहज सबध नही है और दूसरे वे शब्दकार हैं, शैलीकार नही। किंतु फिर भी अपने क्षेत्र मे वे अद्वितीय हैं। उनके साधन और उपकरण अत्यत समृद्ध हैं। संस्कृत भाषा की निर्माण-क्षमता को उन्होने पूरी तरह से आत्मसात् कर लिया है और पिछले दस-पंद्रह वर्षों मे उनको शब्द-निर्माण-कला का अद्भुत अभ्यास हो गया है। उनकी एक प्रत्यक्ष उपलब्धि तो यही है कि उन्ही अकेले व्यक्ति ने लक्षावधि शब्दो का निर्माण कर दिया है। किंतु इससे भी बडी उपलब्धि उनकी यह है कि उन्होने शब्द-निर्माण के मूल सिद्धात का आविष्कार, या कम-से-कम अत्यत सफल प्रयोग, किया है। उनका प्राय. सभी दिशाओ से विरोध हुआ किंतु अत मे अब उन्ही की पद्धति का अवलबन किया जा रहा है। जो नही कर रहे हैं वे 'विर्चबिंदी' और 'खोली' जैसे शब्दो का निर्माण कर इस सभ्य देश की राष्ट्रभाषा का अपमान कर रहे हैं।

डॉ० रघुवीर के बाद शिक्षा मत्रालय ने यह कार्य अपने हाथ मे लिया। मत्रालय के तत्त्वावधान मे अनेक भाषाविज्ञो और विभिन्न शास्त्रीय विषयो के आचार्यो की सहायता से विपुल सख्या मे पारिभाषिक शब्दो का निर्माण हो चुका है और अब उनके आधार पर पारिभाषिक कोश का पहला भाग मुद्रण के लिए तैयार हो रहा है। यह शब्दावली स्वभावत अधिक व्यापक है। एक तो इसकी रचना मे अनेक प्रतिनिधि विद्वानो का हाथ है और दूसरे केंद्रीय शिक्षा मत्रालय की स्वीकृति इसे प्राप्त है, इसलिए इसका प्रचार और प्रसार बढ रहा है। इसी बीच मे कुछ सुलभ कोश भी प्रकाशित हो चुके हैं—जैसे डॉ० हरदेव बाहरी का 'अगरेजी-हिंदी' कोश और श्री रघुराज गुप्त का 'समाजशास्त्र-मानवशास्त्र-पर्याय कोश'। इस विषय मे श्री नरवणे द्वारा सपादित 'व्यवहार कोश' भी उल्लेखनीय है, जिसमे सभी भारतीय भाषाओ के पर्याय एकत्र मिलते है। इन प्रयत्नो के फलस्वरूप हिंदी भाषा की शब्द-शक्ति का निश्चय ही तीन रूपो मे विकास हुआ है: (१) विपुल सख्या मे नवीन शब्द उपलब्ध हुए हैं, (२) शब्दो के रूप स्थिर हुए हैं और हो रहे हैं, (३) हमारी भाषा ने अर्थगत सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदो को अभिव्यक्त करने की क्षमता का अर्जन किया है। भाषा मे

अंगरेज़ी का ही प्रयोग चल रहा है और हिंदी-लेखको के लिए कोई प्रेरणा नही है। दूसरे, इन विषयों मे हिंदी के समर्थ लेखक भी अनेक नही हैं। तीसरे, शासन और शिक्षा दोनो ही मे देश के दुर्भाग्य से प्रमुख स्थान ऐसे व्यक्तियो के अधिकार मे हैं जिनका हिंदी-ज्ञान पर्याप्त नही है। इनमे से सभी हिंदी के विरोधी नही हैं। अनेक के मन मे हिंदी के प्रति वास्तविक ममत्व है किंतु प्रश्न तो वर्तमान परिस्थिति का है। चौथे, इसके अतिरिक्त ऐसे व्यक्तियो का भी अभाव नही है जिनके मन मे स्वार्थवश, और कदाचित् सिद्धातवश भी, हिंदी के प्रति विद्वेष की भावना है। इन व्यक्तियो ने कुतर्कणा का एक चक्रव्यूह-सा रच दिया है और उसकी आड मे अपनी हित-रक्षा करना चाहते हैं—हिंदी मे अभीष्ट ग्रथो का अभाव है इसलिए वह उच्च शिक्षा एव शासन का माध्यम नही बन सकती और जब तक हिंदी का उपयोग इन क्षेत्रो मे नही होगा तब तक अभीष्ट ग्रथो का अभाव बना रहेगा। यह स्थिति वास्तव मे चिंत्य है, परतु हमे निराश होने की आवश्यकता नही है। राष्ट्र का हित व्यक्ति के हित से अधिक बलिष्ठ है और काल के दुर्दम प्रवाह को विपरीत दिशा मे मोडा नही जा सकता। इस दिशा मे तुरंत ही कार्यवाही होनी चाहिए और यह कार्य बेगार मे पकडे हुए कुछ विद्वानो की सहायता से, प्रकीर्ण प्रयत्नो द्वारा, नही हो सकता। इसके लिए तो एक बृहद् राष्ट्रीय ज्ञान-परिषद् की स्थापना अनिवार्य है।

अब रह जाता है सर्जनात्मक साहित्य—अथवा रस का साहित्य। साहित्य का यह अग प्रकृति से थोडा अदम्य होता है—वह न राजनीति का आदेश मानता है और न योजनाओ मे ही परिबद्ध हो सकता है। पर रसचेता कलाकार भी अपनी परिस्थिति से सर्वथा निरपेक्ष तो नही हो सकता—और फिर स्वतत्रता तथा विभाजन की परिस्थितिया तो असाधारण थीं। सन् १९४७ के उपरात देश मे अनेक घटनाए ऐसी घटी जिनका किसी भी सवेदनशील व्यक्ति की अतश्चेतना पर गहरा प्रभाव पडना अनिवार्य था। सबसे पहले स्वतंत्रता-प्राप्ति की घटना ही एक भव्य घटना थी—देश के इतिहास मे ऐसी घटना शताब्दियो बाद घटी थी। भारत के कवि-कलाकार की युग-युग से अपमानित अंतरात्मा ने मुक्ति की सास ली। उसके मन मे एक अभूतपूर्व आत्म-विश्वास जगा। विश्व-कल्याण के जिन स्वप्नो को वह गाधी के और गाधी के पूर्वज ऋषियो के मंत्र-बल से दासता की अभिशप्त रात्रि मे भी सजोता रहा था, उनको पहली बार सार्थक करने का अवसर आया। भारत के सस्कृत हृदय ने बिना अहकार के, बिना किसी गर्व अथवा औद्धत्य के अपनी मुक्ति को अखिल विश्व की मुक्ति का प्रतीक माना। भारत के राजनीतिज्ञो और कवियो ने एक स्वर से यह उद्घोष किया·

भारत स्वतत्र है, स्वतंत्र सभी जब हो!

जैसे-जैसे समय बीतता गया, भारतवर्ष की विश्व-मैत्री की नीति अधिक स्पष्ट और भास्वर होती गई। इसका हमारे काव्य से प्रत्यक्ष संबध है। वास्तव मे इस नीति की मूल चेतना ही काव्यात्मक है और इसका विकास कूटनीतिज्ञो की मत्रणाओ के आधार पर नहीं हुआ, रवीन्द्र और उनके अग्रज एव अनुज कवियो की आप्त वाणी के

प्रभाव से ही हुआ है। उपनिषद् से लेकर छायावाद तक की भारतीय काव्य-परंपरा का पवित्र संबल उसे प्राप्त है। हिंदी में इस विषय पर अनेक कवियो ने अनेक रचनाएं की और उनमे से अधिकाश का काव्यगुण नगण्य नही है। फिर भी इनमे सबसे प्रबल स्वर पंत, सियारामशरण, नवीन और दिनकर का ही रहा। पत और सियारामशरण मे जहा देश की मुक्त आत्मा का पवित्र उल्लास है, वहा नवीन और दिनकर मे उसका सात्त्विक ओज है।

किन्तु स्वतंत्रता का यह वरदान विभाजन के अभिशाप के साथ-साथ आया। मुक्त आकाश मे अरुणोदय हुआ ही था कि गृह-कलह के बादल घिर आये। परतत्र राष्ट्र के उपचेतन की सचित विकृतिया अनायास ही उभर आयी और समस्त देश का वातावरण पाशव शक्तियो के अट्टहास से गूज उठा। यह मानव-चेतना की घोरतम विफलता के दिन थे, किंतु साहित्य मे इसका प्रभाव सर्वथा नगण्य ही रहा। भारतीय साहित्य के पर्यवेक्षक का हृदय यह देखकर सदा ही एक मधुर गर्व से उत्फुल्ल हो उठेगा कि हिंदी के एक भी उत्तरदायी साहित्यकार ने साप्रदायिक विक्षेप को प्रश्रय नही दिया। इस घटना से प्रेरित जो साहित्य आज उपलब्ध है उसमे तत्कालीन विक्षिप्त पशुता मे मानव की शुद्ध-बुद्ध आत्मा का ही अनुसंधान अनिवार्य रूप से मिलता है। इस प्रकार का साहित्य परिमाण मे अधिक नही रचा गया। भारत-विभाजन और उसकी अनुवर्ती विभीषिकाओ की प्रतिध्वनि थोड़ी-सी कहानियो, कुछेक एकाकियो और मुश्किल से दो-चार उपन्यासो मे ही मिलती है। हिंदी के अधिकाश समर्थ कलाकारो ने तो अपनी इस लज्जा को छिपाने का ही प्रयत्न किया है।

इस नर-मेध की पूर्णाहुति हुई राष्ट्रपिता गाधी के बलिदान से। गाधी का यह बलिदान देश के सास्कृतिक इतिहास मे एक विराट् घटना थी। रवीन्द्रनाथ ने महा-काव्य के विपय मे लिखा है—"इसी प्रकार मन मे जब एक महत् व्यक्ति का उदय होता है, सहसा जब एक महापुरुष कवि के कल्पना-राज्य पर अधिकार पा जाता है, मनुष्य-चरित्र का उदार महत्त्व मनश्चक्षुओ के सामने अधिष्ठित होता है, तब उसके उन्नत भावो से उद्दीप्त होकर, उस परमपुरुप की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के लिए, कवि भाषा का मदिर निर्माण करते हैं। उस मदिर की भित्ति पृथ्वी के गभीर अंतर्देश मे रहती है, और उसका शिखर मेघो को भेदकर आकाश मे उठता है। उस मदिर मे जो प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है, उसके देव-भाव से मुग्ध और उसकी पुण्य किरणों से अभिभूत होकर, नाना दिग्देशो से आ-आकर लोग उसे प्रणाम करते हैं। इसी को कहते है महाकाव्य।"

इस दृष्टि से हमारा विश्वास है कि आधुनिक विश्व के इतिहास मे गाधी से अधिक न तो कोई महाकाव्योचित चरित्र-नायक ही जन्मा है और न उनके बलिदान से अधिक महाकाव्योचित घटना ही घटी है।

गाधीजी के जीवन-मरण को लेकर हिंदी मे अनेक कविताए लिखी गई। प्रमुख कवियो मे पंत, सियारामशरण गुप्त, नवीन, दिनकर, बच्चन, नरेन्द्र और सुमन आदि ने व्यवस्थित रूप से रचनाए की हैं। उनके बलिदान से प्रेरित होकर भी प्राय. इन्ही कवियो ने अनेक रचनाए प्रस्तुत की। परंतु इनमे से अधिकाश कविताएं विपय की

गरिमा के उपयुक्त नही बन सकी। इसका कारण स्पष्ट है—भारतीय काव्यशास्त्र मे प्रकृत भाव और काव्यगत भाव में भेद किया गया है और हमारे आचार्यों ने बडे मार्मिक ढंग से यह स्पष्ट किया है कि जीवनगत अनुभूतियां अपने प्रकृत रूप मे नही वरन् सस्कार रूप में ही काव्य का विषय बन सकती है। प्रकृत रूप मे उनका ऐंद्रिय तत्त्व रसात्मक निबधन मे बाधक होता है। गाधी के महानिर्वाण से संबद्ध काव्य मे इसीलिए अपेक्षित उदात्त रस का संचार नही हो सका क्योकि उसका घाव अभी तक हरा है और आज के कवि के लिए, जिसने कि उसको प्रत्यक्ष रूप से सहा है, अभी वह सस्कार नही बन पाया—सभव है वर्षों तक बन भी न पाए। इसलिए गाधी-महाकाव्य कदाचित् कुछ समय बाद ही लिखा जा सकेगा जबकि गाधी जी के जीवन-मरण से संबद्ध हमारी युगानुभूति प्रकृत अनुभूति न रहकर सस्कार बन जाएगी।

प्रस्तुत कालावधि मे काव्य के दो और प्रमुख विषय हमारे सामने आए : (१) भारतवर्ष की सफल अतर्राष्ट्रीय शाति-नीति, (२) संत विनोबा का भूदान-आदोलन। तत्त्व रूप मे इस देश के कवि के लिए ये कोई नये विषय नही हैं। नेहरू की शाति-नीति गाधी की अहिंसा की राजनीतिक अभिव्यंजना है और विनोबा का भूदान यज्ञ उसकी आर्थिक अभिव्यक्ति। काव्यशास्त्र के शब्दो मे तीनो का स्थायी भाव एक ही है। नवीन जी तथा श्री सियारामशरण आदि ने इस विषय को निष्ठा के साथ ग्रहण किया है।

ऊपर जिन काव्य-विषयो का उल्लेख किया गया है वे मूलत एक ही प्रवृत्ति के अग हैं—और यह प्रवृत्ति वही है जिसे हमने अपनी 'आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां' पुस्तक मे राष्ट्रीय-सास्कृतिक प्रवृत्ति के नाम से अभिहित किया है। यह काव्य-प्रवृत्ति वस्तुतः नई नही है वरन् स्वतंत्रता के बहुत पहले से ही हमारे साहित्य मे इसका अस्तित्व रहा है। स्वतत्रता के उपरात इसके रूप मे परिवर्तन अवश्य हुआ है किंतु मूलतत्त्व वे ही रहे हैं। एक तो परतंत्र देश की वह अवरुद्ध हुकार आज इसमे नही रही, उसका स्थान स्वतत्र राष्ट्र के आत्मविश्वास ने ले लिया है। दूसरे, अपने राजनीतिक संघर्ष का सफल अत हो जाने से अहिंसा मे उसकी आस्था अत्यत दृढ हो गई है। तीसरे, अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी शाति-नीति के निरतर सफल हो जाने से विश्व-बंधुत्व के भावादर्श वस्तु-सत्य मे परिणत होने लगे हैं। इस प्रकार संदेह, असहयोग, प्रतिरोध आदि का निराकरण हो जाने से जीवन के आस्तिक मूल्यो का पोषण हुआ है जिसके परिणामस्वरूप स्वतंत्रता के बाद की राष्ट्रीय-सास्कृतिक कविता मे तामसिक गुण प्राय. निःशेष हो गए हैं और शुद्ध सात्त्विक उत्साह-उल्लास की परिवृद्धि हुई है। दूसरे शब्दो मे, यह कहा जा सकता है कि आज उसके राष्ट्रीय तत्त्व पृथक् न रहकर बहुत-कुछ सास्कृतिक तत्त्वो के साथ ही घुल-मिल गये हैं। वर्तमान हिंदी कविता की सर्वप्रमुख धारा यही है। वास्तव मे स्वतत्रता-पूर्व युग की तीन प्रवृत्तिया—ओज और उत्साह से अनुप्रेरित राष्ट्रीय प्रवृत्ति, सत्यचिंतन से अनुप्राणित सास्कृतिक प्रवृत्ति और सौंदर्य-भावना से स्फूर्त छायावादी प्रवृत्ति इस त्रिवेणी मे मिलकर एकाकार हो गई हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि इसकी उपलब्धि क्या है ? इसका उत्तर यह है कि अभी वर्तमान काव्य की अतश्चेतना का निर्माण हो रहा है। आज नही तो कल कोई समर्थ कवि अपनी अमृतवाणी में

इसका उद्गीथ करेगा।

इस परिधि के बाहर भी एक ऐसा कविवर्ग है जो अभीष्ट संस्कारों के अभाव मे परंपरा से पोषित आस्तिक मूल्यो को ग्रहण करने मे असमर्थ है। निदान वह जीवन के उपर्युक्त सास्कृतिक मूल्यो के विरुद्ध 'प्रगति' अथवा 'प्रयोग' कर रहा है। सक्रियता की दृष्टि से यह वर्ग पिछडा नही है और अपने ढंग से यह भी जीवन की व्याख्या करने का दावा करता है। सन् १९४७ से पूर्व जो प्रगतिवादी थे उनमे से संस्कारशील कवियो ने सास्कृतिक मूल्यो को स्वीकार कर लिया है, किंतु जिनकी प्रकृति उनके साथ समझौता नही कर पायी, वे या तो कभी-कभी देश के आर्थिक विधान के विरुद्ध बड-बडाने लगते हैं और या फिर व्यक्ति की कुठाओ को काव्य मे मूर्त करने का सफल-असफल प्रयत्न करते है। मेरे आस्तिक संस्कार इस प्रकार की कविता से कभी सधि नही कर सके—किंतु फिर भी वस्तु-चिंतन करने पर मुझे यह लगता है कि यह प्रवृत्ति केवल बौद्धिक विकृति मात्र नही है, अथवा यदि केवल बौद्धिक विकृति है भी तब भी आज के जीवन मे अस्वाभाविक नही है। आज का बुद्धिजीवी युवक आस्तिक नही है। वर्तमान उसकी व्यक्तिगत आकाक्षाओ का परितोष नही कर रहा, वह अनुभव करता है कि उसकी प्रतिभा का मूल्य उसे नही मिल रहा—और वह क्षुब्ध है। सामाजिक चेतना उसकी इतनी विकसित नही हो पायी कि राष्ट्र के सामूहिक विकास अथवा कम-मे-कम विकास-प्रयत्नो से प्रेरणा ग्रहण कर सके, सस्कार उसके इतने आस्तिक नही रह गए कि भावी की स्वस्थ कल्पना उसे परितोष दे सके। अत मे रह जाता है वह स्वय और आधुनिक अतिवादो द्वारा पोषित उसकी बुद्धि। अतएव कुठित मन नास्तिक बुद्धि के साथ तरह-तरह के खेल खेलने लगता है। आज की प्रयोगवादी कविता की यही अत-रग व्याख्या है। यह काव्य-प्रवृत्ति आज के जीवन मे अस्वाभाविक नही है, किंतु फिर भी, सत्य भी नही है, क्योकि यह नास्ति पर आधृत है, अस्ति पर नही।

साहित्य के अन्य क्षेत्रो की उपलब्धिया भी महत्त्वहीन नही हैं। हिंदी-उपन्यास काफी सक्रिय रहा है. यद्यपि आज हिंदी-उपन्यास की अधिकाश प्रवृत्तियो मे प्राय स्वतत्रता-पूर्व युग की विस्तृति ही मिलती है, फिर भी कलात्मक स्तर का उचित सरक्षण हुआ है। प्रेमचद की सामाजिक-राजनीतिक उपन्यास-परपरा मे अमृतलाल नागर के 'बूद और समुद्र' तथा 'सुहाग के नुपूर' का स्थान अक्षुण्ण रहेगा। इस वर्ग के अन्य ख्यातिलब्ध उपन्यासकारो मे भगवतीचरण वर्मा और उपेन्द्रनाथ अश्क ने गुण तथा परिमाण दोनो की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास के क्षेत्र मे अज्ञेय का 'नदी के द्वीप', इलाचन्द्र जोशी का 'जहाज का पछी' और जैनेन्द्र की 'सुखदा' तथा 'जयवर्धन' आदि रचनाए विशेषत उल्लेखनीय हैं, यद्यपि यह कहना कठिन होगा कि इनमे से कोई भी कृति अपने रचयिता की पूर्व-उपलब्धियो से श्रेष्ठतर है। इस दृष्टि से वृन्दावनलाल वर्मा और यशपाल की सफलता अधिक स्पृहणीय है। वर्मा जी की 'झाँसी की रानी' और 'मृगनयनी' दोनो ही श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास हैं—हिंदी मे अपने वर्ग की वे अन्यतम विभूतिया हैं। और उधर यशपाल-कृत 'झूठा सच' भी अपने महाकाव्योचित आयाम तथा गरिमा के कारण प्रगतिवादी उपन्यासो मे निश्चय

ही सर्वश्रेष्ठ है। स्वतत्रता-प्राप्ति के बाद उपन्यास के एक नवीन रूप का भी आविर्भाव हुआ है और वह है 'आचलिक उपन्यास'।—इस सदर्भ मे रेणु ने 'मैला आचल' और 'परती परिकथा' की रचना द्वारा एक नवीन दिशा मे सफल प्रयोग किए हैं, यद्यपि अभी इन्हे प्रयोग से आगे सिद्धि मानना जल्दबाजी होगी।

हिंदी-नाटक अब रगमच के अधिक निकट आ गया है और कुछ ऐसी नई प्रतिभाए उभरकर सामने आ रही हैं जिनका अपने अग्रवर्ती नाटककारो—लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशकर भट्ट, सेठ गोविंददास आदि की अपेक्षा रगमच की विकासशील कला से अधिक घनिष्ठ एव जीवत सपर्क है। इस युग मे सर्वाधिक विकास हुआ है आलोचना का। इसमे सदेह नही कि आचार्य शुक्ल की जैसी मेधा का वरदान आज उसे प्राप्त नही है, किंतु उनकी स्वस्थ परपराओ का पिछले तेरह-चौदह वर्षो मे समुचित विकास हुआ है और अब भी हो रहा है। इनके अतिरिक्त समाजविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र तथा सौंदर्यशास्त्र की नवीन पद्धतियो के सम्यक् उपयोग से नवीन आलोचना-प्रणालियो का आविर्भाव हुआ है। इधर भारतीय एव पाश्चात्य काव्य-सिद्धातो का आख्यान-पुनराख्यान भी द्रुत गति से चल रहा है, स्वदेश-विदेश के प्राय सभी आचार्यों के शास्त्र-ग्रथ हिंदी मे सुलभ है और हिंदी का काव्यशास्त्र आज भारतीय भाषाओ मे सर्वाधिक समृद्ध है। नवीन शोध के परिणामस्वरूप प्रभूत ऐतिहासिक सामग्री प्रकाश मे आयी है और हिंदी के सिद्ध लेखक नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित 'हिंदी साहित्य का बृहद् इतिहास' मे उसका उचित उपयोग कर रहे है। यह इतिहास स्वयं अपने आप मे एक महान् अनुष्ठान है –इसके तीन भाग प्रकाशित हो चुके है और चौदह पर कार्य हो रहा है। पूरा हो जाने पर लगभग दस हजार पृष्ठ का यह महाग्रथ विश्व का कदाचित् सबसे बडा साहित्यिक इतिहास होगा जिसे असख्य 'पुस्तक-कीट' एकत्र होकर भी काटने मे असमर्थ रहेगे। भाषाविज्ञान की प्रगति भी उपेक्षणीय नही है। विभिन्न भारतीय भाषाओ के निकट सपर्क के फलस्वरूप तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अध्ययन के लिए व्यापक क्षेत्र मिल गया है और भाषावैज्ञानिक सर्वेक्षणो के द्वारा देश मे अनेक बोलियो के अध्ययन की विस्तृत योजनाओ पर कार्य हो रहा है।

अत मे, हमारा निष्कर्ष यह है कि स्वाधीन भारत मे हिंदी की प्रगति के दोनो ही पहलू हैं। ज्ञान के साहित्य मे जहा अभूतपूर्व उन्नति हुई है, वहा रस के साहित्य की सिद्धि अधिक-से-अधिक सतोषप्रद ही कही जा सकती है—उस पर गर्व करने का कोई विशेष कारण नही है। परतु यह तो उपलब्धि का समय वास्तव मे है भी नही—यह तो निर्माण-काल है, वरन् यह कहना चाहिए कि निर्माण का आरभ-काल है। निर्माण और सृजन दोनो मे बाह्य समानता होने पर भी मौलिक भेद है। निर्माण जहा योजनाबद्ध, विवेकपूर्ण तथा प्रयत्न-साध्य कर्म है, वहा सृजन अत स्फूर्त, अयत्न-साध्य क्रिया है जो न योजना मे बाधी जा सकती है और न हानि-लाभ के विवेक से नियत्रित हो सकती है। हिंदी का साहित्यकार आज निर्माण की योजनाओ मे सलग्न है जिनके परिणाम अपेक्षित अवधि के उपरात ही उपलब्ध होगे। अतएव आज की उपलब्धि का मूल्यांकन परिणाम के आधार पर नही, हमारे प्रयत्नो के आधार पर होना चाहिए।

हिंदी का अपना आलोचनाशास्त्र (संभावनाएं)

हिंदी आलोचनाशास्त्र—यह विपय जितना महत्वपूर्ण है उतना ही विपम भी। इस समस्त शब्द को सुनकर मेरे मन मे चार प्रश्न अनायास ही उठ खड़े होते हैं . (१) क्या भापा के आधार पर आलोचनाशास्त्र की परिकल्पना तर्कसगत है ? (२) क्या हिंदी आलोचनाशास्त्र जैसा कोई स्वतत्र विधान विद्यमान है ? (३) यदि विद्यमान है तो उसका विकास किस प्रकार किया जा सकता है ? और (४) क्या स्वतत्र भारत मे, जब प्रादेशिक भावना की दीवारो को तोडकर भारतीय चेतना का उदय हो रहा है, इस प्रकार का प्रयत्न आवश्यक तथा उपयोगी होगा ? प्रस्तुतः विपय का विवेचन मैं इन्ही चार प्रश्नो के आधार पर करूगा।

पहला प्रश्न है : क्या भापा के आधार पर आलोचनाशास्त्र की परिकल्पना तर्कसंगत है ? आलोचनाशास्त्र से अभिप्राय साहित्यालोचन की सिद्धात-सहिता से है, जिसे अगरेज़ी मे 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' कहते हैं और प्राचीन भारतीय वाड्मय मे जिसके साहित्यशास्त्र, अलकारशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि अनेक नाम थे। मेरा विचार है कि काव्य शब्द को सृजनात्मक साहित्य का वाचक मान कर हिंदी मे हमे 'काव्यशास्त्र' शब्द को इस अर्थ मे रूढ कर देना चाहिए। काव्यशास्त्र वस्तुत काव्य-सबधी तथ्यो अथवा नियमो का आकलन-मात्र नही है—वह काव्य का दर्शन है, अर्थात् काव्य के माध्यम से व्यक्त मानव-सत्य का अनुसधान एवं उपलब्धि है। सत्य का अनुसधान और उपलब्धि क्या भापानुसार खडित किये जा सकते हैं ? यह शका मेरे मन मे, और मैं समझता हू आप मे से अनेक के मन मे, उठ सकती है ? तो क्या बगला काव्यशास्त्र, असमिया काव्यशास्त्र, उर्दू काव्यशास्त्र, मराठी काव्यशास्त्र और इसी प्रकार हिंदी काव्यशास्त्र का सस्कृत या भारतीय काव्यशास्त्र से स्वतंत्र तथा परस्पर भिन्न अस्तित्व है ? इस प्रश्न की पहली प्रतिक्रिया तो नकारात्मक ही होती है—लगता है कि तब दर्शन को भी भापावार विभक्त करना पडेगा : हिंदी दर्शन, उडिया दर्शन, कन्नड दर्शन। सामान्यतः दिक्कालावच्छिन्न सत्य का, अनुसधान की सुविधा के लिए, पूर्व और पश्चिम, या अधिक-से-अधिक प्रजाति या राष्ट्र के आधार पर पृथक् अध्ययन कर लीजिए, परतु एक ही राष्ट्र की समान-मातृका भापाओं मे उसे बाटना तो नितात अनुचित होगा। किंतु यह बात नही है। दर्शन, जैसा कि मैंने अभी सकेत किया है, सत्य की उपलब्धि-मात्र नही है; उसका अनुसधान भी तो है। यो कहना चाहिए कि अनुसधान ही अधिक है; क्योकि उपलब्धि के उपरात तो वाणी

मौन हो जाती है। अनुसंधान की प्रक्रिया सर्वथा दिक्कालावच्छिन्न नही हो सकती; क्योकि अनुसंधाता की अपनी शक्ति-सीमा तथा परिस्थिति का उस पर गहरा प्रभाव पडता है। सत्य की उपलब्धि तो सामान्य रहती है और रहेगी, किंतु उस उपलब्धि के लिए अनुसंधान की प्रक्रिया विशिष्ट ही होती है। इसी विशिष्टता के आधार पर दर्शन अथवा काव्य-दर्शन के विशिष्ट रूप की परिकल्पना करना तर्कहीन नही है। संस्कृत और अंगरेजी से हिंदी का अपना स्वतत्र काव्य है, अत उसके माध्यम से सत्य के अनुसंधान की प्रक्रिया भी स्वतत्र हो सकती है। दूसरे शब्दो मे, हिंदी का अपना स्वतंत्र काव्यशास्त्र हो सकता है।

दूसरा प्रश्न स्वभावत यह उठता है कि क्या हिंदी में इस प्रकार का अपना कोई स्वतत्र काव्यशास्त्र विद्यमान है ? हिंदी मे काव्यशास्त्र-संबधी ग्रंथो का अभाव नही है। रीतिकाल मे पूरी दो शताब्दियो तक निरतर रीति-ग्रथो की रचना होती रही और सहस्रावधि ग्रथ प्रकाश मे आए। आधुनिक युग मे भी लगभग अर्धशताब्दी से इस क्षेत्र मे अनवरत कार्य हो रहा है जिसके फलस्वरूप वर्तमान काव्यशास्त्र-ग्रंथ भी कम सख्या मे उपलब्ध नही है। रीति-युग मे जहा केशव, चिंतामणि, कुलपति, देव, श्रीपति, सोमनाथ, दास और प्रतापसाहि जैसे सर्वागविवेचक आचार्य हुए, वहा आधुनिक युग मे भी पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक अनेक उद्भट विद्वानो ने इस अग की श्रीवृद्धि की है, और आज भी मेरी धारणा है कि हिंदी-साहित्य का सबसे पुष्ट अंग आलोचना ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विषय में कदाचित् यह कहना अत्युक्ति नही होगी कि उनके समान मेधावी आलोचक किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा मे नहीं है। परतु प्रश्न परिमाण का नही है, गुण का भी नही है—प्रश्न यह है कि क्या इस ग्रथ-समुदाय पर आधृत हिंदी-काव्यशास्त्र का संस्कृत, और वर्तमान युग मे अंगरेजी अथवा अधिक से अधिक यूरोपीय काव्यशास्त्र से, स्वतंत्र अस्तित्व है ? इस प्रश्न के उत्तर मे सहसा 'हा !' कहना कठिन है; क्योकि रीति-युग का विवेचन दडी, मम्मट, विश्वनाथ और भानुदत्त आदि का ही उपजीवी है। तुलनात्मक अध्ययन से इसमे सदेह नही रह जाता कि हिंदी के रीतिकार ने परंपरागत काव्यशास्त्र के विकास मे भी कोई विशेष योगदान नही किया; स्वतंत्र काव्यशास्त्र के निर्माण का तो कहना ही क्या ! अनेक विद्वानो द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण इस बात के साक्षी है कि हिंदी-रीतिग्रथो मे यदि कही तथाकथित स्वतत्र विवेचन दृष्टिगत भी होता है तो वह या तो किसी अप्रचलित सस्कृत-ग्रथ में ही मिल जाता है, या अपने-आप मे नगण्य सिद्ध हो जाता है, या हिंदी-रीतिकार की भ्राति का परिणाम-मात्र है। वर्तमान काव्यशास्त्र-ग्रंथो मे अनेक आचार्य हिंदी के उदाहरण तक देने मे असमर्थ रहे हैं। उनके लक्षण आदि तो संस्कृत से उद्धृत हैं ही, उदाहरण भी सस्कृत-उदाहरणो के ही अनुवाद हैं। ऐसी स्थिति मे हमारे पास मे ऐसा क्या है जिसे हम हिंदी का अपना काव्यशास्त्र कह सकें ?—इसमे सदेह नही कि इस आलोचना मे बहुत-कुछ तथ्य है, परतु दृष्टिकोण मे थोडा-सा परिवर्तन कर देने से चित्र इतना विकृत नही रह जायेगा। वास्तव मे हिंदी रीतिशास्त्र का मूल्याकन करते हुए आज

भी हम सस्कृत काव्यशास्त्र के मानदडो का प्रयोग करते हैं—यह भी उसी भूल की पुनरावृत्ति है जो हमारे प्राय. सभी प्राचीन तथा अनेक नवीन रीतिकारो ने की है अर्थात् लक्ष्य और लक्षण की असगति। सस्कृत मे लक्ष्य-काव्य और लक्षण-ग्रथो मे पूर्ण सामजस्य था। भामह, वामन, आनदवर्धन तथा कुतक आदि ने अपने सिद्धात-विवेचन का आधार उपलब्ध काव्य को ही बनाया था। उन्होने चाहे निगमन-शैली का अवलबन किया हो चाहे आगमन-शैली का, परतु सस्कृत काव्य का आधार कही नही छोडा। इसीलिए उनके लक्षण और लक्ष्य के बीच प्रत्यक्ष तथा जीवत सपर्क आद्यत बना रहा जिसने उनके काव्यशास्त्र को रूढि-जड नही होने दिया। हिंदी का रीतिकार इसी जीवत सबध-सूत्र को नही पकड पाया, परिणाम यह हुआ कि वह प्राचीन लक्षणो का अनुवाद कर उनकी सिद्धि के लिए नये उदाहरण रचता रहा। इस प्रकार सारा क्रम ही उलट गया—आवश्यक यह था कि वह हिंदी मे उपलब्ध लक्ष्य-काव्य के आधार पर निगमन-शैली से लक्षण-रचना करता या हिंदी-काव्य के आधार पर सस्कृत-सिद्धातो का परीक्षण एव पुनराख्यान करता; परतु वह लक्षण को सिद्ध करने के लिए लक्ष्य की रचना करने लगा। आज हम फिर इसी दृष्टि से हिंदी रीति-साहित्य का मूल्याकन कर उसी भूल की आवृत्ति कर रहे है। परिणाम यह होता है कि उसमे जो थोडा-बहुत अपना है वह भी सस्कृत काव्यशास्त्र की कसौटी पर कसने से उपेक्षित या तिरस्कृत हो जाता है और हमे लगता है कि हमारे पास कुछ नही है।

परतु स्थिति इतनी दयनीय नही है। हिंदी के प्राचीन तथा नवीन काव्य मे—और काव्यशास्त्र मे भी, इतनी सामग्री निश्चय ही विद्यमान है कि उसके आधार पर हिंदी के अपने विशिष्ट काव्यशास्त्र के अस्तित्व की परिकल्पना असगत नही कही जा सकती। कम-से-कम हिंदी के पास इतना मूलधन अवश्य विद्यमान है कि उसके आधार पर एक अच्छे काव्यशास्त्र का निर्माण किया जा सकता है जो सस्कृत तथा अगरेजी का उपजीवी न होकर हिंदी की अपनी सपत्ति होगा। मैं कुछ उदाहरण देकर अपनी स्थापना को पुष्ट करता हू। पहले लक्षण-ग्रथो को ही लीजिए—इसमे सदेह नही कि हमारे अधिकाश लक्षण-ग्रथ सस्कृत अलकारशास्त्र या कविशिक्षा-ग्रथो के ही उपजीवी है, परतु उनमे ऐसी पर्याप्त सामग्री है जो नई है। उदाहरण के लिए रस अथवा शृगार रस के सार्वभौम महत्त्व की प्रतिष्ठा जैसी हिंदी मे है, वैसी सस्कृत मे नही है। संस्कृत का मान्य सिद्धात समग्रतः ध्वनि ही रहा है। आनदवधन, अभिनवगुप्त, मम्मट तथा पडितराज जगन्नाथ ने ध्वनि को सर्वप्रभुत्व-सपन्न सत्ता से मडित कर दिया था और रस, अलकार आदि उसी के अधीनस्थ हो गये थे। हिंदी रीतिशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धात रस ही हुआ। रीति-युग मे शृगार रस की ऐसी सहस्रधारा प्रवाहित हुई कि ध्वनि, अलकार आदि उसमे निमग्न हो गये। यहा शृगारवाद के रूप मे एक पृथक् सप्रदाय उठ खडा हुआ। आप कहेंगे कि शृगार के रसराजत्व के सूत्र भी तो संस्कृत से ही प्राप्त हुए थे, परतु सूत्र तो सभी के कही-न-कही से प्राप्त होते ही हैं, महत्त्व उस स्वतत्र और व्यापक रूप-आकार का है जो शृगार ने हिंदी काव्यशास्त्र मे धारण कर लिया था। वास्तव मे हिंदी के आचार्य की दृष्टि ही बदल गयी थी; और

इसका एक अद्भुत प्रमाण यह है कि महाराज रामसिंह ने रस के आधार पर काव्य के कोटिक्रम का विधान किया है; यह ध्वनि के लिए सबसे बडी चुनौती और रस की सार्वभौम प्रभुता का अतिम प्रमाण था। देव ने अनेक प्रकार से रस का प्रबल पृष्ठ-पोषण और ध्वनि का पूर्ण तिरस्कार किया—यहा तक कि उन्होने व्यजना को रस-कुटिलता के कारण अधम ही कह दिया। अलकार के क्षेत्र मे अतिशय तथा वक्रता आदि के स्थान पर हिंदी में सादृश्यमूलक उपमादि की प्रतिष्ठा हुई, गुणो मे माधुर्य की (चितामणि आदि ने उमे काव्य का सर्वस्व माना है) और शब्दालंकारों मे अनुप्रास की ही महिमा थी। इसका चमत्कार नायिका-भेद के क्षेत्र मे और भी अधिक प्रकाशित हुआ—शुक्ल जी जैसे शास्त्रनिष्ठ आलोचक को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि संस्कृत की अपेक्षा हिंदी मे नायिका-भेद का विधान कही अधिक समृद्ध एवं सर्वांगपूर्ण है। हिंदी का छंद शास्त्र तो प्राय स्वतत्र रूप मे विकसित हुआ ही है—दास आदि ने तुक की विवेचना कर एक स्वतंत्र परिपाटी का शिलान्यास किया। इस प्रकार और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हिंदी रीतिशास्त्र का मूल्याकन पूर्णतया सस्कृत के आधार पर ही न होकर स्वतत्र बुद्धि से भी किया जाये। मेरा अभिप्राय यह नही है कि हिंदी के रीतिकारो की त्रुटियो और भ्रातियो को भी प्रमाण मान लिया जाए। हमारा रीतिशास्त्र सस्कृत पर आश्रित रहा है; अतएव सस्कृत काव्यशास्त्र के प्रकाश मे उसका अध्ययन होना तो ठीक ही है और ऐसा अनेक विद्वान् कर भी चुके हैं। किंतु मेरा निवेदन केवल यही है कि उसके साथ-साथ स्वतत्र दृष्टि से भी हिंदी रीतिशास्त्र का पर्यालोचन अत्यत आवश्यक है, क्योकि हमको यह नही भूल जाना चाहिए कि हिंदी के रीति-कार एक सर्वथा भिन्न युग तथा भिन्न साहित्य के प्रतिनिधि थे। सस्कृत के ऋणी होने पर भी उनकी काव्य-चेतना स्वतत्र थी। इस प्रसंग मे मुझे अगरेजी के प्रसिद्ध कवि-आलोचक ड्राइडन की एक प्रसिद्ध उक्ति का अनायास ही स्मरण हो जाता है। वे लिखते हैं—'हमे हर जगह यह दुहाई नही देनी चाहिए कि अरस्तू का मत भिन्न था—आज यदि अरस्तू होता तो वह भी अपना मत बदल देता।' काव्यशास्त्र का यह ज्वलत सत्य है, इसकी उपेक्षा कर देने से हिंदी मे जो कुछ स्वतत्र है, वह भी उपेक्षित हो जाता है।

रीति-विवेचन के अतिरिक्त हिंदी के प्राचीन काव्य मे भी इतनी प्रभूत सामग्री है कि उसके आधार पर अपने स्वतत्र काव्यशास्त्र का निर्माण अत्यंत सफलतापूर्वक किया जा सकता है। आरंभ से ही हिंदी की अपनी विशिष्ट काव्य-चेतना रही है जो स्वतत्र काव्यरूपो मे अभिव्यक्त होती आयी है। जैसे रासो-काव्य का अपना स्वतंत्र स्वरूप है जिसे आप सस्कृत के महाकाव्य तथा खडकाव्य के लक्षणो मे नही बाध सकते, आल्हखड जैसे वीर-गीतो का भी अस्तित्व पृथक् ही है। हिंदी का सत-काव्य, काव्य की मूल चेतना और अभिव्यंजना-शैली की दृष्टि से,'सस्कृत काव्यशास्त्र के लक्षणो मे नही आता। इसी युग के प्रेमाख्यान काव्यो की परंपरा को शास्त्रीय प्रबंधकाव्य की कसौटी पर आकना उचित नही है। भक्ति-युग मे गीति और प्रबंध के अपूर्व समन्वय

से जो एक नवीन किंतु अत्यंत प्रबल काव्य-रूप आविर्भूत हुआ, उसको आप न संस्कृत के रूढ मुक्तक की परिभाषा मे बांध सकते हैं, न प्रबंध की और न पाश्चात्य गीति-काव्य की। इसी प्रकार रीतिकाल मे सवैया तथा घनाक्षरी मे जो अद्भुत रस-व्यंजना हुई वह न संस्कृत के मुक्तक की परिधि में आती है और न अंगरेजी के प्रगीत की। उसमे मुक्तक की अपेक्षा कही अधिक आत्मतत्त्व विद्यमान रहता है। इन सभी अभि-व्यंजना-रूपो का अध्ययन संस्कृत के लक्षणो अथवा सर्वथा भिन्न देश-काल में विकसित यूरोपीय काव्यशास्त्र की परिभाषाओ के द्वारा करने के स्थान पर हिंदी की प्रकृति और स्वरूप के आधार पर हिंदी की अपनी विकासोन्मुखी काव्य-चेतना तथा उसके सहज माध्यम काव्य-रूपो के विश्लेषण द्वारा कदाचित् अधिक सफल हो सकेगा। काव्यशास्त्र के उस चिरंतन सिद्धात के अनुसार यहा भी आलोचक को अपनी आलोचना-दृष्टि आलोच्य मे से ही प्राप्त करनी होगी; और इसमे इन कवियो की अपनी उक्तिया, जो आत्म-निरीक्षण के क्षणो मे स्वत· उद्गीथ हो गई हैं, आपका पथ-प्रदर्शन करेंगी। तुलसी और घनानन्द जैसे कवियो मे इस प्रकार का आत्मलोचन पर्याप्त मात्रा मे मिलेगा। आप कल्पना कीजिए कि रीति के उस रूढिग्रस्त युग मे घनानन्द मे आत्म-तत्त्व के पोषक इस प्रकार के अनेक उद्धरण सहज ही मिल जाते हैं :

लोग तो लागि कवित्त बनावें पै मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।

तुलसीदास अपने मंगलाचरण मे ही वाणी और विनायक का विचित्र संयोग कर अपनी कल्याणमयी सौंदर्य-भावना की व्यंजना कर देते है।

हिंदी के आधुनिक काव्यशास्त्र तथा काव्य के विषय मे तो और भी अधिक क्षेत्र है। मैं यह मानता हूं कि आरम्भ मे जो रीति-ग्रंथ लिखे गये उनमे स्वतत्र दृष्टि का प्राय. अभाव है—आधार चाहे भारतीय काव्यशास्त्र रहा हो या पाश्चात्य। परंतु वे भी अनुपयोगी नही थे। भारतीय दृष्टिकोण को समझने के लिए सर्वश्री अर्जुनदास केडिया, जगन्नाथप्रसाद भानु और सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के ग्रथों की उपादेयता अतर्क्य है, इसी प्रकार 'साहित्यालोचन' आदि ने पाश्चात्य काव्य-सिद्धांतो से परिचय प्राप्त कराने में बडी सहायता की है और इस दृष्टि से इन ग्रथो का महत्त्व आज भी नगण्य नही है। परतु हिंदी काव्यशास्त्र का स्वतंत्र रूप इनमे न मिलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि की समीक्षा मे ही मिलता है। इधर आधुनिक काव्य और उससे सबद्ध अनेक प्रतिभाशाली कवियो की भूमिकाओ में हिंदी-काव्यशास्त्र के विकास के लिए अत्यंत पुष्ट आधार मिलता है। छायावाद मे पंत आदि सक्षम कलाकारो ने जिस नवीन सौंदर्य-दृष्टि का उन्मेप किया है वह हिंदी की अपनी विभूति है जो बंगला और अंगरेजी की रोमानी छाया से स्वतत्र है। कला की अंतश्चेतना और बाह्य अभिव्यंजना दोनो के विकास मे उसका अपना विशिष्ट योगदान है जिसका उचित मूल्याकन अभी होना है। यशोधरा और द्वापर, तुलसीदास, बापू और कुरुक्षेत्र, और इन सबकी मुकुटमणि—कामायनी—आधुनिक हिंदी काव्य की अनेक अनुपम कृतिया हैं; आप उन्हे संस्कृत या अंगरेजी के किस काव्य-रूप के अतर्गत लक्षण-बद्ध करेंगे ? गद्य मे भी इसी प्रकार विस्तृत क्षेत्र है : शुक्ल जी के या सियारामशरण के निबंधो को,

अथवा महादेवी के रेखाचित्रो को आप बलात् 'ऐसे' की किस परिभाषा में बाध सकेंगे ? भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-विधान के आरोप के कारण प्रसाद के नाटको के साथ कितना अन्याय होता रहा है। मैंने अनेक साहित्य-मर्मज्ञो को यह कहते सुना है कि 'शेखर' उपन्यास नही है, वह उपन्यास और जीवनी के बीच की कोई वस्तु है। यहा कदाचित् आपके या किसी के मन मे एक भ्रांति उत्पन्न हो सकती है और वह यह कि कही मैं इन ग्रंथों को आदर्श साहित्य-रूप मान लेने की सिफारिश तो नही कर रहा हू। नही, मैं इनके दोषो की उपेक्षा नही करना चाहता—और न इन्हे परिपूर्ण ही मान कर चलता हूं। मेरा मंतव्य केवल यही है कि हिंदी आलोचनाशास्त्र का विकास हिंदी के आलोच्य साहित्य से निरपेक्ष होकर नही होना चाहिए। उसके निर्माण और विकास के लिए अनेक परिपुष्ट आधार विद्यमान हैं · आज उनके सम्यक् उपयोग की आवश्यकता है। यह उपयोग किस प्रकार हो सकता है ? इसके उत्तर मे मेरा निवेदन है कि हिंदी साहित्य की परंपरा को आधार मान कर भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रो के सामंजस्यपूर्ण पुनराख्यान के द्वारा यह महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्ध हो सकता है। इसका दिशा-निर्देश आचार्य शुक्ल और कवि प्रसाद के विवेचन मे मिल जाता है। शुक्लजी ने भारतीय सिद्धांतो का पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अनुसार विवेचन-आख्यान किया है और प्रसाद जी ने पाश्चात्य सिद्धातो का भारतीय चिंता-पद्धति के अनुसार।

इस प्रकार आरंभ मे मैंने जो चार प्रश्न उठाये थे, उनमे से तीन का उत्तर मैं अपने मतानुसार दे चुका।-अब चौथा प्रश्न शेष रह जाता है। उसका उत्तर देकर मैं इस वक्तव्य का उपसहार करता हूं। आज, जब प्रादेशिक भावनाएं भारतीय चेतना मे संश्लिष्ट हो रही हैं, इस प्रकार का प्रयत्न क्या आवश्यक तथा उपयोगी होगा ? इस प्रश्न का उत्तर भी नकारात्मक नही हो सकता। इसमे सदेह नही कि राष्ट्रभाषा--पद पर आसीन होने के उपरांत हिंदी-साहित्य तथा भाषा दोनों का भारतीय आधार पर विकास होना आवश्यक है; परंतु हिंदी के विकास के लिए वे ही नियम लागू होने चाहिए जो मनोविज्ञान आदि मे व्यक्तित्व के विकास के लिए निर्धारित हैं। व्यक्तित्व के विकास के लिए वातावरण मे उपलब्ध सभी तत्त्वो का उचित उपयोग आवश्यक होता है, परंतु आधार व्यक्तित्व की मूल प्रवृत्तिया ही रहती हैं। इसी प्रकार हिंदी भाषा एव साहित्य का विकास संस्कृत तथा द्रविड भाषाओ मे निहित भारतीय परपराओ तथा पाश्चात्य चिताधाराओ के पोषक तत्त्वो के द्वारा होना सर्वथा श्रेयस्कर है, किंतु उसका आधारभूत व्यक्तित्व अक्षुण्ण रहना चाहिए। इस प्रकार हिंदी साहित्य के सश्लिष्ट व्यक्तित्व का विकास ही श्रेयस्कर है। व्यक्तित्व खोकर विकास कैसा ! संस्कृत काव्यशास्त्र का भाडार अत्यंत विभूति-सपन्न है, इसमे कोई सदेह नही कर सकता। भरत से लेकर जगन्नाथ तक प्रसरित यह समृद्धि हमारी अमूल्य थाती है; इसका उचित अध्ययन अभी नही हुआ है। उधर प्लेटो से लेकर क्रोचे तक विस्तृत चिंताधारा भी हमे विदेशी शोषण की क्षतिपूर्ति मे मिली है; उसका भी हमारा ज्ञान बड़ा कच्चा है। इन अभावो की पूर्ति के लिए हिंदी के मेधावी आलोचको के

सामुदायिक प्रयत्न की अपेक्षा है, और उनके लिए यह कार्य किसी प्रकार दुष्कर नही है; क्योकि यदि आप आत्म-श्लाघा न मानें तो मै एक बार फिर निवेदन कर दू कि हिंदी का आलोचना-साहित्य आज कदाचित् उसका सबसे पुष्ट अंग है। इस प्रकार हिंदी के स्वतत्र आलोचनाशास्त्र का सम्यक् विकास किया जा सकेगा; जिसका मूल आधार होगा—हिंदी के माध्यम से काव्य के चिरंतन सत्यो का अनुसंधान, जो भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रों की समृद्ध परंपराओ से पोषण प्राप्त करेगा, परंतु उनकी व्याख्या या अनुवाद मात्र होकर नही रह जायेगा।

आलोचना की आलोचना

आधुनिक आलोचना का युग वहां से प्रारभ होता है जहा आचार्य शुक्ल ने उसे ले जाकर स्थित कर दिया था। इस समय साहित्य के इस अंग की यथोचित श्रीवृद्धि हो रही है उसकी धारा अनेकमुखी होकर प्रवाहित हो रही है। एक प्रकार से यह युग ही आलोचना-प्रधान है। आज हृदय पर बुद्धि का शासन बढ रहा है : हमारा दृष्टिकोण दार्शनिक, नैतिक अथवा भाव-प्रधान न रहकर बहुत कुछ बौद्धिक होता जा रहा है। इसीलिए आज का सभी साहित्य—कविता भी—आलोचना-प्रधान है। ऐसी दशा मे प्रवृत्तियो की निश्चित सीमाए बाधना तो दुष्कर है, फिर भी कुछ-एक की ओर सकेत किया जा सकता है।

सबसे पहले तो हमे शास्त्रीय आलोचना-पद्धति मिलती है। इसके प्रतिनिधि हैं प० कृष्णशकर शुक्ल, प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बाबू गुलाबराय, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० सत्येन्द्र और प्रो० शिलीमुख। ये सज्जन सभी उच्चशिक्षा से सीधा सपर्क रखने वाले अध्यापक हैं। इनकी शैली मे काव्य-वस्तु की अंतर्वृत्तियो के विश्लेषण की प्रवृत्ति पायी जाती है। स्वभावतः यह वर्ग विश्लेषणात्मक आलोचना का पोषक है। ये आलोचक समालोचना को भावुकता की क्रीडा नही समझते : ये तो गभीर अध्ययन, विवेचन और स्पष्ट विश्लेषण को ही प्रधानता देते हैं। साहित्य के निश्चित सिद्धातो मे उनका अटल विश्वास है। साहित्यिक मान अटल है, उनकी व्याख्या का स्वरूप चाहे कितना ही भिन्न हो जाय—ऐसी इन विद्वानो की ध्रुव धारणा है। इन सभी मे प्राच्य और पाश्चात्य आलोचना-पद्धतियो का सम्मिश्रण मिलेगा। ये लोग शुक्ल जी की रस-पद्धति के अनुसार रस, भाव, विभाव, अनुभाव आदि की विवेचना पाश्चात्य शैली से करते हैं। अर्थात् उनका विवेचन रूढि-रूप मे न करके मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही करते हैं।

इनका सबसे बडा गुण न्यायसंगत निष्पक्षता है। इनमे शुक्ल जी की-सी गभीरता और घनता नही है, अतः उनकी शुष्कता हठवादिता भी नही है। यह आलोचना कभी-कभी किताबी हो जाने से जीवन से दूर पड जाती है।

यही शास्त्रीय पद्धति कुछ स्वतत्र भावुक लेखको मे एक नवीन रूप धारण कर लेती है। इन लेखको का आधार और विवेचन दोनो ही साहित्यिक हैं, इनका आधार प्रधान रूप से दार्शनिक है; और विवेचना मे चिंता, कल्पना और भावुकता तीनो का योग रहता है। अत यह आलोचना बहुत अशो तक सृजानात्मक

है। इसमे वस्तु का तार्किक विश्लेषण नही होता, परतु काव्य के अंतर मे प्रवेश करने वाली एक नुकीली दृष्टि प्राय: मिलती है। साहित्य को ये विद्वान् एक चिरतन सत्य मानते हैं जिसकी अतर्धारा युग-युग की आत्मा मे होकर निरवच्छिन्न बहती है। युग-धर्म का प्रभाव उसकी अभिव्यक्ति के स्वरूप पर ही पडता है, आत्मा का शुद्ध-बुद्ध रस प्रभावातीत है। इसलिए साहित्य का युग-धर्म से सहज-सबंध मानते हुए भी ये उसको केवल युग-धर्म की सृष्टि नही मानते। ये लोग जिस सिद्धात को लेकर चलते हैं वह अत्यंत गहन, सूक्ष्म और मौलिक है। अत उसके लिए अतःप्रवेशिनी तत्त्व-दृष्टि सर्वथा अनिवार्य है। साथ ही जिस आधार पर ये आलोचक खडा होना चाहते हैं वह निश्चित रूप से दृढ होना चाहिए। क्योकि इसके बिना विवेचन स्वच्छ और स्पष्ट ही नही हो सकता—उसमे एक विचित्र उलझन और लपेट आ जाती है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का भाषण मेरे कथन का जीवित प्रमाण है। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी और रामनाथ 'सुमन' की आलोचनाओ मे मूलाधार की यह एकता स्पष्ट है।

इस आलोचना-पद्धति का प्रमुख दूषण यह है कि वह वस्तु से प्राय: स्वतत्र हो जाती है और स्वभावत. फार्म का तिरस्कार करती है।

इसी प्रवृत्ति की सीधी प्रतिक्रिया हमे हिंदी के उन आलोचको मे मिलती है जो साहित्य को युग की सृष्टि और आवश्यकता मानते हैं। इनका दृष्टिकोण सर्वथा सामाजिक (भौतिक) है। मार्क्स का यह सिद्धात है कि मानव-मस्तिष्क की प्रत्येक क्रिया की व्याख्या पदार्थ के अनुसार की जा सकती है इनका मौलिक आधार है। ये जिस प्रकार व्यक्ति को समाज की सृष्टि और उसका एक अविभाज्य अग मानते है, इसी प्रकार साहित्य को भी समाजशास्त्र के मानदंड से परखते हैं। स्वभाव से, इनके दृष्टिकोण मे सघन बौद्धिकता है; भावुकता—कम-से-कम भावावेश का पूर्ण रूप से बहिष्कार है। विदेश के आधुनिक साहित्य और उसकी वर्तमान बुद्धि-पूजा का इन लोगों पर गहरा प्रभाव है, और ये आलोचक स्वयं उन प्रवृत्तियो का अच्छा ज्ञान रखते हैं। अभी इनका साहित्य परिमाण मे बहुत क्षीण है। परतु वह कुछ ऐसी बौद्धिक शक्ति लेकर आया है कि लोग चौंक-से पड़े हैं। हिंदी मे यह 'प्रगति' की ही चेतना की एक सशक्त अभिव्यक्ति है। 'अज्ञेय', रामविलास शर्मा और शिवदानसिंह चौहान के फुटकर लेख इस प्रकार की आलोचना का पुरस्कार है। इनकी आलोचना का दोष उसकी एकागिता है। उदाहरण के लिए देखिए रामविलास शर्मा का शरत्चन्द्र पर लिखा हुआ लेख।

चौथी श्रेणी मे—(यह श्रेणी 'तोप श्रेणी' नही है)—वे आलोचक आते हैं जिनको हम प्रभाववादी कह सकते है।

इन आलोचकों का ध्येय विश्लेषण या अत प्रवृत्तियो की गवेषणा नही होता। किसी ग्रंथ अथवा कृति को पढकर इनके मन पर जैसा प्रभाव पडता है, उसको वैसा ही अंकित कर देना इनकी विशेषता है। यह आलोचना अपने मूल रूप मे फैशनेबुल है और एक अत्यत सस्कृत रुचि और सूक्ष्म-कोमल पकड की अपेक्षा करती है; तभी

लेखक की धारणाएं विश्वास-योग्य और कांतिमान् हो सकती हैं; तभी उनका महत्त्व है। यह तो स्पष्ट ही है कि इस प्रकार की आलोचना अपने सुंदरतम रूप मे भी गहन, सांग एवं क्रमबद्ध नही हो सकती, पाठक की उत्सुकता को जागृत करने के अतिरिक्त उसके ज्ञान मे विशेष परिवृद्धि नही कर सकती। साथ ही इसमे निष्कपट मत-प्रदर्शन ही सब कुछ है अत: ईमानदारी की भी बडी जरूरत है। अनधिकारियो के हाथ मे पड कर—और ऐसा आज प्राय: हो रहा है क्योकि आलोचना की यह पद्धति सबसे सीधी और सरल है—यह शैली विक्षोभ और घृणा उत्पन्न करती है।

इस प्रसग मे केवल एक ही नाम उल्लेख्य है—प्रो० प्रकाशचन्द गुप्त, जो सिद्धात रूप मे तीसरे वर्ग के सहयोगी होने पर भी व्यवहार मे एकात प्रभाववादी हैं।

आज हमारी आलोचना इन्ही सरणियो मे होकर बह रही है।

कुछ पडित रिसर्च और साहित्यशास्त्र के विवेचन मे भी परिश्रम कर रहे हैं। डॉक्टर बडथ्वाल की निर्गुण काव्य-सबधी खोज और डॉक्टर माताप्रसाद, डॉक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र, श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी की तुलसी-विषयक खोजें अपना महत्त्व रखती हैं। पर ये आलोचक प्रौढ पाडित्य के भार को लिये हुए रस की धारा से कुछ दूर चले जाते है।

साहित्यशास्त्र मे भी नवीन और प्राचीन तथा पाश्चात्य एवं प्राच्य रीति-शास्त्रो का अध्ययन थोडा-बहुत चल ही रहा है। सुधाशुजी ने क्रोचे के अभिव्यजना-वाद, और इलाचन्द्र जोशी ने एडलर के मनोविश्लेषण की व्याख्या की है। ये दोनो व्याख्याए अपने प्रारभिक रूप मे ही है, लेखक अपने विषय को अधिक सुथरा नही बना सके।

इधर स्वर्गीय प्रसादजी और सुश्री महादेवी ने काव्य और कला की भारतीय दृष्टि से सर्वथा मौलिक विवेचना की है। डॉ० भगवानदास तथा बाबू गुलाबराय ने भारतीय रसशास्त्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है, और सुधाशु जी ने जीवन की पृष्ठभूमि पर काव्य के तत्त्वो का स्पष्टीकरण। प्रेमचदजी ने भी साहित्य और उसके कथा-भाग पर अत्यत सुथरे विचार प्रकट किये हैं।

इस प्रकार आज हिंदी का आलोचना-साहित्य अत्यत समृद्ध है। उपर्युक्त प्रमुख लेखको के अतिरिक्त हिंदी मे ऐसे कई उदीयमान आलोचक काम कर रहे है जिनका भविष्य अत्यत उज्ज्वल प्रतीत होता है। गत चार-पाच वर्षों से हिंदी-पाठक की विवेचना-शक्ति और उसका निर्णय कितना विवेक-सम्मत एवं बुद्धिपरक हो गया है, इसका अनुमान 'साहित्य-सदेश', 'विशाल भारत', 'हस' और 'वीणा' के साधारण-से-साधारण लेख को पढकर ही किया जा सकता है।

आज केवल एक खतरा है—बढती हुई एकागिता का, जो दूसरे पक्ष की ओर असहनशील होती चली जा रही है। वस्तुत विभिन्नता जीवन-प्राचुर्य की द्योतक है। हमे उसका स्वागत करना चाहिए। आलोचक रसज्ञ-व्याख्याता है। रस को ग्रहण करना और अपनी शक्ति एवं मेधा के अनुसार दूसरो को सुलभ करना ही उसका कर्तव्य-कर्म है। फिर वह नियामक या नियंता होने का दंभ क्यो करे?

आधुनिक हिंदी-काव्य के आलोचक

पहला चरण

["इनके—छायावादी कवियों के—भाव झूठे, इनकी भाषा
झूठी, इनके छंद झूठे, इनके अलंकार झूठे…!"]

आधुनिक काव्य का प्रारंभ सन् १६२२-२३ से समझना चाहिए—जब प्रसाद, पंत और निराला की कविताएं प्रभूत संख्या में प्रकाशित होकर हिंदी-जनता का ध्यान बरबस आकर्षित करने लग गई थीं। यह द्विवेदी-युग का अंतिम चरण था। इस समय काव्य का अधिनायकत्व उन लोगों के हाथ में था जो दृढ़ नैतिक एवं शास्त्रीय मानों को मूल्यांकन का साधन बनाये हुए थे। द्विवेदी जी स्वयं, पं० पद्मसिंह शर्मा और ला० भगवानदीन इनमें मुख्य थे। ये विद्वान् सामाजिक क्षेत्र में भारतीय नीतिशास्त्र को जिस दृढ़ता से पकड़े हुए थे, काव्य-क्षेत्र में भारतीय साहित्य-शास्त्र का आधार भी इनका उतना ही दृढ़ था। अभी विदेशी रीति-नीति से संपर्क नहीं था और जो था भी केवल प्रतिक्रिया के रूप में ही। अतएव अपने आधार को पूरे बल से पकड़े रहने के कारण, साथ ही दृष्टि-क्षेत्र सीमित होने से, इन उस्तादों में अतर्क्य आत्मविश्वास आ गया था जिसका उपयोग वे कठोरता से करते थे। ऐसी परिस्थिति में अपनी हीनता से संकुचित छायावाद का जन्म हुआ।

छायावाद के अंतर्बाह्य-निर्माण में विदेश का प्रभाव अति स्पष्ट था। अतः इस नवजात शिशु को दोगला समझकर नीति-विशारदों ने चारों ओर से उस पर प्रहार किये। बस, उसके जन्म, उसके शरीर, उसके रंग-रूप, उसकी वसन-सज्जा को एक साथ अवैध घोषित कर दिया गया। उस समय छायावाद का रूप अनिश्चित था। उसमें अति हो रही थी। यह सत्य है। परंतु ये आत्मविश्वासी विद्वान् उल्टे उस्तरे से उसकी हजामत बना रहे थे, इसमें भी संदेह नहीं। अंगरेजी रोमांटिक कविता के (जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव छायावाद पर पड़ रहा था) स्वरूप, उसकी अनुभूति-अभिव्यक्ति एवं उसके महत्त्व से ये लोग अपरिचित थे; और पुराने साहित्य-शास्त्र के स्थूल नियमों द्वारा उसे परखने का अनुचित प्रयत्न कर रहे थे। इसलिए पन्त की मधुर-कोमल कला में, प्रसाद की गहरी जिज्ञासामयी अनुभूति में, अथवा निराला के निर्मुक्त कल्पना-प्रवाह में उन्हें कोई सौंदर्य नहीं दिखाई दिया, यह आश्चर्य की बात नहीं।

इस युग में छायावाद की पीठ थपथपाने वाले आलोचक केवल मिश्रबन्धु थे,

जिनकी आलोचनात्मक दृष्टि चाहे जैसी अस्थिर रही हो पर व्यापक अवश्य थी। विदेशी साहित्य के अध्ययन से उनके मन मे उदारता आ गई थी। इसी कारण वे नवीनता और विविधता का स्वागत करने की क्षमता रखते थे। फिर भी आधुनिक काव्य की आलोचना का रूप अपने शशवकाल मे पूर्णतया अनुदार रहा।

दूसरा चरण

> ["छायावाद की कविता मे सबसे अधिक खटकने वाली बात उसके भावो की अप्रसादकता है। इस संसार के उस पार जो जीवन है, उसका रहस्य जान लेना सबके लिए सुगम नही। पर इस कारण निराश होने की आवश्यकता नही। समय के प्रभाव से जब यह प्रभाव संयत प्रणालियों मे चलने लगेगा तब हिंदी कविता का यह नवीन विकास बडा मनोरम होगा।"]

इसके उपरात आचार्य शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास और श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने आलोचना-क्षेत्र मे पदार्पण किया। इस समय तक छायावाद अपनी जड़ें जमा चुका था। उसका यौवन अपनी रंगीनी से जगमगा उठा था, 'पल्लव', 'परिमल', 'आसू' प्रकाशित हो चुके थे। फिर भी अभी वह नव-शिक्षितो की ही वस्तु थी, पंडितो की नही। पंडितो का भाव उनके प्रति स्नॉबरी का ही था; और यह भावना मूर्तिमंत हो उठी थी आचार्य शुक्ल मे, जिन्होने बहुत शीघ्र ही इस युग की आलोचनात्मक शक्तियों को अपने मे केन्द्रित कर लिया था।

शुक्लजी की प्रतिभा अपरिमेय थी। उनकी दृष्टि मे अद्भुत गहराई, पकड मे गजब की मजबूती और प्रतिपादन मे अपूर्व प्रौढता थी। साथ ही उन्होने पाश्चात्य एव पौरस्त्य साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन किया था। अतः उन्होने जो छायावाद पर प्रहार किये वे काफी समझ-बूझकर किये। छायावाद पर पडे हुए बाह्य प्रभावो के विषय मे वे एकदम निर्भ्रांत थे। उन्होने विदेश की रोमाटिक कविता, सौंदर्यशास्त्र, अभिव्यंजनावाद, और बगला के रवीन्द्रनाथ के प्रभावो का अपने ढंग से विवेचन किया। शुक्लजी ने स्वदेश-विदेश की आलोचना-पद्धतियो का मनन करने के उपरात अपने काव्य-सिद्धात स्थिर किये थे, जिन पर वे अत तक अटल रहे। ये सिद्धात यद्यपि अब तक के सभी सिद्धातो की अपेक्षा अधिक मनोवैज्ञानिक और तर्कसंगत थे, परतु इनका मानसिक आधार नैतिकता के ऊपर ही टिका हुआ था। कारण यह है कि शुक्लजी के व्यक्तित्व का निर्माण बहुत-कुछ सुधार-युग मे हो चुका था, अत उनके ये सस्कार विदेशी शिक्षा-दीक्षा के बीच भी जड पकडे रहे। यहा यह स्वीकार करना उचित होगा कि नीति (शिव) का मनोविज्ञान (सत्य) एवं सौंदर्यशास्त्र (सुदर) के साथ जितना सामंजस्य सभव था, उतना शुक्लजी ने कुशलता से एक मर्मज्ञ आचार्य की भाति किया। फिर भी छायावाद तो एकदम अनीति (?) की राह पर था · वह तो काव्य को काव्य के लिए मानता था! अतः आचार्य मरते दम तक उससे समझौता न

कर सके।

इसके अतिरिक्त कुछ और भी आनुषंगिक कारण थे—

१ शुक्लजी काव्यानंद को एक निश्चित, साधारण अनुभूति मानते थे। इसके विपरीत छायावाद सौंदर्यानंद को एक स्वतंत्र एवं असाधारण अनुभूति मानता था।

२ शुक्लजी काव्य के क्षेत्र मे भी सगुणोपासक थे। वे व्यक्त एव मूर्त अनुभूति को ही महत्त्व देते थे। परंतु छायावाद मे अमूर्त एवं अर्धव्यक्त अनुभूतियो का विशेष मान था, उसमे अवचेतन की प्रधानता थी।

३. शुक्लजी का दृष्टिकोण एकात बौद्धिक और विवेक-सम्मत था। छायावाद बौद्धिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी, इसमे रहस्य और अद्भुत की जिज्ञासा थी जो कुछ अंशो मे अवश्य विवेकशीलता की समझ से बाहर थी।

४ शुक्लजी काव्य-शक्ति के पूर्ण विकास के लिए जीवन-काव्य को ही उपयुक्त मानते थे; छायावाद स्फुट गीतियो का भडार था।

५. छायावाद की अभिव्यंजना मे भी असाधारणता, विशेषकर लक्षणा का दुरुपयोग, देखकर वे चिढ़ गए थे।

बाद मे समय का प्रमाण-पत्र मिलने के उपरात आचार्य की दृष्टि तो बदली परतु दृष्टिकोण नही बदला। अत' छायावाद के कवियो की प्रशंसा भी उन्होने अपने सिद्धातो के ही अनुसार की। उन्होने उसकी अनुभूति की अपेक्षा अभिव्यक्ति को ही अधिक दाद दी—ठीक जैसा सूर के साथ किया है। यही उनका विश्वास था, यही उनकी शक्ति थी।

शक्ति सर्वांगीण नही होती : वह सर्वत्र ही अपना एक-सा प्रभाव नही दिखा सकती। इस रूप मे उसको देखना भी भूल है, उसकी तो घनता देखिए। आज यही बात न सोचकर हम लोग घनीभूत-पाडित्य के उस आचार्य को 'रिप वॉन विंकिल' आदि उपाधिया प्रदान कर अपनी कृतज्ञता का परिचय दे रहे हैं। प्रत्यक्ष रूप मे चाहे शुक्ल जी ने आधुनिक काव्य का मार्गावरोध किया हो, परतु अप्रत्यक्ष रूप मे उनका प्रभाव स्वस्थ ही रहा। निराला और प्रसाद जैसे शक्ति-स्रोतो से निसृत इस छायावाद-प्रवाह को उचित गति और स्थिर वेग देने के लिए आचार्य शुक्ल जैसी चट्टान की ही आवश्यकता थी।

बाबू श्यामसुन्दरदास मे समझौते की प्रवृत्ति आरंभ से ही रही है। इसका कारण है, उनका अपेक्षाकृत विस्तृत कार्यक्षेत्र। बाबूसाहब ने कृपापूर्वक इन कवियो का उल्लेख अपने इतिहास मे किया और बहुत ही शिष्ट एव विवेकयुक्त शब्दो मे अपना आक्षेप भी व्यक्त किया :

"छायावाद की कविता मे सबसे खटकने वाली बात उसके भावो की अप्रसादकता है। इस संसार के उस पार जो जीवन है, उसका रहस्य जान लेना सब के लिए सुगम नही है। दार्शनिक सिद्धातो की अनुभूति भी सब का काम नही है।"

बाबूसाहब का यह दृष्टिकोण उस समय के भ्रात दृष्टिकोण का दर्पण है। सचमुच उस समय तक आलोचक छायावाद और रहस्यवाद के बीच अतर स्पष्ट नही

कर सके थे। उन्हे यह भी निश्चित नही था कि दोनों मे अंतर है भी या नही। प्रायः छायावाद को रहस्यवाद से एकरूप करते हुए वे लोग उसको विकृत रूप मे देख रहे थे। हरिऔधजी लिखित 'नीहार' की भूमिका इसका प्रमाण है। साथ ही कवि स्वय भी रहस्यवादी आवरण को मोहपूर्वक धारण करना चाहते थे। सचमुच यह भ्रम बहुत दूर तक चला है। अभी कुछ दिन पूर्व ही अपने एक रहस्यवादी मित्र को यह कहते हुए सुनकर मैं दंग रह गया कि आपको कैसे मालूम कि हमारे जीवन मे साधना नही है ? ऐसी दशा मे उस समय के विद्वान्, जो काल-सीमाओं से आबद्ध थे, यदि इन रेखाओं को स्पष्ट न कर सके तो क्या आश्चर्य !

इन्ही दिनो बख्शीजी भी साहित्य-क्षेत्र के मध्य मे आसीन थे। बख्शीजी का विदेशी साहित्य का व्यापक अध्ययन था। वैसे तो यह विशेषता पिछले दो विद्वानों मे भी थी, परंतु उनकी अपेक्षा बख्शीजी एक कदम और आगे बढ गये थे। उन्होने विदेशी साहित्य की कल्चर को भी ग्रहण कर लिया था। इस कारण उनकी दृष्टि उदार थी, उनमे स्नॉबरी नही रह गई थी। उन्होने छायावाद के काव्य-गुण को पहचानते हुए ही उसका आदर किया, उसे आश्रय-मात्र नही दिया। परंतु छायावाद और रहस्यवाद के अतर का स्वरूप बख्शीजी भी व्यक्त न कर सके, यद्यपि उसके अस्तित्व के विषय मे इन्हे कोई भ्रम नही था।

इस प्रकार दूसरे चरण मे छायावाद की रूपरेखा स्पष्ट न हो सकी, उसका मूल्याकन तो दूर रहा। इस समय तक केवल एक ही लेख ऐसा लिखा गया था जिसका महत्त्व आज अक्षुण्ण है। वह थी स्वयं कवि पत की लिखी हुई 'पल्लव' की भूमिका, जिसमे छायावाद के बाह्य उपादानो की—शब्द, व्याकरण, छद आदि की सुलझी हुई मौलिक व्याख्या थी। हिंदी का आलोचक शब्दो की केवल अर्थव्यजना से ही परिचित था। पंतजी ने हिंदी मे पहली बार उनकी स्वर-व्यंजना के रहस्यो का विवेचन करते हुए सौंदर्यालोचन मे मौलिक श्रीवृद्धि की। छायावाद की कला के विवेचन मे यह भूमिका सदैव ही आलोचको की पथ-प्रदर्शिका रही है। अंतरात्मा का विश्लेषण अब भी अछूता था।

तीसरा चरण

> ["इस (छायावाद) को हम प० रामचन्द्र शुक्लजी के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की लाक्षणिक प्रणाली-विशेष नही मान सकेंगे। इसमे नूतन सास्कृतिक मनोभावनाओ का उद्गम है और एक स्वतत्र दर्शन की नियोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टत. पृथक् अस्तित्व और गहराई है।"]

छायावाद का अब एक व्यापक प्रभाव था। उसका जादू हरिऔध और मथिलीशरण के सिर पर चढकर बोल रहा था। अब उसे आलोचको के कृपाकटाक्ष की अपेक्षा नही थी। अब तो आलोचक स्वय उसी के सहारे अपनी शक्ति आजमाने की अभिलाषा करते थे। प्रसाद और पंत की सर्वमान्यता असंदिग्ध थी—प्रसाद की,

उनकी करुण अनुभूति एवं भाव-विलास के कारण, और पंत की, उनकी सूक्ष्म-कोमल माधुरी एव कला-विलास के कारण। महादेवी ने गीति-शैली को अपना लिया था। अनसधे लोकगीतो के ढाचे मे नवीन भावना और नवीन रूप-रंग भरकर उन्होने हिंदी-ससार को मोह-मुग्ध कर लिया था। निराला का स्थान इस समय तक संदिग्ध था—उनकी अवाध प्रतिभा एव एकात विरोधी स्वर अभी लोगो के हृदय मे नही बैठ सके थे—यद्यपि कुछ लोग आतकित अवश्य हो गए थे।

तभी श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का शुभागमन हुआ। हिंदी का यह पहला आलोचक था जिसने निर्भीक और निर्भ्रांत होकर छायावाद के महत्त्व को स्वीकृत और अधिष्ठित किया। वाजपेयी ने छायावाद का पृथक् रूप देखा और प्रसाद एव निराला की आलोचना करते हुए उसकी मानसिक भूमि का विश्लेषण किया। वाजपेयी जी गंभीर आलोचक है। उन्होने गहरे मे जाकर अतस्तत्त्वो को ग्रहण करने का प्रयत्न किया; और उनके परिश्रम के फलस्वरूप—यद्यपि बहुत बाद मे—कुछ स्थायी तत्त्व भी प्राप्त हुए·

१ आधुनिक छायावाद दृश्यमान मानव-जीवन को ही लक्ष्य मानकर उसकी अलौकिकता की झाकी देखता है। रहस्यवाद के दो रूप है : एक परोक्ष (सूफी) रहस्यवाद, दूसरा प्राकृतिक (अपरोक्ष) रहस्यवाद। आज का रहस्यवाद प्रायः दूसरे प्रकार का ही है।

२ छायावाद की सौदर्य-कल्पनाएं प्रधानतः अशरीरी हैं।

परंतु इनके विवेचन मे एक दोष था। इन्होने छायावाद के ऊपर दार्शनिक आवरण इतना अधिक चढा दिया कि न तो वह स्वयं ही अपना आशय स्पष्ट कर सके और न छायावाद ही उसको वहन कर सका। इसका कारण यह था कि इन्होने छायावाद की अधिकांश मूल प्रवृत्तियो का उद्गम प्रसाद जी की तरह भारतीय दर्शन को ही माना, विदेशी रोमांटिक स्कूल और इस युग की सामाजिक कुठाओ का—विशेषकर सेक्स-सबधी कुठाओ का—प्रभाव यह उचित मात्रा मे स्वीकार न कर सके। इसके अतिरिक्त कला-पक्ष मे इन्हे जैसे कुछ कहने को ही नही था।

इनके कुछ समय बाद ही अपनी भावुकता के भार से दबे शातिप्रिय आये। ये सीधे कवि-लोक मे आ रहे थे, कुठित परिस्थितियो ने इनकी वृत्तियों को एकदम अतर्मुखी कर दिया था। अतः इनकी प्रभाव-ग्राहिणी शक्ति अत्यधिक तीव्र और उसके परिणामस्वरूप इनकी भाव-प्रतिक्रियाए सूक्ष्म और नुकीली हो गई थी। छायावाद के अनुभूति-पक्ष का इन्होने मार्मिक विवेचन किया और बहुत-कुछ इनकी ही कृपा से सबसे पहले हिंदी वाले छायावाद की ऊर्मिल भावनाओ एवं सौदर्य-चित्रो को समझ सके। किसी लेखक ने—शायद आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने—इनकी आलोचना को गीतमयी कहा है। मै समझता हू, उसका विवेचन इससे अधिक उपयुक्त नही हो सकता। बस, यही उनकी शक्ति है और यही सीमा। लिरिकल होने के कारण शातिप्रियजी की भावनाएं तरल हैं यह उनकी शक्ति है। उनके विचार भी उतने ही तरल हैं : यह उनकी सीमा है। इसलिए शातिप्रियजी आधुनिक युग के काव्य, विशेषकर

छायावाद के रस का आस्वादन तो करा सके लेकिन स्वरूप स्पष्ट नही कर सके।

उपर्युक्त दोनो विद्वानो की आलोचना रोमाटिक आलोचना थी। हिंदी मे अभी वह समय नही आया था कि लोग रोमाटिक कविता के साथ रोमाटिक आलोचना को भी समझ और पढ सकें। कविता के विषय मे तो उनकी परपरागत धारणा पराजय स्वीकार कर चुकी थी। परंतु समालोचना भी कविता की भाति दुरूह हो, यह वे एकदम बर्दाश्त करने को तैयार नही थे। अतएव छायावादी आलोचना या उडती आलोचना कहकर पडित-समाज उसकी उपेक्षा कर रहा था।

इसी समय कुछ आगे-आगे शास्त्रज्ञ पडितो की एक टोली भी इसी ओर मुडी। इनमे पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाबू गुलाबराय और पडित कृष्णशकर शुक्ल मुख्य थे। हजारीप्रसादजी एकदम क्लासिकल विद्वान् है। उनका संस्कृत-साहित्य का अध्ययन गहन और विस्तृत है। साथ ही उनको शातिनिकेतन के साहित्यिक वातावरण मे रहकर अपने पाडित्य का सस्कार करने का अवसर भी मिला है। अतएव प्राचीन और नवीन दोनो के उचित सयोग से द्विवेदीजी की आलोचना की आधार-भूमि अत्यत दृढ हो गई है। आज से छह-सात वर्ष पूर्व इन्होने 'विशाल भारत' मे नवीन काव्य-ग्रथो की आलोचना करते हुए आधुनिक काव्य का विवेचन किया था। यह विवेचन परिमाण मे यद्यपि अत्यत अपर्याप्त था, परतु पिछले दोनो आलोचको की अपेक्षा पुष्ट एव सुथरा था। साथ ही शास्त्रीय होने के कारण हिंदी-पाठको पर उसका अच्छा प्रभाव पडा। लोग सोचने लगे—छायावाद शास्त्र-सम्मत भी है।

वास्तव मे द्विवेदी जी की प्रतिभा का विकास बाद मे हुआ और उनका क्षेत्र भी बदल गया। अतएव आधुनिक हिंदी काव्य पर उनका आभार अपेक्षाकृत कम है।

तभी बाबू गुलाबराय ने इस क्षेत्र मे प्रवेश किया। बाबूजी हिंदी के पुराने विद्वान् है---एकदम उत्तर-द्विवेदीकालीन ! वे इस समय से बहुत पहले ही दर्शन, निबंध एवं रसशास्त्र मे प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। अत उनके वक्तव्यो को लोगो ने श्रद्धा से पढा। बाबूजी ने छायावाद के दार्शनिक पक्ष को स्पष्ट करने मे यथेष्ट योग दिया। उनका—शायद इदौर साहित्य-सम्मेलन मे पढा हुआ—'हिंदी कविता मे रहस्यवाद' शीर्षक लेख आधुनिक काव्य के विचार-पक्ष का प्रौढ समर्थन था। आधुनिक कवियो की अनत और असीम विषयक जिज्ञासा की वह एक अचूक सफाई थी। उसके कुछ दिन बाद फिर उन्होने अपने 'सुबोध इतिहास' मे नवीन कविता-धारा की सुलझी और विस्तृत व्याख्या उपस्थित की जो अपना पृथक् अस्तित्व रखती है।

आधुनिक काव्य की पूर्ण प्रतिष्ठा तब हुई जब कृष्णशकर शुक्ल ने अपने इतिहास मे उसका अत्यत सहृदयतापूर्वक विवेचन किया। यह ठीक है कि कृष्णशंकरजी न तो छायावाद का रूप ही स्पष्ट कर पाये है और न नवीन कविता की अन्य चिंताधाराओ का ही सम्यक् विश्लेषण कर सके हैं। प्रवृत्तियो का विश्लेषण उनके इतिहास की सबसे बडी कमजोरी है। परंतु चिर-उपेक्षित आधुनिक कवियो की प्रतिभा को स्वीकार करने वाले शुक्ल स्कूल के ये पहले विद्वान् थे। पृथक् रूप मे प्रसाद, पत और निराला की कविता की उन्होने शास्त्रीय ढग पर विस्तृत आलोचना की और इसमे संदेह

नही कि पंडित समाज मे इन्हें आदर प्राप्त कराने का श्रेय बहुत-कुछ कृष्णशंकरजी को ही है।

इस प्रकार तीसरे चरण मे एक बड़ी मंजिल तय हुई। आधुनिक काव्य पर काफी सोचा और समझा गया। नंददुलारे वाजपयी ने उसके मानस-पक्ष का, बाबू गुलाबराय ने विचार-पक्ष का और शातिप्रिय द्विवेदी ने हृदय-पक्ष का सुंदर और प्रौढ विवेचन किया। कला-पक्ष भी उपेक्षित न रहा। प्रतिनिधि कलाकार पंत की सौदर्य-दृष्टि का विश्लेषण हुआ। साथ ही, सत्येन्द्रजी ने गुप्तजी की कला का सूक्ष्म विवेचन किया और श्रीयुत सुधांशु ने नई कविता की अभिव्यजना-पद्धति की क्रोचे के आधार पर व्याख्या की।

सक्षेप मे आलोचना के तीसरे चरण का उत्तराधिकार यह है :

१. हिंदी मे रोमाटिक आलोचना का जन्म हुआ। अब तक अधिकतर वस्तुगत विवेचन का प्राधान्य था। अब भागवत विवेचन भी आरंभ हुआ और आलोचना स्पष्ट रूप से सृजनात्मक अतएव सरस होने लगी।

२. युग-युग के अंतर में बहती हुई चिरंतन जीवन-धारा से साहित्य का सीधा संबंध स्थापित करते हुए उसकी इसी रूप में व्याख्या की गई।

३. अनुभूतियों का विश्लेषण होने लगा। अवचेतन और अर्धचेतन की भी यथाशक्ति छानबीन होने लगी।

४ कला का मनोवैज्ञानिक विश्लेपण प्रारंभ हुआ। अभिव्यंजना और अनुभूति का सीधा संबंध समझा गया।

चौथा चरण

> ["सक्षेप मे, पूजीवादी समाज की वास्तविकता ने इन छायावादी कवियो को इतना अहंवादी, आत्मापेक्षी, समाज-विरोधी और व्यक्तिवादी बना दिया है कि वे अपने असतोष का अस्त्र भी फेंक चुके है। उनका मैं, उनकी अंत.प्रेरणाएं, सामूहिक व्यक्तित्व का मैं या समाज के द्वारा ग्रहण की गई अतःप्रेरणाएं नही रही।' 'खेद केवल इस बात का है कि जीवन और स्वतंत्रता की आवश्यकता की चेतना के अभाव ने उनकी चिर-अधीरता और चिर-असतुष्टि का दुरुपयोग कर उनमे अपने जीवन की निरर्थकता मे सार्थकता का आभास प्रदान करने वाली निरर्थक कला के प्रति आसक्ति उत्पन्न कर दी है।"]

सन् १९३७-३८ से छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारंभ हो गई। यहां से हमारा चौथा चरण आरभ होता है।

इस प्रतिक्रिया के साहित्यिक और सामाजिक कारण थे। साहित्यिक कारण था छायावादी अनुभूतियो की तरल सूक्ष्मताएं, जिनके परिणामस्वरूप उसमे रक्त-मांस की कमी हो रही थी। सामाजिक कारण था जीवन मे आध्यात्मिक और सूक्ष्म-संस्कृत के

विरुद्ध भौतिक और स्थूल-प्राकृत का आह्वान, अर्थात् गांधीवाद को समाजवाद का चेलेंज। इस आह्वान की अभिव्यक्ति हुई प्रगतिवाद।

प्रगतिवाद अपने स्वरूप मे ही आलोचनात्मक है : इसका दृष्टिकोण बौद्धिक है। अतएव इसको जन्म से पूर्व ही आलोचना का वरद हस्त मिल गया। छायावाद जहां अपनी हीनता से सफाई देता हुआ—शातिप्रिय द्विवेदीजी की तरह—आया था वहां प्रगतिवाद श्रेष्ठता के गर्व से उन्मत्त प्रचलित विश्वासो को फटकारता हुआ आया। फिर भी यह निर्विवाद है कि प्रगतिवाद आज की जीवित शक्ति है, यद्यपि इसका स्वरूप अभी स्थिर होना है। आज की प्रगति-कविता सबसे अधिक कवि पंत की ऋणी है, जिनके व्यक्तित्व के द्वारा उसे गौरव मिला। आलोचना के क्षेत्र मे भी उनका आभार गहन है। सबसे पूर्व उनके ही 'रूपाभ' मे लिखे सपादकीयो ने भौतिक एव स्थूल की उपादेयता को सुनिश्चित गाभीर्य के साथ व्यक्त किया और साहित्यिक प्रतिमानो मे समय की माग के अनुसार परिवर्तन करने की आवश्यकता पर बल दिया। इसके अतिरिक्त उनकी 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की अनेक कविताए स्वय प्रगति की प्रौढ विवेचना है।

'रूपाभ' के साथ ही 'हस' ने बलपूर्वक प्रगति का आचल पकडा। 'हस' को स्वर्गीय प्रेमचदजी अपने अतिम दिनो मे बहुत-कुछ प्रगतिशील सामग्री दे गये थे। 'हंस' ने उसे परिश्रम से सजोये रखा और धीरे-धीरे अपने स्टैंडर्ड को मजबूत किया।

हिंदी मे प्रगतिशीलता की पुकार होते ही वह अपना निश्चित दृष्टिकोण लेकर सामने आ गया। अनेक लेखको ने उसमे प्रगति की आवाज उठाई और लेखो की झडी लग गई। प्रारभिक प्रयत्न होने के कारण उनमे उत्साह और भाव-बल तो था, पर विश्लेषण का एकदम अभाव था। अभी तक वे लेखक प्रगति की कविता को राष्ट्रीय कविता से पृथक् कर के नही देख सके थे। यही कारण है कि उस समय प्रगति की परिधि मे मैथिली बाबू भी आ जाते थे, जबकि आज वे घोर प्रतिक्रियावादी समझे जाते हैं। अतएव इन लेखो के द्वारा प्रगति की रूपरेखा तो न बन पायी परतु उसका प्रचार अवश्य हुआ, जिसके लिए वह सबसे अधिक आभारी है प्रो० प्रकाशचंद्र गुप्त की। इनकी नवीन-प्रिय सस्कृत रुचि और निष्कपट उत्साह ने प्रगति को यथेष्ट सम्मान दिया और इनकी कृपा से कुछ हाथ-पैर मारते हुए कवि बाहर प्रकाश मे भी आये। फिर भी प्रगति की सीमाए निर्धारित करने वाले पहले आलोचक हैं शिवदानसिह चौहान।

ऐसा मालूम पडता है कि चौहानजी ने काफी दिनो तक चुपचाप विदेशी प्रगति-साहित्य का, विशेषकर उसके आलोचना-भाग का, अध्ययन करने के उपरात हिंदी मे लिखना आरभ किया। इसलिए इनके प्रारंभिक वक्तव्यो मे ही निश्चय और विश्वास मिला। इन्होने ही सबसे पहले प्रगति के तत्त्वो का विश्लेषण कर उसकी सामाजिक चेतना एव दार्शनिक आधार को स्पष्ट करते हुए उनका भौतिक व्याख्यान किया। शिवदानसिहजी का साहित्य परिमाण मे अत्यत स्वल्प है, इनके लेखो को प्रकाश-स्तंभ कहना वर्गोत्साह मे आकर हिंदी के आलोचना-साहित्य का अपमान करना है। एक तो इनकी व्याख्या विदेशी साहित्य से परिचित व्यक्ति के लिए पूर्णत नवीन नही है, दूसरे उसमे अभी वस्तु के विश्लेषण के साथ सिद्धात का आरोप भी काफी है, और तीसरे

वह एकदम एकांगी है। परंतु यह मानना अनिवार्य है कि उनकी दृष्टि गहरी और स्थिर एवं विश्वास अतर्क्य है। साथ ही प्रगतिवर्ग के अन्य आलोचको की अपेक्षा उनमें कही अधिक विवेक और उदारता है जो उनके आत्मविश्वास की द्योतक है।

आलोचना मे मार्क्स के दृष्टिकोण को इनसे कुछ पूर्व अज्ञेय और रामविलास शर्मा ग्रहण कर चुके थे। इन दोनो मे एक बात समान है; वह यह कि ये क्राति के समान ही परपरा के भी भक्त हैं। अज्ञेय के लेखों का संग्रह 'त्रिशंकु', जिसमे उन्होने भौतिक आधार पर ही आधुनिक कला और साहित्य का विवेचन किया है, आज तीन-चार वर्ष से प्रेस के कक्ष मे सुरक्षित है। अज्ञेय में सूक्ष्मता के साथ शक्ति भी है। इनका यह दोष है कि कभी-कभी ये टेकनीक के मोहवश या कुछ बहुत गहरी और नयी बात कहने के प्रयत्न मे अपनी ही निबिडता मे उलझ जाते है। रामविलास की आलोचना उनके व्यक्तित्व के समान ही दृढ, खरी और कुछ खडी भी होती है। आज उनके जो लेख निकल रहे है उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो उनकी प्रवृत्ति विश्लेषण की जटिलताओ मे न पडकर, जैनेन्द्रजी की शब्दावली मे, दो-टूक बात कहने की ओर होती जा रही है। वात्स्यायन तो अपने व्यक्तिवाद के कारण अभी प्रगति की सीमा-रेखा पर ही खडे हैं, परतु रामविलास ने अब प्रगतिवाद का पौरोहित्य स्वीकार कर लिया है। इन लोगो के द्वारा प्रगतिवाद का प्रतिपादन और छायावाद का विरोध उग्र रूप मे हो रहा है।

छायावाद के विरुद्ध किये गये आक्षेपो का समाधान सुश्री महादेवी वर्मा ने अपनी भूमिकाओ और 'चिंतन के क्षणो में' द्वारा किया है, जिनमे साहित्य के सनातन सिद्धातो के आलोक मे आधुनिक काव्य की गतिविधि को विश्वस्त रूप मे परखा गया है। आज पल-पल परिवर्तित मानो के बवंडर मे खोया हुआ साहित्य का विद्यार्थी उनके द्वारा वाछित स्थिरता प्राप्त कर सकता है। आलोक-स्तभ आज इन्हे कहा जा सकता है।

हमारे चौथे चरण का अभी पहला निक्षेप है। परंतु, जैसा अभी मैंने निवेदन किया, प्रगति का मूल ही आलोचनात्मक है। अतएव इन दो-तीन वर्षों मे ही उसके प्रभाववश हिंदी-आलोचना मे स्फूर्ति आ गई है। प्रगतिवाद की सबसे बडी देन है मार्क्स का दृष्टिकोण। साहित्य की सामाजिक चेतनाओ का अध्ययन स्वयं मनोरंजक है—उसके द्वारा साहित्य की अतर्वृत्तियो पर एक नवीन प्रकाश पडता है। प्रगति का दूसरा शुभ प्रभाव यह हुआ कि आलोचना मे बौद्धिकता की शक्ति आ गई है, जिससे विश्लेषण का गौरव बढने लगा है। विश्लेषण मे अभी मार्क्स की ही सहायता ली जा रही है, फ़ायड की अतःप्रवेशिनी दृष्टि अभी हिंदी को नही मिली। परंतु कुछ आलोचक उधर प्रयत्नशील अवश्य हैं, और हमारा विश्वास है कि मार्क्स और फ्रायड का संयत, विवेकयुक्त—क्योंकि बिना इसके भयंकर छीछालेदर की संभावना है—उपयोग हिंदी साहित्य के सूक्ष्मतम तत्त्वो को प्रकाश में ले आएगा।

स्वतंत्रता के पश्चात् हिंदी-आलोचना

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिंदी-आलोचना के साथ मेरा सक्रिय संबध रहा है। उस पर वार्त्ता करने के लिए आमंत्रण देना मेरे साथ वैसा ही अन्याय है जैसा अभिनेता से दर्शक की तटस्थ दृष्टि की अपेक्षा करना। और, फिर मुझे तो छद्मनाम की सुविधा भी प्राप्त नही है।

सन् १९४७ के बाद का युग सृजन की अपेक्षा निर्माण का ही युग अधिक है, यह बात मै कई बार कह चुका हू। आलोचना सर्जना है या रचना, इस विषय में आलोचना के शैशवकाल मे बडा विवाद रहा। मुझे याद है कि हमारे किसी परीक्षा-पत्र मे एक प्रश्न यह था कि आलोचना कला है या विज्ञान ? मुझे याद नही कि उस समय मैंने इसका क्या उत्तर दिया था परतु इस समय सहज ही एक समाधान मेरे मन मे आया है—आलोचना कला का विज्ञान है। भारतीय शब्द साहित्य-विद्या या साहित्यशास्त्र का ठीक यही अर्थ है। मैं कहना यह चाहता हू कि सर्जनात्मक साहित्य का अग होते हुए भी आलोचना उस अर्थ मे कला नही हो सकती जिस अर्थ मे कविता, नाटक या उपन्यास। रस-सृष्टि के लिए आवश्यक चित्त की समाहिति तो यहा भी अनिवार्य है किंतु वह केवल परिणति की अवस्था है। प्रक्रिया मे तो भावना और कल्पना की अपेक्षा चेतन मन का विवेक ही अधिक प्रबुद्ध रहता है। फिर भी सफल आलोचना का उद्भव रस मे से होता है और उसका निलय भी रस मे ही होना चाहिए अर्थात् जब तक आलोचक आलोच्य से रसार्द्र होकर अपनी विवेचना का आरंभ नही करता और जब तक उसकी विवेचना सहृदय पाठक के मन मे आलोच्य के प्रति रसोद्बोध नही करती तब तक वह सफल नही हो सकता। इस दृष्टि से प्रेरणा और सिद्धि की अवस्था मे कला होते हुए भी अपनी साधनावस्था मे आलोचना निश्चय ही शास्त्र है—दूसरे शब्दो मे उसमे सृजन के साथ निर्माण का भी बहुत बडा योग है। इसीलिए निर्माण के इस दशाब्द मे हिंदी-आलोचना और अगो की अपेक्षा अधिक सक्रिय रही है।

सन् '४७ के बाद की हिंदी-आलोचना सामान्यत. शुक्लोत्तर आलोचना का विस्तार है—शुक्लजी के बाद हिंदी मे आलोचना की अनेक प्रवृत्तिया उभरकर आयी—(१) शास्त्रीय आलोचना, जिसे शुक्लजी से प्रत्यक्ष प्रेरणा प्राप्त थी, (२) सौष्ठव-वादी आलोचना, जिसने शुक्लजी द्वारा प्रभावित होने पर भी जीवन के आनंदवादी मूल्यो और स्वच्छंद दृष्टिकोण को अधिक आग्रह के साथ ग्रहण किया, (३) मनोवैज्ञानिक

आलोचना, जो साहित्य को व्यक्तिगत प्रक्रिया मानकर कवि-मानस के विश्लेषण द्वारा कृति का विवेचन करती थी, (४) समाजशास्त्रीय आलोचना, जो समाजवादी जीवन-दर्शन से प्रेरणा प्राप्त कर सामाजिक चेतना के विकास को साहित्य का लक्ष्य मानती थी, (५) ऐतिहासिक आलोचना, जो सांस्कृतिक-सामाजिक परिवेश में साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत करती थी, (६) सैद्धांतिक आलोचना, जिसका साध्य था भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यसिद्धातो का विवेचन, और (७) शोधपरख आलोचना, जिसके अंतर्गत हिंदी के प्राचीन एवं नवीन साहित्य की तथ्यपरक एवं तत्त्वपरक शोध हो रही थी।

स्वतंत्रता के उपरात ये सभी प्रवृत्तिया समान रूप से सक्रिय नही रह सकी। उदाहरण के लिए मनोवैज्ञानिक आलोचना के अंतर्गत विशेष कार्य नही हुआ। केवल एक शोध-ग्रंथ 'आधुनिक कथा-साहित्य और मनोविज्ञान' हमारे सामने आया। इसके लेखक डॉ० देवराज उपाध्याय हिंदी के परिचित सुलेखक है। उन्होंने अतिवादों को बचाते हुए काफी सुथरे ढग से हिंदी के कथा-साहित्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। मनोविज्ञान की शब्दावली में लेखक ने गेस्टाल्ट पद्धति का अवलंबन किया है जिसमे शाखाओ की अपेक्षा मूल का ग्रहण रहता है अर्थात् व्यक्तित्व का खंडश. नही वरन् समग्र रूप मे विश्लेषण रहता है। डॉ० देवराज की दृष्टि सर्वथा निर्भ्रांत तो नही कही जा सकती—कही-कही उन्होने सिद्धांतो का मिथ्यारोपण भी कर दिया है और अनेक स्थनो पर पाश्चात्य कथा-साहित्य का उल्लेख आवश्यकता से अधिक हो गया है। फिर भी हिंदी में नियमित रूप से मनोवैज्ञानिक आलोचना का यह अच्छा ग्रंथ है।

मनोविश्लेषण-शास्त्र का अवलंब ग्रहण करने वाले लेखको मे श्री इलाचन्द्र की कृति 'देखा-परखा' उल्लेखनीय है। इलाचन्द्रजी के विश्लेषण मे पर्याप्त गहनता रहती है और वे पूर्वाग्रह से मुक्त रहकर प्रबल शब्दो मे अपना मत अभिव्यक्त कर सकते हैं। उनकी दृष्टि मे अंतर्प्रवेश की क्षमता जितनी है, उतनी स्वच्छता नही है—स्रष्टा कलाकार की ताज़गी जितनी रहती है आलोचक का बौद्धिक अनुशासन उतना नही रहता। इस वर्ग के अन्य आलोचक श्री अज्ञेय अपने मे इतने डूब गए हैं कि उनके नवीन आलोचनात्मक लेखो मे विषय का वस्तुगत विवेचन नही मिलता वरन् उनके अपने मन की जटिल क्रिया-प्रतिक्रियाओ का आलेखन मात्र ही होता है। सब मिलाकर आलोचना की इस प्रणाली का जैसा विकास होना चाहिए था, वैसा नही हुआ। इसका कारण स्पष्ट है और वह यह है कि हिंदी मे मनोविज्ञान का व्युत्पन्न लेखक नई धारा—प्रयोगवाद—की ओर मुड गया है। प्रयोगवाद मे व्यक्ति-तत्त्व का अतिशय प्राधान्य है और स्वभावतः मनोविज्ञान का सबल उसके लिए अनिवार्य है। प्रयोगवाद के कतिपय नवीन लेखकों के पास अंतर्मन मे प्रवेश करने की क्षमता असंदिग्ध है परंतु अपने साहित्यिक पूर्वाग्रहो के कारण वे लेखक स्वस्थ-संतुलित दृष्टि से मानव-मन का समग्र रूप मे विश्लेषण करने के स्थान पर उसकी निविड़ताओ मे उलझने का प्रयत्न अधिक करते हैं। अतिव्यक्तिवादी होने के कारण यह साहित्य मूल को छोड़कर शाखाओ पर

ही केन्द्रस्थ हो जाता है—पूर्ण व्यक्तित्व की उपेक्षा कर उसकी खंड-प्रवृत्तियों में ही खो जाता है। परिणामतः इस नई आलोचना मे प्रतिभा के ज्योतिस्पर्श तो प्रचुर मात्रा मे मिल जाते हैं किंतु किसी समग्र जीवन-दर्शन और उस पर आश्रित साहित्य-दर्शन के अभाव मे यह आलोचना साहित्य का खड-विश्लेषण ही प्रस्तुत कर पाती है। श्री नलिनविलोचन शर्मा, डॉ० धर्मवीर भारती, श्री गिरिजाकुमार माथुर, डॉ० रघुवश आदि के आलोचनात्मक लेखो मे उपर्युक्त गुण और दोष स्पष्ट रूप से मिल सकते हैं। इस नए साहित्य के साथ विदेश के एक नवीन जीवन-दर्शन अस्तित्ववाद का नाम भी जाने-अनजाने संबद्ध किया जा रहा है। अस्तित्ववाद के सबसे समर्थ प्रतिपादक हैं फ्रासीसी विचारक सार्त्रे, जिन्होने किर्केगार्द से प्रेरणा प्राप्त कर इस शताब्दी के तीसरे-चौथे दशाब्द मे इस नवीन जीवन-दर्शन को दर्शन और साहित्य दोनो के क्षेत्र मे प्रतिफलित किया है। इस दर्शन का मूल आधार है मानव-अस्तित्व, जो जीवन का निरपेक्ष और एकमात्र सत्य है। इसका सूत्र है· 'अस्तित्व का आविर्भाव प्रयोजन से पहल होता है'—अत. अस्तित्व ही प्रमाण है। प्रयोजन, प्रेरणा आदि महत्तर तत्त्वो का निषेध करने वाला यह जीवन-दर्शन वस्तुतः अनास्था का ही दर्शन है—उच्चतर प्रेरणा के अभाव मे, ईश्वर और धर्म के किसी रूप की स्वीकृति से वचित केवल अस्तित्व को ही सिद्धि मानकर चलने वाला जीवन अपने मे खोया हुआ और विषण्ण बनकर रह जाता है। यह जीवन-दर्शन स्वभावतः अतिव्यक्तिवादी और नास्तिक जीवन-दर्शन है, जो काव्य मे कुठा और विचार मे निराशा का पोषण करता है।

स्वतंत्रता-पूर्व युग मे आलोचना के क्षेत्र मे प्रगतिवादी अथवा समाजशास्त्रीय आलोचना का बडा जोर था। भारतीय राजनीति मे समाजवाद के प्रचार के साथ भारतीय साहित्य मे भी समाजवादी दर्शन का प्रभाव बढ रहा था। साहित्य के अन्य अगो की अपेक्षा आलोचना मे यह प्रभाव अधिक सक्रिय रहा क्योकि मार्क्सवादी जीवन-दर्शन भी तो अनुभूतिपरक अथवा दर्शनपरक न होकर मूलत बुद्धिपरक या आलोचनात्मक ही रहा। हिंदी मे समाजवादी आलोचना का प्रमुख योगदान था—कल्याणवादी मूल्यों की पुन'प्रतिष्ठा। साहित्य मे आनदवादी मूल्यो और कल्याणवादी मूल्यो मे जाने-अनजाने एक प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा-सी चलती रहती है। द्विवेदी-युग मे जिस प्रकार रीति-काल के अतिशय रसवादी मूल्यो की प्रतिक्रिया मे लोकमगल का आग्रह सहसा प्रबल हो उठा था, उसी प्रकार सन् १९३७ के बाद छायावाद की अतर्मुखी रसदृष्टि के विरुद्ध प्रगतिवादी आलोचको ने बहिर्मुखी लोकदृष्टि का साग्रह उन्मेष किया। इसमे सदेह नही कि छायावाद के अपकर्ष-काल मे कल्पना-विलास के अतर्गत काव्य की स्वस्थ लोकमगल-भावना बहुत-कुछ विलीन-सी होने लगी थी और हिंदी कविता को स्वप्न से सत्य की ओर आकृष्ट करने की बडी आवश्यकता थी। इसकी पूर्ति प्रगतिवाद ने अशत की। किंतु प्रगतिवाद की सत्य-विषयक धारणा एकागी और अपूर्ण ही रही और उसी अनुपात से उसकी कल्याण-भावना भी। प्रगतिवाद के लिए सत्य केवल पदार्थ मे सीमित रह गया और कल्याण केवल भौतिक सुख-स्वास्थ्य का ही वाचक बनकर रह

गया। फलतः एक अतिवाद का निराकरण करने मे उसने दूसरे अतिवाद का प्रसार एवं प्रचार करना आरंभ कर दिया। उसने काव्येतर बहिरंग मूल्यो का आरोप इतनी हठ-धर्मिता के साथ किया कि काव्य का मूलधर्म ही बाधित हो गया। सन् '४७ के बाद प्रगतिवादी आलोचना सक्रिय तो रही किंतु इसका तेज मानो किसी ने छीन लिया। उसके आरंभिक उत्साह का परिपाक जिस स्वस्थ प्रौढ़ रूप मे होना चाहिए था वह नही हो पाया।

शिवदानसिंह चौहान 'आलोचना' मे हटते ही साहित्य के सक्रिय क्षेत्र से कुछ दूर से हो गये। उनकी पहली कृति 'प्रगतिवाद' का अधिकाश स्वतत्रता-पूर्व की रचना है—बाद की पुस्तक 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' स्वतत्र आलोचना-कृति की अपेक्षा पाठ्य-ग्रथ ही अधिक है। डॉ० रामविलास शर्मा उनकी अपेक्षा अधिक सक्रिय रहे हैं—'संस्कृति और साहित्य', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं' आदि उनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इनमे बहुत-से लेख तो '४७ के पहले के हैं और जो नये हैं उनमे भी प्रकारांतर मे घूमकर वे ही बातें प्राय वैसी ही असाहित्यिक भाषा मे दोहरायी गई हैं। डॉ० शर्मा का दुर्भाग्य यह है कि उनकी दृष्टि मूलतः राजनीतिक है, साहित्यिक नही। वे न केवल राजनीतिक मूल्यो को ही, वरन् राजनीतिक रीति-नीति और निम्न स्तर की राजनीतिक भाषा को भी साहित्य मे यथावत् ग्रहण करते हैं। उनकी अपेक्षा डॉ० रागेय राघव की दृष्टि अधिक साहित्यिक है। स्वय स्रष्टा कलाकार होने के नाते वे साहित्य के मर्म से अभिज्ञ हैं और इसलिए अपनी आलोचना मे उन्होंने साहित्य की आत्मा को प्राय. अक्षुण्ण रखा है। प्रगतिवाद का गंभीर अध्येता कदाचित् चौहान और उनके ग्रथो पर अधिक निर्भर करेगा। इस वर्ग के अन्य आलोचक श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त भी मार्क्स-वादी प्रतिमानो के आधार पर नवीनतम साहित्य का सिंहावलोकन करते रहे हैं, इधर नए आलोचको मे डॉ० नामवरसिंह सबमे अधिक प्राणवान् हैं।

ऐतिहासिक आलोचना के समर्थ प्रतिनिधि हैं डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी। स्व-तंत्रता के पूर्व और उसके पश्चात् भी इस क्षेत्र मे उनका ही योगदान प्रमुख है। द्विवेदी जी साहित्य को व्यापक सास्कृतिक जीवन का अग मानकर चलते हैं। आचार्य शुक्ल जहां साहित्य को केवल शिक्षित समुदाय के सास्कृतिक जीवन से संबद्ध कर देखते थे, वहा द्विवेदीजी समस्त जनसमुदाय के सास्कृतिक जीवन के साथ उसका अंतरंग सबंध स्थापित करते हैं। इस प्रकार साहित्य का आधार-फलक अत्यत विस्तृत हो जाता है, परंतु उसको संभालने योग्य पाडित्य और व्यापक मानववादी मूल्यो मे अटूट आस्था का संबल उन्हें प्राप्त है। स्वतत्रता के उपरांत इस विषय पर उनकी दो रचनाएं प्रकाशित हुई हैं · (१) नाथसंप्रदाय, (२) हिंदी-साहित्य का आदिकाल। इसमे संदेह नही कि यह उदार दृष्टि अपने-आप मे अत्यत श्लाघ्य है, परंतु मेरा मन इसके प्रति सर्वथा निश्शक नही हो पाता : सार्वजनिक जीवन की सपूर्ण वाङ्मयी अभिव्यक्ति 'साहित्य' कैसे मानी जा सकती है?—इस प्रकार की उदार दृष्टि साहित्य और असाहित्य के भेद को नहीं देख पाती, अत्यधिक विस्तार के मोह मे सूक्ष्म-दर्शन की शक्ति खो बैठना अधिक श्रेयस्कर नही माना जा सकता। मैं इसे प्रस्तुत आलोचना-

पद्धति की विशेष परिसीमा मानता हू। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनेक ग्रंथ अशत तथा डॉ० सत्येन्द्र का शोध-प्रबध 'ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन' इसी वर्ग के अंतर्गत आते है। इधर 'आलोचना' के विशेपाक मे प्रकाशित कतिपय लेख भी नये ढग की ऐतिहासिक आलोचना के सुदर उदाहरण थे।

अब स्वतत्रता-पूर्व आलोचना की चार अन्य शैलिया शेष रह जाती है जिनका विकास इस अवधि मे नियमित रूप से हुआ है। सबसे पहले शास्त्रीय पद्धति को लीजिए। यो तो इसका प्रवर्तन द्विवेदी-युग के आरभ मे ही हो गया था, किंतु वास्तविक स्वरूप शुक्लजी की व्यावहारिक आलोचनाओ मे ही आकर स्थिर हुआ। शुक्लजी ने संस्कृत काव्यशास्त्र का पुनराख्यान कर और पाश्चात्य आलोचना-सिद्धातो को अपने अनुरूप ढालकर हिंदी के लिए एक समन्वित आलोचना-शास्त्र का निर्माण किया और उसके प्रतिमानो के द्वारा हिंदी के अमरकाव्यो का सागोपाग विवेचन प्रस्तुत किया जो हिंदी मे शास्त्रीय आलोचना का आदर्श बना। इसी पद्धति का अवलंबन कर अनेक शास्त्रीय अध्ययन प्रकाशित हुए। इस परपरा मे स्वतत्रता के उपरात भी अनेक प्राचीन-नवीन कवियो के काव्यों का सर्वांगीण विवेचन किया गया और अनेक प्रामाणिक कृतियां सामने आयी। विशेष काव्यवादो तथा प्रवृत्तियो का विवेचन अब भी निरतर इसी पद्धति पर हो रहा है। शुक्लजी से प्रभावित किंतु स्वतत्र साहित्य-मूल्यो का अनुसरण करने वाले आलोचको मे प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रो० गुलाबराय और डॉ० देवराज का विशिष्ट स्थान है। प्रो० वाजपेयी ने काव्य की दार्शनिक भूमिका को साग्रह ग्रहण करते हुए भी काव्य के रोमानी मूल्यो को ही अतत. प्रमाण माना है—शुक्लजी की काव्य-दृष्टि को सास्कृतिक कह कर वस्तुत' वे उनके आभिजात्यवाद के प्रति विरोध प्रकट करते हुए अपने रोमानी दृष्टिकोण के लिए समर्थन प्राप्त करना चाहते हैं। प्रसाद, निराला तथा सूरदास का पक्ष लेकर उन्होने वास्तव मे काव्य के अंतरग तत्त्वो की ही प्रतिष्ठा की है। सन् १९४७ के बाद उनके तीन ग्रथ प्रकाशित हुए है। प्रगतिवाद के होहल्ला मे वाजपेयी जी कुछ डगमगा गये थे, किंतु अब वे फिर अपनी भूमि पर लौट आये हैं और सौष्ठववादी प्रतिमानो पर दृढ रह कर 'अकाव्य' के समस्त रूपो पर, चाहे वे प्रगतिवाद का फतवा लेकर आएं या प्रयोगवाद का, डटकर प्रहार कर रहे है। प्रो० गुलाबराय की प्रतिभा इस दशक मे निबंध-रचना मे अधिक सलग्न रही। यो तो उनकी एक अभिनव कृति 'अध्ययन और आस्वाद' अभी प्रकाशित हुई है परतु स्वतंत्र आलोचना की दृष्टि से उनके पूर्व-रचित ग्रंथो की अपेक्षा इसका महत्त्व अधिक नही है। इस युग मे जिन नये आलोचको के व्यक्तित्व उभर कर सामने आये है उनमे कदाचित् सबसे अधिक स्वस्थ-स्थिर दृष्टि डॉ० देवराज को प्राप्त है। डॉ० देवराज वृत्ति से दार्शनिक और स्वभाव से स्रष्टा साहित्यकार हैं। वे आलोचना मे छायावादी मूल्यो के विरोधी और आभिजात्यवादी मूल्यो के कायल है जो अमर साहित्य के अध्ययन से अनुगम-विधि द्वारा प्राप्त होते हैं।

अब हिंदी-आलोचना की दो प्रवृत्तियां शेष रह जाती है सैद्धातिक आलोचना और शोधपरक आलोचना, जिन्होने इस दशाब्द मे विशेप प्रगति की है। सैद्धातिक

आलोचना की परिपाटी हिंदी मे बहुत प्राचीन है। भारत की किसी आधुनिक भाषा मे इतना प्रभूत साहित्य उपलब्ध नही है। मराठी की शास्त्रीय परम्परा अत्यंत समृद्ध होती हुई भी इतनी प्राचीन नही है, तमिल आदि की परंपरा प्राचीन होने पर भी विकासशील नही रही। द्विवेदी-युग मे भारतीय काव्यशास्त्र पर अनेक प्रौढ ग्रथो की रचना हुई और उधर पाश्चात्य सिद्धातो की चर्चा भी नियमित रूप से होने लगी थी। आचार्य शुक्ल ने अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा दोनो का पुनराख्यान और यथावत् समंजन करने का सफल प्रयत्न किया। उन्होंने भारतीय सिद्धातो का पाश्चात्य मनोविज्ञान तथा आलोचनाशास्त्र के अनुसार आख्यान किया और पश्चिम के साहित्य-सिद्धातो को भारतीय काव्यशास्त्र की कसौटी पर परखा। इस प्रकार नये साहित्य के अनुरूप काव्य-शास्त्र का शिलान्यास हुआ। स्वतंत्रता के पश्चात् इस पद्धति का सम्यक् विकास हुआ। शुक्लजी और उनके युग की अपनी परिसीमाएं थी। उस समय हिंदी के लेखक का न तो पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र के साथ इतना घनिष्ठ संपर्क था जितना आज हो गया है, और न सस्कृत काव्यशास्त्र के ही ग्रथ उसके लिए सुलभ थे। आज हिंदी का यह अभाव बहुत-कुछ पूरा हो गया है। संस्कृत काव्यशास्त्र के प्राय: समस्त महत्त्वपूर्ण ग्रथो के विस्तृत हिंदी भाष्य आज सुलभ है : काव्यादर्श, काव्यालकारसूत्र, ध्वन्यालोक, वक्रोक्ति-जीवित, काव्यमीमासा, औचित्यविचारचर्चा, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, चद्रालोक, कुवलयानद, रसगंगाधर, अभिनवभारती, नाट्यदर्पण, अग्निपुराण का काव्य-शास्त्रीय अंश आदि तो हिंदी को उपलब्ध हो ही चुके हैं। हरिभक्तिरसामृतसिंधु आदि की व्याख्या भी प्रकाशित हो चुकी है। उधर सरस्वतीकंठाभरण, काव्यालंकार (भामह और रुद्रट), व्यक्तिविवेक आदि पर भी कार्य हो रहा है। इस प्रकार प्रायः समस्त संस्कृत काव्य-शास्त्र हिंदी मे अवतरित होता जा रहा है। हिंदी-अनुसधान-परिषद्, दिल्ली तथा चौखभा जैसी संस्थाएं तथा आचार्य विश्वेश्वर जैसे विद्वान् इस सदर्भ मे विशेष साधु-वाद के पात्र है। भारत की किसी भी आधुनिक भाषा मे इस दिशा मे व्यवस्थित कार्य नही हुआ, मराठी मे भी नही—किसी मे केवल ध्वन्यालोक ही है और किसी मे काव्य-प्रकाश अथवा साहित्यदर्पण मात्र। अधिकारी विद्वान् इधर पाश्चात्य काव्यशास्त्र की ओर भी बढे हैं, डॉ० देवराज उपाध्याय का 'रोमाटिक साहित्यशास्त्र', डॉ० लीलाधर गुप्त का 'पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धात', डॉ० एस० पी० खत्री के कई ग्रथ-विशेष-कर 'आलोचना इतिहास तथा सिद्धात', आदि इस दिशा मे उपयोगी प्रयास हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आदि ग्रथ 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', लांजाइनस के 'दि सब्लाइम', होरेस की 'आर्स पोएटिका' के हिंदी अनुवाद और 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परपरा' नाम से यूरोप के प्रतिनिधि आलोचको के सिद्धात-वाक्यो के संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। इस प्रकार सैद्धातिक समालोचना के क्षेत्र मे गत तेरह-चौदह वर्षों मे अभूतपूर्व प्रगति हुई है। आज का समालोचक केवल विवरण पढकर अथवा संदर्भ-ग्रथो के आश्रय से संस्कृत और पाश्चात्य सिद्धातो की चर्चा नही करता, उसका आधार पुष्ट और ज्ञान प्रामाणिक होता है। शुक्लजी के युग मे यह सुलभ नही था। उदाहरण के लिए स्वयं शुक्लजी के निबंध 'काव्य मे अभिव्यंजनावाद' को पढकर स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने

न क्रोचे को धैर्यपूर्वक पढा है और 'न वक्रोक्तिजीवित' का प्रामाणिक संस्करण ही उन्हे उपलब्ध था। आज का हिंदी-आलोचक इस अभाव से पीडित नही है।

शोधपरक आलोचना और भी अधिक सक्रिय रही है। हिंदी मे शोध-कार्य का आरभ जितनी मंथर गति से हुआ था, उसके विकास मे उतनी ही त्वरा आ गई है और गत दशक मे उसके परिमाण एवं क्षेत्र दोनो का विस्तार स्वयं ही अनुसधान का विषय बन गया है। तत्त्वदृष्टि से हिंदी अनुसधान की दो प्रमुख प्रवृत्तिया हैं—(१) तथ्यपरक, और (२) तत्त्वपरक, जो क्रमश. सफल अनुसधान के दो अनुबधो अर्थात् 'अनुपलब्ध तथ्यो का अन्वेपण' तथा 'उपलब्ध तथ्यो का नवीन आख्यान' के ही प्रोद्भास हैं। तथ्य की दृष्टि से हिंदी अनुसंधान मे अनेक प्रवृत्तियो का आकलन किया जा सकता है, सबमे पहले तो हम दो व्यापक वर्ग बना सकते हैं—भाषाविज्ञान-सबंधी शोध और साहित्य-विषयक शोध। इसके उपरात भाषाविज्ञान के क्षेत्र मे जहा विभिन्न धाराओ का अनुसधान किया जा सकता है, वहा साहित्य के क्षेत्र मे भी अनेक अत-प्रवृत्तियो का उद्घाटन सहज संभव है। इस क्षेत्र मे तीन आधारभूत प्रवृत्तिया हैं—ऐतिहासिक, वैयक्तिक और शास्त्रीय। ऐतिहासिक अनुसधान के अंतर्गत एक ओर हिंदी साहित्य के किसी कालखड का ऐतिहासिक विवेचन मिलता है, तो दूसरी ओर किसी साहित्य-विधा या साहित्य-संप्रदाय अथवा साहित्य-धारा की परपरा का भी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे विवेचन किया जा रहा है—और साथ ही सास्कृतिक तथा सामाजिक-राजनीतिक परिवेश का भी अध्ययन हो रहा है। वैयक्तिक अनुसंधान से अभिप्राय है कवि-लेखको का स्वतंत्र शोधपरक अध्ययन—सामान्य लेखको का अध्ययन सर्वांग होता है, महान् कवि-लेखको के एक-एक अग को लेकर भी अनुसंधान होता है। शास्त्रीय अनुसंधान की परिधि व्यापक है; उसके अतर्गत साहित्य के वस्तु-तत्त्व और कला-तत्त्व दोनो का अध्ययन अनेक शास्त्रो के प्रकाश मे किया जा रहा है, वस्तु-तत्त्व से सबद्ध शास्त्र हैं दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि, और कला-तत्त्व के सहायक शास्त्र है काव्यशास्त्र और सौदर्यशास्त्र आदि। इस प्रकार साहित्यिक प्रवृत्तियो के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, रसशास्त्रीय अध्ययन और उधर साहित्य-विधाओ के सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन अर्थात् उनके कला-रूपो के सौदर्य-तत्त्वो का अध्ययन, शास्त्रीय अनुसंधान के अतर्गत आते है। तीसरा वर्गीकरण पद्धतिमूलक भी हो सकता है, पद्धतिया सामान्यत तीन हैं—ऐतिहासिक, शास्त्रीय और वैज्ञानिक। ऐतिहासिक पद्धति मे प्राधान्य रहता है परिवेश एव परंपरा का और इसका मूलवर्ती दृष्टिकोण विश्लेषणात्मक तथा व्यक्तिपरक न होकर संश्लेषणात्मक एव सामाजिक होता है। शास्त्रीय पद्धति का आधार है शास्त्र जिसमे विश्लेषण प्रमुख रहता है; अनुसधाता की दृष्टि सिद्धातो के प्रकाश मे वस्तु और रूप का निरीक्षण-परीक्षण करती है। वैज्ञानिक पद्धति सामान्यत अनुसधान के सभी रूपो को बीधती हुई अपने वस्तुगत तथ्यग्राही दृष्टिकोण के कारण शेप दो से भिन्न हो जाती है—शास्त्रीय पद्धति से भिन्न यह निगमन की अपेक्षा अनुगमन का ही अवलव लेती है और साहित्य की विधियो तथा उपायो पर बहुत-कुछ निर्भर करती है।

हिंदी मे अनुसधान की प्राय: ये सभी प्रवृत्तिया-पद्धतिया लक्षित होती हैं और सभी पर प्रभूत सामग्री उपलब्ध है। अब तक लगभग २५० शोध-प्रबंधो पर उपाधि प्रदान की जा चुकी है जिसमे से आधे प्रकाशित हो चुके है और ५०० से भी अधिक विद्यार्थी विधिवत् अनुसधान कर रहे हैं। ये तथ्य केवल परिमाण की दृष्टि से ही किसी भी भाषा के विद्वान् को चौकाने के लिए पर्याप्त हैं। इसमे संदेह नही कि ये सभी ग्रथ आदर्श शोध के निदर्शन नही हैं—इनमें ऐसे ग्रथो की बहुत बडी संख्या है जो तथ्य-शोध और तत्त्व-शोध दोनो की दृष्टि से अपूर्ण हैं। परतु इसमे ऐसे प्रबंधों की संख्या भी कम नही है जिनका योगदान विद्या की वृद्धि मे अत्यय महत्त्वपूर्ण हैं। इनके द्वारा हिंदी साहित्य के विभिन्न अग-उपागो से सबद्ध पुष्कल सामग्री प्रकाश में आयी है और उनका सर्वांग मथन हुआ है। ज्ञानराशि का एक विशाल सागर हिंदी के विद्यार्थी के सामने आज लहरा उठा है।

हिंदी-साहित्य पर गांधी का प्रभाव

आरंभ—भारतीय रंगमंच पर गांधीजी का अवतरण—अपने पूर्ण उत्कर्ष के साथ—सन् १९२०-२१ मे प्रथम सत्याग्रह के समय हुआ। भारतीय इतिहास मे गांधी-युग का सीमाकन सन् १९२१ से १९३५ तक—या और अधिक व्यापक रूप मे सन् १९४७ तक किया जा सकता है। किंतु भारतीय साहित्य के क्षेत्र मे गुजराती के अतिरिक्त और किसी भाषा के साहित्य मे गाधी के नाम पर किसी युग का नामकरण नही हुआ। हिंदी मे कुछ ऐसा विचित्र सयोग हुआ कि गाधी-युग की सीमा एक अतिशय रोमानी युग—छायावाद-युग—के समानातर चलती रही—हिंदी-साहित्य के इतिहासकारो ने युग की दो प्रमुख साहित्य-प्रवृत्तियो—राष्ट्रीय-सास्कृतिक धारा और छायावादी काव्यधारा—के आधार पर, इसे गाधी-रवीद्र-युग नाम देने का प्रयास किया, किंतु यथार्थ के निकट होने पर भी वह स्वीकार्य नही हुआ।

गांधी के प्रभाव का माध्यम और स्वरूप—गाधी का प्रभाव हिंदी-साहित्य पर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष, दोनो रीतियो से पडा। प्रत्यक्ष प्रभाव के माध्यम थे : (क) व्यक्तित्व और व्यक्तिगत उपलब्धिया; (ख) नैतिक आदर्श; (ग) सामाजिक-राजनीतिक सिद्धात एवं कार्यक्रम। अप्रत्यक्ष प्रभाव का संधान दो प्रकार से किया जा सकता है—(क) जीवन और साहित्य के मूल्यो की नवीन व्याख्या के रूप मे; (ख) जीवन और साहित्य मे लक्षित क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप मे।

प्रत्यक्ष प्रभाव

गांधी के विराट् व्यक्तित्व से प्रेरित होकर भारतीय भाषाओ मे—विशेषकर हिंदी मे—काफी काव्य-रचना हुई। उनके व्यक्तित्व मे—कठोर इद्रिय-निग्रह द्वारा अर्जित—आत्मिक शक्ति, त्याग एव अपरिग्रह, सत्य-निष्ठा, आत्म-बलिदान, अह का समाजीकरण, राग का उन्नयन आदि अनेक तप:पूत गुण थे, जिनका देश के अधिकाश प्रबुद्ध कवियो की चेतना पर अनिवार्य प्रभाव पडा। हिंदी मे प्रसाद और निराला—इन दो महत्त्वपूर्ण अपवादो को छोडकर, मैथिलीशरण गुप्त, पंत, महादेवी, सियारामशरण गुप्त, नवीन, दिनकर, बच्चन, नरेन्द्र, अचल, भवानीप्रसाद मिश्र आदि अनेक कवि पूरे दो दशको तक उनकी व्यक्ति-गरिमा का शतशत कविताओ मे स्तवन कर अपनी वाणी को पवित्र करते रहे। उन्होने श्रद्धाभरित प्रगीत लिखे, लंबी विचार-कविताएं लिखी, जिनमे से अनेक कृतियां कलात्मक दृष्टि से निश्चय ही मूल्यवान हैं।

कुछ महाकाव्यों और खंडकाव्यों की भी रचना हुई—जैसे पं० गोकुलचंद्र शर्मा का 'गांधी-गौरव', सोहनलाल द्विवेदी का 'सेवा ग्राम', रघुवीरशरण मित्र का 'जन-नायक' आदि। किंतु, इनमें विषय की गरिमा का अभाव है। सुमित्रानंदन पंत के विशाल ग्रंथ 'लोकायतन' मे गांधी एक जीवंत पात्र के रूप मे अवतरित होते हैं, किंतु वहां भी कवि गांधी के व्यक्तित्व को उसकी संपूर्णता में काव्यमूर्त नही कर सका। गांधी का बलिदान वर्तमान युग की सबसे प्रबल घटना है, जो महाकाव्य की पूर्ण गरिमा से मंडित है। रवीन्द्रनाथ ने अपने एक लेख में महाकाव्य के स्वरूप का निर्वचन इस प्रकार किया है :

> "इसी प्रकार मन में जब एक महत् व्यक्ति का उदय होता है, सहसा जब एक महापुरुष कवि के कल्पना-राज्य पर अधिकार पा जाता है मनुष्य-चरित्र का उदार महत्व मनश्चक्षुओं के सामने अधिष्ठित होता है, तब उसके उन्नत भावों से उद्दीप्त होकर, उस परमपुरुष की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के लिए, कवि भाषा का मंदिर निर्माण करते हैं। उस मंदिर की भित्ति पृथ्वी के अंतर्देश में रहती है, और उसका शिखर मेघो को भेदकर आकाश में उठता है। उस मंदिर में जो प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है, उसके देव-भाव से मुग्ध और उसकी पुण्य किरणो से अभिभूत होकर, नाना दिग्देशों से आ-आकर लोग उसे प्रणाम करते हैं। इसी को कहते हैं महाकाव्य।"

उपर्युक्त संकल्पना के अनुसार मेरा विश्वास है कि आधुनिक विश्व के इतिहास में न गांधी से अधिक महाकाव्योचित चरित-नायक हुआ है और न उनके बलिदान से अधिक महाकाव्योचित घटना ही घटी है।—किंतु, इस प्रकार के महाकाव्य की रचना हिंदी मे अभी तक हुई नही है। वास्तव में गांधी के व्यक्तित्व को, जो परंपरासिद्ध रम्य-उदात्त चरित्र से भिन्न हैं, कला में ढालने के लिए एक विशेष प्रकार की काव्य-प्रतिभा की अपेक्षा है। परंपरागत काव्य-नायक के रमणीय चरित्र से भिन्न, गांधी के तपोनिष्ठ व्यक्तित्व के अनगढ़ तत्त्वों से कला-प्रतिमा का निर्माण असामान्य प्रतिभा के द्वारा ही संभव है। गांधी के संदर्भ मे 'सौंदर्य' की अपने प्रचलित अर्थ मे—लालित्य के अर्थ मे, सार्थकता नही रह जाती। जिन कवियों ने गांधी की खादी की कोपीन पर रेशम से फूल काढ़ने के प्रयास किये हैं, उनकी रचनाएं हास्यास्पद बन गयी हैं। बुद्ध के व्यक्तित्व की वह जन्मजात आभा, जिसने उसे एक सहज कलात्मक परिवेश प्रदान कर दिया था, गांधी के व्यक्तित्व में कम-से-कम सामान्य कलाकार के लिए सुलभ नही थी। महान रचना के लिए अभिजात्यवादी आलोचक काव्य-वस्तु की गरिमा पर बल देता है : उसकी मान्यता है कि महान काव्य-वस्तु में ऐसी घटनाओं का समावेश होना चाहिए, जिनका प्रभाव देश और काल दोनों की दृष्टि से दिगंतव्यापी हो, और जो स्थायी नैतिक मूल्यों के द्वारा अनुशासित हो। इधर, स्वच्छंदतावादी आलोचक का आकर्षण लोकातिक्रांत रूपो के प्रति रहता है। गांधी की जीवन-गाथा में उपर्युक्त दोनों ही तत्त्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। किंतु जन-सामान्य के साथ उन्होने इस प्रकार तादात्म्य कर लिया था कि उनके जीवन और व्यक्तित्व के काव्यमय तत्त्वों का संधान

करने के लिए कलाकार के लिए गहरे मे पैठना जरूरी हो जाता है। अनेक लेखकों ने गाधी के छोटे-बडे जीवनचरित लिखे, कुछ प्रख्यात लेखको ने नाटक और उपन्यास लिखे जो उनके जीवन पर प्रत्यक्ष रूप मे आधृत है। इस प्रसंग मे लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक 'मृत्युञ्जय' का उल्लेख किया जा सकता है। सेठ गोविन्ददास ने 'राम से गाधी' नाटक लिखा और फिर 'गाधी-युग पुराण' का बृहद् अनुष्ठान पूरा किया। इन कृतियो मे साहित्यिक गुणो का अभाव नही है, परंतु इनमे से कोई भी विषयवस्तु के साथ न्याय नही करती।

गांधी द्वारा प्रस्तुत सत्य-अहिंसा-सिद्धातो की व्याख्याएं हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओ के कथा-साहित्य और नाटको मे कई दशाब्दो तक निरतर प्रतिध्वनित होती रही। प्रेमचद पर गाधी का प्रभाव प्रायः अत तक बना रहा। उनके अनेक अमर पात्र—'प्रेमाश्रम' का प्रेमशंकर, 'रंगभूमि' का सूरदास और 'गोदान' का होरी भी अकसर गाधी की भाषा बोलते हैं। उग्र के नाटक के 'ईसा' गाधी के ही प्रतिरूप है। शैव आनंदवाद मे अटूट आस्था के कारण जयशकर प्रसाद ने बुद्ध के समान गाधी के भी प्रभाव से दूर रहने का सचेष्ट प्रयास किया, किंतु फिर भी उनके कुछ पात्र, जैसे राज्यश्री आदि, गाधी के रग मे पूरी तरह रगे हुए हैं।

इसी प्रकार, गांधी के रचनात्मक कार्यक्रमो की, जिनको कि बाद मे उन्होने सर्वोदय मे समाहित कर दिया था, हिंदी की सैकडो कहानियो, उपन्यासो, नाटको और कथाकाव्यो मे विस्तार से चर्चा हुई है। अनेक कृतियों की कथावस्तु की संरचना ही इनके आधार पर हुई है—यहा तक कि प्राचीन कथानक भी इनसे अछूते नही रहे। 'साकेत' के नागरिक राम-वन-गमन के अवसर पर बाकायदा 'सत्याग्रह' करते हैं। 'कामायनी' की श्रद्धा तकली का प्रयोग करती है और हिंसा का सतर्क विरोध करती है। सर्वोदय-सिद्धात के प्राय. सभी कार्यक्रमो—अछूतोद्धार, नारी-मुक्ति, ग्राम-सुधार, कुटीर-उद्योग-विकास आदि का समावेश हिंदी के अनेक साहित्य-ग्रंथो मे प्रत्यक्ष रूप से हुआ है।—उदाहरण के लिए, मैथिलीशरण गुप्त के पद्य-नाटक 'अनघ' मे अहिंसा का प्रतिपादन है, रामनरेश त्रिपाठी के खडकाव्य 'पथिक' और 'स्वप्न' मे राष्ट्रीय संग्राम के खडचित्र है, हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक 'रक्षा-बंधन' तथा 'स्वप्न-भंग' हिंदू-मुस्लिम-एकता की भावना का समर्थन करते है, सियारामशरण गुप्त ने अपने काव्य तथा गद्य-कृनियो मे नारी-मुक्ति, हरिजन-समस्या तथा अहिंसा आदि का प्रतिपादन किया है, और मैथिलीशरण गुप्त की एक परवर्ती रचना 'अजित' स्वतत्रता-संग्राम का सक्षिप्त इतिवृत्त प्रस्तुत करती है। इन कार्यक्रमो का प्रभाव हमेशा अच्छा ही पडा हो, यह जरूरी नही है। रचना की कलात्मक अन्विति मे वे प्राय. बाधक ही हुए हैं, किंतु इसके प्रभाव से मुक्त रहना उस युग के साहित्यकार के लिए असभव हो गया है।

भारत की राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कर गाधीजी ने हिंदी का बहुत बड़ा उपकार किया। राष्ट्रभाषा के स्वरूप की कल्पना राष्ट्र के स्वरूप के अनुरूप ही हो सकती थी; अत. उनकी हिंदी 'हिंदुस्तानी' का ही पर्याय थी। उनका दृढ विश्वास था कि राष्ट्रभाषा का आधार व्यापक होना चाहिए और उसमे भारत की मानसिक संस्कृति

के विविध तत्त्वो को प्रतिफलित करने की क्षमता होनी चाहिए। इसकी परिणति दो रूपो मे हुई। एक तो इससे हिंदी की एक जीवंत शैली का जन्म हुआ, जिसका प्रेमचंद जैसे समर्थ लेखको ने सम्यक् विकास किया। दूसरी ओर, हिंदी-हिंदुस्तानी का विवाद उठ खड़ा हुआ जिसने, कुछ राजनीतिक विचारको के अनावश्यक उत्साह और कृत्रिम प्रयासो के फलस्वरूप, उग्र रूप धारण कर लिया। वास्तव मे 'हिंदुस्तानी' की स्वरूप-कल्पना ही सदोष थी, क्योकि उसमे प्रादेशिक आधार के स्थान पर जातीय आधार को प्रमुखता दी गयी थी। भाषा के संदर्भ मे जाति की अपेक्षा प्रदेश का महत्त्व अधिक होता है। हिंदुस्तानी की रूप-रचना के मूल मे यह धारणा थी कि सभी हिंदुओ की भाषा हिंदी है और मुसलमानो की उर्दू, और दोनो के मिश्रण से एक ऐसे राष्ट्र की माध्यम भाषा का निर्माण किया जा सकता है जिसमे हिंदू-मुसलमानो का बहुमत हो। कहने की आवश्यकता नही कि इस प्रकार भाषा का आधार व्यापक न बनकर सीमित हो गया—उसकी परिधि उत्तर-पश्चिमी भारत तक ही सीमित होकर रही और शेष भूभाग की उपेक्षा हो गयी, जिसकी योजक भाषा संस्कृत थी। इस विवाद के कारण हिंदी की स्वाभाविक प्रगति मे बाधा पडी और अंत मे हिंदी के लेखको ने भाषा के संबंध मे गांधीजी के प्रति 'सविनय अवज्ञा' की नीति ग्रहण करना ही श्रेयस्कर समझा। लेकिन, फिर भी, हिंदी के प्रचार-प्रसार मे गांधीजी के महत्त्वपूर्ण योगदान का अवमूल्यन करना कृतघ्नता होगी। गांधीजी के अलावा इतनी ताकत किसी और मे नही थी कि हिंदी को भारत जैसे विशाल देश मे, जहा अनेक समृद्ध भाषाएं हो, योजक भाषा के पद पर प्रतिष्ठित कर सके। हिंदी के इस सार्वदेशिक महत्त्व का उसके भाषिक स्वरूप के विकास और साहित्यिक समृद्धि, दोनो पर ही अनिवार्य प्रभाव पड़ा।

अप्रत्यक्ष प्रभाव

गांधी का अप्रत्यक्ष प्रभाव अधिक सूक्ष्म और गहन था—साथ ही वह कला की मूल चेतना के अधिक अनुकूल भी था। कला के संबंध मे उनके विचार सौंदर्य-सिद्धांत के इतने अधिक विपरीत थे कि उनके जीवन-दर्शन या कार्य-कलाप से प्रत्यक्ष प्रेरणा प्राप्त कर शायद एक भी महान ललाकृति की रचना नही हुई। उनका दृष्टिकोण शुद्धतावादी था, जिसके अनुसार लोकहित के अतिरिक्त कला का कोई अन्य मूल्य नही था। कला के विषय मे उनके विचार वे ही थे जो रस्किन और टाल्सटाय के—किंतु भाषा का भेद था। रस्किन और टाल्सटाय ने जो बात कला-समीक्षक अथवा कलाकार की भाषा मे कही थी, गांधी ने उसे सुधारक की सीधी अभिधात्मक भाषा मे रख दिया। कहने का अभिप्राय है कि टाल्सटाय या रस्किन के नैतिक दृष्टिकोण के मूल मे जहां गहरी कलात्मक चेतना विद्यमान थी, वहा गांधी के दृष्टिकोण के मूल मे व्यावहारिक मानवतावाद की प्रत्यक्ष प्रेरणा थी। इस प्रसंग मे वे सीधी-सपाट भाषा का प्रयोग करते हैं : कला-विषयक वक्तव्यो मे उन सूक्ष्म-गहन वचन-भंगिमाओ तथा व्यंजनाओ का एकांत अभाव है, जिनका प्रयोग उन्होने अपने सत्य और अहिंसा-

सिद्धांतो के विवेचन-विश्लेपण मे बडे कौशल के साथ किया है। इसीलिए उनके जीवन-दर्शन या आचार-नीति की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति प्राय: कलात्मक गरिमा से वंचित रही है और यही कारण है कि हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओ के सौदर्यचेता कवि-कलाकार, गाधी के व्यक्तित्व के प्रति असीम श्रद्धा रखते हुए भी, रवीन्द्रनाथ या श्रीअरविंद के प्रति आकृष्ट होते रहे है। सत्य, शिव, सुन्दरं के शाश्वत त्रिक मे, जिसमे अध्यात्म-दर्शन और सौदर्यशास्त्र—दोनो का सार निहित है, गाधी का पूरा बल सत्य पर ही था। शिव का भी उनके दर्शन मे उचित महत्त्व था, क्योकि सामाजिक-राजनीतिक नेता होने के कारण वे नैतिक आदर्शो का अवमूल्यन नही कर सकते थे—इसलिए जब वे कहते थे कि शिव और सत्य मे कोई भेद नही है तो वे गंभीर तत्त्व-विवेचन न कर सामान्य व्यवहार की ही बात करते थे, अर्थात् वे उच्चतर दार्शनिक भूमिका पर ही नही वरन् व्यावहारिक स्तर पर भी दोनो मे अभेद मानते थे। किंतु, जब वे सत्य और सौदर्य के अभेद की बात करते थे तो उनकी मान्यता एकपक्षीय होती थी।[1] सौंदर्यचेता कवि जहा आनदविभोर होकर गा उठा था कि 'सौदर्य ही सत्य है और सत्य ही सौंदर्य है', वहा सत्य के इस साधक के लिए उसका उत्तरार्ध ही मान्य था : अर्थात् गाधीजी यह तो निर्विवाद रूप से मानते थे कि सत्य ही सौंदर्य है, किंतु यह मानना उनके लिए कठिन था कि सौदर्य ही सत्य है। कलाकार की दृष्टि मे सौदर्य के ऐसे अनेक रूप हो सकते थे जो उन्हे स्वीकार्य नही थे— अथवा जिन्हे वे सुदर मानने को तैयार नही थे। इस प्रकार मेरा विचार है कि उनकी सौदर्यविषयक अवधारणा उतनी परिपूर्ण नही थी जितनी कि सत्य की सकल्पना। और यह वास्तव मे, गाधी जैसे तपोनिष्ठ साधक की सहज परिसीमा थी जिसने अपने जीवन-दर्शन की मूल प्रेरणा निरानदवादी जैन-दर्शन या मध्ययुग के निर्गुण सतो से प्राप्त की थी। सिद्धात रूप मे वे भी साहित्य को आत्माभिव्यक्ति ही मानते थे,[2] किंतु 'आत्म' शब्द का प्रयोग वे अधिक गंभीर अर्थ मे—उसके मूल अर्थ मे ही करते थे। 'आत्म' शब्द उनके लिए 'चित्' का पर्याय था, ऐंद्रिय मानसिक चेतना या जैविक व्यक्तित्व का नही अर्थात् उनके मत से साहित्य लेखक के रागात्मक व्यक्तित्व की नही, वरन् शुद्ध चित्-तत्त्व की ही अभिव्यक्ति था। इस प्रकार नैतिक गुण और काव्य-गुण मे अभेद करने के कारण[3] वे कला या साहित्य का सही परिप्रेक्ष्य मे आकलन नही कर सके, और इसीलिए साहित्य तथा कला पर उनका प्रत्यक्ष प्रभाव सीमित ही रहा।

गाधी का वास्तविक योगदान जीवन और साहित्य के मूल्यो की पुनर्व्याख्या मे निहित है। उदाहरण के लिए उन्होने 'सत्य' को एक नयी अर्थवत्ता प्रदान की। उनसे पहले सत्य के दो अर्थ थे—या तो वह प्रत्यक्ष अनुभव एव तर्क द्वारा सिद्ध वस्तुगत यथार्थ के रूप मे गृहीत था, या फिर ये ऐंद्रिय विकारो से मुक्त चिन्मय अनुभूति के

१. 'विद्यार्थियो से', पृ० १२
२ 'गाधी साहित्य'—खड १०, पृ० १८५
३. 'विद्यार्थियों से', पृ० १३

रूप में। दूसरे शब्दो में, या तो वह प्रत्यक्षवादियों द्वारा परिभाषित मूर्त पदार्थ का प्रतीक था या भावुक भक्तो की तरल भावना का। गाधी ने सहजानुभूति के साथ सबद्ध कर उसे सूक्ष्म-गहन अर्थ प्रदान किया और वह एक स्थिर धारणा न रहकर गत्यात्मक अनुभव बन गया। मानव-तत्त्व का समावेश कर गांधी ने उसमे हृदय की ऊष्मा का संचार कर दिया और अब वह एक धारणा मात्र न रहकर मानव-सत्य का पर्याय बन गया। सत्य ही उनके लिए ईश्वर था—अर्थात् वह जड-चेतन सृष्टि मे व्याप्त विश्वात्मा का प्रतीक था। वे सत्य को पूर्ण और अखंड सत्ता मानते थे जिसमे सभी प्रकार के द्वंद्व समाहित हो जाते हैं।—जीवन और जगत की इस अखड एवं परिपूर्ण संकल्पना का तत्कालीन साहित्य पर गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा। आगे चलकर यही सकल्पना सर्वोदय-दर्शन मे पल्लवित हुई। प्रेमचद का व्यापक जीवन-दर्शन, मैथिलीशरण गुप्त द्वारा प्रस्तुत हिंदू धर्म का व्यापक स्वरूप इस समग्र दृष्टि से काफी प्रभावित हैं। इसका प्रभाव उन विराट् चरित्रो पर भी परिलक्षित है जो उस युग के उपन्यासो और नाटको के संपूर्ण कथानको को व्याप्त किये हुए हैं। गाधी ने जिस अदम्य निष्ठा के साथ अपने साहित्य में सत्य की व्याख्या की और जीवन मे उस पर आचरण किया उससे वीरता को एक नया अर्थ और आयाम प्राप्त हुआ। वीरकर्म आक्रामक उत्साह का पर्याय न रहकर निर्भयता की भावना का पर्याय बन गया, जो सत्य के प्रति बद्धमूल आस्था से प्राप्त होती है। इसी प्रकार काव्यगत वीररस के लक्षण मे भी संशोधन हुआ। युयुत्सा का भाव अब वीररस का स्थायी नही रहा, युद्ध के अहिंसक अवरोध का उत्साह—बलिदान का उत्साह ही—अब वीररस का आधार बन गया।

इसी प्रकार, अहिंसा के संबंध मे भी गांधी की मौलिक प्रकल्पना का भारतीय साहित्य पर दूरगामी प्रभाव पडा। उन्होने अहिंसा को अभावात्मक धारणा के रूप मे नही, वरन् भावात्मक प्रवृत्ति के रूप मे परिभाषित किया : उनकी अहिंसा वास्तव मे वैर-त्याग मात्र न होकर परदुःखकातरता की पर्याय है। इस अहिंसा के प्रचार से जीवन और साहित्य मे मानव-करुणा की भावना की एक नये रूप मे प्रतिष्ठा हुई। अहिंसा को भी गाधीजी ने आध्यात्मिक साधना के रूप मे ही ग्रहण किया—वे अहिंसा को आत्मशुद्धि का उपाय मानते थे, जिससे अततः समस्त वातावरण शुद्ध हो जाता है। यह आत्म-पीड़ा का दर्शन था—अहकार को द्रवीभूत करने की प्रक्रिया थी—जिससे साहित्य के क्षेत्र मे करुणा का प्रतिपादन अधिक समृद्ध और परिष्कृत रूप मे हुआ। उस युग के—और बाद के भी, हिंदी साहित्य मे करुणा के अत्यत विदग्ध चित्र मिलते हैं। मेरा विचार है कि गाधी का अपना अहं अत्यत प्रबल था और उनकी अदम्य इच्छा-शक्ति उसी का प्रतिफलन थी, किंतु सिद्धाततः उनका विश्वास यह था कि मानव की मुक्ति अहं के निषेध मे—या कहूँ कि मानवता मे उसके विलयन मे ही निहित है। अत. अपने दीर्घ सार्वजनिक जीवन मे वे निरतर इसी के लिए साधना करते रहे और ज़ाहिर है कि यह साधना निश्चय ही कृच्छ्र साधना थी। अहं के विगलन की यह कृच्छ्र साधना तत्कालीन कथा-साहित्य के अनेक प्रबल चरित्रो मे लक्षित होती है—

हिंदी के अनेक कलाकारो ने इसे विभिन्न प्रकार से अपनी कालजयी रचनाओ मे प्रतिबिंबित किया है। प्रसाद के अनेक प्रमुख पात्र, जैसे स्कदगुप्त, चाणक्य, देवसेना; प्रेमचंद के होरी, विनय तथा प्रेमशंकर आदि; उधर मैथिलीशरण गुप्त की यशोधरा अपने-अपने ढंग से इसी द्वंद्व का प्रतिरूपण करते है।—यहा तक कि अज्ञेय जैसे गाधी-विरोधी कलाकार का शेखर भी इस सक्रामक प्रभाव से मुक्त नही है।

उस युग के काव्य, नाटक तथा कथा-साहित्य—सभी मे अकित प्रेम-प्रसंगो मे भी इस आध्यात्मिक पीडा का स्पदन मिलता है। इस प्रेम मे जैविक प्रवृत्ति के परि-तोष के स्थान पर, राग का परिष्कार एवं उन्नयन—और तज्जन्य पीडा की अभि-व्यक्ति ही मिलती है। सियारामशरण गुप्त जैसे लेखक मे उन्नयन की यह प्रक्रिया सीधी-सरल है· उसमे किसी प्रकार की जटिलता या ग्रथिया नही मिलती—उनकी कृतियो मे यह उन्नयन सामाजिक-नैतिक विधान के अतर्गत ऋजु पद्धति से घटित होता है। लेकिन शरत् और जैनेन्द्र जैसे कलाकार की रचनाओ मे, अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म-प्रखर मेधा की धार पर चढकर, उसका रूप अत्यंत जटिल हो जाता है। शरत् और जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासो मे मन के काम और तन के काम मे बारीक भेद करते हुए, काम-वृत्ति के सूक्ष्म-गहन विश्लेषण के आधार पर दापत्य-जीवन की नैतिकता को एक नवीन परिभाषा दी है। इन उपन्यासो मे काम के स्तर पर, मन की गहरी पीडा का चित्रण किया गया है। इनके प्रमुख पात्र—जो अधिकतर नारी-पात्र ही है—वैवाहिक नैतिकता की रक्षा करने के लिए निरतर अपनी प्रखर काम-वृत्ति का दमन करते रहते हैं और कई बार शारीरिक स्तर पर विफल हो जाने के बाद भी, मानसिक स्तर पर दापत्य-धर्म के निर्वाह के प्रति उनका आग्रह बना रहता है। इस बात की काफ़ी सभावना है कि जैनेन्द्र ने अपने कथानको मे आत्मशुद्धि के जिन प्रसगो की सृष्टि की है उन्हे गाधी की आचार-सहिता मे कोई स्थान न मिल पाता, फिर भी इसमे सदेह नही है कि उनके प्रेरक चिंतन की दिशा यही है, हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओ के कथा-साहित्य मे ऐसे अनेक जीवत नारी-पात्र हैं, जिनका मूल प्रभाव काम-चेतना के उन्नयन की पीडा पर ही निर्भर करता है।

गाधी का व्यक्तित्व अतर्विरोधो का पुज था। उनकी सत्य और अहिंसा की परिभाषाओ मे प्रबल अंतर्विरोध मिलता है। वे सत्य को शाश्वत और अखड मानते थे, फिर भी जीवन-भर उसके साथ प्रयोग करते रहे। अहिंसा का अर्थ ही अभावात्मक है, परंतु उन्होने उसे भावात्मक रूप मे स्वीकार किया और एक ऐसा व्यापक अर्थ प्रदान कर दिया कि कुछ परिस्थितियो मे हिंसा के साथ भी उसकी संगति बैठ सकती है। जीवन भर वे अपने देश की जनता के भौतिक सुख-साधनो के लिए लड़ते रहे, लेकिन सिद्धात मे भौतिक समृद्धि का विरोध करते थे। अतिम क्षण तक वे निष्ठावान् हिंदू बने रहे हिंदू के रूप मे ही जिये और हिंदू के रूप मे ही मरे, पर सर्वधर्म-समभाव का निरतर प्रचार करते थे। सिद्धात-रूप से वे सत्य-रूप ईश्वर—निर्गुण ब्रह्म—को ही मानते थे, किंतु दैनिक जीवन मे सामूहिक प्रार्थना द्वारा भगवान के अनुग्रह की याचना करते थे; अपने समस्त कार्यक्रम को अत्यंत बुद्धिसम्मत प्रणाली से आयोजित

करते थे, पर निर्णय के लिए आत्मा की आवाज पर निर्भर रहते थे, वर्णाश्रम-धर्म मे उनकी आस्था थी, किंतु सिद्धात तथा व्यवहार दोनो मे जाति-प्रथा के प्रबल विरोधी थे, संन्यासी का जीवन व्यतीत करने पर भी, पारिवारिक संबंधो का निर्वाह अत तक करते रहे; विवाह-संस्था का पूर्णतः समर्थन करने पर भी ब्रह्मचर्य का प्रचार करते थे। कट्टर समाजवादी होने पर भी पूजीपतियो के मित्र थे—जीवन-भर लोकतंत्र के लिए सघर्ष करते रहे, परतु राजतन्त्र के विरोधी नही थे। इन अंतर्विरोधो के कारण उनका चरित्र अत्यंत जटिल, और अनेक व्यक्तियो के लिए रहस्यमय बन गया था। वास्तव मे ये अंतर्विरोध पुनरुत्थान के युग मे भारत के सामाजिक तथा सास्कृतिक जीवन मे ही विद्यमान थे और गाधी ने अपनी अत्यत व्यापक सवेदना के द्वारा, जो भारतीय जनता की सामूहिक चेतना के साथ तदाकार हो चुकी थी, इन्हे अपने व्यक्तित्व मे अतर्भुक्त कर लिया था।—लेकिन उनका गौरव यह था कि उन्होने इन अतर्विरोधो का समाधान कर भारतीय जीवन के विसवादी स्वरो मे सामजस्य स्थापित किया। युग के इन अत-र्विरोधो और युगपुरुष द्वारा इनके समाधान के उस उदात्त सघर्ष का भारतीय साहित्य पर गहरा प्रभाव पडा है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कला-सर्जना की प्रक्रिया भी - प्राय. इसी प्रकार की होती है। हमारे महान् कलाकार भी, विशेषकर वे कलाकार जो उदात्त जीवन-मूल्यो से प्रतिबद्ध थे, नवजागरण के उस युग मे, भारतीय मानस के अंतर्विरोधो को कलात्मक अन्विति मे समाहित करने का प्रयास कर रहे थे। गांधीजी जो कार्य सामाजिक-राजनीतिक स्तर पर कर रहे थे, भारत के युगद्रष्टा कवि-लेखक-कथाकार उसे कलात्मक स्तर पर सिद्ध कर रहे थे। गाधीजी ने उन्हे केवल प्रेरणा ही प्रदान नही की वरन् प्रविधि-प्रक्रिया का भी निर्देशन किया। भारतीय साहित्य के विकास मे उनका यह अपूर्व योगदान था, और जब तक गाधी से बड़ा व्यक्तित्व अपने देश मे उत्पन्न नही होता, तब तक इससे अधिक गहन और व्यापक प्रभाव की कल्पना नही की जा सकती।

इस प्रकार, गांधी ने भारतीय सस्कृति और साहित्य मे बढ़ते हुए भौतिक मूल्यो के विरुद्ध जीवन के शाश्वत तथा अतरंग मूल्यो की पुन प्रतिष्ठा की। यह ठीक है कि जीवन के शाश्वत मूल्य उनसे पहले भी विद्यमान थे, किंतु इनकी अर्थवत्ता नष्ट हो चुकी थी। गाधी ने इन्हे युग की आवश्यकताओ के अनुरूप नया अर्थ प्रदान किया। उन्होने अपने युग की सभी सामयिक समस्याओ पर ध्यान केंद्रित किया, परंतु उनका समाधान सत्य और सदाचार के चिरतन सिद्धातो के अनुसार ही प्रस्तुत किया। सत्य भौतिक तथ्य न होकर आध्यात्मिक अनुभव है; प्रेम सत्य है और घृणा असत्य है; शाति मानव-जीवन की प्रकृति है और सघर्ष विकृति; मनुष्य स्वभावतः सदय है; लोकोत्तर शक्ति तथा मानवता मे आस्था जीवन का मौलिक सिद्धात है : ये सभी धारणाएं भारतीय दर्शन और संस्कृति मे परंपरा से चली आ रही थी। गांधी ने इन्हे जीवंत अनुभूतियो का रूप दिया, जिनके आधार पर आस्थावान् कलाकारो ने स्थायी कला की सृष्टि की।

गाधी की कार्य-प्रणाली और विचार विवाद से मुक्त नही थे। उनका तीव्र

विरोध भी हुआ। हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओ मे ऐसी अनेक रचनाएं है, जिनमे बड़ी ही निर्ममता के साथ गाधी के विकृत चित्र अकित किये गये है और उनके सिद्धातो तथा कार्यो का उपहास किया गया है। हिंदी के प्रसिद्ध मार्क्सवादी लेखक यशपाल ने, जो गाधीवाद की मृत्यु से पहले ही 'गांधीवाद की शवपरीक्षा' नामक पुस्तक की रचना कर चुके थे, विभाजन के बाद अपने प्रबल उपन्यास 'झूठा सच' मे और भी क्रूरता के साथ गाधी-दर्शन पर प्रहार किया। इसमे अपनी पूरी प्रतिभा के ज़ोर से उन्होने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि गाधी निरतर जिस 'सच' का प्रचार करते रहे वह उनके जीवन-काल मे ही झूठा साबित हो गया और देश की जनता को उनके प्रयोगो की एक बार फिर भारी कीमत चुकानी पडी। यह उपन्यास निश्चय ही एक अत्यत प्रबल रचना है, परतु इस बात से इनकार करना कठिन होगा कि इसकी शक्ति मे गाधी-दर्शन की शक्ति का भी काफी योग है, जिनका निषेध करने के लिए लेखक को अपनी पूरी प्रतिभा का ज़ोर लगाना पडा है। गाधी-दर्शन के विरोध मे एक और प्रबल ग्रथ रचा गया—'परशुराम की प्रतीक्षा'। इसके रचनाकार दिनकर सदा ही आस्तिक जीवन-मूल्यो के कवि रहे है—गाधीजी का उन्होने अपनी अनेक कविताओ मे पूर्ण श्रद्धा-भाव से स्तवन किया है; किंतु उनके अहिंसा-सिद्धात को वे कभी उस तरह से स्वीकार नही कर पाये जिस तरह से सियारामशरण गुप्त या जैनेन्द्र ने किया है। अपने प्रसिद्ध काव्य 'कुरुक्षेत्र' मे वे पहले भी मानव-जीवन मे युद्ध की अनिवार्यता के पक्ष मे काफी तर्क दे चुके थे, पर चीनी आक्रमण मे भारत की पराजय के बाद तो जैसे उनके सयम का बाध टूट गया और उन्होने बडे ही उग्र स्वर मे भारत की शाति-नीति की भर्त्सना की। गाधी के विरुद्ध यहा भी कवि को कोई शिकायत नही है . उन्हे तो वह वर्तमान युग का सबसे बडा वीर पुरुष मानता है—उसकी शिकायत गाधी के अनुयायी शासको से है, जिन्होने गाधी को पूरी तरह नही समझा। यद्यपि दिनकर ने ऐसे अनेक वाक्यो को रेखाकित कर, जिनमे गाधी ने आक्रमण के विरुद्ध आत्मरक्षा के अतिम अस्त्र के रूप मे युद्ध की आवश्यकता को स्वीकार किया है, गाधी-नीति की अपने ढग से व्याख्या करने का प्रयत्न किया, परतु फिर भी शाति-नीति और अहिंसा के विरुद्ध उनके अनर्गल उद्‌गारो का समावेश गाधी-नीति-सहिता की परिधि मे किसी प्रकार नही किया जा सकता। यहा भी विरोध की शक्ति काफी हद तक गाधी के अपने विश्वास की शक्ति से ही सप्रेरित है। इस प्रकार, गाधी का ऋणात्मक प्रभाव भी कम कामगर नही था।

ज़ाहिर है कि गाधी का प्रभाव साहित्य के रूप-विधान या शैली की अपेक्षा उसके कथ्य या वस्तु-विधान पर ही अधिक पड सकता था। गुजराती-साहित्य को छोडकर, जिसमे कि उन्होने भाषा के निर्माण तथा स्थिरीकरण आदि का योजनाबद्ध प्रयास किया था, अन्य भाषाओ मे साहित्य की शैली आदि पर उनका विशेष प्रभाव नही है। लेकिन यह प्रभाव एकदम नही है, ऐसा कहना भी ठीक नही होगा। उदाहरण के लिए, उनकी गद्य-शैली का, जिसमे कि जटिल-से-जटिल विचार को सरल वाक्य मे व्यक्त करने की अपूर्व क्षमता थी, उस युग के अनेक विचारप्रधान गद्य-लेखको पर अप्रत्यक्ष प्रभाव

ढूंढा जा सकता है। इन लेखकों ने गाधीजी से यह कला सीखी कि किसी प्रकार की अलकार-सज्जा के बिना, केवल निश्छल अभिव्यक्ति के द्वारा भी अत्यंत प्रभावी शैली का विकास किया जा सकता है। जैसाकि मैंने अभी स्पष्ट किया है, तीव्र अंतर्विरोधो का समाधान गाधी जी की चिंतन-प्रक्रिया का अनिवार्य अंग बन गया था। अतएव स्वभावत: उनके लिए 'वक्र' शैली का प्रयोग आवश्यक था, जो अभिधा की अपेक्षा व्यंजना पर अधिक निर्भर करती थी और श्लेष, विरोधाभास आदि गुण जिसमें सहज रूप मे अंतर्भुक्त रहते थे। गांधी की विचार-पद्धति की भाति, उनकी अभिव्यंजना-शैली में भी वक्र और ऋजु का अपूर्व योग मिलता है। विचार की वक्रता को ऋजु शैली मे व्यक्त करना—यही उनकी सबसे बड़ी शक्ति है। जिस प्रकार चिंतन के स्तर पर वे विवेचन-विश्लेषण की अत्यंत सूक्ष्म-जटिल प्रक्रिया मे से गुजरने के बाद ऋजु-सरल निष्कर्ष प्राप्त कर लेते थे, इसी प्रकार अभिव्यक्ति के स्तर पर भी उन्हें अनेक उलझे हुए विचार-तंतुओ को सीधे-सरल सूत्र-वाक्यो में समाहित करने का अभ्यास हो गया था।

रूप-विधान के क्षेत्र मे भी, कुछ संकेत-सूत्रो का उल्लेख करना अप्रासगिक न होगा। उदाहरण के लिए, गाधी ने अपनी आत्मकथा मे जिस निर्मम रीति से अत-र्विश्लेषण किया है, उसका प्रभाव समकालीन जीवनी-लेखन पर ही नही, उपन्यास-कला पर भी पडा। भारतीय भाषाओं के अनेक उपन्यासो मे, जिनमे आत्मकथा की शैली का प्रयोग किया गया है, गाधीजी के आत्मनिरीक्षण की अनुगूज कही-कही मिल जाती है। वास्तव मे उस युग के कथा-साहित्य मे आत्म-विश्लेषण की प्रविधि-प्रक्रिया के विकास मे अन्य प्रभावो के साथ-साथ एक हद तक गाधी के आत्म-चिंतन का प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार, गाधी के 'हृदय-परिवर्तन'-सिद्धात ने भी नाटक तथा कहानी-उपन्यास के रचनाकारों के सामने कथानक को नया मोड देने की एक 'नयी युक्ति' प्रस्तुत की।—इन सकेत-सूत्रो का उल्लेख करते हुए मैं मनो-विज्ञान और मनोविश्लेषणशास्त्र के प्रत्यक्ष प्रभाव का अवमूल्यन नही कर रहा। मेरा उद्देश्य केवल एक ऐसे निकटस्थ प्रेरणा-स्रोत की ओर इगित करना है जो प्रच्छन्न रूप से सक्रिय था।

उपसहार के रूप मे, मैं एक बार फिर यही रेखाकित करना चाहूगा कि भारतीय जीवन और साहित्य—दोनो पर गाधी का परोक्ष प्रभाव उनके प्रत्यक्ष प्रभाव की अपेक्षा निश्चय ही अधिक जीवंत और स्थायी रहा। जीवन मे वे लोग, जिन्होने गाधी के कार्य-क्रमो मे सक्रिय भाग लिया और उनका विवेकपूर्वक अनुसरण का दावा किया, गाधी का पूरा लाभ नही उठा सके; वे गाधी के साथ अपने संपर्क का भौतिक सिद्धियो के लिए उपयोग भर कर सके। वास्तविक लाभ उन प्रबुद्ध व्यक्तियो ने उठाया, जिन्होने गाधी के तपःपूत देश-काल मे स्वतत्र रूप से जीवन-यापन किया। इसी प्रकार साहित्य में भी, जिन्होने गाधी के जीवन पर महाकाव्यो की रचना की, या अपनी कृतियो मे उनके सामाजिक-राजनीतिक सिद्धातो एव कार्यक्रमो का प्रतिपादन किया, वे कुछ ही समय तक प्रचारित होकर रह गये। गाधी का सच्चा प्रभाव उन साहित्यकारो ने ग्रहण

किया, जो अनुभूति और विचार के स्तर पर उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का दबाव महसूस करते हुए स्वतंत्र रूप से साहित्य-सर्जना मे लीन थे। ऐसे ही साहित्यकारो ने गाधी का पूरा लाभ प्राप्त किया, क्योकि उन्होने गाधी को राजनीतिक शक्ति या सामाजिक नीति-सहिता के प्रतीक-रूप मे अकित न कर उन्हे अपने जीवन-मूल्यो मे आत्मसात् कर लिया था।

फ़ॉयड और हिंदी-साहित्य

फ़ॉयड पर वार्ता प्रसारित करने का मुझसे आग्रह शायद इसलिए है कि मेरे सहयोगी और समसामयिक मुझे फ्रॉयडवादी समझते है। उनकी यह धारणा गलत है।

फिर भी इसमे सदेह नही कि आज के विचार-जगत् मे फ़ॉयड ने भारी क्राति की है, और हमारे युग की जीवन-दृष्टि पर जाने-अनजाने उनका गहरा प्रभाव है। वे उन चार मनीषियो मे से हैं जिन्होने हमारी आज की युग-चेतना का निर्माण किया है। ये चार मनीषी हैं : डार्विन, मार्क्स, गाधी और फ़ॉयड। डार्विन का क्षेत्र है प्राकृतिक जगत्; मार्क्स का सामाजिक अर्थात् आर्थिक और राजनीतिक जीवन; गाधी का आध्यात्मिक जीवन और फ्रॉयड का क्षेत्र है मनोजगत्। साधारणतः ये चारो क्षेत्र एक-दूसरे से सबद्ध हैं, फिर भी वैशिष्ट्य के विचार से उपर्युक्त विभाजन किया गया है। यह न पूर्ण है और न ऐकातिक, क्योकि कोई भी जीवन-दर्शन ऐकातिक कैसे हो सकता है।

फ़ॉयड उपचार-गृह (क्लीनिक) से दर्शन की ओर बढे, रोगियो का उपचार करते-करते उन्होने व्याधियो के मूल उद्‌गम तक पहुचकर अंतर्मन के विज्ञान की उद्‌भावना की।

फ़ॉयड के मूल सिद्धात और निष्कर्ष संक्षेप मे इस प्रकार हैं—हमारे मन के दो भाग हैं : चेतन और अचेतन (अवचेतन)। इनके बीच मे एक तीसरा भाग भी है, जिसकी स्थिति चेतन से कुछ पहले है—इसे फ्रॉयड ने 'प्रीकॉन्शस' अर्थात् पूर्व-चेतन कहा है। यह अचेतन के लिए एक प्रकार का द्वार है। चेतन की अपेक्षा अचेतन कही बृहत्तर और प्रबलतर है। फ्रॉयड ने इसके स्पष्टीकरण के लिए एक ऐसे पत्थर का दृष्टांत दिया है जिसका तीन-चौथाई भाग जल मे है और एक-चौथाई जल से ऊपर। यह तीन-चौथाई अचेतन है और एक-चौथाई चेतन। चेतन वह भाग है जो सामाजिक जीवन मे सक्रिय रहता है, जिसकी क्रियाओ का ज्ञान हमे रहता है। अचेतन वह भाग है जिसकी क्रियाओ का ज्ञान हमे नही होता, परंतु जो निरतर क्रियाशील रहकर हमारी प्रत्येक गतिविधि को अज्ञात रूप से प्रेरित और प्रभावित करता रहता है। यह अचेतन हमारी उन इच्छाओ और चेष्टाओ का पुज है जो अनेक सामाजिक कारणो से—मूलत. सामाजिक स्वीकृति अथवा मान्यता के अभाव मे चेतन मन से मुह छिपाकर नीचे पड़ जाती है और वहा से अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष करती रहती हैं। इस अवस्था मे उन्हे अधीक्षक (सेंसर) का सामना करना पडता है जो हमारी सामाजिक

मान्यताओ का प्रतीक-रूप है। वह इन असामाजिक इच्छाओ का दमन करने का प्रयत्न करता है। परतु यह दमन एक छल-मात्र होता है, दमित इच्छाए अनेक छद्म रूप रख कर अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग ढूंढ ही लेती है। ये मार्ग है स्वप्न, स्वप्न-चित्र और कला-साहित्य आदि। एक प्रकार से ये सभी स्वप्न के विभिन्न रूप हैं। इस प्रकार 'स्वप्न की व्याख्या' फ्रॉयड के शास्त्रीय विधान का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है।

मन का विभाजन फ्रॉयड ने एक और प्रकार से किया है। यहा भी उन्होने उसके तीन अंग माने हैं—इड, ऐगो और सुपर-ऐगो, अर्थात् इद, अहं और अति-अह। परंतु ये वास्तव मे क्रमश· अचेतन, चेतन और अधीक्षक (सेंसर) से बहुत भिन्न नही हैं। इड या इद हमारे रागो का पुज है, जिसमे अचेतन का ही प्राधान्य है। इसकी धारणा बहुत-कुछ हमारी वासना से मिलती-जुलती है। अहं-चेतन मन है, जो नीचे इड या इद मे से इच्छाओ के धक्के खाता हुआ सामाजिक मूल्यो के प्रति सचेष्ट रहता है। और अति-अह सचित सामाजिक मान्यताओ का प्रतीक है जिसका काम आलोचना और अधीक्षण करना है। फ्रॉयड के शब्दो मे : अह, इद का वह भाग है जिसका निर्माण ऐंद्रिय ज्ञानमय चेतन के माध्यम से बाह्य जगत् के सपर्क द्वारा हुआ है। इद का प्रेरक सिद्धात है आनदवाद, और अह का प्रेरक सिद्धात है वस्तुवाद। अह मे ज्ञान का प्राधान्य है और इद मे वासना का; अह विवेक और बुद्धि का प्रतीक है, और इद रागो का आवास है।[१]

हमारा अचेतन जिन दमित इच्छाओ का पुज हैं, वे मूलतः काम के चारो ओर केंद्रित है। इस प्रकार जीवन की मूल वृत्ति फ्रॉयड के अनुसार है काम। उनके अनुसार जीवन मे दो वृत्तिया प्रधान है : एक प्रेम करने की प्रवृत्ति 'इरॉस' अर्थात् काम; दूसरी नाश करने की प्रवृत्ति अर्थात् 'थैनेटॉस'। इसमे भी मुख्य है पहली, अर्थात् काम; दूसरी उसका विपर्यय-मात्र है। इसी काम को फ्रॉयड ने 'लिबिडो' कहा है। हमारी सभी व्यष्टिगत क्रियाओ तथा चेष्टाओ मे, यहा तक कि समष्टिगत क्रियाओ तथा चेष्टाओ मे भी, काम के सूक्ष्म अतस्सूत्र विद्यमान रहते हैं। यह वृत्ति अनेक रूप धारण करती है जिसके फ्रॉयड ने कुछ वर्ग निश्चित किये हैं। परतु उनके विस्तार के लिए यहां अवकाश नही है।

रोग का निदान कर लेने के बाद फ्रॉयड उपचार के लिए अग्रसर होते हैं। यह तो निश्चित हो गया कि रोग का मूल कारण मन की ग्रथियां है, पर उनको खोला कैसे जाय? इसके लिए फ्रॉयड ने व्यावहारिक प्रयोगो द्वारा 'मुक्त सबध' अथवा

१ It is easy to see that the ego is that part of the id which has been modified by the direct influence of the external world acting through the perception Moreover, the ego has the task of bringing the influence of the external world to bear upon the id and its tendencies and endeavours to substitute the reality principle for the pleasure-principle which reigns supreme in the id In the ego perception plays the part which in the id devolves upon instinct The ego represents what we call reason and sanity in contrast to the id which contains the Passions.

'मुक्त-संबद्ध-विचार-प्रवाह' शैली का आविष्कार किया जिसके द्वारा वे मन के अतल गह्वरो मे पडे हुए विकारो को बाहर निकाल लाने का दावा करते थे। अचेतन से चेतन मे आ जाने पर गाठ चेष्टापूर्वक खोली जा सकती है; विकारो का 'उन्नयन' किया जा सकता है। इस उपचार-प्रक्रिया मे वे 'कार्य-कारण-वाद' तक पहुच गए। 'कार्य-कारण-वाद' के अनुसार प्रत्येक कार्य का एक निश्चित कारण है जो ज्ञात और अज्ञात दोनो प्रकार का हो सकता है। अचानक अथवा दैवात् होने वाले कार्य भी सर्वथा सकारण हैं; उनके कारण हमारे चेतन या अचेतन मे मिलते हैं। इस प्रकार फ्रॉयड ने कार्य-कारण-वाद को अपनी चिताधारा का आधार बनाया और आनंदवाद को जीवन का लक्ष्य माना।

इन सिद्धातो के प्रकाश मे धीरे-धीरे फ्रॉयड ने जीवन के प्रमुख तत्त्वो का व्याख्यान आरभ कर दिया। समाज-विज्ञान, राजनीति, राष्ट्रीयता, सस्कृति, सभ्यता, धर्म, कला आदि पर फ्रॉयड की मर्मभेदी दृष्टि पडी। उनके निष्कर्ष जितने मौलिक थे उतने ही विक्षोभकारी; परंतु उनका प्रभाव अत्यंत व्यापक हुआ और जीवन के पुनर्मूल्याकन मे उन्होने बहुत बडा योग दिया। फ्रॉयड के अनुसार जीवन की मूल-शक्ति है काम अथवा राग, जिसकी माध्यम हैं सहज-वृत्तियां। इन सहज-वृत्तियो के उचित परितोष मे ही जीवन की सिद्धि है। यही फ्रॉयड का आनद-सिद्धात—'प्लैजर-प्रिंसिपल'—है। इसे ही वे जीवन का मूल सिद्धात मानते हैं।[१] मनुष्य की सभी चेष्टाए इसी लक्ष्य की ओर उन्मुख हैं—वस्तु-सिद्धात द्वारा आरोपित अनेक बाधाएं इसकी साधक ही हैं, अत मे उनका लक्ष्य भी यही ठहरता है—संयम-नियम, विलबन आदि की विधिया सभी आनंद की ओर उन्मुख है। समाज का विधान ऐसा होना चाहिए जिसमे जीवन की मूल प्रवृत्तियो के परितोष की व्यवस्था हो—अन्यथा समाज का विधान स्थिर नही रह सकता। वह विद्रोह, अशाति, दु ख-दारिद्र्य, कुठा आदि का शिकार हो जायेगा। मानव-जीवन की इन्ही सहज आवश्यकताओ की पूर्ति समाज और शासन-व्यवस्था का—जिसके अतर्गत राजनीति आदि सत्तापरक व्यवस्थाए आ जाती हैं—मूल और एकमात्र उद्देश्य है। यह परितोष सदा तात्कालिक ऐंद्रिय स्तर पर ही नही होता, बौद्धिक-रागात्मक उन्नयन भी इसकी एक सफल विधि है। वास्तव मे राग का प्राधान्य मानते हुए भी अंत मे फ्रॉयड को बुद्धि की सत्ता स्वीकार करनी पडी; राग के अतिचार से त्राण पाने के लिए बुद्धि की शरण लेना अनिवार्य हो गया। फ्रॉयड को यह तथ्य स्वीकार करना पडा कि रागमय जीवन और विवेकमय जीवन मे सतत सघर्ष रहता है और यह संघर्ष ही सभ्यता का मूल आधार है। आज के सभ्य जीवन की विकृतियां और कुठाए राग और विवेक के असामजस्य का ही परिणाम हैं। फ्रॉयड ने नैतिक विधि-निषेध के मार्ग की निंदा करते हुए मनोवैज्ञानिक उन्नयन—उन्ही

१. In the Psycho-analytical theory of the mind we take it for granted that the course of mental processes is automatically regulated by the 'pleasure principle.'

के शब्दो मे 'अहं के समाजीकरण'—का मार्ग उपदिष्ट किया। नैतिक विधि-निषेध जहा ग्रंथियो की वृद्धि करते हैं तथा उन्हे और अधिक जटिल बनाते हैं, वहा उन्नयन अथवा अहं का समाजीकरण—जो राग का बौद्धिक परितोष है—ग्रथियो को सहज ढंग से खोलकर मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करता है। यह मानसिक स्वास्थ्य ही व्यष्टि की सफलता है, और यही व्यापक स्तर पर समष्टि अथवा समाज की। प्रगति अथवा विकास के मूल्याकन का उचित आधार यही है; समाज की मुक्ति इन्ही मे है। धर्म को फ्रॉयड ने एक प्रकार की इच्छा-पूर्ति या निम्न स्तर पर सामूहिक भ्रम-मात्र माना है। वह मूलतः भविष्य-स्वप्न—यूटोपिया—आदि की भाति एक प्रकार की परि-तोषदायिनी कल्पना या अधिक-से-अधिक उन्नयन का विधान ही है। ईश्वर पितृ-भाव का प्रक्षेपण है और धार्मिक प्रथाएं आदि स्वप्न-चित्रो के रूढ प्रतीक हैं। इसी प्रकार कला और साहित्य को भी फ्रॉयड ने एक प्रकार की क्षतिपूरक क्रिया एवं उन्न-यन का साधन माना है और उनका उद्गम भी मानव के स्वप्न-चित्रो को माना है।

शक्ति और सीमा

फ्रॉयड-दर्शन की अपनी शक्ति और परिसीमाएं हैं। उसकी सबसे बडी शक्ति यह है कि अचेतन का अन्वेषण कर उसने मानव-मनोविश्लेषण के लिए अपार क्षेत्र का उद्घाटन कर दिया है। व्यक्ति और समाज की अनेक समस्याएं, जिन पर रहस्य का घना आवरण पडा हुआ था, बुद्धि और विवेक के प्रकाश मे आयी और जीवन के पुनर्मूल्यन के नवीन साधन उपलब्ध हुए। व्यक्ति और समाज के अनेक जीर्ण रोगो का उपचार भी इसके द्वारा सभव हुआ और अतर्मनोविज्ञान का आरंभ हुआ। अध्यात्म, दर्शन, समाजशास्त्र, इतिहास, साहित्य और कला के मौलिक रहस्यो के उद्घाटन में फ्रॉयड के सिद्धातो और उनकी पद्धति ने अभूतपूर्व योग दिया।

दूसरे, काम को मूलभूत वृत्ति मानते हुए उन्होने मानव के रागात्मक संबंधो का अत्यंत सूक्ष्म-गहन और किन्ही अशो मे सर्वथा सटीक व्याख्यान प्रस्तुत किया। इससे अनेक भ्रातियो तथा किंवदतियो का विघटन हुआ और जीवन मे बौद्धिक मूल्यो की प्रतिष्ठा मे सहायता मिली।

फ्रॉयड-दर्शन की परिसीमाएं भी अत्यंत स्पष्ट हैं। उस पर अनेक आरोप लगाए गए हैं। पहला आरोप तो यह है कि वह वैज्ञानिक न होकर आनुमानिक है। उनकी व्याख्या स्थान-स्थान पर बडी दूरारूढ और अविश्वसनीय हो जाती है। अपनी बात को सिद्ध करने के लिए वे ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिला देते हैं। दूसरा यह कि फ्रॉयड के निष्कर्ष स्वस्थ व्यक्तियो की मन स्थिति पर आधृत नही है, अत. विकृतियो के आधार पर प्रतिपादित जीवन-दर्शन स्वस्थ मानव का जीवन-दर्शन कैसे हो सकता है! यह फ्रॉयड के समसामयिक और प्रतिद्वद्वी विचारक युग का आरोप है। तीसरा दोष इसका यह है कि यह एकागी है, काम जीवन की मूल प्रवृत्ति तो अवश्य है, परतु वह अंग ही है, सर्वांग नही है। फ्रॉयड ने उसी को सर्वस्व मानकर अपने जीवन-दर्शन को एकागी बना दिया है।

फ्रॉयड के विरुद्ध चौथा आरोप यह है कि उनका जीवन-दर्शन अभावात्मक है, उसमे समाधान नही है, साथ ही वह व्यष्टि तक ही सीमित हैं, समष्टि के लिए उनके पास कोई संदेश नही है। इसलिए उसमें आशा और गति नही है, एक प्रकार का अवसाद और अगति है। मैं समझता हूं कि यह अंतिम आरोप अनुचित और अन्यायपूर्ण है। इसमें सदेह नही कि फ्रॉयड मे प्रचारक या सुधारक की जैसी मुखर सोद्देश्यता नही थी; उनमें वैज्ञानिक की धीरता थी। आरभ मे उनके प्रयोग और निष्कर्ष अभावात्मक अवश्य थे और प्रयोगावस्था मे ऐसा होना स्वाभाविक भी है, परंतु धीरे-धीरे उनकी दृष्टि भावात्मक हो गयी थी और उन्नयन अथवा अह के समाजीकरण मे उन्होंने अपना समाधान प्रस्तुत किया। फ्रॉयड पेशेवर डॉक्टर थे। केवल निदान करके ही छोड देना डॉक्टर का काम नही है। उनका दर्शन सहज प्रवृत्तिमूलक दर्शन है, जो निवृत्तिमूलक दर्शनो से अधिक कल्याणकारी और रुचिकर होना चाहिए।

फ्रॉयड हिंदी मे पिछले पंद्रह-बीस वर्षों मे ही आए हैं। इससे पहले 'घुतुर्मुर्ग पुराण' आदि निकले थे। पर न उनका लेखक फ्रॉयड को समझ सका था और न पाठक उस लेखक को। वह एक अनर्गल प्रलाप-मात्र था। उसके बाद अज्ञेय-जैसे एक-आध कलाकार द्वारा फ्रॉयड कुछ व्यवस्थित ढंग से हिंदी मे आये और धीरे-धीरे उनकी ओर आकर्षण बढ़ा। फ्रॉयड का प्रभाव और प्रेरणा कई रूपो मे आंके जा सकते हैं। एक तो फ्रॉयड की प्रेरणा से हिंदी मे शृंगार का पुनरुत्थान हुआ। द्विवेदी-युग की स्थूल नैतिकता और छायावाद की अतीन्द्रिय सौंदर्योपासना के कारण शृगार की जो प्रवृत्तियां दब गई थीं या रूपांतरित हो गई थी, वे फ्रॉयड के प्रभाव से फिर उभर आयीं और हिंदी में शृंगार-साहित्य फिर ज़ोर पकड़ गया। परंतु इस शृंगारिकता का रूप प्रचलित रूपो से भिन्न है। एक तो इसमे शृंगार स्वयं-साध्य नही है, वरन् मनो-विश्लेपण का माध्यम है। लेखक का उद्देश्य काम-कथाएं लिखना अथवा रति-भाव की अभिव्यक्ति करना इतना नही होता, जितना काम-कुठाओ का विश्लेपण करना। इस साहित्य मे विकृतियो का चित्रण अधिक है और चौंका देनेवाली बातें भी हैं; परंतु इसके द्वारा सस्ती शृगारिकता, चलते-फिरते प्रेम की कथाओ को या प्रेम की हल्की अभिव्यक्तियो को पुरोत्साहन नही मिला। इसके द्वारा ऐसे रस का परिपाक हुआ, जिसमें गहरी शृंगारिकता के साथ बौद्धिक अन्वेपण का भी आनंद मिला हुआ है।

इसी क्षेत्र मे फ्रॉयड का दूसरा प्रभाव यह पडा कि काम की छद्म चेतना और छद्म अभिव्यक्तियो की असलियत खुल गई। प्रकृति पर प्रणय-पात्र का आरोप अथवा परोक्ष के प्रति प्रणय-निवेदन अथवा अतीन्द्रिय प्रेम मे आस्था कम हो गई और काम को भौतिक स्तर पर स्वीकृति मिली। मन की छलनाएं कम हुईं और वास्तविकता को स्वीकार करने का आग्रह बढ़ा।

अवचेतन-विज्ञान के प्रभाव से हिंदी साहित्यकार के चिंतन और भावना मे गह-राई, सूक्ष्मता तथा प्रखरता आयी। मन के सूक्ष्म स्तरो तक पहुंचने का, भावो की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वीचियों को शब्दबद्ध करने का आग्रह बढ़ा। छायावाद की सूक्ष्म

चेतना को समर्थन प्राप्त हुआ। साथ ही और भी गहराइयो मे जाने की प्रेरणा मिली तथा अवचेतन को यथावत् चित्रित करने के लिए सफल-असफल प्रयोग हुए। जिस समय प्रगतिवाद के प्रचारक जीवन की स्थूल आवश्यकताओ के साथ कला का सबध जोडते हुए उसे बहिर्मुख करने के लिए नारे लगा रहे थे, फ्रॉयड के प्रभाव से कला के अतर्मुख रूपो को यथेष्ट बल मिला और वह इश्तिहारो के स्तर पर आने से बच गई। हिंदी के लिए फ्रॉयड का अवचेतन-विज्ञान वरदान सिद्ध हुआ।

विचार के क्षेत्र मे भौतिक-बौद्धिक मूल्यो की अधिक विश्वसनीय तथा रोचक ढग से स्थापना की गई और जीवन तथा साहित्य के पुनर्मूल्याकन मे सहायता मिली। इस प्रकार फ्रॉयड ने प्रगति की परपरा को भी आगे बढाया, साहित्यकार के व्यक्तित्व तथा साहित्य की प्रवृत्तियो के विश्लेषण-व्याख्यान के लिए एक नवीन मार्ग खुल गया जिससे कर्ता तथा कृति का मूल सबध स्पष्ट करने मे बडी सुविधा हुई और साहित्य के अध्ययन-आलोचन के इतिहास मे एक नया अध्याय जुडा।

काव्य-शिल्प पर भी फ्रॉयड का प्रभाव कम नही पडा। उनकी 'मुक्त-सबध' शैली को तो कथाकारों ने सीधा ही अपना लिया। साथ ही स्वप्न-चित्रो के सृजन और उद्घाटन का भी हमारे साहित्य मे बडे वेग के साथ प्रचार हुआ।

परतु यह तो एक पहलू हुआ। नादान उत्साहियो के हाथो मे पडकर फ्रॉयड की दुर्दशा और साहित्य की छीछालेदर भी हिंदी मे कम नही हुई है; क्योंकि फ्रॉयड-दर्शन एक दुधारा शस्त्र है, जो दोनो तरफ काट कर सकता है।

रवीन्द्रनाथ का भारतीय साहित्य पर प्रभाव

रवीन्द्र-जयंती का आयोजन जिस उल्लास और उत्साह के साथ, जिस व्यापक रूप में पूरे राजकीय वैभव के साथ हो रहा है वह हमारे देश के साहित्यिक इतिहास मे अभूतपूर्व घटना है। एक ओर हमारे लिए जहा यह गौरव का विषय है कि एक कवि-कलाकार को इस प्रकार का राजकीय एवं देशव्यापी सम्मान दिया जा रहा है, दूसरी ओर हमे इस प्रकार के राजनीतिक आयोजनो के असाहित्यिक प्रभावो के प्रति भी सतर्क होने की आवश्यकता है। इस प्रकार के राजनीतिक कोलाहल से कई अनिष्ट हो सकते हैं : एक तो यह कि स्वयं रवीन्द्र-साहित्य के भव्यतर रूप की उपेक्षा हो जाये और 'वे विश्वमानव थे', 'अंतर्राष्ट्रीय पुरुष थे', 'महान् शिक्षाविद् थे', 'सिद्ध दार्शनिक थे', 'अद्वितीय जन-सेवक थे'—ऐसे या इस प्रकार के अन्य नारो के बीच उनका कलाकार ही खो जाये; और दूसरा यह कि राजनीतिक रंग मे रंगे हुए इस प्रचार और प्रसार के फलस्वरूप रवीन्द्र-साहित्य का इतना अधिक अतिमूल्यन किया जाये कि देश की अन्य साहित्यिक विभूतियां रवीन्द्रनाथ की उपजीवी या उपग्रह बनकर रह जायें। एक वाक्य मे इस प्रकार के अतिरंजित प्रयत्नो से साहित्य के क्षेत्र में भी राजनीतिक मूल्यो का प्रवेश होने की आशंका उत्पन्न हो जाती हैं। अत. भारतीय साहित्य पर रवीन्द्रनाथ के प्रभाव का मूल्यांकन, राजनीतिक प्रचार-भावना से मुक्त होकर, उचित साहित्यिक परिप्रेक्ष्य मे करना चाहिए और यह समझकर आगे बढना चाहिए कि रवीन्द्रनाथ ने बीसवीं शती के प्रथम चरण मे जिस आलोक का वितरण किया वह उन्हें प्राचीन भारत की महान् परंपरा से उत्तराधिकार मे प्राप्त हुआ—वह आलोक भारत के अन्य साहित्यकारों को भी प्राप्त था जिन्हें स्वदेश-विदेश की काव्य-परंपरा के साथ रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा का अतिरिक्त वरदान भी मिला।

अंगरेजी आलोचना मे कुछ कवियो के लिए एक प्रशस्ति का प्रयोग किया जाता है—पोइट्स पोइट : कवियो का कवि। इसका संस्कृत पर्याय बनता है 'कवीनां कवि.' किंतु संस्कृत आलोचना में इस अर्थ मे 'कविकुलगुरु:' का प्रयोग हुआ है, 'कवीना कवि·' का नहीं। 'कविकुलगुरु' या 'कवियो के कवि' पद की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है—एक तो वह कवि जो परवर्ती कवि-परंपरा को काव्य-वस्तु प्रदान करता है या काव्य वस्तु के नव-निर्माण की प्रेरणा देता है, दूसरा वह कवि जो काव्य-सामग्री—विशेषत. काव्य-बिंब प्रदान करता है अथवा काव्य-बिंबो के नव-निर्माण की प्रेरणा देता है। वाल्मीकि और व्यास पहली कोटि के कवि हैं, कालिदास दूसरी के। किंतु जहां

तक मुझे स्मरण है संस्कृत काव्य-परंपरा ने कालिदास को ही कविकुलगुरु की उपाधि से भूषित किया है—भासो हास. कविकुलगुरु. कालिदासो विलासः—स्वय कालिदास को काव्य-वस्तु का दान करने वाले वाल्मीकि और व्यास का अक्षय यशोगान करने पर भी उन्हे 'कवीना कविः' का पर्यायवाचक 'कविकुलगुरु' विशेषण नही दिया। इसका अभिप्राय यह है कि 'कविकुलगुरु' या 'कवीना कवि.' का प्रयोग प्रायः दूसरे अर्थ मे अर्थात् काव्य-सामग्री या काव्य-बिंब प्रदान करने वाले ऐसे कवि के लिए ही किया गया है जो अतिशय भाव-वैभव और कल्पनाविलास से मडित हो—जिसके प्रचुर भाडार से अन्य कवि अपने काव्य-कोष को परिपूर्ण करते हो। इस अर्थ मे भारतीय साहित्य मे कालिदास के उपरात 'कविना कवि' विशेषण के अधिकारी केवल रवीन्द्रनाथ ही है—यद्यपि देश की अनेक भाषाओ मे ऐसे अनेक महाकवि हुए हैं जिन्हे रवीन्द्रनाथ के सम-प्रतिभ मानने मे कठिनाई नही होनी चाहिए।

रवीन्द्रनाथ मूलतः कवि थे। जीवन के जिस सत्य का उनके कवि ने कल्पना और अनुभूति के द्वारा साक्षात्कार किया उसी को वे अनेक माध्यम-प्रकारो से व्यक्त करते रहे। विश्व के विकीर्ण वैभव मे आत्मा के स्पदन को भाव-प्रेरित कल्पना और फिर कल्पना-समृद्ध अनुभूति से प्राप्त कर उन्होने अनेकता मे एकता के जिस सत्य को स्वानुभूत किया वही दर्शन के क्षेत्र मे सर्वात्मवाद, सस्कृति के धरातल पर विश्व-मानवतावाद और राजनीति के क्षेत्र मे अतर्राष्ट्रवाद का रूप धारण कर उनके सपूर्ण वाड्मय मे पुष्पित-पल्लवित होता रहा। इस प्रकार की अनुभूति स्पष्टत एक प्रकार की रहस्यानुभूति है, जो एक ओर विचार और विवेक की बौद्धिक सीमाओ को और दूसरी ओर ऐंद्रिय जगत् के भौतिक बधनो को पार कर चेतना के अतल गह्वर मे जन्म लेती है—आप उसे आत्मा या चिति कहे या केवल चेतना मात्र। रवीन्द्रनाथ की काव्यानुभूति का यही मूल धरातल था। इसलिए उनकी काव्यानुभूति मूलतः रहस्यानु-भूति है और उनकी काव्य-शैली का निर्माण स्वभावत. रम्याद्भुत तत्त्वो से हुआ है। भारतीय साहित्य पर उनके प्रभाव का आरभ 'गीताजलि' की पुरस्कृति के पश्चात् ही माना जा सकता है। भारतीय काव्य-प्रतिभा की वह सार्वभौम स्वीकृति अपने देश के साहित्यिक इतिहास की अभूतपूर्व घटना थी जिसका प्रभाव पडना अनिवार्य था।

हिंदी साहित्य मे उस समय जागरण-सुधार के नैतिक आदर्शो से मुखरित द्विवेदी-युग चल रहा था जिसकी दृष्टि सर्वथा बहिर्मुखी थी और जिसकी अभिव्यक्ति का रूप इतिवृत्तात्मक था। रीति-काव्य की परिचित रस-भूमि को अनैतिक और रोग-ग्रस्त मानकर हिंदी का कवि त्याग चुका था। किंतु उसके स्थान पर नवीन रस-भूमि का अनुसंधान वह नही कर पाया था। अंतर्मुख जीवन के दुष्परिणामो से पीडित भारतीय चेतना जीवन और जगत् के मगलमय प्रसार के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए सघर्ष कर रही थी। सामाजिक जीवन के कल्याण की ओर उन्मुख अनेक आदोलन साहित्य में भी प्रतिध्वनित हो रहे थे किंतु ऐसा लगता था जैसे कि वे विवेक के स्तर से ही टकराकर लौट आते हो। बगला-साहित्य मे भी बहुत-कुछ ऐसी ही परिस्थिति थी जिसके विरुद्ध रवीन्द्रनाथ की काव्य-चेतना ने विद्रोह किया था। हिंदी-

प्रकार से इन तीनो का ही निषेध था—इसलिए वह आचार्य का अनुग्रहभाजन न बन सका। छायावाद का विरोध करते-करते वे उसके प्रेरक स्रोत रवीन्द्र-काव्य तक पहुंचे। उनके सामने सबसे बडी समस्या थी आधुनिक कवि की रहस्यानुभूति। जब मध्ययुग के कबीर आदि निर्गुण साधको मे भी उसे यथावत् स्वीकार करने मे उन्हे आपत्ति होती थी तो आधुनिक विज्ञान-युग के कवि की रहस्यानुभूति को स्वीकार करना तो और भी कठिन था। इसलिए हिंदी के उदीयमान कवियो की तो उन्होने अनुकर्तामात्र कहकर उपेक्षा कर ही दी, साथ ही विश्वविख्यात रवीन्द्रनाथ की रहस्यानुभूति पर भी प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया। रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा से हतप्रभ होकर उन्होने अपनी धारणाओ मे संशोधन करना स्वीकार न किया और उन्हे रहस्यवादी की अपेक्षा महान् आलकारिक मानना ही अधिक उपयुक्त समझा। अर्थात् रवि बाबू की रहस्याभिव्यक्तियो को उन्होने अनुभूति-प्रेरित न मानकर अभिव्यजना की विभूति ही अधिक माना। इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने न केवल छायावाद का ही विरोध किया वरन् हिंदी कविता पर रवीन्द्रनाथ के बढते हुए प्रभाव को रोकने का भी प्रयत्न किया। बाद मे चलकर जब छायावाद का स्वरूप स्पष्ट हुआ और यह निश्चय हो गया कि छायावाद हिंदी काव्य-परंपरा का स्वाभाविक विकास है—तो यह स्वीकार करने मे देर न लगी कि काव्य की प्रत्येक प्रवृत्ति की भाति यद्यपि छायावाद ने भी उधर अगरेजी की रोमानी कविता और इधर रवीन्द्रनाथ की कविता से आरभिक प्रेरणाए प्राप्त की थी—फिर भी वह उनकी छायामात्र नही है। तथ्य वास्तव मे यह है कि पहले रवीन्द्रनाथ ने रोमानी कवियो से प्रेरणा ग्रहण की और फिर हिंदी-कवियो ने बहुत-कुछ प्रत्यक्ष रूप मे, और अशत. रवीन्द्रनाथ के माध्यम से भी, अपने विकास के पहले चरण मे उनका प्रभाव ग्रहण किया। छायावाद का जन्म होने तक रवीन्द्रनाथ विदेशी काव्य के उस प्रभाव को आत्मसात् कर चुके थे। उनकी महान् प्रतिभा शेली और कीट्स की किशोर कल्पनाओ को तब तक विराट् भारतीव आधारफलक प्रदान कर चुकी थी और अगरेजी की लाक्षणिक भगिमाओ को सस्कृत के ऐश्वर्य से मडित कर चुकी थी, इसलिए हिंदी-कवियो का कार्य अपेक्षाकृत सुकर हो गया।

किंतु यह सब होते हुए भी छायावाद के अगणी कवि प्रसाद इन दोनो प्रभावो से मुक्त रहे—न उन्होने अगरेजी के रोमानी कवियो का ऋण स्वीकार किया और न रवीन्द्रनाथ का। रवीन्द्रनाथ ने जहा पाश्चात्य रोमानी प्रभाव को कालिदास की रमणीय कल्पनाओ मे ढालकर उन्हे भारतीय काव्य-चेतना का अग बना लिया था, वहा प्रसाद की प्रेरणा का मूल स्रोत शुद्ध भारतीय ही रहा। अपने युग के रोमानी वातावरण से प्रेरित होकर वे पश्चिमी साहित्य की ओर नही गये वरन् भारत के प्राचीन साहित्य मे बिखरे हुए रम्याद्भुत तत्त्वो का सधान करने लगे, जिसकी चरम परिणति हमे 'कामायनी' मे मिलती है। इसलिए प्रसाद की काव्य-चेतना रवीन्द्रनाथ की काव्य-चेतना की अपेक्षा अधिक भारतीय और उसी सीमा तक अधिक मौलिक है। हिंदी के सम्यक् प्रचार और प्रसार के उपरात जब भारतीय भाषाओ मे 'कामायनी' के महत्त्व की उचित प्रतिष्ठा हो सकेगी, उस समय, मुझे विश्वास है कि मेरी स्थापना की सत्यता

अनायास ही सिद्ध हो जाएगी।

हिंदी की भांति अन्य भाषाओं के काव्य पर भी रवीन्द्रनाथ का प्रभाव स्पष्ट है। प्राय. सभी भाषाओं मे 'गीतांजलि' का अनुवाद हुआ, कुछ भाषाओ ने सीधे बंगला से और कुछ मे अंग्रेज़ी से। कुछ मे केवल गद्यानुवाद ही हुए किन्तु कतिपय भाषाओ मे छद का माध्यम भी ग्रहण किया गया जैसे मराठी में, तेलुगु में, हिंदी मे। शीघ्र ही भारतीय कवियों ने यह अनुभव किया कि 'गीतांजलि' रवीन्द्रनाथ की सर्वश्रेष्ठ कृति नही है और उन्होंने कवि की अन्य समृद्ध रचनाओ का मूल अथवा अनुवाद मे अध्ययन किया जिसके परिणामस्वरूप भारतीय काव्य मे एक नवीन रहस्योन्मुख सौंदर्य-दृष्टि का उन्मेष हुआ। तेलुगु मे रायप्रोलु सुब्बाराव और अ० रामकृष्ण राव की कविताएं इस नव प्रभाव से मंडित हैं। मलयालम में शंकर कुरूप, वसन, उल्लूर और कन्नड मे कुवेम्पु, वेन्द्रे तथा गोकाक इस प्रवृत्ति के प्रतिनिधि हैं। वेन्द्रे मे रवीन्द्रनाथ का तरल सौंदर्य-संगीत और कुवेम्पु तथा गोकाक मे बंगला कवि की अतींद्रिय रहस्योन्मुख सौंदर्य-दृष्टि का उन्मेष है। मराठी में 'गूढगुंजन' नाम से जिस नव्य रहस्य-प्रवृत्ति का जन्म हुआ उसका प्रेरणा-स्रोत रवीन्द्र-काव्य ही था। केशवसुत, ताम्बे, बी और उधर विदर्भ-कवि अनिल, गुणवन्त हनुमन्त देशपांडे, वामन नारायण देशपांडे आदि की रमणीय वायवी भाववस्तु तथा रम्याद्भुत बिंब-योजनाओ मे भी यह प्रभाव लक्षित होता है। गुजराती में इस वर्ग के कवि हैं स्नेहरश्मि, प्रह्लाद पारीख आदि। कात ने 'गीताजलि' की निर्गुण भावना से प्रेरित होकर उसका गुजराती मे अनुवाद किया। उत्तर-पश्चिम की भाषाओं में पंजाबी के भाई वीरसिंह मूलतः सिक्ख गुरुओ की निर्गुण भक्ति से प्रेरित होने पर भी रवीन्द्रनाथ के सौंदर्य-दर्शन से प्रभावित हुए। उर्दू कविता मे यद्यपि सूफ़ी-काव्य-परंपरा के प्रभाव के कारण बंगला कवि की मधुर रहस्य-भावना एकदम नयी नही थी, फिर भी बीसवी शताब्दी के दूसरे दशक मे रवीन्द्रनाथ का प्रभाव पडे बिना नहीं रहा और नियाज़ फतेहपुरी ने सन् १९१४ में 'गीतांजलि' का अत्यंत रसमय गद्य मे अनुवाद प्रस्तुत किया। उर्दू साहित्य में 'अदबे लतीफ' नाम से एक नई विधा का जन्म हुआ जो हिंदी गद्य-काव्य का पर्याय था। इसकी प्रेरणा मिली 'गीतांजलि' के अंगरेज़ी गद्यानुवाद से। सन् १९३५ मे शांति-निकेतन के मौलवी ज़ियाउद्दीन ने 'कलामे टैगोर' शीर्षक से मूल बंगला से अनूदित कवि की १२० कविताओ का संकलन प्रस्तुत किया। अप्रत्यक्ष प्रभाव या प्रेरणा की दृष्टि से भी उर्दू काव्य पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव पड़ा किंतु वह प्राय. सामान्य कवियो तक ही सीमित रहा। पूर्वी भाषाओं में उड़िया के 'सबुजा वर्ग' के कवि और असमिया के हितेश्वर-बरबरुआ, यतीन्द्रनाथ दुवारा तथा देवकान्त बरुआ जैसे कवि-कलाकारो मे रवीन्द्र का प्रभाव स्पष्टत. उपलब्ध होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बीसवी शताब्दी के दूसरे, तीसरे और चौथे दशक में भारतीय साहित्य मे जिस स्वच्छंदतावादी काव्य-प्रवृत्ति का जन्म और विकास हुआ उसके प्रेरक प्रभाव यद्यपि अनेक थे; जैसे कि अंगरेज़ी रोमानी-काव्य, मध्ययुग का संतकाव्य और सूफ़ीकाव्य, फिर भी उसका स्रष्टा नहीं तो नेता रवीन्द्रनाथ को निश्चय ही मानना पड़ेगा।

रवीन्द्र-काव्य का दूसरा प्रधान स्वर है सास्कृतिक-राष्ट्रीय काव्य। सास्कृतिक धरातल पर रवीन्द्रनाथ ने मानवता के अखंड रूप की प्रतिष्ठा कर देश, काल, जाति, वर्ग द्वारा अविभक्त एवं अविकृत मानव-गरिमा का यशोगान किया, राजनीतिक और सामाजिक रूढियो से ग्रस्त मनुष्य मे प्रच्छन्न देवता का उद्घाटन किया। भारत के वे कवि भी जो रहस्य-द्रष्टा नही थे अथवा रहस्य-दर्शन मे जिनकी आस्था नही थी, जो प्रत्यक्ष और मूर्त जीवन-जगत् के प्रति निष्ठावान थे, रवीन्द्र-काव्य के इस रूप की ओर आकृष्ट हुए। विश्व-मानव या सास्कृतिक मानव का यह रूप निश्चय ही वडा भव्य था। इधर विदेशी दासता से आक्रांत भारतीय जनमानस ने और उधर भौतिक सघर्ष से जर्जर पश्चिम के प्रवुद्ध समाज ने इसका मुक्त हृदय से स्वागत किया। खडित राष्ट्रीयता से अवद्ध अखंड मानव-संस्कृति की कल्पना, जिसका निर्माण विश्वकवि की सार्वभौम प्रतिभा ने उपनिषद् की अद्वैत-कल्पना और उससे प्रभावित मध्ययुग के संत-काव्य, इष्ट की मधुर कल्पना मे सासारिक विभेद को निमज्जित करने वाली वैष्णव-भावना, वुद्ध की विश्व-करुणा और पश्चिम की मानवतावादी विचारधारा के रासायनिक तत्त्वो द्वारा किया था, हमारे कवि-कलाकारो के लिए अक्षय प्रेरणा-स्रोत वन गयी। राष्ट्रीय धरातल पर भी कवि ने अनेक संस्कृति-धाराओ के संगम मे ऐसे ही भारत-तीर्थ की प्रकल्पना की। वीसवी शती के पूर्वार्द्ध मे संपूर्ण भारतीय वाङ्मय मे राष्ट्रीय-सास्कृतिक काव्य की यह धारा अत्यंत कल्लोलो के साथ प्रवाहित होती रही। तमिल के भारती, मलयालम के वल्लतोल, गुजराती के उमाशंकर जोशी, मराठी के केशवसुत तथा गोविन्दाग्रज, हिंदी के मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, पन्त, नवीन, दिनकर आदि, उर्दू के चकवस्त, पजावी के गुरुमुख सिंह मुसाफिर, हीरासिंह दर्द आदि ने अपने काव्यों मे विभिन्न भगिमाओ के साथ इस स्वर को मुखरित किया। इन कवियो ने वास्तव मे रवीन्द्रनाथ से सीधा प्रभाव ग्रहण नही किया, अपने-अपने क्षेत्र मे ये सभी, 'साहबेकलाम' थे। किंतु भाव-कल्पना के क्षेत्र मे रवीन्द्रनाथ ने और विचार तथा कर्म के क्षेत्र मे गांधी ने जो राष्ट्रीय-सास्कृतिक वातावरण तैयार किया था उसका लाभ इन सभी कवियो ने ग्रहण किया। गाधी ने देश की आत्मा को प्रवुद्ध कर उसमे जो उत्साह-स्फूर्ति एवं कर्म-चेतना उत्पन्न की थी, रवीन्द्रनाथ ने वैभवपूर्ण भारतीय सस्कृति के रंगो से उसे जगमग कर दिया और इस प्रकार कर्म का तेज भावना तथा कल्पना के ऐश्वर्य से मडित हो गया। युग-धर्म से प्रेरित रवीन्द्रनाथ ने काव्य-रसायन की यह प्रक्रिया पूर्ण कर जागरण युग के भारतीय कवियो का मार्ग-प्रदर्शन किया।

आधुनिक युग के तीसरे चरण मे रवीन्द्रनाथ का भारतीय कविता पर कोई प्रभाव नही पडा। जिस प्रकार स्वय वंगला मे उनकी कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई उसी प्रकार भारतीय भाषाओ के काव्य मे भी अपनी-अपनी परिधि के भीतर रोमानी प्रवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह हुआ, जो आज भी चल रहा है।

गद्य के क्षेत्र मे रवीन्द्रनाथ का प्रभाव आरंभ से ही वहुत कम रहा। भारतीय उपन्यास-कला ने वहुत शीघ्र ही युग-जीवन की वढती हुई माग को स्वीकार कर

बंगला उपन्यास की रंगीन भावुकता का त्याग कर दिया और गांधी-दर्शन से प्रभावित आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की स्वस्थ भूमिका पर अपना स्वतंत्र विकास किया। हिंदी मे प्रेमचन्द ने इस प्रवृत्ति का नेतृत्व किया, गुजराती मे रमणलाल वसन्तलाल देसाई ने और मराठी में हरिनारायण आप्टे ने। इन उपन्यासकारो का प्रभाव अपनी-अपनी भाषाओं मे बाहर भी पड़ा। उदाहरण के लिए उर्दू और पजाबी पर प्रेमचन्द का गहरा प्रभाव था। आगे चलकर इस विवेक-सम्मत उपयोगितावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध जब हृदय की कोमल वृत्तियो ने विद्रोह किया तब भी शरत् की आत्म-पीडनमयी कला का भीगा प्रभाव ही भारतीय उपन्यास ने अधिक ग्रहण किया। बाद मे तो मार्क्स तथा फ्रॉयड की विचारधाराएं बंगला-उपन्यास की तरह भारत की विभिन्न भाषाओं के उपन्यास-साहित्य पर भी व्यापक एवं गहरा प्रभाव डालने लगी। इस प्रकार भारतीय उपन्यास विचार के क्षेत्र मे गांधी, मार्क्स तथा फ्रॉयड का और कला के क्षेत्र मे प्रेमचन्द, तोल्स्ताय, शरत् तथा लारेंस आदि का जितना ऋणी है उतना रवीन्द्रनाथ का नही। नाटक के क्षेत्र मे भी यही बात है। भारतीय नाटय-साहित्य को सस्कृत की शास्त्रीय परंपरा से रोमांटिक ड्रामा के नाट्य-शिल्प की ओर उन्मुख करने में बंगला के द्विजेन्द्रलाल राय का ही योगदान अधिक है। हां, भारतीय लघुकथा रवीन्द्रनाथ की कही अधिक ऋणी है। आधुनिक कहानी में कवित्व, सघन मानव-तत्त्व और प्रतीकात्मकता के लिए रवीन्द्रनाथ का प्रभाव उत्तरदायी हो सकता है, क्योकि रवीन्द्र-साहित्य में सबसे अधिक अनुवाद उनकी गल्पो के ही हुए हैं। इस व्यापक प्रचार और प्रसार का परिणाम स्पष्ट था और स्वयं प्रेमचन्द जैसे कथाकार को, जिनका दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न था, कहानी के क्षेत्र मे रवीन्द्रनाथ का प्रभाव स्वीकार करना पड़ा। गद्य-रूपो में रवीन्द्रनाथ का सबसे अधिक प्रभाव कदाचित् गद्य-काव्य पर माना जा सकता है। रवीन्द्रनाथ की कविता के अंगरेजी गद्यानुवाद की प्रेरणा से भारत की प्रायः सभी भाषाओं मे भावप्रधान गद्य-गीतों का जन्म हुआ। भारतीय साहित्य की यह नयी विधा जो सस्कृत कवियो के निकष-रूप गद्यकाव्य से सर्वथा भिन्न थी, रवीन्द्रनाथ से तो नही—रवीन्द्र-साहित्य के अंगरेजी अनुवाद से प्रभावित होकर प्रकाश मे आयी।

भारतीय आलोचना पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव नगण्य-सा ही है। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि आधुनिक भारतीय आलोचना मे रवीन्द्रनाथ ने फिर से आनंदवादी मूल्यो की प्रतिष्ठा की। पर यह अनुमान शायद सही नही है। भारतीय भाषाओं मे आलोचना एवं आलोचनाशास्त्र का सर्वाधिक विकास हिंदी और मराठी मे हुआ है और इन दोनो ही भाषाओं मे आलोचना की शास्त्रीय परपरा सर्वथा अक्षुण्ण रही है। इसलिए इनकी आलोचना को भारतीय रसवाद का पुष्ट आधार प्राप्त है। सस्कृत काव्यशास्त्र मे विभिन्न आचार्यों ने शब्द-अर्थ के चमत्कार और भाव की आनंदमयी परिणति के विषय में सूक्ष्म-गहन अनुसधान कर अंततः रस को ही काव्य की आत्मा माना है और रस की नाना प्रकार से व्याख्या कर उसे आत्मास्वाद के रूप मे ही स्वीकार किया है। हिंदी और मराठी के आधुनिक आलोचकों ने रस-सिद्धांत का पुनराख्यान कर पाश्चात्य आलोचना के आनंदवादी अथवा सौंदर्यवादी मूल्यो के साथ उसका

सामंजस्य स्थापित किया है। शास्त्र के प्रति अटूट निष्ठा होने के कारण इन दोनों भाषाओं के आलोचकों ने आलोचना में कल्पना और भावुकता को विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया। सिद्धांत रूप में रवीन्द्रनाथ की आलोचना भारतीय रसवाद और पाश्चात्य रोमानी आलोचना से प्रभावित है। वे काव्य में 'रसो वै स' के ही कायल हैं। किंतु उन्होंने सुंदर को शिव और सत्य से अलग करके नहीं देखा और साहित्यिक क्षेत्र में उनकी आनंद-कल्पना लोकमंगल की भावना से ओतप्रोत है। नैतिक मूल्यों में उनकी अटूट आस्था है किंतु ये नैतिक मूल्य आत्मा के रस में पगे हुए हैं। स्थूल उपयोगितावादी दृष्टिकोण का रवीन्द्रनाथ ने जीवन और काव्य दोनों में निषेध किया है। युग-धर्म के प्रभाव के अनुरूप उन्होंने व्यापक सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर भारतीय रस-कल्पना का विस्तार कर उसे पाश्चात्य स्वच्छंदतावादी रोमानी आलोचना की पद्धति में ढालकर प्रस्तुत किया है। व्यावहारिक आलोचना उनकी प्राय सर्जनात्मक है; शकुन्तला, मेघदूत आदि के आध्यात्मिक अथवा अर्ध-आध्यात्मिक आख्यान में कवि-कल्पना का ही प्रसार अधिक है। कहने का अभिप्राय यह है कि रवीन्द्रनाथ की आलोचना अशास्त्रीय और बहुधा कल्पनात्मक है। इसीलिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उसका प्रतिवाद किया और उसे शुद्ध आलोचना की कोटि में परिगणित नहीं किया। हिंदी के छायावादी कवियों—विशेषकर महादेवी का सिद्धांत-प्रतिपादन रवीन्द्रनाथ से मिलता-जुलता है, कदाचित् उनसे प्रभावित भी हो सकता है। महाराष्ट्रीय आलोचक प्रतिभा और भी अधिक शास्त्रनिष्ठ है। वहां के प्रतिनिधि आलोचकों ने भारतीय तथा यूरोपीय काव्य-सिद्धांतों का अत्यंत मनोनिवेश के साथ विवेचन-विश्लेषण किया है; किंतु उनकी आलोचना के आधार शास्त्र अर्थात् काव्य-शास्त्र, मनोविज्ञान और दर्शन ही रहे हैं, कल्पना और भावुकता को प्रश्रय नहीं दिया गया। इस प्रकार आधुनिक युग में भारतीय आलोचना, अपने परिनिष्ठित रूप में, देश-विदेश के विभिन्न मूल्यों और तत्त्वों को ग्रहण करती हुई भी शास्त्र के पथ से विचलित नहीं हुई—वह कालिदास और रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा भरत, भामह, आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट और उधर अरस्तू, आर्नल्ड, क्रोचे या व्यापक धरातल पर मार्क्स और फ्रॉयड को ही प्रमाण मानती रही है।

अंत में, मेरे निष्कर्ष इस प्रकार है—

१. अनेक भाषाओं के इस देश में किसी एक भाषा के कवि का जितना प्रभाव हो सकता था, अनुकूल परिस्थितियों के कारण, रवीन्द्रनाथ का प्रभाव भारतीय काव्य पर उससे अधिक ही मानना चाहिए। किंतु इस प्रभाव के सूत्रों को अलग-अलग कर देखना सरल नहीं है, क्योंकि स्वयं रवीन्द्रनाथ के काव्य-व्यक्तित्व का निर्माण स्वदेश-विदेश के ऐसे विभिन्न प्रभावों के संघात से हुआ था जो उनके समसामयिक एवं परवर्ती कवियों के लिए भी उसी रूप में सहज-सुलभ थे। उपनिषद् के आनंदवाद, वैष्णव-काव्य की मधुर-भावना या इंग्लैंड के रोमानी-कवियों के स्वच्छंदतावाद या कालिदास-काव्य के सांस्कृतिक वैभव का उपयोग रवीन्द्रनाथ ने जिस प्रकार किया है, उसी प्रकार अन्य कवियों ने भी। आरंभ में कहीं-कहीं यह प्रभाव रवीन्द्रनाथ के

माध्यम से आया है किंतु बाद मे चलकर इस माध्यम की आवश्यकता नही पडी।

२ आधुनिक भारतीय साहित्य मे अनेक सामाजिक-सास्कृतिक कारणो से पाश्चात्य रोमानी-काव्य से प्रत्यक्ष प्रभाव ग्रहण कर जिस स्वच्छदतावादी काव्य-प्रवृत्ति का जन्म हुआ रवीन्द्रनाथ उसके स्रष्टा न होकर अग्रणी थे। अपनी महान् प्रतिभा के द्वारा वे इस रोमानी काव्य-प्रवृत्ति के प्रेरक प्रभावो को भारत के अन्य स्वच्छदतावादी कवियो से बहुत पहले ही आत्मसात् कर चुके थे। इन नवीन स्वच्छद अनुभूतियो और रहस्यमयी जिज्ञासाओ को मूर्तरूप प्रदान करने के लिए जिस माध्यम की अपेक्षा थी, रवीन्द्रनाथ की समृद्ध कारयित्री प्रतिभा उसका निर्माण कर चुकी थी, जिससे परवर्ती कवियो का कार्य सुकर हो गया।

३. सामान्य रूप मे बीसवी शताब्दी का प्रतिनिधि जीवन-दर्शन है मानवतावाद, जिसके भारत मे दो प्रमुख व्याख्याकार हुए : एक गांधी और दूसरे रवीन्द्र। गाधी ने मानव-सत्य का जहा अनुभव और व्यवहार के द्वारा साक्षात्कार किया वहा रवीन्द्रनाथ ने कल्पना के द्वारा। दोनो के मानवतावाद की परिणति भौतिक सीमाओ को पार कर आत्मवाद मे होती है। किंतु फिर भी दोनो के दृष्टिकोण भिन्न हैं। गांधी-दर्शन निरानद है जबकि रवीन्द्र-दर्शन आनंद से ओतप्रोत है। युग-धर्म के इन दोनो द्रष्टाओ ने स्वभावतः ही समसामयिक साहित्य को प्रभावित किया है। गाधी की दृष्टि आदर्शवादी एव धार्मिक थी, अत साहित्य के क्षेत्र मे उसके प्रभाव से लोकमंगल की नये एवं प्रबल रूप मे प्रतिष्ठा हुई और लोककल्याण को साहित्य का एकमात्र लक्ष्य माननेवाले प्रेमचन्द तथा उनके समानधर्मा साहित्यकार अपनी कला मे उसकी अभिव्यक्ति करने लगे। उधर कल्पनाशील तथा भावुक कवि-लेखको की गाधी के एकात उपयोगितावादी निरानद कला-दर्शन से तृप्ति नही हुई, इनके आदर्श बने रवीन्द्रनाथ। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने एक ओर स्वच्छदतावादी-रहस्यवादी काव्य-प्रवृत्ति को प्रभावित किया और दूसरी ओर राष्ट्रीय-सास्कृतिक धारा को भी।

४. गद्य के क्षेत्र मे रवीन्द्रनाथ का प्रभाव बहुत कम रहा। उनकी अपेक्षा बगला के ही शरत् ने भारतीय उपन्यास को और द्विजेन्द्रलाल राय ने भारतीय नाटक को अधिक प्रभावित किया। जब तक इन दोनो कलाकारो की दुर्बलता का उद्घाटन हुआ तब तक भारतीय उपन्यासकार और नाटककार यूरोप की कलाकृतियो के प्रत्यक्ष सपर्क मे आ चुके थे और स्वयं बगला के कलाकार भी रवीन्द्रनाथ आदि से विमुख होकर दूसरी दिशा मे प्रवृत्त हो गये थे।

५. सब मिलाकर रवीन्द्रनाथ ने भारत के साहित्यिक वातावरण के नवनिर्माण मे सक्रिय योगदान कर प्रत्यक्ष प्रभाव की अपेक्षा प्रेरणा ही अधिक प्रदान की। उनका प्रत्यक्ष प्रभाव भारतीय कवियो की प्रारभिक रचनाओ तक ही सीमित रहा। बाद मे प्रत्येक भाषा के समर्थ कवियो का स्वतत्र विकास हुआ और अनेक ने ऐसी कलाकृतिया भी प्रस्तुत की जो रवीन्द्रनाथ की श्रेष्ठ उपलब्धियो के समकक्ष रखी जा सकती हैं। रवीन्द्रनाथ की समवेत उपलब्धि इतनी प्रचुर और महान् है कि आधुनिक भारत का अन्य कोई कवि उनकी समता नही कर सकता। किंतु इस युग की कई समृद्ध भाषाओ

मे ऐसी प्रतिभाएं हुई हैं जिनकी उपलब्धियों का इकाई रूप मे कम महत्त्व नही है। आज के जागरूक आलोचक का यह कर्तव्य है कि राजनीतिक प्रचार से अनातंकित रह कर सतुलित एव अनासक्त बुद्धि से अन्य प्रतिभाओ का अवमूल्यन न करता हुआ आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास मे रवीन्द्रनाथ के योगदान का मूल्याकन करे। विश्वकवि के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करने की यही सर्वश्रेष्ठ पद्धति है—अभाव मे भाव का अनुसधान कर, अनुमान के आधार पर, इधर-उधर से उक्तिया और विचार एकत्र कर बरबस यह सिद्ध करना कि हमारे वर्तमान साहित्य मे जो कुछ सुदर और उदात्त है वह सब रवीन्द्रनाथ का दान है, घोर साहित्यिक अपराध होगा।

हिंदी-साहित्य पर नेहरू का प्रभाव

नेहरू अपने कृतित्व के बल पर ही आधुनिक युग के प्रमुख साहित्यकार थे और भारतीय लेखक-समाज के मन मे उनके प्रति अपार श्रद्धा थी, फिर भी हमारे साहित्य पर उनका प्रभाव प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष ही था। नेहरू की श्रेष्ठ कृतिया अगरेजी मे है और इसमे सदेह नही कि अगरेजी-गद्य के वे उत्तम शैलीकार थे। उनकी प्रतिभा एक ऐसी काव्यमयी ऐतिहासिक चेतना से समृद्ध थी, जिसमे अतीत के प्रति रोमानी सभ्रम और वर्तमान के प्रति प्रबल अनुराग का विचित्र सयोग था—और वे अत्यत सहज भाव से चित्रमय गद्य की रचना करते थे। किंतु इस अभिव्यक्ति की माध्यम-भाषा अंगरेजी ही थी, अतः हिंदी की ऐतिहासिक अथवा साहित्यिक गद्य-शैली पर उसका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नही पडा। उनकी हिंदी या हिंदुस्तानी के प्रति किसी भी गभीर लेखक की रुचि नही हुई—उसका प्रभाव केवल कुछ काग्रेसी नेताओ तक ही सीमित रहा, जो अपने भाषणो मे कभी-कभी उनकी तरह हकलाने का कौशल के साथ प्रयत्न करते थे - थोडा-बहुत आज भी करते हैं, और अपने गद्य-लेखो मे उनके प्रिय गर्भ-वाक्यो का प्रयोग करने के लिए यत्नपूर्वक सहज अन्वय-क्रम का विपर्यय कर देते थे। इस प्रकार लेखक के रूप मे हिंदी-साहित्य पर उनका कोई विशेष प्रभाव नही पडा। उनके ग्रथो के हिंदी अनुवादो मे मूल के साहित्य-गुणो का प्राय अभाव है और इस प्रकार उनका प्रभाव भी नगण्य ही है। अत हिंदी-साहित्य पर नेहरू के प्रभाव का मूल्याकन सामान्यत. दो शीर्षको के अतर्गत किया जा सकता है ' (१) उनके युग-प्रेरक व्यक्तित्व का प्रभाव, और (२) राष्ट्रीय तथा कुछ सीमा तक अतर्राष्ट्रीय गतिविधि को प्रभावित करनेवाली उनकी विचारधारा का प्रभाव।

अपने युग मे नेहरू का व्यक्तित्व कदाचित् सबसे अधिक आकर्षक था, और इस आकर्षण के कारण थे उनके भव्य आदर्श, उदात्त चरित्र, अत्यन्त परिष्कृत चेतना तथा शारीरिक सौदर्य। राजाजी का वह तीखा वाक्य कि स्त्रिया नेहरू के व्यक्तित्व के आकर्षण के कारण ही काग्रेस के पक्ष मे मतदान करती है, व्यग्य मात्र नही था। उनके जीवनकाल मे ही, मृत्यु के बाद तो और भी अधिक, विभिन्न वर्गों के हिंदी-कवियो ने उनके प्रति अत्यत भाव-समृद्ध श्रद्धाजलिया अर्पित की। वरिष्ठ कवियो मे सुमित्रानन्दन पन्त ने सबसे पहले उनका अभिनन्दन किया—पतजी की 'नेहरू-युग' कविता आज अमर हो चुकी है। दिनकर ने 'परशुराम की प्रतीक्षा' मे उनकी शाति-नीति की उग्र आलोचना की, किंतु उनके भव्य आदर्शों का दीप्त वाणी मे यशोगान

किया। निधन के उपरांत तो हिंदी के समर्थ कवियो मे उनका कीर्तिगान करने के लिए होड-सी लग गई। माखनलाल चतुर्वेदी, बच्चन, भवानीप्रसाद मिश्र, शिवमगल सिह 'सुमन' गिरिजाकुमार माथुर आदि के अतिरिक्त नयी पीढी के भी अनेक कवियो ने काव्य-गुण से सम्पन्न कविताएं लिखी और गद्य मे विपुल संख्या मे करुण-मधुर स्मृति-चित्र अकित किये गए। परिमाण की दृष्टि से, नेहरू के प्रति सबोधित साहित्य-राशि की तुलना केवल गाधी-विषयक साहित्य से ही की जा सकती है। हिंदी कथा-साहित्य के अनेक नायको की परिकल्पना नेहरू को दृष्टि मे रखकर ही की गयी है—इसका एक दीप्तिमान उदाहरण है रगभूमि का प्रमुख पात्र विनय, जिसकी सृष्टि नेहरू के यौवनकाल मे ही हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त अनेक उपन्यासो और नाटको मे नेहरू जीवत पात्र बनकर प्रत्यक्ष रूप मे भी अवतरित होते है। वास्तव मे, हिंदी-कथाकार के लिए वे आधुनिक 'काव्य-नायक' के प्रतीक बन गए थे, जिनके व्यक्तित्व में उसे आज के लोकनायक के समस्त गुण—उज्ज्वल देशभक्ति, उदार मानव-भावना, प्रबल राष्ट्रवाद, अतर्राष्ट्रीय आदर्श-कल्पना, आयोजन एव निर्माण की विपुल क्षमता—एकत्र उपलब्ध हो जाते थे। वर्तमान युग के राष्ट्रनायको मे कलाकार के लिए कदाचित् सबसे अधिक आकर्षण नेहरू के व्यक्तित्व मे ही था। गाधी का व्यक्तित्व कही अधिक गहन-गभीर और समजस था, किंतु उसमे पर्याप्त रग नही थे; पटेल मे अधिक घनत्व और दृढता थी, पर आत्मा की वह समृद्धि उनमे नही थी, राजेन्द्र बाबू मे आध्यात्मिक शाति नेहरू से अधिक थी, किंतु प्राणो की वह ऊर्जा नही थी। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व मे अनेक गुणो का ऐसा काम्य समन्वय था कि वे शास्त्र-निरूपित भारतीय काव्य-नायक के प्रतिरूप-से लगते थे।

नेहरू के जीवन-दर्शन का प्रभाव और भी अधिक व्यापक तथा सूक्ष्म-गहन था। उनके आदर्शों और नीतियो की विफलताए भी, जो व्यवहार के क्षेत्र मे क्षोभ का कारण बन सकती थी, सिद्धात के स्तर पर आकर्षणशून्य नही थी। अत प्रत्येक हिंदी-लेखक, जिसके मन मे आदर्श के प्रति थोडा-सा भी मोह था, जाने-अनजाने उनके आदर्शवाद को ग्रहण कर लेता था। इस प्रकार नेहरू आधुनिक हिंदी-साहित्य की अनेक प्रमुख प्रवृत्तियो के विकास के लिए अशत उत्तरदायी थे।

नेहरू का दृष्टिकोण मूलत. अतर्राष्ट्रीय था। उनके राजनीति-दर्शन की मुख्य विशेषता थी—मानव-जाति के सह-अस्तित्व मे अडिग आस्था, और इसमे सदेह नही कि आज के सभी वरिष्ठ लेखको की कृतियो मे आस्था का यह स्वर सर्वथा स्पष्ट है। प्रबध हो या मुक्तक, उपन्यास हो या नाटक—ललित-साहित्य की चाहे कोई भी विधा क्यो न हो, जहा कही भी इस प्रकार का प्रसंग आता है, हिंदी-लेखक प्रायः निरपवाद रूप मे शातिवाद का ही पक्ष लेता है और युद्ध-लिप्सा का प्रबल शब्दो मे तिरस्कार करता है। इसमे सदेह नही कि चीनी आक्रमण के समय यह सतुलन भग हो गया था और दिनकर जैसे प्रमुख कवि का स्वर भारत की शाति-नीति के विरुद्ध अत्यंत प्रचड हो उठा था। किंतु यह स्थिति बहुत दिन तक नही रही। शीघ्र ही सतुलन फिर से स्थापित हो गया। हिंदी-साहित्य मे वैयक्तिक, सामा-

जिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय—सभी स्तरों पर—आक्रमण के प्रति सामान्य रूप से घृणा की भावना ही मिलती है। पारस्परिक सौहार्द एवं सहयोग तथा विश्व-बंधुत्व ही आधुनिक हिंदी-लेखक के अभिमत आदर्श हैं। आप कह सकते हैं कि ये सब आदर्श तो नेहरू के सत्तारोहण से पहले ही विद्यमान थे—गांधी और गाधी से अनेक युग पूर्व बुद्ध ने अहिंसा तथा विश्वमैत्री का प्रचार किया था और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे महाकवि पचास वर्ष पूर्व 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को मुखरित कर चुके थे। ठीक है, किंतु तब तक उनकी स्थिति आदर्श और स्वप्न से अधिक नही थी। राष्ट्रीय तथा अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उन्हे मूर्त रूप नेहरू ने ही दिया। स्वतत्र भारत के कलाकार के लिए वे स्वप्न से यथार्थ बन गए और इसका श्रेय बहुत-कुछ नेहरू को ही देना होगा, जिनके कोमल स्पर्श से, ऑल्डुअ हक्सले के शब्दो मे 'राजनीति का भी सस्कार हो गया था।'

आधुनिक हिंदी-साहित्य का, सामान्यत आधुनिक भारतीय साहित्य का ही, एक प्रमुख वैशिष्ट्य है जीवन के प्रति असांप्रदायिक दृष्टिकोण। अनेक कारण ऐसे थे जिनसे हिंदी साप्रदायिकता के जाल मे फंस सकती थी और उसकी यह स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण होने पर भी कदाचित् अस्वाभाविक न होती। अपने राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध करने के लिए अंगरेज सरकार सही और गलत ढंग से हिंदी के विरुद्ध उर्दू को प्रोत्साहन देती थी और इस तरह उसने भाषा के क्षेत्र मे एक प्रकार का साप्रदायिक वातावरण पैदा कर दिया था। अगरेज सरकार के जाने के बाद हिंदी को राजभाषा के रूप मे स्वीकार किया गया। किंतु, फिर भी उसके प्रति अधिकारी वर्ग के मन मे उपेक्षा का भाव बराबर बना रहा, और काग्रेस-शासन भी अपने दायित्व का निर्वाह करने मे असफल रहा—वरन् यह कहना चाहिए कि काग्रेस-शासन के अतर्गत भी ऊचे-से-ऊचे स्तर पर हिंदी के प्रति उदासीनता की भावना विद्यमान थी। स्वय प्रधानमंत्री नेहरू ने भी हिंदी को इसलिए स्वीकार नही किया था कि उनके मन मे अपनी मातृभाषा के प्रति प्रेम था, बल्कि इसलिए किया था कि लोकतत्र और राष्ट्रवाद के प्रति उनके मन मे अटूट आस्था थी। अनेक बार उन्होने हिंदी के प्रयोग के लिए जनता तथा शासन का आह्वान किया था और औपचारिक अवसरो पर स्वय हिंदी मे भाषण कर अंगरेजी के भक्तो को अनेक बार निराश भी कर दिया था। फिर भी, इसमे सदेह नही कि हिंदी के प्रति उनके मन मे सहज अनुराग नही था, उनका हिंदी-प्रेम वस्तुत अर्जित ही था। उनके इस दृष्टिकोण की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है। हिंदी के कुछ 'दीवाने' अकसर हिंदू और हिंदी का गठबंधन कर प्राय. ऐसे असगत वक्तव्य देते रहते थे, जिनमे सांप्रदायिकता की गंध आती थी। नेहरू के अपने शिक्षा-संस्कार भी ऐसे थे जिनमे हिंदी के प्रति कोई विशेष सम्मान की भावना नही थी। और अंत मे, अंगरेजी निश्चय ही, उनकी आत्मा की वाणी—उनकी आत्माभिव्यक्ति की महज माध्यम-भाषा थी। अत किसी भी ऐसी भाषा के प्रति, जो अंगरेजी को अपदस्थ कर आगे बढना चाहती थी, उनके मन मे, या कम-से-कम अवचेतन मन मे, सद्भाव होना कठिन ही था। इस प्रकार, ऐसे अवसर

बार-बार आते रहे जब कि उदार-से-उदार हिंदी लेखक, अपनी समस्त सहिष्णुता के बावजूद, शासन द्वारा हिंदी की उपेक्षा देखकर क्षुब्ध हो उठते थे। ऐसी स्थिति मे, जाने-अनजाने, उनकी भावना कुठाग्रस्त होकर साप्रदायिकता की ओर प्रवृत्त हो सकती थी। लेकिन यह नही हुआ; और इसका मुख्य कारण, जहा तक मैं समझ सकता हू, केवल एक था . नेहरू के नेतृत्व मे साप्रदायिक भावना अपने शुद्ध अर्थ मे भी इतनी अधिक तिरस्कृत हो गयी थी कि सर्जना के ऊंचे स्तर पर भावना और चिंतन करने वाला कोई भी सच्चा लेखक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसको स्वीकार नही कर सकता था। उर्दू और अगरेज़ी के अनेक अनुदार समर्थक, जिनका संबध विशिष्ट सप्रदायो से भी था, उसकी भावना को चोट पहुचाने के लिए अकसर बहुत कुछ कहते और करते रहे, लेकिन हिंदी का लेखक अपने असाप्रदायिक दृष्टिकोण का धार्मिक निष्ठा के साथ पालन करता रहा। इसके पीछे निश्चय ही नेहरू की प्रेरणा थी।

अपने जीवन मे जवाहरलाल नेहरू सामासिक सस्कृति के विकास के लिए निरतर प्रयत्न करते रहे और आधुनिक भारत के निर्माण मे उनका यह योगदान निश्चय ही महत्त्वपूर्ण था। हिंदी-साहित्य का वातावरण, बल्कि यह कहना चाहिए कि सपूर्ण भारतीय साहित्य का ही वातावरण, सामासिक सस्कृति के विकास के लिए अधिक अनुकूल नही था। भारत के आधुनिक इतिहास का स्वर्ण-युग है पुनर्जागरण काल और इस युग की प्राणशक्ति है पुनरुत्थान की प्रवृत्ति जिसका आकर्षण आज भी कम नही हुआ। हिंदी मे जयशकर 'प्रसाद' के नेतृत्व मे छायावाद के मूर्धन्य कवि स्वर्णिम अतीत के सपने देखते रहे और स्वर्णिम अतीत का अर्थ था वैदिक युग तथा उसका परवर्ती युग जबकि हिंदू सभ्यता एवं सस्कृति अपने चरम उत्कर्ष पर थी। हिंदी के अनेक कलाकार ऐसे भी थे जिनकी कल्पना मुगल ऐश्वर्य के प्रति आकृष्ट होकर इतिहास के मध्ययुग मे ही रमण करती रही। किंतु, इन दोनो संस्कृतियो का अस्तित्व पृथक् ही रहा और दोनो वर्गों के कलाकार अपने-अपने सपनों की सस्कृति को 'शुद्ध' रूप मे ही चित्रित करने का आग्रहपूर्वक प्रयन्न करते रहे। यह प्रवृत्ति अपनी समग्र कलात्मक सभावनाओ और अत्यत परिष्कृत मानवीय सवेदनाओ के रहते हुए भी, कम-से-कम प्रत्यक्ष रूप मे, सामासिक सस्कृति के विकास मे बाधक थी। फिर भी, भारतीय कला और साहित्य के क्षेत्र मे सस्कृति की इस नवीन धारा का भरपूर प्रभाव पडा और भारतीय कलाकारो तथा लेखको का एक समर्थ वर्ग इसके विकास के लिए निरंतर उद्योगशील रहा। इस प्रकार की कलाकृतियो पर नेहरू के चिंतन और कृतित्व का गहरा प्रभाव स्वयसिद्ध है।

अपने विचारो और कार्यों के माध्यम से नेहरू ने राष्ट्रीयता को एक व्यापक अर्थ प्रदान कर दिया था। उनकी राष्ट्र-भावना मे ऊष्मा की कमी नही थी। भारत-भूमि के प्रति उन्होंने अपने रिक्थ-पत्र मे जो काव्यमय उद्गार व्यक्त किये हैं, उनकी तुलना हिंदी अथवा किसी भी भाषा की सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र-गीतियो से की जा सकती है। फिर भी, उनकी राष्ट्रीयता व्यावहारिक तथा प्रगतिशील थी। उनकी देशभक्ति

रचनात्मक थी, जिसकी अभिव्यक्ति के माध्यम थे विकास के विशाल आयोजन और उनकी कार्यान्विति के विराट् प्रयत्न। रचनात्मक प्रवृत्तियो मे राग का यह उन्नयन स्वतन्त्रता के उपरात हिंदी-साहित्य मे अनेक प्रकार से लक्षित होता है। राष्ट्र के प्रति हमारा दृष्टिकोण आज निश्चय ही रचनात्मक है और समसामयिक साहित्य पर भी व्यक्त-अव्यक्त रूप से इसका प्रभाव मिलता है। अतीत की गौरव-परपराओ के प्रति उनका हृदय काव्यमय भावनाओ से ओतप्रोत था, परन्तु वे जीते थे वर्तमान मे और उपक्रम करते थे भविष्य का। कविता और दर्शन के प्रति उनके मन मे गहरा अनुराग था, किंतु उनका विश्वास था विज्ञान मे। सस्कृति तथा विज्ञान के इस अपूर्व समन्वय के कारण ही उनके व्यक्तित्व मे आधुनिक मानव का आदर्श रूप मिलता है और आधुनिक युग का सपूर्ण प्रगतिशील भारतीय साहित्य इस समन्वय की चेतना से मुद्राकित है। उनमे मिथ्याचार तथा रुढिवाद का तिरस्कार है और वर्तमान जीवन को, सास्कृतिक परिवेश मे, विवेक की आखो से देखने-परखने की प्रबल आकाक्षा है।

अपने देश और सपूर्ण विश्व मे समाजवादी व्यवस्था कायम करने के लिए नेहरू के मन मे अबाध उत्साह था, जिसका भारतीय साहित्य पर गहरा और सीधा प्रभाव पडा। यह उत्साह भी वस्तुत. उनके आधुनिक दृष्टिकोण का ही प्रमाण था। भारतीय परपराओ मे—जीवन के शाश्वत आध्यात्मिक मूल्यो मे—उनकी आस्था दृढ और बद्धमूल थी। आरभ मे जो भी सदेह इस विषय मे थे वे सब गाधी के धर्मप्राण व्यक्तित्व के सपर्क मे रहकर प्राय दूर हो चुके थे। एक प्रकार की समाजवादी व्यवस्था मे गाधी का भी विश्वास था, किंतु गाधी का समाजवाद प्रवृत्तिमय कम और निवृत्तिमय अधिक था। जवाहरलाल नेहरू ने गाधी-दर्शन को अशत ही स्वीकार किया था। अपने बौद्धिक सस्कारो के कारण वे गाधी के त्याग और तितिक्षा के सिद्धात को स्वीकार करने मे प्राय असमर्थ ही रहे। इस प्रकार दक्षिणपथियो के शिविर मे उनकी स्थिति एक घोपित वामपथी की ही थी और यही स्थिति जीवनपर्यन्त बनी रही। देश की शासक सस्था—काग्रेस—के अपने शिविर के भीतर ही, समाजवादी तत्र की दक्षिणपथी और वामपथी परिभाषाओ का यह अतर्द्वन्द्व और अतत नेता की व्यक्तिगत धारणाओ के फलस्वरूप वामपक्ष की क्रमिक विजय हमारे आधुनिक साहित्य मे स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित है· हिंदी के कथा-साहित्य, नाटक और काव्य मे यह प्रवृत्ति अनेक प्रकार से व्यक्त हुई है।

प्रभाव और शक्ति की अभिवृद्धि के साथ-साथ जनसाधारण के प्रति नेहरू की आस्था बराबर गहरी होती गई। उनके लिए राष्ट्र पर्याय था सघर्परत अपार जनसमुदाय का, जिसके साथ, अपने सहज अभिजात सस्कारो की उपेक्षा कर, वे प्रायः एकाकार हो गये थे। "समस्त दर्शन और साहित्य का लक्ष्य है—जनकल्याण", यह घोपणा वे अत्यत प्रबल और निर्भ्रान्त स्वर मे अनेक बार कर चुके थे। इस प्रकार नेहरू भारतीय साहित्य के प्रगतिशील तत्वो के ही साथ थे, यद्यपि तथाकथित प्रगतिवादियो की रूढ मान्यताए उन्हे कभी स्वीकार्य नही हुई।

अत मे, देश की रागात्मक एकता के लिए उनका वह अभियान भी भारतीय

साहित्यकार के लिए एक प्रमुख प्रेरणा-केन्द्र बन गया। भारत की राजभाषा होने के कारण हिंदी पर इसका मुख्य दायित्व था, इसलिए हिंदी-साहित्य पर इसका प्रभाव और भी गहरा पडा। देश के सामने एक ज्वलंत समस्या रही है—विभिन्न तत्वो का समाकलन। अलग-अलग धर्मों के सिद्धातो में, विभिन्न प्रदेशो की सस्कृतियो मे, भारतीय सभ्यता और संस्कृति मे अंतर्भुक्त द्रविड और आर्य तत्वो मे, तथा एक ओर देश-के भीतर सक्रिय पुनरुत्थानवादी शक्तियो और दूसरी ओर पश्चिम के आधुनिक प्रभावों के बीच समन्वय की स्थापना का प्रश्न जितना महत्त्वपूर्ण आज बन गया है, उतना शायद कभी नही रहा। भारतीय सस्कृति की तरह भारतीय साहित्य का मूल धर्म है अनेकता मे एकता की सिद्धि, और हिंदी को, जो शताब्दियो से भारत के हृदय-देश तथा उसके बृहत्तम भू-भाग की भाषा रही है, यह शक्ति अपने सहज विकासक्रम के अतर्गत ही प्राप्त हो गई है। अत' इसका अर्जन करने के लिए हिंदी को कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पडा; हिंदी का साहित्यकार सहज भाव से रागात्मक समाकलन के इस अनुष्ठान मे मूल्यवान योग देने लगा। वास्तव मे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत विघटन की शक्तियो के लिए अवकाश ही बहुत कम होता है—और इसीलिए, अभीष्ट सकेत मिलते ही, कला की सहज समन्वयकारी शक्तियां १९६० ई० के आसपास हिंदी-साहित्य मे अनायास ही सक्रिय हो उठी। नेहरू के समंजस व्यक्तित्व एव समन्वयवादी चिंतन का इस प्रवृत्ति पर गहरा प्रभाव पडा और भारतीय कलाकार समग्र देश की रागात्मक एकता का प्रतीक मानकर उनसे सीधी प्रेरणा ग्रहण करने लगा।

यहा तक तो हुई उन सूक्ष्म प्रेरणाओ की चर्चा, जिन्हे हिंदी-साहित्य नेहरू के सुसंस्कृत व्यक्तित्व तथा कलात्मक जीवन-दर्शन से, अप्रत्यक्ष रूप मे, ग्रहण करता रहा। इनके अतिरिक्त हिंदी के विकास पर एक सीमा तक, नेहरू का प्रत्यक्ष प्रभाव भी अवश्य पडा। राज्य के प्रधान शासन होने के नाते राजभापा के स्वरूप-विकास पर उनका कुछ-न-कुछ प्रभाव पडना स्वाभाविक ही था। राष्ट्र के वे नेता थे, अत राष्ट्र की भापा और साहित्य की प्रगति के प्रति सचेष्ट थे और भाषा तथा साहित्य की प्रगति के विपय मे उनके स्पष्ट विचार थे। यह देखकर उन्हे बडा ही दु:ख होता था कि सभी भारतीय भाषाओ मे—और राजभापा हिंदी मे भी—वैज्ञानिक एवं प्राविधिक वाड्मय इतना कम है! इसकी भर्त्सना वे वार-वार करते रहे और केन्द्र तथा राज्यो की सरकारो को इस दिशा मे कदम उठाने के लिए निरतर प्रेरित करते रहे। इसका प्रभाव निश्चय ही पडा; भारतीय भापाओ मे ज्ञान के साहित्य की वृद्धि होने लगी : नेहरू का आशीर्वाद लेकर शब्दकोश, विश्वकोश, सामाजिक तथा भौतिक विज्ञान से संवद्ध विपुल ग्रथ-राशि आयोजित और प्रकाशित होने लगी। इसी प्रकार, बच्चो के प्रति नेहरू का सहज वात्सल्य हिंदी तथा अन्य भाषाओ मे बाल-साहित्य की अभिवृद्धि का कारण वना। प्रत्येक वाल-समारोह मे वे वडे ही जोरदार शब्दो मे यह अपील करते थे कि हमारे वच्चो के लिए सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं की व्यवस्था होनी चाहिए—और इन सुख-सुविधाओ मे वे सबसे ऊंचा स्थान देते थे साहित्य को। इन प्रेरणाओ का वाछित परिणाम हुआ और उनके शासनकाल मे वाल-साहित्य की प्रगति

अपूर्व वेग से हुई।

भाषा के विषय मे भी उनके विचार सर्वथा निर्भ्रान्त थे और वे चाहते थे कि हिंदी का विकास सभी प्रकार के साम्प्रदायिक प्रभावो से मुक्त रहे। हिंदू के साथ हिंदी के गठबधन का संकेत मात्र भी उन्हे असह्य था और कदाचित् इसीलिए वे अपनी पूरी शक्ति से संस्कृत के वर्धमान प्रभाव का अवरोध करते रहे। स्वतत्रता के बाद हिंदी को सस्कृतनिष्ठ बनाने की प्रवृत्ति अत्यत बलवती हो उठी थी और इसके मूल मे एकदम शास्त्रीय तथा राष्ट्रीय प्रेरणा ही थी—जिसमे साम्प्रदायिक भावना का लेशमात्र नही था। डॉ० रघुवीर और उनके अनुयायी अनेक तर्क एवं प्रमाण देकर यह सिद्ध कर रहे थे कि राजभाषा के रूप मे हिंदी का विकास सस्कृत के आधार पर ही हो सकता है, किंतु नेहरू जैसे उनकी बात सुनने को तैयार ही नही थे। उन्हें कोई सदेह नही था कि इस प्रकार के शास्त्रीय प्रयत्नो से, चाहे सिद्धाततः उनका उद्देश्य कितना ही भव्य क्यो न हो, हिंदी की जडें धरती से उखड जाएंगी और हिंदी अपनी वह ताकत व ताज़गी खो बैठेगी, जो उसे जनसाधारण के जीवत सपर्क से सहज ही प्राप्त होती रही है। इस प्रसंग के दोनो ही पक्ष है, और प्रत्येक के समर्थन मे पुष्ट तर्क दिये जा सकते है; फिर भी, जैसा कि प्राय होता है, सत्य की स्थिति यहा भी मध्यवर्ती ही है। मुझ जैसा व्यक्ति भी, जो सस्कृतनिष्ठ हिंदी का समर्थक है, इस बात से इनकार नही कर सकता कि नेहरू के विश्वास के पीछे, निश्चय ही, एक प्रबल तर्क था और स्वतत्र भारत मे हिंदी के स्वरूप-विकास पर उनके इस प्रतिरोध का प्रभाव कुछ अर्थों मे तो जरूर ही अच्छा पडा।

इस प्रकार, भारतीय साहित्य पर सामान्य रूप से, और हिंदी-साहित्य पर विशेष रूप से, नेहरू का प्रभाव व्यापक था और गहरा भी—किंतु जैसा कि मैं निवेदन कर चुका हू, यह प्रभाव अधिकतर प्रच्छन्न और आशिक ही था। भारतीय साहित्य पर उनका प्रभाव एक सामाजिक-राजनीतिक विचारक तथा लोकप्रिय राष्ट्रनायक के रूप मे ही अधिक था, लेखक के रूप मे प्रायः नही। उनका प्रभाव आशिक इस अर्थ मे था कि साहित्य की किसी भी नवीन प्रवृत्ति को संप्रेरित करने का श्रेय उन्हे नही दिया जा सकता। उनके गत्यात्मक व्यक्तित्व से हमारे साहित्य की कतिपय प्रबल प्रवृत्तियो को सवर्धन ही अधिक मिला। इनका आविर्भाव तो अनेक प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक तथा सास्कृतिक कारणो से पहले ही हो चुका था, पर नेहरू के जीवंत व्यक्तित्व और जीवन-दर्शन ने उनके प्रस्फुटन मे सहायता अवश्य दी।—अस्तु!

सब मिलाकर, उपर्युक्त तथ्य विश्लेषण से, हिंदी या भारतीय साहित्य पर नेहरू के प्रभाव का महत्त्व कम नही होता। वास्तव मे साहित्य की प्रकृति ही इस प्रकार की है कि व्यक्ति का प्रभाव उस पर प्राय प्रच्छन्न और सीमित ही रहता है। कारण यह है कि साहित्य की अभिवृद्धि वस्तुत: मौलिक एव स्वतत्र सर्जना पर ही निर्भर करती है और प्रतिभा की मौलिकता की कसौटी यह है कि वह महान्-से-महान्, किसी भी दूसरे व्यक्ति के प्रभाव के आक्रमण को रोकने मे कहा तक समर्थ है। इसीलिए तो हमारे साहित्य के इतिहासकार किसी युग का नामकरण उसके शासक

या शासकवंश के नाम पर नही करते आए है। हिंदी-साहित्य या अन्य भारतीय भाषाओ के साहित्य के पूर्व-मध्यकाल का नाम अकबर-जहागीर या मुगलकाल नही है। साहित्यिक आंदोलन अथवा साहित्यिक प्रवृत्ति को ही सदा व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है, चाहे इस व्यक्ति का प्रभाव कितना ही व्यापक और गभीर क्यों न हो। उदाहरण के लिए, हिंदी-साहित्य का स्वर्ण-युग भक्तिकाल ही कहलाता है—तुलसी-काल या सूर-काल नही। आधुनिक युग मे भी सन् १९२१ से १९३५ या उसके बाद तक भारतीय साहित्य पर गाधी का प्रत्यक्ष और गहरा प्रभाव पडा, परतु शायद गुजराती को छोड किसी भी अन्य भाषा के साहित्य का यह कालखड गाधी-युग नही माना जाता। अत यह सभावना नही है कि हिंदी अथवा किसी भी भारतीय भाषा के साहित्य मे, स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद का यह सामयिक युग नेहरू-युग के नाम से अभिहित किया जाएगा—यद्यपि भारतीय इतिहास के क्षेत्र मे संभावना प्रायः यही है कि इसका नाम नेहरू-युग ही रहेगा।

हिंदी-साहित्य : महत्त्व और उपलब्धि

देश के आधे से अधिक भूभाग में हज़ार-बारह सौ वर्षों तक उत्पादित विपुल साहित्य-राशि का मूल्याकन अपने आप मे एक दुष्कर कार्य है। इस संदर्भ मे इतिहासकार केवल इतना ही कर सकता है कि वह उन गुणो को उभारकर रख दे जो हिंदी-साहित्य को अन्य भाषाओ के साहित्य से वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं और और उन कीर्तिमानो को उजागर कर दे जो काल के प्रवाह मे स्थिर रहेगे।

इस दृष्टि से पहला तथ्य, जो हमारा ध्यान आकृष्ट करता है, यह है कि अपने जन्म-काल से ही हिंदी को जनभाषा और राष्ट्रभाषा होने का गौरव प्राप्त रहा है। वह मध्यदेश की भाषा है—और मध्यदेश की भाषा सदा से भारत की सार्वदेशिक भाषा रही है। जिन युगो मे भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए संसदीय विधेयको की आवश्यकता नही होती थी, उनमे भी हिंदी भारतीय जन-जीवन एवं संस्कृति की माध्यम भाषा थी। वह धर्म-संस्कृति की ही नही, व्यवसाय की भी भाषा थी—उसी के आधार पर उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम मे प्रायः धर्म-प्रचार और वाणिज्य-व्यापार चलता था या चल सकता था। काश्मीर से लेकर सुदूर दक्षिण और कच्छ से लेकर असम के अंतिम छोर तक फैली हुई देवगृहो की शृंखला इसका जीवंत प्रमाण रही है, जहां आज भी हिंदी का प्रयोग होता है। भिन्न-भिन्न प्रदेशो से आने वाले यात्रियों की संपर्क-भाषा एक सीमा तक हिंदी थी। यही बात व्यवसाय के क्षेत्र मे भी थी। साहित्य के क्षेत्र मे हिंदी के सार्वभौम प्रसार का प्रमाण यह है कि : (१) सभी प्रदेशो मे हिंदी के अनेक कवि-लेखक होते रहे हैं और प्राय. सभी भाषाओ मे हिंदी की एक-न-एक कालजयी कृति का अनुवाद उपलब्ध है। 'रामचरितमानस' अथवा इसके कुछ अंशो का अनुवाद भारत की कम-से-कम आठ-दस भाषाओ मे हुआ है—और इसके लिए न कोई राजकीय योजना बनी थी और न किसी प्रकार का प्रशासनिक प्रश्रय प्राप्त हुआ था। यह गौरव भारत की किसी भी अन्य भाषा को प्राप्त नही है—तमिल, मराठी, बंगला—कोई भी भाषा इस प्रकार का दावा नही कर सकती। और, यह सयोगमात्र नही है; हिंदी के स्वरूप की व्यापकता इसके लिए उत्तरदायी है।

अन्य भाषाओ की अपेक्षा हिंदी का स्वरूप अधिक व्यापक और नम्य है। अन्य भारतीय भाषाओ के प्राचीन और नवीन रूपो मे काफी अंतर मिलता है, परंतु उनमे से किसी मे भी इतनी अधिक और विकसित उपभाषाओ का अतर्भाव नही है।

स्वरूप की व्यापकता और नम्यता आज हिंदी के एक दोष के रूप मे पेश की

जा रही है। तर्क यह है कि अपने बहुविध रूप के कारण हिंदी की वास्तविक प्रकृति का निर्धारण करना कठिन है और अहिंदी-भाषी जन-समुदाय को उसके स्वरूप का निर्भ्रान्त ज्ञान प्राप्त करने मे कठिनाई होती है। यह वस्तुत एक सामान्य तथ्य को राजनीतिक रग मे पेश करने का तरीका है। अत्यत सरस वाड्मय से समृद्ध अनेक उपभाषाओ की शक्ति और माधुर्य को अपने कलेवर मे समेट कर हिंदी की क्षमता का अभूतपूर्व विकास हुआ है। उसका शब्द-भाडार, रचना-भगिमाए, प्रयोग-वैविध्य अपूर्व है और आज तो भारत की विभिन्न भाषाओ के सपर्क से उसकी क्षमता का और भी अधिक विकास हो गया है।

प्राचीन और अर्वाचीन वाड्मय को मिलाकर देखे तो गुण तथा परिमाण, दोनो की दृष्टि से हिंदी-कविता सर्वाधिक सपन्न है। कालजयी कृतियो का इतना बडा संग्रह और उच्चकोटि के कृतिकारो का ऐसा विपुल समारोह अन्यत्र दुर्लभ है। अन्य भाषाओ मे जहा रामभक्ति तथा कृष्णभक्ति के एक-दो पक्षो का ही प्रामुख्य रहा, वहा हिंदी काव्य मे प्राय सभी सप्रदाओ के कवि हुए हैं। तुलसी और सूर का गौरव तो स्वयसिद्ध है ही, विद्यापति, कबीर, जायसी, नददास, परमानद दास, हितहरिवश, मीरा, रसखान, रहीम आदि कवि किसी भाषा के शृगार हो सकते है। रीतिकाव्य हिंदी का अपना वैशिष्ट्य है। किसी अन्य भाषा मे शास्त्रीय काव्य की इतनी विस्तृत और समृद्ध परपरा नही मिलती। बिहारी, मतिराम, देव, घनानद के नेतृत्व मे इन कवियो ने पूरी दो शताब्दियो तक काव्य-कला की जो साधना की, उससे काव्य के शिल्प और माध्यम भाषा का अपूर्व विकास हुआ। अन्य भाषाओ मे भी इस प्रकार के कला-काव्य की रचना हुई, किंतु गुण और परिमाण की दृष्टि से इतनी विपुल राशि अन्यत्र दुर्लभ है।

रीतिकाल के बाद आधुनिक काल आरभ हुआ और पुनर्जागरण के अग्रदूत के रूप मे भारतेन्दु का आविर्भाव हुआ। भारतेन्दु की सास्कृतिक-साहित्यिक चेतना का धरातल व्यापक था—उन्होने उर्दू, बगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओ के सदर्भ मे हिंदी का विकास किया और उसे प्रादेशिक स्तर से ऊपर उठाकर भारतीय धरातल पर प्रतिष्ठित किया। इसके बाद जागरण-सुधार की चेतना प्रबल हुई जिसके फल-स्वरूप राष्ट्रीय-सास्कृतिक कविता का उदय हुआ। इस प्रवृत्ति का नेतृत्व किया मैथिलीशरण गुप्त ने। हिंदी की राष्ट्रीय-सास्कृतिक कविता की विशेषता यह है कि उसका स्वर निरतर भारतीय ही रहा—उसमे प्रादेशिक एवं साप्रदायिक भावना को प्रोत्साहन कभी नही मिला। बगला मे 'सोनार बागाल' के प्रति अत्यधिक मोह है, मराठी मे हिंदू राष्ट्रीयता का भाव मुखर है, दक्षिण की भाषाओ मे—विशेषकर तमिल मे—दाक्षिणात्य सस्कृति के प्रति पक्षपात है, पंजाबी मे सिक्ख भावना और उर्दू मे मुस्लिम-भावना का प्राधान्य है। हिंदी की राष्ट्रीय कविता मे न तो साप्रदायिकता को और न प्रादेशिक भावना को प्रश्रय मिला है। मैथिलीशरण जैसे वैष्णव कवि ने भी हिंदू-भावना को कभी उभरने नही दिया। हिंदी के राष्ट्रीय कवि ने जिन प्रतीको और प्रतिमानो का प्रयोग किया है वे एकदेशीय नही हैं, अखिल भारतीय हैं। वह

हिमालय का स्तवन करता है और हिंदमहासागर का भी, राजपूत योद्धाओं की प्रशस्ति लिखता है और सिख वीरो की भी, अशोक और चद्रगुप्त का कीर्तिगान करता है और अकबर का भी। उसने कभी तिलक, गाधी और जवाहरलाल मे भेद नही किया: रवीन्द्रनाथ की मृत्यु पर पत और महादेवी की कविताएं ही सर्वश्रेष्ठ हैं। गांधी का प्रभाव भारत के सपूर्ण वाङ्मय पर पडा, परंतु गाधी-दर्शन की जितनी शुद्ध और प्रामाणिक अभिव्यक्ति सियारामशरण गुप्त के काव्य मे मिलती है, उतनी गुजराती-काव्य मे भी दुर्लभ है।

अगरेजी की रोमानी कविता के प्रभाव से सभी भारतीय भाषाओ मे जिस रोमानी प्रवृत्ति का उदय हुआ, वह हिंदी मे छायावाद के रूप मे विकसित हुई। छायावाद का आविर्भाव वर्तमान युग की ही नही, हिंदी-साहित्य के इतिहास की अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना है। काव्यगत रूढियो से मुक्ति का यह अपूर्व अभियान था। छायावाद पर निश्चय ही अग्रेजी के स्वच्छंदतावादी काव्य का प्रभाव था, परतु उसमे भारतीय काव्य-चेतना के रमणीय तत्त्वो का समावेश हो गया था। रम्य और अद्भुत का जो सुदर संयोग स्वच्छंदतावाद का आधार-तत्त्व है, वह प्राचीन भारतीय काव्य मे पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान था। कालिदास की कविता मे ऐसे अनेक गुणो का उत्कर्ष सहज सुलभ था जो स्वच्छदतावादी काव्य के प्राण-तत्त्व हैं। इधर मध्ययुग के मर्मी कवियो की रचनाओ मे रहस्य-भावना का अपूर्व ऐश्वर्य विद्यमान था। रवीन्द्रनाथ इन दोनो के समन्वय का मार्ग प्रशस्त कर चुके थे। अत. द्विवेदी-युग के समाप्त होते-होते हिंदी-कविता मे एक ऐसी प्रवृत्ति का आविर्भाव हुआ जो काव्यवैभव की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। छायावाद की परिधि मे चार प्रथम श्रेणी की कवि-प्रतिभाओ का समानातर विकास हुआ प्रसाद, निराला, पत और महादेवी। प्रसाद कालिदास और रवीन्द्रनाथ की परपरा के कवि थे। मौलिकता और घनत्व की दृष्टि से उनकी प्रतिभा अद्वितीय थी, जिसका चरम परिपाक हुआ है 'कामायनी' मे। मानव-चेतना का यह महाकाव्य अथवा मानव-सभ्यता के विकास का यह विराट् रूपक हिंदी-काव्य की अद्भुत उपलब्धि है। इस प्रकार की रचना भारतीय अथवा विश्व-साहित्य मे नही है। निराला की प्रतिभा विलक्षण थी। उनका विराट् और कोमल पर समान अधिकार था और इसका सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है 'राम की शक्तिपूजा', जो इस युग की कालजयी कृति है। उनकी सर्जनात्मक शक्ति दार्शनिक औदात्त्य और सामाजिक विद्रूप, दोनो के प्रति समान रूप से सजग थी। इधर, सूक्ष्मतम सौंदर्यबोध की दृष्टि से पत का कोई प्रतिद्वंद्वी नही है। भावना की परिष्कृति और कल्पना की नफासत जैसी पंत की रचनाओ मे मिलती है वैसी किसी अन्य कवि की कृतियो मे उपलब्ध नही होती। विश्व के सौंदर्य-चेता कवियो मे पंत का अन्यतम स्थान है, इसमे सदेह नही। महादेवी ने गीत की कला का अपूर्व विकास किया है। महादेवी का वैशिष्ट्य यह है कि वे केवल हिंदी की ही नही, समस्त भारत की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री हैं—और शायद विश्व की कवयित्रियो मे भी उनका स्थान मूर्धा पर है। नयी कविता की उपलब्धियो का मूल्याकन करना अभी संभव नही है। भारत की अन्य समृद्ध भाषाओ—बगला, मराठी, गुजराती, तेलुगु,

मलयालम आदि मे भी इस प्रवृत्ति का विकास हुआ है। हिंदी की नयी कविता के पक्ष मे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसमे अन्य भाषाओ की अपेक्षा अधिक स्थिरता एवं गाभीर्य है—जीवन और काव्य के मूल्यो की जैसी भयकर अव्यवस्था अन्य भाषाओ मे है, वैसी, सौभाग्य से, हिंदी मे नही मिलती।

हिंदी मे गद्य का विकास कुछ देर से हुआ। बगला और मराठी के लेखक इस क्षेत्र मे काफी आगे बढ चुके थे। असमिया के बुरुंजी साहित्य का माध्यम—गद्य—मध्ययुग मे विकसित हो चुका था। परंतु हिंदी मे गद्य का वास्तविक विकास १९वी शती के मध्य से ही मानना चाहिए। फिर भी, हिंदी ने अपनी इस कमी को बडी जल्दी ही पूरा कर लिया, और आज रस के साहित्य तथा ज्ञान के साहित्य—दोनों क्षेत्रो मे उसकी उपलब्धिया किसी से कम नही है। हिंदी मे उपन्यास का उद्भव बंगला के प्रभाव मे हुआ। बकिम, रवीन्द्र और शरत्, विकास के प्रथम चरण मे, उसके प्रेरणा-स्रोत थे। किंतु बीसवी शती का पहला चरण पार करते ही हिंदी के कथा-साहित्य—उपन्यास और कहानी—ने अपने स्वतत्र व्यक्तित्व का निर्माण कर लिया और बगला के प्रभाव से मुक्त प्रेमचंद्र ने स्वस्थ सामाजिक मूल्यो के आधार पर जिस उपन्यास-कला का विकास किया, वह हिंदी की अपनी विभूति है। गाधीयुगीन भारत के सामाजिक-राजनीतिक जीवन का सबसे सशक्त एव प्रामाणिक साहित्यिक दस्तावेज प्रस्तुत करने का श्रेय प्रेमचद को ही है। उनके परवर्ती उपन्यासकार अपनी-अपनी दिशा मे आगे बढे और जैनेन्द्र, यशपाल, वृंदावनलाल वर्मा, अज्ञेय तथा रेणु जैसे कलाकारो की कालजयी उपलब्धिया निश्चय ही प्रादेशिक अथवा भाषिक सीमाओ से मुक्त हैं। हिंदी कहानी ने केवल तीन-चार दशको के भीतर ही इतनी द्रुत गति से विकास किया है कि आज वह विश्व की किसी भी भाषा की कहानी के साथ आत्मविश्वासपूर्वक खडी हो सकती है। हिंदी का रगमच, और उसी के कारण हिंदी का नाटक, बगला तथा मराठी जैसी भाषाओ की तुलना मे पिछडा हुआ है। किंतु, इस तथ्य की भी उपेक्षा नही करनी चाहिए कि हिंदी ने प्रसाद जैसे मौलिक नाटककार को जन्म दिया है, जिनकी प्रतिभा ने भारतीय रस-तत्त्व और पाश्चात्य नाटक के अन्त सघर्ष के समन्वय द्वारा एक नवीन नाट्य कला का विकास किया जो आधुनिक युग चेतना के अनुरूप होने के साथ-साथ अपनी आत्मा मे भारतीय है। पश्चिम का जो जादू द्विजेन्द्रलाल राय के सिर पर चढकर बोला है, उसका प्रसाद ने अपने कलात्मक प्रतिमानो के अनुसार, स्वेच्छा से, उपयोग किया है।

आलोचना, आलोचनाशास्त्र तथा शोध हिंदी-साहित्य के अत्यत पुष्ट अग हैं। सस्कृत-काव्यशास्त्र की परपरा, जो अन्य भाषाओ मे प्राय लुप्त हो गयी थी, हिंदी के रीतिकाल मे निरतर जीवित रही। आधुनिक युग मे गद्य का माध्यम प्राप्त होने पर भारतीय और पाश्चात्य काव्य-सिद्धातो के समन्वय से एक सश्लिष्ट काव्यशास्त्र का निर्माण आरभ हुआ जिसका आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा उनके परवर्ती आलोचको ने सम्यक् विकास किया। आधुनिक भारतीय भाषाओ मे हिंदी का आलोचना-साहित्य तथा आलोचनाशास्त्र निश्चय ही सर्वाधिक प्रौढ और समृद्ध है।

ज्ञान-साहित्य के क्षेत्र मे भी हिंदी की अपेक्षा कुछ अन्य भाषाएं अग्रणी हैं, लेकिन यहां भी उसने वड़ी जल्दी अपने अभाव की पूर्ति कर ली है। स्वतंत्रता के वाद राजभाषा के रूप मे प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदी के ज्ञान-साहित्य का योजनावद्ध विकास हुआ है। इस समय तक हिंदी मे विश्व-कोश, विशाल शब्दसागर, वृहद् अंग्रेजी-हिंदी-कोश आदि के अतिरिक्त विपुल तकनीकी साहित्य रचा जा चुका है और लगभग चार लाख पारिभाषिक शब्दो का निर्माण हो चुका है। आजकल हिंदी मे प्रतिवर्ष जितनी साहित्य-राशि का प्रकाशन होता है, उतनी भारत की सभी भाषाएं मिलकर नही कर पाती।

आधुनिक युग का एक वरदान यह है कि विश्व के विभिन्न देश और उनकी भाषाएं वहुत काफी निकट आ गयी हैं। हिंदी को आज न केवल भारतीय वरन् अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में अपनी शक्ति और सीमा का आकलन करने का अवसर प्राप्त हुआ है। यह हिंदी के लिए अत्यंत शुभ अवसर है और हमारा साहित्यकार आज अभावो के प्रति सचेत होकर अपनी क्षमता के प्रति सहज आश्वस्त हो सकता है। राष्ट्रीय एव अंतर्राष्ट्रीय मंच का निर्माण हो जाने पर अव इस भ्रांति का निवारण हो जाना चाहिए कि हिंदी के वर्तमान गौरव का आधार केवल सीमा-विस्तार अथवा संख्या-बल है, साहित्यिक समृद्धि नही।

खंड–३

कृतिकार

काव्य-भाषा : तुलसीदास की अवधारणा

सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे।
अरथु अमित, अति आखर थोरे ॥

संदर्भ . यह अर्द्धाली अयोध्याकाड के अतर्गत 'चित्रकूट-प्रसग' से उद्धृत है जहा स्वामिधर्म और स्वार्थ—तथा धर्म और प्रेम के द्वद्व के कारण एक विचित्र गतिरोध उत्पन्न हो गया था। महाराज जनक ने जब भरत से गतिरोध भग करने के लिए कहा तो भरत ने अत्यत सावधान भाषा मे उत्तर दिया :

राखि राम रुख धरमु व्रतु पराधीन मोहि जानि।
सबकें सम्मत सर्बहित करिअ पेमु पहिचानि ॥ (अयो० २९३)

भरत के वचन सुनकर राजा जनक तथा उपस्थित सभ्यजन उनकी वचन-भंगिमा अथवा कथन-शैली की इस प्रकार प्रशसा करते हैं : "भरत की वाणी सुगम है और अगम भी, मृदु-मजु अर्थात् मधुर-कोमल भी है और कठोर भी।"—

इसी क्रम मे, अपने मतव्य को और स्पष्ट करते हुए जनक कहते हैं :

ज्यो मुखु मुकुर, मुकुरु निज पानी,
गहि न जाइ अस अद्भुत बानी।

—अर्थात् जैसे मुख दर्पण मे (दिखाई देता) है और दर्पण अपने हाथ मे है, फिर भी मुख का प्रतिबिंब पकड मे नही आता, यह अद्भुत वाणी भी कुछ इसी प्रकार की है— अथवा भरत की वाणी का स्वरूप भी इसी प्रकार अद्भुत है।

मानस के टीकाकारो ने भरत के वक्तव्य के संदर्भ मे उनकी वाणी के लिए प्रयुक्त विशेषणो की व्याख्या की है। भरत की वाक्य-रचना सुबोध है, उसमे किसी प्रकार की अस्पष्टता या वाक्छल नही है। लेकिन फिर भी अगम्य है अर्थात् उसमे निहित अर्थ को ग्रहण करना अत्यत कठिन—और सामान्यजन के लिए असंभव—है क्योकि उसमे विवेक, धर्म और नीति का गूढ तत्त्व निहित है। आगे कहा भी है :

बिमल बिबेक धरम नय साली।
भरत-भारती मञ्जु मराली ॥

यह वाणी मधुर-कोमल है क्योंकि यह अतिशय स्नेह और विनय से सिक्त है, फिर भी कठोर है : इसमे विचार की अपूर्व दृढता है और इसका फलितार्थ कठोर—अप्रीतिकर है। राम के प्रति भरत के प्रेम की अभिव्यक्ति अत्यत मधुर है। किंतु, यह निर्णय उतना ही कठोर है कि राम के धर्म तथा व्रत का पालन होना चाहिए, क्योकि

इसका सीधा आशय यही है कि राम अयोध्या नहीं लौटेंगे। इस प्रसंग मे कुछ काव्य-मर्मज्ञ टीकाकारो ने और भी अधिक विदग्धता का परिचय दिया है। उनका मत है : "सुगम अगम, मृदु कठोर श्री भरत जी की वाणी के विशेषण है और मजु का अन्वय चारो के साथ है। इन चारो मे दो-दो का साथ है—सुगम और मृदु का साथ और अगम और कठोर का साथ है। "राम रुख राखि" और "पराधीन मोहि जानि" यह मंजु, सुगम और मृदु हैं। और रामजी का धर्म-व्रत रखना यह (मजु) सुदर अगम और कठोर है।"—(देखिए 'मानस-पीयूष', तृ० सं०, पृ० १०३१)

इसका तात्पर्य यह है कि मजुता अथवा सौंदर्य भरत की वाणी का सामान्य गुण या अनिवार्य लक्षण है। चाहे वह सुगम हो या अगम; मृदु हो या कठोर—प्रत्येक स्थिति मे उसकी शब्दयोजना मे चारुत्व का गुण विद्यमान है।

यह अर्थ सर्वथा निरापद नही है। इसमे दो दोष हैं। एक तो यह कि मजु का अर्थ मृदु से अधिक भिन्न नही है : वह व्यापक रूप मे सुदर या सुष्ठु का पर्याय भी हो सकता है, किंतु अपने शुद्ध रूप मे मृदु या कोमल का ही समानार्थक है। अतः वाक्य-विन्यास की दृष्टि से 'मृदु-मजु' को एक युग्मपद मानकर उसका अर्थ करना अधिक सगत है। इस प्रकार के समानार्थक शब्द-युग्म का प्रयोग प्रायः होता है। दूसरा दोष उपर्युक्त व्याख्या मे यह है कि उसकी सिद्धि के लिए दूरान्वय करना पडता है। भाषा मे—विशेषकर काव्य-भाषा मे समास-गुण उत्पन्न करने के लिए कभी-कभी कवि किसी एक सज्ञा, क्रिया या विशेषण का प्रयोग इस प्रकार करता है कि उसका संबंध विभिन्न पदो के साथ बैठ जाता है। परतु इस प्रकार के शब्द की स्थिति वाक्य के आरंभ मे या फिर ठीक मध्य मे होनी चाहिए। उपर्युक्त पंक्ति मे यदि 'मंजु' का अन्वय एक ओर सुगम-अगम और दूसरी ओर मृदु-कठोर के साथ करना अभीष्ट होता तो उसकी स्थिति मृदु से पहले होनी चाहिए थी (यद्यपि उससे छदोभंग हो जाएगा)। प्रस्तुत वाक्याश मे 'मृदु' की स्थिति तो ऐसी हो सकती है कि उसका सबंध 'सुगम-अगम' और 'मंजु-कठोर' के साथ बैठ जाए; किंतु 'मंजु' के लिए दूरान्वय-साधना करनी पडती है जो भाषा के नियमो के अनुकूल नही है।—फिर भी, उपर्युक्त तथ्यो की यदि हम उपेक्षा कर दें तो टीकाकार की सूझ की दाद दी जा सकती है, क्योंकि उससे सफल वाणी अथवा भाषिक कला के एक सामान्य लक्षण का प्रकाशन होता है : और वह है शब्दार्थ का चारु प्रयोग। मंतव्य चाहे सुबोध हो या गूढ, मधुर-कोमल हो या कठोर—शब्द-विधान सुदर होना चाहिए। अगले चरण मे दो और गुणो का उल्लेख किया गया है: १. अरथ अमित और २. आखर थोरे—यानी गागर मे सागर भरने की क्षमता। यह भी वाणी का चरम उत्कर्ष है कि कम-से-कम शब्दो के द्वारा अधिक-से-अधिक अर्थ की अभिव्यक्ति की जा सके। भरत ने अपने शील-स्वभाव के कारण बहुत ही कम शब्दो का प्रयोग किया, किंतु उनमे अत्यंत गहन-गभीर अर्थ निहित था।

काव्य-भाषा का सामान्य लक्षण

मानस के मर्मज्ञो के अनुसार उपर्युक्त अर्द्धाली अथवा पूरी चौपाई की अर्थ-

व्याप्ति भरत की वाणी से आगे बढकर काव्य-वाणी तक सहज ही हो जाती है। उनका मतव्य है कि यहा कवि ने भरत की वाणी के व्याज मे अपनी ही काव्य-वाणी अथवा सामान्य काव्य-भाषा के अभीष्ट स्वरूप का विश्लेषण किया है। यह निष्कर्ष स्वाभाविक और तर्कसम्मत है : प्रबंध-कवि यथास्थान, उपयुक्त सदर्भ मे, अनुरूप पात्रो के माध्यम से जीवन तथा काव्य-विषयक अपने विचारो की अभिव्यक्ति करता है। तुलसीदास ने भी स्थान-स्थान पर ऐसा किया है। अत प्रस्तुत चौपाई मे 'आदर्श काव्य-भाषा' के विषय मे तुलसीदास के विचारो का सार है, ऐसा मानना असंगत नही है।

भरत-वाणी के विश्लेषण के अनुसार काव्य-भाषा के चार-पाच विशेषण तुलसी को अभीष्ट हैं— (१) सुगम, (२) अगम, (३) मृदु, (४) कठोर और इन सबमे समान रूप से व्याप्त (५) सुदर। इनके अतिरिक्त दो-तीन और विशेषताओ का भी स्पष्ट उल्लेख है। ये विशेषताए हैं· अर्थ-गौरव और शब्द-लाघव। अंत मे, एक विशेष गुण मे इन सबका उपसहार कर दिया गया है : काव्य-भाषा मे अर्थ की अभिव्यक्ति इस प्रकार होनी चाहिए जैसे दर्पण मे प्रतिबिंब।

इनके क्रमिक विश्लेषण से तुलसी का मतव्य स्पष्ट हो जाएगा।

(१) सुगम

काव्य-भाषा सुगम होनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि उसके वाक्य-विन्यास मे किसी प्रकार का उलझाव या रचना मे निविडता नही होनी चाहिए। शब्द और अर्थ मे व्याकरणसम्मत सबध रहना चाहिए—जिसमे वाच्यार्थ अपने आपमे स्पष्ट हो सके। सुगम का अर्थ है सुबोध· कविता की भाषा का वाच्यार्थ स्पष्ट और सुबोध होना चाहिए, अन्यथा पाठक की उसमे प्रवृत्ति ही नही हो सकती।—यह उसका मूल गुण है, जिसके बिना अर्थव्यक्ति सभव ही नही है। रीतिवादी आचार्य वामन का 'अर्थव्यक्ति' नामक गुण यही है।

(२) अगम

अगम्यता सामान्यत: काव्य-भाषा का गुण नही है· काव्य की भाषा दुर्बोध भी नही होनी चाहिए, अबोध्य या अगम्य होने का तो प्रश्न ही नही है। पर यहा भक्त कवि ने उसका एक विशेष सदर्भ मे प्रयोग किया है। 'अगम' वास्तव मे ब्रह्मविद्या का शब्द है। उपनिषद आदि मे इसका या इसके समानार्थक शब्दो का बार-बार उल्लेख है : परतत्त्व को अगम और अचित्य कहा गया है। ब्रह्मविद्या से यह शब्द धर्म और भक्ति-चिंतन के क्षेत्र मे आया। "धर्म का तत्त्व चेतना की गुहा मे निहित है।" "भगवान राम का चरित्र सुगम और अगम है" आदि कथन इसके प्रमाण हैं। भरत की वाणी के लिए 'अगम' विशेषण का प्रयोग इसीलिए किया गया है कि उसमे धर्म के तत्त्व का उल्लेख है। परतु काव्य-वाणी के सदर्भ मे इसका अर्थ कुछ भिन्न होगा। यहा अगम वाणी का अर्थ है—सूक्ष्म-गहन अर्थ से युक्त या सूक्ष्म-गहन अर्थ का वहन

करने मे समर्थ । काव्यार्थ सामान्य जन—यहा तक कि विद्वानो—की बुद्धि में भी नही आता, वह सहृदय-सवेद्य होता है, उसका मर्म विदग्ध जन ही समझ सकते हैं। इस प्रकार अगम्य का अर्थ होगा—सहृदयगम्य ।

(३) मृदु अथवा मृदु-मंजु

इसका आशय यही है कि काव्य-भाषा मे कोमलकात पदावली का विशेष महत्त्व है । ऐसी शब्दावली का प्रयोग काव्य मे वर्जित है, जिसकी ध्वनि कानो के लिए और अर्थ चित्त के लिए क्षोभकर हो । काव्य-भाषा के मर्मज्ञो ने माधुर्य गुण, पांचाली रीति और कोमल वृत्ति आदि के अंतर्गत इसी गुण का विवेचन किया है । वामन आदि ने ध्वनि या नाद के साथ-साथ अर्थ के अपारुष्य का भी अतर्भाव कर लिया है : क्षोभकारी वर्ण-ध्वनि ही नही, अर्थ-ध्वनि भी काव्य-भाषा के लिए बाधक है ।

(४) कठोर

इसके अतर्गत शब्द-योजना की दृढता—गाढबंधत्व और—अर्थ की दृढ़ता का समावेश है । केवल कोमलकात पदावली के आधार पर काव्य-भाषा का निर्माण नही हो सकता । शास्त्रज्ञो ने ओज गुण, गौडीया रीति या परुषा वृत्ति मे काव्य-भाषा के कठोर स्वरूप की विवेचना की है ।

यहा एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है और वह यह कि मृदुता और कठोरता—दोनो ही अपने आपमे सामान्य या अनिवार्य गुण नही हैं । ये दोनों प्रसंग द्वारा अनुबंधित हैं । सही स्थिति यह है कि काव्य-भाषा मे यथाप्रसंग कोमलकात तथा ओजोदीप्त दृढ-कठोर पदावली का प्रयोग होना चाहिए ।

उपर्युक्त परस्पर विरोधी विशेषणो की एक और तर्कसगत व्याख्या हो सकती है : प्रौढ काव्य-भाषा के निर्माण मे मृदु-मजु और कठोर—दोनो प्रकार की शब्दावली का समन्वय रहता है । केवल कोमल वर्णो के प्रयोग से भाषा अशक्त हो जाती है और केवल परुषा वृत्ति के प्रयोग से उसकी सरसता को आघात पहुंचता है । इसीलिए वामन ने पाचाली और गौडीया रीतियो को गौण माना है और इन दोनो के तत्त्वों से निर्मित, समजस, वैदर्भी रीति को काव्य का प्राण-तत्त्व कहा है । अत काव्य-भाषा के प्रसंग मे मृदु और कठोर विशेषणो को स्वतत्र रूप से ग्रहण नही करना चाहिए : या तो उनके साथ प्रसग का अनुबंध लगा देना चाहिए या फिर दोनो के द्वद्व को एक साथ ग्रहण करना चाहिए ।—काव्य की भाषा यथासभव मृदु एवं कठोर होनी चाहिए—अथवा यह कहे कि काव्य-भाषा मे मार्दव और काठिन्य, दोनो का उचित समाकलन होना चाहिए ।

(५) मंजु

मंजु को यदि पृथक् विशेषण माना जाए और उसकी संगति अन्य चारों विशेषणो के साथ लगायी जाए तो, जैसा कि भरत-वाणी के संदर्भ में मैंने स्पष्ट किया

है, इसका अर्थ यह होगा कि सुगम-अगम, मृदु-कठोर—प्रत्येक स्थिति में काव्य-भाषा में शब्दार्थ का सम्यक् एवं सुष्ठु प्रयोग होना चाहिए। चारु शब्द-विधान काव्य-भाषा का अनिवार्य लक्षण या व्यावर्तक धर्म है।

(६) 'अरथ अमित' और 'आखर थोरे'

'अरथ अमित' के लिए शास्त्रीय शब्द है अर्थ-गौरव। वामन ने अर्थगुण 'श्लेष' में इसी का निरूपण किया है। 'आखर थोरे' के लिए शास्त्रीय शब्द है समास-गुण। ये दोनों ही काव्य-भाषा के प्रधान तत्त्व हैं। भावार्थ की गरिमा के बिना भाषा की शक्ति क्षीण हो जाती है और समास-गुण के अभाव में वह बिखर जाती है। वास्तव में ये दोनों गुण अन्योन्याश्रित हैं. अर्थ-गौरव के समावेश से भाषा में शब्द-लाघव की सिद्धि अपने-आप ही हो जाती है। ज्यों-ज्यों कवि की भाषा का विकास होता है, उसमें उपर्युक्त दोनों गुणों के कारण प्रौढि और परिपाक का समावेश होता जाता है: शब्द-विधान में निमज्जित होकर अर्थ उसमें शक्ति का सचार करता है—जैसे कि 'विनयपत्रिका' में। इस दृष्टि से कुछ समीक्षकों का मत है कि कवि के कृतित्व के विकास का आकलन उसकी भाषा के विकास के आधार पर ही किया जा सकता है।

अंत में, द्वितीय अर्द्धाली में कवि ने अपने विचारों का उपसंहार कर दिया है: काव्य की भाषा में अर्थ इस प्रकार स्पष्ट झलकता है, जैसे दर्पण में प्रतिबिंब। अर्थात् उसका वाच्यार्थ एकदम प्रत्यक्ष और स्पष्ट होता है। किंतु, जिस प्रकार साफ़-साफ़ दीखने पर भी प्रतिबिंब को पकड़ना संभव नहीं है, इसी प्रकार काव्य के व्यंग्यार्थ को पकड़ना अर्थात् उसकी इयत्ता को नियत कर देना संभव नहीं है: वाच्यार्थ नियत और मूर्त होता है, किंतु व्यंग्यार्थ अनियत और सूक्ष्म होता है। इसीलिए वाच्यार्थ के बिंबों को रिचर्ड्स ने 'परिबद्ध' और व्यंग्यार्थ के बिंबों को 'स्वच्छंद' माना है। वाच्यार्थ सीमित होता है, किंतु व्यंग्यार्थ असीम होता है: वह बोध-वृत्ति का अतिक्रमण करता हुआ कल्पना पर आरूढ होकर असीम बन जाता है। इसीलिए सौंदर्य के स्वरूप को पारमार्थिक न मानकर प्रातिभासिक माना गया है—अर्थात् वह वस्तुगत न होकर प्रतीतिगत ही होता है।

आधुनिक समीक्षा तथा शैलीविज्ञान में काव्य-भाषा के इन गुणों पर विशेष बल दिया गया है। उनके अनुसार काव्य-भाषा के प्रमुख तत्त्व हैं· विरोधाभास—जहां विपरीतार्थक शब्दों के सह-प्रयोग के द्वारा चमत्कार की सृष्टि की जाती है; अनेकार्थता, जिनके अंतर्गत एक शब्द, वाक्यांश या वाक्य में अनेक अर्थों की व्यंजना निहित रहती है, शब्दार्थ-संतुलन, जहां शब्द और अर्थ में परस्पर स्पर्धा-सी बनी रहती है और शब्द के निहित अर्थ तथा विहित अर्थ, दोनों के विस्तार में एक प्रकार का तनाव-सा पैदा हो जाता है।—आप देखेंगे कि तुलसीदास ने अपने ढंग से किस कौशल के साथ उपर्युक्त भाषिक गुणों की ओर संकेत किया है। सुगम-अगम, मृदु-कठोर विपरीतार्थक शब्द हैं जिनके सह-प्रयोग द्वारा काव्य-भाषा में विरोधाभास के चमत्कार को रेखांकित किया गया है। 'अगम' शब्द का संदर्भ एक ओर ब्रह्मविद्या

तथा धर्म-नीति के गुढतत्त्वो से और दूसरी ओर काव्य-तत्त्व के साथ जुडा हुआ है : दोनों स्थितियो मे वह 'असाधारण' अर्थ का द्योतन करता है । अंत में मुकुर-प्रतिबिंब की उपमा द्वारा काव्य के अतर्मुख अर्थ-विस्तार और बहिर्मुख अर्थ-विस्तार के सतुलन की मार्मिक व्यजना हुई है ।

प्रस्तुत प्रसग मे एक बात और ध्यान देने योग्य है । तुलसीदास ने इस प्रकार के सैद्धातिक वक्तव्यो मे 'शब्द' का प्रयोग न कर 'अक्षर' (आखर) या 'वर्ण' का ही प्रयोग किया है :

१. आखर अरथ अलंकृति नाना ।
२. कबिहि अरथ आखर बलु साँचा ।
३. वर्णानामर्थसंघाना रसाना छन्दसामपि ।

यह प्रयोग काव्यशास्त्र की परपरा से भिन्न है, क्योकि वहा तो निरंतर 'शब्द' का ही प्रयोग हुआ है : 'शब्दार्थौ काव्यम्' सूत्र का प्रचलन आरंभ से अंत तक रहा है। इसके दो कारण हो सकते है । एक तो यह कि सामान्यत: 'शब्द' मे अर्थ की सत्ता निहित रहती है, अतएव अर्थ से भेद करने के लिए उसका प्रयोग न कर 'अक्षर' अथवा 'वर्ण' का प्रयोग किया है । इसी भ्रम का निवारण करने के लिए अब पश्चिम मे 'वर्ड' और 'मीनिंग' के स्थान पर 'साउड और सेंस' का अधिक प्रचलन हो गया है। दूसरा कारण यह हो सकता है कि सस्कृत-वाड्मय मे आरभ मे 'अक्षर' का प्रयोग 'वाक्' के और कुछ समय बाद 'शब्द' के लिए भी हुआ है . ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् (ऋ० प्र० म०) । कारण कुछ भी रहा हो, पर तुलसीदास का इस विषय मे विशेष आग्रह था, इसमे सदेह नही ।

हमारे मत से, उक्त अर्द्धाली के आलोक मे तुलसी के काव्य-भाषा-विषयक विचारो का सार-सकलन यही है । और, इसमे संदेह नही कि यह सहजानुभूति से प्रेरित और शास्त्रचिंतन से परिपुष्ट है ।

तुलसी और नारी

तुलसी के यह सौभाग्य और दुर्भाग्य दोनो ही रहे हैं कि भारतीय परंपरा ने उन्हें लोकनायक महात्मा पहले और कवि बाद मे माना है। इस दृष्टि से उनके ग्रंथ हमारे लिए आचार-शास्त्र का काम भी करते रहे हैं। तुलसी के प्रकाड आलोचक शुक्लजी ने भी उनके इस रूप पर ही अधिक बल दिया है। परिणामत. आज तुलसी के साहित्यिक महत्त्व के मूल्यांकन मे भी अनेक नैतिक-सामाजिक प्रश्नो का उत्तर देना अनिवार्य हो जाता है। जब तुलसीदास के समर्थको और भक्तो ने उनके काव्य पर सामाजिक आचार-शास्त्र का आरोप किया तो स्वभावत. ही आधुनिक नारी की उद्‌बुद्ध चेतना ने सहृदयता के न्यायालय में अपने प्रति न्याय की माग की।

तुलसीदास के 'रामचरितमानस' तथा अन्य ग्रंथो मे विभिन्न प्रसगो मे, ऐसी अनेक उक्तिया हैं जो किसी भी देश-काल की नारी के प्रति, किसी रूप में भी न्याय नहीं करतीं। उन्होंने नारी की प्रकृति, उसके चारित्र्य-बुद्धि-विवेक, आचार-व्यवहार सभी की निंदा की है। पहले प्रकृति को लीजिये।

स्वयं भगवान शंकर के श्रीमुख से, जगदंबा सती के व्याज से, नारी की प्रकृति का वर्णन सुनिये :

> सुनहु सती तव नारि सुभाऊ।
> संसय अस न धरिय उर काऊ॥

इनके आगे कवि की टिप्पणी है :

> सती कीन्ह चह तहहुं दुराऊ।
> देखहु नारि सुभाव-प्रभाऊ॥

भरत 'रामचरितमानस' के सर्वश्रेष्ठ पात्र हैं। वे तुलसी के मत से मानव-रूप के आदर्श हैं। नारी की प्रकृति के विषय मे उनकी धारणा सर्वथा प्रतिकूल है :

> विधिहु न नारि हृदय-गति जानी।
> सकल कपट अघ अवगुन खानी॥

उधर रावण, भरत के सर्वथा विपरीत, तुलसीदास की धारणा के अनुसार अमानव-रूप का प्रतीक है। परंतु नारी की प्रकृति के विषय मे तुलसी के आदर्श मानव और अमानव, दोनो का एक ही मत है। रावण के शब्दों मे :

> नारि-सुभाव सत्य कवि कहहीं।
> अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥

साहस अनृत चपलता माया।
भय अविवेक असौच अदाया ।।

इस प्रकार तुलसीदास के दो सर्वथा प्रतीप पात्र नारी के विषय में एकमत हैं। और यह धारणा केवल पुरुषो की ही नही है, नारी स्वयं भी अपने विषय मे यही सोचती है।

राम से शबरी कहती है :

अधम तें अधम अधम अति नारी।
तिन्ह महँ मैं मति-मन्द गँवारी ।।

उधर भगवती अनसूया भी नारी को सहज अपावन ही मानती हैं : 'सहज अपावन नारि।'

ये तो हुए व्यक्तियो के विचार, समष्टि का निर्णय भी नारी की प्रकृति को दुष्ट ही ठहराता है। अयोध्या का जनमत है :

सत्य कहहिं कवि नारि-सुभाऊ।
सब बिधि अगहु अगाधि दुराऊ ।।

और अंत मे निष्कर्ष-रूप मे स्वयं तुलसीदास की घोषणा है कि नारी स्वतन्त्र होकर मार्गभ्रष्ट हो जाती है : 'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी।'

प्रकृति के अतिरिक्त नारी की बुद्धि और विवेक के विषय मे भी तुलसीदास का मत भिन्न नही है। सती के शब्दो मे स्वयं नारी अपनी बुद्धि के विषय मे कहती है :

सती हृदय अनुमान किय, सब जानेउ सर्वज्ञ।
कीन्ह कपटु मैं संभु सन, नारि सहज जड अज्ञ ।।

अपनी सहज अज्ञता के कारण वह तत्त्व-दर्शन आदि की अधिकारिणी नहीं है : 'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी।' इसी प्रकार उसके आचार-व्यवहार को भी तुलसीदास ने मलिन ही माना है .

कहँ हम लोक-बेद-बिधि-हीनी।
लघु तिय कुल करतूति मलीनी ।।

उनकी दृष्टि मे नारी का सामाजिक गौरव कितना है, इसका संकेत भी आपको मर्यादापुरुषोत्तम भगवान राम के शब्दो मे मिल जायेगा। लक्ष्मण-शक्ति के अवसर पर शोक-विह्वल राम इस दुर्घटना का समस्त दोष नारी के ही मत्थे मढ देते हैं :

जैहउँ अवध कवन मुँह लाई।
नारि-हेतु प्रिय भाइ गँवाई ।।
बर अपजस सहतेउँ जगमाही।
नारि-हानि बिसेस छति नाही ।।

यहा राम शोक मे व्याकुल होकर न केवल क्षत्रिय की, वरन् साधारण पुरुष की आत्म-मर्यादा का भी, त्याग कर देते हैं। स्त्री का हरण पुरुष के पौरुष के लिए सबसे बडी चुनौती है; परंतु यहा ऐसा प्रतीत होता है मानो नारी के प्रति पतनकालीन हिंदू-समाज की हीन भावना राम पर भी हावी हो जाती है।

तुलसीदास का सबसे भयंकर प्रहार नारी के कामिनी-रूप पर हुआ है। उन्होने रामादि आदर्श पात्रों द्वारा परोक्ष रूप से और उधर स्वयं प्रत्यक्ष रूप से अनेक स्थानो पर नारी के इस भयंकर खतरे की चेतावनी दी है : पंपासर के किनारे नारद मुनि को सावधान करते हुए भगवान राम कहते है :

सुनि मुनि कह पुरान स्रुति सन्ता।
मोह - बिपिन कहुँ नारि बसन्ता॥
जप तप नेम जलासय भारी।
होइ ग्रीसम सोखइ सब नारी॥
पाप उलूक-निकर सुखकारी।
नारि निबिड रजनी अँधियारी॥
बुधि बल सील सत्य सब मीना।
बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना॥

नारी मोह-रूपी विपिन के लिए वसन्त के समान है, जप-तप नियमादि जलाशयो को वह ग्रीष्म ऋतु के समान सुखा देती है। पाप-रूपी उलूको के लिए वह निविड रात्रि के सदृश सुखदायी है और बुद्धि, बल, शील तथा सत्य रूपी मीनो के लिए वशी के समान है।

उसमे संयम का इतना घोर अभाव है कि भ्राता, पिता और पुत्र किसी भी सुदर पुरुष को देखकर वह रसार्द्र हो जाती है :

भ्राता पिता पुत्र उरगारी।
पुरुष मनोहर निरखत नारी॥
होइ बिकल मन सकहिं न रोकी।
जिमि रबिमनि द्रव रबिहिं बिलोकी॥

इसीलिए तुलसीदास अपने मन को बार-बार सचेत करते हैं :

दीपसिखा सम जुवति तन, मन जनि होइ पतंग।
भजहु राम, तजि काम मद, करहु सदा सतसंग॥

क्योकि पुरुष के लिए स्त्री घोर शत्रु से भी अधिक दारुण है—उसकी भयंकरता मृत्यु से कुछ ही कम समझिये : इसका प्रमाण है जन्म-कुडली, जिसमे नारी का स्थान दारुण वैरी और मृत्यु के बीच मे पडता है :

जनम-पत्रिका बरति कै, देखहु मनहिं बिचारि।
दारुन बैरी मीचु कै, बीच बिराजति नारि॥

तुलसी बाबा अपनी सफाई मे क्या कहते, यह कहना तो आज सभव नही, परतु उनके भक्तो और प्रशंसको ने उनकी ओर से अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं जिनका साराश इस प्रकार है :

तुलसी का काव्य व्यक्तिपरक काव्य न होकर वस्तुपरक काव्य है। उन्होने अपनी व्यक्तिगत भावनाओ और विचारो की अभिव्यक्ति न करके कथा का वर्णन किया है जिसमे प्रसंग और पात्र के अनुसार अनेक प्रकार के भाव और विचार व्यक्त

किये गए हैं। अतएव सभी उक्तियो का तुलसीदास पर ही आरोप कर देना न्याय नही है। 'रामचरितमानस' मे भिन्न प्रकृति के भिन्न-भिन्न पात्र हैं जो अपनी परिस्थिति और मनोदशा के अनुकूल प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए, भरत अथवा राम की वाणी शोक और आत्म-ग्लानि की कातर वाणी है, और शबरी तथा ग्राम-नारियो के शब्द उनकी अतिशय कृतज्ञता और विनम्रता को ही व्यक्त करते हैं। उधर 'भ्राता पिता पुत्र उरगारी' आदि का संबंध शूर्पणखा से है और सती की आत्म-ग्लानि—'नारि सहज जड अज्ञ'—का संबंध भी, उनके अपने अज्ञानजन्य अपराध से ही है। इसी प्रकार रावण स्वयं दुष्ट पात्र है, अतएव उसके शब्द तुलसीदास के शब्द कैसे हो सकते हैं!—तुलसीदास के अधिवक्ता कथाकार-कवि के अवैयक्तिक रूप (Impersonality of the poet) का तर्क उपस्थित करते हैं।

परंतु यह तर्क अधिक संगत नही है। पहले तो तुलसी-जैसे भक्तकवि की कविता को एकात वस्तुपरक मानना ही असंगत है। स्वयं उन्होने ही अपनी काव्य-रचना को 'स्वांत सुखाय' कहा है, और यह अर्थवाद नही है; क्योकि वास्तव मे भक्त-कवि की चेतना मूलत वस्तुपरक हो ही कैसे सकती है! वस्तुपरक दृष्टि की पहली शर्त है वस्तु; अर्थात् पार्थिव जगत् की सत्ता मे अचल विश्वास; और भक्त के लिए भाव-जगत् ही सब कुछ है। इस प्रसंग मे जो लोग शेक्सपियर का उदाहरण देकर तुलसी का पक्ष-समर्थन करते हैं वे लाल और सफेद रंगो मे भेद करना नही जानते। इसके अतिरिक्त तुलसी की पूर्वोक्त पक्तियो की परीक्षा करने पर भी इस युक्ति का सहज ही प्रतिवाद हो जाता है। उदाहरण के लिए ये पक्तिया ही लीजिये :

भ्राता पिता पुत्र उरगारी।
पुरुप मनोहर निरखत नारी।।
होई विकल मन सकहिं न रोकी।
जिमि रबिमनि द्रव रबिहिं बिलोकी।।

जहा तक कटुता का संबध है, मेरी धारणा है कि नारी के प्रति इससे अधिक अन्याय नही किया जा सकता। कहा नारी का पवित्रतम वात्सल्य भाव; कहा 'द्रव' शब्द की बीभत्सता! कहा जा सकता है कि यह निंदा दुष्टा शूर्पणखा की है, साधारण नारी की नही। परतु ऐसा नही है, ये पंक्तिया शूर्पणखा के प्रसंग मे अवश्य कही गई हैं किंतु उसके लिए नही कही गईं। यह नारी-व्यक्ति की भर्त्सना नही, नारी-जाति की भर्त्सना है! और ये एक पात्र द्वारा दूसरे पात्र को उद्दिष्ट कर नही कही गईं, ये तो काकभुशुडि द्वारा गरुड से कही गई हैं। दूसरे शब्दो मे, स्वयं कवि की ही सामान्य टिप्पणी हैं। इसी प्रकार अनेक उक्तियो मे तो पात्र बीच मे आते ही नही, वे प्रत्यक्ष कवि-वचन हैं; यथा :

जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी।

दूसरा तर्क तुलसीदास के पक्ष मे यह दिया जाता है कि उन्होने सभी स्त्रियो की निंदा नही की; जिनको निंद्य समझा है उन्ही की निंदा की है।

सीता, कौशल्या, सुमित्रा, अनसूया, यहा तक कि मदोदरी के प्रति भी उन्होने

असीम श्रद्धा व्यक्त की है और उनके उज्ज्वल चित्र अंकित किये है। परंतु इसके उत्तर मे तीन प्रतियुक्तिया प्रस्तुत की जा सकती हैं। एक तो यह कि सीता, कौशल्यादि की महिमा का वर्णन तुलसी ने केवल राम के नाते से ही किया है :

नाते सबहिं राम के मनियत श्रव्य सुसेव्य जहाँ लौं।

इन पात्रो की महिमा मूलतः राम की ही महिमा है। मंदोदरी की महिमा इसलिए है कि वह राम के लिए अपने पति से भी लड बैठती है। यदि राम बीच में न होते, तो जाने तुलसीदास उसके विषय मे क्या कहते ! दूसरी बात यह है कि इन पात्रो के व्यक्तित्व भी अपने-आप मे कोई विशेष प्रबल नही हैं। राम को हटाकर यदि आप सीता के स्वतंत्र व्यक्तित्व का विश्लेषण करे तो उसमे वाछित शक्ति और दृढता का अभाव पायेंगे। परम पुरुष की आदि-शक्ति सीता के व्यक्तित्व मे जो शक्ति और प्रखरता होनी चाहिए, वह तुलसी की सीता मे नही है; वे राम की छाया-मात्र हैं। तुलसी ने वास्तव मे मध्यकालीन हिंदू-परंपरा के अनुसार सीता का गुडियानुमा वधू-चित्र ही अकित किया है।

पलँग पीठि तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥

× × ×

सिय बन बसहिं तात केहि भाँती। चित्र लिखित कपि देखि डराती॥

× × ×

डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ। मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ॥
हंसगवनि तुम नहिं बन जोगू। सुनि अपजस मोहि देइहि लोगू॥

केवल रावण के सामने ही दो-एक अवसरो पर उनकी परम शक्ति उद्बुद्ध होती है, पर वहा भी उनको अपने बल की अपेक्षा राम के बल का ही अधिक भरोसा है :

खल सुधि नहिं रघुबीर बान की।

तीसरी प्रतियुक्ति यह दी जा सकती है कि मान लीजिये, तुलसी ने सीता-कौशल्यादि का महिमा-गान किया भी है, फिर भी तो यह व्यक्तियो का ही महिमा-गान हुआ, नारी-जाति की तो उन्होने सदा निंदा ही की है। व्यक्ति को अच्छा-बुरा कहना तो प्रसंग, पात्र, मनोदशा आदि पर निर्भर हो सकता है, परंतु समष्टि को बुरा कहना तो कवि की सामान्य धारणा को ही व्यक्त करता है।

तुलसीदास के समर्थक एक तर्क यह देते है कि कवि पर देश-काल का प्रभाव था। उस युग मे स्त्रियो की दशा अत्यंत हीन थी, वे वास्तव मे ही अज्ञ, मतिमंद तथा लोक-वेद-विधिहीन थी। इसके अतिरिक्त मध्यकालीन दृष्टिकोण भी नारी को केवल जीवन का उपकरण अथवा दासी ही मानता था, अतएव तुलसीदास ने अपने युग की स्थिति तथा विचारधारा के अनुरूप ही नारी का चित्रण किया है। यह तर्क साधारण कवि के लिए तो ठीक हो सकता है, तुलसी जैसे क्रातद्रष्टा कवि के लिए नही। और फिर, सूर ने ऐसा क्यो नही किया ?

तुलसी के पक्ष मे चौथा तर्क और भी प्रबल है। तुलसीदास संत थे, और

उन्होने अपने ग्रंथों मे जहां अनेक बातें साधारण गृहस्थों के लिए कही हैं, वहां कुछ बातें संतों के लिए भी कही हैं। नारी-निंदा उन्होने अपने और अपने समानधर्मा संतो के मन को सचेत करने के लिए की है। शुक्लजी कहते है कि यदि पुरुष-कवि तुलसीदास ने नारी को पुरुष-पतंगो के लिए दीपशिखा कहा, तो स्त्री-कवि पुरुष को नारी-पतगियों के लिए भाड कह सकती है। इसमे संदेह नही कि तुलसी के दृष्टिकोण के पीछे इस प्रकार का मनोविज्ञान रहा होगा। सत होने के कारण उनका कंचन और कामिनी के प्रति सतर्क रहना स्वाभाविक ही था, और तत्कालीन संत-समाज को भी संभवतः सचेत करने की आवश्यकता रही हो; परतु फिर भी इसका औचित्य सिद्ध नही किया जा सकता। संत का दृष्टिकोण 'सीयराममय' भी तो हो सकता था और स्वय तुलसी ने अपने महाकाव्य का आरंभ इसी परप्रत्यक्ष-गम्य नमस्क्रिया से किया भी है। परंतु इसका निर्वाह नही हो सका; क्योकि एक तो उनके अपने संस्कार इसमे बाधक हुए हैं, दूसरे भारतीय संत-परपरा की दृष्टि भी तो नारी के प्रति अत्यंत संदेहशील और कठोर रही है। वास्तव मे तुलसी की कई कटूक्तिया उनकी अपनी न होकर संस्कृत नीति-वचनो का सीधा अनुवाद हैं। उदाहरण के लिए, उनकी यह चिरनिंदित अर्धाली :

ढोल गँवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताडन के अधिकारी॥

गर्ग-संहिता के इस श्लोक का अक्षरशः अनुवाद है :

दुर्जनाः शिल्पिनो दासा, दुष्टाश्च पटहाः स्त्रियः।
ताडिता मार्दवं यान्ति नैते सत्कारभाजिनः॥

इसी प्रकार रावण की कटूक्ति भी अनुवाद ही है :

नारि स्वभाव सत्य कवि कहही।
अवगुन आठ सदा उर रहही॥
साहस, अनृत, चपलता माया।
भय अविवेक असौच अदाया॥

इसका मूल श्लोक इस प्रकार है :

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता।
अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः॥

उस समय का वातावरण ही कुछ ऐसा था : संस्कृत के मध्यकालीन नीति-ग्रथ, स्मृतियां, पुराण, संतवाणी—यहां तक कि संस्कृत और हिंदी के घोरतम शृगारी कवियो ने भी इस परंपरा का विचार अथवा अविचारपूर्वक पालन किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से वास्तव मे इसे नारी की भर्त्सना न मानकर उनके अपने अतिशय अनुरक्त मन की ही भर्त्सना समझना चाहिए।

मनोविज्ञान या मनोविश्लेषण-शास्त्र इस मनोवृत्ति के कुछ और भी कारण उपस्थित कर सकता है। इस कटुता का एक अत्यत स्पष्ट कारण तो तुलसी के जीवन की उस घटना मे ही ढूढा जा सकता है जिसने उन्हे राम-भक्ति की ओर प्रेरित किया था। यह घटना तुलसीदास के व्यक्तित्व-निर्माण का मूल आधार है। इसी के द्वारा उनका उत्कट पार्थिव प्रेम उतने ही उत्कट अपार्थिव प्रेम मे उन्नयित हो गया था।

अपने भाव का उन्नयन तो तुलसी ने साधना से कर लिया; परंतु चूकि यह परिवर्तन सहज एवं क्रमिक प्रक्रिया के द्वारा न होकर एक झटके के साथ हुआ था, इसलिए प्रतीत होता है कि यह ग्रंथि उनके मन में रह गई और उनकी आत्म-ग्लानि जीवन-भर न तो अपने आतुर मन को क्षमा कर सकी और न उस आतुर मन की आलंबन अथवा बाह्य प्रतीक नारी को ही। सामान्यतः तो जीवन के उस अभुक्त रस को उन्होने अपने लिए और दूसरो के लिए भी अमृत बना लिया, परतु परिवर्तन की अचानकता (abruptness) के कारण कदाचित् कुछ कण ऐसे रह गये जो विष बन गये। उनकी उक्तियो के विश्लेषण से इसमे सदेह नही रह जाता कि वे नारी को कभी क्षमा नही कर सके; परतु यहा नारी को एक सामाजिक इकाई न मानकर तुलसी के उस अधीर मन का प्रतीक मानना चाहिए जो उनकी घोर ग्लानि और लज्जा का कारण बना था।

एक दूसरा कारण और भी है। तुलसी की भक्ति पुरुष-भाव से पुरुष की अर्थात् पुरुष-रूप भगवान की उपासना है। दास्य-भाव भी पुरुष-भाव ही है। मध्य-युग मे उपासना के तीन मार्ग थे : नारी-भाव से पुरुष-रूप भगवान की उपासना, पुरुष-भाव से नारी अर्थात् शक्ति-रूप भगवान की उपासना और पुरुष-भाव से पुरुष-रूप भगवान की उपासना, जिसके अतर्गत सख्य और दास्य दोनो भाव आ जाते हैं। पहली दो पद्धतियो मे तो नारी-भाव की अनिवार्यता ही है, इस तीसरी उपासना-पद्धति मे नारी नही आती और आती है तो बाधा-रूप मे आती है, या अवचेतन मे अनावश्यक प्रति-द्वंद्व की भावना उत्पन्न करती है।

ये सब तर्क और यह कार्य-कारण-शृखला केवल व्याख्या-मात्र हैं। ये तुलसी के नारी-विषयक दृष्टिकोण के लिए क्षमा-याचना या अधिक-से-अधिक स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर सकते हैं। वास्तव मे आज की नारी यदि समस्त जगत् को 'सीयराममय' समझने वाले समद्रष्टा कवि से अधिक न्याय की माग करे तो आप उसके क्षोभ को सहज ही समझ सकते हैं।

रीतिकाल के कवि-आचार्यों का योगदान

१. काव्यशास्त्र

रीति-आचार्यों के दोष पहले सामने आते हैं और गुण बाद मे। इनका पहला दोष है सिद्धात-प्रतिपादन मे मौलिकता का अभाव। काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे मौलिकता की दो कोटिया है. एक के अतर्गत नवीन सिद्धान्तो की उद्भावना और दूसरी के अंतर्गत प्राचीन सिद्धातो का पुनराख्यान आता है। हिंदी के रीति-आचार्य निश्चय ही किसी नवीन सिद्धांत का आविष्कार नही कर सके। किसी ऐसे व्यापक आधारभूत सिद्धात का प्रतिपादन, जो काव्यचिंतन को नवीन दिशा प्रदान करता, सपूर्ण रीति-काल मे सभव नही हुआ। इन कवियो ने काव्य के सूक्ष्म अवयवो के वर्णन मे कही-कही नवीनता का प्रदर्शन किया है, परतु उन तथाकथित उद्भावनाओ का भी आधार-स्रोत किसी-न-किसी संस्कृत-ग्रथ मे मिल जाता है। जहा ऐसा नही है वहा भी यह कल्पना करना असगत प्रतीत नही होता कि कदाचित् किसी लुप्तप्राय सस्कृत-ग्रथ मे इस प्रकार का वर्णन रहा होगा। इनके अतिरिक्त भी जो कुछ नवीन तथ्य शेष रह जाते हैं उनके पीछे विवेक का पुष्ट आधार नही मिलता; अर्थात् वहा नवीनता-प्रदर्शन केवल नवीनता या विस्तार-मोह के कारण किया गया है, काव्य के मर्म से उसका कोई संबंध नही है। कही-कही रीतिकवियो की उद्भावनाएं अकाव्योचित भी हो गई हैं। जैसे खर, काक आदि के अशो से युक्त नायिका-भेदो का विस्तार, अथवा प्रमाण आदि के भेदो के आधार पर कल्पित अलंकारो का प्रस्तार। वास्तव मे हिंदी के रीतिकवियो ने आरभ से ही गलत रास्ता अपनाया: उन्होने मौलिकता का विकास विस्तार के द्वारा ही करने का प्रयास किया। परतु संस्कृत के काव्यशास्त्र की प्रवृत्ति तो भेद-विस्तार की पहले से ही इतनी अधिक थी कि अब उस क्षेत्र मे कोई विशेष अवकाश नहीं रह गया था। जिन क्षेत्रो में अवकाश था उनकी ओर रीतिकवियो ने उचित ध्यान नही दिया। उदाहरण के लिए, संस्कृत काव्यशास्त्र मे कवि-कर्म के बाह्य रूप का जितना पूर्ण विवेचन है उतना उसके आतरिक रूप का नही; अर्थात् कवि-मानस की सृजन-प्रक्रिया का विवेचन यहा व्यवस्थित रूप से नही मिलता। हिंदी का रीति-आचार्य इस उपेक्षित अंग को ग्रहण कर सकता था। यहा मौलिक विवेचन के लिए बड़ा अवकाश था, परतु परपरा का अतिक्रमण करने का साहस वह नही कर सका। सामान्यतः उस युग मे इतना साहस कोई कर भी नही सकता था। दूसरा क्षेत्र था व्यवस्था का; रीति-काल तक सस्कृत काव्यशास्त्र का भेद-विस्तार इतना अधिक हो चुका था कि कई

क्षेत्रों मे एक प्रकार की अव्यवस्था-सी उत्पन्न हो गई थी। उदाहरण के लिए, ध्वनि का भेद-विस्तार हजारो तक, नायिका-भेद की सख्या भी सैकडो तक पहुच चुकी थी। अलंकार वर्णन-शैली को छोड वर्ण्य विषय के क्षेत्र मे प्रवेश करने लग गए थे, लक्षणा और दोषादि के सूक्ष्म भेद एक-दूसरे की सीमा का उल्लंघन कर रहे थे। परिणामतः भारतीय काव्यशास्त्र की वह स्वच्छ व्यवस्था, जो मम्मट के समय मे स्थिर हो चुकी थी, अस्तव्यस्त-सी हो गई थी। पंडितराज जगन्नाथ जैसे मेघावी आचार्य ने उसे फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया; किंतु उस युग की प्रवृत्ति विवेचन की अपेक्षा वर्णन की ओर ही अधिक थी, अत· शास्त्रार्थ की अपेक्षा कवि-शिक्षा उसके अधिक अनुकूल पडती थी। हिंदी का आचार्य भी उसी प्रवाह मे वह गया; अपने समसामयिक पडित-राज का मार्ग ग्रहण न कर वह भानुदत्त और केशवमिश्र की परिपाटी का ही अनुसरण करने लगा। हमारे कवि-आचार्य पर एक और बडा दायित्व था, और वह था : हिंदी की विशाल काव्य-राशि का अनुगम विधि से विश्लेषण कर उसके आधार पर एक स्वतत्र विधान की कल्पना करना। किंतु उसने हिंदी के साहित्य की तो लगभग उपेक्षा ही कर दी। लक्षणो के लिए उसने सस्कृत काव्यशास्त्र का अवलब लिया और उदाहरणो का स्वयं ही नूतन निर्माण किया; इस प्रकार हिंदी के समृद्ध काव्य का उसके लिए जैसे कोई अस्तित्व ही नही रहा। वास्तव मे इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती एवं समसामयिक काव्य की उपेक्षा कर लक्षणो का अनुवाद और नूतन उदाहरणो की सृष्टि करते रहना आलोचक के मौलिक कर्तव्य-कर्म का निषेध करना था। आलोचना-शास्त्र मूलतः एक सापेक्षिक शास्त्र है; उसका आलोच्य साहित्य के साथ अत्यत अतरंग संबंध है। अतः न तो केवल हजारो वर्ष पुराने लक्षणो और उदाहरणो का अनुवाद अभीष्ट था और न नये उदाहरणो की सृष्टि से ही उद्देश्य की सिद्धि संभव थी। संस्कृत के आचार्यों ने जहा प्रायः आचार्यत्व और कवि-कर्म को पृथक् रखा था, वहां हिंदी के आचार्य-कवियो ने दोनो को मिला दिया। इससे काव्य की वृद्धि तो निश्चय ही हुई, किंतु काव्यशास्त्र का विकास न हो सका।

रीति-आचार्यो का दूसरा प्रमुख दोष यह था कि उनका विवेचन अस्पष्ट और उलझा हुआ था, फलतः उनके ग्रंथो पर आधृत शास्त्रज्ञान कच्चा और अधूरा ही रहता है। इस अभाव के दो कारण थे : एक तो कुछ कवियो का शास्त्रज्ञान अपने-आप मे निर्भ्रान्त नही था; दूसरे, पद्य मे साहित्य के सूक्ष्म-गभीर प्रश्नो का समाधान सभव नही था। प्रतापसिंह जैसे प्रमुख आचार्य ने संस्कृत आचार्यो के मत सर्वथा अशुद्ध रूप मे उद्धृत किये हैं; मम्मट और विश्वनाथ के काव्य-लक्षण उनके शब्दो मे इस प्रकार हैं :

साहित्यदर्पण मत काव्यलक्षण—

रसयुत व्यंग्य-प्रधान जहँ, शब्द अर्थ शुचि होइ।
उक्त युक्ति भूषण सहित, काव्य कहावै सोइ॥

काव्य-प्रकाश रसगंगाधर मत काव्यलक्षण—

अलंकार अरु गुन सहित, दोष रहित पुनि कृत्य।
उक्त रीति मुद के सहित, रसयुत वचन प्रवृत्य ॥

—[काव्यविलास (हस्तलेख, पृ० १)]

वास्तव मे इस प्रकार का अज्ञान अक्षम्य है; परंतु इन कवियो की अपनी परिसीमाएं थी।

उपर्युक्त दोषो के लिए अनेक परिस्थितिया उत्तरदायी थी। एक तो संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा ही रीतिकाल तक आते-आते प्राय: निर्जीव हो चुकी थी। उस समय पडितराज को छोड कोई आचार्य मौलिक चिंतन का प्रमाण नही दे सका। उस युग मे कवि-शिक्षा का ही प्रचार अधिक रह गया था—जिसके लिए न मौलिक सिद्धात-प्रतिपादन अपेक्षित था, न खंडन-मंडन अथवा पुनराख्यान। कवि-शिक्षा का लक्ष्य था रसिको को सामान्य काव्य-रीति की शिक्षा देना, जिज्ञासु मर्मज्ञ के लिए कवि-कर्म अथवा काव्यास्वाद के रहस्यों का व्याख्यान करना नही। रीतिकाव्य जिस वातावरण मे विकसित हो रहा था उसमे रसिकता का ही प्राधान्य था। इन रसिक श्रीमंतो को अपने व्यक्तित्व के परिष्कार के लिए केवल सामान्य कला-ज्ञान अपेक्षित था, गहन प्रश्नो पर विचार करने की न उनमे शक्ति थी और न धैर्य ही। अत: उनके आश्रित कवि लक्षणादि की रचना द्वारा उनका शिक्षण और सरस शृंगारिक उदाहरणो की सृष्टि द्वारा मनोरंजन करते रहे; सूक्ष्म शास्त्र-चिंतन न उनके लिए ग्राह्य था और न इनके लिए आवश्यक। इसके अतिरिक्त हिंदी मे गद्य का अभाव भी एक बहुत बडी परिसीमा थी, तर्क और विचार-विश्लेषण का माध्यम गद्य ही हो सकता है, छंद के बंधन मे बंधा हुआ पद्य नही। हिंदी के सर्वांग-निरूपक आचार्यों ने, जो अपने शास्त्र-कर्म के प्रति जागरूक थे, वृत्तियो मे गद्य का सहारा लिया है, किंतु व्रजभाषा का यह असमर्थ गद्य उनके मंतव्य को सुलझाने की अपेक्षा अधिक उलझाने मे ही सफल हुआ है।

अत: रीति-आचार्यों के योगदान का मूल्याकन उपर्युक्त पृष्ठभूमि को ध्यान मे रखकर ही करना चाहिए। ये कवि वस्तुत: शास्त्रकार नही थे, रीतिकार थे और उसी रूप मे इनका विचार होना चाहिए। काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे आचार्यों के सामान्यत: तीन वर्ग हैं :

१. उद्भावक आचार्य, जिन्हे मौलिक सिद्धांत-प्रतिपादन का श्रेय प्राप्त है : जैसे भरत, वामन, आनंदवर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, कुंतक आदि। ये शास्त्र-कार की कोटि मे आते हैं।
२. व्याख्याता आचार्य, जो नवीन सिद्धांतो की उद्भावना न कर प्राचीन सिद्धांतो का आख्यान करते हैं। इनका कर्तव्य-कर्म होता है मूल सिद्धातो को स्पष्ट और विशद करना। मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ प्रतिभा-भेद से इसी वर्ग के अंतर्गत आएंगे।
३. तीसरा वर्ग है कवि-शिक्षको का, जिनका लक्ष्य अपने स्वच्छ व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर सरस-सुबोध पाठ्य-ग्रंथ प्रस्तुत करना होता है। इस प्रकार के

आचार्यो को मौलिक उद्भावना करने अथवा शास्त्र की गहन गुत्थियो को खडन-मंडन द्वारा सुलझाने की कोई महत्त्वाकांक्षा नही होती। जयदेव, अप्पयदीक्षित, केशवमिश्र और भानुदत्त आदि की गणना इसी वर्ग के अतर्गत की जाती है।

हिंदी के रीति-आचार्य स्पष्टत: प्रथम श्रेणी मे नही आते। उन्होने किसी व्यापक आधारभूत काव्य-सिद्धात का प्रवर्तन नही किया, उनमे से किसी मे इतनी प्रतिभा नही थी। दूसरी श्रेणी मे सर्वांग-निरूपक आचार्यों की गणना की जा सकती थी, किंतु खंडन-मडन तथा स्पष्ट और विशद व्याख्यान के अभाव मे, केवल प्रमुख काव्यागो के सक्षिप्त निरूपण के आधार पर, वे इस स्थान के अधिकारी भी नही हो सकते। अंतत: वे तृतीय वर्ग के अतर्गत ही स्थान प्राप्त कर सकते हैं। वे न शास्त्र-कार थे और न शास्त्र के भाष्यकार, उनका काम तो शास्त्र की परंपरा को सरस रूप मे हिंदी मे अवतरित करना था और इसमे वे निश्चय ही कृतकार्य हुए। उनके कृतित्व का मूल्याकन इसी आधार पर होना चाहिए।

अतएव हिंदी के रीति-आचार्यों का प्रमुख योगदान यह है कि उन्होने भारतीय काव्यशास्त्र की परपरा को हिंदी मे सरस रूप मे अवतरित किया। इस प्रकार हिंदी-काव्य को शास्त्र-चितन की प्रौढि प्राप्त हुई और शास्त्रीय विचार सरस रूप मे प्रस्तुत हुए। भारतीय भाषाओ मे हिंदी को छोड अन्यत्र कही भी यह प्रवृत्ति नही मिलती। इसके अपने दोष हो सकते हैं, परंतु वर्तमान हिंदी-आलोचना पर इसका सद्प्रभाव भी स्पष्ट है। अन्य भाषाओ मे जहा संस्कृत-आलोचना से वर्तमान आलोचना का संबंध उच्छिन्न हो गया है, वहा हिंदी और मराठी मे यह अंत सूत्र टूटा नही है। फलत: हमारी वर्तमान आलोचना की समृद्धि मे इन रीतिकारों का स्पष्ट योगदान है। बौद्धिक ह्रास के उस अंधकार-युग मे काव्य के बुद्धि-पक्ष को जाने-अनजाने पोषण देकर इन्होने अपने ढंग से बडा काम किया।

भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा मे व्यापक रूप से इनका दूसरा महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि इन्होने रस को ध्वनि के प्रभुत्व से मुक्त कर रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा की। इतिहास साक्षी है कि संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धांत ध्वनिवाद ही रहा है। रस का स्थान मूर्धन्य होते हुए भी उसका विवेचन प्राय. असलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि के अतर्गत अग-रूप में ही होता रहा है। हिंदी के रीतिकार आचार्यो ने रस को परतन्त्रता से मुक्त किया और पूरी दो शताब्दियों तक रसराज शृंगार की ऐसी अविच्छिन्न धारा प्रवाहित की कि यहां 'शृंगारवाद' एक प्रकार से स्वतन्त्र सिद्धांत के रूप में ही प्रतिष्ठित हो गया। मधुरा भक्ति से संप्रेरित शृंगार-भाव मे जीवन के समस्त कटुभावो को निमग्न कर इन आचार्यों ने भारतीय काव्यशास्त्र के प्राणतत्त्व आनद की पुन प्रतिष्ठा का अभूतपूर्व प्रयत्न किया। रीति-युग के अधिकाश आचार्यो द्वारा ध्वनि की उपेक्षा और नायिकाभेद के प्रति उत्कट आग्रह इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। देव जैसे कवियो ने अत्यत प्रबल शब्दो मे रसकुटिल, अधम व्यंजना पर आश्रित ध्वनि का तिरस्कार कर रसवाद का पोषण किया और रामसिंह ने रस के आधार पर काव्य

काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम भेद करते हुए रससिद्धात के सार्वभौम प्रमुत्व का प्रतिपादन किया। 'सयोग', 'शास्त्र का अपरिपक्व ज्ञान', 'युग की दूषित प्रवृत्ति' आदि कहकर इन स्थापनाओं की उपेक्षा करना न्याय नही है, इनके पीछे गहरी आस्था का बल था।

२ काव्य

भारतीय इतिहास मे 'रीतिकाल' की भाति हिंदी-साहित्य के इतिहास मे 'रीतिकाव्य' भी अत्यत अभिशप्त काव्य है। आलोचना के आरंभ से ही इस पर आलोचको की वक्र दृष्टि रही है। द्विवेदी-युग ने सदाचार-विरोधी कहकर नैतिक आधार पर इसका तिरस्कार किया, छायावाद की सूक्ष्म सौंदर्य-दृष्टि रीतिकाव्य के स्थूल सौदर्य-बोध के प्रति हीन भाव रखती थी, प्रगतिवाद ने इस पर समाजविरोधी और प्रतिक्रियावादी होने का आरोप लगाया और प्रयोगवाद ने इसकी रूढ विषयवस्तु एव अभिव्यजना-प्रणाली को एकदम 'बासी' घोषित कर दिया।

इस प्रकार की आलोचनाएं निश्चय ही पूर्वाग्रह से दूषित हैं—इनमे बाह्य मूल्यो का रीतिकाव्य पर आरोप करते हुए काव्यालोचन के इस आधारभूत सिद्धात का निषेध किया गया है कि आलोचक को आलोच्य काव्य मे से ही दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए। इस पद्धति का आलंबन करने से रीतिकाव्य के साथ अन्याय होने की आशका नही रह जाएगी।

व्यापक स्तर पर विचार करने से काव्य की दो प्रतिनिधि परिभाषाएं प्राप्त होती हैं जो काव्य के प्रति दो भिन्न दृष्टिकोणो को अभिव्यक्त करती हैं : एक 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' और दूसरी 'काव्य जीवन की समीक्षा है'। इनमे से पहली शुक्लजी की शब्दावली मे 'आनद की सिद्धावस्था' और दूसरी 'साधनावस्था' को महत्त्व देती है। केवल भारतीय वाङ्मय मे ही नही, विश्व भर के वाङ्मय मे काव्य के ये दो पृथक् रूप स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। इसमे संदेह नही कि इस भेद के मूल मे आतरिक अभेद की सत्ता भी उतनी ही स्पष्ट है, फिर भी ये दोनों और उनका आख्यान करनेवाली उपर्युक्त दोनों परिभाषाए दो विभिन्न दृष्टिकोणो की द्योतक तो हैं ही। मेरी अपनी धारणा है कि किसी भी काव्य की समीक्षा करते समय इस दृष्टि-भेद को सामने रख लेना आवश्यक है—एक ही मानक से दोनों को तोलने से किसी न किसी के प्रति भारी अन्याय होने की आशका रहती है। उदाहरण के लिए, वाल्मीकि और जयदेव अथवा तुलसी और सूर की काव्य-दृष्टि मे, पाश्चात्य साहित्य से उदाहरण लें तो होमर या शेक्सपियर और शेली की काव्य-दृष्टि मे उपर्युक्त भेद स्पष्ट है : फिर भी आचार्य शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड जैसे प्रौढ आलोचक उसे भूल बैठे। इसका उलटा भी हो सकता है—बिहारी की आलोचना करते हुए पडित पद्मसिह शर्मा ने यही किया और बिहारी की प्रतिभा से 'सूर और चाद को भी गहन लगने' की आशंका होने लगी। यद्यपि मैं स्वय कवित्व और रस की मौलिक अखंडता का समर्थक हूं—किंतु यह अखडता तो अंतिम स्थिति मे ही प्राप्त होती है, उससे पहले

बहुत दूर तक उपर्युक्त भेद की सत्ता स्पष्ट विद्यमान रहती है। रीतिकाल का उचित मूल्यांकन करने के लिए इसका ध्यान रखना आवश्यक होगा।

'वाक्य रसात्मक काव्यम्' या 'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' की कसौटी पर परखने से रीतिकाव्य का तिरस्कार नही किया जा सकता। इसमे सदेह नही कि जीवन की उदात्त साधना और कदाचित् सिद्धियों का भी निरूपण इस काव्य मे उपलब्ध नही होता। किंतु जीवन मे सरसता का मूल्य नगण्य नही है—जीवन के मार्ग पर धीर और प्रबुद्ध गति से निरंतर आगे बढना तो श्रेयस्कर है ही किंतु कुछ क्षणो के लिए किनारे पर लगे वृक्षो की शीतल छाह मे विश्राम करने का भी अपना मूल्य है। कला अथवा काव्य के कम-से-कम एक रूप का आविष्कार मनुष्य ने इसी मधुर आवश्यकता की पूर्ति के लिए किया था और वह आवश्यकता अभी निश्शेष नही हुई—कभी हो भी नही सकती। रीतिकाव्य मानव-मन की इसी वृत्ति का परितोष करता है और इस दृष्टि से इन रससिद्ध कवियो और इनके सरस काव्य का अवमूल्यन नही किया जा सकता।

व्यापक सामाजिक स्तर पर भी रीतिकाव्य का यह योगदान इतना ही मान्य है। घोर पराभव के उस युग मे समाज के अभिशप्त जीवन मे सरसता का सचार कर इन कवियो ने अपने ढग से समाज का उपकार किया था। इसमे सदेह नही कि इनके काव्य का विषय उदात्त नही था—उसमे जीवन के भव्य मूल्यो की प्रतिष्ठा नही थी, अत उसके द्वारा प्राप्त आनंद भी उतना उदात्त नही था। यहा मैं इस प्रश्न को छेडना नही चाहता कि रस की कोटिया होती हैं या नही—मेरा मतव्य केवल यही है कि काव्य-वस्तु के नैतिक मूल्य का काव्य-रस के नैतिक मूल्य पर प्रभाव निश्चय ही पडता है और इस दृष्टि से रीतिकाव्य का नैतिक मूल्य निश्चय ही कम है। फिर भी अपने युग की आत्मघाती निराशा को उच्छिन्न करने मे उसने स्तुत्य योगदान किया, इसमे सदेह नही; इस सत्य को अस्वीकार करना कृतघ्नता होगी। वास्तव मे मैं इस प्रसंग मे एक ऐसे सत्य का फिर से उद्घाटन करना चाहता हू जो अनेक नैतिक-सामाजिक काव्य-सिद्धातो के घटाटोप मे आज छिप गया है और वह यह है कि कला का एक अतर्क्य उद्देश्य मनोरजन भी है: यह मनोरंजन मानव-जीवन की जितनी अपरिहार्य आवश्यकता है इसकी पूर्ति करने वाली कला या काव्य-कला का अपना मूल्य भी निश्चय ही उतना ही असदिग्ध है। रीतिकाव्य का मूल्याकन कला के इसी उद्देश्य को ध्यान मे रखकर करना चाहिए—उसकी मूलवर्ती प्रेरणा यही थी और इसी की पूर्ति मे उसकी सिद्धि निहित है। शुद्ध नैतिक दृष्टि से भी यह सिद्धि निर्मूल्य नही है क्योकि कवि-शिक्षा से संयुक्त यह मनोरजन तत्कालीन सहृदय-समाज की रुचि-परिष्कार का भी अत्यंत उपादेय साधन था।

कला की दृष्टि से भी रीतिकाव्य का महत्त्व असदिग्ध है। वास्तव मे हिंदी साहित्य के इतिहास मे सर्वप्रथम रीति-कवियो ने ही काव्य को शुद्ध कला के रूप मे ग्रहण किया। अपने शुद्ध रूप मे रीति-कविता न तो राजाओ और सैनिको को उत्साहित करने का साधन थी, न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी, न सामाजिक सुधार

अथवा राजनीतिक सुधार की परिचायिका ही। काव्यकला का अपना स्वतंत्र महत्त्व था—उसकी साधना उसी के अपने निमित्त की जाती थी, वह अपना साध्य आप थी।

कला के क्षेत्र मे व्यावहारिक रूप से भी रीति-कवियो की उपलब्धि कम नही है। व्रजभाषा के काव्यरूप का पूर्ण विकास इन्होने ही किया। वह काति, माधुर्य और मसृणता आदि गुणों से जगमग हो उठी—शब्दों को जैसे खराद पर उतार कर कोमल और चिक्कण रूप प्रदान किया गया। सवैया और कवित्त की रेशमी जमीन पर रंग-बिरंगे शब्द माणिक-मोती की तरह ढुलकने लगे। इन दोनो छदों की लय मे अभूतपूर्व मार्दव और लोच आ गया। स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि रीति कवियो का छंद-विधान एक बंधी लीक पर ही चलता है: उसमे स्वर और लय की सूक्ष्म संयोजनाओ के लिए अवकाश नही है। परंतु यह दृष्टि-दोष है: सवैया और कवित्त के विधान के अंतर्गत अनेक प्रकार के सूक्ष्म लय-परिवर्तन कर रीति-कवियो ने अपनी कोमल संगीत-रुचि का परिचय दिया है। रीतिपूर्व युग के तुलसी और गंग जैसे समर्थ कवियो और उधर रीतिमुक्त कवियो मे घनानन्द जैसे प्रवीण कलाकारो के छंद-विधान के साथ तुलना करने पर अंतर स्वत' स्पष्ट हो जाता है—ये कवि अपने सपूर्ण काव्य-वैभव के होते हुए भी रीतिकवियो के छद-सगीत की सृष्टि करने मे निताात असफल रहे हैं। इसी प्रकार अभिव्यंजना की साज-सज्जा और अल-कृति की दृष्टि से रीतिकाव्य का वैभव अपूर्व है। यह ठीक है कि उसमे अलकरण-सामग्री का वैसा वैविध्य नही है जैसा सूर और तुलसी मे मिलता है—वैसा सूक्ष्म संयोजन भी नही है जैसा कि पंत में मिलता है, परंतु विलास-युग के रंगोज्ज्वल उप-मानो और प्रतीकों के प्रचुर प्रयोग से रीतिकाव्य की अभिव्यंजना दीपावली की तरह जगमगाती है। अतः इस कविता का कलात्मक रूप अपने-आप मे विशेष मूल्यवान् है—और इसी रूप मे इसके महत्त्व का आकलन होना चाहिए। इसमे संदेह नही कि रीतिकाव्य मे आपको सूर, मीरा और घनानन्द की जैसी आत्मा की पुकार नही मिलेगी, न जायसी, तुलसी अथवा आधुनिक युग के विशिष्ट महाकाव्यो के समान व्यापक जीवन-समीक्षा और छायावादी कवियो का सूक्ष्म सौदर्य-बोध ही यहा उपलब्ध होगा, परंतु मुक्तक-परपरा की गोष्ठीमंडन कविता का जैसा उत्कर्ष रीतिकाव्य में हुआ वैसा न उसके पूर्ववर्ती काव्य मे और न परवर्ती काव्य मे ही सभव हो सका।

इस प्रकार हिंदी साहित्य के इतिहास मे रीतिकाव्य का अपना विशिष्ट स्थान है। सैद्धांतिक दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र की परपरा को हिंदी मे अवतरित करते हुए विवेचन एवं प्रयोग दोनों के द्वारा रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा कर और उधर सर्जना के क्षेत्र मे कविता के कलारूप की सिद्धि करते हुए भारतीय मुक्तक-परंपरा का अपूर्व विकास कर व्रजभाषा के कला-प्रसाधनों के सम्यक् परिष्कार-प्रसाधन द्वारा रीति-कवियो ने हिंदी-काव्य की समृद्धि मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। एकात वैशिष्ट्य की दृष्टि से भारतीय वाङ्मय मे ही नही, संपूर्ण विश्व के वाङ्मय मे आलोचना और सर्जना के संयोग से निर्मित यह काव्य-विधा अपना उदाहरण आप ही है। किसी भी भाषा मे इस प्रकार का काव्य इतने प्रचुर परिमाण मे नही रचा गया।

केशवदास का आचार्यत्व

प्रिय गोपालदास,

तुम्हारा पत्र मिला। विषय मेरे अनुकूल है और सुकर भी। सुकर इसलिए कि अभी कुछ दिन पूर्व मैंने अपने विद्यार्थियो के समक्ष केशव के आचार्यत्व पर भाषण दिया था। मेरे आलोचक और अध्यापक का घनिष्ठ संबंध रहा है—दोनो का विकास भी साथ-साथ हुआ है, इसलिए मेरी आलोचना-पद्धति निर्णय की अपेक्षा व्याख्यान-विश्लेषण को ही अधिक ग्रहण करती रही है। मेरा आलोचक काव्यशास्त्र, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र, कामशास्त्र आदि का अध्ययन करने जहां-जहा गया है, अध्यापक उसके साथ-साथ गया है। अब विश्वविद्यालय मे आकर उनका साहचर्य और भी घनिष्ठ हो गया है। पहले परोक्ष रूप से मेरे सामने शिष्य-वर्ग रहा करता था; अब साक्षात् जिज्ञासु-समाज उपस्थित रहता है। इसलिए मैं तुम्हे अपने उस भाषण का ही एक अभिलेख भेज रहा हूं। थोडा व्यक्तिगत हो गया है, परंतु उससे विषय की हानि नही हुई।

सवा ग्यारह पर घंटा बजा और मैं क्लास की ओर चल दिया। क्लास के बाहर पहुंचते ही मैंने देखा कि आशा स्याही से रगे हुए हाथ धोने के लिए जा रही थी। मुझे देखकर ठिठक गई और कदाचित् उसे यह निर्णय करने मे देर लगी कि आगे जाये या कक्षा मे ही लौट आये। मैंने हाजिरी लेना शुरू किया, जिसके उत्तर मे 'यस सर' या 'यस प्लीज' की आवाजें आने लगी। 'यस प्लीज' का रहस्य कुछ दिन तक मेरी समझ मे नही आया था। हम लोग अपने विद्यार्थी-जीवन मे 'यस-सर' के ही अभ्यस्त थे—'यस प्लीज' कदाचित् व्याकरण-सम्मत भी नही है। वैसे भी मेरी धारणा रही है कि 'सर' संबोधन का अधिकारी गुरु से अधिक और कोई नही है। अपने सरकारी जीवन मे, जहा 'सर' का एक विशिष्ट औपचारिक महत्त्व है और सुनते हैं कि ज्येष्ठ अधिकारी विधि के बल से अपने अधीनस्थ अधिकारी को 'सर' कहने के लिए बाध्य कर सकता है, मुझे अपने समवयस्क तथा विद्या, बुद्धि और वय मे अपने से हीनतर व्यक्तियो के प्रति इसका प्रयोग करने में बडी कठिनाई होती थी। विश्वविद्यालय मे ऐसे छात्र-छात्राओ के मुख से, जो स्वभाव से अत्यंत विनीत और श्रद्धावान् थे, 'यस प्लीज' सुनकर थोडा आश्चर्य हुआ था और मेरा विश्लेषणशील मन तुरत ही उसका कारण खोजने लग गया था। पहले तो मैं समाजशास्त्री आलोचक की भांति इस प्रश्न का समाधान राजनीतिक-सामाजिक कारणो मे ढूढने लगा। मेरा विद्यार्थी और अध्या-

पक-जीवन परतंत्र भारत मे व्यतीत हुआ था। ये स्वतंत्र भारत के छात्र-छात्राएं हैं, देश-काल के प्रभाववश इन्होने कदाचित् दास्य-भाव का त्याग कर सख्य-भाव का ग्रहण कर लिया है। हम लोग वेचारे तुलसीदास ही थे; ये लोग सूरदास हो गये हैं! परंतु न जाने क्यो, इस समाधान से मेरा मन संतुष्ट नही हुआ। मुझे लगा कि जैसे प्रगतिशील समालोचक की भाति मैंने पेट के दर्द का समाधान पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे ढूढने का प्रयत्न किया है। और वास्तव मे समस्या का समाधान इतना दूरस्थ नही था। आज विश्वविद्यालय के जीवन मे सह-अध्ययन के साथ-साथ सह-अध्यापन भी होता है, अतएव 'यस सर' की अभ्यस्त जिह्वा अपने अभ्यास-दोष के कारण पुंवाची संबोधन के प्रयोग से कही महिला-प्राध्यापक का अपमान न कर दे, इस भय से आज का सावधान छात्र सतर्क होकर उभयवाची 'प्लीज़' का प्रयोग करता है। इस समाधान से मेरा परितोष तो हुआ ही, साथ ही हँसी भी आयी और अपने छात्र-जीवन की एक घटना याद आ गई जब हमारी महिला-प्राध्यापक ने 'सर' और 'मैडम' के बीच लडखडाते हुए हम लोगो को डाट कर कहा था—'ऐड्रेस मी ऐज़ सर'। खैर, यह तो प्रसंगवश मैं यो ही लिख गया। चार-पाच मिनट तक हाज़िरी लेने का क्रम चलता रहा। पतली-मोटी, मधुर-कर्कश आवाजें मेरे कानो मे आती रहीं और मेरा हाथ यत्रवत् आगे बढता जा रहा था कि बीच मे अचानक ही हडबडी के साथ एक तेज आवाज़ ने उसे रोक दिया। मैंने आख उठा कर देखा तो मालूम हुआ कि विमला रानी ने चप्पल घसीटते-घसीटते, समय पर आकर, अपना नाम पकड ही लिया। जैसे-तैसे यह कार्य समाप्त हुआ। प्रौक्सी आदि का कोई विघ्न नही पडा, उसके लिए अवकाश भी नही रह गया था। मैंने औपचारिक रूप से घोषणा कर दी थी कि जिसे काम हो वह चला जाया करे; किंतु चोर की तरह नही, भले आदमी की तरह। निश्शक भाव से। और इस अहिंसा के सामने सुरेशचंद्र शर्मा और विश्वामित्र-जैसे महारथी भी शस्त्र-समर्पण कर चुके थे।

मैंने व्याख्यान आरभ किया :

आचार्य शब्द के दो अर्थ हैं : साधारण अर्थ है दीक्षा आदि देने वाला गुरु और विशिष्ट अर्थ है किसी सिद्धात अथवा सप्रदाय का प्रवर्तक। धीरे-धीरे इस शब्द का प्रयोग इन दोनो अर्थों से सवद्ध अन्य अर्थो मे भी शिथिल रीति से होने लगा। उदाहरण के लिए, शिक्षक या अध्यापक के अर्थ मे, विषय-विशेष के निष्णात विद्वान्—उस्ताद—के अर्थ मे, और भी शिथिल रीति से, विद्वान् अथवा पडित के अर्थ मे भी। इस प्रकार आचार्य शब्द का मूल पारिभाषिक रूप आज विकृत हो गया है, फिर भी इसके विषय मे एक बात अब भी यथावत् रूढ है और वह यह कि आचार्य का सबध शास्त्र से है। आचार्य शास्त्रकार अथवा शास्त्र-गुरु या कम-से-कम शास्त्रवेत्ता अवश्य होता है। साहित्य के क्षेत्र मे भी आचार्य का प्रत्यक्ष सबंध काव्य से न होकर काव्यशास्त्र से ही है। काव्य की रचना करने वाला 'कवि' और काव्यशास्त्र की रचना करने वाला 'आचार्य' कहलाता है। मिश्र-बंधुओ ने आचार्य के कर्तव्य-कर्म की व्याख्या इस प्रकार की है : "आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखाते हैं, मानो वे संसार से यह कहते हैं कि अमुकामुक विषयो के वर्णन मे अमुक प्रकार के कथन उपयोगी हैं और अमुक

प्रकार के अनुपयोगी।" यह आचार्यत्व का अत्यंत स्थूल रूप है। यह वास्तव मे रीति-कार का लक्षण है और हिंदी मे उन दिनो आचार्य का अर्थ रीतिकार ही था। केशव के आचार्यत्व का विवेचन करते हुए इन विभिन्न अर्थों को ध्यान मे रखना चाहिए : १. शास्त्रकार, अर्थात् नवीन काव्य-सिद्धात या काव्य-संप्रदाय का प्रवर्तक, २. शास्त्र-भाष्यकार, अर्थात् शास्त्र का व्याख्याता तथा रीतिकार एवं कवि-शिक्षक; ३. काव्य-शास्त्र का विद्वान्।

विवेचन का क्षेत्र : केशव ने काव्यशास्त्र के सबध मे केवल दो ग्रंथ लिखे है : 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया'। लाला भगवानदीनजी का अनुमान है कि इन्होने कदाचित् छद पर भी एक ग्रथ लिखा था, परंतु वह अप्राप्य है। 'कविप्रिया' का प्रति-पाद्य अलंकार है। इसमे सामान्य और विशेष अलकारो का, अर्थात् वर्ण्यविषय से सबद्ध और वर्णन की शैली से सबद्ध काव्य-सौंदर्य के उपकरणो का, वर्णन अथवा विवे-चन है। 'रसिकप्रिया' रस का ग्रथ है। इसमे रस के अंग-उपागो का, विशेषत. शृगार रस के अग-उपागो का, नायिका-भेद-सहित विस्तृत वर्णन है। इस प्रकार केशव के प्रतिपाद्य विषय हैं अलकार और रस—विशेष रूप से शृगार रस, जिसके अंतर्गत नायिका-भेद का भी समावेश है। 'रसिकप्रिया' मे वृत्तियो का भी सक्षिप्त वर्णन है। सभव है छद शास्त्र भी उनका विषय रहा हो और 'रामचद्रिका' के लेखक के लिए वह सहज स्वाभाविक ही था। इस प्रकार आठ अगो मे से उन्होने दो-तीन अगो का ही विवेचन किया; कुल मिलाकर उनका क्षेत्र सीमित ही है।

कालक्रमानुसार 'रसिकप्रिया' की रचना 'कविप्रिया' से पूर्व हुई थी। इसका अभिप्राय यह है कि केशव की प्रवृत्ति आरभ मे रसवाद की ओर थी और बाद मे प्रौढि प्राप्त कर वह अलकारवाद की ओर हो गई। मेरे इस वाक्य पर, मैंने देखा, मधुर की दृष्टि जिज्ञासा से चमक उठी। कुछ क्षणो तक उसने इधर-उधर देखा कि कही कोई यह तो नही समझता कि मैं अपने ज्ञान का प्रदर्शन कर रही हू, और फिर प्रश्न किया : 'लेकिन प्रौढि की दृष्टि से तो अलकारवाद की अपेक्षा रसवाद का ही स्थान ऊंचा है; ज्यो-ज्यो अलकारशास्त्र का विकास होता गया, त्यो-त्यो अलंकारवाद की अमान्यता और रसवाद की मान्यता की ही पुष्टि होती गई। फिर केशव के विषय मे ऐसा किस प्रकार हुआ ?' प्रश्न अत्यत सतर्क था। मैंने उत्तर दिया, 'हां, तुम्हारी शका ठीक है, यह विकास-क्रम के विपरीत है। उसके अनुसार अलकारवाद काव्यशास्त्र की प्रारभिक स्थिति की और रसवाद अथवा रस-ध्वनिवाद उसकी विकसित अवस्था की सिद्धि थी। केशव ने अपने यौवनकाल मे स्वभाव से रसवाद के अगभूत शृगारवाद को ग्रहण किया, परतु उसके उपरांत उन्होने काव्यशास्त्र का और गहन अध्ययन करते हुए प्राचीनो के मत को प्रमाण मान कर अलकारवाद को स्वीकार कर लिया।' इसी क्रम से हम पहले केशव के रस-विवेचन की और तदुपरात अलकार-विवेचन की समीक्षा करते हैं।

रस-विवेचन : केशव ने यो तो नव-रस का वर्णन किया है, परतु उनका मूल प्रतिपाद्य शृंगार ही है, जिसे उन्होने स्पष्ट रूप से रसराज माना है : 'सबको केशोदास हरि नायक है शृगार।' अपने मत के पोपण मे उन्होने सभी रसो का समावेश शृगार

मूलतः आनंद अर्थात् शृंगार-रूप होते हुए भी नाना-रसमय हैं।' परतु केशव से इसका भी निर्वाह नही हो सका; अनेकता की मूलवर्ती एकता का ग्रहण भी वे नही कर सके। इसके स्थान पर उन्होने शृंगार की परिधि के भीतर कुछ अनुभावो की सहायता से रौद्र, बीभत्स आदि रसो का समावेश करने का असफल प्रयत्न किया है। उनकी इस असफलता का मूल कारण यह है कि किसी रस का परिपाक उसके स्थायी की उद्बुद्धि द्वारा होता है, अनुभाव-मात्र के चित्रण से नही। उदाहरण के लिए, रति-रण मे कृष्ण के रुद्र अनुभाव शृंगार के ही परिपाक मे सहायक होते है; उनके द्वारा रौद्र रस का परिपाक सभव नही है। केशव तथा देव आदि हिंदी-कवियो ने यही मौलिक त्रुटि की है। शृगार के क्षेत्र मे केशवदास ने एक वैचित्र्य प्रस्तुत किया और वह है शृंगार का दो वर्गों मे विभाजन : प्रच्छन्न और प्रकाश। परपरा से भिन्न होते हुए भी यह केशव की अपनी उद्भावना नही है; इसके लिए वे भोज के ऋणी हैं। और फिर शास्त्र की दृष्टि से यह विभाजन अधिक मौलिक एवं तर्कसगत भी नही है; क्योकि प्रच्छन्न और प्रकाश के भेद का निर्वाह शृंगार की सभी स्थितियो मे संभव नही है। प्रौढा स्वकीया का प्रच्छन्न शृगार कैसे निभ सकता है! या मुग्धा परकीया का प्रकाश शृंगार सामान्यत कैसे संभव हो सकता है!

भाव के विषय मे भी केशवदास मे परपरा से कुछ वैचित्र्य मिलता है। उन्होने भाव की परिभाषा भी कुछ विचित्र-सी ही की है और इसके पाच भेद माने हैं।

उदाहरण :

> आनन, लोचन, बचन मग प्रकटत मन की बात।
> ताही सों सब कहत हैं, भाव कविन के तात॥

इसका अर्थ यह है कि आनन, लोचन और वचन के द्वारा प्रकट होने वाली मन की बात—मनोविकार—ही भाव है। कहने की आवश्यकता नही कि यह परिभाषा अत्यंत अस्पष्ट और अपूर्ण है। इसमे संदेह नही कि भाव मनोविकार का ही नाम है और उसके माध्यम भी दो प्रकार के ही होते है ' आगिक और वाचिक। परंतु यह वर्णन अत्यंत स्थूल है। संभव है, केशव ने इसका संकेत नाट्यशास्त्र से ही ग्रहण किया हो

> वागगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावा.।

हो सकता है कि केशव ने इसी का अत्यंत स्थूल अर्थ कर दिया हो; क्योकि दोनो लक्षणों के शब्दो मे बहुत भेद नही है : 'काव्यार्थ' के स्थान पर 'मन की बात' का प्रयोग करके केशव ने इसे सरल बनाने का प्रयत्न किया हो। केशव ने पाच प्रकार के भाव माने है :

> भाव सु पाँच प्रकार के, सुनु विभाव अनुभाव।
> अस्थाई सात्त्विक कहे, व्यभिचारी कवि-राव॥

यह भी भरत के आधार पर ही किया गया है। भरत ने भी इसी प्रकार विभाव, अनुभाव (जिनके अंतर्गत सात्त्विक भाव भी आ जाते है), व्यभिचारी और

स्थायी सभी को भाव ही माना है, क्योंकि उन सभी के द्वारा काव्यार्थ का भावन होता है। हाव और नायिका-भेद के प्रसगो मे भी केशव ने कुछ विचित्रता दिखाई है, पर उनके प्राय. सभी तथाकथित नवीन भेद विश्वनाथ और भानुदत्त मे किसी-न-किसी रूप मे मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए, उन्होने प्रचलित दस हावो के स्थान पर तेरह हाव माने हैं जिनमे से 'हेला' विश्वनाथ का उसी नाम का अंगज अलकार है और 'मद' कृति-साध्य अलकार है। ऐसे ही उदाहरण नायिका-भेद के प्रसग मे दिये जा सकते हैं।

अलंकार-विवेचन—केशव का दूसरा वर्ण्य विषय है अलंकार। यह सुन कर सुरेशचन्द्र शर्मा ने सोचा कि अभी तो यह पुराण काफी लबा मालूम पडता है, थोडा-सा मध्यावकाश मना लेना चाहिए। इसलिए वह चुपके से नशा-पानी से तरो-ताजा होने के लिए बाहर चले गए। मेरा व्याख्यान चलता रहा : अलंकार के उन्होने दो वर्ग किये हैं—सामान्य और विशेष। विशेष के चार भेद हैं :

सामान्यालंकार को चारि प्रकार प्रकास।
वर्न, वर्न्य, भू-राज-श्री, भूसण केसवदास ॥

अर्थात् वर्ण, वर्ण्य, भूश्री और राजश्री—ये वास्तव मे वर्ण्य विषय हैं जिनका समावेश इनकी अपनी विषयगत चारुता के कारण काव्य को अलकृत करता है। दूसरे प्रकार के अलकार विशिष्टालकार हैं जिनके अतर्गत उपमा-रूपकादि आते हैं। शुक्ल-जी के शब्दो मे, वास्तविक अलंकार ये ही है, क्योकि इनका सबध वर्णन-शैली से है। हिंदी के विद्यार्थी के लिए यह वर्गीकरण कुछ नवीन-सा लगता है परंतु वास्तव मे यह पूर्व-ध्वनिकाल के प्राचीन आचार्यों की देन है जो कालातर मे काव्यशास्त्र के सिद्धात स्थिर हो जाने पर अमान्य घोषित कर दिया गया था। भामह, दडी और वामन आदि प्राचीनो ने अलकार को करण न मानकर कर्त्ता माना है। अर्थात् उसे सौदर्य का विधायक या एक प्रकार से सौदर्य का पर्याय ही माना है। वामन ने स्पष्ट लिखा है, 'काव्य ग्राह्यमलकारात्। सौदर्यमलकार.।' काव्य की सार्थकता अलकार से है और अलकार का अर्थ है सौंदर्य। इस प्रकार ये आचार्य अलंकार और अलकार्य मे भेद नही करते; काव्य का विषयगत सौंदर्य और वर्णन-शैली की चारुता दोनो ही इनके अनुसार अलंकार हैं। इसीलिए दडी ने अलकार को काव्य-शोभा का विधायक तत्त्व माना है, शोभा की वृद्धि करने वाला सहायक तत्त्व या साधन नही। इस प्रकार कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध सभी बातें अलकार के अंतर्गत आ जाती हैं। ध्वनि की स्थापना के उपरात मान्य आचार्यों ने इस भ्राति का निराकरण किया और अलंकारो को शैली के उपकरण-मात्र माना। फिर भी कवि-शिक्षा के ग्रंथो मे इस परिपाटी का अनुसरण होता रहा। 'काव्यमीमासा' के उपरांत अमर की 'काव्यकल्पलतावृत्ति' और तदुपरात केशवमिश्र-कृत 'अलंकारशेखर' मे कवि-समय के रूप मे काव्य के वर्ण्य विषय सामान्यालकार का विवेचन चलता रहा। केशव ने सिद्धात दडी और वामन आदि से और वर्णन प्राय अमर और केशवमिश्र से ग्रहण किया। इस प्रकार, उपर्युक्त विभाजन न तो केशव की अपनी उद्भावना है और न वह तर्कपुष्ट तथा मान्य है। वह काव्यशास्त्र

के विकास की प्रारंभिक अवस्था का द्योतक है, विकसित अवस्था का नहीं।

विशिष्टालंकारों के विवेचन में, केशव दंडी के पूर्णतया ऋणी हैं। उनके लक्षण और कहीं-कहीं उदाहरण भी काव्यादर्श से लिये गए हैं। केशव के अलंकार-वर्णन में दंडी के वर्णन से तीन-चार प्रकार की भिन्नता है : कुछ अलंकारों के लक्षण दंडी से भिन्न हैं, कुछ अलंकारों का विपर्यय हो गया है, दंडी के कुछ भेद केशव ने स्वीकार नहीं किये और कुछ अतिरिक्त भेदों की उद्‌भावना की है। परंतु यह भिन्नता केशव के लिए प्रशंसा की बात नहीं है; क्योंकि लक्षणों की भिन्नता तथा अलंकारों का विपर्यय प्रायः भ्रांति-जन्य है, केशव दंडी का आशय ही नहीं समझे हैं। उदाहरण के लिए, केशव ने अर्थान्तरन्यास के उपभेदों के नाम तो दंडी के अनुसार रखे हैं, परंतु उनके लक्षण-उदाहरण भिन्न हैं; स्पष्टतया ही केशव यहां दंडी का आशय नहीं समझे। इसी प्रकार केशव की 'अपह्नुति' 'मुकरी' बन गई है। 'रूपक-रूपक' साधारण 'रूपक' मात्र रह गया है। कई स्थानों पर केशव ने प्रतीयमान अर्थ को वास्तविक अर्थ ही मान लिया है जिससे चमत्कार ही नष्ट हो गया है। जैसे, 'आक्षेप' में उन्होंने वास्तविक निषेध को ही अलंकार का लक्षण मान लिया है, या सभी प्रकार के आशीर्वादों में ही अलंकारत्व मान लिया है। दंडी के कुछ भेद केशव ने छोड़ दिये हैं। आक्षेप के चौबीस भेदों में से उन्होंने बारह ग्रहण किये हैं, और उपमा के बत्तीस भेदों में से बाईस ग्रहण किये हैं, जिनमें अनेक के नामादि भी भिन्न हैं। परंतु यहां भी यह नहीं समझना चाहिए कि केशव ने अतिव्याप्ति-अव्याप्ति आदि को दूर करते हुए अलंकारों में व्यवस्था स्थापित करने के लिए यह काट-छांट की है। केशव ने यह ग्रहण और त्याग सर्वथा मनमाने ढंग से किया है; उसके पीछे न कोई तर्क है और न व्यवस्था। अतिरिक्त अलंकार-भेदों के लिए भी केशव को कोई विशेष श्रेय नहीं दिया जा सकता; क्योंकि उनमें से कुछ तो चमत्कारहीन होने के कारण अलंकार ही नहीं बन सके। जैसे, संकीर्णोपमा और विपरीतोपमा में औपम्य का ही अभाव है। अतएव उनको अलंकार ही नहीं माना जा सकता। गणना में तो किसी प्रकार का अलंकारत्व है ही नहीं; यदि उसे अलंकार माना भी जाये तो भी वह सामान्यालंकार ही रहेगा। और, वास्तव में 'काव्यकल्पलतावृत्ति' और 'अलंकारशेखर' में उसका इसी रूप में वर्णन भी है।

दोष-विवेचन : केशव ने दोषों के दो वर्ग किये हैं। प्रमुख वर्ग के अंतर्गत उन्होंने पांच दोषों की गणना की है :

अंध, बधिर अरु पंगु तजि, नगन, मृतक मतिशुद्ध।

अंध, अर्थात् काव्य-परंपरा के विरुद्ध; बधिर, जहां परस्पर विरोधी शब्दों का प्रयोग हो; पंगु छंद-विरुद्ध; नग्न अर्थात् निरलंकार; और मृतक, जिसमें अर्थ का ही अभाव हो। केशव के इन दोषों का आधार क्या है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। संभव है कि वे उनकी अपनी कल्पना ही हों, अथवा किसी अप्रसिद्ध कवि-शिक्षा-ग्रंथ से उद्धृत हों; परंतु इनकी स्थिति विशेष प्रामाणिक नहीं है। उदाहरण के लिए, नग्न-दोष, जहां किसी स्वीकृत अलंकार का अभाव हो, अपने-आप में कोई दोष

नही है; क्योकि गंभीर आचार्यो ने 'अनलंकृती पुनः क्वापि' स्पष्ट ही कह दिया है। और, वास्तव मे केशव ने जो छद उद्धृत किया है वह दोषपूर्ण अथवा त्याज्य छंद न होकर सरस छद है। उसमे उक्ति-चमत्कार का भी अभाव नही है, चाहे वह चमत्कार परिगणित अलकारो के अतर्गत भले ही न आता हो। इसी प्रकार 'मृतक' दोष भी असिद्ध-सा ही है, क्योंकि काव्य-दोष केवल काव्य मे हो सकता है, और अर्थहीन वाक्य तो भाषा भी नही कहा जा सकता, काव्य की बात तो दूर रही। आगे चलकर केशव ने अपार्थ-दोष मे इसी की पुनरावृत्ति की है, यद्यपि उस प्रसंग मे उदाहृत छद सर्वथा निरर्थक नही। इन पाच दोषो के अतिरिक्त केशव ने 'अन्य दोष' कहकर दस और काव्य-दोषो का वर्णन किया है। ये प्राय. प्रचलित दोष ही है जो केशव ने दंडी से लिये हैं। यहा भी उन्होने अनुवाद मे असावधानी अथवा अर्थ-ग्रहण मे त्रुटि की है। अपार्थ के लक्षण मे दंडी का कहना है. 'उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति।' अर्थात्, उन्मत्त व्यक्तियो और मत्त बालको की उक्तियो मे निरर्थक शब्दावली का प्रयोग-दोष नही रह जाता।' परतु केशव ने दडी के इस सूक्ष्म विवेचन को ग्रहण न करते हुए अत्यंत स्थूल रूप मे यह कह दिया है कि 'मतवारो उन्मत्त सिसु के से बचन बखानु।' अर्थात्, जहा शिशु अथवा उन्मत्त व्यक्ति के-से वचनो का प्रयोग हो, वहा अपार्थ-दोष होता है।

अन्य प्रसंग : इन प्रमुख प्रसगो के अतिरिक्त केशव ने वृत्तियो का और थोडा-सा पिंगल का भी विवेचन किया है। कैशिकी, सात्वती आदि वृत्तियो का सबध नाटक से ही है, अतएव काव्यशास्त्र मे उनको कोई विशेष महत्त्व नही दिया गया। केशव ने 'रसिकप्रिया' मे भरत के नाट्यशास्त्र से पर्याप्त सहायता ली है, अतएव उसी सिलसिले मे उन्होने अत मे वृत्तियो का विवेचन भी कर दिया है। पिंगल के अतर्गत 'कविप्रिया' का गणागण-विचार आ सकता है, यद्यपि वह 'अगण' दोष के ही प्रसंग मे किया गया है, परतु विवेचन की दृष्टि से वह स्वतत्र हो गया है।

काव्य-सिद्धांत और काव्य-संप्रदाय : केशव को हिंदी-जगत् अलकारवादी मान चुका है और साधारणत. उनका एक दोहा ही प्रस्तुत प्रसग मे उद्धृत कर इस स्थापना की सिद्धि भी कर दी जाती है; परतु केशव ने सामान्य काव्य-सिद्धांत के विषय मे 'रसिकप्रिया' तथा 'कविप्रिया' दोनो मे कुछ निश्चित धारणाएं व्यक्त की है। उनके मत से कवि तीन प्रकार के होते हैं :

> उत्तम, मध्यम, अधम कवि, उत्तम हरि-रस लीन।
> मध्यम मानत मानुषनि, दोषनि अधम प्रवीन॥

परमार्थ परक काव्य के प्रणेता हरि-रस मे लीन उत्तम कवि कहलाते हैं; अर्थात् केशव के अनुसार परमार्थ अथवा धर्म और मोक्ष रूप परम पुरुषार्थो की सिद्धि ही काव्य का चरम लक्ष्य है। मानव-जीवन के कवि, जो मानव-चरित्र का गुणगान कर ऐहिक आनद को काव्य की सिद्धि मानते हैं, मध्यम कोटि के कवि है, और परमानद तथा लौकिक आनंद अर्थात् आत्मा और मन दोनो के आनद से वचित दोषपूर्ण कवि-कर्मचारी अधम कवि हैं। यहां केशव ने 'रस' शब्द का स्पष्ट उल्लेख किया है।

कवि की सबसे बडी शक्ति है वाणी, जिसके बिना वह आनंद का दान नही कर सकता :

ज्यो बिन डीठ न शोभिए, लोचन लोल बिशाल।
त्यो ही केसव सकल कवि, बिन बानी न रसाल।।

कवि की रसालता—सरसता—का मूल उपकरण है उसकी वाणी :

ताते रुचि सुचि सोचि पचि, कीजै सरस कवित्त।
केसव स्याम सुजान को, सुनत होइ बस चित्त।।

यहां भी सरस कवित्त अथवा कवित्त की सरसता पर ही बल दिया गया है और श्याम-सुजान अर्थात् भगवान् के प्रसादन को उसकी सिद्धि माना गया है। इस प्रकार केशव ने रस का तिरस्कार न कर उसके महत्त्व को पूर्णतया स्वीकार किया है। स्वयं अनेक दोषो के अपराधी होकर भी केशव ने दोष को कविता के लिए असह्य माना है :

राजत रंच न दोषयुत कविता बनिता मित्र।

मैं वाक्य पूरा भी नही कर पाया था कि ललित की आवाज आयी—

बुदक हाला परत ज्यो, गगा-घट अपवित्र।

इसलिए सबसे पूर्व उन्होने दोषो का निरूपण कर कवियशःप्रार्थी को उनके विरुद्ध सावधान कर दिया है। प्रौढावस्था तक पहुंच कर केशव पर अलंकार का जादू चढ गया। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि यह कवि, जैसा कि 'रामचद्रिका' आदि के अनेक छंदो से स्पष्ट है, अपने वश की परपरा और अपने पाडित्य के प्रति अत्यधिक सचेष्ट था। पाडित्य का धीरे-धीरे उस पर ऐसा आतक छा गया कि अर्थ-गौरव के बोझ से मन की सरस्वती दब गई। पाडित्य और अर्थ-गौरव कृति-साध्य हैं और उधर अलंकार भी अपेक्षाकृत अधिक कृति-साध्य ही हैं, इसलिए केशव को पाडित्य और अर्थ-गौरव की स्पृहा ने ही अलकार की ओर आकृष्ट किया, यह अनुमान लगाना कठिन नही है। उनका सिद्धात-वाक्य :

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुबृत्त।
भूषण बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त।।

और 'रामचद्रिका' मे उनका भयकर अलकार-मोह उनकी अलंकारवादिता को असदिग्ध रूप से प्रमाणित कर देता है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि केशव ने आरंभ मे रसवाद के अंतर्गत शृंगारवाद को मान्यता दी और 'रसिकप्रिया' के द्वारा हिंदी मे उसका प्रवर्तन किया। यह उत्तर-ध्वनिकालीन परंपरा थी जब रसवाद अपनी पूर्ण प्रतिष्ठा के उपरात नायिका-भेद के ग्रथो मे शृगारवाद मे ही सीमित हो गया था। प्रौढिकाल मे केशव की प्रवृत्ति स्वभावत सरसता से बौद्धिकता की ओर होने लगी। बौद्धिकता के दो रूप सभव थे १. विचार-प्रधान (दार्शनिक) काव्य; २. अलकार-प्रधान काव्य। केशव ने दोनो को ही ग्रहण किया है और चूंकि दरबार मे रहकर उनका लगाव अलकार से अधिक था, इसलिए अलकार का जादू उनके सिर पर और ज्यादा चढकर बोलने लगा। अलंकार की परपरा भामह, दडी, वामन, उद्भट आदि की ध्वनि-पूर्व परंपरा थी, जिसके

अनुसार काव्य का समस्त सौंदर्य ही अलंकार के आश्रित था, जब वर्ण्य विषय और वर्णन-शैली दोनो ही अलंकार के अंतर्गत आते थे।

मूल्यांकन : रीतिशास्त्र में केशव का स्थान : इस पृष्ठभूमि का निर्माण कर लेने के उपरात अब केशव के आचार्यत्व का मूल्याकन सहज ही किया जा सकता है। भारतीय काव्यशास्त्र मे तीन प्रकार के आचार्य हुए हैं : पहली श्रेणी मे भरत, भामह, दडी, वामन, आनदवर्धन, अभिनव और कुतक आदि ऐसे आचार्यो का स्थान है जिन्होने काव्यशास्त्र के किसी मौलिक सिद्धात का आविष्कार कर काव्य-सप्रदाय का प्रवर्तन किया है। कहने की आवश्यकता नही कि केशव के लिए इस श्रेणी मे तो कोई स्थान ही नही है। उन्होने न किसी मौलिक सिद्धांत की सृष्टि की और न किसी नवीन काव्य-पथ का ही प्रवर्तन किया। यह सब केशव की सामर्थ्य से बाहर था। दूसरी श्रेणी मे वे आचार्य आते हैं जिन्होने काव्य के सर्वांग का मौलिक व्याख्यान किया है— इन आचार्यों ने काव्य के मूलभूत सिद्धातो की सूक्ष्म-गहन व्याख्या करते हुए उन्हे व्यवस्थित रूप दिया है : उद्भट, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ, आदि व्याख्याता-आचार्य इस वर्ग के विभूषण हैं। केशव इस गौरव के भी अधिकारी नही हैं। इसके लिए काव्य के मूलभूत सिद्धांतो के तात्त्विक ज्ञान, उनके निर्भ्रान्त एव स्पष्ट विवेचन-व्याख्यान, तथा सुस्थिर व्यवस्थापन-शक्ति की अपेक्षा रहती है। जैसा कि हम अभी निर्देश कर चुके हैं, केशव मे इन गुणो का प्राय अभाव ही है। न उनका ज्ञान ही निर्भान्त है और न विवेचन ही स्थिर व स्पष्ट है। इस श्रेणी के आचार्यो का सबसे बडा गुण है व्यवस्था, जिसका केशव मे एकात अभाव है। तीसरी श्रेणी कवि-शिक्षको की है जिनका कार्य होता है विद्यार्थियो तथा रसिको की काव्य-शिक्षा के निमित्त वर्णनात्मक ढग से आवश्यक सामग्री का संचय कर सरल-सुबोध पुस्तक प्रस्तुत करना। सामान्यत: भारतीय काव्यशास्त्र की व्यापक भूमिका मे विचार करने से केशव कवि-शिक्षक रूप मे ही सामने आते हैं जिन्होने काव्य के दो प्रमुख अंगो का—रस तथा अलंकार का—साधारण प्रतिभा और ज्ञान वाले विद्यार्थियो तथा रसिक जनो के लिए विस्तार से वर्णन किया है :

> समुझै बाला बालकन, बरनन - पंथ अगाध।
> कविप्रिया केशव करी, छमियहु कवि अपराध ॥

यहा केशव ने अपना उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है. एक तो वे काव्य-वर्णन की सुबोध शिक्षा देना चाहते हैं, सूक्ष्म विवेचन-विश्लेषण की नही, और दूसरे उनके ग्रंथ साधारण शिक्षा-सस्कार वाले विद्यार्थियो और रसिको के लिए हैं।

पर यदि हम अपनी दृष्टि को थोडा सीमित कर लें और हिंदी काव्यशास्त्र की परंपरा मे ही केशव के आचार्यत्व का विचार करें तो केशव का महत्त्व असंदिग्ध है। उनको हिंदी-काव्यशास्त्र का प्रवर्तक होने का गौरव प्राप्त है। हिंदी के उस व्यापक काव्य-युग के प्रवर्तन का श्रेय न केशव के किसी पूर्ववर्ती रीति-कवि को दिया जा सकता है और न परवर्ती को। कृपाराम का क्षेत्र अत्यंत संकुचित है और व्यक्तित्व बहुत ही साधारण। चिंतामणि को भी यह गौरव देना अन्याय है; क्योकि यह केवल

एक संयोग था कि उनके उपरांत रीति-काव्य की धारा अविच्छिन्न रूप मे प्रवाहित हो चली। हिंदी के परवर्ती कवियो ने —देव, दास आदि सभी धुरंधर कवियों ने— केशव को ही आचार्य-रूप मे श्रद्धाजलि दी है। चिंतामणि का नाम तक भी किसी ने नही लिया। केशव ने ही हिंदी मे सबसे पहले सचेष्ट रूप से संस्कृत की पूर्व-ध्वनि और उत्तर-ध्वनि परंपराओं को अवतरित किया, और अपने पाडित्य-गुरु व्यक्तित्व के बल पर हिंदी-काव्य मे शास्त्रीय पद्धति की प्रतिष्ठा की।

इसमे संदेह नही कि उनका अलकार-सिद्धात बाद मे मान्य नही हुआ— उसकी भ्रातियां अत्यंत स्पष्ट और मुखर हैं। इसमे भी सदेह नही कि उन्होने हिंदी के काव्य-साहित्य को आधार मानते हुए सिद्धात-व्यवस्था न कर प्राय. संस्कृत का ही अनुवाद किया है। हमे यह भी स्वीकार्य है कि स्वय हिंदी के भी कतिपय परवर्ती आचार्यों— कुलपति, श्रीपति, दास आदि—का विवेचन केशव के विवेचन की अपेक्षा अधिक स्वच्छ और व्यवस्थित है। फिर भी केशव की प्रतिभा उनमे से किसी मे नही थी। भक्तिकाव्य की वेगवती धारा को रीति-पथ पर मोडने के लिए एक प्रभावशाली व्यक्तित्व की आवश्यकता थी, और प्रतिभा तथा पाडित्य से परिपुष्ट यह व्यक्तित्व था केशव का।

व्याख्यान समाप्त करते-करते मस्तिष्क की अपेक्षा मेरा श्वास अधिक थक गया था। विद्यार्थियो की भी उंगलियां तो कम-से-कम थक ही गई थी, कुछ की उगलिया रंग भी गई थी, एकाध की नाक पर भी टीका लग गया था। क्लास छोड कर बाहर आया तो देखा कि मिस गर्ग और डॉक्टर सिन्हा दोनो क्षुब्ध-सी खडी हुई हैं। मैंने सोचा कि महिलाएं तो दोनो ही ये मृदुल स्वभाव की हैं, आज एक-दूसरे से नाराज क्यो हो गई हैं। बाद मे मालूम हुआ कि वे एक-दूसरे पर क्षुब्ध न होकर मुझ पर ही क्षुब्ध थी, क्योकि दोनो का आधा समय तो मैंने ही ले लिया था।

बिहारी की बहुज्ञता

बिहारी की बहुज्ञता का विवेचन करने से पूर्व इस प्रश्न का समाधान कर लेना आवश्यक हो जाता है कि बहुज्ञता और कवित्व का क्या सबध है, अर्थात् क्या किसी कवि के काव्य-सौष्ठव मे उसकी बहुज्ञता का योग रहता है? और यदि रहता है तो कितना? सस्कृत साहित्यशास्त्र के भावक के लिए यह प्रसग नया नही है; आरंभ से ही उसमे काव्य के साधनो का विस्तार से विवेचन होता आया है। उन्हे काव्य के सहायक अथवा काव्य-हेतुक कहा गया है। ये काव्य-हेतुक तीन है: शक्ति, निपुणता और अभ्यास। सस्कृत काव्यशास्त्र मे इस बात पर काफी बल दिया गया है कि कवि को व्युत्पन्न होना चाहिए। उसका लोक और शास्त्र का ज्ञान व्यापक होना चाहिए।

भरत मुनि ने प्रकारानर से इसका निर्देश किया है—

न तत् ज्ञान न तत् शिल्पं, न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत् कर्म, नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

अर्थात् नाटक मे सभी प्रकार के ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, युक्ति, कर्म आदि का उपयोग रहता है। वामन ने इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है: लोक, विद्या और प्रकीर्ण—ये तीन काव्य के सहायक अग हैं। लोक का अर्थ है लोक-व्यवहार। शब्द-शास्त्र, कोश, छंदशास्त्र, कला, दडनीति, राजनीति अथवा अर्थशास्त्र आदि विद्याए हैं जिनका अध्ययन काव्य-रचना से पूर्व अपेक्षित होता है। राजशेखर ने इस सूची को और भी विस्तृत कर दिया है: "श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाण-विद्या अर्थात् दर्शन, समय-विद्या अथवा तत्रशास्त्र, राजसिद्धातत्रयी अर्थात् अर्थशास्त्र और काम-शास्त्र, लोक-व्यवहार, विरचना अर्थात् कवि-प्रतिभा-जात काव्यकथादि, प्रकीर्ण जिसके अंतर्गत हस्ति-शिक्षा, रत्नपरीक्षा आदि की गणना की जातो है, योक्तृसंयोग, उत्पाद्य-संयोग, उचित सयोग, सयोग-विकार आदि काव्यार्थ के मूल है। अत मे मम्मट ने इस विवेचन को व्यवस्थित रूप देते हुए कहा:

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

शक्ति, लोक, शास्त्र तथा काव्यादि के अवेक्षण से प्राप्त निपुणता तथा अभ्यास, ये तीनों समन्वित रूप से काव्य के हेतु हैं। इस प्रकार काव्यशास्त्र मे निपुणता अथवा बहुज्ञता की बडी प्रतिष्ठा रही है। यहा तक कि प्रतिभा और निपुणता के बीच प्रतिद्वंद्व रहा है। राजशेखर ने काव्य-मीमासा मे आचार्य मंगल का उल्लेख करते हुए

कहा है कि वे उसे प्रतिभा से भी श्रेष्ठतर मानते थे। आनंदवर्धन ने प्रतिभा की श्रेष्ठता स्थापित करते हुए लिखा था :

अव्युत्पत्तिहृतो दोष. शक्त्या संवियते कवेः।

अर्थात् कवि की प्रतिभा निपुणता के अभाव से उत्पन्न दोष का संवरण कर लेती है। इसका उत्तर मंगल ने उन्ही के शब्दो में दिया :

कवेः सव्रियतेऽशक्तिर्व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि।

कवि की निपुणता उसकी शक्ति के अभाव-दोष का संवरण कर लेती है; यह तो अत्युक्ति ही है। वास्तव मे आनंदवर्द्धन का मत ही विवेक-सम्मत तथा तर्क-संगत है। फिर भी इसमे सदेह नही कि कवि की बहुज्ञता को हमारे काव्यशास्त्र में बड़ा महत्त्व दिया गया है। विदेश मे भी यूनान तथा रोम के आचार्यो ने और इधर अंगरेजी आदि अर्वाचीन भाषाओ के साहित्यशास्त्रियो ने भी कवि की व्युत्पन्नता पर बहुत बल दिया है। इसके लिए विभिन्न कलाओ, विद्याओ तथा उपविद्याओं का ज्ञान अनिवार्य माना गया है।

परंतु हमे उपर्युक्त मंतव्यो की सावधानी से परीक्षा करनी होगी। क्या कवि की बहुज्ञता काव्य की साधक ही होती है ? क्या उसके कारण काव्य मे बाधा नही पडती ? सस्कृत मे माघ, भारवि आदि का ज्ञान, विदेश मे मिल्टन जैसे कवियों की विद्वत्ता और हिंदी मे केशव, तुलसी आदि की बहुज्ञता उनके काव्य में नि.संदेह ही बाधक हुई है। इसीलिए नासिख ने कवियो को चेतावनी दी है :

इश्क़ को दिल मे दे जगह नासिख,
इल्म से शायरी नही आती।

—और वास्तव मे यह काफ़ी हद तक ठीक है। बहुज्ञता काव्य का अनिवार्य गुण नही है, काव्य-सौंदर्य के साथ उसका प्रत्यक्ष संबंध नही है। हस्ति-विद्या अथवा रत्न-परीक्षा का ज्ञान काव्य का संवर्द्धन कैसे कर सकता है, यह बात हमारी समझ में नही आती। इस विषय मे हमारे दो मंतव्य हैं . एक तो यह कि बहुज्ञता का अर्थ काव्य से सबद्ध विषयो के ज्ञान और अनुभव की समृद्धि तक ही सीमित रखना चाहिए; और दूसरे उसका योग अप्रत्यक्ष ही मानना चाहिए; अर्थात् वह कवि के व्यक्तित्व को विकसित और समृद्ध करके ही काव्य मे सहायक होती है। विभिन्न विद्याओ के ज्ञान का प्रत्यक्ष उपयोग तो काव्य की हानि ही करता है।

मम्मट ने भी यही बात कही है; इसलिए जैसा कि पं० बलदेव उपाध्याय ने संकेत किया है, उन्होने शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनो के समन्वय को काव्यहेतु माना है, निपुणता आदि को पृथक् रूप से नही। मम्मट का मंतव्य भी यही है कि निपुणता शक्ति, अर्थात् कवि के व्यक्तित्व, का संवर्धन करती हुई ही काव्य में सहायक होती है। केवल निपुणता का सीधा उपयोग काव्य-सौष्ठव की श्रीवृद्धि नही करता।

विहारी की बहुज्ञता का विवेचन हमें इसी पृष्ठभूमि मे करना होगा। विहारी की बहुज्ञता की चर्चा सबसे पहले कदाचित् पं० पद्मसिंह शर्मा ने विहारी-सतसई की भूमिका मे अत्यंत प्रबल शब्दो मे की है : "गणित, ज्योतिष, इतिहास, नीति और

अजौ तर्‌यौना ही रह्यौ, श्रुति सेवत इक अंग,
नाक बास बेसर लह्यौ, बसि मुकतन के संग

यहा साधु-संगति का माहात्म्य बताया गया है जो मध्य-युग का अत्यंत प्रचलित सिद्धांत था। अन्य दोहो मे भी सगुण, निर्गुण, अद्वैतवाद तथा ब्रह्मवाद आदि से संबद्ध अत्यंत साधारण सिद्धातो की चर्चा है जिनसे इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता कि बिहारी ने दर्शनशास्त्र का शास्त्रीय विधि से अध्ययन किया था :

दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुन-बिस्तारन-काल।
प्रगटत निरगुन निकट ही, चंग-रंग गोपाल ॥

× × ×

बुधि अनुमान प्रमाण श्रुति किये नीठि ठहराय।
सूक्षम कटि परब्रह्म की अलख लखी नहिं जाय ॥

दर्शन के अतिरिक्त पुराण आदि के भी 'सतसई' मे कतिपय प्रसंग आये हैं। बिहारी-जैसे व्युत्पन्न कवि के लिए पुराण-ज्ञान सर्वथा स्वाभाविक ही था। वास्तव मे मध्य-युग मे वेदशास्त्र की अपेक्षा पुराणो का ही प्रचार अधिक था :

बिरह-बिथा-जल-परस बिन, बसियत मो हिय-ताल।
को जानत जल-थम्भ बिधि, दुरजोधन लौं लाल ॥

इस दोहे मे दुर्योधन की जल-स्तभ विद्या का उल्लेख है। इसी प्रकार दुर्योधन के अंतिम समय की स्थिति का भी एक अन्य दोहे मे प्रसंग आया है :

पिय-बिछुरन को दुसह दुख, हरषि जात प्यौसाल।
दुरजोधन लौ देखियत, तजत प्रान इहि बाल ॥

इसके अतिरिक्त रामायण-महाभारत के भी प्रसंग है। परंतु वास्तव मे वे अत्यंत प्रचलित और सर्वविदित है; उनके लिए विशेष अध्ययन की कोई अपेक्षा नही है।

बिहारी का एक अन्य प्रिय विषय है ज्योतिष, और वास्तव मे उसका उन्होने विशेष अध्ययन किया प्रतीत होता है। 'सतसई' के बहुत-से दोहो मे ज्योतिष का चमत्कार है। कुछ के प्रसग तो वास्तव मे बिहारी के तद्विषयक विशेष ज्ञान के द्योतक हैं :

मंगल बिन्दु सुरग, मुख ससि, केसर-आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत ॥

ज्योतिष का सूत्र है कि जब मंगल, बृहस्पति और चद्रमा एक नाडी में हो तो पृथ्वी पर समुद्र टूट पडे :

एकनाडी-समायुक्तौ चन्द्रमोधरणीसुतौ।
यदि तत्र भवेज्जीवस्तदा एकार्णवा मही ॥

इसी प्रकार :

सनि कज्जल चख झख लगन उपज्यौ सुदिन सनेह।
क्यो न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेस सब देह ॥

× × ×

तुला-कोदण्ड-मीनस्थो, लग्नस्थोऽपि शनैश्चरः ।
करोति नृपतेर्जन्म वंशे च नृपनेर्भवेत् ।।

अर्थात्—तुला, धन और मीन का शनि यदि लग्न मे पडा हो तो इस योग मे जन्म लेने वाला राजा होता है। बिहारी के दोहे मे इसी ज्योतिष-सिद्धांत का चमत्कार है। इसमे संदेह नही कि दोनों प्रसंग असामान्य हैं और विशेष ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं। बिहारी ने ज्योतिष के सिद्धातो का प्रयोग भी अपेक्षाकृत अधिक ही किया है। प्रश्न यह उठता है कि यह प्रयोग काव्य मे कहा तक सहायक है ? इसमे सदेह नही कि इसके द्वारा उक्ति-चमत्कार मे वृद्धि होती है, कल्पना का भी उत्कर्ष लक्षित होता है, कवि की विद्वत्ता का भी परिचय मिलता है; परंतु रसानुभूति मे तो विलंब के कारण विघ्न ही उपस्थित होता है।

बिहारी के अन्य प्रिय विषय है : वैद्यक, कला, राजसी कौतुक-विनोद आदि। इनमे से ज्योतिष और वैद्यक का ज्ञान ब्राह्मण होने के नाते, कला का ज्ञान कवि होने के नाते, और कौतुक-विनोद आदि से अभिज्ञता राज-पारिषद् होने के नाते बिहारी के लिए स्वाभाविक ही नही, आवश्यक भी थी। उन्होने कुछ-एक दोहो मे नाडी-निदान, विषम-ज्वर, सुदर्शन, पारद आदि का श्लिष्ट प्रयोग किया है। अनेक दोहो मे कबूतर-बाज़ी, पतंगबाजी, नटो के खेल, शिकार आदि राजसी क्रीडा-विनोदो का उल्लेख किया है और दो-चार दोहो मे स्थापत्य तथा चित्रकला आदि के भी प्रसंग मिलते है। परतु, जैसा मैंने अभी कहा, ये सब कवि की बहुज्ञता अथवा व्यापक पाडित्य के परिचायक न होकर उसकी व्यापक दृष्टि के ही साक्षी हैं।

इस प्रसग मे इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मैं उन दोहों को मानता हूं जिनमे सामयिक परिस्थितियो का चित्रण मिलता है। बिहारी की तीक्ष्ण दृष्टि ने अपने युग के समाज और उसकी दुर्बलताओ का सम्यक् रूप से अवलोकन किया है। पुरोहितो का पाखड, ज्योतिषियो की उखाड-पछाड, वैद्यो की पोल-पट्टी, सामाजिक मर्यादाओ का शैथिल्य, बढती हुई विलासिता आदि पर बिहारी ने तीखे व्यंग्य किये हैं। धर्म के क्षेत्र मे किस प्रकार मत-मतांतरो का विवादमात्र शेष रह गया था, साप्रदायिक रूढि-वाद का बोलबाला था, जीवन का उन्नयन करने वाला धर्म उपेक्षित हो रहा था—बिहारी के सामने यह सब-कुछ स्पष्ट था और उन्होने अपने दोहो के अत्यंत संकुचित कलेवर मे भी इन परिस्थितियो का निर्देश किया है। राजनीतिक परिस्थिति पर भी बिहारी की दृष्टि गई है और उन्होने दिग्गज, हिंदू राजाओ की हिंदू-विरोधी नीति, नरेशो की निरकुशता आदि पर मार्मिक व्यंग्य किये हैं। रीति-काव्य पर असामा-जिकता का आरोप प्राय अब रूढ-सा ही हो गया है। वह सर्वथा अनुचित भी नही है। फिर भी रीतिकवियो ने अपने ढग से सामाजिक आलोचना प्रस्तुत की है, और, बिहारी-सतसई तथा अनेक काव्य इसके प्रमाण हैं।

अब तक हमने जिन विषयो की चर्चा की वे सब काव्य के सहायक-मात्र हैं। इनके अतिरिक्त काव्य, काव्यशास्त्र, कामशास्त्र आदि का तो बिहारी के काव्य से प्रत्यक्ष सबंध ही था। बिहारी की इस दिशा मे अच्छी गति थी। सस्कृत, प्राकृत,

अपभ्रंश तथा पूर्ववर्ती हिंदी-काव्य का उन्होने गहन अध्ययन किया था; काव्यशास्त्र तथा उसके विभिन्न अंगो—रसशास्त्र, अलकारशास्त्र, नायिका-भेद आदि का उनको निर्भ्रान्त ज्ञान था। इन शास्त्रो की बारीकियां उनके दोहो मे सर्वत्र मिलती है। रस के क्षेत्र मे उसके विभिन्न अवयव, शृगार के अतर्गत अनुभाव, सात्त्विक भाव, यत्नज और अयत्नज अलंकार, काम-दशा आदि का जितना सूक्ष्म और स्पष्ट वर्णन बिहारी-सतसई मे मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। इसी प्रकार अलंकारशास्त्र तथा नायिका-भेद और उसके आधारभूत कामशास्त्र से भी सतसईकार का घनिष्ठ परिचय था। बिहारी-सतसई यद्यपि लक्ष्य-ग्रथ ही है, तथापि अलकार और नायिका-भेद के जितने स्पष्ट उदाहरण उसमे मिलते हैं, उतने तथाकथित लक्षण-ग्रंथो मे नही मिलते।

इस प्रकार शास्त्र की दृष्टि से बिहारी के काव्य-व्यक्तित्व के तीनो ही अंग—शक्ति, निपुणता और अभ्यास—सम्यक् परिपुष्ट हैं। नवोन्मेष यदि प्रतिभा का गुण है तो बिहारी के पास उसका प्राचुर्य था। अभ्यास भी, जीवन मे केवल ७०० के लगभग दोहे जडनेवाले बिहारी से अधिक किसने किया होगा! परंतु इन दोनों की अपेक्षा तीसरा अंग व्युत्पन्नता और भी अधिक परिपुष्ट है। लोक और शास्त्र का अपनी सीमित परिधि के भीतर जितना सूक्ष्म अध्ययन बिहारी ने किया था उतना अनेक कवि नही कर सके। व्युत्पन्नता का अर्थ वास्तव मे केवल पाडित्य अथवा बहुज्ञता या जानकारी तक ही सीमित न करके साहित्यिक परिष्कृति, लिटरेरी कल्चर, मानना चाहिए; क्योकि इसी रूप में उसकी सार्थकता है। अन्यथा ठगो के हथकडे या नटो की कलाबाजी का ज्ञान अर्थ की साधना मे सहायक भले ही हो सके, काव्य की साधना मे वह कोई विशेष प्रत्यक्ष योग नही दे सकेगा।

मैथिलीशरण गुप्त का काव्य : एक मूल्यांकन

मैथिलीशरण गुप्त निश्चय ही महान् कवि थे : उसी अर्थ मे और उसी अनुपात में जिसमे कि दद्दा महान् व्यक्ति थे। इस देश मे पुराकाल से ही दो काव्य-धाराएं प्रवाहित रही है : एक की प्रवृत्ति रही है अंतर्मुख और लक्ष्य रहा है आनद और दूसरे की प्रवृत्ति बहिर्मुख तथा लक्ष्य रहा है कल्याण। एक मे जगत् को आत्मा मे देखने और भोगने का आग्रह रहा है और दूसरी मे आत्मा का जगत् के माध्यम से विस्तार एवं विकास करने का। पहली के प्रेरणा-स्रोत आगम और दूसरी के निगम हैं। वाल्मीकि, व्यास, पम्प, नन्नय, कम्बन, तुलसी आदि पहले वर्ग के प्रतिनिधि कवि हैं और कालिदास, विद्यापति, नरसी, सूर, रवीन्द्र और प्रसाद दूसरे वर्ग के। मैथिलीशरण गुप्त का स्थान पहली वीथिका मे सुरक्षित है।

ऐतिहासिक महत्त्व

मैथिलीशरण गुप्त आधुनिक हिंदी-काव्य के निर्माता थे और इस दृष्टि से उनका ऐतिहासिक महत्त्व अक्षुण्ण रहेगा। हिंदी-कविता मे जिस आधुनिक चेतना का आविर्भाव भारतेन्दु के साहित्य मे हुआ था, उसका वास्तविक परिपाक गुप्तजी के ही काव्य मे हुआ। भारतेन्दु की काव्य-चेतना की दो स्पष्ट प्रवृत्तिया थी : एक अग्रगामी थी और दूसरी पश्चगामी और इन दोनो का पार्थक्य अंत तक बना रहा। परिणाम यह हुआ कि वे अपने युगबोध की काव्यात्मक परिणति करने मे अधिक सफल नही हो सके . काव्यात्मक अभिव्यक्ति के क्षणो से उनकी शृगार-भावना ही प्रमुख रही।—और, यह अस्वाभाविक नही था; कविता का जन्म बोध से नहीं, संस्कार से ही होता है और परपरा से भिन्न नवीन युग-बोध को सस्कार बनने मे समय लगता है। द्विवेदी-युग मे आकर युग-चेतना और अधिक प्रबुद्ध हो गई और बाह्य जीवन मे अनेक राजनीतिक तथा नैतिक आदोलन उठ खडे हुए। जागरण-सुधार के ये सभी प्रयास कर्म-क्षेत्र से लौटकर भाव-क्षेत्र से भी पूरे वेग से टकराते थे, परतु अभी उनमे गर्मी इतनी अधिक थी कि वे काव्य-सर्जना के उपयुक्त नही बन पाए थे। निदान, काव्य के क्षेत्र मे आदोलन तो हो रहा था किंतु सर्जना नही हो रही थी। वास्तव मे राजनीति और सुधार की प्रवृत्ति बहिर्मुख ही होती है—उसमे आकलन और आयोजन पर आश्रित निर्माण-कर्म ही प्रमुख रहता है। सर्जना के लिए जिस आत्मलीनता की अपेक्षा होती है वह हलचल मे सभव नही—तनाव का भी सर्जन-प्रक्रिया मे अपना महत्त्वपूर्ण

स्थान है, परंतु वह प्रक्रिया का ही अंग रहता है, परिणति मे तो द्वंद्व नही विश्राति ही हो सकती है। अत. द्विवेदी-काल के कवियो का युग-बोध उनकी अंतश्चेतना में नही रम सका था. विचारो और मनोवेगो के आगे उसकी गति नही थी। मैथिलीशरण गुप्त की कविचेतना का उदय इसी वातावरण मे हुआ था। प्रारभ मे शायद काव्य-रचना की प्रेरणा उन्हे अपने पिताश्री की वैष्णव-भावना से ही मिली थी। परंतु शीघ्र ही उन्होने अनुभव किया कि वैसी कविता केवल मनोरंजन ही कर सकती है—उसके द्वारा न उन्हे पूर्ण आत्मतोष हो सकता है और न उनके समाज को। अत. आचार्य द्विवेदी के नैतिक प्रभाव को स्वीकार करने मे उन्हें कठिनाई नही हुई और वह अपने वैष्णव सस्कारो के साथ देश-काल के अनुरूप काव्य-रचना मे प्रवृत्त हो गए। उस समय हिंदी-कविता एक नये मोड पर खडी हुई थी। युग-धर्म से प्रभावित सभी सास्कृतिक और साहित्यिक नेता सिद्धात रूप मे बार-बार यह घोषणा कर रहे थे कि परंपरागत काव्य की प्रवृत्ति, जिसमे शृगार का, या अधिक-से-अधिक भक्ति-मिश्रित शृगार का, स्वर प्रधान है, देश-काल के अनुरूप नही है। यह प्रवृत्ति जीवन से विच्छिन्न हो चुकी थी, इसकी मूल चेतना प्रतिक्रियावादी थी और इसमे जीवन तथा आत्मा के उत्कर्षकारी मूल्यो का अभाव था। इन नेताओ की प्रेरणा से सामयिक काव्य-रचना के प्रयत्न भी बराबर हो रहे थे, परंतु उनमे काव्य की शक्ति और चमत्कार का समावेश नही हो सका था। उस समय केवल दो ही कवि-व्यक्तित्व ऐसे थे जो युग-चेतना की काव्यमय अभिव्यक्ति करने मे समर्थ थे—एक अयोध्यासिंह उपाध्याय और दूसरे मैथिलीशरण गुप्त। इनमे भी हरिऔधजी के संस्कार तो एक सीमा तक ही समय के साथ चल सकते थे, अत' युग-धर्म को काव्य की वाणी देने का दायित्व एक प्रकार से गुप्तजी पर ही आ पडा था और अपने समसामयिक कवियो की अपेक्षा वे उसका निर्वाह अधिक मनोयोग एव सफलता के साथ कर रहे थे। राष्ट्रीय सामाजिक जागृति को ही उन्होंने प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत रूप मे काव्य का विषय बना लिया था। उस समय नवजीवन के मूल्य विचार के क्षेत्र मे तो प्रवेश कर चुके थे, परंतु काव्य के क्षेत्र मे वे अभी नवागतुक ही बने हुए थे। काव्य की सरक्षित भूमि मे उन्हे अधिवास के पूर्ण अधिकार प्राप्त कराना अत्यत दुष्कर काम था। मैथिलीशरण गुप्त ने अपने युग की नयी-से-नयी प्रवृत्ति को कार्यान्वित करने का प्रयास किया। यह ठीक है कि उनके सभी प्रयत्न सफल नही माने जा सकते, परंतु यह भी ठीक है कि अपने समसामयिक कवियो मे सबसे अधिक कृतकार्य वे ही हुए। काव्य और जीवन का प्रत्यक्ष नैतिक सबंध सरल है, परंतु वह प्राय: रसमय नही बन पाता। इसी प्रकार प्रत्यक्ष जीवन से निरपेक्ष रहकर, परपरागत काव्य-मूल्यो के आधार पर रस-सृष्टि करना भी सरल है, परंतु उसमे जीवन की शक्ति क्षीण होती है। अतः काव्य का प्रत्यक्ष जीवन के साथ रसमय संबध स्थापित करना कठिन होता है। किंतु युग-कवि की कसौटी भी यही है। मैथिलीशरण गुप्त इस लक्ष्य को सामने रखकर बढे, समय आने पर उनकी साधना फलवती हुई और वे आधुनिक काल के युग-कवि पद पर अधिष्ठित हुए। इस प्रकार काव्य मे युग-मूल्यो

की स्थापना का सर्वाधिक श्रेय उन्हे ही प्राप्त है। उनके ऐतिहासिक महत्त्व का आक-लन समस्त हिंदी-भाषी भूभाग मे उनके व्यापक प्रभाव के आधार पर भी किया जा सकता है। अपने युग की—और भारतवर्ष के इतिहास मे वही सबसे ज्यादा नाजुक दौर था—राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के विकास मे मैथिलीशरण गुप्त का योगदान अपूर्व है। उन्होने नैतिक चेतना को राष्ट्रीय आधार प्रदान किया और राष्ट्रीय चेतना को समृद्ध सास्कृतिक भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। इस दृष्टि से देश की जागृति के इतिहास मे उनका स्थान मूर्द्धन्य सास्कृतिक नेताओ के समकक्ष है। गुप्तजी के ऐतिहासिक महत्त्व का तीसरा प्रमुख आधार है आधुनिक हिंदी-काव्य की माध्यम-भाषा के निर्माण मे उनका योगदान। इसमे संदेह नही कि उन्नीसवी शताब्दी के अंत तक खडीबोली काव्य का उपयुक्त माध्यम बनने मे प्राय असमर्थ ही थी—न उसमे वांछित मार्दव और माधुर्य था और न आवश्यक अभिव्यंजना-क्षमता। भारतेन्दु ने अपनी कुछ कविताओ मे उसका उपयोग किया था, किंतु वे प्रयोग से आगे नही बढ सके, उनकी काव्यात्मक आत्माभिव्यक्ति का उपयुक्त माध्यम ब्रजमाधुरी ही थी। उनकी काव्य-भाषा के विविध रूपो का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि खडी बोली को एक तो वे प्राय सामाजिक काव्य—विशेषकर उसमे निहित व्यग्य-वक्रता आदि के ही उपयुक्त मानते थे और दूसरे उनकी धारणा कदाचित् यह भी थी कि हिंदी के अपने प्रिय छदो मे उसका निर्वाह कठिन है। अतः भारतेन्दु ने तो केवल दिशा-निर्देश ही किया था। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अधिक विश्वास और सकल्प के साथ इस कार्य को हाथ मे लिया और स्वयं रचना कर तथा अनेक कवियो को प्रेरित कर अपने युग की सबसे विषम साहित्यिक विडंबना का समाधान करने का प्रयत्न किया। किंतु अभीष्ट काव्य-प्रतिभा के अभाव मे उनका यह संकल्प भी बौद्धिक प्रयासों से आगे नही बढ सका : उनके युग के अनेक कवि अपने अनगढ प्रयत्नो द्वारा काव्य-रसिको के सदेहो को ही पुष्ट कर रहे थे। इस चुनौती को उस युग के तीन-चार कवि ही स्वीकार करने मे सफल हो सके— देवीप्रसाद पूर्ण, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त। इनमे से पूर्णजी की खडी बोली का निर्माण प्रायः ब्रजभाषा के तत्त्वो से ही हुआ है—अर्थात् उसमे माधुर्य और मार्दव का समावेश तो हो गया है, परतु नई सवेदनाओ और विकासशील सौदर्य-बोध को अभिव्यक्त करने योग्य वैविध्य और वैचित्र्य से पूर्ण व्यजनाओ का अभाव है। इसी प्रकार हरिऔध की भाषा सस्कृत के निकट पहुच गई है। कहने का अभिप्राय यह है कि पूर्ण की खडीबोली ब्रजभाषा का रूपातर थी और हरिऔध की भाषा संस्कृत का—पहली मे ब्रजभाषा की व्यजना और सगीत था और दूसरी मे संस्कृत का : खडीबोली की काव्योचित व्यजना और सगीत का—एक शब्द मे, उसके अपने सहज गुण-दोषो से युक्त काव्य-व्यक्तित्व का —विकास अभी होना था। इसका श्रेय —प्रारंभिक श्रेय—मैथिलीशरण गुप्त को ही प्राप्त है। और उनकी यह भाषा निरंतर विकासशील रही; वास्तव मे काव्य-भाषा के रूप मे खडीबोली के विकास का विभिन्न सोपानो से चिह्नित पूरा इतिहास मैथिलीशरण गुप्त के काव्य मे एकत्र मिल जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से

इस प्रकार के गौरव के भागी कुछ ही कवि होते हैं—आधुनिक युग मे इस प्रकार का दूसरा उदाहरण रवीन्द्रनाथ मे मिलता है : मैं केवल ऐतिहासिक भूमिका की ही बात कर रहा हूं, दोनो अत्यंत भिन्न कवियो की भाषा मे साम्य की स्थापना नही कर रहा।

व्यापक काव्यफलक : सर्वांगीण जीवन का चित्रण

मैथिलीशरण गुप्त का काव्यफलक अत्यत व्यापक है। भारतीय इतिहास के अतीत और वर्तमान दोनो पर उनकी दृष्टि रही है। अतीत के भी अनेक स्तर और चरण हैं। रामायण-महाभारत-काल के साथ उनका विशेष रागात्मक सबंध है। राजपूत-इतिहास के प्रति भी उनका आकर्षण कम नही है। इनके अतिरिक्त वैदिक युग और बौद्ध-काल से भी कई कथानक उन्होने सोत्साह ग्रहण किये हैं। इधर वर्तमान तो उनकी युग-चेतना का केंद्र है ही। वास्तव मे उनका कवि चाहे वैदिक युग की यात्रा करे या रामायण-महाभारत-काल की, उसका वर्तमान सदा उसके साथ जाता है। वर्तमान युग के भी कई चरण उन्होने देखे थे—बाल्य-जीवन उनका पुनरुत्थान-काल मे बीता, यौवन जागरण-सुधार युग मे, प्रौढावस्था गाधीजी द्वारा सचालित राष्ट्रीय सघर्ष के वातावरण में, और जीवन का चौथा चरण स्वतत्र भारत के नेहरू-युग मे। वर्तमान युग के इन चारो चरणो के जीवन को उन्होने, नजदीक से देखा, भोगा और आका है। जीवन के राष्ट्रीय, सामाजिक, सास्कृतिक, धार्मिक—सभी पहलुओ का उनके काव्य मे विस्तार से चित्रण है। एक ओर राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न रूप और आदोलन हैं—जैसे अतीत का गौरव-गान, भारत के भव्य स्वरूप की विविध झाकिया, अंगरेजी शासन के अत्याचार और उनके विरुद्ध सघर्ष, सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा, किसान-मजदूर-आदोलन, जेल-जीवन, स्वतंत्रता का उत्सव और उल्लास, विभाजन की विभीषिका, गाधी की हत्या, संसद् की गतिविधि, वर्द्धमान करो का आतक, महंगाई की समस्या, चीन का आक्रमण, राजभाषा का प्रश्न, आदि-आदि। दूसरी ओर सामाजिक जीवन के सभी पक्ष उनके काव्य के विषय बने हैं—जैसे साम्प्रदायिकता और जातिभेद के अभिशाप, हरिजन-समस्या, नारी की महत्त्व-प्रतिष्ठा, विधवा-विवाह, सामाजिक कुरीतियों का निवारण, अशिक्षा और उसमे उत्पन्न अनेक प्रकार के अंधविश्वासो का उन्मूलन, परिवार-जीवन का विधान और उसमे होने वाले परिवर्तन, पाश्चात्य सपर्क तथा उसके शुभ-अशुभ प्रभाव, नागर जीवन एव ग्राम-जीवन आदि। इसी प्रकार हमारे सांस्कृतिक जीवन क अनेक पक्ष हैं जिन पर कवि ने अत्यत मनोयोगपूर्वक प्रकाश डाला है—भारत के उत्सव, पर्व तीर्थ, परंपराएं और प्रथाएं, जातीय विश्वास और मान्यताएं, पश्चिम की सभ्यता और सस्कृति एव ज्ञान-विज्ञान की क्रिया-प्रतिक्रिया आदि। और, उधर धार्मिक जीवन के विविध प्रश्नो मे भी उसकी गहरी रुचि रही है—जैसे हिंदू धर्म के विभिन्न रूप, वैष्णव धर्म के तत्त्व, ज्ञान, कर्म, भक्ति-मार्ग, सगुण-निर्गुण तथा साकार-निराकार के अथवा अवतारवाद के प्रश्न, बौद्ध, जैन, मुस्लिम धर्म और हिंदू धर्म के साथ उनक संबंध, प्रवृत्ति और निवृत्ति की समस्या, मोक्ष का स्वरूप, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक की कल्पना आदि। कहने का अभिप्राय यह है कि गुप्तजी का काव्य एक महान् राष्ट्र के

इतिहासव्यापी जातीय जीवन का सर्वांगीण चित्रण प्रस्तुत करता है : देश और काल मे जीवन का ऐसा विस्तार, रूप और परिमाण की दृष्टि से जीवन का ऐसा वैविध्य, आधुनिक भारतीय भाषाओ के कम ही कवि प्रस्तुत कर पाए है।

युग-प्रतिनिधि कवि

गुप्तजी गाधी-युग के प्रतिनिधि कवि हैं : अपने जीवन के प्रौढिकाल मे ही वे इस गौरव के अधिकारी हो गए थे। आधुनिक काल के इतिहास का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चरण वस्तुत: गाधी-युग ही है और उस युग का प्रतिनिधित्व एक सीमा तक सपूर्ण आधुनिक काल का प्रतिनिधित्व भी माना जा सकता है। गाधी-युग की प्राय: समस्त मूल प्रवृत्तिया—राष्ट्रीय, सामाजिक और सास्कृतिक आदोलन—गुप्तजी के काव्य मे प्रतिफलित हैं, और यह प्रतिफलन प्रत्यक्ष भी है तथा परोक्ष भी। 'भारत-भारती', 'स्वदेश-संगीत', 'हिंदू', 'वैतालिक', 'मगलघट', 'विश्व-वेदना', 'अजित', 'अनघ' आदि मे युग-जीवन का स्वर मुखर है। यहा कवि ने अपने वातावरण की हलचल को प्रत्यक्ष रूप मे वाणी दी है और आगे बढकर राष्ट्रकवि के दायित्व का पालन किया है। इनके अतिरिक्त 'जयद्रथवध', 'साकेत', 'यशोधरा', 'जयभारत', 'सिद्धराज', 'नहुष', 'कुणालगीत', 'दिवोदास', 'पृथिवीपुत्र' आदि मे युग-चेतना अत्यंत प्रखर है, परतु वह प्रच्छन्न है। गुप्तजी अपने युग-जीवन के प्रति अत्यत जागरूक थे। यद्यपि उनके सस्कार मूलत. सामतीय थे और उनके घर का वातावरण वैष्णव भावनाओ से आपूर्ण था, तथापि वे समय के साथ चलने का निरंतर प्रयत्न करते थे—देश के विभिन्न आदोलनो को समझने-परखने का वे बराबर प्रयत्न करते रहे। उनकी प्रतिक्रिया प्राय: प्रखर और प्रबल होती थी और उन्हे काव्य मे प्रतिफलित करना उनके कवि-धर्म का अंग बन गया था। गाधी-युग की समस्याओ का प्रेमचद ने भी चित्रण किया है और उधर अपने ढग से प्रसाद ने भी। इनमे प्रेमचद की दृष्टि प्राय बहिर्मुखी ही थी—अर्थात् उनकी चेतना राजनीतिक-सामाजिक ही अधिक थी। प्रसाद की दृष्टि अंतर्मुखी थी और कवि-जीवन की प्रौढि तक पहुचते-पहुचते उनकी चेतना एकात रूप मे सास्कृतिक बन गई थी : गाधी-युग की प्राय. सभी प्रमुख समस्याओ को उन्होने ग्रहण किया है, परतु उनके बहिरग रूप मे कवि की रुचि नही है। अपने नाटको मे प्रसादजी ने उन्हे पूर्णत. सास्कृतिक रूप मे प्रस्तुत किया है और 'कामायनी' मे आध्यात्मिक धरातल पर। पहले दो उपन्यासो—'ककाल' और 'तितली' मे कथावस्तु की आवश्यकता के कारण प्रसाद उन्हे राजनीतिक-सामाजिक धरातल पर ग्रहण करते है, परतु शीघ्र ही उनके बहिरंग रूपो को भेदकर उनमे निहित सास्कृतिक तत्त्वो की शोध मे प्रवृत्त हो जाते हैं। एक ही समस्या किस प्रकार प्रेमचंद के सामने सामाजिक-राजनीतिक रूप मे आती है और प्रसाद के सामने सास्कृतिक रूप मे, इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण इन दो सहवर्ती लेखको के उपन्यासो के वस्तु-विश्लेषणात्मक अध्ययन से अनायास ही मिल जाता है। मैथिलीशरण गुप्त की स्थिति मध्यवर्ती है, उनका दृष्टिकोण राष्ट्रीय-सास्कृतिक है। उनमे न तो प्रेमचंद के समान व्यावहारिकता का आग्रह है और न प्रसाद की तरह

दार्शनिकता का। वस्तुतः उनकी राष्ट्रीय-सामाजिक चेतना वैष्णव संस्कारों के कारण एक ओर जहा प्रेमचद की अपेक्षा अधिक समृद्ध बन गई है, वहा दूसरी ओर प्रसाद की प्रतिभा का गाभीर्य न होने पर भी उसमे सगुण-तत्त्व (रूप+गुण तत्त्व) अपेक्षाकृत अधिक है। प्रेमचंद मे धर्म-भावना का अभाव है और प्रसाद मे लोक-भावना का। अतः गाधी-युग मे भारतीय लोक-चेतना का प्रतिनिधित्व गुप्तजी अपने इन दोनो सम-सामयिक महारथियो की अपेक्षा अधिक करते हैं। युग-चेतना और सास्कृतिक चेतना का ऐसा मणिकाचन योग अन्यत्र प्राप्त नही होता।

समदिग्गति और ऊर्ध्वगति का संतुलन

गुप्तजी की प्रतिभा जितनी संग्रहशील थी उतनी ही विकासशील भी। उसमे प्रगति और परंपरा, स्थिरता और गति, दोनो का समन्वय था। एक ओर जहा वह अतर्क्य श्रद्धा के साथ भारत की प्राचीन संस्कृति के सारतत्त्वो का निरतर सचय करती रही, वहा दूसरी ओर देशाकाल की प्रवृत्तियो के अनुकूल जीवन के नवीन सत्यो को भी उत्साहपूर्वक स्वीकार करती रही। उनकी आस्था दृढ थी, किंतु जड नही थी। उसमे परिस्थिति के अनुकूल विकसित होने की सहज शक्ति विद्यमान थी। परिवर्तन को वे सहज रूप मे स्वीकार करते थे, लेकिन उसे ही एकमात्र सत्य मानना उनके संस्कारो के विरुद्ध था। जीवन के शाश्वत तत्त्वो को वे दृढता के साथ पकडे हुए थे, परतु उनके संशोधन और अनुकूलन से उन्हे परहेज नही था। अपने युग की नवीन-से-नवीन प्रवृत्ति के प्रति वे जागरूक थे। उनकी स्वीकृति की परिधि व्यापक थी, परंतु स्वत्व से विचलन की सभावना उसमे नही थी। वास्तव मे सच्चे हिंदू आस्तिक के समान वे नव-नव तत्त्वो को स्वीकार करते रहे, परतु यह स्वीकृति उनके लिए स्वधर्म के विस्तार और विकास की प्रक्रिया से अधिक नही थी। युग-धर्म के अनुकूल स्वधर्म का विस्तार उनके लिए सहज काम्य था, पर स्वधर्म को त्याग कर युग-धर्म का ग्रहण उनके लिए असभव था। इसका एक स्पष्ट प्रमाण है गाधी-दर्शन के साथ उनका संबध। आप देखेंगे कि गाधी-दर्शन और गाधी-नीति के वे ही तत्त्व उन्होने ग्रहण किए हैं, जो वैष्णव धर्म की परिधि मे आते हैं। यही बात बौद्ध दर्शन के विषय मे भी कही जा सकती है। बौद्ध धर्म के भी वे ही गुण कवि को स्वीकार्य हो सके हैं जिनकी वैष्णव भावना के साथ संगति बैठ जाती है। बौद्ध दर्शन को वास्तव मे उन्होने वैष्णव भावना के रग मे रग-कर ही स्वीकार किया है। उनकी चेतना निश्चय ही प्रगतिशील थी, परंतु प्रगति का अर्थ उनके लिए समदिग्गति मात्र नही था। इस प्रगति-भावना मे ऊर्ध्वगति की स्पृहा निश्चय ही अतर्निहित थी। प्रगति के विषय मे उनकी धारणा समदिग्गति और ऊर्ध्वगति के सतुलन के पक्ष मे ही थी। इससे लाभ तो हुआ ही किंतु हानि भी कम नही हुई। जीवन के समदिक् विकास पर केंद्रित रहकर प्रेमचद की दृष्टि जिस प्रौढ यथार्थ-बोध और उस पर आश्रित स्वस्थ सामाजिक चेतना का अर्जन कर सकी वह मैथिलीशरण गुप्त के लिए अप्राप्य रही। इसी प्रकार ऊर्ध्व विकास की स्पृहा ने प्रसाद को जो गभीर तत्त्व-बोध प्रदान किया था उससे भी गुप्तजी प्राय. वंचित रहे।

यह तो हुआ ऋण-पक्ष। धन-पक्ष यह है कि उपर्युक्त संतुलन के फलस्वरूप उनकी कला प्रेमचंद की कला की अपेक्षा अधिक समृद्ध एवं भव्य बन गई और प्रसाद की कला की अपेक्षा सामान्य जीवन-परिवेश के अधिक निकट आ गई।

जीवन-मूल्य और काव्य-मूल्य

संश्लिष्ट रूप मे हम यह सकते हैं कि मैथिलीशरण गुप्त के व्यक्तित्व का निर्माण सहज मानव-धरातल पर आधुनिक युग की सास्कृतिक-नैतिक चेतना और मध्य युग की वैष्णव भावना के संयोग से हुआ था। अत उनके जीवन-मूल्यो मे मानव-मूल्य, सांस्कृतिक मूल्य और धार्मिक मूल्य परस्पर अनुस्यूत हैं · उनके आधारभूत मूल्य तो मानव-मूल्य ही हैं, किंतु उन पर नैतिक तथा धार्मिक मूल्यों का गहरा प्रभाव है। ये जीवन-मूल्य ही उनके काव्य में प्रतिफलित हुए हैं, अथवा यों कहना चाहिए कि इन्ही के आधार पर उनके काव्य-मूल्यो मे प्रेय की अपेक्षा श्रेय का प्राधान्य है—और सही शब्दो मे, जीवन मे जिस प्रकार प्रेय श्रेय की ओर उन्मुख है, उसी प्रकार काव्य मे भी आनदवादी मूल्यो की अपेक्षा कल्याणकारी मूल्यों की प्रतिष्ठा है, अर्थात् उनके काव्य मे प्रीति की भावना कल्याण की कामना से अनुशासित रहती है। प्रीति का यहां तिरस्कार नही है, किंतु वह जीवन की सिद्धि न होकर साधना मे ही अंतर्भुक्त है। अपनी संग्राहक प्रवृत्ति के कारण छायावाद का थोडा-बहुत प्रभाव तो गुप्तजी ने अवश्य ग्रहण किया था, किंतु उसके रोमानी मूल्यो को स्वीकार करना उनके काव्य-संस्कारो के अनुरूप नही था। इसीलिए उनकी कविता मे आत्मा के उल्लास और विचार-कल्पना की गरिमा के स्थान पर भावना के क्षेत्र मे वैष्णव मन की द्रवणशीलता अथवा मानव-करुणा और विचार के क्षेत्र मे औचित्य-कल्पना ही प्रमुख रही। उनकी काव्य-चेतना के लिए रम्य और अद्भुत का विशेष आकर्षण नही था। उन्हे तो जीवन के प्रकृत, मानवीय और हितकर तत्त्व ही प्रिय थे। उदात्त के प्रति उनके मन मे भी संभ्रम का भाव था, लेकिन उनके उदात्त का विकास प्रकृत लौकिक भूमि पर ही हुआ। वे अविकल रूप से आदर्शवादी थे, पर उनका आदर्शवाद स्वच्छद कल्पना की सृष्टि न होकर सहज मानवगुणो के विकास का ही पर्याय था। उनकी आस्तिक भावना वस्तुत सगुण और द्वैत से बंधी हुई थी इसलिए अद्वैत-दर्शन की विराट् कल्पनाएं उनके काव्य मे नही मिलती। इस प्रकार उनकी उदात्त भावना भी मानव-सापेक्ष ही थी। कहने का अभिप्राय यह है कि गुप्तजी के जीवन-मूल्यो के अनुरूप उनके काव्य-मूल्य भी मूलत: आदर्शवादी ही थे—इस आदर्शवाद का आधार था मानववाद, जो एक ओर सगुण धर्म-भावना से पोषित था और दूसरी ओर जागरण-सुधार युग की राष्ट्रीय-नैतिक चेतना से अनुशासित था। इन काव्य-मूल्यो मे रोमानी तत्त्व तो गौण थे ही, साथ ही लोक-जीवन के नैकट्य के कारण शुद्ध आभिजात्यवादी तत्त्वो के प्रति भी विशेष आग्रह नही था। वास्तव मे, भारतीय जीवन मे बीसवी शती के प्रथम चरण मे उद्बुद्ध जागरण-सुधार की नव-चेतना की परिणति जिन जीवन मूल्यो मे हुई थी, उन्ही का पूर्ण प्रतिफलन हमे गुप्तजी के काव्य मे मिलता है।

जीवन-दर्शन

कवि के जीवन और व्यक्तित्व के समान उनका जीवन-दर्शन भी एक खुला पृष्ठ था। वे वैष्णव थे—कुल परंपरा के अनुसार रामानंदी श्री-संप्रदाय के अनुयायी थे और विशिष्टाद्वैत उनका मान्य दर्शन था। युग के प्रभाव से यद्यपि वे साप्रदायिकता से ऊपर उठ गये थे, तथापि अनन्य-भावना उनकी अब तक अविचल रही—अन्य संप्रदायो और धर्मों के प्रति उनका दृष्टिकोण सर्वथा उदार था—इसमे सदेह नही, किंतु उनकी अनन्यता इतनी स्पष्ट थी कि उन्हे स्मार्त्त वैष्णव भी कहना कदाचित् ठीक नही होगा। पिता की मधुर भावना को वे अपने स्वभाव और युग-धर्म के प्रभाव के कारण ग्रहण नही कर सके, मर्यादा और आदर्श मे उनकी अटूट निष्ठा निरतर बनी रही। अतः देश-काल के अनुरूप, मानववादी विचारधारा से प्रेरित, राष्ट्रीय और सामाजिक भावना का विकास उनकी चेतना मे अनायास हो गया था और श्री-सप्रदाय द्वारा पोषित मर्यादावादी लोक-धर्म के अतर्गत उसका समावेश कर लेना उनके लिए अत्यंत सरल था। इस प्रकार कुल-धर्म और युग-धर्म के सयुक्त प्रभाव से कवि के जिस जीवन-दर्शन का निर्माण हुआ उसे हम धार्मिक मानववाद, या और सही शब्दों में 'वैष्णव मानववाद' कह सकते हैं।

काव्य के स्थायी तत्त्व और उनके आधार-स्रोत

मैथिलीशरणजी मानव-संबंधों के कवि थे। युग-धर्म के अनुरूप उन्होने भी राष्ट्रीय-नैतिक आदोलनो को काव्य का विषय बनाया था, किंतु उनकी काव्य-चेतना मानव-संबंधो के चित्रण मे ही आत्मलाभ करती थी। युगीन आदोलन तो परिवेश मात्र थे। उनके काव्य का सुवर्ण-काल—साकेत-यशोधरा का रचना-काल—छायावाद के भी उत्कर्ष का युग था। छायावाद के प्रभाव से सौंदर्य के प्रति उनका आकर्षण बढा अवश्य और प्रकृति तथा मानव के रूप-चित्रो मे पहले की अपेक्षा कही अधिक वृद्धि भी हुई, फिर भी यह कवि की प्रकृत भूमि नही थी। गुप्तजी प्रकृति के कवि नही हैं और न व्यापक अर्थ मे उन्हें सौंदर्य का ही कवि कहा जा सकता है। प्रसाद के काव्य मे उपलब्ध रूप-यौवन के चित्र, पंत की सूक्ष्म सौंदर्य चेतना अथवा निराला की अमूर्त रूप-व्यंजना गुप्तजी के काव्य मे नही मिलेगी। इसी प्रकार गुप्तजी दर्शन के कवि भी नही हैं: गंभीर विचार का औदात्य या तत्वज्ञान का शुभ्र प्रकाश उनकी कविता मे प्रायः दुर्लभ है। और, न मन की सरल वीचियो से क्रीड़ा करने या अवचेतना की अतल गहराइयो का अवगाहन करने मे ही इस कवि को रस आता है। कवि की वृत्ति तो मानव-मानव के बीच प्रवृत्तिजात रागात्मक संबंधो मे ही रमती है। वैष्णव धर्म के अनुकूल गृहस्थ या परिवार ही उसकी भावना की मुख्य क्रीडाभूमि है। जीवन का संपूर्ण लाभ—ऐहिक और आमुष्मिक सिद्धि—गृहस्थ की रसमयी परिधि मे ही प्राप्त है। मानव के प्रति ऐसा सहज अनुराग आधुनिक काव्य मे अन्यत्र दुर्लभ है। वैसे यह युग ही मानववाद का युग है और प्रायः सभी कवियों ने मानव का गौरव-गान किया है परतु वह सिद्धात-कथन अधिक है। गुप्तजी ने मानव का स्तवन शायद ही कही किया हो किंतु मानव-

हृदय की संपूर्ण विवृतियों को वह अनायास ही स्वीकार करते रहे हैं। मानव-संबंधों का मूल आधार है प्रेम या राग जिसका विपरीत रूप है द्वेष। प्राय. सभी संबंधों या भावो का निर्माण इन्ही दो वृत्तियो से होता है—अनेक सबंधो मे तो राग या द्वेष का ही प्रसार मिलता है और शेष संबंध ऐसे हैं जिनका निर्माण इन दोनो के भिन्नानुपातिक योग से होता है। मौलिकता और प्रबलता के आधार पर रति, उत्साह, शोक आदि कुछ-एक स्थायी भाव ही साहित्य मे उभरकर आए हैं और इनमे भी रति का प्राधान्य रहा है, विश्व-साहित्य का अधिकांश शृंगार को ही समर्पित है। गुप्तजी के काव्य मे भी शृंगार को यथोचित स्वीकृति मिली है, किंतु वह गार्हस्थ्य जीवन का एक अंग मात्र है—रीति-कवियो अथवा परवर्ती गीतकारो की भाति गुप्तजी ने शृंगार को जीवन का साध्य मानकर स्वतंत्र महत्त्व कभी नही दिया। अपने युग-जीवन और व्यक्ति-जीवन की परिस्थितियो के कारण करुणा का भाव उनके काव्य मे प्रमुख हो गया है, परतु करुणा को उन्होंने रोमानी कवियो की भाति न तो निरपेक्ष भाव के रूप मे ग्रहण किया है और न आधुनिक कवियो की भांति उसे युग-कुठा और व्यक्ति-कुंठा का स्थायी भाव ही माना है। उनकी करुणा वस्तुत मानव-हृदय के परिष्कार का साधन है, करुणा-जल से प्रक्षालित मानव-संबंध स्वच्छ बन जाते हैं। उर्मिला और यशोधरा की करुणा अयोध्या और कपिलवस्तु के पारिवारिक जीवन को शुद्ध करती हुई संपूर्ण देश और विश्व के वातावरण को शुद्ध करती है। अतः करुणा को जो महत्त्व मिला है वह भी निरपेक्ष नही है—मानव-करुणा को कवि ने मानव-संबंधो के स्थायी भाव के रूप मे ही गौरव दिया है। इस प्रकार प्रेम और करुणा व्यापक रूप में गुप्तजी के काव्य के स्थायी भाव हैं; द्वेष-वृत्ति की उपेक्षा नही है, किंतु उसका राग मे ही परिमार्जन करने का प्रयत्न प्रायः किया गया है। अपने समकक्ष और समसामयिक कवियो से गुप्तजी का वैशिष्ट्य यह है कि इन भावो तथा इनके असंख्य सहज-प्रबल रूपो का वे न तो दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक विवेचन करते हैं और न उनका अंतर्मुख विश्लेषण ही करते हैं— जैसा हरिऔध ने 'प्रियप्रवास' मे किया है या प्रसाद ने 'कामायनी' मे या निराला ने 'तुलसीदास' मे। आवश्यकता पडने पर कभी कही ऐसे प्रसंग आ जाएं तो दूसरी बात है, परंतु उनकी कवि-वृत्ति इनमे नही रमती। उनकी रुचि तो वस्तुतः इन भावो के व्यक्त रूपो मे है जो मानव-संबंधों में प्रतिफलित होते हैं। आध्यात्मिक और रागात्मक दोनो ही क्षेत्रो मे वे सगुण के उपासक हैं। छायावादी कवियो को भाव का निर्गुण रूप ही अधिक प्रिय है, पर गुप्तजी की उधर प्रवृत्ति नहीं है। समाज और परिवार के संदर्भ में ही भाव का अर्थ है—संदर्भ से विच्छिन्न भाव की सत्ता उनके लिए नही है। एक ही भाव किस प्रकार समाज और गृहस्थ के सुख-दुःखमय परिवेश मे नाना प्रकार के करुण-मधुर रूप धारण करता रहता है, इसकी जितनी सहज अनुभूति मैथिलीशरण गुप्त को है, उतनी कम ही कवियों को नसीब है। इस दृष्टि से तुलसी के बाद केवल उन्हीं का नाम आता है।

रस-कल्पना

मैथिलीशरण गुप्त की रस-व्यंजना पर विचार करते समय अनायास ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की रस-कल्पना पर ध्यान चला जाता है। शुक्लजी ने भी रस की सगुण कल्पना की है—अर्थात् उनके अनुसार रस का सम्यक् परिपाक चित् या चित्त की अतर्भूमिका पर नही, वरन् जीवन मे व्यक्त मानव-संबंधो मे ही संभव है। शुक्लजी की यह धारणा अभिनव आदि की एकात आत्मनिष्ठ रस-कल्पना से भिन्न है—वरन् यह कहना अधिक सगत होगा कि शुक्लजी की रस-कल्पना अभिनव की रस-कल्पना का बहिर्मुख प्रसार है। बहिर्मुख होते ही इस रस-कल्पना के लिए नैतिक विधान स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। आत्मास्वाद के रूप मे रस की कल्पना तो आत्म-विश्राति की अवस्था की ही पर्याय है जो नीति और आचार के नियमो से मुक्त है। परतु जहा उसका प्रतिफलन मानव-व्यापारो के भीतर होता है, वहा इन व्यापारो का अनुशासन करने वाले नियम स्वतः ही उसकी परिधि मे प्रवेश कर जाते हैं। इसी-लिए अधिकाश प्राचीन आचार्यों ने भी, जिनकी दृष्टि व्यावहारिक थी, औचित्य को रस के उपनिषद् के रूप मे स्वीकार किया है और भाव की अनुचित प्रवृत्ति को रसा-भास की सज्ञा दी है। स्वयं अभिनवगुप्त ने भी व्यवहार के धरातल पर यही व्यवस्था स्वीकार की है। फिर भी, रस की शास्त्रीय कल्पना मे नीति की स्वीकृति मात्र ही माननी चाहिए—रस अपने शुद्ध रूप मे नैतिक चेतना नही है। किंतु शुक्लजी, जिनकी काव्यदृष्टि और रसदृष्टि का निर्माण तुलसी के काव्य के आधार पर हुआ है, रस को मूलत. नैतिक चेतना ही मानते है। अभिनवगुप्त जहा नैतिक चेतना को महत्त्व देते हुए भी परिणति या भोग की अवस्था मे रस को नैतिक मूल्यो से ऊपर मानते हैं, वहा शुक्लजी नैतिक मूल्यो से अतीत रस की कल्पना नही कर सकते --नही करना चाहते। वास्तव मे यह अद्वैत और द्वैत भावना का अनिवार्य भेद है। गुप्तजी की रस-कल्पना आचार्य शुक्ल की रस-कल्पना के निकट है जबकि प्रसाद की धारणा अभिनवगुप्त की धारणा से प्रायः अभिन्न है। परंतु शुक्लजी के रस-चिंतन का प्रभाव गुप्तजी पर नही है, साम्य का आधार सगुण भावना पर आश्रित दोनो की समान दृष्टि ही है। इस प्रकार—गुप्तजी के काव्य मे सिद्ध रस आत्मभोग का पर्याय न होकर आचार-नियमो से अनुशासित जीवन-रस या गार्हस्थ्य-रस का ही पर्याय है।

प्रस्तुत कवि की रस-व्यजना का मूल आधार स्थायी भाव ही है। आधुनिक युग मे विकसित मानव-चेतना की सूक्ष्म-तरल विवृतियो से उसकी रस-सामग्री का निर्माण नही होता। उसके आधार-तत्त्व हैं—मौलिक मनोवेग, जो मानव-जीवन की आदिम वासनाओ के व्यक्त रूप हैं। उनमे स्वभावत. ही एक प्रकार की प्राकृतिक शक्ति और ऊर्जा मिलती है। नागर मन की परिष्कृत भाव-गध के स्थान पर सहज आवेग का ज्वार ही यहा प्रधान है। अत. गुप्तजी के काव्य मे रस-व्यजना प्राय. परि-पाक-रूप मे ही मिलती है। प्रवध-कवि होने के कारण उनके काव्य मे रस प्रायः अपने सपूर्ण परिकर को लेकर ही उपस्थित होता है और कवि के अपने स्वभाव मे आवेग का प्राधान्य होने के कारण रस-परिपाक का आधार प्रायः स्थायी भाव ही रहता है।

पंत और महादेवी जैसे सूक्ष्मचेता कवि जहां मन के किसी सूक्ष्म-तरल संचारी को लेकर रस की सर्जना मे प्रवृत्त होते हैं, बिहारी जैसे कवि जहा सौदर्य के किसी वस्तु-चिह्न से प्रेरित होकर रस का विधान करते हैं, निराला और प्रसाद जैसे कवि जहा किसी उदात्त विचार या कल्पना की रागात्मक परिणति द्वारा रस की सिद्धि करते हैं, वहा मैथिलीशरण के काव्य मे रस का उद्रेक सीधा उसके मूल उत्स—स्थायी भाव—से ही होता है। फलत. उसमे प्रबलता, विस्तार और गहराई अधिक रहती है, सूक्ष्मता और परिष्कार कम। यह एक रोचक विडबना ही है कि मैथिलीशरण गुप्त की रस-व्यंजना अपने प्रिय कवि कालिदास की अपेक्षा भवभूति के अधिक निकट पडती है।

कला

कला के क्षेत्र मे मैथिलीशरण गुप्त की सफलता मुख्यत· प्रबंध कवि के रूप मे या कथा-कवि के रूप मे है। वास्तव में मानव-संबधो के कवि की अभिव्यक्ति का प्रकृत माध्यम कथा ही हो सकती है। ललित कल्पना के विलास मे अथवा शब्द-अर्थ के चमत्कार मे कवित्व का अनुसधान करने की अपेक्षा घटना के ही मर्म का उद्‌घाटन करना उनके कवि-स्वभाव के अधिक अनुकूल था। प्रसाद ने जहा घटना के अनुभूत्यात्मक रूप पर बल दिया है वहा गुप्तजी को प्राय· अनुभूति का घटनात्मक रूप ही प्रिय था। अतः आधुनिक कवियो मे—वास्तव मे प्राचीन और नवीन सभी कवियो मे—वस्तु-सयोजन तथा वृत्तवर्णन की ऐसी अपूर्व क्षमता प्रायः दुर्लभ ही है। प्रसाद और निराला जैसे छायावादी कवियों की कल्पना जहा भाव, चिंतन और विचार के समृद्ध सूत्रो से विच्छिन्न होकर शुद्ध वृत्तवर्णन की भूमिका पर उतरते ही हतप्रभ हो जाती है, वहा गुप्तजी की प्रतिभा वृत्तो के नियोजन मात्र मे रोचकता उत्पन्न कर देती है। युग-धर्म के अनुरूप सुदर और मौलिक विचारो को प्रसग रूप मे परिणत करना उनके लिए अत्यंत सरल कार्य था। अनेक प्रसंगो के घटाटोप मे से सरस का निर्वाचन और नीरस का त्याग कर केंद्र-बिंदु का अनुसंधान वे अनायास ही कर लेते थे। किसी भी कथा की नाटकीय संभावनाओ की परख उनमे अद्‌भुत थी। प्राचीन कथा को वर्तमान जीवन के अनुरूप ढालने का उन्हे सहज अभ्यास हो गया था; बिना किसी श्रम के ही वे प्राचीन कथाओ का रूपातर कर सकते थे। कुतक ने प्रकरण-वक्रता और प्रबध-वक्रता के जिन रमणीय रूपो का विवेचन किया है, प्राय· उन सभी के रोचक उदाहरण मैथिलीशरण गुप्त के कथा-काव्यो मे मिल जाते हैं। इस कवि की कल्पना सूक्ष्म-तरल ऐंद्रिय बिंबो की रचना करने की अपेक्षा परिवेश और प्रसग की उद्‌भावना मे या उससे भी व्यापक धरातल पर वस्तु-विधान मे अधिक फलवती होती है। कथा के क्षेत्र मे अपनी इन मौलिक उद्‌भावनाओ को आकार देने के लिए कवि ने अनेक काव्य-रूपो का सफल आविष्कार भी किया है। 'यशोधरा' का काव्यरूप परंपरागत विधाओ से भिन्न है। 'यशोधरा' के चरित्र को केंद्र मानकर उसके जीवन के अंतर्द्वन्द्व और विरह-वात्सल्य को—नाट्यपक्ष और प्रगीत पक्ष दोनो को—एक साथ अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए प्रगीतात्मक प्रबध-नाट्य की विधा की उद्‌भावना की गई है। इसी प्रकार 'द्वापर'

मे कथा के वाहक विभिन्न पात्रो की मनःस्थिति के क्रमबद्ध उद्घाटन के द्वारा एक समूचे युग के अंतर्द्वन्द्व को चित्रित किया गया है—मानो अनेक एकालापो (मोनोलॉग) को अन्वित कर नृत्य-नाटक की रचना की गई हो। इसी तरह 'कुणालगीत', 'दिवोदास', 'पृथ्वीपुत्र' आदि की विधाएं भी अपने-आप मे स्वतंत्र हैं जिनमे गीतो अथवा उप-स्थापित प्रसंगो के द्वारा आख्यान की प्रस्तावना की गई है। समसामयिक काव्य-चेतना से प्रभावित होकर प्रगीत-रचना भी कवि ने की है और क्रमशः प्रगीत-कला मे नैपुण्य भी प्राप्त कर लिया है—'साकेत' एवं 'यशोधरा' के अनेक गीत इसके प्रमाण हैं। परंतु शुद्ध प्रगीत-रचना उसकी प्रवृत्ति के अनुकूल नही है—उसका गीत भी प्रायः किसी-न-किसी संदर्भ से भारित होकर आख्यान का प्रत्यक्ष या परोक्ष वाहक बन जाता है। इसी प्रकार वास्तव मे गुप्तजी की कला मूलतः वास्तुकार की कला थी—मूर्तिकार के गुण भी उसमे पर्याप्त मात्रा मे थे जितने कि वास्तुकला के लिए अपेक्षित होते हैं, किन्तु रत्नकार की बारीकी उसमे नही थी। अत' जो कला-रसिक शब्द-चित्र या उक्ति-चारुत्व के आधार पर मैथिलीशरण की काव्य-कला की आलोचना करते हैं, वे रत्न-कला के प्रतिमानो से वास्तुकला के मूल्याकन का दुष्प्रयास करते हैं।

काव्य-भाषा

मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-भाषा के विषय मे मर्मज्ञो मे तीव्र मतभेद है। शब्दार्थ के पारखियो का एक वर्ग ऐसा है जिसका आदर्श है रीतिकवियो की भाषा—मतिराम, बिहारी, देव की भाषा या पंत की भाषा जिसमे प्रत्येक शब्द तराश और खरादकर वाक्य मे जडा जाता है, जहां शब्द के चित्रगुण और सगीतगुण का महत्त्व उसकी व्यंजना-शक्ति से कम नही माना जाता। दूसरा वर्ग उनका है जो भाषा के व्यवहार-गुण—मुहावरे और अर्थवत्ता को ही प्रमाण मानते है और सामान्य प्रयोग की भंगिमाओ तथा शब्दावली की परिधि के भीतर ही काव्य-भाषा की व्यंजना-शक्ति की सभावनाओ पर बल देते हैं। ये लोग रीतिमयी भाषा का विरोध इस आधार पर करते हैं कि उसमे तराश और खराद से जीवन की शक्ति क्षीण हो जाती है। दिनकर, बच्चन और अज्ञेय ने इसी तर्क के आधार पर छायावाद की भाषा का विरोध किया है और आज भी कर रहे हैं। इनमे से पहला वर्ग गुप्तजी की भाषा का विरोधी है और दूसरा वर्ग समर्थक। वास्तव मे, गुप्तजी व्यवहार की भाषा को ही आधार मान-कर चलते हैं और उसी के गुणो का उनकी काव्य-भाषा मे प्राधान्य रहा है। आरभ मे भाषा की प्रकृत शक्ति और शुद्धता, जिसके परिणामी गुण है स्वच्छता और स्पष्टता, उनकी काव्य-भाषा मे मुख्य थे और उसका वाक्य-विन्यास गद्य-शैली के निकट था। क्रमश. उसकी लाक्षणिक शक्तियो का विकास हुआ और व्यजना की क्षमता मे भी वृद्धि हुई किंतु प्रतीक-गुण और सगीत-गुण का विशेष विकास फिर भी नही हो सका। व्यवहार-भाषा की परिधि के भीतर, जन-संपर्क से प्राप्त शक्ति को सुरक्षित रखते हुए शब्दो और प्रयोगो को कल्पना-तत्त्व तथा राग-तत्त्व से गर्भित कर, उन्होने अपने लिए जिस माध्यम का निर्माण किया उसमे छायावाद की भाषा और रीति-काव्य की भाषा

का-सा मार्दव, श्रुति-सौंदर्य और औज्ज्वल्य फिर भी नही आ सका, परंतु वह भाषा जीवत प्रयोगो की प्राणवत्ता से सयुक्त वलिष्ठ भाषा थी, जिसमे व्याकरणिक शुद्धता के भीतर ही अद्‌भुत समासगुण का समावेश हो गया था। कवि-जीवन के अतिम चरण मे—'द्वापर' और 'सिद्धराज' के वाद की कृतियो मे तो भाषा एकदम कवि की अनुवर्तिनी बन गई है, कवि अत्यंत सहज रूप मे ऐसी संगठित भाषा का प्रयोग करता है जिसमे अर्थ-व्यंजना के लिए कम-से-कम शब्दावली का प्रयोग है किंतु संप्रेषण-शक्ति मे किसी प्रकार की क्षति नही हुई। गुप्तजी की काव्य-भाषा के सामान्यतः तीन सोपान हैं . १ शुद्ध-स्वच्छ, गद्य-कल्प, व्याकरण-सम्मत रूप, जो 'भारत-भारती' वर्ग की कृतियो मे प्राप्त होता है, २. सस्कृत की तत्सम शब्दावली से अलंकृत लक्षणा और व्यजना के वैभव से संपन्न समृद्ध रूप, जो 'साकेत' वर्ग की रचनाओ मे उपलब्ध है; ३. अत्यंत सश्लिष्ट समास-गुण-युक्त रूप, जो 'युद्ध-हिडिंबादि' वर्ग की रचनाओं मे मिलता है। वास्तव मे, काव्य-माध्यम के रूप मे खडीबोली के भी विकास के ये ही प्रमुख सोपान हैं। शास्त्र की शब्दावली का आश्रय ले कर इस तथ्य को दूसरे ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रारंभिक अवस्था मे कवि अभिधा पर निर्भर करता है—वह वाच्यार्थ को ही साज-संवार कर, स्पष्ट, प्रभावशाली रीति से विचार या भाव का कथन करता है—

> हा, लेखनी! हृत्पत्र पर लिखनी तुझे है यह कथा,
> दृक्कालिमा मे डूब कर तैयार हो कर सर्वथा।
>
> (भारत-भारती)

दूसरे अवस्थान मे अभिधा लक्षित चित्र और व्यग्य अनुभूति की माध्यम मात्र बनकर रह जाती है और भाषा की कल्पनात्मक शक्ति तथा सवेदन-क्षमता की श्रीवृद्धि हो जाती है—

> आप अवधि बन सकूं कही तो क्या फिर देर लगाऊँ,
> मैं अपने को आप मिटा कर जा कर उनको लाऊँ।
>
> (साकेत)

तीसरे सोपान पर पहुचकर लक्षणा और व्यंजना अभिधा मे ही अतर्भुक्त हो जाती हैं—उनका पृथक् अस्तित्व अत्यत क्षीण हो जाता है और तीन शक्तियो के स्थान पर सश्लिष्ट शब्द-शक्ति, जिसमे वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ की अविभाज्य-सी स्थिति रहती है, भाषा की प्रमुख माध्यम वन जाती है—

> वीर-रस-भाव रखता हो युद्ध आदि मे
> रौद्र-भाव मध्य मे, भयानक है अंत मे,
> और परिशिष्ट मे तो है वीभत्स ही सदा!
>
> (युद्ध)

इसे वास्तव मे खडी बोली की—या किसी भी भाषा की—परिपक्व अवस्था मानना चाहिए जहा तीनो शक्तिया समाकलित हो जाती हैं।

मूल्यांकन

मैथिलीशरण गुप्त आधुनिक युग के प्रतिनिधि कवि हैं : एक सपूर्ण राष्ट्र की अत्यंत वैविध्यपूर्ण जीवन-चेतना को वाणी देने वाले महाकवि है—इसमे सदेह नही। पंत ने इसी विस्तार और वैविध्य को लक्ष्य कर उनके काव्य को तारापथ या स्वर्गंगा के समकक्ष माना है—

सूर, सूर, तुलसी शशि—लगता मिथ्यारोपण,
स्वर्गंगा तारापथ मे कर आप के भ्रमण।

इस प्रशस्ति की पहली पंक्ति पर विवाद हो सकता है, परंतु दूसरी पंक्ति के विषय मे प्रतिवाद की सभावना नही है।

कवि सियारामशरण गुप्त

सियारामशरण गुप्त की कविता का मैं लगभग पन्द्रह वर्षों से निरंतर अध्ययन करता आया हूं। वे मेरे प्रिय कवि नही हैं। मेरी और उनकी वृत्ति तथा जीवन-दृष्टि मे इतना अधिक अतर है कि मैं उनके काव्य मे आत्मानुभूति का सुख प्राप्त नही कर पाता। फिर भी मेरे मन मे उनके काव्य के प्रति विशेष श्रद्धा रही है, जैसी कि एक-साधारण रागी व्यक्ति के मन मे किसी संत के व्यक्तित्व और उनकी वाणी के प्रति होती है। और चूकि आज की दुनिया मे मुझ-जैसे व्यक्तियो का ही बहुमत है, सिया-राम जी जैसे संत अत्यंत अल्प सख्या मे हैं, इसीलिए उनका काव्य अधिक लोकप्रिय नही हो पाया। और, यह उनके साथ अन्याय नही है; यह उनके काव्य की स्वाभाविक परिसीमा है।

सुस्थिर और व्यवस्थित अध्ययन के उपरात मेरे मन मे सियारामशरण की कविता के विषय मे ये धारणाए बनी हैं।

१. उनकी कविता का मूल भाव करुणा है।

२ उनकी काव्य-चेतना का धरातल शुद्ध मानवीय है। दूसरे शब्दो मे, उनका मूलभूत जीवन-दर्शन विशुद्ध मानववाद है जिस पर गाधीजी के सिद्धातो की गहरी और प्रत्यक्ष छाप है।

३. इस कविता का प्रभाव एकात सात्त्विक और शातिमय होता है।

४. परतु सियारामशरण ने भुक्ति को बचाकर मुक्ति की साधना की है, इस-लिए इस कविता मे जीवन का स्वाद कम है।

'मौर्य-विजय' से लेकर 'नकुल' तक सियारामशरण के अनेक काव्यग्रथ प्रका-शित हो चुके हैं। इनमे 'मौर्य-विजय' और 'नकुल' खडकाव्य हैं, 'उन्मुक्त' काव्य-रूपक है, 'बापू' व्यक्ति-काव्य है, 'आत्मोत्सर्ग' चरित-काव्य। 'आर्द्रा' मे काव्यबद्ध कहानिया हैं और 'पाथेय', 'मृण्मयी', 'नोआखाली' मे तथा 'दैनिकी' मे स्फुट विचार-प्रधान कवि-ताए हैं। 'मौर्य-विजय' को छोड कर, जो मैथिलीशरणजी के प्रभाव मे किया गया कवि का आरभिक काव्य-प्रयोग है, इन सभी का प्रधान स्वर करुणा है। यह करुणा 'विषाद' तथा 'आत्मोत्सर्ग' मे व्यक्तिगत होने के कारण तथा 'आर्द्रा' की कहानियो मे निरावरण होने से अत्यत तीव्र हो गई है। उधर 'उन्मुक्त', 'दैनिकी' और 'नोआखाली' मे भी वह युद्ध तथा रक्तपात के वातावरण के कारण सर्वथा व्यक्त है, परतु अन्य रचनाओ मे भी उसकी अतर्धारा उतनी ही असदिग्ध है। करुणा की इस सर्वव्याप्ति

के व्यष्टिगत और समष्टिगत दोनो ही कारण हैं। व्यष्टिगत कारणो मे कवि का चिर-रुग्ण जीवन, पत्नी तथा अन्य प्रियजनो की मृत्यु, और बहुत-कुछ साहित्यिक उपेक्षा भी है। इन तीनो कारणो ने मिलकर उसकी दृष्टि को स्थायी रूप से करुणार्द्र बना दिया है। सबसे पहले तो श्वास-रोग ही अपने आप मे एक स्थायी व्यथा है, परंतु रोग की व्यथा को प्रेम, विशेषकर अंतरंग सहचरी का प्रेम, बहुत-कुछ हलका कर लेता है। इसी प्रकार मृत्यु, वियोग आदि के शोक को व्यक्ति स्वास्थ्य-सुख के द्वारा भुलाने मे सफल हो जाता है। और, प्रेम तथा स्वास्थ्य दोनो के अभाव को साहित्यिक आत्माभि-व्यक्ति और उसकी स्वीकृति का सुख बहुत-कुछ दूर कर सकता है। माना कि स्वीकृति का सुख अपने आप मे कोई विशेष स्पृहणीय सुख नही है, परंतु वास्तविकता का निषेध करना व्यर्थ है; लेखक का यह संबल है और प्रत्येक देश-काल मे लेखक को इसकी आवश्यकता रही है।

इस प्रकार व्यष्टिगत धरातल पर इस कवि ने स्वास्थ्य, दाम्पत्य प्रेम और लोक-स्वीकृति इन तीनो के अभाव का अनुभव किया। उधर समष्टिगत जीवन मे भी यह युग पराजय का युग था। राजनीतिक जीवन मे कांग्रेस बार-बार विफल हो रही थी और उधर सामाजिक जीवन पर रूढियो का सर्प इतनी गहरी कुडली मारे बैठा था कि जागरण-सुधार के सभी आंदोलन उसको अपने स्थान से हिलाने-डुलाने मे असमर्थ हो रहे थे। विषाद के इस सार्वभौम साम्राज्य मे सियाराम की कविता का विकास हुआ और स्वभावतः उनमें करुण स्वर का प्राधान्य हुआ।

यह करुणा क्रमशः व्यष्टि से समष्टि तक व्यापक होती गई है। विषाद की करुणा का धरातल, जैसा कि मैंने अभी संकेत किया, शुद्ध व्यक्तिगत है। उसमें स्वर्गता पत्नी के वियोग मे कवि ने अत्यंत मार्मिक किंतु संयत कविताएं लिखी हैं। मृत्यु के समक्ष मानव कितना असहाय है—उसका प्रेम, उसकी कल्पना, उसका बुद्धि-वैभव सभी कुछ अपने प्रियजन को मृत्यु के पाश से मुक्त कराने मे असमर्थ रहते हैं। यह बेचारा स्मृति, स्वप्न, कल्पना आदि की सहायता से भी तो अपने वियुक्त प्रिय को प्राप्त नही कर सकता। विकल कवि दिवास्वप्न देखता है :

> हो सकती भव बीच नही क्या कोई नूतन बात ?
> आ जा आज यहाँ फिर से तू सस्मित पुलकित गात।
>
> × × ×
>
> मंद-मंद गति से आकर तू आँखें सी दे खोल,
> फिर से तेरे मजु मिलन में उठे हर्ष-कल्लोल।
> 'अरे यहाँ कैसे बैठे तुम, करते हो क्या खूब',
> कुछ न सुनूं जा लिपटूं तुझ से हर्षोदधि में डूब॥

परंतु यह सब क्रूर कल्पना है!—

> हाय, कुहुकमयि क्रूर कल्पना! यह छलना है व्यर्थ,
> अश्रु गिराना मात्र रहा है अब तो तेरे अर्थ।

उनमे से भी तुझ तक कोई पहुँच न सकते आह,
जाने कितने गिरि वन सागर रोक रहे है राह ॥ (विषाद)

मानव की वेबसी का कितना करुण चित्र है !

जीवन का यह एकाकीपन कठिन रोग की पीडा से मिलकर कवि की वैयक्तिक करुणा को और भी गहरा बनाता हुआ, उसके मन मे कभी-कभी अत्यत निराशामय चित्र अकित कर देता है :

गत निशि मे सोचा शैया पर मैंने लेटे-लेटे,
इसी निशा मे मरण आज यदि आकर मुझको भेंटे ।
नही रुकेगी तब भी क्षण भर गति सचरित पवन की,
क्या गणना है रत्नाकर मे एक बूँद जल-कण की !

× × ×

फिर भी विकल हो उठेंगे सब मेरे स्वजन सुहृज्जन,
बहु अज्ञात गुणो की माला मुझे करेंगे अर्पण । (दैनिकी)

यही करुणा व्यक्तिगत धरातल से उठकर समष्टिगत धरातल पर पहुचकर क्रमश सामाजिक और विश्वजनीन—मानवीय हो जाती है । 'आर्द्रा' की कहानियो मे 'एक फूल की चाह', 'खादी की चादर' आदि मे उसका सामाजिक रूप निरावरण होकर सामने आता है । हमारे समाज का अतर्मन आर्थिक तथा वर्ण-जातिगत विपमताओ से पीडित है । 'एक फूल की चाह' मे अछूत बालिका सुखिया शीतला की महामारी का शिकार होती है । रुग्णा बालिका के मन मे देवी के प्रसाद के एक फूल की चाह उत्पन्न होती है और उसका पिता बेटी की इस आकाक्षा को पूरा करने के लिए सामाजिक बाधा-व्यवधान की उपेक्षा करता हुआ अपने सदुद्देश्य मे विश्वास करके चुपके-चुपके देवी के मदिर मे जाता है । परतु पडे लोग उसे पकड लेते हैं, उसको खूब मारा-पीटा जाता है और अंत मे न्यायालय उसे एक सप्ताह का दड देता है । इस बीच मे सुखिया बेचारी तडप-तडपकर प्राण त्याग देती है और उसका पिता जब कारावास भोगकर आता है तो ज्ञात होता है कि सुखिया को तो कई दिन पूर्व उसके परिचित बंधु फूक चुके थे .

बुझी पडी थी चिता वहाँ पर, छाती धधक उठी मेरी,
हाय फूल-सी कोमल बच्ची हुई राख की थी ढेरी ।
अतिम बार गोद मे बेटी, तुझको ले न सका मैं हाय,
एक फूल माँ का प्रसाद भी तुझको दे न सका मैं हाय !
वह प्रसाद देकर ही तुझको जेल न जा सकता था क्या !
तनिक ठहर ही सब जन्मो के दंड न पा सकता था क्या ?
बेटी की छोटी इच्छा, वह कही पूर्ण मैं कर देता,
तो क्या अरे दैव, त्रिभुवन का सभी विभव मैं हर लेता !
यही चिता पर धर दूंगा, मैं कोई अरे, सुनो, वर दो ।
मुझ को देवी के प्रसाद का एक फूल ही लाकर दो । (आर्द्रा)

कवि सियाराम का हृदय समाज की इस नृशंसता पर चीत्कार कर उठता है और उनमें हिंदू-समाज के प्रति एक अत्यंत तीखा करुण व्यंग्य निकल जाता है :

कैदी कहते, "अरे मूर्ख, क्यों ममता थी मंदिर पर ही ?
पास वहीं मसजिद भी तो थी, दूर न था गिरजाघर भी।"

समाज के धरातल से फिर यह करुणा विश्वजनीन हो जाती है और कवि के हृदय में केवल अपने परिचित समाज के प्रति ही नहीं, वरन् समस्त जगती के प्रति करुणा का उद्भव हो जाता है :

हाय री मेरी जगती !
इतनी सुंदर तदपि घृणित-सी तू क्यों लगती ?
× × ×
तेरे में कुछ नहीं तेज-बल ? अयि कल्याणी ;
तू क्यों ऐसी दीन हुई क्यों कुंठित-वाणी ? (उन्मुक्त)

निष्कर्ष यह है कि इस करुणा का धरातल मूलतः व्यक्तिगत अथवा सामाजिक न होकर मानवीय है। कवि सियाराम के काव्य की करुणा आज की चिरपरिचित भौतिक कुंठाओं की करुणा न रहकर भारतीय अध्यात्म की मानव-करुणा, भगवान् बुद्ध की मैत्री-करुणा बन जाती है। यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि इसका जन्म भौतिक कुंठाओं से ही होता है, परंतु कवि ने अपनी साधना और तपस्या से उसे परिष्कृत कर शुद्ध मानव-करुणा का रूप दे दिया है। यह तपस्या है आधुनिक मनोविश्लेषण की शब्दावली में आत्म-पीडन की, मन को इस प्रकार वश में कर लेने की कि वह दुःख में ही रस लेने लगे। वास्तव में मनोविश्लेषण-शास्त्र के अनुसार आत्म-पीडन कोई स्पृहणीय वृत्ति नहीं है, परन्तु उसका उचित उपयोग करने से उन्नयन के लिए मार्ग प्रस्तुत हो जाता है। भारतीय साधना-पद्धति में इसका बड़ा महत्त्व रहा है। प्राचीन संतों से लेकर गांधीजी तक ने इस साधना को अपनाया है।

इस प्रकार सियाराम जी की करुणा स्थूल से सूक्ष्म, अर्थात् भौतिक से आध्यात्मिक, हो जाती है। स्वभावतः ही करुणा में निराशा का अंधकार अथवा किसी प्रकार की नग्नता नहीं है; क्योंकि इसका मूल गहरी आस्तिकता में है। जीवन की करुणा से भीगा हुआ होने पर भी यह काव्य आशा और विश्वास के अमर संदेश से मुखर है। व्यक्तिगत, सामाजिक अथवा सार्वजनिक किसी भी धरातल पर कवि की करुणा श्रद्धा और विश्वास से रहित नहीं होती :

आश्वसित, समाश्वसित हूँ,
तुझे देख कर हरित भाव से आमान्वित हूँ।
देख रहा हूँ, जहाँ क्रोध कुत्सित पाशव का,
रूप विकट बीभत्स, जहाँ मूर्च्छित मानव का।
शतश खंडीकरण दलन-विदलन कर-कर के;
उसी ठौर पर उसी ठिकाने के थल पर से,
फूट पड़े हैं नये-नये अंकुर वे शोभन।

जीवन मे जो घृणा और पाशवता दिखाई देती है, वह जीवन का सत्य नही है, वह तो केवल माया है। जीवन का सत्य है स्नेह, और सत्य की शक्ति माया की शक्ति से कही प्रबल है। माया भंगुर है, सत्य चिरतन। घृणा और द्वेष की विभीषिका कुछ समय तक ही रहती हैं, अत मे विजय स्नेह की ही होती है। सियारामजी ने अत्यत मार्मिक शब्दो मे इस अमर सत्य की व्यंजना की है·

उस सैनिक का रुधिर वहाँ वह हृदय-विमोहन,
नवजीवन के अरुण राग मे परिवर्तित है।
जिसे घृणा की गई उसी के लिए नमित है,
धरणी की वह सुमन-मंजरी मृदुलान्दोलित।
स्नेह-सुरभि की लोल लहर ही है उत्तोलित,
इधर, उधर, सब ओर। (उन्मुक्त)

घृणा के ऊपर स्नेह की यह विजय स्पष्ट शब्दो मे गाधीवाद की घोषणा है, और सियारामशरण जी ने गाधी-दर्शन को प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण किया है। गाधीवाद वास्तव मे आध्यात्मिक मानववाद ही है। इसके दो मूल आधार हैं . सत्य और अहिंसा। यह सपूर्ण जगत्—चर-अचर—एक सत्य से अनुप्राणित है। यह सत्य अखड और एकरस है। भावना के क्षेत्र मे यही भगवान् या राम है। एक सत्य से अनुप्राणित होने के कारण प्राणिमात्र का समान अस्तित्व है। आस्तिक के लिए यही समबुद्धि अनिवार्य है। इस समबुद्धि का व्यक्त रूप है अहिंसा। अहिंसा अभावात्मक वृत्ति नही है, वह अत्यत भावात्मक है, अर्थात् उसका मूल तत्त्व घृणा, द्वेष का निषेध मात्र नही है, उसका मूल तत्त्व है प्रेम। घृणा का उत्तर घृणा नही है, प्रेम है। हिंसा के विरुद्ध हम हिंसा न करे यह भी पर्याप्त नही है, हमे उसका उत्तर प्रेम से देना चाहिए; तभी यह वृत्त पूरा होता है। क्योंकि घृणा या हिंसा का अभाव तो केवल अभावात्मक स्थिति है जो शून्य है; और चिर-तरंगायित मानव-मन शून्य अभावात्मक स्थिति मे रह नही सकता। अतएव उसको प्रेम से भरना होगा। इस प्रकार अहिंसा का अर्थ है प्राणिमात्र के प्रति प्रेम। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर मानव-मानव का भेद — समस्त जाति वर्ण, गण, राष्ट्र के भेद तो मिट ही जाते है, इतर प्राणियो के प्रति भी समभाव उत्पन्न हो जाता है। अब प्रश्न यह उठना है कि इस अहिंसा भाव की प्राप्ति कैसे हो ? इसका उपाय है आत्मशुद्धि, और आत्मशुद्धि के लिए तप अर्थात् आत्म-पीडन और भगवद्भक्ति आवश्यक है। पाप का विनाश तप से हो सकता है। केवल अपने पाप—अपनी घृणा और हिंसा का नाश करना पर्याप्त नही है, यह अधूरी साधना है। अहिंसक को तो हिंसा के अस्तित्व मात्र से युद्ध करना है, और इसका भी उसके पास केवल एक ही उपाय है—तप। अपने को तपाकर हम अपनी शुद्धि ही नही करते हैं, दूसरे की भी शुद्धि करते है; यही गाधीजी का हृदय-परिवर्तन सिद्धात है। और, तत्त्वरूप मे यही गाधी-दर्शन है। व्यवहार-रूप मे इसके अनेक अग है देश-प्रेम, पर-सेवा, सांप्रदायिक एकता, आत्म-निर्भरता (जिसके अंतर्गत मशीन-उद्योग के विरुद्ध ग्राम-उद्योग की प्रतिष्ठा आदि आ जाती है), सदाचारमय जीवन, आदि। व्यापक

रूप मे इसके अतर्गत विश्वमैत्री की भावना भी अनिवार्यतः गर्भित है, परंतु गाधीजी ने इसको तूल नही दिया।

जैसा कि मैंने अन्यत्र सकेत किया है, सियारामशरण ने गाधीवाद के तात्त्विक पक्ष को ही अपनाया है, उसके व्यवहार-पक्ष के प्रति उनको अधिक रुचि नही रही। वह उनके अग्रज का क्षेत्र है। इसका कारण दोनो के व्यक्तित्वो का अंतर है। मैथिलीशरण जी का जीवन विशिष्ट रागद्वेषमय व्यावहारिक जीवन है, सियारामशरण जी का जीवन चिंतनमय है। और स्पष्ट शब्दो मे, मैथिली बाबू मे जीवन का प्रबल उपभोग है, सियाराम जी मे उसका चिंतन। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि मैथिली बाबू ने जहां गांधीवाद का कर्म-रूप ग्रहण किया है, वहां सियाराम जी ने उसका तत्त्व-रूप। इसके अतिरिक्त दोनो मे एक और अंतर है। मैथिली बाबू मे भक्ति के सस्कार गहरे और अचल हैं, सियारामशरण मे संतो का आत्मपीडनमय तप है। अतएव सियाराम जी गाधीवाद के तात्त्विक रूप को, जो मूलतः संत-दर्शन का ही विकास है, सहज ही ग्रहण कर सके। परतु मैथिली बाबू के भक्ति-संस्कार इतने प्रबल और गहन थे कि उनके ऊपर गांधीजी के केवल उन्ही सिद्धातो का प्रभाव पड सका जिनके साथ उनकी संगति बैठती थी। व्यावहारिक दृष्टि मे अत्यधिक जागरूक होने कारण उन्होने गाधीवाद के उन सभी तत्त्वों को अपनी रामभक्ति मे समाविष्ट कर लिया है जिनका उससे मौलिक विरोध नही है। गाधीजी के स्वदेश-प्रेम, स्वातत्र्य-सघर्ष, जागरण-सुधार, सांप्रदायिक एकता, धार्मिक औदार्य, परसेवा आदि सिद्धांतों को मैथिली बाबू ने बड़े उत्साह के साथ ग्रहण किया है, परंतु सत्य और अहिंसा को उन्होने रामभक्ति के अनुरूप ढालकर ही स्वीकार किया है। जहां गांधी-नीति और रामभक्ति मे मौलिक भेद है, वहा मैथिली बाबू ने गाधी-नीति को स्वीकार नही किया, जैसे कि अवतारवाद आदि के सबध मे। सिद्धातत गांधी जी निर्गुण-भक्तो की परंपरा मे आते है। मैथिली बाबू ने सगुण और साकार उपासना को विधिवत् और पूर्ण निष्ठा के साथ ग्रहण किया है।

सियारामजी मे आस्तिक सस्कार तो अपने अग्रज की भाति ही वर्तमान है, परंतु उनकी आस्तिकता का विकास शास्त्र-धर्म के अनुसार न होकर युग-धर्म के अनुसार हुआ है। उन्होने गाधी-दर्शन को समग्रत ग्रहण कर लिया है। एक-से सस्कार और वातावरण मे पोषित इन गुप्त-बंधुओ के जीवन-दर्शन का यह अंतर मनोविज्ञान की दृष्टि से सहज ही समझा जा सकता है। सियारामजी की रुग्णता और उनके जीवन की दुखद घटनाओ ने आत्मपीडन के सिद्धात को उनके लिए सहज ग्राह्य बना दिया। इसके विपरीत मैथिली बाबू के सहज स्फूर्तिमय व्यावहारिक व्यक्तित्व को वंश-परंपरागत रामभक्ति मे पूर्ण अभिव्यक्ति मिल सकी। वास्तव मे भारतीय चिंता-परपरा मे वैष्णव-दर्शन पीड़ा का दर्शन है, और शैव-दर्शन आनंद का। वैष्णव-दर्शन मे भी निर्गुण और सगुण धाराओ मे पीडा के अनुपात का अंतर है। सगुणोपासना मे आनद का यथेष्ट समावेश है, परंतु निर्गुण भाव एकात दुःख की फिलासफी है। गाधीवाद भी इसी परंपरा के अंतर्गत आता है। वह भी पीड़ा का दर्शन है—एक परतंत्र देश

की चिरपराजय से जिसका जन्म हुआ है। अतएव, स्वभावतः ही यह मैथिली बाबू की अपेक्षा सियाराम जी के व्यक्तित्व के अधिक अनुकूल पड़ा और इसके द्वारा उन्हे अपनी व्यक्तिगत पीडा के उन्नयन का अवसर मिल सका।

गाधी-दर्शन वास्तव मे सियारामशरण की रचनाओ मे ओत-प्रोत है। उनमे स्थान-स्थान पर गाधीजी की वाणी का काव्यानुवाद मिलता है :

नही कही कुछ भेद, एक ही इन्द्रधनुष मे ;
भासित वे बहु वर्ण, वर्ण ये पुरुष पुरुष मे।
बाहर के आभास, एकता ही अन्तर्गत।

यह एकता सब मे अनुस्यूत, अखड सत्य की एकता है। इसी एक सत्य से अनुप्रेरित होने के कारण मानव स्वभावतः अकलुष है। सारा कलुष परिस्थितिजन्य आवरण-मात्र है जिसके हट जाने से मनुष्य का शुद्ध-बुद्ध मानव फिर अपने मूल रूप मे आ जाता है

वह सैनिक भी न था और कुछ, वह था मानव,
ऐसा मानव, लाभ उठा जिसकी शिशुता का
किसी इतर ने चढा दिया था उस पशुता का
ऊपर का वह खोल।

अतएव पाप वास्तव मे एक प्रकार की भ्राति ही है, इसलिए पापी क्रोध का पात्र न होकर दया का पात्र है।

आत्म-विस्मृति ने छाकर
उसका बोध विलोप कर दिया था, मैं उस पर
रोष करूँ या दया ?

—क्योकि रोप तो स्वयं हिंसा है, और हिंसा से हिंसा की शुद्धि कैसे हो सकती है ! हिंसा की शुद्धि के लिए तो अहिंसा अपेक्षित है। यही जीवन का चिर-सत्य है :

हिंसानल से शान्त नही होता हिंसानल,
जो सबका है वही हमारा भी है मगल।
मिला हमे चिर सत्य आज यह नूतन होकर,
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर। (उन्मुक्त)

यह गाधीजी के सूत्रो का अविकल अनुवाद है। इतना ही नही, उनके सभी कथा-काव्यो का मूलार्थ भी यही है। 'आत्मोत्सर्ग', 'उन्मुक्त' और 'नोआखाली' मे तो वे प्रत्यक्ष रूप से गाधीवाद के सिद्धातो की स्थापना करते ही हैं, उनके अतिरिक्त 'आर्द्रा' और 'मृण्मयी' की काव्यबद्ध कहानियो और 'नकुल' मे भी गाधी-दर्शन की ही अभिव्यक्ति है। और, यही बात 'दैनिकी' आदि विचारात्मक स्फुट कविताओ मे है। वास्तव मे हिंदी काव्य मे गाधी-दर्शन की इतनी सहज अभिव्यक्ति किसी भी लेखक ने नही की। यो तो गाधी-दर्शन का प्रभाव इस युग मे एक सर्वव्यापी प्रभाव है—हिंदी का कदाचित् ही कोई कवि-लेखक इससे अछूता रहा हो। यह वास्तव मे हमारा युग-

दर्शन है। अनेक मे गांधीवाद का प्रचारघोष भी आवश्यकता से अधिक मिलता है। परतु हिंदी मे मूलत. दो लेखक ऐसे हैं जिन्होने गांधी-दर्शन को गंभीरतापूर्वक ग्रहण किया है—जैनेन्द्र और सियारामशरण। इनमे से जैनेन्द्र की स्वीकृति बौद्धिक है। उनकी आत्मा गांधी-दर्शन के शम-सात्त्विक प्रभाव को ग्रहण नही कर सकी है। पंतजी को गांधी-दर्शन की शान्त परिष्कृति पूर्णत. स्वीकार्य है; परंतु वे कदाचित् उसमे अभीष्ट कला का अभाव पाते हैं, इसलिए अरविंद के प्रति उन्हे अधिक आकर्षण है; किंतु सियारामशरण के हृदय और बुद्धि, दोनो का, गांधी-दर्शन के साथ पूर्ण सामजस्य है, वह उनकी आत्मा मे रम गया है।

इस प्रकार के तप.पूत और साधनामय जीवन की अभिव्यक्ति निसर्गत. ही अत्यंत सात्त्विक एवं शातिमय होनी चाहिए। और इस दृष्टि से सियारामशरणजी की कविताओ का सबसे पृथक् एक विशिष्ट स्थान है। हिंदी के एक आलोचक ने सिया-रामशरण के निबंधो के प्रभाव के विषय मे लिखा है कि इनका प्रभाव मन पर ऐसा पडता है जैसा कि निभृत मदिर मे मंद-मंद जलते हुए घृत-दीप का। यह उक्ति वास्तव मे सियारामशरण के समस्त साहित्य पर, विशेपकर उनके काव्य पर, पूर्णत घटित होती है। उनके काव्य को पढ कर मन आत्मद्रव से भीगकर एक स्निग्ध शाति का अनुभव करता है। इस काव्य मे उत्तेजना का एकांत अभाव है—न वह भावो को उत्ते-जित करता है और न विचारो को। भयंकर सघर्ष और उथल-पुथल के इस युग मे, जब कि सर्वत्र ही मूल्यो का कुहराम मचा हुआ है, उत्तजना का यह शमन अद्भुत सफलता है। वास्तव मे आज के जीवन मे उत्तेजना सत्य है और शांति कल्पना। आज का कवि हृदय को ही नही, विचारो को भी झकझोरकर पाठक के मन को प्रभावित करता है। उसका संवेद्य ही यह उत्तेजना है। मूल्यो को अस्तव्यस्त करता हुआ, मान्य-ताओ को चुनौती देता हुआ, विचारो को झकझोरे देकर (और उसके द्वारा हृदय मे भी उथल-पुथल मचती ही है) वह पाठक के साथ बौद्धिक तादात्म्य स्थापित करता है। सियारामशरण इस बौद्धिक उत्तेजना से अपरिचित नही हैं, उनके खंड-काव्यो और स्फुट मुक्तको मे इसकी स्थिति सर्वत्र है; परंतु स्वीकृति कही भी नही है। युग के तूफान और आधी के बीच उनका वह मंदिर-दीप, जिसमे विश्वास अर्थात् सत्य की अग्नि-शिखा है, और स्नेह अर्थात् अहिंसा का घृत है, नीरव निष्कम्प जलता रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सियारामशरण की कविता बौद्धिक उत्तेजना से मुक्त आस्तिक विश्वास से प्रेरणा प्राप्त करती है और उसका यह विश्वास एकांत मानवीय मूल्यो पर—सत्य और अहिंसा पर—आधृत होने के कारण शांत और नीरव है, दूसरे के सिर पर चढ कर बोलने वाला नही है। इसलिए इस कविता मे अपूर्व शांति और सात्त्विकता मिलती है।

इस शांति और सात्त्विकता का दूसरा रहस्य यह है कि इस कवि की चेतना वासना और ऐंद्रियता से बहुत-कुछ मुक्त है। निरंतर साधना-संयम से उसने वासना को अत्यंत परिष्कृत कर लिया है। फलत. उसमे एक ओर क्रोध, घृणा आदि द्वेषजन्य मनोवेगों का परिमार्जन हो गया है, और दूसरी ओर राग का उन्नयन। सियारामजी

जैसे व्यक्ति के लिए साधारणतः मनोग्रथियो और काम-कुठाओ का शिकार हो जाना स्वाभाविक था, परतु उनके आस्तिक सस्कार और निष्ठा ने उनकी रक्षा की है और इतना बल प्रदान किया है कि वे अपनी कुंठाओ पर विजय प्राप्त कर सकें। वास्तव मे मनोविश्लेषको ने कुठा के पोषण के लिए जिन परिस्थितियो का उल्लेख किया है, वे सभी सियारामशरणजी के जीवन मे उपस्थित रही हैं। उदाहरण के लिए, काम की अभिव्यक्ति के साधन का अभाव, कठोर नैतिक वातावरण एव धार्मिक रूढिग्रस्त जीवन तथा अस्वस्थ शरीर। परतु इस व्यक्ति ने अपनी साधना से जीवन के विष को अमृत कर लिया है और मैं समझता हू, इसका श्रेय बहुत-कुछ अंशो मे आस्तिक सस्कारो और पारिवारिक स्नेह को भी देना पडेगा।

तीसरा कारण इस सात्त्विक शाति का यह है कि सियारामशरणजी ने अपने अहकार को पूर्णत पीडा मे घुला दिया है। भयकर अहवाद के इस युग मे अहंकार का यह उत्सर्ग एक आध्यात्मिक सफलता है और जैनेन्द्रजी के अनुसार साहित्य का चरम श्रेय यही है। साहित्य का चरम श्रेय यह हो अथवा न हो, परतु जीवन और साहित्य की यह एक पुण्य साधना अवश्य है, जिससे चेतना शातिमय और निर्मल होती है, और इस प्रकार जिस साहित्य की सृष्टि होती है वह निस्संदेह सात्त्विक और पुण्यपूत होता है। पीडा के दर्शन को हृदय से स्वीकार करने वाले के लिए वास्तव मे अहंकार का विलयन करना अनिवार्य हो जाता है, क्योकि पीडा व्यक्तित्व को द्रवीभूत करती है, अहकार उसे पुजीभूत करता है। दैहिक और दैविक कष्टो के कारण और परिवार मे छोटे होने के कारण सियारामशरण आत्म-निषेध के अभ्यस्त होते गए और उधर अपने आस्तिक सस्कारो के द्वारा उसकी मनोवैज्ञानिक विकृतियो को बचाते हुए उसे उदात्त रूप देते गए। परिणामस्वरूप विनय (अहकार का अभाव) उनकी चेतना का अग बन गया और व्यक्तिगत पीडा का मानव-पीडा के साथ तादात्म्य होता गया जिससे रजस् और तमस् बहुत-कुछ घुलकर नष्ट हो गया और सत् का प्राधान्य हो गया। सात्त्विकता की दृष्टि से वास्तव मे सियारामशरण का काव्य आधुनिक हिंदी-काव्य मे अपना प्रतिद्वद्वी नही रखता। ऐसी सात्त्विकता और शाति प्राप्त करने के लिए हमे महादेवीजी की कतिपय कविताओ को पार करते हुए बहुत दूर मध्ययुग के भक्तो के आत्म-निवेदन तक जाना होगा; परतु उस काव्य की और सियारामशरण के काव्य की आत्मा मे भेद है। सियारामशरण भक्त नही हैं, भक्त की एकनिष्ठता उनमे नही है। उन्होने अपनी रति को केंद्रित करने की जगह वितरित किया है। उनमे श्रद्धा है, ममता है किंतु एकनिष्ठ रति नही है।

यह अभाव सियारामशरण की कविता के सबसे बडे अभाव के लिए उत्तर-दायी है, और वह यह है कि उन्होने मुक्ति को -बचाकर मुक्ति की साधना की है। इसलिए उनके काव्य मे जीवन का स्वाद कम है। नाना-रसमयी सृष्टि मे उनका घनिष्ठ परिचय करुण और शात से ही है। करुण माध्यम है और शात परिणति। शृगार, वीर आदि भावात्मक रसो का उन्होने बडे सदेह के साथ डरते-डरते स्पर्श किया है। नारी की ओर दृष्टि डालने से पूर्व यह सत्पुरुष अपनी आखो को मानो

गंगाजल से आज लेता है। यो तो इनके काव्यो मे नारी के विविध रूपो का वर्णन है—नारी के माता, बहन, पुत्री, पत्नी और प्रेयसी सभी रूप मिलते हैं, परतु कही भी वे रति की आलबन प्रकृत नारी के रूप तथा मन का उद्घाटन नही कर सके हैं। नारी के लिए उनके मन मे श्रद्धा और संकोच-मिश्रित स्निग्धता-भर है। जहा कही श्रृंगार का प्रश्न आता है, सियारामशरणजी के ये दोनो भाव उस पर आरूढ हो जाते हैं। उदाहरण के लिए :

करती थी वह वहाँ अकेली स्नान-निमज्जन।
अजलि-जल से वक्ष वाहु कच भिगो-भिगोकर,
जलधारा मे पसर गई वह लंबी होकर।
सैकत मे फिर युग मृणाल-भुज स्थापित कर निज,
ऊपर समुद उछाल दिया उसने मुख सरसिज। (नकुल)

रूप-वर्णन कितना फीका है! इसको पढ़कर स्पष्ट ही यह धारणा होती है कि या तो कवि के पास रमणी के इस रूप का पान करने वाली दृष्टि नही है, या फिर उसने साहस के अभाव के कारण अपनी आखें दूसरी ओर मोड ली हैं। और वास्तव मे यही हुआ है। कवि सचमुच सहमकर आकाश की ओर देखने लगा है :

इसी समय सामने क्षितिज मे अरुण सेज पर,
उठा वाल-रवि गगन धरा का अनुरजन कर।

रमणी की ओर दृष्टि उसने श्रद्धा-भाव को आहूत करने के उपरात ही डाली है :

अर्द्धोत्थित से हुआ न जब तक पूर्णोत्थित वह,
वनी रही साष्टाग नमन-मुद्रा मे स्थित वह।

इस प्रसग मे अंतर को स्पष्ट करने के लिए आपको प्राचीनो मे विद्यापति का और नवीनो मे प्रसाद का स्मरण मात्र करा देना पर्याप्त होगा। इसमे सदेह नही कि विवेक-वल के द्वारा सियारामशरणजी ने भी स्थान-स्थान पर संकोच का परित्याग कर प्रकृत चित्र अंकित करने का प्रयत्न किया है, परंतु अब उसके लिए वहुत विलव हो गया है और इन अभिव्यक्तियो मे ऊष्मा की कमी है :

एक हाथ से हाथ, दूसरे से धर ठोडी,
ग्रीवा अपनी ओर पार्थ ने उसकी मोडी।
और स्वमुख से अमिट प्रेम की छाप लगाई,
अमृत पिलाकर विरह काल की भीति भगाई।

यह चित्र विल्कुल ठडा है। सारी क्रिया यत्रवत् है। तुलना कीजिए :

और एक फिर व्याकुल चुवन रक्त खौलता जिससे
शीतल प्राण धधक उठता है तृषा-तृप्ति के मिस से।
(प्रसाद : कामायनी)

और, श्रद्धेय सियारामशरणजी, क्षमा करें, यह प्रक्रिया भी गलत है।

इसमे सदेह नही कि नारी के माता, वहन, मित्र आदि अनेक रूप हैं और उसे

सदा बुभुक्षित नेत्रो से देखना अत्यत अस्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक है, परतु उसका एक प्रकृत नारी-रूप भी है, जिसके शरीर और मन मे उपभोग की भूख है, जो स्वय उपभोग्य बनकर भी तृप्ति पाती है। स्वयं सियारामशरण के ही काव्य में एक स्थान पर प्रकृत नारी यही पुकार कर उठी है :

आकर सहना किसी भ्राति की मचारी मे,
देवी का आरोप करेंगे यदि नारी मे,
तो कैसे वह सहन कर सकेगा उस क्षण को,
जब कल छलना-रहित समय कर देगा मन को। (नकुल)

नैतिक आदर्श आदि के आतक से इस रूप की उपेक्षा करना उसके मूल रूप की उपेक्षा करना है और जीवन के कवि के लिए वह स्पृहणीय नही है। उसका अभाव जीवन की अपूर्णता का द्योतक है।

शृगार के अतिरिक्त उनमे जीवन और काव्य को समृद्ध करने वाली व्यक्तित्व की अन्य प्रकृत अभिव्यक्तियो की भी परिक्षीणता है। उन्होने आत्मपीडन के द्वारा अपने अह को घुलाकर इतना निर्मल करने का प्रयत्न किया है कि मन के रग धुल गए है और उनकी जीवन-दृष्टि आवश्यकता मे अधिक निर्वैयक्तिक एव एकागी-सी हो गई है। अह का सस्कार करते-करते वे उसकी प्रकृत शक्ति खो बैठे हैं। अतिशय परिष्कार से वस्तु की नैसर्गिक शक्ति नष्ट हो जाती है, यह प्रकृति का नियम है। अह के सत्-असत् दोनो रूपो की जीवन मे सार्थकता है। स्नेह, करुणा, श्रद्धा, शाति, विनय, सयम, अहिंसा आदि तो जीवन के आभूषण हैं ही, परतु घृणा, कठोरता, दर्प, अहकार, वासना आदि की भी सार्थकता मे सदेह नही किया जा सकता। घृणा मे असमर्थ व्यक्ति का स्नेह फीका होता है। जो व्यक्ति कठोर नही हो सकता उसकी करुणा असहाय होती है। दर्पहीन की श्रद्धा दुर्बल होती है और विनय क्लीव। इसी प्रकार अहिंसा को भी हिंसा-वृत्ति के अनुपात से ही तेज प्राप्त होना है। जीवन का यह समग्र ग्रहण सियारामशरणजी मे नही है—यह उनके अग्रज मे है। सियारामशरण की कविता मे अमृत है, पर मनुष्य को रस चाहिए, वह तो रस पर जीता है। सियारामशरणजी की चेतना का मूल गुण है उसकी सवेदनशीलता। पीडा को जीवन-दर्शन मानने वाला व्यक्ति निश्चय ही अतिशय सवेदनशील होगा। सवेदनशीलता के कारण उनकी काव्य-चेतना अत्यत सूक्ष्म है, उसमे गहराई भी कम नही है, परतु जीवन के उपभोग के अभाव मे उसमे समृद्धि का अभाव है और उधर जीवन का समग्र ग्रहण न होने के कारण उसमे व्यापकता तथा विराटता का भी अभाव है।

कला-शिल्प

उपर्युक्त विश्लेषण की भूमिका मे अब मैं यदि यह कहूँ कि सियारामशरणजी अपने कला-शिल्प के प्रति अत्यत जागरूक है, तो वह असगत-सा प्रतीत होगा। जिस व्यक्ति के काव्य मे इतनी सात्त्विकता और शाति है, जिसने आत्मशुद्धि पर इतना बल दिया है, वह कला-शिल्प के प्रति जागरूक क्यो होगा? परतु वास्तव मे यह बात

नही है। उपर्युक्त गुणो का कलाशिल्प से कोई विरोध नही है। कला-शिल्प से विरोध वहिर्मुखी प्रवृत्ति तथा अतिशय प्रवल आत्माभिव्यक्ति का तो माना जा सकता है। जिस व्यक्ति को अनुभूति की प्रवल प्रेरणा के कारण चिंतन का अवकाश ही न हो, वह कला के प्रति उदासीन होगा। इसी प्रकार जो व्यक्ति बाहर की ओर ही अधिक देखता है, वह भी कला-दृष्टि खो बैठता है। कला के लिए अंतर्मुखी वृत्ति आवश्यक है, जिसके दो प्रमुख रूप हैं : चिंतन और कल्पना; और, सियारामशरण मे इन दोनो का, विशेषकर चिंतन का, प्राचुर्य है। चिंतन एक प्रकार से उनके काव्य का सामान्य गुण है। निदान, उनकी काव्य-चेतना से कला-शिल्प का कोई विरोध नही है। हा, यह असदिग्ध है कि इस कला-शिल्प का स्वरूप उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही है।

इस दृष्टि से सियारामशरण की कला की एक प्रत्यक्ष विशिष्टता यह है कि वह गीतिमय न होकर चिंतनमय है। उनकी कविता मे प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति नही मिलती। वे प्राय॰ एक विचार को लेकर उसके परिवहन के लिए एक छोटी-सी लघु-कथा (फेब्रिल) का निर्माण करते हैं और उसी के माध्यम से अपने अभिप्रेत को व्यक्त करते है। यह उनकी प्रिय शैली है और एक प्रकार से अब उनके लिए स्वाभाविक-सी हो गई है। वे कहते नही हैं, सकेत करते है। व्यग्य उनका सबसे प्रवल शस्त्र है और कही-कही वह वडा मार्मिक और तीखा हो जाता है।

दूसरे, यह कला समृद्ध न होकर स्वच्छ है। इसमे रूप-रग का विलास, औज्ज्वल्य अथवा मीनाकारी नही है। इसमे एक निरतर स्वच्छता है जिसका मूल आधार है समन्विति। कवि की कल्पना और भाव-कोप पर चिंतन का स्थिर नियमन है, अतएव प्राचुर्यजन्य शैथिल्य और सूत्राभाव उसमे कही भी नही मिलता। उसकी अभिव्यक्ति सदैव सार्थक एवं समन्वित होती हैं। उसके चित्र कही भी असवद्ध एव स्वतंत्र नही हो पाते। मूल विचार की एकसूत्रता उनमे सदैव रहती है। राग, कल्पना तथा विचार का पूर्ण सामजस्य उनमे सर्वत्र मिलता है। इसलिए एक भाषा-मर्मज्ञ ने उनकी प्रशसा मे लिखा है कि सियारामशरण की काव्य-भाषा, वाक्य-रचना आदि की दृष्टि से, गद्य-भाषा के अधिक-से-अधिक निकट आ जाती है—अन्वय किये बिना ही प्राय उसका गद्यातर किया जा सकता है। यह वाग्धारा की स्वच्छता और स्फीति का ही द्योतक है अन्यथा उनकी भाषा गद्यवत् नही है। उसका काव्योचित अर्थ-गांभीर्य और प्रौढता अद्‌भुत है और सतोष की वात यह है कि वह प्रौढता निरतर वढती जाती है। 'नकुल' से कुछ उदाहरण देता हू .

१. थमा दिव्य सगीत मुखरता खोई दिव की,
   चढ-सी-गई समाधि समय के सुदर शिव की।

   ...   .

२. किस पामर ने किया नखाकित दारुण दुखकर,
   संशय का यह घाव आर्य-वाणी के मुख पर।

३. धरा वहाँ उठ गई स्कंध तक मानो दिव के,
   तपोरता पार्वती अंकगत हो ज्यो शिव के।

ये केवल उदाहरण-मात्र हैं। वसे अब सियारामशरण की अभिव्यक्ति का साधारण स्तर ही यह हो गया है। उनके नवीन काव्यो मे प्रत्यक्ष इतिवृत्त वर्णन का एक प्रकार से अभाव होता जा रहा है। उनकी अभिव्यक्ति अब ऋजुसरल न रह कर उत्तरोत्तर वक्र होती जा रही है।

इस प्रकार कवि सियारामशरण के काव्य मे सस्कार और साधना का माघु समन्वय है। वे उन कवियो मे से हैं जिन्होने सच्चे अर्थ मे काव्य की साधना की है। वे लोकप्रिय नही रहे, और हो भी नही सकते, क्योकि वे प्रेय को छोडकर श्रय की साधना मे रत हैं।

पंत का नवीन जीवन-दर्शन

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की आलोचना करते हुए आज से आठ-नौ वर्ष पूर्व मैंने लिखा था कि मार्क्सवाद मे श्री सुमित्रानंदन पंत का व्यक्तित्व अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति नहीं पा सकता। जीवन के भौतिक मूल्य पंत के संस्कारी व्यक्तित्व को लुप्त नही कर सकते। उनका सूक्ष्म-चेता मन उन बुद्धि-गृहीत भौतिक मूल्यो के विरुद्ध उस समय भी बार-बार विद्रोह कर रहा था और ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता था कि वे शीघ्र ही फिर अपने परिचित पथ पर लौट आयेंगे। कारण स्पष्ट है: पंत के व्यक्तित्व मे वह काठिन्य और दृढ़ता नही है जो मार्क्सवादी विश्वासो के लिए अपेक्षित है। मार्क्सवाद का भौतिक संघर्ष, निरीश्वरवाद अथवा अनात्मवाद, पंत-जैसे कोमलप्राण व्यक्ति का परितोष नही कर सकते। ऐसे व्यक्ति के लिए आस्तिकता अनिवार्य हो जाती है और आत्मा तथा ईश्वर मे ही अंत मे उसे जीवन और जगत् का समाधान मिलता है। अतएव 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' का प्रकाशन और उनमे अभिव्यक्त पंत का परिवर्तित दृष्टिकोण हमारे लिए कोई आश्चर्य की बात नही है। मानव-मनोविज्ञान से अभिज्ञ, संस्कारो में विश्वास रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति उसे स्वाभाविक घटना ही मानेगा।

यों तो 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' मे कई प्रकार की कविताएं हैं: अनेक कविताओ का धरातल सामाजिक है, कुछ कविताएं आत्मगत हैं जो परिष्कृत मधुर रस मे अभिषिक्त हैं: कतिपय कविताएं प्रकृति-संबंधी भी हैं, परंतु अधिकांश कविताएं आध्यात्मिक हैं। इसलिए इन नवीन कृतियो का प्रधान स्वर आध्यात्मिक है। 'ग्रंथि' मे 'पल्लव' और 'पल्लव' मे 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' और 'युगांत' मे पंतजी क्रमश. शरीर मे मन और मन से आत्मा की ओर बढ़ रहे थे। बीच मे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मे उनके दृष्टिकोण मे परिवर्तन हुआ। मार्क्स के वस्तुवादी जीवन-दर्शन ने उन्हें आकृष्ट किया और वे अपने सहज मार्ग मे थोडा हट गए। उस समय भी उनकी आध्यात्मिक चेतना लुप्त नही हुई थी। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' दोनो मे भी उन्होंने अतिभौतिकवाद का निषेध करते हुए आत्म-सत्य और वस्तु-सत्य के समन्वय पर बल दिया है। परंतु फिर भी इसमे संदेह नहीं है कि उस काल-खंड की कविताओ मे भौतिक सत्य का प्राधान्य है; चेतना पर वस्तु-सत्य का प्रभुत्व है यद्यपि अवचेतन में आत्म-सत्य की सत्ता का अंत नहीं हुआ है। यह परिस्थितियो की प्रतिक्रिया-मात्र थी और एक बौद्धिक स्वीकृति से अधिक नही थी। परिस्थिति के दूसरे मोड़ पर प्रकृत संस्कार

फिर उभर आए और पंतजी वस्तु से आत्मा की ओर फिर प्रवृत्त हो गए :

सामाजिक जीवन से वही महत् अतर्मन,
बृहत् विश्व इतिहास, चेतना गीता किंतु चिरतन ।

उनका विकास-पथ भी निसर्गत यही है और इसकी चेतना उन्हे स्पष्ट है ·

दीप-भवन युग विद्युत्-युग मे ज्यो दिक् शोभित,
मन का युग हो रहा चेतना युग मे विकसित ।

परतु इस आध्यात्मिकता का स्वरूप स्पष्ट करना आवश्यक है । यह आध्यात्मिकता साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक नही है और न यह रहस्यवाद ही है । इसका सबध सूक्ष्म चेतना से है । पतजी का आत्मा की सत्ता मे अटल विश्वास है । परतु वे आत्मा को चेतना का सूक्ष्म रूप मानते हैं, अपने मे सर्वथा निरपेक्ष भौतिक जीवन से एकात अविकृत उसका अस्तित्व नही है । और स्पष्ट शब्दो मे—मानव-हृदय का पूर्णतम विकसित रूप आत्मा है । अतएव उसमे मानव-हृदय की विभूतियो का चरम विकास मिलता है । उनसे रहित शुद्ध-बुद्ध अथवा निर्लिप्त रूप, नकारात्मक एवं निवृत्तमूलक, पत को अग्राह्य है । उन्होने जिस आध्यात्मिक चेतना की कल्पना की है उसमे भौतिकता का परिष्कार है, तिरस्कार नही है, उन्नयन है, दमन नही है ।

आज हमे मानव-मन को करना आत्मा के अभिमुख

परंतु साथ ही,

वही सत्य कर सकता मानव-जीवन का परिचालन
भूतवाद हो जिसका रज तन प्राणिवाद जिसका मन,
औ' अध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गभीर चिरतन ।

(लोक-सत्य)

तीसरी रे भूख आत्मा की गहन ।
इद्रियो की देह से ज्यो है परे मन ।।
मनोजग से परे ज्यो आत्मा चिरतन,
जहाँ मुक्ति विराजती,
औ' डूब जाता हृदय-क्रदन ।
वहाँ सत् का वास रहता,
वहाँ चित् का लास रहता,
वहाँ चिर उल्लास रहता
यह बताता योग दर्शन ।
किंतु ऊपर हो कि भीतर
मनोगोचर या अगोचर,
क्या नही कोई कही ऐसा अमृतघन,
जो धरा पर बरस भर दे भव्य जीवन ?
जाति-वर्गो से निखर जन
अमर प्रीति प्रतीति मे बँध

पुण्य जीवन करें यापन।
औ' धरा हो ज्योति-पावन!

प्रवृत्तिमय होने के कारण यह आध्यात्मिकता स्वभावत आनंदरूपिणी है—इसमे आत्मा का सात्त्विक उल्लास है। भूत-रत जीवन के काले लौहपाश से मुक्त अंतश्चेतना का सोना है। भौतिकता अथवा भूत-लिप्सा मरणोन्मुखी और नाशमयी है और आत्मा का सहज उल्लास लश है। अतएव पत की इस नवीन आध्यात्मिक चेतना मे प्रेम और माधुर्य से समन्वित जीवन की जागृति, सृजन की स्फूर्ति और निर्माण-स्वप्नो का राशि-राशि सौदर्य-वैभव है :

खुला अब ज्योति द्वार,
उठा नव प्रीति द्वार,
सृजन शोभा अपार।
कौन करता ऽभिसार,
धरा पर ज्योति-भरण,
हँसी लो स्वर्ण-किरण।

यह आध्यात्मिकता वैसे तो पंतजी की काव्य-चेतना का सहज विकास था परंतु इसका तात्कालिक कारण उनकी रुग्णता भी है। तीन-चार वर्ष पूर्व पंतजी उस स्थिति पर पहुंच गए थे जहा से मृत्यु दृष्टिगोचर होने लगती है। मृत्यु के उस अंध तमस् को भेदकर नव-जीवन की स्वर्ण-किरण का उद्भास स्वभावतः जीवन-दर्शन मे परिवर्तन की अपेक्षा करता है। वास्तव मे मृत्यु जीवन की भौतिकता के लिए सबसे वडी ललकार है—आज से शतसहस्र वर्ष पूर्व मानव-चेतना के उस नवप्रभात मे वैदिक ऋषि ने मानव को भौतिक लिप्साओ से सावधान करने के लिए ही तो कहा था : 'ओं क्रतो स्मर, कृतं क्रतो स्मर।" मृत्यु की चेतना जीवन के स्थूल तथ्यो को भेदकर उसके सूक्ष्म सत्यो को अनायास ही उद्घाटित कर देती है। अतएव कवि को स्थूल से सूक्ष्म की ओर, वस्तु से आत्मा की ओर प्रेरित करने के लिए उसकी इस रुग्णता ने भी कम-से-कम परिस्थिति का कार्य अवश्य किया है। पत-जैसे व्यक्ति के जीवन मे वैसे ही कटुता के लिए स्थान कम था, जो कुछ कटुता थी वह इस अग्नि मे जलकर निःशेष हो गई—अब उसमे प्राणो का अमृत है, नवजीवन, आशा, उल्लास है।

इस अध्यात्म-चेतना का मूल तत्त्व है समन्वय—व्यष्टि और समष्टि अर्थात् ऊर्ध्व विकास और समदिक् विकास का समन्वय, वहिरंतर अर्थात् भौतिक और आध्यात्मिक जीवन का समन्वय—जिसे पाश्चात्य दर्शन मे विज्ञान और ज्ञान, और प्राच्य दर्शन मे अविद्या (भौतिक ज्ञान) और विद्या (ब्रह्मज्ञान) कहा गया है।

ब्रह्म ज्ञान रे विद्या, भूतो का एकत्व समन्वय,
भौतिक ज्ञान अविद्या, वहुमुख एक सत्य का परिचय।
आज जगत मे उभय रूप तम मे गिरने वाले जन,
ज्योति-केतु ऋषि-दृष्टि करे उन दोनो का सचालन।

बहिरंतर के सत्यो का जगजीवन मे कर परिणय,
ऐहिक आत्मिक वैभव से जन-मंगल हो नि सशय ।

यही मानव का देवत्व है जिसमे कि जीवन के स्वर्णिम वैभव पर आत्मा का अवतरण प्रतिष्ठित है; इसी के आधार पर विश्व-सस्कृति की स्थापना हो सकती है जो इस युग की समस्याओ का एकमात्र समाधान है । आज के द्रोह-रत मानव की यही मुक्ति है । और यह समाधान युग का सामयिक सत्य नही है, युग-युग का शाश्वत सत्य है । मानव-जीवन की चिरतन समस्या का चिरतन समाधान है । आज से सहस्रो वर्ष पूर्व हमारे उपनिषद् इसकी घोपणा कर चुके हैं ·

अन्धं तम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य अविद्यायां रतः'।।
विद्या चाविद्या च यस्तद्वेदो भयं सह ।
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।

व्यक्तित्व-विकास की दृष्टि से पंतजी इस समय जीवन की प्रौढि पर पहुंच गए हैं । जीवन की यह वह अवस्था है जहा स्वय कवि के शब्दो मे

रूप रगो का चित्र जगत्
सिमट, घुल, हो अनुभव-अवगत
विचारो भावो मे परिणत,
नियम चालित लगता संतत ।
भिन्न रुचि प्रकृति नही कल्पित
एकता मे वे आलिंगित
विकर्षण-आकर्षण से नित्य
हो रहा जगजीवन विकसित ।

अर्थात्, 'पल्लव' के सौंदर्य-कवि के मानस का रूप-रग प्रौढि की इस अवस्था मे जीवन के अनुभवो से घुलकर विचार और भाव मे परिणत हो गया है । यौवन-सुलभ रोमानी उल्लास चितन और विचार मे परिणत हो गया है, जीवन के वैचित्र्य मे उसे एकता की अनुभूति होने लगी है । अब विकर्षण और आकर्षण एक ही सत्य के दो रूप होने के कारण एक-दूसरे से भिन्न नही हैं । जीवन और जगत् के विकास मे उन दोनो का समान योग है । इसीलिए आज वह समन्वय की अमोघ ओषधि लेकर विश्व की वर्तमान व्याधियो का उपचार करने के लिए आगे बढता है । वह देखता है कि आज मानव जाति, वर्ण, वर्गों मे विभक्त है । पृथ्वी का वक्ष राष्ट्रो के कटु स्वार्थों से खडित हो रहा है । अर्थ-व्यवस्था सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गई है । जीवन के मदिर हँसती हुई मानव-मूर्ति के स्थान पर यन्त्रो की मूर्ति प्रतिष्ठित है । इस प्रकार जनगण के रक्त-प्राण का शोषण हो रहा है । उधर सामाजिक जीवन पूर्णत विशृखल हो गया है । मध्यवर्ग कृमिव्यूह की तरह क्षुद्र स्वार्थों से ग्रस्त है । अर्थ-दस्यु उच्चवर्ग धन-मद से अंधा हो रहा है । सारा जीवन अहम्मन्यता और अध लालसा से काप रहा है । उधर बौद्धिक दृष्टि से, आज समाज मे चार वर्ग मिलते है—एक बुद्धि-प्राण वर्ग,

दूसरा धर्म-प्राण वर्ग, तीसरा राजनीतिक वर्ग और चौथा वर्ग उन नवशिक्षितो का है जिनका कोई विशिष्ट एवं निश्चित दृष्टिकोण नही है, जो विचारहीन जीवन व्यतीत करते हैं। इनमे पहला वर्ग तर्कों, वादो और सिद्धातो के जाल मे उलझा हुआ है। दूसरा धर्म-प्राण वर्ग धर्म की आत्मा को भूल उसके बाह्य स्थूल रूपो, रीति-नीति और शाखा-पथो से आगे नही बढ पाता। राजनीतिक वर्ग जीवन के रचनात्मक कार्यों को छोड़ ध्वसात्मक कार्यों मे अपनी सारी शक्ति लगा रहा है। रह गया चौथा वर्ग, उसमे सोचने की शक्ति ही नही है। नवशिक्षा ने उसे पूर्णत भाग्यवादी बना दिया है। उसके प्राप्य हैं · स्त्री, धन, पद, मान। बस इनके आगे चेतना की गति नही है।

कवि इस सार्वभौम अध.पतन के कारण पर विचार करता है तो उसे ज्ञात होता है कि इस सपूर्ण ह्रास का मूल कारण है जीवन मे सतुलन (समन्वय) का अभाव।

आज का मानव बाह्य जीवन मे इतना खोया हुआ है कि वह अपने अत:-स्वरूप को सर्वथा भूल गया है। वाष्प, विद्युत् और किरण आज मानव के वाहन हैं, यहा तक कि भूत शक्ति का मूलस्रोत भी आज अणु ने उसे समर्पित कर दिया है। वह वनस्पति और पशु-जगत् का विकास कर सकता है, गर्भाशय मे जीवन-अणु को ऊर्जित करने की क्षमता उसने प्राप्त कर ली है। एक प्रकार से सपूर्ण दिशा-काल पर उसका आधिपत्य है :

दिशा-काल के परिणय का रे मानव आज पुरोहित।

परंतु फिर भी आज वह सर्वाधिक दु खी और विषण्ण है, क्योकि उसका अंतर्जीवन सर्वथा उपेक्षित है—परिणामत उसके बहिर्जीवन और अंतर्जीवन का सामजस्य नष्ट हो गया है।

बहिर्चेतना जागृत जग मे अतर्मानव निद्रित,
बाह्य परिस्थितियाँ जीवित, अंतर्जीवन मूर्च्छित मृत।

जब तक यह सामजस्य फिर से स्थापित नही होता, ससार की समस्या हल नही हो सकती। आज आवश्यकता इस बात की है कि भौतिक वैभव और आत्मिक ऐश्वर्य, विज्ञान और दर्शन के समन्वय द्वारा मानव के वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा की जाय। तभी मानव जातियो और राष्ट्रो मे खडित मानवता—मानवीय एकता—का साक्षात्कार कर सकेगा और तभी आज के मानव की मुक्ति सभव है। इस प्रकार राष्ट्रो और वर्गों की अनेकता मे मानव-एकता की स्थापना—यही कवि के अनुसार आज की विषमताओ का समाधान है। व्यक्तिगत साधनो के क्षेत्र मे कवि और आगे बढता है और अनेकता मे एकता की यह अनुभूति भौतिक तत्त्वो से ऊपर उस परम तत्त्व तक पहुचती है :

अन्न प्राण मन आत्मा केवल
ज्ञान भेद हैं सत्य के परम,
इन सब मे चिर व्याप्त ईश रे,
मुक्त सच्चिदानन्द चिरंतन।

यह कोई नवीन दर्शन नही है, शास्त्रीय शब्दावली मे यह भारतीय अद्वैतवाद

की पीठिका पर यूरोप के मानवतावाद की प्रतिष्ठा है, जो आज से कुछ दशाब्दियो पूर्व कवीन्द्र रवीन्द्र कर चुके थे। वैसे तो अद्वैतवाद और मानववाद दो विशिष्ट दर्शन प्रतीत होते हैं। एक पूर्व का, दूसरा पश्चिम का है; एक प्राचीन, दूसरा नवीन है, इस तरह की कुछ धारणा मन मे होती है। परतु तात्त्विक विश्लेपण करने पर मानववाद अद्वैतवाद का ही एक प्रोद्भास मात्र है। अद्वैतवाद का मूल आधार है अनेकता मे एकता का ज्ञान, अर्थात् यह ज्ञान कि विश्व की प्रतीयमान अनेकता मिथ्या है, उसमे अनुस्यूत एकता (एक तत्त्व) ही सत्य है। एकात व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र मे तो साधक उस एकता (एक तत्त्व) से सीधा साक्षात्कार करने के प्रयत्न मे अनेकता को मिथ्या मानकर उसकी ओर से सर्वथा पराङ्मुख हो गया। परतु जब वह सामाजिक दृष्टिकोण को लेकर साधना मे अग्रसर हुआ तो उसने अनेकता (जगत्) को मिथ्या नही माना—वरन् इस अनेकता की धारणा को मिथ्या माना। स्थूलत जो अनेक नाम-रूप दिखाई देते हैं, वे उसी एक रूप के अनेक प्रतिबिंब होने के कारण उसमे अभिन्न है। इस प्रकार जगत् मे स्व और पर का भाव, महान् और लघु का भाव, उच्च-निम्न का भाव अर्थात् किसी भी प्रकार के पार्थक्य का भाव मिथ्या है। विधाता की सृष्टि के सभी प्राणी—कीरी और कुजर समान हैं। मानव-जगत् मे राजा-रक, धनी-निर्धन, ब्राह्मण और शूद्र—आधुनिक शब्दावली मे जाति, वर्ण, वर्ग आदि का भेद भ्राति है। सभी मानव समान हैं और उस परम शक्ति का प्रतिबिंब होने के कारण मूलत श्रेष्ठ हैं। कबीर और उनके सहयोगी सतो ने इसी आध्यात्मिक मानववाद का अपने जीवन और काव्य मे प्रतिपादन किया था। आधुनिक युग मे कवीन्द्र रवीन्द्र ने पश्चिम की मानववादी विचारधारा से भी प्रभाव ग्रहण कर इसी को नवीन रूप मे प्रस्तुत करते हुए अपने विश्व-बधुत्व सिद्धात का प्रतिपादन किया।

रवीन्द्र का यही विश्व-बधुत्व पंतजी मे विश्व-सस्कृति बन गया है :

> हमे विश्व-सस्कृति रे, भू पर करनी आज प्रतिष्ठित,
> मनुष्यत्व के नव द्रव्यो से मानस-उर कर निर्मित।

रवीन्द्र पर जहा पूर्ववर्ती मानववादी दार्शनिको का प्रभाव था, पत पर वहा परवर्ती मनोवैज्ञानिको एव मनोविश्लेषको का प्रभाव है। इसीलिए उन्होने मानव-एकता की साधना के लिए आत्म-सस्कार को साधन माना है·

> मानवीय एकता जातिगत तन मे करनी स्थापित,
> मन स्वर्ग की किरणो से मानव-मुखश्री कर मंडित।

यह 'मन स्वर्ग' आत्म-सस्कार (Sublimation) का ही काव्यमय नाम है।

पत की इस जीवन-दर्शन की ओर आरभ से ही प्रवृत्ति रही है। 'ज्योत्स्ना' मे उन्होने पहली बार अपने विचारो की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति की है। 'युगात' मे कवि ने इसमे आध्यात्मिक रंग देना आरभ किया था परतु 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मे मार्क्स-दर्शन के प्रभाववश उसकी चिंतन-प्रवृत्ति बहुत-कुछ बहिर्मुखी हो जाने से इस चिंताधारा का स्वाभाविक विकासक्रम टूट गया। अत मे सन् १९४४ की अस्वस्थता

ने उसे पुन अंतर्मुख चिंतन पर बाध्य किया और 'स्वर्णधूलि' तथा 'स्वर्णकिरण' मे उपर्युक्त चिंताधारा अपनी सहज परिणति को प्राप्त हो गई।

प्रकृति

पतजी मूलतः प्रकृति के कवि हैं। उनकी काव्य-चेतना के निर्माण मे प्रकृति का विशेष प्रभाव है, और स्वभावत. उनके कवि-व्यक्तित्व के विकास के साथ-साथ प्रकृति के प्रति उनके दृष्टिकोण मे भी परिवर्तन होता रहा है। 'स्वर्णकिरण' मे जीवन की भाति प्रकृति के प्रति भी कवि की चेतना मे एक सहज सात्त्विक भावना का समावेश हो गया है। ऐंद्रिय उपभोग की भावना, जो पत मे पहले भी अत्यत संयमित थी, इन रचनाओ मे प्राय. नि शेष हो चुकी है और कल्पना के स्थान पर अनुभूति और चिंतन का प्रभुत्व हो गया है। परंतु इसका यह अर्थ नही है कि इन नवीन प्रकृति-चित्रो मे रूप-रंगो का वैभव अब नही रहा—वास्तव मे रूप-रग का इतना प्राचुर्य पहली किसी कृति मे नही मिलता। पल्लव, गुजन, ज्योत्स्ना आदि के रंग इनमे आकर एक ओर पक्के और दूसरी ओर अत्यधिक सूक्ष्म-तरल हो गए हैं, साथ ही उनकी विविधता और वैचित्र्य मे भी वृद्धि हुई है। परंतु इस वैभव और वैचित्र्य मे एक निर्मल सात्त्विक उल्लास है, जो इद्रियो के मासल उपभोग की अभिव्यक्ति न होकर आत्मा की विशदता का प्रकाशन है। कैशोर्य-सुलभ विस्मय और यौवन-सुलभ उपभोग का स्थान अब प्रौढि के संयत-गंभीर आनद ने ले लिया है :

> भूतो की चिर पावनता मे
> हृदय सहज करता अवगाहन।

यह उसे चिंतन की ओर प्रेरित करता है :

> निभृत स्पर्श पाकर विसर्ग का,
> आत्मा गोपन करती चिंतन।

सामाजिक चेतना

तीसरा वर्ग सामाजिक कविताओ का है। इसकी सामाजिक चेतना का आधार वही आत्मपरक मानववाद है जिसका विश्लेषण ऊपर किया जा चुका है।

इस समाज-दर्शन मे जीवन के आतरिक, तत्त्व-गत (Essential) मूल्यो का ही महत्त्व है, वाह्य, औपचारिक मूल्यो का नही। सदाचार, देश-प्रेम, सामाजिक प्रगति, राजनीतिक उत्कर्ष आदि का मूल्याकन भौतिक उपकरणो द्वारा नही वरन् मानसिक एव आत्मिक उपकरणो द्वारा ही किया जा सकता है।

सदाचार

'पतिता' कविता मे, जब कि

> क्रूर लुटेरे हत्यारे कर गये
> बहू को नीच कलकित।

और,

फूटा करम, धरम भी लूटा
शीश हिला रोते सब परिजन,
हा, अभागिनी ! हा कलंकिनी !
खिसक रहे गा-गाकर पुरजन

—तो बहू का पति केशव उसको सस्नेह ग्रहण करता हुआ कहता है :

मन से होते मनुज कलंकित
रज की देह सदा से कलुषित,
प्रेम पतित-पावन है, तुमको
रहने दूँगा मैं न कलंकित।

इसी प्रकार 'परकीया' मे, पतिव्रत की व्याख्या करता हुआ कवि कहता है :

पति-पत्नी का सदाचार भी
नही मात्र परिणय से पावन,
काम-निरत यदि दंपति जीवन
भोग-मात्र का परिणय साधन।
पंकिल जीवन मे पंकज-सी
शोभित आप देह से ऊपर,
नही सत्य जो आप हृदय से
शेष शून्य जग का आडंबर।

आप देखें कि इन दोनो उद्धरणो का साराश बिल्कुल एक है :

मन से होते मनुज कलंकित
रज की देह सदा से कलुषित।

और

वही सत्य जो आप हृदय से।

सामाजिक उत्कर्ष

इसी प्रकार सामाजिक उत्कर्ष के लिए भौतिक विभव की अपेक्षा मानव-गुणो का उत्कर्ष ही अधिक अभिप्रेत है। और मानव-गुणो के उत्कर्ष का मूलाधार है मनोस्वास्थ्य, जिसमे भोग और त्याग, अनुराग और विराग का पूर्ण संतुलन हो, जिसमे सामाजिक एवं लैगिक द्विधा की चेतना न हो। और इस मनोस्वास्थ्य का साधन है आत्म-संस्कार, जिसके लिए प्रीतिमूलक सर्जनात्मक भावनाओ का संवर्धन आवश्यक है :

रति और विरति के पुलिनो मे बहती जीवन-रस की धारा
रति से रस लोगे और विरति से रस का मूल्य चुकाओगे।
नारी में फिर साकार हो रही नव्य चेतना जीवन की
तुम त्याग भोग को सृजन भावना मे फिर नवल डुबाओगे।

राजनीतिक उत्कर्ष

इसी प्रकार भारत के मुक्ति-दिवस १५ अगस्त का स्तवन करता हुआ कवि मुख्यत' उसके भौतिक उत्कर्ष की नही, वरन् उसके आत्मिक ऐश्वर्य की मगल-कामना करता है :

नव जीवन का वैभव जागृत हो जन गण मे
आत्मा का ऐश्वर्य अवतरित मानव मन मे ।
रक्त-सिक्त धरणी का हो दु स्वप्न समापन
शाति प्रीति सुख का भू-स्वर्ग उठे सुर-मोहन ।।

उसकी राष्ट्रीयता अथवा देशभक्ति संकुचित नही है । भारत-मात्र का कल्याण उसका प्रेय नही है—वह भारत के हित को विश्व-हित के साथ एक करके देखता है । भारत की दासता उसकी अपनी दासता नही थी, वह सारी पृथ्वी की नैतिक दासता थी । इसी तरह उसकी मुक्ति एक देश-मात्र की मुक्ति नही है, वह विश्व-जीवन की मुक्ति है, क्योकि उसे विश्वास है कि अपनी महान् सास्कृतिक परंपराओ से समृद्ध भारत एक नवीन सास्कृतिक आलोक का वितरण करेगा । इस प्रसंग से मुझे अचानक ही प्रधानमंत्री के अनेक वक्तव्यो का स्मरण हो आता है । उनमे प्राय: सभी मे इस बात पर बल दिया जाता है कि भारत का कल्याण विश्व-कल्याण के साथ ग्रथित है । वह सकुचित राष्ट्रीयता के मोह मे न पडकर विश्वादर्शों के लिए ही सतत प्रयत्नवान् रहेगा :

"मैंने भारत के हितो का ध्यान रखा है, क्योकि स्वभावतः ही यह मेरा प्रथम कर्तव्य था । मैंने सदैव भारत के हित को विश्व के हित का ही एक अंग माना है । हमारे गुरु महात्मा गाधी ने यही शिक्षा दी है । उन्होंने हमे भारत के स्वातन्त्र्य और गौरव की रक्षा करते हुए दूसरो के साथ शाति और मित्रभाव से रहने का उपदेश दिया है । आज संसार मे स्थान-स्थान पर संघर्ष और द्वेष फैला हुआ है और सामने विनाश दिखाई दे रहा है । इसलिए हमे प्रत्येक ऐसे कार्य का, जिससे यह द्वद्व कम हो, स्वागत करना चाहिए ।" [जवाहरलाल नेहरू]

दोनो के आदर्शों मे कितना निकट साम्य है, और वह केवल संयोग नही है । सदा से ही, साहित्य, इस प्रकार, अपने एकात कक्ष से राजनीति को स्वप्न और आदर्श देता रहता है । इसीलिए तो कवियो को विश्व का नियामक कहा गया है ।

अतीत-प्रेम

इस युग की काव्य-चेतना की एक प्रमुख प्रवृत्ति है अतीत के प्रति आकर्षण । हमारे प्रमुख कवियो मे यह प्रवृत्ति सबसे अधिक प्रखर थी प्रसाद मे । पत को आरंभ से ही अतीत की अपेक्षा भविष्य के प्रति अधिक आकर्षण रहा है । वे सदा से भविष्य के स्वप्न-द्रष्टा कवि रहे हैं । इन नवीन कविताओ मे पहली बार सास्कृतिक पुनरुत्थान की भावना मिलती है । कवि पहली बार अपनी प्राचीन अध्यात्म-पूत सस्कृति—वेद, उप-निषद्, सीता, लक्ष्मण आदि की ओर श्रद्धा और संभ्रम से आकृष्ट हुआ है । 'युगवाणी'

और 'ग्राम्या' आदि में प्राचीन के प्रति एक वैज्ञानिक, ऐतिहासिक अध्ययन का भाव था परन्तु इन कविताओ मे आस्तिक भाव भी मिलता है। 'स्वर्णधूलि' के आर्षवाणी कविता-संग्रह मे वैदिक ऋचाओ का भव्य अनुवाद है। इन कविताओ द्वारा कवि आज के भूत-त्रस्त जीवन मे शाति का सचार करने के लिए मानो भारत की भूत-पावनी सस्कृति की आत्मा का आवाहन करता है .

शाति शाति दे हमे शाति हो व्यापक उज्ज्वल,
शाति धाम यह धरा बने, हो फिर जन-मगल।

बहुत-सी कविताओ मे उपनिषद्-मंत्रो के प्रेरणा-ततु विद्यमान हैं। कही उपनिषद् के 'द्वासुपर्णा' आदि रूपको को ग्रहण किया गया है और कही उनके आर्षवचनो को उद्धृत किया गया है। 'स्वर्णकिरण' मे अशोक-वन नाम का एक स्वगत-काव्य वैदेही की मनोगाथा का अध्यात्मपरक विश्लेषण-चित्रण करता है .

नित सत् राम, शक्ति चित् सीता
अखिल सृष्टि आनंद प्रणीता
प्रकृति शिखा-सी उठे, शक्ति चित्
उतरे, निखिल जगत् मे शिक्षा।

इसी प्रकार भारत के समृद्ध साहित्य 'मेघदूत', 'कुमारसभव' आदि के शतरग कल्पना-चित्र भी इन कविताओ मे स्थान-स्थान पर मणियो की भाति टके हुए हैं :

सम्भव, पूरा तुम्हारी द्रोणी
किन्नर-मिथुनो से हो कूजित,
छाया निभृत गुहाएँ उन्मद
रति की सौरभ से समुच्छ्वसित
× × ×
अब भी ऊषा वहाँ दीखती
वधू उमा के मुख-सी लज्जित
बढती चंद्र-कला भी गिरिजा-सी
हो गिरि के क्रोड मे उदित।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, आधुनिक युग के विधायक कवियो मे पत को पुरातन के प्रति सबसे कम मोह रहा है। इसका कारण यह है कि उन पर पाश्चात्य शिक्षा-सभ्यता का प्रभाव अपने अन्य सहयोगियो की अपेक्षा अधिक है। उसका रहन-सहन अब तक बहुत-कुछ पश्चिमी ढग का रहा है। कालिदास और भवभूति की अपेक्षा उन्होने शेली, कीट्स और टेनिसन से अधिक काव्य-प्रेरणा प्राप्त की है और उपनिषद् और षड्दर्शन की अपेक्षा हीगेल और मार्क्स का उनकी विचारधारा पर अधिक प्रभाव पडा है। प्रसाद, निराला और महादेवी जब भारतीय दर्शन और साहित्य के द्वारा अपने व्यक्तित्व का सवर्द्धन-सस्कार करते थे, उस समय पत को हीगेल और मार्क्स का अध्ययन अधिक अनुकूल पडता था। 'स्वर्णधूलि' की एक कविता 'ग्रामीण' मे पत ने अपने प्रति अभारतीयता के आक्षेप का उत्तर देने का प्रयत्न किया है :

भारतीय ही नही बल्कि मैं
हूँ ग्रामीण हृदय के भीतर।

फिर भी इसमें संदेह नही है कि इस युग के वय.प्राप्त कवियो के देखे पंत के व्यक्तित्व मे भारतीयता का अंश अपेक्षाकृत सबसे कम रहा है। परतु अब जीवन की प्रौढि पर पहुंचकर वे आस्थापूर्वक भारतीय संस्कृति के अतीत गौरव की ओर आकृष्ट हुए हैं और यह शुभ लक्षण है। इससे उनके कला-वैभव मे स्थैर्य आयेगा।

काव्य-गुण

विचार-सामग्री (Thought-Content) का परीक्षण कर लेने के उपरांत दूसरा और महत्तर प्रश्न है काव्य-गुण का। और काव्य के मूल्याकन मे उसी का सर्वाधिक महत्त्व है क्योकि जहा तक उपर्युक्त सैद्धांतिक सामग्री का सबध है, मेरी धारणा है कि उसके लिए गद्य भी सफल माध्यम हो सकता है, और दूसरे उसमे कोई विशेष मौलिकता भी नही है। उसका अध्ययन तो कवि के व्यक्तित्व-विकास के लिए आवश्यक था और कवि-मानस का साक्षात्कार करने के निमित्त ही हमने उसका विवेचन भी किया। पत की नवील कविता का मूल्य आकने के लिए उनका काव्य-गुण ही परखना होगा। अर्थात् यह देखना होगा कि उनमे चित्त को चमत्कृत करने की कितनी क्षमता है, दूसरे शब्दो मे इन कविताओ का मन पर कहा तक प्रभाव पड़ता है और उस प्रभाव का स्वरूप क्या है। उसमें सूक्ष्म परिष्कार है अथवा मथनकारी तीव्रता या प्राणो को उद्वेलित करने वाली शक्ति या फिर कल्पना को समृद्ध एव विचार-चिंतन को प्रेरित करने की क्षमता। इस दृष्टि से विचार करने पर हमारे सम्मुख सबसे पहले 'स्वर्णधूलि' की मर्मकथा, प्रणयकुज, शरद्-चाँदनी, मर्म-व्यथा, स्वप्न-बधन, स्वप्नदेही, प्रणयाकाक्षा, रस-स्रवण आदि कविताए आती हैं। ये सभी कविताएं शुद्ध गीति-काव्य के सुदर उदाहरण हैं और रस-व्यजना की दृष्टि से इन सग्रहो की मधुरतम कृतिया हैं। इनमे आत्म-रस से भीगी, ऐंद्रियता के कर्दम से मुक्त एक शात-स्निग्धता मिलती है। ये कविताए परिष्कृत आत्मानुभूति की सहज उद्गीतियां हैं। सहजता का गुण, जो गीति-कविता का मूल तत्त्व है, वास्तव मे इन्ही कविताओ मे मिलता है। शेष कविताओ मे (भिन्न प्रकार का महत्त्व होते हुए भी) चिंतन, विचार और कल्पना की जकडबंदी होने के कारण आत्म-द्रव के तारल्य का अभाव है। परतु उपर्युक्त कविताओ का सार-तत्त्व यह आत्म-द्रव ही है। इस आत्म-द्रव का विश्लेषण एक स्थान पर कवि ने स्वयं किया है :

यह विदेह प्राणो का बंधन,
अंतर्ज्वाला से तपता मन,
मुग्ध हृदय सौंदर्य-ज्योति को
दग्ध कामना करता अर्पण।

अर्थात् इस आत्म-द्रव के उपादान तत्त्व हैं सौंदर्य-मोह, देह की वासना से मुक्त हल्की-सी दग्ध-काम प्रीति, और इन दोनो के ऊपर सूक्ष्म जाली की तरह पुरी हुई अतर्व्यथा।

कुछ उदाहरण लीजिए .

१. प्राणों में चिर व्यथा बाँध दी।
क्यो चिर दग्ध हृदय को तुमने
वृथा प्रणय की अमर साध दी।
पर्वत को जल, दारु को अनल,
वारिद को दी विद्युत् चंचल
फूल को सुरभि, सुरभि को विकल
उडने की इच्छा अबाध दी।।

२. बाँध लिया तुमने प्राणो को फूलो के बंधन मे,
एक मधुर जीवित आभा-सी लिपट गईं तुम मन मे
बाँध लिया तुमने मुझको स्वप्नो के आलिगन मे।

कुछ प्रकृति-कविताएं भी इस प्रकार के आत्म-स्पर्शों से गुदगुदा उठी हैं :

मानदंड भू के अखंड हे,
पुण्य धरा के स्वर्गारोहण।
प्रिय हिमाद्रि तुमको हिमकण से
घेरे मेरे जीवन के क्षण।
मुझ अंचल-वासी को तुमने
शैशव मे आशी दी पावन।
नभ में नयनो को खो, तब से
स्वप्नो का अभिलाषी जीवन।

इसके अतिरिक्त अन्य कविताओ मे हार्दिक तत्त्व की न्यूनता है, परंतु फिर भी कुछ कविताओ का महत्त्व असंदिग्ध है। यह महत्त्व गभीर चिंतन, प्रौढ विचार और ऐश्वर्यमयी कल्पना पर आश्रित है। इस प्रकार की कविताओ मे सर्वश्रेष्ठ है— स्वर्णोदय : जो इन नवीन संग्रहो की सबसे महान् रचना है और पंत की गुरुतम कृतियो मे से है। इसमे मानव की जीवन-यात्रा : जन्म, शैशव, प्रौढ़ि, वार्धक्य और देहांत का गंभीर मनोवैज्ञानिक-दार्शनिक एवं काव्यमय विवेचन है। परिस्थितियो की अनेकरूपता के कारण इसका क्षेत्र अत्यंत व्यापक है और कवि ने जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओ का समर्थ चित्रण कर अपनी परिपक्व प्रतिभा का परिचय दिया है। वास्तव मे इस कविता मे एक प्रकार की महाकाव्य-गरिमा है। इसके अतिरिक्त हिमाद्रि, हिमाद्रि और समुद्र, इंद्रधनुष, द्वा-सुपर्णा, अशोकवन और उधर सामंजस्य, चौथी भूख आदि कविताएं भी महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रभाव का स्वरूप और प्रेरणा

दूसरा प्रश्न स्वभावत: यह उठता है कि इन कविताओं के प्रभाव का स्वरूप क्या है ?—और प्रभाव-विश्लेषण के लिए हमें उनकी मूल प्रेरणा का अनुसंधान करना होगा। अस्तु ! स्पष्टत: ही ये कविताएं रसवादी नही हैं। अर्थात् ये हमारे

हृदय में वासना-रूप से स्थित प्रेम, उत्साह, शोक, विस्मय, भय आदि स्थायी अथवा उनके सहकारी भावो को प्रत्यक्ष रूप से आदोलित करती हुई हमारे चित्त मे तीव्र संवेदनमय आनद की सृष्टि नही करती। उधर इनका प्रभाव एकांत बौद्धिक भी नही है जैसा कि प्राचीन आलंकारिक काव्य का जो गणनात्मक कल्पना को उत्तेजित करता है, अथवा विदेश की नवीन बुद्धि वादी कविता का जो विचार को झकझोरती है। इसके साथ ही प्राचीन दार्शनिक कविताओं का प्रभाव भी इनसे भिन्न होता है। जैसा कि अन्यत्र कहा गया है, इन कविताओं के उत्पादन तत्त्व तीन हैं . लोक-कल्याणमय दार्शनिक चिंतन, उज्ज्वल रंगीन कल्पना और मधुर सौंदर्य-भावना। अतएव इनका प्रभाव भी तदनुकूल ही होगा। इनमे से पहले तत्त्व का प्रभाव एक प्रकार की बौद्धिक शांति और दूसरे का विस्मय और तीसरे का एक प्रकार की स्निग्ध माधुरी होती है; और ये तीनो मिल कर एक मधुर बौद्धिक शाति को जन्म देते हैं। मैंने यहा बौद्धिक शाति शब्द का प्रयोग जान-बूझकर इस आशय से किया है कि यह शाति आध्यात्मिक शाति से भिन्न है। आध्यात्मिक शांति का अर्थ है शुद्ध आत्मानुभूति की स्थिति, और इन कविताओ के आस्वादन में बौद्धिक चेतना का सर्वथा लोप नही होता। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि बौद्धिक शाति से क्या अभिप्राय है ? बौद्धिक शाति से मेरा अभिप्राय उस शाति से है जो बौद्धिक विश्वास के अवलंबन से प्राप्त होती है—दूसरे शब्दो मे वह शाति जो कि आध्यात्मिक विश्वासो को बुद्धि द्वारा गहण करने से प्राप्त होती है। कहने की आवश्यकता नही कि यह शाति वास्तविक एवं पूर्ण शांति नही है, आशिक और एक प्रकार का शांत्याभास है। परंतु यह इन कविताओं का दोष नही है, यह तो आज के बुद्धि-प्राण मानव-जीवन की सबसे बडी दुर्घटना है। वह इससे आगे बढ़ने मे असमर्थ है क्योकि वह बुद्धि को वश में नही कर सकता और जब तक बुद्धि की विजय रहेगी सच्ची आध्यात्मिक शांति संभव नही है। और फिर, पंत जैसे व्यक्ति के लिए यह और भी दुर्लभ है क्योकि पंत के व्यक्तित्व का दुर्बलतम अंग है उनकी अनुभूति। पंत ने जीवन का भोग कम किया है और अवलोकन अधिक। यहां पर मुझे 'गुंजन' की ये पंक्तिया फिर याद आ जाती हैं :

सुनता हूँ उस निस्तल जल मे
रहती मछली मोती वाली
पर मुझे डूबने का भय है,
भाती तट की चल जल-माली।

यह पंत की कदाचित् अचेतन स्वीकारोक्ति है।

निस्तल जल गहन-गंभीर विश्व-जीवन है, मोती वाली मछली है जीवन का सत्य। जीवन के सत्य को पाने के लिए जीवन मे डूबना अनिवार्य है। परंतु पतजी यह नही कर पाये। वे तो तट पर बैठे हुए वीचि-माला अर्थात् जीवन और जगत् के मनोरम रूपो का अवलोकन करते रहे। आरंभ में उनकी दृष्टि मे विस्मय और मोह था जो मन को गुदगुदाता और कल्पना को उद्बुद्ध करता था; अब उसमे चिंतन और विचार का मिश्रण हो गया है। परंतु उस जीवन-सत्य को प्राप्त करने के लिए तो प्रबल अनुभूति,

संपूर्ण राग-द्वेषमय जीवन (Passionate living) अपेक्षित है। पंतजी के व्यक्तित्व का यह अश सदा दुर्बल रहा है, इसीलिए उनके काव्य मे प्राण-रस की क्षीणता है जिसकी उन्होने समृद्ध कल्पना, गंभीर विचार और सूक्ष्म चितन द्वारा बहुत-कुछ क्षति-पूर्ति करने का प्रयत्न किया है। पर क्या प्राण-रस की क्षतिपूर्ति सभव है।

कला

कला का प्रयोग यहा मैं काव्य-शिल्प के अर्थ मे कर रहा हू। शिल्प बहुत-कुछ साधना की वस्तु है। उसके लिए परिष्कृत रुचि के अतिरिक्त कल्पना की समृद्धि और प्रयत्न साधन अपेक्षित होता है। पत मे ये तीनो गुण प्रभूत मात्रा मे हैं, अतएव उनकी कला सदैव विकासशील रही है और 'स्वर्णकिरण' मे वह अपनी चरम प्रौढ़ि पर पहुच गई है। यहां प्रौढि तीन दिशाओ मे लक्षित होती है : काव्य-सामग्री की समृद्धि, परिष्कार और विस्तार, प्रयोग-कौशल की सूक्ष्मता और अभिव्यक्ति की परि-पक्वता। 'स्वर्णकिरण' मे पत ने अत्यंत समृद्ध काव्य-सामग्री का प्रयोग किया है। अनेक कविताओ का कलेवर रूप-रग के ऐश्वर्य से जगमगा रहा है :

कलरव स्वप्नातप, सुरधनु पट
शशि मुख, हिमस्मित गात्र ले श्वसित,
षड्ऋतु देती थी परिक्रमा,
अप्सरियो-सी सुरपति प्रेषित।
शरद्-चद्रिका हो जाती थी
स्वप्नो के शृगो पर विजडित—
हिम की परियो का अञ्चल उड
जग को कर लेता था परिवृत।

× × ×

चूम विकच नलिनी उर गूंजे गीत पंख मधुकर दल,
नृत्य तरगित बहे स्रोत, ज्यो मुखरित भू-पग-पायल
विहँसे हिमकण किरण-गर्भ, स्वर्गिक जीवन के से क्षण,
खोल तृणो के पुलक पख, उडने को भू-रज के कण।

उपर्युक्त छंदो मे चद्रमा और चादनी की अपार चादी, किरणो और आतप का राशि-राशि सोना और प्रकाश, सुरधनु के मणि-माणिक, स्वप्नो की पल-पल परिवर्तित छाया-प्रकाश की आख-मिचौनी, और गीत, नृत्य, पायल का प्रभूत ऐश्वर्य बिखरा हुआ है। पत का प्राकृतिक वैभव पर तो पूर्ण अधिकार रहा ही है; प्रकृति के रम्य रूप—आकाश, चद्र, सूर्य, तारागण, आतप, चादनी, इन्द्रधनुष, असख्य, फूल, पक्षी, वृक्ष और लताए, पर्वत, नदी, निर्झर और सागर, सोना-चादी, मणि-माणिक्य सभी अपने रूप-रगो का वैभव लिये, कवि-कल्पना के सकेतो के साथ नाचते हैं। 'स्वर्णकिरण' मे यह क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया है और रूप-रंग के रोमानी उपकरणो के अतिरिक्त यहा आध्यात्मिक जीवन के मागलिक उपकरणो—उदाहरण के लिए मदिर, कलश, दीप-

शिखा, यज्ञ-धूम, हवि, नीराजन, रजत घंटियां, अभिषेक, कर्पूर, गंगा-जल, अमृत आदि का भी यथेष्ट प्रयोग है :

१. चद्रातप-सी स्निग्ध नीलिमा
यज्ञ - धूम-सी छाई ऊपर।
२. दीपशिखा-सी जगे चेतना
मिट्टी के दीपक से उठ कर।
३. आज समस्त विश्व-मदिर-सा
लगता एक अखंड चिरंतन,
सुख-दुख, जन्म-मरण नीराजन।
करते, कही नही परिवर्तन।

'स्वर्णधूलि' की कुछ कविताओ मे नित्य-प्रति के भौतिक जीवन के साधारण उपकरणो का उपयोग हुआ है, परंतु वे इस कालखड की प्रतिनिधि रचनाए नही है। 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' की नैत्यिक जीवन की स्थूल सामग्री की ओर से विमुख होकर कवि फिर अपने चिर-परिचित रोमानी क्षेत्र मे लौट आया है, जिस पर अब उसका अधिकार और भी व्यापक हो गया है। छायावादी कवियो में सबसे सीमित क्षेत्र सुश्री महादेवी वर्मा का है। उन्होने एक ओर तो प्रकृति के थोडे-से सांध्यकालीन उपकरणों को ग्रहण किया है, और दूसरी ओर पूजा की सामग्री को। अतएव उनके प्रतीकों और उपमानो मे प्राय. पुनरावृत्ति मिलती है। पंत का क्षेत्र अपेक्षाकृत कही अधिक विस्तृत है। यह सत्य है कि उन्होने भी केवल मनोरम रूपों का ही ग्रहण किया है—प्रसाद और निराला की भाति विराट् और अनगढ रूपो को नही, परतु उन्होंने इस क्षति की पूर्ति अपनी सामग्री के सूक्ष्म नियोजन द्वारा कर ली है। वास्तव मे चयन ।、नियोजन की इतनी सूक्ष्मता, रूप और रग का इतना बारीक मिश्रण अन्यत्र नही मिलता।.

स्वर्ण-रजत के पत्रो की रत्नच्छाया मे सुदर,
रजत घटियो सा, सुवर्ण किरणो का झरता निर्झर।
सिहर इन्द्र-धनुषी लहरो मे इन्द्र नीलिमा का सर
गलित-मोतियो के पीतोज्ज्वल फेनो से जाता भर।
× × ×
शशि किरणो के नभ के नीचे, उर के सुख से चंचल
तुहिनो का छाया-वन नित कँपता रहता तारोज्ज्वल।

उपर्युक्त पक्तियो मे आप देखिये कि सौंदर्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुओ के प्रति पंत का ऐंद्रिय सवेदन कितना सचेत और तीव्र है!

इन रचनाओ मे कवि की अभिव्यक्ति भी स्वभावत. अत्यंत परिपक्व और प्रौढ हो गई है। उनकी भाषा मे सौंदर्य के सूक्ष्म-तरल संवेदनो को अभिव्यक्त करने की शक्ति आरंभ से ही रही है। 'ज्योत्स्ना' और 'युगान्त' मे आकर उसमे गभीर सामाजिक दार्शनिक तत्त्वो को व्यक्त करने की क्षमता भी आ गई थी। 'युगवाणी'

और 'ग्राम्या' मे अभिव्यक्ति मे जनसाधारण के नैतिक जीवन की सरलता और ऋजुता लाने का प्रयत्न किया गया, जो 'स्वर्णधूलि' की अनेक सामाजिक कविताओ मे चलता रहा :

फूटा करम धरम भी लूटा।
शीश हिला रोते सब परिजन—
हा अभागिनी, हा कलंकिनी।
खिसक रहे गा-गा कर पुरजन।

× × ×

सूट-बूट मे सजे-धजे तुम
डाल गले फाँसी का फदा
तुम्हे कहे जो भारतीय, वह
है दो आँखो वाला अन्धा।

परतु 'स्वर्णकिरण' की कविताओ मे, इधर 'स्वर्णधूलि' के वैदिक ऋचाओ के अनुवादो मे कवि ने गहन आध्यात्मिक तथ्यो को व्यक्त करने की एक नवीन शक्ति का उपार्जन किया है। इस नवीन शक्ति का रहस्य है प्रसंगानुकूल आर्ष शब्दावली का प्रयोग·

ब्रह्म ज्ञान रे विद्या, भूतो का एकत्व, समन्वय,
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय।
आज जगत् मे उभय रूप तम मे गिरने वाले जन,
ज्योति-केतु ऋषि-दृष्टि, करे उन दोनो का सचालन।

श्रवण गगन मे गूंज रहे स्वर
ॐ क्रतो स्मर कृत क्रतो स्मर
सृजन हुताशन को हवि भास्वर
बनी पुनः जीवन रज नश्वर।

भगवतीचरण वर्मा के काव्य-रूपक

कुछ समय पूर्व भगवतीबाबू ने दिल्ली विश्वविद्यालय की एक साहित्य-गोष्ठी मे कहा था—"मैं मुख्य रूप से उपन्यासकार हूं, कवि नही; आज मेरा उपन्यासकार ही सजग रह गया है, कविता मे लगाव छूट गया है।" मेरी धारणा है कि आधुनिक हिंदी-साहित्य का जागरूक अध्येता उनकी इस आत्म-समीक्षा से विशेष सहमत नही होगा। इसमे सदेह नही कि भगवतीबाबू हिंदी के उत्कृष्ट उपन्यासकार हैं; उनकी 'चित्रलेखा' और 'टेढे-मेढे रास्ते' हिंदी के श्रेष्ठ उपन्यास हैं, उनके एकाकी और कहानिया भी निश्चय ही सफल कला-कृतिया हैं, परतु उनका प्रथम प्रणय कविता के साथ ही हुआ था, और आप जानते हैं कि प्रथम प्रणय का प्रेरक प्रभाव अनिवार्यत गंभीर एव जीवन-व्यापी होता है। अतएव उनका कवि उपन्यासकार अथवा नाटककार से पीछे कभी नही रहा और न आज है, कवि तो वास्तव मे उन दोनो का प्रेरक रहा है।

भगवतीचरण वर्मा के काव्य का जन्म और प्रथम विकास छायावाद-युग मे हुआ। वह युग अपने मूल रूप मे वैयक्तिक चेतना की स्फूर्ति का युग था। कवि का अहं, जो शताब्दियो से—कभी काव्य और कभी नीति तथा आचार की रूढियो मे—जकडा पडा था, स्वच्छंद अभिव्यक्ति मे फूट उठा। इस वैयक्तिक चेतना के उस समय दो रूप थे· एक आस्तिक रूप, जिसमे अह की विश्वासमयी रागात्मक प्रवृत्तियो का प्राधान्य था, यह अह की रचनात्मक अभिव्यक्ति थी। दूसरा नास्तिक रूप था, जिसमे अह की विद्वेषमयी प्रवृत्तियो का—संदेह, दर्प, विद्रोह, घृणा, ध्वंस आदि का—प्राधान्य था, यह यहं का ध्वसात्मक रूप था। एक मे आत्मा का सात्त्विक शुभ्र-कोमल प्रकाश था, दूसरे मे मन और देह की राजसिक-तामसिक शक्ति। युग की परिस्थितिया पहले रूप के ही अधिक अनुकूल थी। युगपुरुष गांधी की अहिंसा उम युग की चेतना की प्रतीक थी, अतएव छायावाद मे वैयक्तिक चेतना के आस्तिक अधिमानसिक रूप का ही विकास अधिक हुआ। पत, महादेवी आदि सुकुमार कवियों ने तो स्वभाव से ही उसे आत्मसात् कर लिया। प्रसाद और निराला जैसे उद्दाम कवियो ने भी जीवन की अतर्मुखी साधना और उस पर आश्रित सूक्ष्मतर अधिमानसिक मूल्यो को ही स्वीकार किया। परंतु देह का पक्ष भी अनभिव्यक्त नही रहा, रह भी नही सकता था, क्योकि राजनीतिक और सामाजिक असफलता के उस युग मे भौतिक कुठाएं भी इतनी प्रबल थी कि उनका उन्नयन सर्वदा संभव नही था। स्वयं प्रसादजी की कुछ कविताओ मे, निराला की अनेक कृतियो मे और भगवतीचरण वर्मा की अधिकांश रचनाओ मे उस

युग की वैयक्तिक चेतना की रक्त-मास (देह) की प्रवृत्तियो को वाणी मिली। बाद मे बच्चन और अंचल आदि कवियो ने भी इस स्वर को पकड लिया। सक्षेप मे भगवतीबाबू की कविता के उद्भव का पृष्ठाधार यही है।

भगवतीबाबू की कविता का प्राण-तत्त्व अहकार है। किंतु इसमे आत्मा की अद्वैत स्थिति अथवा सोऽहं की अनुभूति नही है, वरन् भौतिक कुठाओ से पीडित मन और देह के असफल विद्रोह की हुकार है। इस कवि की काव्य-चेतना का निर्माण बीसवी शताब्दी के द्वितीय और तृतीय दशाब्दो मे हुआ है। दो प्रबल देश-व्यापी सघर्षों की विफलता के साक्षी ये पंद्रह-बीस वर्ष भारतीय जीवन के लिए अतर्मन्थन और आतरिक विप्लव के वर्ष थे। देश ने समष्टि-रूप से विश्वासमयी प्रवृत्तियो का सगठन करके गाधी के साथ अपनी पराजय का अहिंसा मे उन्नयन करने का सफल-असफल प्रयत्न किया, किंतु ऐसे व्यक्तियो का भी अभाव नही था जो विश्वास के पुष्ट आधार के अभाव मे उन्नयन की चिंता छोड जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव का रस और विप पीते रहे। भगवतीबाबू ने इसी वर्ग की चेतना को काव्य की वाणी दी। उन्होने चिंतन अथवा दर्शन का बौद्धिक कवच धारण नही किया। उनके सस्कार ही उसके अनुकूल नही थे, हरि-भक्ति के लिए भी तो भगवान् की कृपा की अपेक्षा होती है। अतएव प्रत्यक्ष अनुभव की आधारभूत मूल मानव-वृत्तियो को ही उन्होने अपनी कविता का विपय बनाया। स्थायी अहकार और उसकी परिधि मे सचरण करने वाली प्रेम, घृणा, दर्प, ग्लानि आदि मौलिक मनोवृत्तिया प्रकृत रूप मे अपनी सपूर्ण माधुरी और कटुता को लिये उनके काव्य मे अभिव्यक्त हैं। इस कविता का विचारपक्ष दुर्बल नही है किंतु वह अनुभूति का सहज विकास है। विचार का इस कविता मे अनुभूति के साथ प्रेरक-प्रेरित संबंध है। इस कवि ने कही भी शास्त्र से विचार उधार लेकर अपनी अनुभूति की स्वच्छद गति को बाधने का प्रयत्न नही किया, कही भी इसने सस्कृतिवादियो की तरह दार्शनिक सत्यो के साथ, अथवा प्रगति-प्रयोगवादियो की तरह अर्थशास्त्र या मनोविज्ञान के तथ्यो के साथ प्रयत्नपूर्वक रागात्मक सबध स्थापित करने की चेष्टा नही की। जीवन के टेढे-मेढे रास्ते पर कटु-मधुर अनुभवो को पूरी तरह भोगता हुआ यह अनेक विचारधाराओ मे होकर गुजरता रहा है : अद्वैतवाद, मानववाद, गाधीवाद, मार्क्सवाद, नियतिवाद, प्रवृत्तिवाद सभी मे से वह गुजर चुका है; परंतु किसी एक ने न तो उसको अभिभूत कर लिया है, और न वही किसी एक को पकड कर बैठ गया है। हार्दिक विश्वास के अभाव मे कभी भी उसने बौद्धिक विश्वास का अपनी चेतना पर आरोपण नही होने दिया। यह ठीक है कि विश्वास के अभाव मे जीवन के सत्य का साक्षात्कार संभव नही है, और सत्य के साक्षात्कार के अभाव मे प्रख्या और उपाख्या दोनो मे से किसी के लिए विराट् तत्त्व की उपलब्धि संभव नही है; अर्थात् व्यक्ति को दार्शनिक अथवा साहित्यिक किसी स्तर पर महत्तत्त्व की सिद्धि नही हो सकती। किंतु विराट् अथवा महत् से नीचे धरातल पर भी यदि अनुभूति के जीवंत मासल स्पर्शों से यह कवि अपने काव्य की सहज उष्णता को बनाये रख सका है, तो वह भी कम सफलता नही है।

इस आधार-फलक पर अब प्रस्तुत काव्य-रूपको की समीक्षा करना सहज होगा। ये काव्य-रूपक तीन हैं : महाकाल, द्रौपदी और कर्ण। महाकाल प्रतीक-रूपक है। महाकाल चेतना-विशिष्ट शक्ति-पुज का प्रतीक है। उसकी कल्पना मे कवि ने विज्ञान और दर्शन दोनो का आश्रय लिया है। विज्ञान के अनुसार यह ब्रह्माड शक्ति का एक वृहत् पुज है, जो सकुचन और विस्तारण की क्रिया के कारण निरंतर गतिशील है। किंतु केवल शक्ति तो अधी गति-मात्र है, वह सृष्टि-विकास के इस सुयोजित क्रम को किस प्रकार पूर्ण कर सकती है! अतएव आस्तिक दर्शन के आधार पर कवि ने उसमे चेतना की अवतारणा कर ली है। शक्ति-पुज महाकाल के गर्भ से क्रमश. सृष्टि का उदय होता है और प्राणि-श्रेष्ठ मानव अपने व्यक्तित्व मे निर्माण के साथ विनाश की प्रवृत्तिया लेकर उत्तरोत्तर विकास करता हुआ अत मे अपनी अहंता मे नष्ट हो जाता है। सब-कुछ फिर महाकाल मे विलीन हो जाता है। उस समय चेतना थकी-सी, पराजित-सी महाकाल मे लय हो जाती है और एक बार विस्तृत शक्ति-पुज निष्क्रिय-सा रह जाता है, जहां चेतना सोयी हुई-सी है। इस प्रकार इस रूपक का ध्वन्यर्थ लगभग यही हुआ कि सृजन असत् है, विनाश ही सत् है। यह निश्चय ही निराशावाद का प्रतिपादन है। भावना के धरातल पर यह रूपक मानव-अहकार के पराजय की स्वीकृति है, और कवि अत मे अधकार के इस बादल मे यही रुपहली रेखा ढूढने का प्रयत्न करता भी है। किंतु जैसा कि मैंने आरभ मे ही स्पष्ट कर दिया है, यह कवि संदेश देने के लिए कभी काव्य-रचना नही करता; जीवनानुभव की प्रबल अभिव्यक्ति ही इसका उद्देश्य रहता है। आज का जीवन निराशा से आच्छन्न है। अतएव आज का कवि निराशा के अधकार का सजीव अकन मात्र करके भी समर्थ काव्य की सृष्टि तो कर ही सकता है। रूपक होने के कारण महाकाल मे मानवीय रागात्मकता का तो बहुत-कुछ अभाव है, क्योकि वह तो रूपक की अनिवार्य परिसीमा है, किंतु अहवाद से प्रेरित कवि की ऊर्जस्वित कल्पना ने काव्य के सपूर्ण कलेवर मे प्राण-शक्ति का संचार कर दिया है। गंभीर ध्वनि-घोषो मे निनादित इस रेडियो-नाटक का श्रोता के मन पर अत्यत प्रबल प्रभाव पडा होगा, इसकी कल्पना मैं बिना सुने कर सकता हू; क्योकि कवि ने अपने विराट् अवाक् कल्पना-चित्रो को नाद-गाभीर्य मे मूर्त करने का अत्यंत सफल प्रयत्न किया है। वस्तु-सगठन की दृष्टि मे मैं इसे अन्य दो नाटको की अपेक्षा अधिक सफल मानता हूं।

'द्रौपदी' मे महाभारत के इस आग्नेय पात्र का आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश मे आख्यान किया गया है। महाभारत के आकाश मे द्रौपदी की प्रतिहिंसा उल्का के समान ज्वलत है। आखिरकार इस सर्वभक्षी प्रतिहिंसा का मूल आधार क्या था? स्वभाव से कोमल नारी का यह विद्रूप कैसा था? भारत का आस्तिक हृदय इसे क्षत्राणी का सहज दर्प या मानव-स्वभाव के वैचित्र्य का ही एक अतर्क्य रूप मान कर स्वीकार करता रहा है। परतु आज का युग तो स्वभाव का भी कार्य-कारण परपरा से विश्लेषण किये बिना सतुष्ट नही होता। चेतन और अचेतन मे वह प्रत्येक मानसिक घटना का कारण ढूढ निकालता है। द्रौपदी की प्रतिहिंसा के पीछे भी एक निश्चित कार्य-कारण-शृंखला थी। कवि के अनुसार द्रौपदी का जीवन अत्याचार का सचित

पुज था। पहले तो पिता की प्रतिहिंसा का प्रतीक मात्र उसका स्वयवर ही नारी के स्वयंवरण-अधिकार पर कठोर व्यग्य था। द्रुपद के अपमान का प्रतिशोध करने मे समर्थ कोई भी शूर पुरस्कार के रूप मे द्रौपदी का वरण कर सकता था। अर्थात्, द्रौपदी का अस्तित्व एक जड पुरस्कार के अतिरिक्त और क्या था ! फिर दूसरा भयंकर व्यंग्य कुती का वह आशीर्वाद था, जिसके द्वारा उसे पांच पतियो की भार्या बनना पडा। और फिर, विवाह के उपरात तो उसका जीवन यातनाओ और अपमानो का भीषण अट्टहास ही बन गया। इस प्रकार द्रौपदी का चिर-पीडित नारीत्व उसके अवचेतन मे बैठकर निरतर घृणा और प्रतिहिंसा के विष का सचय करता रहा जो महाभारत पर विषाक्त धूम बन कर छा गया। सामान्यत हमारे विश्वासमय सस्कार द्रौपदी के स्वयं-वर को पिता के शौर्य-प्रेम और पंचपति-वरण को मातृ-भक्ति का प्रतीक मान कर ग्रहण करते रहे हैं। आस्तिक कवि के लिए पंचपतिव्रत से उसका गौरव पचगुणा हो जाता है। 'जयभारत' का कवि कृष्ण के श्रीमुख से द्रौपदी की प्रशस्ति मे कहता है :

पाँचगुना पातिव्रत पाला यहाँ जिसने
मेरी उस एक शीलशालिनी बहिन की
घर्षणा का, कर्षणा का यह परिणाम है। (जयभारत)

किंतु इतनी आस्तिकता क्या आज साधारणत सभव है ! भगवतीचरण वर्मा की द्रौपदी चरम निराशा की स्थिति मे जीवन के निर्मम व्यग्य के रूप में पचपतियो के पातिव्रत का आशीर्वाद (?) ग्रहण करती है। कदाचित् यही आख्यान इस युग के अविश्वासी मन के अधिक अनुकूल पडता है। द्रौपदी के व्यक्तित्व का अतर्विश्लेपण करने के उपरात कवि फिर एक प्रश्न करता है : भीषण प्रतिहिंसा की प्रतीक होकर भी द्रौपदी पूज्या किस प्रकार हुई ? द्रौपदी के जीवन-नाटक का बीज इसी प्रश्न मे निहित है। कवि स्वय इसका समाधान नही कर पाया, वह यह कहकर मौन हो जाता है कि

धैर्य की रही हो तुम अति कठोर अचल मूर्ति,
तुम थी स्थित केवल पतियो की प्रतिछाया सी।
तुम थी मानव की मर्यादा की परम पूर्ति !
और यह विनाश नही मानव का, युग का था,
उस युग का, जिसमे थे घृणा और दर्प मान !

यह कोई समाधान नही है। परतु मैं तो आरभ मे ही कह चुका हू कि इस कवि से आप समाधान की आशा न करें, इसके पास समाधान नही है।

'कर्ण' इस संग्रह का सबसे प्रबल नाटक है। आहत अहकार का यह युग पौराणिक पात्रो मे सबसे अधिक कर्ण को ही प्यार करता रहा है। कर्ण परिस्थिति द्वारा पराभूत व्यक्ति के अहकार का जीवत प्रतीक है। कदाचित् भारतीय इतिहास मे इस दृष्टि से उसका व्यक्तित्व अद्वितीय है। इस नाटक मे भी भगवतीचरण ने ऐतिहासिक चरित्र का मार्मिक पुनराख्यान प्रस्तुत किया है। शौर्य मे अप्रतिम कर्ण का अहकार सामाजिक तिरस्कार से पराभूत है। कुती की स्वीकारोक्ति उसका परितोष

न कर, उलटे जारज अस्तित्व की दशमयी चेतना जगाकर, और भी कटुता उत्पन्न कर देती है। वह दान और चारित्र्य के द्वारा इस पराभव का भी उन्नयन करना चाहता है, किंतु दान के लिए अपेक्षित सात्त्विक विनय के अभाव मे उसे सफलता नही मिलती। उसकी दानशीलता उसी सर्वग्रासी अहकार की अभिव्यक्ति-मात्र होकर रह जाती है। दानी के लिए तो अहं का दान पहली शर्त है। परंतु कर्ण उसमे असमर्थ रहा; इसीलिए उसका जीवन केन्द्रच्युत उल्का-पिंड की तरह निरंतर जलता रहा। कृष्ण के द्वारा अत मे कवि ने कर्ण के अपने चरित्र-दोष को ही उसके पतन के लिए उत्तरदायी ठहराया है और यही ध्वनित करने का प्रयत्न किया है कि अहकार का नाश अनिवार्य और श्रेयस्कर है किंतु वह बुद्धिजन्य समाधान-मात्र है। इस नाटक के प्राणभूत रस का प्रेरक है कर्ण के अहकार के प्रति कवि का अदम्य आकर्षण : 'कर्ण की अहम्मन्यता—इस पर मैं मुग्ध हूं।' यही मुग्ध-भाव, जो कर्ण के अहंकार के साथ कवि की व्यक्तिगत चेतना और युग की समष्टिगत चेतना के तादात्म्य की प्रबल अभिव्यक्ति है, इस ध्वनि-रूपक का रसस्रोत है।

भगवतीचरण वर्मा मे शिल्प की अपेक्षा कला अधिक है। और स्पष्ट शब्दो मे, उनकी कल्पना सूक्ष्म अवयवो से ललित क्रीडा करने की अपेक्षा नाटकीय स्थिति, चारित्रिक द्वद्व आदि की उद्भावना मे अधिक सफल होती है। काव्य-सामग्री, अर्थात् आलकारिक प्रसाधन, शब्द-संगीत आदि का वैभव उनके पास नही है, परतु नाट्य-प्रभाव, वक्र व्यजना आदि के वे धनी है।

बच्चन की कविता

छायावाद की कविता मूलत· व्यक्तिवादी है । आरभ से ही उसमे व्यक्तिवाद का स्वर अत्यंत मुखर था । इसका मुख्य कारण यह था कि छायावाद को प्रभावित करने वाली चिंताधारा—दूसरे शब्दो मे दार्शनिक विधान और काव्य-परपरा दोनो ही अपने मूल रूप मे एकात व्यक्तिवादी थी । यह दार्शनिक विधान प्राचीन भारतीय अद्वैतवाद और उन्नीसवी शताब्दी के पाश्चात्य आदर्शवाद के समान तत्त्वो से निर्मित था, जो विवेकानन्द जैसे धर्म-नायको की वाणी मे मुखरित होकर तत्कालीन चिंतको और विचारको को प्रभावित कर रहा था । वास्तव मे इन दोनो मे कोई मूलगत भेद नही था । आदर्शवाद अद्वैतवाद का ही आधुनिक रूपातर था, जो भौतिक जीवन को अधिक ग्राह्य रूप मे प्रस्तुत करने के कारण नवीन जीवन के अधिक अनुकूल पडता था । राजनीतिक-सामाजिक धरातल पर यह दर्शन सामतवाद की चिंताधारा के विद्रोह मे पूजीवाद की व्यक्तिगत साहसिकता के आधार पर खडा हुआ था । उधर, काव्य-क्षेत्र मे छायावाद पर रोमाटिक भावधारा का प्रभाव था, जो जीवन के प्रति एक अतिशय व्यक्तिवादी भावात्मक दृष्टिकोण था । इस प्रकार भावना और चिंता दोनो के क्षेत्र मे छायावाद को व्यक्तिवाद से प्रेरणा मिल रही थी । परतु उसका व्यक्ति-तत्त्व प्रच्छन्न अर्थात् अप्रत्यक्ष एवं सूक्ष्म था । तत्कालीन प्रतिकूल सामाजिक तथा बौद्धिक परिस्थितियो से व्यक्ति-स्वातत्र्य की उस नव-उद्‌बुद्ध चेतना की प्रत्यक्ष अभि-व्यक्ति के लिए यथेष्ट अवकाश नही था, निदान वह प्रत्यक्ष एव निरावरण, स्थूल अथवा मूर्त नही हो सका । राजनीतिक जीवन मे उसने अहिसा का रूप धारण किया, सामाजिक जीवन मे आत्म-सस्कार का और वैयक्तिक जीवन मे वह अतीन्द्रिय प्रेम तथा जीवन और जगत् के प्रति एक मोहक रोमानी विद्रोह के रूप मे अभिव्यक्त हुआ ।

धीरे-धीरे यह धूमिल ससार और जीवन अधिक मूर्त और अनुभूत होने लगा और छायावाद का अप्रत्यक्ष एव सूक्ष्म व्यक्तिवाद प्रत्यक्ष और स्थूल की महत्त्व-स्वीकृति का आग्रह करने लगा । धर्म, समाज, देश की भावना के नीचे दबा हुआ व्यक्ति का अहं जागरूक होकर अपने सुख-दुःख को, अपनी कुठा और प्रसादन को सबसे अधिक महत्त्व देने लगा और साहित्य मे उनकी अभिव्यक्ति की माग करने लगा । इस माग को सबसे पहले साहसपूर्वक बच्चन ने पूरा किया और हमारी पीढी का तरुण समाज हर्ष-विषाद को—और उसके जीवन मे विषाद ही अधिक था—इस समवयस्क कवि के गीतो मे मुखरित पाकर आत्माभिव्यक्ति के सुख से झूम उठा ।

बच्चन की कविता स्वीकृत रूप से व्यक्तिवादी कविता है :

१. मैं तो बस इतना कहता हूँ—
वह एक दीप लौटा लाओ,
जिसकी लघु बाडव-ज्वाला से
घबरा उठता तम का सागर !

(सतरगिनी)

२. एक चिडिया चोच मे तिनका लिये जो जा रही है,
वह सहज मे ही पवन उनचास को नीचा दिखाती।

(सतरगिनी)

उन्होने निर्भीक होकर बिना किसी प्रकार के दुराव-छिपाव के अपनी कविता को प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति का साधन बनाया है।

बच्चन के व्यक्तिवाद को समझने के लिए पहले उनके व्यक्तित्व और उनकी परिस्थिति का विश्लेषण अनिवार्य होगा। बच्चन के व्यक्तित्व का निर्माण इस शताब्दी के चौथे दशक मे हुआ है। सन् '३३-'३४ से '३८- '३९ तक का समय उनके लिए आत्म-साक्षात्कार का समय था। भारतीय राजनीतिक-सामाजिक जीवन मे यह अव-साद का समय था, जब राजनीति मे दूसरा सत्याग्रह विफल हो चुका था और सामाजिक जीवन आर्थिक पराभव से आक्रात था। इस अवसाद का वैसे तो समस्त जनता पर ही प्रभाव था, परतु मूलत इसका भागी था मध्यवर्ग, जो राजनीति, समाज और साहित्य सभी क्षेत्रो मे देश की चेतना का प्रतिनिधि था। बच्चन हिंदी-साहित्य मे इसी मध्य-वर्ग के युवक-समुदाय के प्रवक्ता रहे हैं। यह युवक-समुदाय जिन आशाओ और उमगो को लेकर जीवन मे प्रविष्ट हुआ था, उन्हे राजनीतिक पराजय और दिन-दिन बढती हुई बेकारी ने निर्दयता के साथ कुचल दिया था। जिस सत्याग्रह-आदोलन मे बच्चन ने विश्वविद्यालय छोडा था, वह विफल हो चुका था। प्रतिभाशाली विद्यार्थी-जीवन को असमय मे ही समाप्त कर उनको एक स्कूल मे अपने व्यक्तित्व और प्रतिभा के सर्वथा विपरीत एक बहुत साधारण-सी नौकरी करनी पडी। इस भूमिका मे बच्चन के व्यक्तित्व का जो चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित होता है वह कुछ इस प्रकार है. राजनीतिक और आर्थिक पराभव से अवसन्न वातावरण मे सघर्षरत मध्यवर्ग का एक प्राणवान् युवक जो समर्थ इच्छाशक्ति और और उच्चाकाक्षाओ के साथ जीवन मे प्रवेश करता है परतु अवश्य प्रतिकूल परिस्थितियो के आघात से सहसा गतिरुद्ध होकर एकात विवशता का अनुभव करता है। अतएव इस व्यक्तित्व के मूल निर्णायक तत्त्व हैं—सघर्षजन्य पराभव और अवसाद, जो उसे वातावरण से प्राप्त होते हैं; मध्यवर्ग की व्यक्तिवादी चेतना अर्थात् समाज के व्यापक जीवन से विमुख होकर वैयक्तिक जीवन के सुख-दुःख पर अवधान; समर्थ चेतना और इच्छाशक्ति (ये दोनो गुण सस्कार-गत हैं) और अवश्य प्रतिकूल परिस्थितियो से सघर्ष।

बच्चन के सघर्ष की प्रथम अभिव्यक्ति हमे 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधु-कलश' मे मिलती है। इस अभिव्यक्ति को हिंदी मे 'हालावाद' का नाम दिया गया।

यह नाम अधिक विचारपूर्ण नही था, परतु विस्मरण की मनोवृत्ति को व्यक्त करने के लिए यह शब्द बुरा भी नही था। जैसा कि मैंने ऊपर निर्देश किया है राजनीति और आर्थिक पराभव के कारण इस समय के वातावरण मे गहन अवसाद छाया हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप तत्कालीन समाज, मुख्यत मध्यवर्ग, की चेतना एक विशेष मानसिक-आध्यात्मिक क्लाति से अभिभूत हो गई थी। इस क्लाति को दूर करने के लिए बच्चन ने हाला का आह्वान किया—यह हाला थी आध्यात्मिक विद्रोह से प्रेरित भोगवाद की। उमरखैयाम से प्रेरणा लेकर बच्चन ने अपनी 'मधुशाला' का निर्माण किया और उस युग के अवसादग्रस्त युवक-समाज को वहा बैठकर अपना गम गलत करने का निमत्रण दिया। और, इसमे सदेह नही कि वह युवक-समाज, जो विश्वास का आधार खो बैठा था, बडे उत्साह से उस ओर बढा। इस हालावाद की व्याख्या बच्चन के अनुसार इस प्रकार की जा सकती है · यह समस्त विश्व किसी क्रूर नियति के इगित से परिचालित चक्रवत् घूम रहा है। वह भाग्य-चक्र के अधीन सर्वथा विवश और अपनी विवशता मे एकात करुण है। उसकी सबसे बडी विवशता है अस्थायित्व। उसके सभी नाम-रूपात्मक प्रोद्भास क्षणभगुर हैं। इस अस्थिरता पर विजय प्राप्त करने के लिए मानव के सभी प्रयत्न सर्वथा निष्फल सिद्ध हुए है। अतएव पाप और पुण्य पर आश्रित जीवन के सभी मूल्य जीवन की क्षणभंगुरता मे एकात निस्सार हैं। उनके बधन के कारण मनुष्य और भी क्लीव बन गया है। ईश्वर और धर्म की कल्पना ने मनुष्य के मन को रूढिजाल मे जकड कर निस्तेज बना दिया है जिसके परिणामस्वरूप वह प्रत्यक्ष का त्याग कर परोक्ष के मोह मे भटक कर जीवन की क्षण-भंगुरता को और भी अधिक करुण बना लेता है। जीवन की इस विफलता का तो बस एक ही उत्तर है—उपभोग। और उसके लिए इस कल्पित आध्यात्मिक-नैतिक रूढिपाश को छिन्न-भिन्न करना अनिवार्य है। नियति से जितने भी क्षण हमे मिले हैं उनका ही केवल तात्कालिक मूल्य है, अतएव उनकी सार्थकता भोग मे ही है; पाप-पुण्य, भूत-भविष्यत् की चिंता मे उन्हे भी गवा देना मूर्खता है। इस प्रकार बच्चन की हाला ऐसे भोगवाद का प्रतीक है, जिसका मूल आधार है आध्यात्मिक विद्रोह। इसमे अविश्वास की सक्रिय शक्ति है, जडवाद की निष्क्रियता नही। भारतीय चार्वाक दर्शन की अपेक्षा यह खैयाम के रगीन 'क्षणवाद' के अधिक निकट है। परिस्थितियो मे क्लात मध्यवर्ग के युवक-कवि बच्चन ने अपने समकालीन समाज को यही तीखी खुराक देकर उसमे उत्तेजना पैदा करने का प्रयत्न किया।

कहने की आवश्यकता नही कि यह जीवन-दर्शन बहुत कुछ यौवन-सुलभ कल्पना के आश्रित था। बच्चन के लिए किसी स्वानुभूत जीवन-दर्शन के प्रतिपादन का अभी समय भी नही आया था। इसमे अनुभूति और कल्पना का रगीन मिश्रण था। परतु कुछ समय मे ही बच्चन के जीवन मे एक ऐसी घटना घटित हुई जिसने उन्हे जीवन के आमने-सामने लाकर खडा कर दिया। वे अपनी विषम परिस्थिति से संघर्ष कर ही रहे थे कि उनकी पत्नी श्रीमती श्यामा क्षय-रोग से ग्रस्त हो गई। मध्यवर्ग के साधारण आर्थिक परिस्थिति के व्यक्ति के लिए पत्नी का क्षयग्रस्त हो जाना कितनी भयकर

आपत्ति है, इसकी कल्पना कोई भी भुक्तभोगी कर सकता है। मैं समझता हू कि मनुष्य इतना अधिक असहाय अपने को कदाचित् ही पाता हो। बच्चन को अपने यौवन को मध्य मे इस घोर मानसिक यातना का अनुभव करना पडा जो पत्नी की मृत्यु से अपनी चरमावस्था को पहुच गया। इसका सकेत एक स्थान पर उन्होने स्वय किया है—"उस मृत्युशैया के निकट कितनी बेचैनी थी, यौवन की कितनी अभिलाषाए उसके पायो और पाटियो पर अपना सिर धुन चुकी थी, उस पर चमकती हुई दो आंखो मे जीवन की कितनी प्यास थी, मौत के अनजाने भेदभरे देश मे जाने से कितना भय था और अकिंचन मानव की असमर्थता और विवशता पर कितना विक्षोभ था !"

मृत्यु के इस साहचर्य और साक्षात्कार ने कवि की चेतना को बाहर से खीच कर एकात अंतर्मुखी बना दिया—वह समाज, राजनीति आदि से पराङ्मुखी होकर जीवन के मौलिक सत्यो के सामने खडा हो गया—जीवन का अभिप्राय, जीवन का सारतत्त्व, जीवन और जगत् की प्रेरक अथवा सचालक शक्ति और मानव के प्रति उसका और मानव का उसके प्रति दृष्टिकोण, मृत्यु, जीवन, जीवन के मूल्य, पाप और पुण्य आदि के प्रश्न, जिनके विषय मे अब तक उसने रगीन कल्पनाए की थी, प्रत्यक्ष रूप से उसकी अनुभूति पर होकर उतर गए। इस प्रकार की परिस्थिति का मानव-व्यक्तित्व पर प्रबल प्रभाव पडता है। साधारण जन तो प्रायः असहाय होकर भगवान की शरण मे जाकर अपने कष्ट को भूलने का प्रयत्न करता है, परतु प्राणवान् व्यक्ति की प्रतिक्रिया भिन्न होती है। यदि वह विश्वासी है तो अपनी जीवनगत विषमताओ को उस मृत्यु-भेदी परम शक्ति की समरसता मे निमग्न कर शाति-लाभ करता है; और यदि उसके सस्कार मे विश्वास की प्रवृत्ति नही है तो ऐसी दशा मे उसकी चेतना पूरे बल से आस्तिकता के प्रति विद्रोह कर उठती है। बच्चन के सस्कार और परिस्थिति दोनो मे अविश्वास का प्राबल्य था; अतएव इस आधिदैविक सकट ने एक ओर जहा उनके विषाद को और भी गहरा किया, वहा दूसरी ओर उनके आध्यात्मिक विद्रोह को और भी प्रबल बना दिया। 'निशा-निमंत्रण' और 'एकात-सगीत' का रचनाकाल बच्चन के लिए आत्म-साक्षात्कार का समय है। इन कविताओ मे भाग्य-चक्र के नीचे कुचले हुए मानव के चीत्कार और ललकार दोनो के मिले-जुले स्वर स्पष्ट सुनाई देते हैं।

परतु जीवन सहज ही पराजय स्वीकार नही करता। विषाद की काली निशा धीरे-धीरे बीतने लगी। यूनिवर्सिटी मे अच्छी नौकरी मिल गई। बच्चन ने एक जीवत वास्तवदर्शी की भाति परिवर्तन को स्वीकार किया "जो बीत गई सो बात गई", और यह ठीक भी था। 'निर्माण के प्रतिनिधि' मानव ने यह अनुभव किया कि :

जो बसे है वे उजडते
हैं, प्रकृति के जड नियम से,
पर किसी उजडे हुए को,
फिर बसाना कब मना है !

बच्चन ने अपना उजडा हुआ घर फिर बसाया । 'कितना अकेला आज मैं' की पुकार

और आज तेरी गोदी मे,
ध्वनित अमित का हास हुआ ।
और आज मेरे मानस मे
राग-रग रस-रास हुआ ।

मे परिणत हो गई । देवी श्यामा के स्वर्गवास के उपरात जो दुनिया उनसे दूर हो गई थी, वह श्रीमती तेजी के ससर्ग से फिर निकट आ गई । 'मिलन-यामिनी' की मादकता और उसके फलस्वरूप जीवन मे 'सतरगिनी' ने प्रवेश किया । जीवन मे स्वास्थ्य और सुख का आविर्भाव हुआ । बच्चन का गृहस्थ पुत्र-कलत्र, धन-मान से सपन्न हो गया । हिंदी के कुछ लेखको को यह परिवर्तन अच्छा नही लगा और कुछ आलोचको मे इसकी चर्चा हुई कि 'है चिता की राख कर मे, माँगती सिंदूर दुनिया' की ग्लानि :

घन-मन तत्री को तेज-तडित छू लेती;
जीवन के नभ मे नवरस बरसा देती ।

—के उल्लास मे किस प्रकार परिणत हो गई । परतु वास्तव मे इन आलोचनाओ मे जीवन को बहुत सतह से देखा गया है और हलकी भावुकता के मानदड से मापा गया है । इस प्रकार के आलोचक स्थूल आदर्शवाद के मोह मे जीवन की अपराजेय शक्ति के महत्त्व को भूल जाते है; इस तरह का जीवन आदर्शवाद के एकाग को देख पाता है, सर्वांग को नही :

× × ×

मातम का तम आया माना,
अतिम सत्य इसे यदि जाना,
तो तूने जीवन की अब तक आधी सुनी कहानी ।

इन्ही दिनो एक और व्यक्तिगत घटना हुई—माता जी की मृत्यु । इस बार बच्चन ने मृत्यु का सर्वथा भिन्न रूप मे साक्षात्कार किया । "... इसके विपरीत माताजी की शैया के निकट कितनी शाति थी, जीवन की अभिलाषाए या तो पूरी हो चुकी थी या मिट चुकी थी । आखो मे जीवन के प्रति उपेक्षा और उदासीनता का भाव था ।...उनका यह विश्वास कि आत्मा अमर है, मृत्यु से आत्मा का अत नही, पुनर्जीवन होता है.. जो कुछ हो रहा है वही ठीक और कल्याणकर है—उनके चेहरे से टपका करता था । श्यामा की मृत्यु के पश्चात् मुझे ऐसा लगता था कि जैसे उनकी आत्मा उनके शव के चारो ओर चक्कर काट रही है और सतत प्रयत्नशील है कि वह उनके चोले मे फिर समा जाए । माताजी की मृत्यु के पश्चात् मुझे ऐसा लगता था कि जैसे उनकी आत्मा शरीर छोडकर अलग हो गई है और दूर बैठकर सासो के साथ उसका खेल देख रही है—कब 'देह धरे' का दड समाप्त हो और कब उसे मुक्ति मिले । उनकी मृत्यु मेरे लिए जीवन की नवीन व्याख्या थी । मेरी आखो के सामने मृत्यु का एक नया अर्थ खुल रहा था ।" यह तो ठीक ही है कि मृत्यु के प्रति श्रीमती

श्यामा और माताजी के दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न रहे होंगे, परंतु बच्चन के दृष्टिकोण में भी तो इस समय तक कितना अंतर आ गया था—और वास्तव में उसी का महत्त्व है। माताजी की मृत्यु के समय तक बच्चन की अपनी जीवन-दृष्टि भी बदल गई थी। अतएव यह अंतर विषय के अतिरिक्त विषयी की दृष्टि का भी था। श्रीमती श्यामा की मृत्यु के समय बच्चन के अपने जीवन की अभिलाषाएं चारों ओर से कुंठित होकर मरणोन्मुखी पत्नी के शरीर से लिपटकर अकिंचन मानव की असमर्थता और विवशता पर विक्षोभ से छटपटा रही थीं। माताजी की मृत्यु के समय तक बच्चन की परिस्थिति बदल चुकी थी। पहली परिस्थिति में जहां उनकी विषादग्रस्त चेतना के लिए श्रीमती श्यामा की रोगशैया से हटकर अन्यत्र आश्रय नहीं था, वह बाहर के असफल संघर्ष से आहत होकर घर में लौटती, और घर में उसका केंद्र-बिंदु था पत्नी का निरंतर क्षीण होता हुआ अस्तित्व; और फिर उससे हटकर बाहर वही विफल संघर्ष था। ऐसी स्थिति में मृत्यु का विक्षुब्ध रूप ही सामने आ सकता था। इसके विपरीत माताजी की रुग्णावस्था में आहत चेतना की विश्रांति और शांति के लिए पर्याप्त अवकाश था श्रीमती तेजी, अमित, यूनिवर्सिटी का रुचिकर कार्य, सफल साहित्यिक जीवन इत्यादि। स्वभावत: इस मृत्यु में बच्चन को वह बेबसी और छटपटाहट दृष्टिगत नहीं हुई—उसका शांतिमय रूप ही सामने आया क्योंकि अब तक कवि का जीवन-दर्शन अभावात्मक से बहुत कुछ भावात्मक हो चुका था।

यह तो हुई बच्चन के व्यक्तिगत जीवन के आरोह-अवरोह की एक स्थूल रूप-रेखा। इसका प्रत्येक संस्थान बच्चन के काव्य-जीवन का एक संस्थान है—बच्चन के कवि और व्यक्ति को पृथक् रूप से नहीं देखा जा सकता। परंतु इस बीच में विश्व-जीवन में भी कई अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटनाएं हुईं। उदाहरण के लिए—दूसरा विश्व-युद्ध, इधर भारत में बंगाल का अकाल, भारत का विभाजन, और उसके बाद का भयंकर गृह-युद्ध, स्वराज्य की स्थापना, बापू की हत्या। और प्रश्न उठता है कि क्या इनका बच्चन के कवि-जीवन के आरोह-अवरोह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा? साधारणत: तो इसका उत्तर 'हां' में देना चाहिए: विश्व-युद्ध के दिनों में बच्चन ने 'आकुल अंतर' और 'विकल विश्व' नाम से दो गीत-मालाएं आरंभ की थीं। इनमें से 'आकुल अंतर' प्रकाशित हो चुका है, 'विकल विश्व' का पृथक् प्रकाशन नहीं हुआ। बंगाल के अकाल पर भी बच्चन ने एक स्वतंत्र काव्य लिखा है 'बंगाल का काल', और इधर बापू की हत्या पर उन्होंने २०४ गीत लिखे हैं; और उनका कहना है कि मेरे लिखने की प्रगति इतनी तेज़ कभी नहीं रही। परंतु यह असंदिग्ध है कि ये रचनाएं उत्कृष्ट नहीं हैं—'बंगाल का काल' शैली-शिल्प के नवीन प्रयोगों के होते हुए भी रिक्त है, 'विकल विश्व'-माला के अंतर्गत लिखे हुए गीत भी निर्जीव हैं। स्वयं गांधीजी की हत्या पर लिखे हुए अधिकांश गीत खोखले हैं। और इसका कारण स्पष्ट है—बच्चन की चेतना एकांत व्यक्तिवादी है। उपर्युक्त कृतियों में उनके चेतन मन ने सामाजिक दायित्व के प्रति सचेष्ट होकर अपने अहं का समाजीकरण करने का प्रयत्न किया है, परंतु समाजीकरण के अनभ्यस्त उनके अवचेतन ने साथ नहीं दिया।

वह इन सामाजिक प्ररणाओ मे तन्मय नही हो सका

कल सुधारूँगा हुई
ससार से जो भूल,
कल उठाऊँगा भुजा
अन्याय के प्रतिकूल,
आज तो कह दो कि मेरा
बंद शयनागार !

इस प्रकार बच्चन की कविता एकात आत्मगत कविता है और उसका मुख्य विषय है मध्यवर्गीय जीवन के घात-प्रतिघात, जिनके अतर्गत प्रेम भी आ जाता है। परतु बच्चन प्रेम-कवि नही हैं। प्रेम जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है, सपूर्ण जीवन नही। भौतिक घात-प्रतिघात से आदोलित जीवन की मूल धारा बच्चन के काव्य का प्रेरणा-स्रोत है, नारी के प्रति आत्मदान नही। इस रूप मे अध्ययन न करने से बच्चन की कविता के साथ अन्याय किया जा सकता है।

प्रत्यक्षत. व्यक्तिगत जीवन की कविता होने के कारण बच्चन की कविता का मूल आधार है अनुभूति, और यही उसकी सबसे बडी और बहुत-कुछ अंशो मे एकमात्र शक्ति है। इस दृष्टि से बच्चन की काव्य-चेतना पतजी की काव्य-चेतना के सर्वथा विपरीत हैं। पतजी ने जहा जीवन की कल्पना और चिंतन किया है, बच्चन ने वहा उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति की है। इसके अतिरिक्त पतजी ने जहा अपनी अनुभूतियो का परिष्कार एव उन्नयन करने का प्रयत्न किया है, वहा बचचन ने उनको उनके प्रकृत रूप मे प्रत्यक्ष रीति से व्यक्त किया है। इसीलिए उनकी अनुभूति अधिक सस्कृत न होकर काफी हद तक आदिम (Primitive) है, परतु इसीलिए वह मौलिक और तत्वगत (elemental) भी है। इस प्रकार की अनुभूति मे सूक्ष्म जटिलताए नही होती—और इसी कारण उसमे ग्रथिया भी नही हैं। जीवन की वीचियो से खेलने वाली, सौंदर्य के बारीक तत्वो को पकडने वाली पत की जैसी अतिशय सूक्ष्म सवेदनशीलता बच्चन मे नही है, परंतु जीवन के मौलिक मनोवेगो का सवेदन उनका अत्यंत प्रत्यक्ष और प्रबल होता है। उनकी व्यक्ति-चेतना का यही सहज धरातल है और इसी के अनुरूप उनके भावन एवं साधारणीकरण की विधि भी सहज और प्रकृत होती है। बच्चन चिंतन की सूक्ष्मताओ, कल्पना की ललित क्रीडाओं तथा आधुनिक बौद्धिक धारणाओ द्वारा अपनी वैयक्तिक अनुभूति का भावन नहीं करते। वे जीवन के सर्वमान्य मौलिक तथा मूर्त सत्यो के द्वारा और जीवनगत सरल कल्पना की सहायता से ही व्यक्ति की अनुभूति का साधारणीकरण करते हैं। इसके लिए वे या तो सरल प्राकृतिक सत्यो को ग्रहण करते हैं, या जीवन की विशद घटनाओ को। उदाहरण के लिए, अपनी पहली पत्नी के देहात पर कई वर्षों तक मानसिक यातना सहने के उपरात कवि धीरे-धीरे प्रकृतिस्थ होता है और अतीत के साथ समझौता करना चाहता है। इसके लिए, जैसा कि अत्यत सहज था, वह दार्शनिक युक्तिया नही देता—अपनी पीडा का उन्नयन नही करता, वरन् कुछ विराट् प्राकृतिक तथ्यो के साथ उसका सबध स्थापित करता

हुआ उसको एक विश्वव्यापी रूप दे देता है :

जो बीत गई सो बात गई !
जीवन मे एक सितारा था,
माना, वह बेहद प्यारा था
वह टूट गया तो टूट गया,
अबर के आनन को देखो !
कितने इसके तारे टूटे,
कितने इसके प्यारे छूटे,
जो छूट गए फिर कहाँ मिले,
पर बोलो टूटे तारो पर
कब अबर शोक मनाता है !

यहा अंबर की विराटता के साथ अपनी जीवन-घटना का तादात्म्य स्थापित करते हुए कवि ने अपनी अनुभूति को विस्तार दे दिया है। इसी प्रकार :

तुम तूफान समझ पाओगे ?
गध भरा यह मंद पवन था
लहराता इसमे मधुवन था
सहसा इसका टूट गया जो स्वप्न महान्, समझ पाओगे ?

यहा भी उसने अपने स्वप्न को तूफान के महान् स्वप्न के साथ तदाकार करते हुए व्यक्तिगत अनुभूति को तत्त्वगत (elemental) बना दिया है।

कहने का तात्पर्य यह है · जीवन की मौलिक भावनाओ का व्यक्तिगत रूप मे प्रबल सवेदन करते हुए उन्ही के अनुरूप प्रकृति अथवा जीवन के व्यापक सरल सत्यो द्वारा उनका साधारणीकरण करना बच्चन की काव्य-चेतना की सबसे प्रमुख विशेषता है, और यही उनके व्यापक प्रभाव का मूल कारण है। अनुभूति की भाति बच्चन के विचार भी सरल होते हैं। जीवन के प्रति उनकी बौद्धिक प्रतिक्रिया सदैव सीधी और प्रत्यक्ष रही है। पहले उन्होने जीवन के अभावो को लेकर सरल विधि से भाग्यवाद को अपनाया : इस जीवन मे सभी कुछ नाशवान् है अतएव जीवन के मूल्यो को ही क्यो महत्त्व देकर अपने को वर्तमान के क्षणिक सुख से वचित रखा जाये। इसके लिए सबमे बडी बाधा नीति और आचार की सहिता है, अतएव मनुष्य को बलपूर्वक अपने को उससे मुक्त कर लेना चाहिए। मृत्यु पर विजय पाना सर्वथा असभव है, अतएव उसको भूलने का प्रयत्न करना चाहिए

झुका कर इसके आगे शीश
नही मानव ने मानी हार।
मिटा सकने मे यदि असमर्थ
भुला सकते हम यह ससार।

यह है बच्चन की विचारधारा का पहला सस्थान। किंतु मनुष्य की शक्ति अत्यंत सीमित है। काल के सम्मुख उसका यह विस्मरण-प्रयत्न भी निष्फल हो जाता

है—मनुष्य वास्तव मे सर्वथा दीन और असहाय है · 'मिट्टी दीन कितनी हाय'। नियति के विरुद्ध विद्रोह व्यर्थ है, उसके प्रति आत्म-समर्पण करने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नही है। यह है दूसरा सस्थान। किंतु नही, जीवन का प्रेम मृत्यु के भय से अधिक समर्थ है। जीवन मे दुःख आता है—ठीक है; परतु बीती को भूलना ही होगा। नाश की अपेक्षा निर्माण की प्रेरणा अधिक बलवती एवं स्वस्थ है। · यह है बच्चन की विचारधारा जो जीवन के उतार-चढाव पर गिरती-उठती हुई सरल पथ से आगे बढती है।

बच्चन पर अस्वस्थ जीवन-दर्शन के प्रतिपादन का आरोप लगाया गया है। कहा गया है कि उनका जीवन-दर्शन पराजय और मृत्यु पर आधृत है। उसमे मानव की विवशता और अधे भाग्यवाद का सदेश है। जीवन का प्रकाश न होकर उसमे मरण का अधकार है। उधर नैतिक और आध्यात्मिक विश्वासो का तिरस्कार करने के कारण उस पर अनाचार का आरोप लगाया जाता है। दोनो ही आरोप मिथ्या नही हैं। जैसा कि मैंने अभी कहा, बच्चन ने जीवन के विचार-चिंतन एवं कल्पना की अपेक्षा प्रत्यक्ष अनुभूति ही अधिक की है। अतएव उन्होने अपने परिस्थिति-जन्य अनुभवो को ज्यो-का-त्यो स्वीकार कर लिया है, किसी पूर्व-निश्चित जीवन-दर्शन के प्रकाश मे उनका उन्नयन नही किया। सामाजिक तथा व्यक्तिगत पराजय और अवसाद के वातावरण मे जीवन के विफल सघर्ष का अनुभूत दर्शन अवसाद और निराशा का दर्शन ही हो सकता था, या यो कहिये कि वह ही अधिक सहज था। परिस्थिति के साथ जीवन-अनुभव मे परिवर्तन होने से धीरे-धीरे यह अवसाद घटता गया—नाश के स्थान पर निर्माण का महत्त्व अनुभवगत हुआ और अभावात्मक दर्शन क्रमश· भावात्मक होने लगा

आत्मा की अजर अमरता के हम विश्वासी,
काया को हमने जीर्ण वसन बस माना है,
इस महामोह की वेला मे भी क्या हमको
वाजिब अपनी गीता का ज्ञान भुलाना है।

अतएव बच्चन के जीवन-दर्शन को बौद्धिक अथवा नैतिक मूल्यो से परखना गलत होगा। उसकी शक्ति उसके नैतिक अथवा बौद्धिक प्रतिपाद्य मे नही है—उसकी शक्ति उसके अनुभूत्यात्मक स्वरूप मे है। इसीलिए उसका प्रभाव सीधा पडता है।

अनुभूति और चिंता के अनुरूप ही बच्चन की कल्पना भी ऋजु-सरल है। उसमे छायावादी कल्पना के ऐश्वर्य का नितात अभाव है। प्रसाद, निराला, पत और महादेवी की तुलना मे बच्चन की कल्पना कितनी अबोध है—राजभवन की किसी विदग्धा प्रौढा के समक्ष जैसे कोई अर्धशिक्षिता मुग्धा। कल्पना मे बुद्धि और अनुभूति का योग रहता है। उसका काम अनुभूत तथ्यो को लेकर नव-नव सयोजनाए प्रस्तुत करना है, और सयोजन मूलतः बुद्धि की क्रिया है। अतएव कल्पना की समृद्धि मूलत. अनुभव और बुद्धि की समृद्धि पर आश्रित है। कल्पना की समृद्धि के लिए जहा एक ओर यह आवश्यक है कि अनुभव अनेकरूप, विस्तृत एवं सूक्ष्म हो, वहा दूसरी ओर

यह कि बुद्धि प्रखर, सूक्ष्मग्राही और दूरदर्शी हो। तभी नानारूपिणी संयोजनाम्रो की सृष्टि सभव है। बच्चन का अनुभूति-क्षेत्र सीमित है। उनकी अनुभूति, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, प्रबल और सरल है और उसी के अनुरूप उनकी विचार-पद्धति भी सरल है। सुदर रूप-तत्त्वो का वह सगुम्फन, जो प्रसाद, पत या महादेवी मे मिलता है, बच्चन मे उपलब्ध नही है। उनके चित्रो मे अवयवो की बारीकी और रेखाओ की तरलता नही है। साराश यह कि बच्चन की काव्य-सामग्री के सयोजन मे सारल्य और ऋजुता तो है, परंतु औज्ज्वल्य और सूक्ष्म अकन, जडाव-कढाव अथवा नक्काशी नही है। दो-एक उदाहरण लीजिये

१ सध्या सिंदूर लुटाती है।
रँगती स्वर्णिम रज से सुन्दर,
निज नीड-अधीर खगो के पर,
तरुओ की डाली-डाली मे कचन के पात लगाती है।
करती सरिता का जल पीला,
जो था पल भर पहले नीला,
नावो के पालो को सोने की चादर-सा चमकाती है।

× × ×

रश्मियो मे रँग पहन ली आज
किसने लाल सारी ?
फूल कलियो से प्रकृति ने
माँग है किसकी सँवारी ?

इन चित्रो की तुलना 'साध्यगीत' अथवा 'स्वर्णकिरण' के चित्रो से कीजिये।

दूसरी ओर, प्रयोगवादी शैली-शिल्प का बौद्धिक प्रतीक-विधान एव अप्रस्तुत-योजना भी बच्चन के काव्य से दूर है। उनका न इनमे विश्वास है और न वहा तक उनकी गति ही है। उन्होने छायावाद के अतिशय परिष्कार और प्रयोगवाद की जटिल बुद्धि-क्रीडा, दोनो का समान रूप से तिरस्कार किया है। साथ ही प्रगतिवाद का वर्ग-चेतना-युक्त अप्रस्तुत-विधान भी उनमे नही है। उन्होने साधारणता को आग्रह के साथ अपनाया है। असाधारण चयन या आविष्कार मे उनकी कला विश्वास नही करती। प्रत्यक्ष अनुभूति का जिन प्राकृतिक और भौतिक उपकरणो से सीधा सबध है, वे उन्हे सहज रूप मे स्वीकार्य हैं; तभी वे धूलि, सुरभि, मधु, रस, हिमकण के उस वातावरण मे भी तकिया, ककडी के खेत, मिट्टी के घरौदे, श्वान, काक, सुराही, प्याला और कंकड-पत्थर आदि का निस्सकोच प्रयोग कर सके। कहने का अभिप्राय यह है कि बच्चन के काव्य मे ललित कल्पना (fancy) तथा निपुण कल्पना (यह डॉ॰ देवराज का शब्द है, और बौद्धिक कल्पना के लिए अत्यत उपयुक्त है) की अपेक्षा सहज कल्पना का ही प्राधान्य मिलता है।

परतु अनुभूति की इस सरलता ने बच्चन की कला को एक अन्य मूलगत विशेषता प्रदान की है। वह है अन्विति, जो कि छायावादी कविता मे प्राय: विरल है।

अनुभूति-प्राण होने के कारण बच्चन के गीतो मे रागात्मक एकता प्रायः सर्वत्र मिलती है। मैं यहा उनके उन्ही सफल गीतो की चर्चा कर रहा हू जो अनुभूति से अनुप्राणित हैं, असफल गीतो मे तो अनुभूति की प्रेरणा ही नही है। अनुभूति मे समन्वय का गुण होता है, क्योकि वह खड-रूप नही होती। बुद्धि विश्लेषण-प्रधान है, अतएव जिस कविता मे बुद्धि-आश्रित कल्पना का प्राधान्य रहता है उसमे अन्विति-सूत्र टूट जाता है, या फिर उसमे रागात्मक अन्विति के स्थान पर तार्किक अन्विति मिलती है जिससे काव्य का प्रयोजन सिद्ध नही होता। बच्चन के सफल गीतो की मूल अनुभूति इतनी प्रबल और सरल है कि उसका भावन करने मे कवि को बौद्धिक प्रयत्न बहुत ही कम करना पडा है। बौद्धिक व्यक्ति के सवेदन इतने सूक्ष्म, उलझे हुए और विकीर्ण होते हैं कि उनकी समीकृति करने मे बुद्धि और कल्पना को बडा परिश्रम करना पडता है। परिणाम यह होता है कि बुद्धि और कल्पना के शिकजे मे कस जाने से सवेदन अपनी शक्ति खो बैठते है और उनकी अन्विति इतनी सूक्ष्म तथा दूरारूढ हो जाती है कि पाठक के लिए उसका ग्रहण सहज नही होता। इनके विपरीत प्रबल एवं प्रत्यक्ष अनुभूतिजन्य सवेदन एक तो अपने आप मे ही प्रबल और प्रत्यक्ष होते हैं, दूसरे उनमे अनुभूति की रागात्मक अखंडता सहज रूप से वर्तमान रहती है, अतएव उनका समीकरण करने के लिए बुद्धि-आश्रित कल्पना का कम-से-कम उपयोग करना पडता है। 'निशा निमत्रण' के अनेक तथा 'एकांत-सगीत' के कुछ गीतो की रागात्मक अन्विति हिंदी-गीति-काव्य के लिए आदर्श है। और 'निशा-निमत्रण' मे तो यह अन्विति पृथक्-पृथक् गीतो मे ही नही मिलती, उसकी सपूर्ण गीतमाला मे ही एक प्रबल रागात्मक अन्विति वर्तमान है; और यह ठीक ही कहा गया है कि 'निशा-निमंत्रण' स्फुट गीतो का सकलन न होकर मानव-जीवन की करुणा का एक महागीत है। इन गीतो की प्रेरक अनुभूति की एकता ने मनोदशा की एकता उत्पन्न की है, और मनोदशा की एकता ने वातावरण की एकता को जन्म दिया है। इस व्यापक अन्विति का परिणाम यह हुआ है कि 'निशा-निमंत्रण' पाठक के मन मे एक खड अनुभूति मात्र नही जगाता, वरन् एक स्थायी मनोदशा एव एक मानसिक वातावरण उत्पन्न कर देता है, जो कला की बहुत बड़ी सफलता है।

ये ही गुण बच्चन की भाषा तथा अभिव्यजना और छद-विधान मे मिलते हैं। छायावाद की प्रतीकात्मक, अतिशय लाक्षणिक, चित्रमयी भाषा से सर्वथा भिन्न बच्चन की भाषा का मुख्य गुण प्रत्यक्षता और सरलता है। 'मधुबाला', 'मधुकलश' और इधर 'मिलन-यामिनी' तथा 'सतरगिनी' मे भी, जहा काव्य-सामग्री अपेक्षाकृत अधिक रगीन और समृद्ध है, अभिव्यजना प्रत्यक्ष और सरल ही है—उसका आधार मूलतः अभिधा ही है। और, वास्तव मे, जैसा कि मैंने अन्यत्र एक शास्त्रीय प्रसग मे स्पष्ट किया है, प्रबल अनुभूति का सहज माध्यम अभिधा ही है। उधर लक्षणा और व्यजना मे बुद्धि-तत्त्व मूलतः निहित रहता है, अतएव इन दोनो शक्तियो का मूल सबध रागतत्त्व की अपेक्षा कल्पना और बुद्धि-तत्त्व से ही अधिक है। अभिधा का आधार होने से बच्चन की अभिव्यक्ति अपने सफल रूप मे व्यक्त, प्रसन्न और प्रबल है, और असफल रूप मे मुखर

और वाचाल (मुहफट) है।

उदाहरण के लिए :

१. यह चाँद उदित होकर नभ मे,
कुछ ताप मिटाता जीवन का,
लहरा लहरा ये शाखाएँ,
कुछ शोक मिटा देती मन का।
कल मुर्झाने वाली कलियाँ,
हँस कर कहती हैं मग्न रहो;
बुलबुल तरु की फुनगी पर से,
सदेश सुनाती यौवन का।

कितनी प्रसन्न वाग्धारा है।

या, फिर

मेरे पूजन आराधन को,
मेरे सम्पूर्ण समर्पण को,
जब मेरी कमजोरी कहकर मेरा पूजित पाषाण हँसा—
तब रोक न पाया मैं आँसू।

परतु अनुभूति की प्रेरणा से वचित होकर इसका स्वरूप यह हो जाता है :

१. नत्थू खैरे ने बापू का कर अन्त दिया।

अथवा

२. वह आज हुआ है बिना गुरू का चेला।

आप कल्पना कीजिये भारत के भाग्यविधाता के नृशस वध का सघन-गहन वातावरण, उसमे जलती हुई उस महामानव की चिता और शोकमग्न भारत का महान् प्रधानमत्री, और इस पक्ति को पढिये, "वह आज हुआ है बिना गुरू का चेला।"

बच्चन ने यो तो छद विधान मे अनेक प्रयोग किये है : 'मधुशाला' की रुबाई से लेकर 'मधुबाला' और 'मधुकलश' के अनेक हिंदी-छद, और फिर 'निशा-निमत्रण' से लेकर 'एकात-सगीत' और 'मिलन-यामिनी' के भिन्न-भिन्न गेय पद और उधर 'बगाल का काल' का लय-आश्रित मुक्त छद छद-विधान की विविधता के प्रमाण हैं, परतु प्राय सर्वत्र ही उनकी स्वर-योजना और लय-विधान मे एक सादगी और ऋजु-सरल वेग मिलता है। स्वर की वह सूक्ष्म-तरल योजना जो महादेवी के गीतो मे घुलती रहती है, अथवा वह स्वर्ण-झकृति जो पत के छदो मे मिलती है, अथवा वह नाद-गाभीर्य जो निराला के छदो को अनुप्राणित करता है, बच्चन मे नही है। उनके लय-विधान मे रोमानी सूक्ष्म प्रभावो के स्थान पर व्यवहार-जगत् की शक्ति मिलती है। इसी प्रकार स्वर-योजना मे भी बारीक लोच न होकर सीधापन है। उनके स्वर और लय का भी सबध, जैसा कि अनुभूति और अभिव्यक्ति का है, आधुनिक मध्यवर्ग के व्यवहारगत जीवन से है, और उसी के अनुरूप उसमे समृद्धि और बारीक लोच का अभाव तथा एक प्रकार की रुखाई और व्यवहार-जगत् की शक्ति मिलती है।

साराश यह है कि बच्चन की कविता की सबसे बडी पूजी है अनुभूति, जिसका आधार है मूल मनोवेग । बच्चन की वे कविताएं, जिनमे प्रकृति (उसे नियति या समाज भी कह लीजिये) के विरुद्ध शाश्वत मानव के सफल-विफल संघर्ष को—सास्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक आवरण से मुक्त—उसके मूलरूप मे अकित किया गया है, निस्सदेह महान् कविताए है :

यह महान दृश्य है
चल रहा मनुष्य है
अश्रु, स्वेद, रक्त से लथपथ, लथपथ, लथपथ ।

वास्तव मे मूल मनोवेगो पर आधृत अनुभूति की पूजी अपने आप मे साधारण पूजी नही है—वह काव्य की मूलभूत पूजी है । परतु विचार, चिंतन और कल्पना के द्वारा इसका विकास करना अत्यत आवश्यक होता है क्योकि साधारणत मूलधन की मात्रा सीमित ही होती है । बच्चन ऐसा नही कर सके है—उनका बुद्धि और कल्पना-पक्ष समृद्ध नही हैं । अतएव वे मूल अनुभूतियो के ही आश्रित रहते है । परिणाम यह होता है कि जहा उनकी अनुभूति साथ नही देती वहा कविता सर्वथा गद्यमय हो जाती है । छायावाद का कवि तो अनुभूति की रिक्तता को कल्पना के फलो या चिंतन के धूपछाही आवरण अथवा कला की रेशमी जाली से ढक लेता था, परतु बच्चन इस कला से अनभिज्ञ हैं । अनुभूति के क्षीण होते ही उनकी कविता नगी हो जाती है । और चूकि, अनुभूति के प्रबल क्षण अत्यंत विरल होते है और वैसे भी बाह्य जीवन की सफलता के साथ-साथ उनकी शक्ति भी क्षीण होती चली जाती हैं, इसलिये बच्चन की रचनाओ मे महान् कविताओ की सख्या बहुत कम है, और ऐसी कविताए अनुपात से बहुत अधिक हैं जो प्राण-रस से वंचित, मुखर और वाचाल हैं । परतु किसी कवि का मूल्याकन उसकी सर्वश्रेष्ठ कविताओ के आधार पर ही किया जाना चाहिये, और इस दृष्टि से बच्चन का स्थान हमारी पीढी के कवियो मे बहुत ऊचा है—यद्यपि इसमे भी संदेह नही है कि गुण और परिमाण दोनो मे बच्चन से अधिक खोखली कविताएं भी आज के किसी समर्थ कवि ने नही लिखी ।

यौवन के द्वार पर

अभी थोड़े दिनो की वात है, 'साहित्य-सदेश' मे हिंदी के प्रौढ समालोचक पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का एक लेख छपा था, जिसमे वर्तमान हिंदी-साहित्य के गतिरोध पर क्षोभ प्रकट किया गया था। इसी अंक मे एक जोरदार लेख प्रोफेसर प्रकाशचंद्र गुप्त का भी था, जिसका आशय भी करीब-करीब यही था। इन लेखो से हिंदी-संसार मे एक खलवली-सी मच गई। हिंदी के रिटायर्ड महारथियो को भी चिंता हुई। उधर रायवहादुर डॉक्टर श्यामसुदर दास और मिश्रवंधु महोदयो मे पत्र-व्यवहार हुआ, इधर नागरी-प्रचारिणी सभा और साहित्य-सम्मेलन भी इस गतिरोध को भंग करने के लिए कटिवद्ध हुए।

परिणामस्वरूप डॉक्टर श्यामविहारी मिश्र की अध्यक्षता मे काशी मे एक सभा वुलाई गई, जिसमें हिंदी के लगभग सभी नये-पुराने कलाकार उपस्थित थे। बहुत-कुछ वाद-विवाद के उपरात यह निश्चित हुआ कि वर्तमान हिंदी-साहित्य की गतिविधि की जाच की जाय और सवसे पहले कविता मे श्रीगणेश हो। इस कार्य के लिए उपसमिति बनाई गई जिसमे सर्वश्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, कृष्णविहारी मिश्र और गुलाव-राय के नाम सर्व-सम्मति से चुने गए। परंतु एक नये लेखक ने आक्षेप किया कि उपर्युक्त तीनो ही सज्जन नवीन साहित्य से पूर्ण परिचित नही हैं, अतएव कम-से-कम एक नवीन आलोचक भी लिया जाय, जो मैटीरियलिस्टिक इंटरप्रेटेशन ऑफ हिस्ट्री करना जानता हो, साइको-ऐनैलिसिस से परिचित हो, एगो और इड की सीमा-रेखाओ को समझता हो। इस पर वहा उपस्थित अनेक वयोवृद्ध लेखक आगववूला हो गए—इन कल के लौंडो ने अंधेर मचा रखा है, एक तो हिंदी-साहित्य की यह दशा कर दी और फिर दूसरो पर विश्वास नहीं करते; हमारे साहित्य मे श्रद्धा तो विलकुल उठ गई है! वड़ी मुश्किल से इन लोगो का शांत किया गया।

यह प्रस्ताव वही-का-वही रद्द हो जाता परतु जब श्री कृष्णविहारी मिश्र ने स्वयं विनयपूर्वक स्वीकार किया कि आक्षेप वहुत अनुचित नही, उसमे वहुत-कुछ सत्य है, तो एक नई समस्या उठ खड़ी हुई। फिर एक वहस शुरू हो गई। पक्ष मे वोलने वालों में सर्वश्री रामवहोरी शुक्ल, ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल', ललितप्रसाद सुकुल आदि थे; विपक्ष मे श्री किशोरीदास वाजपेयी, हितैषीजी और प० भागीरथप्रसाद दीक्षित के जोरदार भापण हुए। अत मे पं० श्रीराम शर्मा खड़े हुए: "मैं न पक्ष मे हूं न विपक्ष मे, लेकिन चीज यह है ···" इतने ही मे यार-लोग चिल्ला उठे: "यदि

ऐसा है तो बैठ जाइए, बैठ जाइए ! ...”

आखिर तय यह हुआ कि निर्णायक तो उपर्युक्त तीनो सज्जन ही रहेगे, परंतु जिन कवियो की कविता के विषय मे निर्णय होना है, उनको यह अधिकार होगा कि वे अपने साथ एक नवीन आलोचक भी ले आएं।

अब बस एक प्रश्न शेष था किन-किन कवियो को लिया जाय ? और यह प्रश्न सचमुच भयंकर था। खुले अधिवेशन मे तो खून-खराबे की गुजाइश थी, इसलिए अध्यक्ष महोदय ने बुद्धिमानी से इसे निर्णायको पर ही छोड दिया। निर्णायको ने कुछ नये आलोचकों की सम्मति लेकर दिनकर, अंचल और नरेन्द्र ये तीन नाम चुनकर सभापति महोदय की घोषणा के लिए दे दिए। इस बार 'जीवन-साहित्य' के सुधीन्द्रजी उठ खडे हुए और बोले : “मुझे इस पर एक आपेक्ष है। ये तीनो सज्जन समाजवादी है, इनमे गाधीवाद का प्रतिनिधि नही है। अतएव मैं प्रस्ताव करता हू कि हिंदी के प्रसिद्ध गाधीवादी राष्ट्रकवि श्री सोहनलाल द्विवेदी को अवश्य सम्मिलित किया जाय। ऐसा न करना अनुचित, त्याज्य और घृणित होगा।” सुधीन्द्रजी की इस उक्ति पर डॉक्टर मिश्र चौंक पड़े—वर्गीकरण तो उन्होने भी किया है, लेकिन यह नया वर्गीकरण गाधीवादी और समाजवादी क्या बदतमीज़ी है ! और आप सच मानिए कि वे चिढकर फौरन ही इस प्रस्ताव को रूल-आउट कर देते, पर जब स्वयं रायबहादुर श्यामसुन्दर-दासजी ने काव्य-गुण के आधार पर द्विवेदीजी की सिफारिश की तो वे शात हो गए।

इस प्रकार चार कवि चुने गए—दिनकर, नरेन्द्र, अचल और सोहनलाल द्विवेदी—और उनसे कहा गया कि वे स्वयं अपना व्याख्याता चुनकर तीनो निर्णायकों से अभी मिल लें जिससे भावी कार्यक्रम की रूपरेखा निश्चित हो जाय।

दिनकर ने इधर-उधर आखें दौडाई तो उन्हे ऐसा कोई व्यक्ति नजर नही आया जिसने उनके काव्य का निकट से अध्ययन किया हो—वेनीपुरीजी तो जेल मे थे ! आखिर उन्होने स्वयं ही अपनी पैरवी करने का इरादा किया। इस पर कुछ लोगो को थोडा आश्चर्य हुआ कि 'कस्मै-दैवाय' के इस लेखक ने प० बनारसीदास चतुर्वेदी-जैसे अभिभावक को—जिन्होने 'रेणुका' को हिंदी-कविता के शिखर पर आसीन करने के लिए भगीरथ प्रयत्न तो नही (क्योकि वह तो सफल हो गया था) परतु गाधी-प्रयत्न अवश्य किया था—क्यों नही साथ लिया। पर दिनकर की दृष्टि मानो कह रही थी कि अब मैं ज्यादा समझदार हो गया हूं।

नरेन्द्र उठे और चुपके से श्री प्रकाशचंद्र गुप्त के पास जाकर खडे हो गए, जैसे कुछ कहने-सुनने की जरूरत ही न हो—इन दोनो लघु-लघु गात व्यक्तियो का आलो-चक-आलोच्य-सबध सनातन काल से ही चला आया हो।

अंचल ने सविनय दृष्टि से पं० नंददुलारे वाजपेयी की ओर देखा तो उनकी त्योरिया चढ गईं, वोले—“मुझे तुम्हारे लिए जो करना था कर दिया—'अपराजिता' की भूमिका लिखकर तुम्हे हिंदी के प्रमुख कवियो मे प्रतिष्ठित कर दिया। अब इस काम के लिए किसी छोटे-मोटे आदमी को टटोलो।” लाचार होकर अंचल को श्री कान्तिचद्र सौनरिक्सा से ही, जो गहरी सुर्ख टाई लगाए हुए उनके साथ-साथ काफी

फुर्ती से इधर-उधर घूम रहे थे, संतोष करना पड़ा।

सोहनलाल द्विवेदी के मन मे इस समय विचित्र संघर्ष चल रहा था। उनको अपने योग्य कोई आलोचक ही नजर न आता था। वे बार-बार सोचते थे किसको साथ ले चलू? महामहिम महामना महर्षि मालवीयजी को? परतु वे तो कही आते-जाते नही। पं० जवाहरलालजी को? लेकिन वे तो सुनते हैं रूजवेल्ट से मिलने की तैयारी कर रहे हैं। आचार्य शुक्लजी वक्त पर ही मर गए। रायबहादुर श्यामसुदरदास ने साहित्यिक सन्यास-सा ले लिया है। पतजी? बड़े सकोची हैं, शायद तैयार न हो। लेकिन होगे क्यो नही, मैंने भी तो उन पर एक कविता लिखी है। हरिभाऊजी का साहित्यिक महत्त्व लोग नही मानेंगे।

इसी उधेडबुन मे देर हो गई। शेष पाचो सज्जन प्रस्तुत थे। निदान सभापति महोदय को कहना पड़ा—"द्विवेदीजी, आपने अपना साथी नही चुना, जल्दी कीजिये।" द्विवेदी जी उत्तर भी न दे पाये थे कि डॉ० रामविलास शर्मा ने अत्यत विनयपूर्वक अपनी सेवाएं अर्पित कीं। बेचारे रावराजा को क्या मालूम था? सरल स्वभाव से बोल उठे—"हा-हा, सोहनलालजी, ठीक है। शर्माजी से अच्छा नई कविता का पारखी और कौन मिलेगा? वैसे भी पहलवान जंचते हैं। राम राखे, शाब्दिक हाथापाई से भी नही घबरायेंगे।" बस फिर क्या था! द्विवेदीजी का स्वाभिमानी चेहरा लाल हो गया। बोले—"आप वयोवृद्ध होकर मजाक करते हैं। मैं राष्ट्रकवि हू, राष्ट्र की एक-मात्र चिंताधारा का प्रतीक। मेरा घोर अपमान किया गया है।" और इतना कहकर श्री सोहनलाल द्विवेदी सुधीन्द्रजी को वही छोडकर सभा से उठकर चले गए।

रावराजा अजब उलझन मे थे, बेचारे बूढे आदमी खिसियाने-से रह गए। लेकिन बख्शीजी ने खडे होकर कहा कि अब बहुत देर हो गई है; जो नही सम्मिलित होता उसे छोड दीजिए। विवशता है।

एक सप्ताह बाद!

साप्ताहिक 'भारत' और 'मेघदूत' मे निर्णायक उपसमिति का विस्तृत वक्तव्य प्रकाशित हुआ जिसकी यथार्थ प्रतिलिपि हम पाठकों की सुविधा के लिए यहा दे रहे हैं।

दिनकर, अंचल और नरेन्द्र की कविताओ का अध्ययन करने के उपरात एक बात असंदिग्ध रूप से हमारे सामने आती है कि इन तीनो के काव्य-विषय मुख्यत रति और उत्साह हैं। अथवा आज की शब्दावली मे इनके काव्य की मूल प्रवृत्तिया हैं सेक्स और क्राति। क्राति—सामाजिक और राजनीतिक दोनो प्रकार की।

रति और उत्साह, जिसमे ध्वंसमूलक क्रांति और रचनात्मक निर्माण-कार्य दोनो ही आ जाते हैं, यौवन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, और इन दोनो के संतुलित उपयोग एवं उपभोग मे ही उसकी स्वस्थता है। इनमे पहली प्रवृत्ति प्रधानत अन्तर्मुखी और दूसरी बहिर्मुखी है। पहली का संबंध व्यक्तिगत जीवन और दूसरी का सामाजिक दायित्व से है। दायित्व शब्द का प्रयोग हम इसलिए कर रहे हैं कि ये तीनो ही कवि उसके प्रति अत्यंत सचेत हैं—इतने अधिक कि अपनी पहली प्रवृत्ति के लिए तीनो को

ही कुछ-न-कुछ सफाई देनी पडती है।

१. नरेन्द्र—" 'प्रवासी के गीत' एक क्षयग्रस्त युवक कवि के गीत हैं।"

२ अचल—"जहा मैं बहक गया हूं वहा मेरी दुर्बलता है, जीवन के क्षयी रोमास के प्रति अवाछनीय आसक्ति है।"

३. दिनकर—" 'रेणुका' और 'हुकार' के विपरीत 'रसवंती' की रचना निरुद्देश्य प्रसन्नता से हुई और इसमे किसी निश्चित सदेश का अभाव-सा है। इन गीतो मे मैं अपने हाथ से छूट-सा गया हू और प्राय अकर्मण्य आलसी की भाति उस प्रगल्भ अप्सरी के पीछे-पीछे भटका फिरा हू जिसे कल्पना कहते हैं। इस अलस भ्रमण मे कुछ मेरे हाथ भी लगा या नही, यह तो याद नही, हा, यात्रा सुखद रही।"

नरेन्द्र और अंचल ने अपनी रति-भावनाओ को क्षयग्रस्त युवक के गीत और रोमास कहा है। पर वास्तव मे यह रोमास ही इन दोनो के स्वभाव का धर्म है जिसे उन्होने खिलवाड करके विकृत कर लिया है। ये दोनो ही कवि सचमुच अपने-अपने ढंग के 'न्यूरोसिस' के केस हैं। न्यूरोसिस शब्द पर चौकने की आवश्यकता नही। यह एक वैज्ञानिक शब्द है, जिसका अर्थ है साधारण मानसिक स्वास्थ्य से च्युति; और आज हममे से ९० प्रतिशत नवयुवक इसके शिकार हैं।

नरेन्द्र का नारी के प्रति दृष्टिकोण मूलतः छायावादी है। उनकी भावना मौग्ध्य से आगे नही बढ सकी, उन्होने दूर से ही नारी को मुग्घ भाव से देखा है। स्पष्ट शब्दो मे, उनकी सेक्स चेतना ने नारी की ओर बढने, उसका निकट अनुभव प्राप्त करने के स्थान पर कवि के भीतर ही प्रतिवर्तन किया है, वह कवि के मन मे घुमडती रही है। अतएव उनकी शृगार-कविता, उनके संयोग-वियोग के गीत, सभी सफल-विफल दिवा-स्वप्नो के ही मधुर चित्र हैं। हिंदी का छायावाद अनेक प्रकार की सामाजिक कुठाओ की सृष्टि है जिसमे मुख्यतम है कुठित शृगार-भावना। नरेन्द्र की रसाभिव्यक्तियो मे इसी कुठा का नग्नतम रूप मिलता है। इस कुठा के लिए उनका अपना सकोची स्वभाव, जिसमे नारीत्व का भी पर्याप्त अश विद्यमान है, और सामाजिक परिस्थितिया उत्तरदायी हैं। यह कुठा जितनी ही विवशताजन्य यानी व्यक्तित्व के प्रतिकूल होगी उतनी ही अधिक मन मे घुमडन पैदा करेगी और फिर यह घुमडन उतने ही अधिक दिवा-स्वप्नो की सृष्टि करेगी। 'शूल-फूल' और 'प्रवासी के गीत' दोनो मे तो स्पष्टतः, स्वीकृत रूप मे, छायावादी प्रेरणा है।

छायावाद मे काम-सबधी प्रतिक्रियाओ की दो सीमाएं हैं : पत और प्रसाद। पत का दृष्टिकोण शुद्ध मानसिक है। उनका अतर्मुखी एव अत्यत सूक्ष्मता-प्रिय स्वभाव किशोर-सुलभ मौग्ध्य से आगे नही जा सका। नारी के प्रति उनका भाव काम, विस्मय और श्रद्धा का एक विचित्र अशरीरी मिश्रण है। इसके विपरीत प्रसाद की प्रतिक्रिया स्वस्थ शरीर की वाछित उष्णता है और इसीलिए उनके शृगार-चित्रो मे रूप-यौवन की स्वस्थ गंध है। नरेन्द्र मे न तो पत की-सी अत्यत परिष्कृति-प्रिय रुचि का सयम है और न प्रसाद के दृष्टिकोण का स्वास्थ्य। पत ने अपने और नारी के बीच सदैव जो एक आदरपूर्ण अतर बनाए रखा है, वह नरेन्द्र मे नही है। उनके विरह-चित्रो के पीछे जो कोई नारी-पात्र झाकता हुआ मिलता है वह शायद उनके काफी पास आकर उनकी

वासनाओ को उत्तेजित करके पृथक् हो गया है, जिससे उनके मानसिक स्वास्थ्य पर और भी बुरा प्रभाव पडा है। इसीलिए उनके चित्र काम-स्नात होते हुए भी पूर्ण स्वस्थ मन की उद्भूति नही हैं, उनमे नारी-अंगो के प्रति इतना अधिक लालच है कि उनको सर्वथा स्वस्थ नही कहा जा सकता। आज नरेन्द्र का दृष्टिकोण बदल गया है। वे क्रियात्मक रूप मे प्रगतिवादी हैं और उनकी ईमानदारी मे शुबा करने की कोई गुजाइश नही। अपने इस नये दृष्टिकोण के लिए उन्होने सहर्ष एक बडा मूल्य भी दिया है; और यह भी ठीक ही है कि उन्होने काफी सचाई से अपने सौंदर्य-रसिक हृदय को समाजवादी साचे मे ढालने का प्रयत्न किया है। परतु स्वभाव की मूल वृत्तिया सरलता से नही बदल सकती। जितना ही नरेन्द्र अपने व्यक्तिगत सुख-दु ख को क्षय-ग्रस्त मनोविकार समझकर उसे सामाजिक हित मे अतर्भूत करने का प्रयत्न करते हैं उतना ही शायद उनका न्यूरोसिस बढता जाता है।

अभी उनकी एक कहानी प्रकाशित हुई है—'शीराजी'। उसका दृष्टिकोण सर्वथा स्वस्थ है, शीराजी के चरित्र की शक्ति असदिग्ध है, किंतु कवि की अपनी भूखी वृत्ति भी नग्न रूप मे प्रकट हुए बिना नही रह सकी :

''कहते हैं वहा हिंदुस्तान के सब सूबो की ही सुदरिया नही वरन् विदेश के देशो से भी कई सुदर स्त्रिया उन्होने रखी थी। हिंदुस्तानी स्त्रिया उन्हे विशेष प्रिय थी—सुदूर सरहद्दी सूवे की छरहरी लंबी नाजनी, जिसकी भाषा जीवन-पर्यन्त न राजा साहब ही समझ पाए और न जो राजा साहब की ही भाषा सीख सकी, वह कर्नाटकी जिसकी अटपटी बोली मे वही चटपटापन था जो दक्षिण की भूमि मे उगने वाले मिरच-मसालो मे होता है, कुमायू-गौरागना नायक-कन्या जो अपने लिए हमेशा पुल्लिग-वाचक शब्दो से कभी मोह ही न छोड सकी थी, बुदेलखड की कुमारी, जिसकी मास-पेशिया उस देश की चट्टानो की तरह दृढ और वहा की रातो की तरह कोमल थी और बुदेलखड की तारो-भरी रात के समान ही जिसका सावला-सलोनापन आखो को चमत्कृत कर देता था, मालवा की कोमलागी मालती जिसके श्वासो मे मादक सौरभ था अहि-फेन के फूलो को चूमकर वहने वाली वासती समीर का…"

अचल मे नरेन्द्र की अपेक्षा पौरुष अधिक है। छायावाद के मूल मे जो विद्रोह या असतोष की भावना थी उसने दो रूप धारण किये। पत, महादेवी और रामकुमार जैसे भाव-सुकुमार कवियो मे वह अंतर्मुखी होकर आत्मबद्ध हो गई; निराला, भगवतीबाबू और नवीन-जैसे शक्तिशाली व्यक्तियों मे उसने बहिर्मुखी होकर क्रांति का रूप धारण किया जो मुक्ति का कोई मार्ग न पाकर अवरुद्ध वाष्प-समूह के समान विस्फोट करती रही। अचल इन्ही दूसरे प्रकार के कवियो की साहित्यिक सतान है, जिसने भौतिकवाद के वर्धमान प्रभाव को पूरी तरह ग्रहण करके अपने दृष्टिकोण को इन पूर्वजो की अपेक्षा अधिक स्थूल और भौतिक बना लिया है। स्वभावतः उसकी सेक्स-चेतना मांसलुब्ध है। अंचल दूर खडा होकर लालची निगाहो से नारी को नही देखता। उसकी सेक्स-प्रतिक्रिया तो ऐसे व्यक्ति की-सी है जिसकी भूख खाने पर भी नही मिटती। स्पष्टतः यह भी एक अस्वास्थ्य का ही लक्षण है। और सचमुच अंचल का

न्यूरोसिस नरेन्द्र के न्यूरोसिस से ज्यादा खतरनाक है । इसकी कविता मे नारी की जिस बीभत्स प्रलयकारिणी शक्ति का बार-बार आह्वान किया गया है वह और कुछ नही उसकी यही विक्षुब्ध वासना है जो विकराल रूप धारण कर उसके मन मे प्रकट होती रहती है ।

अंचल के शृंगार-चित्रो मे तमस् की शक्ति है और यह शृंगारिक तमस् रति, घृणा और क्रोध के तत्त्वो से बना हुआ है । हमारे स्वभाव मे प्रेम करने की प्रवृत्ति और वध करने की प्रवृत्ति दोनो ही साथ-साथ वर्तमान रहती है । ये दोनो एक-दूसरे से इतनी मिली-जुली हैं कि किसी प्रकार का आघात पाते ही, जैसे हताश हो जाने पर, तुरत रूप-परिवर्तन कर लेती है । एकसाथ ही हमारा प्रेम घृणा मे और घृणा प्रेम मे परिवर्तित हो जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ परिस्थितियो मे इन दोनो का सामजस्य भी गड़बड हो जाता है और वे अत्यत विशृखल रूप धारण कर लेती है । आत्मपीड़न एव पर-पीडन ऐसी ही प्रवृत्तिया हैं । अचल की भूखी वासना मे स्वभावत. ऐसा ही हुआ है । अगरेजी मे बायरनिज्म बहुत-कुछ ऐसी ही प्रवृत्ति का नाम है :

फिर दिगम्बरी के आँगन से लोथो के अम्बार सजाये
कौन चली आती तुम रूपसि ! रक्त-लिप्त अलकें उलझाये !
भर लाई हो तप्त कठिन अंगो मे तूफानो का आसव
आज तुम्हे फिर विश्व बदलना आज तुम्हे क्या कठिन असम्भव ?

दिनकर का व्यक्तित्व मूलतः शृगारी नही है । परतु उन्होने शृगार को जीवन की एक अत्यत स्वस्थ प्रवृत्ति के रूप मे ग्रहण किया है और उसको, जैसा कि उनके उद्धरण से स्पष्ट है, वाछित आदर दिया है । दिनकर ने अपने को संघर्षमय पथ का पथिक मानते हुए शृगार को सुखद विराम-स्थल माना है । उसके शृंगार-गीत शक्तिशाली व्यक्ति के हृदय मे स्वभाव से वर्तमान रति-भावना की शुद्ध उद्गीतिया है । पुरुष-प्रिय के निरंतर आकर्षण की मान्यता स्वीकार करते हुए उन्होने नारी को पुरुष-जीवन के लिए एक अत्यत मधुर प्रभाव माना है ।

छरहरे बदन वाले साधारणत. स्वस्थ इस युवक कवि की चैतन्य आंखो मे मुस्कराती हुई रस-रेखा नारी-सौंदर्य से इसी मधुर प्रभाव को ग्रहण करती है । उसमे नारी-अगो के प्रति न कोई लालच है और न अमिट भूख । स्पष्टत दिनकर मे किसी प्रकार की मानसिक विकृति के लक्षण नही दिखाई देते । उसमे दिवा-स्वप्नो का लग-भग अभाव-सा है । इसलिए उनकी सभी रसोक्तिता विकच और प्रसन्न हैं । दिनकर के शृंगारिक दृष्टिकोण मे एक और विभिन्नता यह है कि वह सर्वथा भौतिक नही हो पाया, उसमे कही-कही आध्यात्मिक स्पर्श भी अत्यंत सुव्यक्त है । और, इसका कारण शायद यही है कि दिनकर मूलत देशभक्त कवि है । उसके हृदय मे भारत के पवित्र अतीत के प्रति अक्षुण्ण श्रद्धा है । इसीलिए उपनिषद् और बौद्ध दर्शन की जन्मभूमि मे उत्पन्न और पोषित यह कवि आत्मा का मोह नही छोड सका । 'रसवती' की अनेक कविताओ मे इस प्रकार के अभौतिक सकेत हैं । यह दूसरी बात रही कि अत मे जाकर इस प्रकार के सभी अभौतिक संकेतो का भौतिक आधार मिल जाए, क्योकि प्रेम

तो भौतिक ही हो सकता है।

अब इन कवियो के व्यक्तित्व का दूसरा पहलू लीजिए : उत्साह या क्रांति-भावना।

नरेन्द्र मे यह भावना मुख्यतया प्रतिक्रिया-जन्य है। 'प्रवासी के गीत' से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके स्वभाव की कोमलता मे जब परिस्थितियो के आघात से आत्मक्षय के चिह्न दिखाई देने लगे तो उन्होने एक सचेत व्यक्ति की भांति उसका उपचार करने का प्रयत्न किया। वैयक्तिक चेतनाएं जब किसी प्रकार के अतिचार के कारण रुग्ण या विकृत हो जाएं तो इसका उपचार यही है कि अहं का समाजीकरण किया जाए, यानी उन चेतनाओ को आत्म-प्रेम से मोडकर विश्व-प्रेम की ओर नियोजित किया जाय। अतिशय भावुकता की मुक्ति है बुद्धि, और अतिशय आत्मप्रेम (जो वास्तव मे इस अतिशय भावुकता का मूल कारण है) की मुक्ति है सामाजिकता। एक जागरूक व्यक्ति की भांति नरेन्द्र ने यही मार्ग ग्रहण किया है।

आज नरेन्द्र प्रगतिवादी हैं, समाजवाद उनका स्वीकृत जीवन-दर्शन है। सामाजिक हितो के लिए वे उत्साहपूर्वक क्रियाशील हैं। समाजवादी होने के कारण स्पष्टत ही उनकी क्रांति-भावना के पीछे एक निश्चित रचनात्मक विधान है। इसलिए उनकी इन कविताओ मे सयत शक्ति मिलती है, उच्छृंखल विस्फोट नही। यह एक बुद्धिवादी की क्रांति है। इसमें भविष्य का एक स्वप्न है और सचमुच नरेन्द्र का स्वप्नदर्शी स्वभाव आज भी उसका मोह नही छोड सका। जब उनके सस्कार प्रबल हो उठते हैं तो फिर पुराने मधुर-विधुर सपने देखने लगते है, जब उनकी चेतना जागरूक रहती है तो वे लाल रूस के सपने देखते हैं, उनके व्यक्तित्व की द्विधा, जो अत्यंत व्यक्त रूप मे हमारे सामने है, इसी स्तर पर जाकर मिटती है।

अंचल की क्रांति के पीछे मूलत. कोई बौद्धिक विधान नही है : अंचल के स्वभाव मे बौद्धिकता का प्राधान्य नही है। उसमे किसी प्रकार की राजनीतिक चेतना भी नही है। जो कुछ है वह सामाजिक ही है और वह सामाजिक चेतना भी प्रधानत. यौन-संबधो तक ही सीमित है। आज हमारे समाज मे जो विकृतिया पैदा हो गई हैं उनमे एक विकृति है यौन-सबधो की विषमता, जिसका सबसे स्पष्ट कारण यह है कि हमारा नीति-विधान् यौन-संबधो को ही सबसे बडा निषेध मानकर उनके दमन को अप्राकृतिक महत्त्व देता रहा है। फलत, आज के मामूली ढंग के खाते-पीते मध्यवर्गीय युवक ने जब सामाजिक बंधनो के प्रति क्रांति की तो सबसे अधिक आक्रोश उसने यौन-नीति के विरुद्ध ही प्रकट किया—क्योकि अन्य सभी बधनो की अपेक्षा यही उसे अधिक खल रही थी। जो इस उलझन का कोई समाधान न निकाल सका वह भाग्यवादी बन गया और जिसने समाजवाद का सहारा ले लिया उसने इसके मूल कारण अर्थ-विषमता को अपना मुख्य शत्रु मानकर उसके विरुद्ध विद्रोह खडा किया। अंचल ने समाजवाद का आचल इसी तरह पकडा है। अर्थात् यौन-सबधो की विषमता ही उन्हे अर्थ-संबधो की विषमता की ओर ले गई है। यही कारण है कि 'किरण-वेला' मे भी, जहा स्पष्ट शब्दो में अंचल ने पुराने पापो का प्रायश्चित्त करते हुए प्रगतिवाद की दीक्षा ले ली है, जहा

अत्यंत ओज और तेज के साथ उन्होने शोषितो की अग्निमयी पीडा को मुखर किया है, नारी-शोषण के वासना-लथपथ चित्रो का ही प्राधान्य है। अचल की दुनिया में सबसे बडी मजलूम नारी है और इन ज़ुल्मो का अत करने के लिए भी उसने नारी की ही भैरव मूर्ति का आह्वान किया है।

अंचल बुद्धिजीवी नही है, और न श्रद्धावान् ही, इसलिए वह समाजवाद के भविष्य-स्वप्न को ग्रहण करने में असमर्थ रहा है। अतएव उसमें क्राति का विध्वसात्मक रूप ही मिलता है, रचनात्मक रूप नही। उसकी कविता में काले अधड की शक्ति है, आशा का उज्ज्वल सदेश नही। परतु यही उसका अपना व्यक्तित्व और शक्ति है।

हमने अभी कहा कि दिनकर मूल रूप में देश-भक्त कवि हैं। उन्होने अपने कवि-जीवन के प्रभात में 'रेणुका' में देश की गौरव-विभूति के प्रति अभिमान जागृत करते हुए पराधीनता के विरुद्ध क्राति-घोष किया था। किंतु केवल देशभक्ति पिछले युग की भावना है, आज तो मानववाद की भावना जागृत हो उठी है। स्वय मानव ही मानवता का अत कर रहा है—आज के कवि की यही सबसे बडी पीडा है। दिनकर ऐसे प्रात का कवि है जहा निर्धनता अट्टहास करती है। वर्ग-वैषम्य भी विहार से अधिक शायद रियासतो में ही मिले। इसके अतिरिक्त इन बेचारे भूखो-नगो को प्रकृति के खूनी दात और पंजों का भी अक्सर शिकार बनना पडता है। इसीलिए समाजवादी आदोलन किसान-आदोलन आदि वहा अधिक सक्रिय रूप धारण कर चुके है। दिनकर ने इन्ही की तडप को सस्वर कर दिया है। उसका अत करने के लिए विपथगा-क्राति का आह्वान किया है। परतु फिर भी उसने समाजवादी जीवन-दर्शन को पूरी तरह ग्रहण नही किया, उसकी गति मानववाद तक ही सीमित रही है। इसीलिए उसकी कविता भी सैद्धातिक नही बनी। कुल मिलाकर दिनकर देशभक्त मानववादी है। पराधीनता के अभिशापो और शोषितो की पीडाओ से उसका शक्तिशाली व्यक्तित्व तडप उठता है। परतु क्योंकि मुक्ति का कोई मार्ग दिखाई नही पडता इसीलिए वह केवल हुकार भरकर रह जाता है। वह उन सशक्त व्यक्तियो का उच्चार है जो देश की परतन्त्रता की विषमताओ का तो पूरी तरह अनुभव करते हैं, परतु सक्रिय राजनीति से दूर होने के कारण कुछ समाधान नही सोच पाते।

अब तक हमने इन तीनो कवियो के व्यक्तित्वो का विश्लेषण करते हुए उनकी रति और उत्साह की भावनाओ का विवेचन किया। अब एक कार्य शेष रह जाता है: उनके काव्य-गुण की परीक्षा। उसके लिए, नये आलोचक क्षमा करे—हमारे पास वही पुरानी कसौटी है, रस की। इनमे से एक कवि की क्राति-भावना उचित दिशा को ग्रहण करनेवाली है, दूसरे की क्राति विपथगा है—यह सब-कुछ इस समय हमारे लिए मूल्य नही रखता। इसके लिए पुरस्कार या दंड देने का दायित्व हम समाज पर छोडते हैं। रस-परीक्षण के लिए तो केवल एक बात द्रष्टव्य है: इन कविताओ मे आनद लेने की शक्ति कहा तक है। अर्थात् इनके रचयिता कहा तक अपने व्यक्तित्वो का सफल अनुवाद कर सके हैं। और भी स्पष्ट शब्दो मे, इनकी आत्माभिव्यक्ति कितनी सच्ची, कितनी तीव्र,

कितनी गहरी, कितनी सबल एवं प्रौढ़ है।

इस कसौटी पर कसने पर एक ओर नरेन्द्र की वे गीतियां अत्यंत सरल बन पड़ी हैं जो उनके जीवन के सहचर दिवा-स्वप्नों की मधुर सृष्टि हैं। दूसरी ओर उनके वे उद्‌गार—ज्येष्ठ का मध्याह्न, बंदी, पापी आदि—भी स्वस्थ रस से परिपुष्ट हैं जो कवि की उस समय की मनोदशा की अभिव्यक्ति हैं जबकि वे अपने रुग्ण मन के उपचार के लिए समाजवाद की 'प्राणधारा' का सेवन कर रहे थे। इनके अतिरिक्त उनकी बहुत-सी कविताएं, जैसे समाजवाद का प्रचार करने वाली रचनाएं या विरह-गीतों की माला पूरी करने वाले गीत, काफ़ी साधारण स्तर की हैं। हिंदी के कई कम प्रसिद्ध कवियों ने (उदाहरणार्थ, गिरिजाकुमार माथुर ने) उनसे मधुरतर गीत-रचना की है।

अंचल के विषय में हमने अभी निवेदन किया कि उनमें अंधड़ की शक्ति है। 'मधूलिका' और 'अपराजिता' को पढ़कर आप सहज ही इसका अनुभव कर लीजिए। इनमें जिस व्यक्तित्व का अनुवाद है उसकी शक्ति असंदिग्ध है, पर बौद्धिक सुलझाव उनके विचारों में प्रारंभ से कम रहा है। इसलिए ये कविताएं कुहर-धूमिल एवं रिक्त हैं। उन्हें पढ़ते हुए क्या पाठक यह अनुभव नहीं करता कि वह एक बवंडर के बीच खड़ा हुआ है, जिसमें गर्द-गुबार और रंग-बिरंगे फूल-पत्तों का मिला-जुला तूफ़ान मचा हुआ है, जो उसे झकझोर तो देता है पर कोई निश्चित प्रभाव नहीं डालता? परंतु अंचल ने निश्चय ही उन्नति की है। 'किरण-बेला' में आकर उनका दृष्टिकोण आवर्त-बद्ध नहीं रहा, उनकी बौद्धिक पकड़ सुलझ गई है, उनको एक दिशा मिल गई है। और, इसके लिए सचमुच उन्हें प्रगतिवाद का आभार मानना चाहिए।

अंचल के आवेश और कल्पना दोनों में वेग है, पर उनको स्थिरता प्रदान करने वाली बौद्धिक शक्ति उनके पास कम है। इसीलिए भावगत कविताओं एवं अंतर्गीतों की अपेक्षा उनकी वस्तुगत कविताएं, जिनमें वस्तु की रूपरेखा और सीमाएं निश्चित होने के कारण स्थैर्य आप-से-आप वर्तमान रहता है, कहीं अधिक सफल और रस-पीन है। 'दानव', 'मजदूर की अंधी लड़की', 'शोषिता' आदि कविताएं हमारी गवाही देंगी। ये तीनों, और इस प्रकार की कुछ अन्य कविताएं भी अत्यंत उच्च कोटि की हैं।

दिनकर का व्यक्तित्व इन दोनों की अपेक्षा अधिक शक्तिमान् है। उनके 'कम्बुघोष' में तो प्रकृत शक्ति है ही, 'वीणा-रव' में भी कम माधुरी नहीं। उनकी सर्वप्रथम काव्य-कृति है 'रेणुका'। उनकी कुछ कविताओं में देश की गौरव-भावनाओं का पवित्र जय-जयकार है जो मन में साहित्य रस का संचार करता है। परंतु अधिकतर रचनाएं, मुख्यतः तो कवि-प्रतिभा का प्रथम स्फुरण होने के कारण, और कुछ अंशों में बाहर के कतिपय नैतिक अथवा दूसरे शब्दों में असाहित्यिक प्रभावों के कारण इतिवृत्त प्रधान हो गई हैं। दिनकर के व्यक्तित्व की सफलतम उद्‌भूतियां हैं 'हुंकार' और 'रसवंती' की विशिष्ट कविताएं। एक में यदि इस ज्वालामुखी का उष्ण-तरल लावा है, तो दूसरी में उसके हृदय में गूंजती हुई बांसुरी का रस-भीगा स्वर! दिनकर की कविता वहां असफल होती है जहां उसमें अनुभूति लुप्त हो जाने से एक खोखलापन

शेष रह जाता है, जो निस्सार बजता रहता है। यह दोष अंचल की 'मधूलिका' और 'अपराजिता' मे और भी भयंकर रूप मे मिलता है। अस्तु।

अत मे दिनकर, अंचल और नरेन्द्र तीनो के काव्य का पूरी तरह अध्ययन कर लेने के उपरांत हमें किसी प्रकार की निराशा नही हुई। ये कवि अपने पूर्ण यौवन की ओर स्वस्थ डगो से बढ रहे हैं और यौवन के द्वार तक पहुच चुके हैं।"[१]

१. इस लेख के पूर्वार्द्ध में मेरी लेखनी से मौज में आकर निरुद्देश्य ही कुछ छींटे बिखर गए हैं। ये छींटे फ्लेफ्यलीन के छींटो की तरह सर्वथा निर्दोष हैं, इसलिए मुझे इनके लिए कोई सफाई नहीं देनी। फिर भी यदि इनसे किसी का मन मैला होता है तो उसमें मैं अपने को दोषी न मान सकूगा।

गिरिजाकुमार माथुर

सन् १९३६ मे 'कामायनी' का प्रकाशन हुआ—और '३७ मे प्रसादजी का स्वर्गवास। लगभग इसी समय से छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरभ हो गई थी। उन्ही दिनो पंतजी के संपादन मे 'रूपाभ' का प्रकाशन हुआ जो नवीन काव्य-चेतना की अभिव्यक्ति का कदाचित् पहला माध्यम बना। 'रूपाभ' मे भावप्रवण छायावादी रचनाए नही छपती थीं—पंतजी के नाम से आकृष्ट होकर छायावाद से प्रभावित जो कवि अपनी रचनाएं भेजते थे, उनसे अत्यंत शिष्ट भाषा मे—पंतजी और नरेन्द्र की अपनी मीठी भाषा मे क्षमा माग ली जाती थी। 'रूपाभ' शब्द केवल नाम ही नही था—नवीन चेतना का प्रतीक भी था। उसमे यह व्यंजना स्पष्ट थी कि छायावादी 'आभा' नवीन युग में सौंदर्य-बोध को व्यक्त करने मे असमर्थ हो चुकी है—नया युग केवल 'आभा' नही उसके साथ 'रूप' की भी मांग कर रहा है। अत. छायावाद के अमूर्त सौंदर्य के स्थान पर मूर्त सौंदर्य काव्य का विषय बना—भाव के तारल्य के स्थान पर वस्तु की दृढ रूपरेखा सौंदर्य का प्रतिमान बनी। अंगरेजी काव्य मे इससे काफी पहले इसी प्रकार की घटना हो चुकी थी—वहा भी तीन-चार आत्मविश्वासी बिंबवादी कवियो ने निजी तौर पर संगठन कर रोमानी प्रवृत्ति का अत करने का निश्चय किया था और अपने निश्चय को मूर्तित करने के लिए निम्नलिखित उद्देश्य-पत्र प्रकाशित किया था :

१. जन-साधारण की भाषा का प्रयोग करना—किंतु सदैव एकांत उपयुक्त (एग्जैक्ट) शब्द का ही प्रयोग करना; न तो उपयुक्तप्राय शब्द का प्रयोग और न केवल अलकृत शब्द का।

२. नई मनोदशाओ की अभिव्यक्ति के लिए नई लयो की सृष्टि करना—और पुरानी लयो का अनुकरण न करना क्योकि वे तो पुरानी मनोदशाओ की प्रतिध्वनि-मात्र हैं। हमारा यह आग्रह नही है कि मुक्त छंद ही काव्य-रचना का एकमात्र माध्यम है। हम तो इसके लिए उसी प्रकार संघर्ष करते हैं जिस प्रकार स्वातंत्र्य सिद्धात के लिए। हमारा यह विश्वास है कि कवि का वैशिष्ट्य रूढ छंदों की अपेक्षा मुक्त छंद मे अधिक सफलता से अभिव्यक्त हो सकता है। कविता में नई लय का अर्थ है नया भाव।

३. विषय-निर्वाचन में पूरी स्वतंत्रता प्रदान करना। वायुयान और मोटरकार आदि के विषय मे फूहड रचनाएं सुदर कला का निदर्शन नही मानी जा सकती और न अतीत-विषयक सुदर रचनाएं अनिवार्यतः कुकवित्व की ही परिचायक होती हैं।

आधुनिक जीवन के कलात्मक महत्त्व मे हमारी प्रबल आस्था है, किंतु हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि सन् १९११ मे निर्मित वायुयान से अधिक निष्प्रभाव और पुराने ढग की चीज दूसरी नही है।

४. बिंब प्रस्तुत करना (इसीलिए बिंबवादी नामकरण हुआ है)। हम चित्र-कला के किसी सप्रदाय के प्रतिनिधि नही हैं, किंतु हमारा यह विश्वास है कि कविता मे विशेष पदार्थों का यथावत् प्रत्यकन होना चाहिए न कि अस्पष्ट सामान्य धारणाओं का, चाहे वे कितनी ही भव्य और मधुर क्यो न हो। इसी कारण हम 'भूमावादी' (कॉस्मिक) कवि का विरोध करते है क्योकि हमे लगता है कि वह अपनी कला की वास्तविक कठिनाइयो से बचने का प्रयास करता है।

५. ऐसी कविता की रचना करना जिसकी रूपरेखा दृढ-कठोर और स्पष्ट हो—कही भी आविल और अनिश्चित न हो।

६. अत मे, हममे से अधिकाश का यह मत है कि एकाग्रता कविता का प्राण है।

—एक वाक्य मे भावना की तरलता के स्थान पर नवीन चेतना वस्तु की दृढ-स्पष्ट रूपरेखा के लिए आग्रह कर रही थी।

छायावाद के विरोध मे हिंदी कवियो के तीन वर्ग उभर कर सामने आए. १ बच्चन और उनके समसामयिक गीतकार · जिन्होने छायावाद के व्यक्ति-तत्त्व को तो आग्रह के साथ ग्रहण किया किंतु उसके रहस्यमय वायवीय और अमूर्त रूप का निषेध कर वास्तविक जीवन की सुख-दु खमयी अनुभूतियो को प्रत्यक्षत. काव्य का विषय बनाया और उधर काव्य-शिल्प मे प्रतीक तथा लाक्षणिक एव व्यजनात्मक शब्दावली के आवरण हटा जीवन के परिचित बिंबो तथा सीधी भाषा का प्रयोग आरभ किया; २. सामाजिक चेतना के प्रति आग्रहशील कवि : जो मार्क्सवादी जीवन-दर्शन मे अपना आदर्श प्राप्त कर छायावाद की वैयक्तिक चेतना को उसके मूर्त-अमूर्त प्रत्यक्ष-परोक्ष सभी रूपों मे अनादृत कर भौतिक जीवन की समस्याओ को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयत्नशील थे—और उसी के अनुरूप जन-भाषा तथा जन-जीवन के सहज बिंबो का ग्रहण करना चाहते थे—पारिभाषिक शब्दावली मे ये कवि प्रगतिवादी कहलाये; ३. प्रयोगवादी कवि जो छायावाद की वैयक्तिकता को हृदय के स्थान पर बुद्धि के धरातल पर स्वीकार कर आधुनिक जीवन के अनुरूप एक नवीन सौदर्य-बोध का दावा कर रहे थे और उसको अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए आधुनिक जीवन के नवीन उपकरणो को सभी प्रकार की रगीन भावनाओ के ससर्ग से मुक्त कर मूर्त बिंबरूप मे अंकित करने के लिए व्यग्र थे. ये कवि आगे चलकर अपनी काव्य-प्रवृत्ति को प्रयोगवाद के स्थान पर 'नई कविता' कहने का आग्रह करने लगे।

आरंभ मे इन तीनो प्रवृत्तियो का पार्थक्य स्पष्ट नही था—केवल इतना ही आभास मिलता था कि छायावाद की अमूर्त वायवीय काव्य-चेतना अपर्याप्त सिद्ध हो रही थी और उसके स्थान पर जीवन की मूर्त और मासल अभिव्यक्ति के लिए एक नयी

काव्य-चेतना का उदय हो रहा था। गिरिजाकुमार माथुर की कवि-प्रतिभा का उदय इसी वातावरण मे हुआ। अत. उनकी कविता मे ये सभी तत्त्व सहज ही विद्यमान हैं। वे हिंदी के अत्यत मधुर गीतकार हैं। मंजीर के गीतो मे उन्होने किशोर-हृदय की रंगीन भाव-कल्पनाओ को स्वर प्रदान किया है। इन गीतो मे छायावाद की रंगीनी तो है किंतु इनकी भाव-वस्तु वायवीय नही है। इनका आलबन किशोरभाव की प्रधानता के कारण कल्पनागम्य भले ही हो किंतु कल्पना-जात नही है। वह दूरस्थित अवश्य है किंतु यह दूरी उसके आकर्षण की वृद्धि करने के लिए ही है उसको रहस्यमय या अगम्य बनाने के लिए नही। इस प्रकार इन गीतो मे छायावाद की आभा को इस नये कवि ने रूप प्रदान किया है। उस समय और भी कवि छायावाद की आभा को मासल रूप देने का सफल-असफल प्रयत्न कर रहे थे, किंतु कही तो आभा की तरलता मूर्त बिंबो की पकड मे नही आती थी और कही रूप ही अधिक मासल बन जाता था। गिरिजाकुमार के गीतो मे रूप और आभा का समन्वय पहली बार मिला। 'मजीर' के गीत, 'नाश और निर्माण' के गीत और कुछ परवर्ती गीतिमयी रचनाए भी हमारी उपर्युक्त स्थापना की पुष्टि करेंगी।

कौन थकान हरे जीवन की ?
बीत गया सगीत प्यार का,
रूठ गयी कविता भी मन की।
वशी मे अब नीद भरी है,
स्वर पर पीत साँझ उतरी है।
बुझती जाती गूंज अखीरी
इस उदास वन-पथ के ऊपर
पतझर की छाया गहरी है,
अब सपनो मे शेष रह गयी
सुधियाँ उस चन्दन के वन की।
रात हुई पंछी घर आए,
पथ के सारे स्वर सकुचाये,
म्लान दिया-बत्ती की बेला
थके प्रवासी की आँखो मे
आँसू आ-आकर कुम्हलाये,
कही बहुत ही दूर उनीदी
झाँझ बज रही है पूजन की।
कौन थकान हरे जीवन की ?

इस गीत का पहला पद रोमानी आभा से मडित है। मन की कविता का रूठना, वंशी मे नीद का भर जाना, स्वर पर पीली साझ उतरना और अतिम गूज का क्रमश तिरोभाव, उधर उदास वन-पथ के ऊपर पतझर की गहरी छाया का घिरना और अत मे :

अब सपनो में शेष रह गयी
सुधियाँ उस चन्दन के वन की।

ये सभी रोमानी आभा के रमणीय उपकरण हैं। यदि गीत के शेष भाग में कवि ऐसे ही तरल बिंबो का प्रयोग करता, जिनमे अनुभूति की निकटता कम और कल्पना की दूरी अधिक रहती तो यह शुद्ध छायावादी गीत होता। किंतु दूसरे पद मे जो चित्र अंकित किया गया है वह इस छायावादी दूरी को कम कर देता है। रात होने पर पछियो के घर लौटने मे, पथ के कोलाहल की परिश्रांति मे, थके प्रवासी की आंखो मे आंसुओ के भरने और सूख जाने मे, दूर मंदिरो मे गूंजने वाले आरती के स्वरो मे—अनुभूति का सामीप्य है जो प्रवासी के मन की उदासी को और भी भारी कर देता है। इस प्रकार छाया को आकार और आभा को रूप मिल गया है।

गिरिजाकुमार ने इन गीतो के अतिरिक्त अनेक रसमय शृंगार-कविताएं लिखी है। इन कविताओ की आधारभूत अनुभूतिया अत्यंत सूक्ष्म और परिष्कृत होते हुए भी मूर्त और मासल हैं। उनमे एक ओर छायावाद की अतींद्रिय शृंगार-भावना का अभाव है और दूसरी ओर प्रगतिवाद की अनगढ स्थूलता भी नही है। रूप और रस के मासल स्पर्श परिष्कृत कल्पना के संसर्ग से अत्यंत रमणीय बन गये हैं। यह शृंगार न तो भूखे तन और भूखे मन का आहार है और न किसी अदृश्य आलंबन के साथ कल्पना-विहार है—कवि ने जीवन की मधुर भावना को बडे ही हल्के हाथो से, किंतु पूरी गहराई के साथ, बिंबित करने का सफल प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए, कवि की एक प्रसिद्ध कविता है 'चूडी का टुकडा' :

आज अचानक सूनी-सी संध्या मे
जब मै यो ही मैले कपडे देख रहा था,
किसी काम मे जी बहलाने,
एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट मे लिपटा,
गिरा रेशमी चूडी का
छोटा-सा टुकडा,
उन गोरी कलाइयो मे जो तुम पहिने थी,
रंग-भरी उस मिलन-रात मे।
मैं वैसा का वैसा ही
रह गया सोचता
पिछली बातें।
दूज कोर से उस टुकडे पर
तिरने लगी तुम्हारी सब सज्जित तस्वीरे,
सेज सुनहली,
कसे हुए बधन मे चूडी का झर जाना,
निकल गईं सपने जैसी वे मीठी राते,

याद दिलाने रहा
यही छोटा-सा टुकडा ।

इस कविता का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी प्रेरक अनुभूति अतीद्रिय या वायवी न होकर मासल है। उसकी सृष्टि कल्पना के द्वारा की गयी है अर्थात् उसमे अनुभूति की कल्पना नही है वरन् मधुर अनुभूति के एक लघु क्षण के ऊपर बडी बारीकी के साथ कल्पना की रजित तस्वीरें अकित की गयी है। जिस तरह कोई शिल्पी काच के छोटे टुकडे पर या रत्न पर पूरा चित्र अकित कर देता है, इसी तरह :

दूज कोर से उस टुकडे पर
तिरने लगी तुम्हारी सब सज्जित तस्वीरें ।

इस प्रकार गिरिजाकुमार छायावादोत्तर गीतकारो मे अपने रुचि-परिष्कार तथा कल्पना की समृद्धि के कारण विशेष स्थान के अधिकारी बने और उन्होने अर्थ के सगीत के साथ शब्द के सगीत का अपूर्व सामजस्य कर हिंदी-गीति-काव्य को निश्चय ही एक नवीन समृद्धि प्रदान की ।

छायावाद के बाद हिंदी-काव्य मे जिस नवीन सामाजिक चेतना का उदय हुआ उसका भी प्रभाव गिरिजाकुमार की कविता पर स्पष्ट है। किंतु उनकी चेतना यहा भी सयत है। उन्होने सामाजिक वैषम्य की पीडा का अनुभव किया है और उसे अपने काव्य मे स्वच्छ रूप मे व्यक्त किया है। इन कविताओ मे मध्यवर्ग की अनुभूतियो को ही आधार बनाया गया है, इसलिए इनमे एक ओर स्वानुभूति की सचाई है और दूसरी ओर अभिव्यक्ति मे असयत आक्रोश का सर्वथा अभाव भी है। मध्यवर्ग की कुठाओ की कटुता इस प्रकार की रचनाओ मे आ सकती थी, परतु कवि के अपने स्वभाव की मिठास ने यह दोष भी नही आने दिया। इस कथन की सत्यता का अनुभव करने के लिए 'मशीन का पुर्जा' शीर्षक कविता पढिए ।

जैसा कि हमने अभी सकेत किया—आलोच्य कवि की प्रगति-चेतना मध्यवर्ग की ही प्रगति-चेतना है। इसलिए उग्र प्रगतिवादी आलोचक उसका उचित मूल्याकन करने मे कदाचित् असमर्थ रहे हैं। किंतु यदि वर्ग-सघर्ष की भावना से मुक्त होकर विचार करें तो प्रगति-चेतना वस्तुत एक प्रकार की नैतिक चेतना है जो वर्गों मे विभाजित नही हो सकती। वह जीवन के स्वस्थ और विकासशील तत्वो के प्रति सवेदनशील होती है और जीवन-विकास मे बाधक रुग्ण मनोवृत्तियो—निराशाजन्य कुठा-विषाद आदि—का विरोध करती है। जीवन का विकास वर्गबद्ध नही हो सकता क्योकि वर्गों मे बाटकर जीवन को देखना तो स्वयं ही रुग्ण दृष्टि का परिचायक है। इसीलिए व्यापक जीवन-दर्शन का त्याग कर अपनी रूढता मे प्रगतिशील कलाकार अथवा आलोचक जब प्रगतिवादी बनने का आग्रह करने लगा तो न उसने कला और साहित्य का ही हित किया और न वह स्वस्थ प्रगति-चेतना का ही विकास कर सका। हिंदी कविता मे नवीन सामाजिक चेतना का समावेश करने मे गिरिजाकुमार का योग-दान कम नही है, किंतु उन्होने इसे व्यापक नैतिक धरातल पर ही ग्रहण किया, रूढ

सिद्धांतवाद के रूप में नही । उनके प्राय' सभी सग्रहो से इस प्रकार की अनेक कविताए उद्धृत की जा सकती हैं ।

नये युग की तीसरी प्रवृत्ति है प्रयोगवाद, जिसका नाम बाद मे चलकर 'नयी कविता' पड़ गया । इस नयी प्रवृति का विकास करने मे गिरिजाकुमार का बहुत बडा योगदान है । उन्होने जिस नवीन साहित्य-दृष्टि का उन्मेष किया वह केवल अध्ययन से प्राप्त नही थी । इस क्षेत्र मे भी उनके रुचि-सस्कार सहायक हुए और उनकी कविता फूहड और अनगढ तत्त्वो से मुक्त रही । काव्यवस्तु के अतर्गत उन्होने नवीन विषयो का चयन कर आधुनिक जीवन की कलात्मक सभावनाओ का बड़े सयम के साथ उपयोग किया । विज्ञान के नये आविष्कार और उनकी सभावनाए इस नये कवि की काव्य-चेतना मे ढलने लगी —अणुयुग के वैज्ञानिक चमत्कारो को, अतरिक्ष-विजय की नयी सभावनाओ को और उनके प्रकाश मे मानवता के भविष्य की कल्पनाओ को साकार करने के लिए कवि ने 'पृथ्वी-कल्प' के रूप मे अत्यंत साहसिक प्रयास किया है । हमारी धारणा है कि विज्ञान के नये उपकरणो को काव्य-सामग्री के रूप मे प्रयुक्त करने का यह अपने ढंग का पहला प्रयास है । स्पष्ट है कि ये नये बिंब सर्वत्र पूरे नही उतर सके हैं और उनके साथ रागात्मक सबंध स्थापित करने मे भी हमे कठिनाई होती है, इसलिए ये कल्पना और विचार को अधिक झकृत करते हैं—मन के कोमल तारो को नही । फिर भी, हमारा अनुमान है कि नये कवि यदि अणुयुग के नवीन उपकरणो का प्रयोग करेंगे तो उन्हे बहुत कुछ ऐसी ही पद्धति ग्रहण करनी होगी । विज्ञान के महान् चमत्कारो के अतिरिक्त आज के जीवन के ऐसे सामान्य उपकरण भी गिरिजा-कुमार की कविता मे प्रयुक्त हुए हैं जो नित्य प्रति के व्यवहार मे हमारे अत्यधिक निकट होने पर भी अभी तक काव्य-परंपरा के अंग नही बन पाये । उनका यह प्रयोग आयास-हीन भी है और कलापूर्ण भी । अपने समसामयिक अधिकांश कवियो की भाति वे केवल सिद्धात का निर्वाह करने के लिए या पाठक को चौकाने के लिए या बरबस अपहृस्य तत्त्व का समावेश करने के लिए इन उपकरणो का प्रयोग नही करते । उनकी चेतना अन्य कवियो की अपेक्षा सहज काव्यमयी है—उनका सौदर्य-बोध पाश्चात्य विचारो से गढकर तैयार किया हुआ नही है । नये उपकरण नवजीवन की चेतना के साथ अनाविल सौदर्य-भावना को मूर्तित करने के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं; नये उपकरणो को जोड़कर नयी सौदर्य-भावना को सघटित करने का कृत्रिम प्रयास यहा नही है। प्राचीन आचार्यों ने कवि-व्यापार के अतर्गत एक विशिष्ट गुण का उल्लेख किया है और वह है वस्तु-वक्रता। इस वस्तु-वक्रता का आधार कवि की प्रातिभ दृष्टि होती है जो वस्तु के अनेक अंगो मे से केवल सारवान् का चयन कर उन्ही को अपनी आभा से दीपित कर देती है । असार का त्याग और सार का ग्रहण प्रतिभा का एक वरदान है जो सबके लिए सुलभ नही है । नयी कविता मे इस गुण की परीक्षा अनायास ही हो जाती है । सच्ची कवि-प्रतिभा जहां नवीन उपकरणो मे सार-असार का भेद सहज ही कर लेती है, वहा नये युग का बरबस आह्वान करने वाले अनेक असमर्थ कवि बुरी तरह असफल होकर रह जाते हैं और उनके पास इसके अलावा

कोई चारा नही रह जाता कि अपनी विफलता को बौद्धिक चमत्कार द्वारा सही-गलत ढंग से छिपाने का प्रयत्न करें। 'नयी कविता' का सबसे बडा दुर्भाग्य यही है और नये कवियो मे गिरिजाकुमार का यह सौभाग्य है कि वे इससे बहुत-कुछ मुक्त है।

शिल्प का क्रिया-कल्प इस कवि का अपना वैशिष्ट्य है। इस क्षेत्र मे उसका सौंदर्य-बोध अपने समसामयिक कवियो की अपेक्षा कही अधिक विकसित है। संगीत का सहज ज्ञान होने के कारण उसने नवीन स्वर-लय की अनेक सूक्ष्म सयोजनाए प्रस्तुत करने मे अद्भुत सफलता प्राप्त की है—और इसके लिए उसे प्रयास नही करना पडता। मात्रिक छंदो के आतरिक विधान मे प्रवेश कर उसने अनेक गीति-लयो का आविष्कार किया है—उधर वर्णिक छदो के आधार पर मुक्त छंद के अनेक सुपाठ्य रूपो का नवीन विकास किया है। हिंदी मे मुक्त छद के विकास का मूल आधार प्राय: 'घनाक्षरी' ही रहा है, परतु गिरिजाकुमार ने सवैया के लय-विधान का भी उपयोग किया है—और अनेक मात्रिक छदो के बधो का भी। इस कवि का पाश्चात्य छद-विधान से भी परिचय है और नवीन संयोजनाओ की उद्भावना मे इसने उसका भी यथास्थान पूरा लाभ उठाया है। नवीन कविता गद्य की निविडता मे उलझकर अपना सगीत खोती जा रही है। आज जब अज्ञेय से लेकर छोटे-से-छोटे कवि तक व्याप्त शब्द तथा स्वर-लय के सगीत का यह दारिद्र्य नये कवियो की क्रियाविधि पर छाया हुआ है और ये कवि कविता को सगीत से मुक्त करने का झूठा दभ करते हुए अपने अभाव को छिपाने का निष्फल प्रयत्न कर रहे है—गिरिजाकुमार की कविता के शब्द-विधान और स्वर-लय-विधान मे अतर्व्याप्त सगीत उनके पृथक् वैशिष्ट्य का प्रमाण है। मेरा विश्वास है कि वर्तमान युग के छद-लय-शिल्पियो मे उनका स्थान मूर्धा पर रहेगा।

यही बात उनकी बिबयोजना और अभिव्यजना के विषय मे इतने ही विश्वास के साथ कही जा सकती है। गिरिजाकुमार के अत:सस्कार छायावाद के सूक्ष्म-कोमल शतशत रगोज्ज्वल बिबो मे बसे हुए थे—उनकी काव्य-चेतना का पोषण एक ओर प्रसाद, पत, निराला, महादेवी के काव्य-वैभव से और दूसरी ओर अगरेजी रोमानी कवियो की चित्रमय विभूतियो से हुआ था। कवि ने इस वैभव-विलास का पूर्ण उपयोग करते हुए उसे नवीन उपकरणो से समृद्ध किया। छायावाद के कवियो पर, विशेषत छायावाद की अतिम प्रतिनिधि महादेवी पर, नये कवियो का यह आरोप था कि उनका क्षेत्र अत्यत सीमित है और उपमान तथा प्रतीक रूढप्राय होने से उनकी बिबयोजना मे वैचित्र्य नही रहा। प्रारभ मे गिरिजाकुमार के उपमान और बिब, शृंगार की प्रधानता के कारण छायावाद और रीतिकाव्य के उपमानो और बिंबो से प्राय: अभिन्न थे। उनमे नवीन स्पर्श तो थे किंतु पुनरावृत्ति के दोष से वे मुक्त नही थे। धीरे-धीरे उनका क्षेत्र-विस्तार हुआ और नयी सभ्यता के आकर्षक उपकरणो का सुरुचि के साथ समावेश किया गया—परपरागत उपमान और प्रतीक नये उपमान-प्रतीको के साथ मिलकर नूतन बिबो का निर्माण करने लगे :

चंदरिमा

यह झकाझक रात
चाँदनी उजली कि सूई मे पिरो लो ताग
चाँदनी को दिन समझकर बोलते है काग
हो रही ताज़ी सफेदी नये चूने से
पुत रहे घर-द्वार
चाँद पूरा साफ
आर्ट पेपर ज्यो कटा हो गोल
चिकनी चमक का दलदार
यह नही चेहरा तुम्हारा
गोल पूनम-सा
मांसल चीकने तन का
क्योकि यह तो सामने ही दिख रहा है
रुक रहा है
यह नही अब तक हुआ
बरसो पुरानी बात
भूली याद

(धूप के धान, पृ० ९४)

ये बिंब सामान्यत: कोमल हैं—किंतु कवि मे विराट् और परुष बिंबो की भी क्षमता का अभाव नही है; जहा विषय की माग हुई है बिंबों का आयाम व्यापक और स्वरूप उदात्त हो गया है। 'पृथ्वी' काव्य मे तो ऐसे चित्र हैं ही, 'राम', 'हब्श देश', 'युग सांझ' आदि अनेक कविताओ मे भी उनका समुचित प्रयोग है।

भाषा को नवीन कथ्य के अनुरूप ढालने के प्रयत्न सभी नये कवियो ने किये हैं—गिरिजाकुमार ने तद्भव तथा देशज शब्दो के प्रयोग, अंगरेज़ी के अनेक सचित्र शब्दो के अतर्भाव, बिंबात्मक नवीन शब्दो के निर्माण आदि के द्वारा आधुनिक काव्य-भाषा के विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। भाषा के इन नव्य प्रयोगो मे केवल विलक्षणता की चाह नही है और न नया अर्थ भरने का तर्कहीन प्रयास है; अधिकांश प्रयोगो के पीछे एक कलात्मक तर्क विद्यमान है। उदाहरण के लिए चदिरा (चद्रिका), चंदरिमा (चद्रमा की आभा), भूमानी (पृथ्वी की आभा), मटीली (मिट्टी के रंग की), गरमीली (ऊष्मायुक्त) आदि शब्द-प्रयोगो को लिया जा सकता है। यह भाषा छायावाद के काव्य-सस्कारों को लेकर नवीन जीवन की अनुभूतियो को मूर्तित करने का प्रयास कर रही है: काव्य-परंपरा से उच्छिन्न होकर नवीन रूप गढने के ऐसे अनर्गल प्रयत्न नही कर रही जिनसे भाषा की अर्थ-व्यक्ति ही नष्ट हो जाए। कहने की आवश्यकता नही कि अभी यह भाषा अपनी उचित निर्मिति को प्राप्त नही कर सकी, किंतु उसमें तो समय लगेगा। हमे तो यह देखना है कि विकास की यह दिशा

सही है या नहीं। सामान्य व्यवहार की भाषा को काव्य-रूप देने की प्रक्रिया अत्यंत कठिन है—उसके लिए अर्थ-सौंदर्य तथा नाद-सौंदर्य की असाधारण पहचान आवश्यक होती है। हमारी धारणा है कि नये कवियों मे गिरिजाकुमार मे यह क्षमता औरो से अधिक है।

गिरिजाकुमार नये कवियों मे अग्रणी हैं, इसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता—नयी कविता में जो स्थायी काव्य-तत्त्व है उसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, इसमें भी संदेह नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दोनो दृष्टियो से उनका स्थान अज्ञेय के समकक्ष है। अज्ञेय की प्रतिभा गुरुतर है, इसलिए उनकी कला मे अधिक गरिमा और प्रौढता है। किंतु उनका कथ्य इतना व्यक्तिलिप्त है कि प्रायः असामाजिक और अनैतिक हो जाता है। नर-नारी-संबंध उनका मुख्य विषय है, जिसमे उनकी प्रवृत्ति सबसे अधिक खुल खेलती है: उसकी सूक्ष्मतम विवृतियां—चेतन और अवचेतन विज्ञान के सहारे उन्होने की हैं। परंतु अन्य क्षेत्रो की भांति यहां भी उनका अहं आत्मदान के रस से वंचित होकर पर-शोषण के प्रति इतना अधिक आतुर रहता है कि बाह्य शिष्टाचारएवं शील के आडंबर के पीछे उसकी कुरूपता नंगी हो जाती है और थोड़ा-सा भी गहरा आंकने पर एक प्रकार की वितृष्णा उत्पन्न करती है। गिरिजाकुमार मे स्नेह अर्थात् आत्मदान की प्रवृत्ति कही अधिक है—व्यक्ति-लिप्सा की वह क्रूरता उनमें नही है; इसलिए उनके अहं में अधिक मार्दव है और इसी अनुपात से सहज प्रगीत-तत्त्व भी अधिक है। शिल्प की दृष्टि से गिरिजाकुमार का पलड़ा और भी भारी है—अज्ञेय की अपेक्षा इन्हें अर्थ-सौंदर्य की पहचान अधिक है और नाद-सौंदर्य की दृष्टि से तो तुलना का प्रश्न ही नही उठता क्योकि सनये कवियो में अज्ञेय का यह पक्ष सबसे अधिक दुर्बल है। इस प्रकार बौद्धिक गुरुता में अज्ञेय से कहीं पीछे होने पर भी प्रगीत-तत्त्व और शिल्प की दृष्टि से गिरिजाकुमार की कविता अधिक समृद्ध है। कालातर में, प्रचार का कोलाहल शांत होने पर, 'नयी कविता' का इतिहास जब वस्तुपरक दृष्टि से लिखा जाएगा तो उसके निर्माताओ मे गिरिजाकुमार का स्थान अन्यतम रहेगा।

प्रसाद के नाटक

मूल चेतना

शात-गंभीर सागर, जो अपनी आकुल तरगो को दबाकर धूप मे मुस्करा उठा है, या फिर गहन आकाश जो झझा और विद्युत् को हृदय मे समाकर चादनी की हँसी हँस रहा है—ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था।

प्रसाद अपने मूल रूप मे कवि थे, जीवन मे उन्हे आनद इष्ट था, इसलिए शिव के उपासक थे। बस, शिव की उपासना उनके मन का विश्लेषण करने के लिए पर्याप्त है। शिव का शिवत्व इसी मे है कि वे हलाहल को पान कर गए और उसको पचाकर फिर भी शिव ही बने रहे, उनका कंठ चाहे नीला हो गया हो, परंतु मुख पर वही आनंद का शात प्रकाश बना रहा। प्रसाद के जीवन का आदर्श यही था। वे बडे गहरे जीवन-द्रष्टा थे। आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को उन्होने देखा और सहा था, यह विष उनके प्राणो मे एक तीखी जिज्ञासा बन कर समा गया था—उनकी आत्मा जैसे आलोडित हो उठी थी। इस आलोडन को दबाते हुए आग्रह के साथ आनंद की उपासना करना ही उनके आदर्श की व्याख्या करता है और यही उनके साहित्य की मूल चेतना है।

ऐसा व्यक्ति, यह स्पष्ट है, ससार की भौतिक वास्तविकता को विशेष महत्त्व नही देगा। प्राय: वह उसको छोडकर कही अन्यत्र आनंद की खोज करेगा। एक शब्द मे, उसका दृष्टिकोण रोमाटिक होना अनिवार्य है। वर्तमान से विमुख होने के कारण—जैसा रोमाटिक व्यक्ति के लिए आवश्यक है—वह पुरातन की ओर जाएगा या कल्पना-लोक की ओर। प्रसाद का यही रोमाटिक दृष्टिकोण उनकी सास्कृतिक चेतना के लिए उत्तरदायी है।

नाटकों के आधार

प्रसाद के सभी नाटको का आधार सास्कृतिक है। आर्य-सस्कृति मे उन्हें गहन आस्था थी, इसीलिए उनके नाटको मे भारत के इतिहास का प्रायः वही परिच्छेद है (चन्द्रगुप्त मौर्य से हर्षवर्धन तक), जिसमे उसकी संस्कृति अपने पूर्ण वैभव पर थी: ब्राह्मण और बौद्ध संस्कृतियो के संघर्ष से जब उसका स्वरूप प्रखर हो उठा था।

एक ओर चाणक्य ब्राह्मण-धर्म की व्याख्या करता हुआ घोषित करता है: "ब्राह्मण एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि-वैभव है—वह अपनी रक्षा के लिए, पुष्टि के

लिए और सेवा के लिए इतर वर्णों का संगठन कर लेगा।" दूसरी ओर भगवान् बुद्ध की शीतल वाणी सुनाई देती है : "विश्व के कल्याण मे अग्रसर हो! असंख्य दुखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है, इस दु ख-समुद्र मे कूद पडो! यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया तो सहस्रो स्वर्ग तुम्हारे अंतर मे विकसित होगे!...विश्व-मैत्री हो जाएगी—विश्व-भर अपना कुटब दिखाई पडेगा!" इन्ही दोनो धूप-छांही डोरो से बना हुआ प्रसाद के नाटको का आधार है।

प्रसादजी प्राचीन भारतीय संस्कृति के सौंदर्य पर मुग्ध थे। स्वभाव से चिंता-शील और कल्पना-प्रिय होने के कारण वे उसी युग में रहते थे। कोलाहल की अवनी तजकर जब वे भुलावे का आह्वान करते हुए विरामस्थल की खोज करते होंगे, उस समय यह रंगीन अतीत उन्हे सचमुच बडे वेग से आकर्षित करता होगा। इसीलिए उनके नाटको मे पुनरुत्थान की प्रवृत्ति बडी सजग रहती है। 'कामना' का रूपक इसका मुखर साक्षी है। वे विदेशी छाया से आच्छादित भारतीय जीवन को फिर से उसी स्वर्ग की ओर प्रेरित करने की बात सोचा करते थे। उन्होने देखा कि हमारा वर्तमान इतिहास ही नही भूत इतिहास भी विदेशी प्रभाव की छाया मे मलिन हो गया है, अत' फिर से उसका सच्चा स्वरूप प्रदर्शित करने के लिए उन्होने भारतीय ग्रंथो के ही आधार पर ऐतिहासिक अन्वेषण किये। उनके पुरातत्त्व-ज्ञान का आधार प्राचीन शिलालेख, पाणिनि-व्याकरण, पतंजलि-योग, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, 'कथासरित्सागर', 'राजतरंगिणी', पुराण, प्राचीन काव्यग्रथ आदि ही हैं। प्रसाद की यह जिज्ञासा गहरी थी, उनको अतीत के लिए सिर्फ रोमाटिक मोह ही नही था—चंद्रगुप्त मौर्य, कालिदास, स्कदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि के विषय मे उनकी खोजें अपना स्वतंत्र महत्त्व रखती है। इस प्रकार भारतीय सस्कृति के बिखरे अवयवो को जोडकर उन्होने अपनी भावुकता, चिंता और कल्पना द्वारा उसमे प्राण-संचार किया।

उन्होने वातावरण की सृष्टि इतने सजीव रूप में की है कि मौर्य एव गुप्त-कालीन भारतीय जीवन हमारे सामने चित्रित हो जाता है--फिर से हम आज की पश्चिम-मिश्र संस्कृति और उससे पहले की मुस्लिम संस्कृति और उससे भी पूर्व की सामंतीय सस्कृति, इन तीनो को लांघकर आर्य संस्कृति की छाया मे पहुच जाते हैं। यह पुनरुत्थान इतने सहज ढंग से होता है कि दो हजार वर्ष का महान् अंतर एक साथ तिरोहित हो जाता है। प्रसाद का दृश्यविधान ही नही, उनके पात्रो के नाम, उपाधि, वेशभूषा, चरित्र और बातचीत सभी देश-काल के अनुकूल हैं। आंभीक, अंतर्वेद, गोपाद्रि, महाबलाधिकृत, कुमारामात्य आदि शब्दों का प्रयोग इस सांस्कृतिक वातावरण को उपस्थित करने का अमोघ साधन है।

परंतु इसका तात्पर्य यह नही कि युग-जीवन या युग-धर्म का प्रभाव प्रसादजी पर बिल्कुल नही है। मैंने जैसा अभी निवेदन किया, प्रसादजी गहरे जीवन-द्रष्टा थे। उनका आधुनिक जीवन का भी अध्ययन असाधारण था—अतएव उनके नाटको मे आज की समस्याएं स्पष्ट प्रतिबिंबित मिलती है। चद्रगुप्त और स्कंदगुप्त मे राष्ट्रीयता एव देशभक्ति का भव्य आदर्श है। युद्ध मे जब सिकंदर एक बार आहत

होकर गिर जाता है, उस समय सिंहरण के कंठ मे बैठकर प्रसादजी की देशभक्ति अमर स्वरो मे फूट उठती है ·

"मालव सैनिक—सेनापति, रक्तपात का बदला ! इस नृशस ने निरीह जनता का अकारण वध किया है। प्रतिशोध ?

सिंहरण—ठहरो मालव वीरो, ठहरो ! यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है।"

यह प्रसग इतिहास के अनुकूल हो अथवा नही परतु इसमे बोलती हुई देशभक्ति की भावना एकात दिव्य है। देशभक्ति का इतना शुद्ध और पवित्र रूप मैंने हिंदी-साहित्य मे अन्यत्र नही देखा।

इसी प्रकार, आज की प्रातीयता और साप्रदायिकता पर भी प्रसादजी के 'चद्रगुप्त' मे अनेक तीखे व्यग्य हैं। चाणक्य की नीति का प्रमुख तत्त्व एक राष्ट्र की स्थापना ही तो है—

"मालव और मगध को भूलकर जब आर्यावर्त्त का नाम लोगे तभी यह मिलेगा।

आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मणो मे भेद न करेंगे।"

इसके अतिरिक्त हमारी अन्य समस्याओ—जैसे दापत्य-सबध-विच्छेद, धार्मिक अथवा जातीय दभ आदि का भी प्रौढ विवेचन स्थान-स्थान पर मिलता है। परतु प्रसाद की कला का यह चमत्कार है कि ये समस्याए उस पुरातन वातावरण मे पूरी तरह से फिट कर दी गयी है। जो लोग इस प्रकार के प्रभाव को ऐतिहासिक असगति मानते हैं, वे वास्तव मे मानव-भावनाओ की चिरतनता को ग्रहण करने मे अपनी अक्षमता-मात्र प्रकट करते है।

सुख-दुःख की भावना

प्रसाद के नाटको के मूल तत्त्व को समझने के लिए उनकी सुख-दु ख की भावना को ग्रहण करना अनिवार्य है। उनके सभी नाटक सुखात है। परंतु क्या उनको समाप्त करने पर पाठक के मन मे सुख और शाति का प्रस्फुरण होता है ? नही। नाटक के ऊपर दुःख की छाया आदि से अंत तक पडी रहती है और उसके मूल मे एक करुण चेतना सुख की तह मे छिपी हुई अनिवार्यत. मिलती है। प्रो० शिलीमुख ने बिलकुल ठीक कहा है कि प्रसाद की सुखात-भावना प्राय: वैराग्यपूर्ण शाति होती है। इसका कारण है उनके जीवन की वही करुण जिज्ञासा, जो उनके प्राणो को सदैव बिलोडित करती रहती थी। बौद्ध इतिहास और दर्शन के मनन ने उसे और तीखा कर दिया था। उनके नाटको मे बौद्ध और आर्य-दर्शन का संघर्ष और समन्वय वास्तव मे दु खवाद और आनंद-मार्ग का ही सघर्ष और समन्वय है, जो उनके अपने अतर की सबसे बडी समस्या थी। इसी समन्वय के प्रभाववश उनके नाटक न पूर्णत. सुखात है और न दुःखात। उनमे सुख-दु'ख जैसे एक-दूसरे को छोडना नही चाहते। कवि आग्रहपूर्वक सुख का आह्वान करता है, सुख आता भी है परतु तुरत ही दुःख भी अपनी झलक दिखा जाता है :

"सिल्यूकस—(कार्नेलिया की ओर देखता है; वह सलज्ज सिर झुका लेती है) —तब आओ बेटी, आओ चंद्रगुप्त ! (दोनो ही सिल्यूकस के पास आते है, सिल्यूकस उनका हाथ मिलाता है। फूलो की वर्षा और जय-ध्वनि !)

चाणक्य—(मौर्य का हाथ पकडकर) चलो, अब हम लोग चलें।"

इस प्रकार आप देख सकते हैं कि ये नाटक सुखात अथवा दुखात न होकर प्रसादात हैं। इसका एक प्रमाण और है, वह है रस का परिपाक। इन नाटको मे मुख्य रस दो है—शृगार और वीर (देशभक्ति)। इन दोनों मे भावना अत्यत गाढी और तीव्र है। शृंगार मे एक ओर अपने को लय कर देने की तीखी चाह मिलती है तो दूसरी ओर विलास की उष्ण गंध और रूप-यौवन के गहरे चित्र, जो प्रसाद की तूलिका की विशेष विभूति हैं। इसी प्रकार वीरता—देशाभिमान अथवा आत्मगौरव की अभिव्यक्ति भी अंतर की ही पुकार है। सिंहरण अथवा बंधुवर्मा की देशभक्ति कर्तव्य-पूर्ति नही, आत्मा का आग्रह है। उनकी उक्तियां केवल नीति-मुखर ही नही हैं, उनमे हृदय का आक्रोश भी है। परतु इन दोनो के साथ तीसरा रस—शात रस—भी अनिवार्य रूप से मिलता है जो इन दोनो पर अनुशासन करता है। जब आवेश, चाहे वह मधुर हो या परुष, उबलकर सीमा तोडना चाहता है तभी शात रस के छीटे उसे शात और सयत कर देते हैं। स्वभावतः यहा रस का प्रवाह आवेग से परिशाति की ओर बहता हुआ मिलता है। यही प्रसाद के नाटको का 'प्रसादात' होना है।

चरित्र-प्रधान नाटक

स्पष्टत. ये नाटक चरित्र के द्वंद्व को लेकर चलते हैं और इनकी सबसे बडी सफलता चरित्र-निर्माण मे ही है।

प्रसाद आधुनिक साहित्य के सबसे महान् स्रष्टा थे। उन्होने अपने नाटको मे अनेक अमर पात्रो की सृष्टि की है जो सभी अपना स्वतत्र एवं प्राणवान् व्यक्तित्व रखते हैं— दार्शनिक बिंबसार और सनकी तत्त्वज्ञानी दाण्ड्यायन का व्यक्तित्व भी कितना साफ और तीखा है ! कारण यह है कि पात्रो मे प्राण फूकने वाली उनकी प्रतिभा की सजीवता और तीव्रता अद्वितीय थी। प्रसादजी के जीवन-रथ की परिधि भले ही घर से दशाश्वमेध और दशाश्वमेध से घर तक सीमित रही हो, परतु उनका भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक जीवन चिर-गतिशील था। उसकी गति प्रेमचंद की तरह विस्तार मे अधिक नही बढी, परतु अदर गहराई मे बहुत दूर पहुच गई थी। वे अत्यंत प्राणवान् कलाकार थे, उनके व्यक्तित्व की तीक्ष्णता ने ही पात्रो की रूपरेखा को काट-छाटकर इतना तीखा कर दिया था।

एक दूसरे प्रकार से भी स्रष्टा ने अपने-आपको सृष्टि मे व्यक्त किया है। प्रसाद के दर्शन-कवित्वमय व्यक्तित्व का थोड़ा-बहुत अंश उनके सभी पात्रो ने प्राप्त किया है। पुरुष-पात्र प्राय. तीन प्रकार के मिलते हैं :

१. जीवन के तत्त्वो को सुलझाने वाला तत्त्ववेत्ता आचार्य;

२. जीवन-संग्राम मे प्रवृत्त होकर जूझने वाले कर्मठ सैनिक, और

३. राजपुत्रो को राजनीति के दाव-पेच सिखाने वाले कूटनीतिज्ञ ।

स्त्रियो मे भी स्पष्टतः कई श्रेणिया हैं :

१ राजनीति की आग से खेलने वाली राज-महिषिया,

२. जीवन-युद्ध मे प्रेम का संबल लेकर कूदने वाली स्वाभिमानिनी राजपुत्रिया,

३. जीवन के भंवर में पडी हुई मध्यवर्गीय दुर्बल नारिया, और

४ अपने निस्पृह बलिदान से नाटक के जीवन में एक करुण गध छोड जाने वाली फूल-सी सुकुमारिया ।

बौद्ध और शैव दर्शनो के समन्वय से जीवन की व्याख्या करने वाले ये आचार्य दार्शनिक प्रसाद के ही प्रतिरूप हैं । उधर निरतर कर्म मे किंतु फल की ओर से विरक्त सैनिक-रूप राजपुत्रो को, प्रसाद का जीवन के विचार और उपभोग से परिपुष्ट पौरुष प्राप्त हुआ है । नारी-पात्रो मे आपको उनके हृदय का रूप-मोह और प्राणो मे बैठी हुई जिज्ञासा की टीस मिलेगी । इस प्रकार प्रसादजी ने सभी चरित्रो मे अपने व्यक्तित्व की सास फूक दी है । स्वभावत. उनमे वह अव्यक्तिगत चित्रण न मिलेगा जो सच्चे अर्थ मे नाटकीय कहा जाता है । जहा शेक्सपीयर-जैसे नाटककारो मे, कौन-सा चरित्र उनकी प्रतिच्छाया है यह पता लगाना असभव है, वहा प्रसादजी के व्यक्तित्व की झलक स्कंदगुप्त, चद्रगुप्त, चाणक्य—किसी भी चरित्र मे थोडी-बहुत देख सकते है । इस दृष्टि से प्रेमचद प्रसाद की अपेक्षा कही अधिक अव्यक्त रह सकते थे ।

प्रसाद के काव्य मे विराट् और कोमल का अपूर्व संयोग है । जिस लेखक ने 'कामायनी' के विराट् रूपक की सृष्टि की है उसी ने अनेक मधु-स्निग्ध गीतियो की उद्‌भावना भी की है । अतएव आपको उनके नाटको मे इन दोनो तत्त्वो का अपूर्व योग मिलेगा । उनके दो प्रकार के चित्र साहित्य की अमर विभूतिया हैं :

१. संपूर्ण चित्र, २. रेखा-चित्र ।

पहले चित्र कवि की विराट् भावना की प्रसूति है । उनमे संपूर्ण चरित्र-विकास शक्ति के आधार पर होता है । स्वभावत यह चित्र समस्त नाटक की दीवार को घेरे हुए रहता है । चाणक्य और स्कदगुप्त ऐसे ही दो चित्र है । 'अजातशत्रु' की मल्लिका मे विस्तार तो नही परंतु शक्ति असीम है । इनमे महान् कोमल का एक स्पर्श-भर पाकर मुस्करा उठा है ।

दूसरे चित्र गीतिमय है—वे प्रसादजी की सूक्ष्म-कोमल गीति-प्रतिभा के प्रोद्‌भास है । इनमे जीवन की समस्त रेखाए अथवा विभिन्न रग नही हैं, इनमे एक रेखा है और एक धुधला रेशमी रंग है—एक ही स्वर है । 'संगीत-सभाओ की अतिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गंध-धूम-रेखा, कुचले हुए फूलो का म्लान सौरभ—इन सबो की प्रतिकृति' हैं ये नारी-चरित्र । देवसेना, मालविका और कोमा —ये तीन चित्र प्रसाद के नाटको मे उनकी ट्रैजेडी की सार-प्रतिमाए है । इनका व्यक्तित्व जैसे जीवन का सजीव कोमल-करुण व्यग्य है ।

मधु-सिंचन

प्रसाद के सभी नाटक मधु-सिंचित हैं। वे मूल रूप मे कवि हैं, अतः उनके नाटको मे काव्य की गहरी एव पृथुल अंतर्धारा बह रही है। उनके सुदरतम गीतो का एक बहुत बडा अंश इन नाटको मे बिखरा मिलेगा। इसके अतिरिक्त वस्तु-चयन, पात्रो के व्यक्तित्व, वातावरण, कथोपकथन और सारभूत प्रभाव—सभी मे कविता का रंगीन स्पंदन है। प्रसाद ने अपनी रंगीन कल्पना के सहारे, दूर अतीत के बिखरे हुए प्रस्तर-खंडो को एकत्र करके उनमे प्राणो की कविता का रस भर दिया; अतएव परिणाम-स्वरूप जिन नाटको का निर्माण हुआ, उनका वातावरण रूप और रग से जगमगा रहा है।

सबसे प्रथम उनके गीतो को ही लीजिये। यह सत्य है कि ये सभी गीत नाटकीय नही हैं। कुछ तो स्पष्ट रूप से स्वतंत्र हो गये हैं, परंतु उनके भीतर जो वेदना की गहरी टीस, रूप-यौवन का चटकीला रग एवं विलास की उष्ण गंध भरी हुई है, वह समस्त नाटक पर सौरभ-श्लथ वासंती समीर की भाति संचरण करती रहती है।

यही बात वस्तु-विधान और चरित्रांकन मे है। प्रसाद की घटनाएं रोमास और रस से परिपुष्ट हैं। अधेरी रात मे मागधी और शैलेन्द्र का मिलन, चाणक्य का सर्वस्व-त्याग, स्कदगुप्त और देवसेना की विदा, मालविका का बलिदान—सभी-कुछ एक मूक कविता है। पात्रो की स्नायुओ मे भी रस का प्रभूत सचार हो रहा है। इनमे से कतिपय तो एकात कवित्वमय हैं। उनका अस्तित्व ही नाटक मे कविता की सांस फूकने को होता है। ये पात्र प्राय. नारी-पात्र होते हैं जिनके जीवन के विरल मधुर क्षण फूल के समान खिलकर अपना सौरभ छोड जाते है। इनके अतिरिक्त प्राय. और सब पात्र भी अपने स्रष्टा के कवित्व के भागी हुए हैं—चाणक्य के कर्म-कठोर व्यक्तित्व मे भी बाल्यकाल की स्मृतिया भावरियां ले रही हैं। ये नाटक गद्यगीतो का अक्षय भंडार हैं। उदाहरण के लिए :

१ "अकस्मात् जीवन-कानन मे, एक राका रजनी की छाया मे छिपकर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारिया हरी-भरी हो जाती हैं। सौंदर्य का कोकिल 'कौन?' कहकर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है—राजकुमारी! फिर उसी मे प्रेम का मुकुल लग जाता है, आसू-भरी स्मृतिया मकरंद-सी उसमे छिपी रहती हैं।"

२. "धडकते हुए रमणी-वक्ष पर हाथ रखकर, उस कंपन मे स्वर मिलाकर कामदेव गाता है, और राजकुमारी! वही काम-संगीत की तान, सौदर्य की लहर बनकर युवतियो के मुख मे लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढाया करती है।"

अब सारभूत प्रभाव लीजिए। वह न तो वास्तविकता की माग पूरी करता है और न किसी आदर्श की पूर्ति। उसके पीछे भी सिद्धात का नही, काव्य का आग्रह है। देखिए 'स्कदगुप्त' का अंतिम दृश्य :

"स्कंदगुप्त— देवी, यह न कहो। जीवन के शेष दिन कर्म के अवसाद मे बचे

हुए हम दुखी लोग, एक-दूसरे का मुह देखकर काट लेंगे । हमने अंतर की प्रेरणा से जो निष्ठुरता की थी, वह इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए । परंतु इस नदन की वसत-श्री, इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी, तुम चली जाओ—ऐसा मैं किस मुह से कहूं ? (कुछ ठहरकर सोचते हुए) और किस वज्र-कठोर हृदय से रोकू ?···

···देवसेना ! देवसेना !! तुम जाओ। हत-भाग्य स्कंदगुप्त ! अकेला स्कंद, ओह !!

देवसेना—कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है । सम्राट्, यदि इतना भी न कर सके तो क्या ! सब क्षणिक सुखो का अंत है । जिसमे सुखो का अत हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए । मेरे इस जीवन के देवता ! और उस जीवन के प्राप्य ! क्षमा !

(घुटने टेकती है; स्कंद उसके सिर पर हाथ रखता है ।)"

दोष

प्रसाद के नाटको के दोष शायद उनके गुणो से अधिक स्पष्ट हैं ।

सबसे पहला दोष रगमंच-विषयक है । उनके नाटको मे अभिनय की त्रुटिया है । उनमे युद्ध, अभियान आदि के ऐसे दृश्य हैं जो मच पर काफी गडबड करेंगे । दूसरे, उनकी अपरिवर्तनशील गभीर भाषा मे अभिनयोचित चाचल्य नही है । अनावश्यक दृश्यो की संख्या भी बहुत है ।

दूसरा बडा दोष है एकता का अभाव । उनके लिए शायद उत्तरदायी है प्रसाद के मन मे चलता हुआ सुख-दु.ख का संघर्ष, जिसके समाधान का प्रयत्न वे अंत तक करते रहे थे । 'राज्यश्री' या 'ध्रुवस्वामिनी' मे वस्तु-विस्तार कम होने से यह दोष नही आया । 'ध्रुवस्वामिनी' का सकलित प्रभाव तो पूर्णत एकसार है; परतु 'स्कदगुप्त' और 'चद्रगुप्त' जैसे बडे नाटको मे घटना-बाहुल्य मे फसकर नाटक की एकता अस्त-व्यस्त हो गयी है । इन दोनो नाटको मे ऐसी घटनाए और पात्र है जो प्रभाव की एकता के लिए अनावश्यक ही नही वरन् घातक भी हैं । 'स्कंदगुप्त' मे धातुसेन, पृथ्वीसेन, मातृगुप्त, मुद्गल और उनसे सबंध रखने वाले प्रसंगो का क्या प्रयोजन है ? 'चद्रगुप्त' मे चंद्रगुप्त का सिंहासनारोहण बीच मे इतना महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि कथावस्तु वहा एक बार दम तोडकर फिर उठती है ।

तीसरा प्रमुख दोष यह है कि वस्तु-विधान मे कही-कही बडे भद्दे जोड लगे हुए हैं । अनेक स्थानो पर नाटककार को घटनाओ की गतिविधि सभालना कठिन हो गया है और ऐसा करने के लिए उसे वाछित व्यक्ति को उसी समय भूमि फाडकर उपस्थित कर देना पडा है अथवा किसी का जबर्दस्ती गला घोटना पडा है । यह बडे नाटको मे सर्वत्र हुआ है ।

महत्त्व

इस प्रकार इन नाटको का महत्त्व असम है । एक ओर जहा पाठक उनके दोषो

को देखकर विक्षुब्ध हो उठता है, दूसरी ओर उनकी शक्ति और कविता से अभिभूत हुए बिना भी नही रह सकता। ये नाटक अंशों मे जितने महान् हैं, संपूर्ण रूप मे उतने नही। प्रसाद की ट्रैजेडी की भावना, उनकी सास्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना, उनके महान्-कोमल चरित्र, उनके विराट्-मधुर दृश्य, उनका काव्य-स्पर्श हिंदी मे तो अद्वितीय है ही, अन्य भाषाओ के नाटको की तुलना मे भी उनकी ज्योति मलिन नही पड सकती।

गुलेरीजी की कहानियां

हमारे एक साहित्यिक मित्र ने जीवन के कुछ सिद्धात स्थिर कर रखे है। उनमे से एक यह भी है कि अध्ययन का मनुष्य के मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता है। अतएव वे व्यक्तित्व के मूल्याकन मे विद्वता को प्राय. अवगुण ही मानते है। उनका कहना है (और बात काफी हद तक ठीक भी है) कि विद्वत्ता के अनुपात से ही व्यक्ति की प्राणवत्ता मे कमी होती जाती है। विद्वान् व्यक्ति प्राय. प्राणवान् नही रह पाता, उसके दृष्टिकोण मे जीवन की ताजगी न रहकर पुस्तक-ज्ञान का बोझीलापन आ जाता है।

गुलेरीजी इस सिद्धात के अपवाद हैं। उच्चकोटि की विद्वत्ता के साथ ही उतनी ही प्राणवत्ता भी उनके व्यक्तित्व मे पायी जाती है। वे अपने युग मे प्रथम श्रेणी के विद्वान् थे। पुरातत्त्व, इतिहास, दर्शन ज्योतिष, साहित्य, भाषा-विज्ञान—सभी मे उनकी अबाध गति थी। संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओ और हिंदी, बँगला, मराठी, अगरेज़ी आदि आधुनिक भाषाओ पर उनका समान अधिकार था। लेटिन, जर्मन और फ्रेंच का भी उन्हे ज्ञान था। परतु अपने इस असाधारण पाडित्य को उन्होने सदैव जीवन का साधन ही माना, साध्य नही बनने दिया। उनकी जीवन-चेतना इतनी प्रबल थी कि पाडित्य उसको पुष्ट तो कर सका, पर दबा नही सका।

गुलेरीजी का सक्षिप्त जीवन सब प्रकार से सफल ही कहा जा सकता है। वे पुत्र, वित्त और लोक—तीनो ओर से सुखी थे। विद्यार्थी-जीवन मे उन्हे स्पृहणीय सफलता मिली थी। हाईस्कूल और बी० ए० मे वे सर्वप्रथम रहे थे। यौवनकाल मे भी सफलता उनके चरण चूमती रही। पहले वे जयपुर राज्य के सभी सामत-पुत्रो के अभिभावक रहे। बाद मे उन्होने बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी मे कॉलेज ऑफ ओरियटल लर्निंग एड थियॉलॉजी के प्रिंसिपल पद को सुशोभित किया। लोक-जीवन मे भी उनको अक्षय गौरव प्राप्त हुआ था। काशी-नागरी-प्रचारिणी का सभापतित्व, देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला एव सूर्यकुमारी पुस्तकमाला का सपादन, अनेक लेखो का स्वदेशी-विदेशी विद्वानो द्वारा अभिनदन—ये सब उनके गौरव की स्वीकृति के विभिन्न रूप थे। परतु गौरव दीर्घजीवी नही होता। उन्तालीस वर्ष की अल्पायु मे ही समस्त दिशाओ को उद्भासित करके यह प्रकाश-पुज भी तिरोहित हो गया और विद्वान् लोग यह अनुमान लगाते ही रह गये कि अगर कुछ और समय मिलता तो शायद वह हिंदी-जगत् को समग्रत आच्छादित कर लेता।

गुलेरीजी ने हिंदी-साहित्य के अनेक विभागो को समृद्ध किया। भाषा-तत्त्व और

पुरातत्त्व पर उनका पर्याप्त साहित्य विद्यमान है। पुरानी हिंदी और शिशुनाग-मूर्तियो पर लिखे हुए उनके लेख आज भी अत्यंत प्रसिद्ध हैं। परतु मैं उनके इस साहित्यांग को स्पर्श नही करूगा, क्योकि मैं उसकी मीमासा करने का अधिकारी नही हूं। मैं तो केवल उनके सृजनात्मक साहित्य, उनकी कहानियो की विवेचना करता हुआ यह दिखाने का प्रयत्न करूगा कि किस प्रकार उनकी सृजन-प्रतिभा अविकसित ही रह गयी और कलाकार के रूप मे वे अपना प्राप्य न पा सके।

गुलेरीजी की कहानियां

अभी एक-आध वर्ष पहले तक सबका यही ख्याल था कि गुलेरीजी केवल एक ही कहानी 'उसने कहा था' लिखकर अमर हो गये। विद्वानो ने इस बात को पूरे विश्वास के साथ लिखित रूप मे भी स्वीकार कर लिया था। परतु कुछ दिन हुए गुलेरीजी की दो और कहानियां सामने आयी—'सुखमय जीवन' 'और बुद्धू का कांटा' —और आलोचक की यह उलझन कि गुलेरीजी ने एक साथ ही ऐसी 'ए-वन' कहानी कैसे लिख डाली, कुछ-कुछ सुलझी। इस दिशा मे उन्होने तीन पग रखे। पहला था 'सुखमय जीवन', दूसरा 'बुद्धू का कांटा' और तीसरा 'उसने कहा था'। संभव है उन्होने कुछ और भी प्रयत्न किये हो, जो आज उपलब्ध नही।

दृष्टिकोण

जीवन के प्रति गुलेरीजी का दृष्टिकोण, जैसा मैंने आरभ मे कहा है, सर्वथा स्वस्थ है। उनके साहित्य का आधार छायानुभूतिया नही हैं, जीवन की मासल अनुभूतिया ही है। निदान उनमे मानसिक ग्रथियो का सर्वथा अभाव मिलता है। जीवन मे नीति और सदाचार को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हुए भी सेक्स के नाम पर बिदकने वाले आदमियो मे से वे नही थे। जहा कही भी प्रसग आया है उन्होने मुक्त भाव से बिना झिझके स्पष्ट व्यजना की है—यहा तक कि 'उसने कहा था' कहानी मे उद्धृत पंजाबी के उस गाने मे 'कर लेणा नाडे दा सौदा अडिये' के स्थान पर भी उन्होने शरमाकर चिह्न-बिंदु नही लगाये, साफ ही पक्ति को उद्धृत कर दिया है। यह उनके मन के स्वास्थ्य का असदिग्ध प्रमाण है। एक स्थान पर उन्होने स्वय ही इस सत्य का उद्घाटन किया है. "जो कोने मे बैठकर उपन्यास पढा करते है, उनकी अपेक्षा खुले मैदानो में खेलने वालो के विचार अधिक पवित्र होते हैं।" गुलेरीजी प्रकृति के इन सच्चे चित्रो को ही देखते थे, उपन्यासो की मृगतृष्णा मे चमत्कार नही ढूढते थे।

उनकी कहानियो मे स्पष्ट ही शास्त्र के बधे हुए वातावरण से प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण की ओर जाने की प्रवृत्ति है। उनके जीवन-मान सर्वथा प्राकृतिक हैं। कृत्रिम मान, चाहे उन पर सभ्यता और नागरिक शिष्टाचार का कितना ही मुलम्मा चढा हो, उन्हे सह्य नही थे। दृष्टिकोण का यह स्वास्थ्य रस, विवेक और विचार—तीनो तत्त्वो के उचित सम्मिश्रण का फल था। उसमे अंतरभिमुखता और बहिर्मुखता का वाछित सयोग था। जीवन के रस का उन्होने सम्यक् उपभोग किया परतु अपने जाग्रत विवेक

के कारण उसमे बहे नही। इससे अनुभूति मे स्थिरता आयी। उधर विचार ने उसको गंभीरता और परिपक्वता प्रदान की। जीवन-तत्त्वो का यही सम्यक् संतुलन उनके जीवन और साहित्य की सफलता का कारण था।

सामाजिक चेतना

ऐसे व्यक्ति की सामाजिक चेतना स्वभावत· ही बलवती होनी चाहिए। और, वास्तव मे हिंदी-कहानी के उस प्रसव-काल मे इस प्रकार की सामाजिक चेतना होना आश्चर्य की बात है। उन्होने दृष्टि को अपने मन के राग-द्वेषो पर ही न गडाकर बाहर जीवन की धूप मे विचरने दिया और समाज की सामयिक समस्याओ के प्रति जागरूक रहे। उदाहरण के लिए पर्दे की अस्वस्थ प्रथा, उस समय बढती हुई सभ्यता की दाभिक चेतना, विवाह से सबद्ध दहेज-मुहूर्त आदि की प्रथाओ पर वे बीच-बीच मे छीटे छोडते हुए चले है।

इसके साथ ही कुछ अन्य सामयिक प्रश्नो पर भी, जैसे हिंदी मे ग्रहण किये गये संस्कृत के तत्सम शब्दो के उच्चारण पर भी, उन्होने मौका देखकर फिकरा कस दिया है। सस्कृत के प्रगाढ विद्वान् होते हुए भी गुलेरीजी यह मानते थे कि सस्कृत तत्सम शब्दो का उच्चारण हिंदी-व्याकरण के नियमो के अनुकूल ही होना चाहिए। आज से तीस वर्ष पूर्व एक सस्कृत के पंडित की इस प्रकार की धारणाए कितनी प्रगतिशील थी, यह देखकर उनके व्यक्तित्व की शक्ति का पता चलता है। इस दृष्टि से यह व्यक्ति अपने समय से कितना आगे था ?

हास्य

ऐसे खुले हुए स्वभाव के व्यक्ति मे निश्चय ही हास्य की अत्यत मुक्त भावना होगी। गुलेरीजी के हृदय मे कुढन का विष नही था, सतोष का अमृत था, इसी-लिए उनके हास्य मे भी कुढन का विष नही, सतोष का अमृत है। उन्होने स्वस्थ दृष्टि से अपने चारो ओर बहुत गौर से देखा। जीवन और जगत् मे सर्वत्र उन्हे ऐसी विचित्रता दिखाई पडी जिससे स्वभावत. ही उनके हृदय मे गुदगुदी पैदा हो जाती थी। वास्तव मे उनका हास्य एक ऐसे व्यक्ति का हास्य है जिसके हृदय मे जीवन के प्रत्येक सुख से सहानुभूति है, जो विकृतियो मे भी अद्भुत वैचित्र्य और आकर्षण पाता है, जिसके हृदय मे किसी प्रकार का दभ या मैल नही है और जो खुलकर हँसता है। एक उदाहरण लीजिए। अमृतसर के इक्के-तागे वालो की बोलियो की तारीफ करते हुए आप फरमाते हैं—"क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' सुने बिना किसी को हटना पडे। यह बात नही कि उनकी जीभ चलती ही नही, चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती है। यदि कोई बुढिया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नही हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं 'हट जा जीणे जोगिये, हट जा करमा वालिये, हट जा पुत्ता प्यारिये, बच जा लंबी वालिये!' समष्टि मे इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यो वाली है, पुत्रो को प्यारी है, लबी आयु तेरे सामने

है, तू क्यो मेरे पहियो के नीचे आना चाहती है—बच जा !"

दूसरी बात, जो गुलेरीजी के हास्य के विषय मे जानने योग्य है, यह है कि वे हास्य की सृष्टि नही करते, उद्बुद्धि-मात्र करते हैं। उनका हास्य साध्य नही, साधन है। वे केवल हास्य के लिए परिस्थिति का सृजन नही करेंगे वरन् उपस्थित परिस्थिति मे ही हास्य की तरंग पैदा कर देंगे। कहीं-कही तो गंभीर परिस्थिति को भी वे हँसी मे गुदगुदा देते हैं। 'सुखमय जीवन' के अंत मे परिस्थिति मे काफी खिचाव आ गया है, परंतु ज्यों ही उत्तेजना शात होती है और परिस्थिति मे लोच आता है, गुलेरीजी फौरन ही उसे गुदगुदा देते हैं। बेचारे वृद्ध गुलाबराय वर्मा की आखो मे आंसू तो वास्तव मे मानसिक स्तब्धता का अंत हो जाने के कारण—दूसरे शब्दो मे, क्रोध के सहसा आनंद मे परिणत हो जाने के कारण—आते हैं, परंतु प्रश्न यह उठता है कि "वृद्ध की आखो पर कमला की माता की विजय होने के क्षोभ के आसू थे या घर बैठे पुत्री को योग्य पात्र मिलने के हर्ष के आसू थे ? राम जाने !" अच्छा, और यह संदेह होता है उस व्यक्ति को जो स्वयं ऐसी ही मानसिक स्थिति मे होकर गुज़र चुका है। इस प्रकार गुलेरीजी के पात्र कभी-कभी अपने पर भी हँस लेते हैं।

गुलेरीजी अधिकतर अपने पात्रो पर नही हँसते—उनके साथ हँसते हैं। इसलिए उनके हास्य मे विनोद की मात्रा अधिक रहती है। उनकी कहानिया विनोद की फुलझड़िया छोड़ती हुई रस-दिशा मे बढ़ती हैं। विनोद के अतिरिक्त वाक्-चापल्य और वाक्-चातुर्य का भी सम्यक् उपयोग उनमे मिलता है। लहनासिंह और नकली लेफ्टिनेण्ट साहब की बातचीत इसका सुदर उदाहरण है। व्यग्य का प्रयोग उन्होंने अपेक्षाकृत कम किया है। जहा है वहा अत्यंत महीन और मधुर है। किसी गंभीर नैतिक उद्देश्य से प्रेरित होकर सुधार करने के लिए वे किसी को हास्य द्वारा प्रताड़ित नही करते।

रस

इन सब गुणो के होते हुए भी गुलेरीजी की कहानियो का प्रमुख आकर्षण तो रस ही है। यह रस उथली रसिकता या मानसिक विलासिता का तरल द्रव नही है, जीवन के गभीर और स्वस्थ उपभोग मे से खीचा हुआ गाढा रस है। उसमे एक बलिष्ठ व्यक्तित्व का वजन है। 'बुद्धू का काटा' की परिणति मे काफी रस है। 'उसने कहा था' कहानी का आरंभ चंचल-मधुर है। पर अत मे तो जैसे सारी ही कहानी रस मे डूब जाती है। शैशव की उस मीठी घटना से माधुर्य और लहनासिंह के पुरुषार्थी व्यक्तित्व से शक्ति प्राप्त कर अत मे उसके बलिदान की करुणा कितनी गंभीर हो जाती है। आप देखें कि रति, हास, ओज और कारुण्य—इनके मिश्रण से रस का जो परिपाक होता है वह अत्यत प्रगाढ और पुष्ट है, और यह रस-सिंचन घटनाओ और परिस्थितियो मे ही नही है, वर्णनों मे भी स्थान-स्थान पर इसकी रसीली मुस्कराहट मिलती है। उदाहरण के लिए :

१. "आखो के डेले काले, कोए सफेद नही कुछ मटियाले, और पिघलते हुए।

जान पड़ता था कि अभी पिघलकर बह जाएंगे। आखो के चौतरफ हँसी, होठों पर हँसी और सारे शरीर पर नीरोग स्वास्थ्य की हँसी।"

२. "पहाडी जमीन, बिना पानी सीचे हुए हरे मखमल के गलीचे से ढंकी हुई जमीन, उस पर जगली गुलदाऊदी की पीली टिमकिया और वसत के फूल, आलू-बुखारा और पहाडी करौदे के रज से भरे हुए छोटे-छोटे रगीले फूल, जो पेड का पत्ता भी न दिखने दें, क्षितिज पर लटके हुए बादलो की-सी बर्फीले पहाडो की चोटिया जिन्हे देखते आखें अपने-आप बडी हो जाती और जिनकी हवा की सास लेने से छाती बढती हुई जान पडती; नदी से निकाली हुई छोटी-छोटी असख्य नहरें, जो साप के-से चक्कर खा-खाकर फिर प्रधान नदी की पथरीली तलेटी मे जा मिलती।"

भाषा

सबसे अधिक आश्चर्यजनक है गुलेरीजी की भाषा। ऐसी प्रौढ भाषा उस समय तो कोई लिख ही क्या सकता था, गद्य के समुन्नत युग मे भी कोई लिख सका है, इसमे मुझे सदेह है। प्रेमचंद की भाषा मे इतनी प्रौढता और शक्ति कहा है, और शुक्लजी की भाषा मे जीवन की इतनी स्फूर्ति और यथार्थता कहा है?

आज से तीस-पैतीस वर्ष पूर्व जब हिंदी का गद्य व्याकरण की पुस्तकों से बाहर आते ही लडखडाने लगता था, गुलेरीजी का भाषा की लाक्षणिक और व्यजनात्मक शक्तियो पर कितना व्यापक अधिकार था। उनकी भाषा मे जीवनगत विभिन्न परिस्थितियो को—विभिन्न पात्रो की विभिन्न मनोदशाओ को—व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता थी। और, उन्होने सदैव ही भाषा के वास्तविक रूप को बनाये रखा है, इसलिए उसका माधुर्य, ओज और प्रसाद स्वाभाविक ही है। उन्होने कही भी न तो माधुर्य लाने के लिए शब्दो की हड्डिया तोडकर उन्हे मुलायम बनाने की कोशिश की है और न ओज के लिए तीलियां बाधकर ही उनको कडा और खडा करने की कोशिश की है।

इस व्यक्ति के जीवन की सफलता का यही रहस्य था कि इसने अपने पांडित्य की गभीरता को जीवन के उपभोग मे अत्यंत सतर्कता से प्रयुक्त किया। इसीलिए इसके व्यक्तित्व मे स्फूर्ति और गंभीरता का अद्भुत योग था। ठीक यही रहस्य उनकी भाषा की समर्थता का भी है—यहां भी उन्होने अपनी व्यापक शब्द-शक्ति और भाषागत पाडित्य का उपयोग जीवनगत भाषा गढने मे किया। प्राणवान् व्यक्ति का पाडित्य जिस प्रकार जीवनगत अनुभव से शक्ति और उसका जीवनगत अनुभव पाडित्य से समृद्धि पाता रहता है, इसी प्रकार साहित्य की भाषा जीवन की भाषा से शक्ति और जीवन की भाषा साहित्य की भाषा से समृद्धि पाती रहती है। और, किसी व्यक्ति के लिए ये दो स्रोत जितने ही अधिक खुले होगे उतनी ही समृद्ध और सशक्त उसकी भाषा होगी। गुलेरीजी को यह सुविधा भरपूर प्राप्त थी।

गुलेरीजी के बाद इस विषय का उनसे गुरुतर उदाहरण हमारे पास राहुलजी का है। परंतु राहुलजी मे एक दोष है—उनमे ह्यूमर नही। इसलिए उनकी भाषा मे

समृद्धि और शक्ति अधिक होते हुए भी स्फूर्ति और फडक उतनी नही है जितनी कि गुलेरीजी की भाषा मे।

गुलेरीजी के उपर्युक्त गुणो का अब तक जो उल्लेख किया गया है, उससे आप यह मत समझिए कि उनकी सभी कहानिया सर्वथा पूर्ण और निर्दोष हैं। यह बात बिलकुल नही है। उनकी अंतिम कहानी 'उसने कहा था' तो अवश्य हिंदी की सर्वश्रेष्ठ कहानियो में से है, परतु पहली दोनो कहानियो मे बहुत-कुछ कच्चापन है। 'सुखमय जीवन' मे तो वास्तव मे कहानी अच्छी तरह बन भी नही पायी। उसकी चरम घटना मे विस्मय का अत्यत अस्वाभाविक और अतिरजित प्रयोग है। 'बुद्धू का काटा' इससे कही अधिक सफल कहानी है, परतु उसमे भी अतिरंजना और अप्रासगिकता है। इसकी नायिका—(शायद यह पारिभाषिक और कृत्रिम नागरिक विशेषण उसके लिए गुलेरीजी स्वीकार न करते)—कुछ अधिक वाग्वीर और पहलवान है। इसके अतिरिक्त उस पहाडी टट्टू वाले की सारी कहानी ही अप्रासगिक है।

परंतु जैसाकि मैंने आरभ मे कहा है, ये दोनो कहानिया दो पहली मजिलें है। 'सुखमय जीवन' मे गुलेरीजी की कहानी-कला का शैशव है, 'बुद्धू का काटा' मे किशोरावस्था, और 'उसने कहा था' मे आकर वह पूर्ण योषिता हो गयी है। चूंकि वह समय से पूर्व ही पूर्णत्व को प्राप्त हो गयी थी, इसीलिए शायद उसकी अकाल-मृत्यु हो गयी। बहुत होनहार बालक अधिक दिन जीवित नही रहते।

प्रेमचंद

आज वर्षो बाद प्रेमचंद के सर्वत. स्वीकृत सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' का एक बार अध्ययन करने के उपरात भी मेरी धारणा मे कोई विशेप परिवर्तन नही हुआ।

प्रेमचंद का सबसे प्रधान गुण है उनकी व्यापक सहानुभूति। उनके व्यक्तित्व का मानवपक्ष अत्यंत विकसित था। भारत की दीन-दु खी जनता, गाव के अपढ और भोले किसान और शहर के शोषित मजदूर, निम्न-वर्ग के वे असख्य श्रम-श्रात वर्ग, और वर्ण-व्यवस्था के शिकार नर-नारी तो उनके विशेष स्नेह-भाजन थे ही, परंतु उनके अतिरिक्त अन्य वर्गो के प्राणी भी—उच्च वर्ग के राजा, उद्योगपति, जमीदार और हुक्काम; उधर मध्य वर्ग के व्यवसायी, नौकरीपेशा लोग, समाज के पुराण-पंथी पंडित-पुरोहित भी उनकी सहानुभूति से वचित नही थे। इसका अर्थ यह नही कि उनको सत्-असत् की चेतना नही थी। नही, यह चेतना उनकी सर्वथा निर्भ्रान्त थी और इस विषय मे उनका दृष्टिकोण पूर्णतया निश्चित और स्थिर था। परतु उनके मन मे घृणा नही थी। उनके मन मे मानव के प्रति सहज आत्मीय भाव था। वे उसके पाप से अवगत थे। पाप का उन्होने निर्मम होकर तिरस्कार किया है, परतु पाप को छोड उन्होने कभी पापी से घृणा नही की। इसके लिए गाधी और गाधी से भी अधिक स्वयं गाधी को प्रभावित करने वाले विदेश के मानववादी लेखको का प्रभाव काफी हद तक उत्तरदायी था, किंतु मूलत. तो यह उनके अपने स्वभाव-सस्कार की विशेषता थी। यह व्यक्ति स्वभाव से ही सत था—उनके हृदय की सहानुभूति पर मानव का सहज अधिकार था। उस युग के आदर्शवाद ने, जिसका मूल आधार था जनवाद, उनको निश्चय ही प्रभावित किया, परंतु उनका यह आदर्शवाद अथवा जन-वाद स्वभावजात था, युग-प्रथा-मात्र नही था। इसका उनके संस्कारो के साथ पूर्ण सामजस्य था। इसीलिए इस धरातल पर पहुंचकर उनकी चेतना मानव के सभी भेदो से मुक्त हो जाती थी। प्रगतिवादियो ने अपने मतवाद की सिद्धि के लिए व्यर्थ ही उन पर वर्ग-चेतना का आरोप कर दिया है। परंतु वास्तव मे वे इस दोप से सर्वथा मुक्त थे। उन्होंने पूजीवादियो और जमीदारो के दोषो को क्षमा नही किया, किंतु साथ ही उनकी तकलीफ के प्रति भी वे निर्मम नही थे। सामाजिक और आर्थिक आवरण के नीचे आखिर पूंजीवादी भी तो मनुष्य है, जो उसी तरह दु ख-दर्द का शिकार है जिस तरह मजदूर। राजनीतिक दलबदी मे आकर अपने मन मे इस तरह से खाने बना लेना कि उसके दु:ख-दर्द का वहा प्रवेश ही न हो, सर्वथा

अप्राकृतिक एव अमानवीय है, और जिनके हृदय मे इस तरह का विभाजन सभव होता है उनकी मानवता हार्दिक न होकर बौद्धिक होती है, या प्रदर्शन-मात्र। क्योकि मनोविज्ञान की दृष्टि से यह सभव नही है कि एक की विवशता हमे करुणार्द्र करे और दूसरे की न करे। जिनकी सहानुभूति पर राजनीतिक बुद्धिवाद का अंकुश रहता है वे सहानुभूति का दंभ करते हैं। कहने की आवश्यकता नही कि प्रेमचंद की सहानुभूति ऐसी नही थी। पापी को उन्होने क्षमा नही किया, शोषण के अपराधो की उन्होने कही भी उपेक्षा नही की। उनके उपन्यासो मे दड का निषेध नही है—उनमे एक ओर बहिष्कार से लेकर कारावास और मृत्यु तक और दूसरी ओर उपवास आदि से लेकर आत्मघात तक का दड है। परंतु सहानुभूति का अभाव किसी भी अवस्था मे नही है। प्रेमचद कही भी कठोर नही होते और कही भी दंभ नही करते। यह उनके व्यक्तित्व की अपूर्व विजय थी।

इसी व्यापक सहानुभूति के कारण उनके साहित्य का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। गाधी युग के प्रथम तीन चरणो के सामाजिक-राजनीतिक, आर्थिक और साप्रदायिक जीवन के सभी पहलुओ और समस्याओ का जितना सागोपाग और सटीक चित्रण प्रेमचद मे मिलता है वैसा हिंदी के तो किसी साहित्यकार मे मिलता ही नही है, भारत के अन्य किसी साहित्यकार मे भी मिलता है, इसमे संदेह है। साधारणत: प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव की सीमाएं होती है—जीवन के कुछ रूपों मे वह रम सकता है, कुछ मे नही; परंतु प्रेमचंद की सहानुभूति इतनी व्यापक थी, उनका हृदय इतना विशाल था कि जीवन के सभी रूपो के प्रति उसमे राग था। उनकी प्रतिभा कई अशों मे महाकाव्यकार की प्रतिभा थी। इसीलिए उन्हे जीवन की समग्रता के प्रति राग था और मानव के सभी रूपो के प्रति ममत्व था। विविध वर्ग, जाति, स्वभाव, संस्कार, सामाजिक स्थिति, व्यवस्था आदि के जितने अधिक पात्र प्रेमचद मे मिलते है, उतने औरो मे नही। आप हिंदी के नये उपन्यासकारो—जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचंद्र—से उनकी तुलना कीजिये : एक ओर विशाल जन-सागर है, दूसरी ओर व्यक्तियो के सरोवर-मात्र। शरत्, यहा तक कि रवीन्द्र का भी क्षेत्र अपेक्षाकृत अत्यंत सीमित है।

जीवन के इस समग्र ग्रहण का परिणाम यह हुआ कि प्रेमचद ने उपन्यासो मे अपने युग अर्थात् गाधी-युग के तीन चरणों के सामाजिक-राजनीतिक जीवन का अत्यंत पूर्ण इतिहास दे दिया है। वास्तव मे जिस समय उत्तर भारत के इतिहास के इस कालखंड का सामाजिक इतिहास लिखा जायेगा, उस समय प्रेमचंद के उपन्यासों से अधिक व्यवस्थित सामग्री अन्यत्र नही मिलेगी। और, यदि इतिहासकार राजनीति से आतकित होकर विवेक न खो बैठा, तो वह उन्हे भी पट्टाभि के इतिहास और नेहरू और राजेन्द्र बाबू की जीवनियों से कम महत्त्व नही देगा। इसके मूलत. दो कारण है : एक तो यह कि प्रेमचद ने अत्यंत सचेत होकर अपने साहित्य को युग-जीवन का माध्यम बनाया है, दूसरे यह कि उन्होने युग-धर्म के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करते हुए सर्वांग जीवन को ग्रहण किया है।

प्रेमचंद का दूसरा प्रमुख गुण है उनका अत्यंत स्वस्थ और साधारण

व्यक्तित्व। साधारण का प्रयोग मैं यहां 'नॉर्मल' के अर्थ मे कर रहा हूं, उनका दृष्टिकोण मनोग्रंथियो से रहित सर्वथा ऋजु-सरल था जिसमे प्रवृत्तियो का स्वस्थ सतुलन और अतिचार एव अवचार का अभाव था। मनोग्रथि से अभिप्राय उस मनोवैज्ञानिक स्थिति से है जो उचित रीति से विचार करने, उचित रीति से जीवन-यापन करने मे बाधक होती है। ये मनोग्रथिया प्रायः दो प्रकार की होती है· अर्थमूलक व काममूलक। प्रेमचद के सपूर्ण साहित्य पर आर्थिक समस्याओ का प्रभुत्व है। गत युग के सामाजिक और राजनीतिक जीवन मे आर्थिक विषमताओ के जितने भी रूप सभव थे, प्रेमचद की दृष्टि उन सभी पर पड़ी और उन्होने अपने ढंग से उन सभी का समाधान प्रस्तुत किया है, परंतु उन्होने अर्थवैषम्य को सामाजिक जीवन की ग्रथि नही बनने दिया। वह एक समस्या है जिसका समाधान भी उपस्थित है। उनके पात्र आर्थिक विषमताओं से पीडित हैं परतु वे बहिर्मुखी संघर्ष द्वारा उन पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, मानसिक कुठाओ के शिकार बनकर नही रह जाते। इसका मुख्य कारण यह है कि उनके स्रष्टा का दृष्टिकोण विवेक-प्रधान है। वे अनुपात-ज्ञान कभी नहीं खोते, समस्या का समाधान उसे समझ-सुलझाकर उसके मूल कारणो को दूर करने से होगा, उनके द्वारा अभिभूत हो जाने से नही। यह सुस्थिर विवेक और उसका आश्रयी अनुपात-ज्ञान प्रेमचद के दृष्टिकोण का विशेष गुण है, वह किसी भी परिस्थिति मे उनका साथ नही छोडता; और इसी कारण प्रेमचद मे अतिवाद नही मिलता। गाधी-दर्शन मे आस्था रखते हुए भी उन्होने कही भी उसके प्रति अनावश्यक, विवेकहीन उत्साह नही दिखाया है। गाधी-दर्शन के अहिंसा-संबधी अतिवादो को प्रेमचद ने सदैव अपनी यथार्थ दृष्टि द्वारा अनुशासित रखा है और उसकी आध्यात्मिकता को ठोस भौतिक सिद्धातो द्वारा। उधर किसानों और मजदूरो के प्रति उनके हृदय मे अगाध सहानुभूति है, वास्तव मे शोषितवर्ग का इतना बडा हिमायती हिंदी मे दूसरा नही है। परंतु जमीदारो और पूजीपतियो के प्रति भी यह कलाकार अपना संतुलन नही खो बैठा—उनके दोषों पर तीखा प्रकाश डालते हुए भी वह उनके गुणो को सर्वथा नही भुला बैठा। किसानो और मजदूरो मे अपने सामाजिक और राजनीतिक स्वत्वो के प्रति चेतना जगाने का प्रयत्न उन्होने अपने सभी उपन्यासो मे किया है, परंतु इस प्रयत्न के भावात्मक रूप को ही ग्रहण किया है, अभावात्मक रूप को नही। कही भी उन्होंने जमीदारो और किसानो के प्रति घृणा एव प्रतिशोध के भाव को उभारना न्याय्य नही समझा। दूसरे शब्दो मे वर्ग-सघर्ष नाम की वस्तु को एक मोहक रूप देकर उन्होने कहीं भी स्वतत्र महत्त्व नही दिया। सघर्ष जीवन का प्रबलतम साधन है। असत् को परास्त कर सत् की प्राप्ति के लिए संघर्ष करना जीवन का ध्येय है, परंतु वर्ग-सघर्ष को—मानव के प्रति मानव के सघर्ष को—एक सर्वग्रासी सत्य मानकर उसको आकर्षक रंगो मे चित्रित करना और फिर सपूर्ण जीवन को उसी रग मे रगकर देखना एक घातक अतिवाद है, जिसको प्रेमचद ने सदा ही सतर्कता से बचाया है। उनके विवेक ने एकांगिता और प्रतिवाद से सदैव ही उनकी रक्षा की है।

जीवन की काममूलक ग्रंथियां कही अधिक विषम और सूक्ष्म-गहन होती हैं।

फ्रॉयड के सिद्धात को अतिवाद मानते हुए भी इस बात का निषेध नही किया जा सकता कि मानव-मन की अधिकांश ग्रथियों का आधार काम है। साहित्य मे भी कामाश्रित स्वप्न-कल्पनाओ का असाधारण योग रहता है। मैं समझता हू कि विश्व-साहित्य का बृहदंश इन्ही काम-कल्पनाओ से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप मे सवर्धन प्राप्त करता है। आज के जीवन मे और साहित्य मे तो इसका योग और भी अधिक है। स्वदेश-विदेश का साहित्यकार—कवि, नाटककार और सबसे अधिक उपन्यासकार इन काममूलक मनोग्रंथियो से ही मुख्यतः उलझा है। भारत के उपन्यास-सम्राट् शरत्चद्र तो एक प्रकार से इनसे अभिभूत थे। हिंदी में जैनेन्द्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और बहुत अशो मे यशपाल के उपन्यास भी काम-लिप्त हैं। प्रेमचद ने इस विषय मे अद्भुत स्वास्थ्य का परिचय दिया है। इस क्षेत्र मे उनके उपन्यासो मे महाकाव्योचित दृष्टि-विस्तार मिलता है। महाकाव्यो मे शृगार, वीर आदि सभी प्रमुख वृत्तियो का यथोचित समावेश होते हुए भी मुख्य प्रतिपाद्य सदैव जीवन-धर्म ही होता है। उनमे शृगार की महत्त्व-स्वीकृति निःसदेह होती है, परतु वह कही भी अपने मे स्वतंत्र होकर प्रतिपाद्य नही बन जाता। काम जीवन की एक प्रमुख प्रवृत्ति है परंतु वह समग्र जीवन नही है; और न जीवन का साध्य ही। अतएव जीवनार्थी के लिए उसमे आवश्यकता से अधिक अनुरक्ति रखना श्रेयस्कर नही है, ठीक इसी तरह जिस तरह कि उसके प्रति अनावश्यक विरक्ति और दमन का अभ्यास करना। जीवन-स्वास्थ्य का यही लक्षण है, और यह प्रेमचद मे स्पष्ट रूप से मिलता है। प्रेमचंद ने भी जीवन-धर्म को ही अपने उपन्यासो का प्रतिपाद्य बनाया है। काम का उन्होने तिरस्कार नही किया, परंतु उसको प्रतिपाद्य का दर्जा कभी नही दिया। आरंभ मे उन्होने अवैध काम-सबधो को प्राय बचाया है, परंतु बाद के उपन्यासो में इनको भी सहज रूप मे अकित कर दिया है। सामाजिक जीवन का एक रूप यह भी है—कुल मिलाकर यह कल्याणकर नही है; परंतु फिर भी इसका अस्तित्व तो है ही। बस इसी रूप मे प्रेमचंद ने इसका अंकन किया है—उसमे कही भी रस नही लिया। उनकी अपनी जीवन-घटना, जिसका उन्होने श्रीमती शिवरानी जी से अंतिम क्षणो मे उल्लेख किया था, इसकी साक्षी है। स्वस्थ-साधारण जीवन के लिए कामोपभोग आवश्यक है, परतु वह जीवन का उद्देश्य किसी भी रूप मे—और किसी भी दशा मे नही हो सकता; व्यक्ति को उसमे खो नही जाना चाहिए। ऐसा करने पर जीवन का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। प्रेमचद का दृष्टिकोण यही था।

उपयोगितावाद और नीतिवाद

साधारण नॉर्मल व्यक्ति निसर्गतः उपयोगितावादी और नीतिवादी होता है, और प्रेमचंद के दृष्टिकोण मे ये दोनो विशेषताएं अत्यंत मुखर है। दृष्टिकोण का संतुलन विचार-स्वातंत्र्य और मानसिक स्वातंत्र्य के प्रतिकूल पडता है, क्योकि संतुलित दृष्टिकोण जीवन का एक विशेष स्तर निश्चित कर उससे अपने को बाध लेता है। वह हानि-लाभ के मान स्थिर कर लेता है और उन्ही के अनुसार जीवन-यापन

करता है। यही हानि-लाभ-गणना जीवन की प्रत्येक वस्तु के विषय मे उसकी स्वीकृति और अस्वीकृति का आधार बन जाती है। स्वार्थ के सकुचित क्षेत्र मे हानि-लाभ की यह भावना सर्वथा भौतिक और तुच्छ हो जाती है, परतु जीवन के व्यापक और उच्च स्तर पर यह नीतिवाद का रूप धारण कर लेती है। स्वार्थी व्यक्ति जहा अपने तुच्छ और तात्कालिक हानि-लाभ की गणना मे उलझा रहता है, वहा मनीषी व्यक्ति जीवन की क्षुद्रताओ से ऊपर उठकर व्यापक और स्थायी हानि-लाभ की चिंता मे रत रहता है। पहले दृष्टिकोण के लिए पारिभाषिक शब्द भूतवाद है और दूसरे के लिए नीतिवाद। उपयोगिता का आधार है हानि-लाभ-विचार, और नीतिवाद का आधार है उचित-अनुचित अथवा शिव-अशिव-विचार। हानि-लाभ जब एक का क्षणिक हानि-लाभ न रहकर अनेक का स्थायी हानि-लाभ हो जाता है तो उसे ही शिव-अशिव की सज्ञा दे दी जाती है और उपयोगितावाद नीतिवाद का रूप धारण कर लेता है। प्रेमचंद का उपयोगितावाद इसी प्रकार का था। उसका मूल आधार था अधिक-से-अधिक व्यक्तियों का अधिक-से-अधिक हित। प्रेमचंद के साहित्य पर सर्वत्र शिव का शासन है—सत्य और सुदर शिव के अनुचर होकर आते हैं। उनकी कला स्वीकृत रूप मे जीवन के लिए थी और जीवन का अर्थ भी उनके लिए वर्तमान सामाजिक जीवन ही था। अतीत और आगत की रंगीन कल्पनाओ के लोभ में वे कभी नही पडे। कला उनके लिए जीवन का एक प्रत्यक्ष साधन थी और उसका उपयोग उन्होने व्यक्त रूप से निर्भ्रान्त होकर किया। कला की स्वतत्रता की कल्पना वे स्वप्न में भी नही कर सकते थे। केवल मनोरंजिनी कला को वे मदारियो और भाडो का खेल समझते थे। आनद की उनके लिए कोई स्वतत्र सत्ता नही थी; वह सामाजिक जीवन के मूल्यो से अनुशासित हित का ही एक अग था। जो आनद सार्वजनिक हित में योग नही देता वह क्षणिक उत्तेजना-मात्र है, उसका कोई मूल्य नही है। यही बात वे सौदर्य और सत्य (ज्ञान-विज्ञान) के लिए भी कहते थे। सुनते है प्राचीन वास्तुकला की इमारतो को देखकर वे कहा करते थे कि ये सब कला के नाम पर यो ही व्यर्थ पडी हुई हैं, इनका सार्वजनिक कार्यो के लिए उपयोग किया जाना चाहिए।

जीवन-दर्शन

प्रेमचद के जीवन-दर्शन का मूल तत्त्व है मानववाद। इस मानववाद का धरातल सर्वथा भौतिक है। दूसरे शब्दो मे यह मानववाद सर्वथा व्यावहारिक है। प्रेमचंद की सहानुभूति व्यावहारिक उपयोगिता की सीमा से आगे नही बढती; या यो कहिये कि इस सीमा से आगे बढना प्रेमचद उचित नही समझते। भौतिक धरातल के नीचे जाकर आत्मा की अखडता तक पहुचने की उन्होने जरूरत नही समझी —इसके अतिरिक्त यह उनके स्वभाव की सीमा भी थी। वहा तक उनकी गति भी नही थी। अतएव उनका मानववाद एकांत नैतिक है—उनकी सहानुभूति पर हिताहित-विचार अथवा शिवाशिव-विचार का नियंत्रण है। वे नैतिक मर्यादाओ की सीमाओ का अतिक्रमण कर मानवता के उस शुद्ध रूप का—जो सत्-असत् से परे है—शास्त्रीय शब्दावली मे मानव की उस शुद्ध-

बुद्ध आत्मा का जो अपने सहज रूप में गुणातीत है, साक्षात्कार करने मे असमर्थ हैं। इसलिए प्रेमचंद का मानववाद सुधारवाद से आगे नही बढ पाया। वास्तव मे अपने अंतिम रूप में मानववाद एक आध्यात्मिक दर्शन है और आत्मा की अखंडता का साक्षात्कार किये विना मानववाद की प्रतिष्ठा संभव नही है। प्रेमचंद स्वभाव से विचारक और कर्मठ थे, द्रष्टा नही थे। उनकी चेतना का धरातल व्यावहारिक ही रहा, दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक नहीं हो सका। उन्होंने इसमे विश्वास भी कभी नही किया क्योंकि अपने ध्येय के लिए उन्हे इसकी आवश्यकता ही नही हुई। उन्होंने तो अपने युग-जीवन का व्यावहारिक दृष्टि से अर्थात् राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अध्ययन किया और उसी दृष्टि से उसके समाधान की भी खोज की। इसी-लिए उनको मानववाद का व्यावहारिक रूप जनवाद ही स्वीकार्य हुआ। जनवाद के दो रूप हैं : एक दक्षिण पक्ष का जनवाद, जो जागरण-सुधारमूलक है, दूसरा वाम पक्ष का जनवाद, जो क्रातिमूलक है। अपने युग-धर्म के अनुकूल, युगपुरुष गाधी के प्रभाव मे, प्रेमचंद ने जागरण-सुधारमूलक जनवाद को ही ग्रहण किया। गाधीवाद के आध्या-त्मिक पक्ष को वे नही अपना सके।

आदर्श और यथार्थ

प्रेमचंद के संबंध मे आदर्श और यथार्थ विषयक भ्राति प्राय: पायी जाती है। प्रेमचंद से पूर्व हिंदी मे जिन उपन्यासो का प्रचार था उनमे अद्भुत और काल्पनिक का साम्राज्य था। उस समय हिंदी-पाठको के उपन्यास का अर्थ था चित्र-विचित्र घटनाओ, दृश्यो एव पात्रो का संकलन, जिनका इस लोक से नही कल्पना-लोक से संबंध था। प्रेमचंद के उपन्यासो मे उन्हें अपने नित्यप्रति का जीवन, अपने पास-पडोस के लोग, अपनी व्यावहारिक समस्याएं मिलीं। निदान उन्होने इन उपन्यासो को यथार्थवादी उपन्यास कहना आरंभ कर दिया। परतु जब इनका गंभीर अध्ययन होने लगा तो यह तुरंत ही स्पष्ट हो गया कि ये उपन्यास सभी निर्भ्रान्त रूप से कि ी-न-किसी आदर्श को लेकर चलते हैं। इनकी घटनाएं नैत्यिक और यथार्थ हैं परंतु उनका नियोजन एक विशेष आदर्श के अनुसार किया गया है।

इसी प्रकार उनके पात्रो के व्यक्तित्व-विकास मे भी प्रकृति की मनमानी नही चलती, वरन् कलाकार का ही आदर्श काम करता है। वास्तव में प्रेमचद-जैसा सुधार-वादी उपन्यासकार आदर्शवादी न होता तो क्या होता ? उनका जीवन-दर्शन, उनका नीतिवाद और उपयोगितावाद एक उत्कट आदर्शवाद के उपकरण-मात्र हैं। परंतु अब यथार्थ का प्रश्न उठता है। इसमें भी संदेह नही किया जा सकता कि प्रेमचंद की कथाएं नित्यप्रति की यथार्थ समस्याओं को लेकर चलती हैं। अर्थात् उनकी समस्याएं इलाचद्र जोशी अथवा मार्क्सवादी उपन्यासकारो की भाति सैद्धातिक अथवा प्रतिज्ञात्मक (Hypothetical) नही हैं। वे सर्वथा व्यावहारिक एवं यथार्थ हैं। इसी प्रकार उनके पात्र और घटनाओं तथा वातावरण सभी में यथार्थता है। ऐसी स्थिति मे उन्हें क्या समझा जाय ? यहीं उलझन पैदा हो जाती है। परतु वास्तव मे यह उलझन भ्रांति-

मात्र है और इसका कारण यह है कि यथार्थ और आदर्श के विषय मे ही लोगो को भ्राति है। यथार्थवाद से तात्पर्य उस दृष्टिकोण का है जिसमे कलाकार अपने व्यक्तित्व को यथासंभव तटस्थ रखते हुए वस्तु को, जैसी वह है वैसी ही देखता है और चित्रित करता है—अर्थात् यथार्थवाद के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है। इसके विपरीत दो दृष्टिकोण है : एक रोमानी, दूसरा आदर्शवादी। कलाकार जब वस्तु पर अपने भाव और कल्पना का आरोप कर देता है और उसको अपने स्वप्नो के रंगीन आवरण मे लपेटकर देखता है और चित्रित करता है, तो उसका दृष्टिकोण रोमानी हो जाता है। इसी प्रकार जब वह वस्तु पर अपने भाव और विवेक का आरोप कर देता है और उसे अपने आदर्श के अनुकूल गढता है तो उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी बन जाता है। प्राय. ये दोनो दृष्टिकोण—रोमानी और आदर्शवादी—सम्मिलित ही रहते हैं। परतु यह सर्वथा अनिवार्य नही है कि रोमानी धरातल पर ही आदर्शवाद की प्रतिष्ठा सभव है। इसके विपरीत रोमानी दृष्टिकोण के लिए भी आदर्शवाद अनिवार्य नही है, क्योकि भाव और कल्पना का प्राचुर्य होते हुए भी उसमे किसी नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा आवश्यक नही है। यह कलाकार के व्यक्तित्व पर निर्भर है कि उसे व्यवहार-जगत् प्रिय है या कल्पना-जगत्। प्रेमचद का व्यक्तित्व, जैसा मैंने कहा, साधारण एवं व्यावहारिक था। साथ ही उनके जीवन-आदर्श भी सर्वथा प्रत्यक्ष एवं सुनिश्चित थे। अतएव उन्होने व्यावहारिक धरातल पर ही आदर्शवाद की प्रतिष्ठा की है।—साराश यह है कि आदर्शवाद और यथार्थवाद मे मूल विरोध है। पहले का आधार भावगत दृष्टिकोण है और दूसरे के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है। आदर्शवादी यथार्थवादी नही होगा, उसके लिए रोमानी होना सहज है, परंतु यह भी अनिवार्य नही है। वह कल्पना-विलासी और स्वप्न-द्रष्टा न होकर व्यावहारिक भी हो सकता है। उसके आदर्श कल्पना अथवा अतींद्रिय लोक के स्वप्न न होकर व्यवहार-जगत् की समस्याओ के नैतिक समाधान भी हो सकते हैं। प्रेमचद के आदर्शवाद का यही रूप है . वह रोमानी आदर्शवाद नही है, व्यावहारिक आदर्शवाद है। परतु यथार्थ नही है, क्योकि यह आवश्यक नही है कि जो रोमानी नही है, वह यथार्थ ही हो। हा, यथार्थ उनकी शैली का अंग अवश्य है, उनके वर्णन अत्यंत यथार्थ होते है, उनमे कल्पना के रूपरग न होकर वस्तु का यथातथ्य चित्रण रहता है। परतु दृष्टिकोण का निर्णय तो वर्णन की शैली से न होकर उसके लक्ष्य से करना चाहिए। इसीलिए शैलीगत यथार्थ उनके आदर्शवाद के प्रतिकूल नही पडता, उसका अग ही बन जाता है।

यहा तक मैंने तटस्थ रूप से, अपने वैयक्तिक रुचि-वैचित्र्य को पृथक् रखते हुए, प्रेमचद का महत्त्वाकन करने का प्रयत्न किया है। मैं स्वीकार करता हू कि जीवन के प्रति व्यक्तिगत कुठाओ से युक्त स्वस्थ दृष्टिकोण एक बडा गुण है—विशेषकर आज के कुठाग्रस्त जीवन मे। अपने युग के सामाजिक, राजनीतिक जीवन का इतिहास प्रस्तुत कर सकना भी साधारण बात नही है। उधर अपनी कला का लोक-कल्याण के लिए उपयोग करते हुए नैतिक सदादर्शों की प्रतिष्ठा करना भी कलाकार का कर्तव्य है। और अत मे, इतना व्यापक दृष्टिकोण भी एक असाधारण विशेषता है। परतु

फिर भी मेरा मन प्रेमचंद को प्रथम श्रेणी का कलाकार मानने को प्रस्तुत नही है। और इसका कारण यह है कि प्रेमचंद मे कुछ ऐसे गुणों का अभाव है जो इनसे महत्तर हैं और जीवन और साहित्य में जिनका महत्त्व अपेक्षाकृत कहीं अधिक है।

प्रतिभा के अनेक अंग हैं : तेजस्विता, प्रखरता, गहनता, दृढ़ता, सूक्ष्मता और व्यापकता। इनमें से प्रेमचंद के पास केवल व्यापकता ही थी—शेष तीन गुण अपर्याप्त मात्रा में थे। वास्तव में नॉर्मल व्यक्तित्व की यह सहज सीमा है कि व्यापकता की तो उसके साथ संगति बैठ जाती है परंतु तेजस्विता, गहनता और तीव्रता अथवा बौद्धिक सघनता एवं दृढ़ता के लिए उसमें स्थान नही होता।

तेजस्विता प्रतिभा का स्पष्टतम रूप है। यह गुण गहन आंतरिक संघर्ष की अपेक्षा करता है। अंतर्द्वंद्व की रगड़ खाकर ही मनुष्य के व्यक्तित्व मे तेज आता है—उसकी चेतनाशक्ति अत्यंत प्रखर हो जाती है और उसकी अनुभूति मे तीव्रता आ जाती है। परंतु प्रेमचंद की साधारणता मे इसके लिए अधिक स्थान नहीं है। व्यावहारिक व्यक्ति को सतर्क होकर इसको दबाना होता है क्योकि व्यवहार-जगत् मे तीव्र अनुभूतियां या प्रखर चेतना बाधक होती हैं। प्रेमचंद के साहित्य में इस प्रकार की घटनाएं तथा पात्र अत्यंत विरल हैं जो पाठक की अनुभूति को उत्तेजित कर उसके मन मे प्रखर चेतना उद्बुद्ध कर सकें। तीव्र अंतर्द्वंद्व के इसी अभाव के कारण वे आत्मा की गहराइयों मे नहीं उतरते—उतर भी नही सकते। आत्मा की पीड़ा, जो जीवन और साहित्य मे गंभीर रस की सृष्टि करती है, उनके साहित्य की मूल प्रेरणा कभी नही बन पायी। वह उनके जीवन-दर्शन के लिए अप्रासंगिक थी। उन्होंने जीवन की व्यावहारिक समस्याओं को ही संपूर्ण महत्त्व दे डाला है। परंतु जीवन मे तो इनसे गहनतर समस्याएं भी हैं : अंतर्जगत् की समस्याएं—जिन्हें प्रेमचद की व्यावहारिक दृष्टि ने यथेष्ट महत्त्व नहीं दिया। उनमे किसान-ज़मींदार, मज़दूर-पूंजीपति, छूत-अछूत, शिक्षा-अशिक्षा आदि बाह्यजगत् के द्वंद्वों का जितना विस्तृत और सफल वर्णन है उतना श्रेय और प्रेय, विवेक और प्रवृत्ति, श्रद्धा और क्रांति, कर्तव्य और लालसा आदि अंतर्जगत् के द्वंद्वों का नही। यह बात नहीं कि ये प्रसंग आते ही नहीं। प्रेमचंद के सभी उपन्यासों और कहानियो में ये प्रसंग आये हैं क्योकि बाह्य जगत् और अंतर्जगत् का पूर्णत. पृथक्करण संभव नहीं। वे एक-दूसरे से लिपटे हुए हैं। परंतु प्रेमचंद ने उनको वांछित महत्त्व नहीं दिया। पिछले युग की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक विषमताओं को उन्होंने जितना महत्त्व दिया था उतना महत्त्व उसकी आध्यात्मिक विषमताओं को नहीं दिया। प्रेमचंद उस युग की आध्यात्मिक क्लांति का सजीव चित्र नही दे पाये जिसने कि उसकी आत्मा को खोखला कर दिया था—जबकि पुराने विश्वास निर्जीव पड़ गये थे, नये विश्वासो मे प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो पायी थी, और भारत की आत्मा निराधार-सी होकर कभी पीछे की ओर, कभी आगे की ओर दौड़ती थी। उन्होंने इस संघर्ष के बाह्य रूप को ही ग्रहण किया, शायद वहीं तक उनकी पहुच थी। परिणाम यह हुआ कि प्रेमचंद की दृष्टि सामयिक समस्याओं तक ही सीमित रही है, जीवन के चिरंतन प्रश्नों को उन्होंने बड़े ही हल्के हाथो से छुआ है या छुआ ही नही है। कोई

भी कलाकार जीवन के शाश्वत रूपों का गहन दार्शनिक विवेचन किये बिना महान् नही हो सकता। परंतु प्रेमचंद का विचार-क्षेत्र विवेक से आगे नही बढ़ता। चिंतन और गभीर दर्शन उसकी परिधि मे नही आते। इसीलिए उनमे बौद्धिक सघनता और दृढता का अभाव है और उनके उपन्यासो के विवेचन आदि मे एक प्रकार का पोलापन मिलता है। विचारो की सघनता, जो गहन दार्शनिक विश्वास अथवा अविश्वास से आती है, उनमे नही है। यो तो विभिन्न समस्याओ का विवेचन करते समय अपने मत के प्रचार मे उन्होने पृष्ठ-के-पृष्ठ लिख डाले हैं, परतु उनका बौद्धिक तत्त्व साधारण विवेक-सम्मत तर्कवाद पर आश्रित होने के कारण काफी हल्का होता है, और पाठक के विचार पर उसका कोई गभीर प्रभाव नही पडता। उदाहरण के लिए प्रसाद के 'ककाल' को लीजिए। उपन्यास-कला की दृष्टि से प्रेमचंद के उपन्यास उससे कही उत्कृष्ट है परंतु 'ककाल' का बुद्धिपक्ष निश्चय ही अधिक समृद्ध है। प्रसाद के विवेचन जहा दार्शनिक चिंतन पर आश्रित हैं, वहा प्रेमचंद के विवेचन नैतिक-व्यावहारिक विवेक पर। व्यावहारिक व्यक्ति जिस प्रकार बाल की खाल निकालना पसद नही करता, काम से काम रखता है, इसी प्रकार प्रेमचद भी किसी प्रश्न के तल तक जाने का प्रयत्न नही करते। निदान उनमे सूक्ष्म चिंतन और विश्लेषण का भी प्रायः अभाव है।

वास्तव मे ये साधारण व्यक्तित्व के सहज अभाव हैं। साधारण व्यक्तित्व कुल मिला कर द्वितीय श्रेणी का व्यक्तित्व ही रहता है। महान् होने के लिए असाधारणता अपेक्षित है क्योकि प्रतिभा भी तो असाधारण, लोकोत्तर शक्ति का नाम है। जीवन की असाधारणताओ का अनुभव कर साधारणत्व की प्राप्ति करना एक बात है, और असाधारणताओ को बचाकर लीक पर चलते रहना दूसरी। पहला लोकोत्तर प्रतिभा-वान् महान् व्यक्तित्व का काम है, दूसरा साधारण व्यावहारिक व्यक्तित्व का। प्रेमचंद पहली श्रेणी मे नही आते।

वाणी के न्याय-मंदिर में

स्थान

काव्य-लोक जिसका प्रचलित नाम ब्रह्मलोक भी है।

पात्र

ज्ञानशंकर	प्रेमाश्रम का नायक	वादी
प्रेमचंद	प्रेमाश्रम के रचयिता	प्रतिवादी
मनोहर	प्रेमाश्रम का पात्र	
भगवती वीणापाणि	काव्य-लोक की अधिष्ठात्री	न्यायालय की अध्यक्षा

न्यायमत्री, महाप्रतिहार आदि।

रंग-संकेत

[काव्य-लोक मे विचार-सभा का मडप, प्राचीन भारतीय शैली का बना हुआ। मडप के मध्य मे एक रत्न-जटित मराल सिंहासन जिस पर शुभ्रवसना भगवती वीणापाणि विराजमान है। वीणापाणि चिरयौवना सुदरी हैं। उनका मुखमडल प्रशात आनद से दीप्त है और अगो में जैसे काव्य का रस घनीभूत हो गया है।

उनसे कुछ ही हटकर वाम पार्श्व मे काव्य लोक के न्यायमत्री की स्वर्ण-आसदी है। न्यायमत्री परिपक्व अवस्था के व्यक्ति हैं। उनकी रस-स्निग्ध दृष्टि में बुद्धि का आलोक है।

उनसे लगभग पाच हाथ की दूरी पर दो चादी की आसदिया पडी हुई हैं। एक पर मूछो मे हसते हुए उपन्यास-सम्राट् प्रेमचद विराजमान हैं, दूसरी पर मुद्रा मे क्रोध लिए हुए ज्ञानशकर।

सभा-मडप में चारो ओर आसदियो की पक्तिया सजी हुई हैं, जिन पर असख्य दर्शक-समाज बैठा हुआ निर्निमेष नेत्रो मे इस अद्भुत विचार-दृश्य को देख रहा है।]

कुमारामात्य—राजराजेश्वरी भगवती वीणापाणि की जय हो! कल्याणी के विचारालय मे मर्त्यलोक-निवासी ज्ञानशंकर ने श्री श्री परमादरणीय महाप्रतिभ पूत-दृष्टि उपन्यास-महारथी श्री प्रेमचद के विरुद्ध कतिपय गभीर अभियोग उपस्थित किये हैं। आज उन्ही पर विचार करने का दिन है। आज्ञा हो तो वादी ज्ञानशकर को श्रीचरणो मे स्वय प्रार्थना करने का अवसर दिया जाए।

वीणापाणि—वादी अपना अभियोग उपस्थित करे।

ज्ञानशंकर—राजेश्वरी परमपट्ट-महिषी भगवती वीणापाणि की जय हो! भगवती, मैं श्री प्रेमचद का भावजात हू। इसके लिए मुझे उनका कृतज्ञ होना चाहिए,

परतु उन्होने जो जन्म से ही मेरे विरुद्ध अत्याचार, अन्याय और पक्षपात किया है, उसके कारण मैं जीवन-भर अनेक यातनाओ का—निंदा, पातक और असफलताओ का भागी रहा। उन्होने मेरे स्त्री, पुत्र, भाई, प्रजा सभी को मेरे विरुद्ध प्रोत्साहित किया और अंत मे मुझे आत्महत्या जैसे महाभिशाप को भोगने के लिए बाध्य किया। अब मैं अपने अभियोगो को क्रमानुसार उपस्थित करता हू।

उपन्यास-सम्राट का सबसे बडा दोष यह है कि वे यथार्थवादी कलाकार होने का दभ करते हुए भी भयकर आदर्शवादी—अथवा यो कहे कि आदर्शभीरु—है। विश्व के अन्य महान् स्रष्टाओ की भाँति उनका जीवन के तथ्य पर अधिकार नही है, वे तथ्य-दर्शन को पूरी तरह नही समझते। तभी तो वे सपूर्ण जीवन के साथ, उसकी समस्त विषमताओ के साथ समझौता करने मे असमर्थ रहे हैं; इसी कारण उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी अतएव एकागी है। वे स्पष्ट रूप से एक ऐसे विधान मे अध आस्था रखते है जो पूर्णत. अव्यावहारिक और असंगत है—राजनीति के क्षेत्र मे तो कम-से-कम जिसकी विफलता आज प्रत्यक्षत सिद्ध हो चुकी है।

एक काल्पनिक स्वप्नदर्शी विधान के पीछे प्रेमचदजी पग-पग पर कला का तिरस्कार करते हैं, वे बार-बार कलाकार के उच्च गौरव को भूलकर प्रचार के निम्न धरातल पर उतर आते हैं और एक सामान्य मंचवीर की तरह प्रॉपेगेंडा करने लगते है। उन्होने 'प्रेमाश्रम' मे एक ऐसी कठपुतली की सृष्टि की है जो सोलहो आने उनके इशारो पर नाचे। यह कठपुतली है प्रेमशकर, जो गाधीवादी आदर्श—त्याग और अहिंसा का निर्जीव प्रतीक-मात्र है। इस व्यक्ति से उपन्यासकार को इतना मोह है कि उसके चरित्र को उज्ज्वल रूप मे उपस्थित करने के लिए ही उन्होने मेरे व्यक्तित्व को काले रग से भर दिया है। उन्होने मुझ-जैसे शक्तिशाली व्यक्तित्व का वैषम्य के लिए ही उपयोग किया है। मेरे चरित्र की श्यामता प्रेमशकर के व्यक्तित्व को उज्ज्वलतर रूप मे प्रस्तुत करे, यही मानो मेरा उपयोग है। इतना ही नही, उन्होने नायक के गौरव को भी मुझसे छीनने का प्रयत्न किया है। प्रेमाश्रम का कथा-विकास साक्षी है कि उसके सपूर्ण जीवन-क्षेत्र को मेरा ही महान् व्यक्तित्व आच्छादित किए हुए है। मैं ही उसकी प्रमुख घटनाओ का सूत्रधार हू। परतु अंत मे जाकर साफ तौर से उपन्यासकार की नीयत बिगड गयी है और बीच मे ही मेरा गला घोंटकर उसने प्रेमशकर-जैसे दुर्बल व्यक्ति को नायक पद पर आसीन कर दिया है। उपन्यासकार मेरे प्रति निराधार द्वेष का दोषी है।

मेरा दूसरा अभियोग, जो किसी अश तक पहले अभियोग से ही संबद्ध है, यह है कि उपन्यासकार नीतिवादी है। वह स्थूल नीति-विधान मे इतना अधिक विश्वास करता है कि मानव-चरित्र को समझने मे भूल कर जाता है। साथ ही उसकी नीति भी आज पुरानी पड गयी है। देश-काल के अनुकूल उसमे शक्ति नही है। वह आज भी कर्म के सत्-असत् होने की कसौटी उसके परिणाम को न मानकर हिंसा-अहिंसा को मानता है। आत्मार्थ आज भी उसकी दृष्टि मे भयंकर पाप है, आज भी वह सारे समाज को त्याग और तपस्या का पाठ पढ़ाने का साहस करता है। इसका परिणाम यह है कि वह फूक-फूककर पैर रखने वाले नीतिवादियो को ही गौरव का भागी समझता

है; मुझ-जैसे जीवट के आदमी के चरित्रबल को समझने की सामर्थ्य उसमे नही है। अतएव उसने अपनी दुर्बलताओ को छिपाने के लिए मेरा पग-पग पर अपमान किया है।

मेरा तीसरा अभियोग यह है कि कलाकार के उच्चासन के लोभी ये महाशय मनोविज्ञान के इस युग मे भी काव्य-न्याय मे विश्वास करते मालूम पडते हैं, परंतु न्याय की भी इनकी परिभाषा अत्यत संकुचित और एकांगी है। इनको अपने विचारो के प्रति अनुचित पक्षपात है। ये इतने असहिष्णु हैं कि यदि कोई व्यक्ति इनसे सहमत नही है तो वह निश्चय ही उनकी दृष्टि मे घोर पापी और इस कारण दंडनीय बन जाता है। इसीलिए जिस किसी को भी ये अपने सिद्धातो के अनुकूल बनाने मे असमर्थ रहते हैं, उसी पर इनके न्यायदड का निर्मम प्रहार होता है। अपने जीवनादर्श महात्मा गांधी की भाति ये भी पुतलियो से खेलना चाहते हैं और स्वतत्र विचारशील सबल व्यक्तित्वो को सहन नही कर सकते। उपन्यास के सभी व्यक्तियो को इन्होने उचित या अनुचित ढग से अपनी नीति को मानने के लिए विवश किया है। मेरा और मनोहर का यही अपराध था कि हमने उनकी इस क्लीव नीति का विरोध किया। बस, इसीलिए हमको कठिन दड भोगना पडा।

मेरा चौथा अभियोग यह है कि श्री प्रेमचंद महोदय ने द्वेष से अंधे होकर मेरे चरित्राकन मे जिस शैली का अनुकरण किया है वह जितनी अनुचित है उतनी ही अस्वाभाविक भी। उनका उद्देश्य यही रहा है कि स्वाभाविक या अस्वाभाविक रीति से मुझको नीचा दिखाया जाए। इसके लिए वे बार-बार मेरे चरित्र की कालिमा को खूब गहरे रग मे लोगो के सम्मुख रखते है। ऐसा करते हुए उन्हें यह भी ध्यान नही रहता कि इस प्रकार वे प्राय परस्पर विरोधी बातें कह रहे हैं। इसीलिए मेरे चरित्र-चित्रण मे विरोधी तत्त्वो का अस्वाभाविक मिश्रण है। कारण यह है कि गाधीवादी होने के कारण प्रेमचद जी मानवात्मा की एकात पवित्रता पर विश्वास करते है, दूसरी ओर सिद्धात मे मतभेद होने के कारण स्वयं उनका ही हृदय मेरे प्रति निर्मल नही है। उनको मेरे व्यक्तित्व से घृणा है, इसीलिए सिद्धात की झोक मे बार-बार मेरे चरित्र का शुभ्र पहलू दिखाने का प्रयत्न करते हुए भी उनकी लेखनी हृदय की प्रेरणा से तुरंत उनके अपने कलुष को ही चित्रित कर उठती है। लेखक ने कही भी मेरे हृदय की कोमल वृत्तियो को उभरने नही दिया। इतना ही नही, वे सदैव मेरे प्रयत्नो के साथ खिलवाड भी करते रहे हैं। सफलता को उन्होने मेरे जीवन की मृगतृष्णा बना दिया है। मैं अपने चरित्र और बुद्धिबल के सहारे जीवन-संघर्ष मे विजय प्राप्त करता हू, परतु दुर्दैव की भाति पीछे पडा हुआ यह मेरा भाग्य-विधाता होठो के छूते-छूते ही प्याला छीन कर फेंक देता है। मुझको विफल करने की धुन मे वह प्राय. यह भी भूल जाता है कि ऐसा स्वभाविक भी है या नही—परिस्थितियो की गति उसके अनु-कूल भी है या नही, इसकी उपन्यास-सम्राट् को चिंता ही नही रहती।

मेरा अतिम और सबसे बडा अभियोग यह है कि इन्होने मुझे बरबस आत्म-हत्या के घृणित अभिशाप का भागी बनाया, जो मेरे प्राणवान् व्यक्तित्व के सर्वथा

प्रतिकूल है। मेरे हृदय में जीवन के प्रति असीम अनुराग है। जीवन के उपभोग के लिए मेरे मन मे सदैव अदम्य उत्साह रहा है। मैंने एक पुरुषार्थी की भांति जीवन की विषमताओं को पदाक्रात किया है। जीवन मे एक बार भी मैंने उनके सम्मुख मस्तक नही झुकाया। बस, इसीलिए मेरे जन्मदाता ने मुझे जाकर गंगा मे डुबो दिया, क्योकि मैं उनकी इच्छा कादास नही बन सका ? अनेक प्रकार के उचित-अनुचित उपायो का अवलबन करने के बाद भी जब वे हार गये तो अंत मे उन्होने मेरे ऊपर अपने उसी ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया जो उनका अंतिम साधन है। जब कभी वे अपने किसी भी भाव-जात को वश मे नही कर सकते तो उसका गला घोट देते हैं। उन्होने यह पाप सदैव और सर्वत्र किया है। मैं अपने पक्ष मे अनेक साक्षिया उपस्थित कर सकता हू। पर यहा केवल मनोहर की ही साक्षी काफी होगी। मनोहर जीवन-भर मेरा शत्रु रहा। परंतु वह भी मेरी तरह जीवट का आदमी है, और इसीलिए एक ही दंड का समभागी होने के कारण मुझे विश्वास है कि वह मेरे पक्ष का समर्थन करेगा।

इन्ही अत्याचारों को दृष्टि मे रखते हुए मैं अंत मे श्रीयुत प्रेमचदजी को अन्याय, पक्षपात, मानहानि और हत्या का अपराधी ठहराता हू और न्याय, मानवता एव कला के नाम पर हंस-वाहिनी जगदंबा वीणापाणि के चरणो मे प्रार्थना करता हू कि मेरे साथ नीर-क्षीर न्याय का पालन करते हुए इन स्वय-भू उपन्यास-सम्राट् को स्रष्टा-कलाकारों के इस पुनीत लोक से निर्वासित कर मंचवीर प्रचारको और उपदेशको की अधोभूमि मे भेज दिया जाए, जिससे मेरे रक्त के बदले मे इनका जरा-मरण के भय से मुक्त यशःशरीर एकदम नष्ट हो जाए।

× × ×

भगवती वीणापाणि—महाप्रतिहार को आदेश होता है कि वह मनोहर को साक्षी-रूप मे उपस्थित करे।

[महाप्रतिहार मस्तक झुकाये नम्रतापूर्वक बाहर जाता है और मनोहर के पीछे-पीछे उसी विनीत, गभीर मुद्रा मे उपस्थित होता है।]

मनोहर—माता सारदा की जय हो।

वीणापाणि—मनोहर ! तुम्हारा वादी ज्ञानशंकर और प्रतिवादी श्रीयुत प्रेमचद से परिचय है ?

मनोहर—हा, भगवती ! एक मेरे मालिक, दूसरे मेरे जन्मदाता हैं।

वीणापाणि—शपथ करो कि ब्रह्मलोक के इस न्यायालय को एक भी असत्य शब्द से कलुषित न करोगे।

मनोहर—मा, मैं मानवता की सौगध खाकर कहता हू कि भगवती के सामने मुह से एक बात भी झूठ नही निकालूगा।

वीणापाणि—अच्छा तुम वादी और प्रतिवादी के पारस्परिक सबधो के विषय मे क्या जानते हो ?

मनोहर—भगवती, मेरी ही तरह वादी के प्रतिवादी ही जन्मदाता है। ज़िंदगी-भर मैंने बाबू ज्ञानसंकर से लडाई लड़ी, पर मैं इस बात के लिए सचाई का गला

कैसे घोटूं ! मैंने उनकी नीति का विरोध किया, पर उनके पुरसारथ का मै हमेसा कायल रहा। उन जैसा आदमी मैने अपनी जिंदगी-भर मे दूसरा नही देखा—जन्म-भर वे विपदाओ से लडते रहे। मुसीजी ने आगे-पीछे से उन पर वार किये, पर वह मेरा सेर अपनी ही धुन मे मस्त रहा।

वीणापाणि—तुम्हे भी प्रतिवादी के विरोध मे कोई अभियोग उपस्थित करना है।

मनोहर—कैसे बताऊं मा, सरम लगती है। अपने माई-बाप के खिलाफ कैसे जबान खोलू, पर सच्ची बात कहने की सौगंध खा चुका हू—तुमसे क्या छिपाऊं ? मुसीजी को जीवट के आदमियो से कुछ बैर है। वे चाहते है कि हरएक आदमी उनकी तरह दब्बू बना रहे। मै जब तक उनकी बात मानता रहा, वे मुझसे खुस रहे। पर जब मै महरिया की बेइज्जती देख आपे से बाहर हो गया तो उन्होने मेरे ही हाथो से जेल मे मेरा गला घुटवा दिया।

वीणापाणि—प्रतिवादी के पास इन अभियोगो का क्या उत्तर है ?

प्रेमचंदजी—कल्याणी की जय हो ! अगर अपराध क्षमा हो तो मैं कचहरी की आम-फहम भाषा मे अपना इजहार दू। मुझे कृत्रिम भाषा बोलने का अभ्यास नही है।

वीणापाणि—प्रतिवादी को आज्ञा होती है कि जिस प्रकार की भाषा का चाहे उपयोग करे। परतु किसी सास्कृतिक भाषा को कृत्रिम कहना उस सस्कृति के प्रति अपराध करना है। अतएव पहले उसे न्यायालय से इस अपराध की क्षमा मागनी चाहिए।

प्रेमचदजी—मेरा आशय यह नही था। फिर भी मैं अपने लफ्जो को वापस लेता हू।

वीणापाणि—प्रतिवादी अपना वक्तव्य प्रारंभ करे।

प्रेमचंदजी—कल्याणी ! मेरे खिलाफ पाच इल्जाम लगाये गये है। साधारणत. मुझे उनको सुनकर तकलीफ होती, लेकिन चूकि मैं मानव-चरित्र का ज्ञाता हू, इसलिए बाबू ज्ञानशकर की मनोवृत्ति समझने मे मुझे कोई मुश्किल नही हो रही। खैर, मै इनका एक-एक करके जवाब देता हू।

मेरे खिलाफ पहला जुर्म यह है कि मैं यथार्थवाद का दंभ भरते हुए भी आदर्श-भीरु हू। मेरा तथ्य-दर्शन पर कोई अधिकार नही, इसलिए मैं अपनी आदर्श नीति का प्रोपेगेंडा करता हू।

जहा तक मुझे याद है, मैंने कभी नही कहा कि मैं यथार्थवादी या आदर्शवादी हू, और न मेरी निगाह मे इन लफ्जो का कोई विशेष मूल्य है। मेरे पास आखें और दिमाग दोनो है—आखो से मैं जीवन की वास्तविकता को देखता हू, दिमाग से न सिर्फ उनके विषय मे चिंतन और मनन ही करता हू वल्कि उनका समाधान करने का प्रयत्न भी करता हूं। लिहाजा मेरे साहित्य मे यथार्थ और आदर्श दोनो गले मे बाहे डालकर चलते हैं। मैंने यथार्थ मे जो विषमताए देखी उन पर विवेकपूर्वक मनन किया, और उनका जो समाधान मुझे मिला वही मेरा आदर्श बन गया। इसलिए

मेरा आदर्श यथार्थ की आधारभूमि पर ही खड़ा हुआ है, वह कोरी कल्पना या भावुकता की सृष्टि नही है।

जीवन के प्रवाह मे आंखें मूदकर बह जाना कहा की बुद्धिमानी है ! ईश्वर ने मनुष्य को बुद्धि इसलिए दी है कि वह उसका हृदय के साथ-साथ उपयोग करे और जीवन की गुत्थियो को सुलझाता हुआ अपना मार्ग प्रशस्त करे। साहित्य की सार्थकता भी ठीक यही है। मेरा अपना दृष्टिकोण सदैव यही रहा है और मैंने बिना किसी संकोच के अपने साहित्य मे इसका तर्जुमा किया है। मैं आधुनिक जीवन की विपमताओ का एकमात्र समाधान त्याग और प्रेम समझता हू। आज का भौतिक जीवन प्रवृत्ति के अतिचार से तड़प उठा है : उसमे निवृत्ति के लिए गुजायश नही है। इसलिए वह संतुलन खो बैठा है। आज त्याग और प्रेम ही उसे फिर स्थापित कर सकते हैं। प्रेमशंकर के जीवन मे यही सतुलन पाया जाता है। इसीलिए वह विजयी हुआ है। और ज्ञानशंकर भौतिक सुख की लालसा मे अंधे होकर इसी को खो बैठे हैं। इसलिए वे ज़िदगी-भर बाज़ी हारते रहे है। यह उनकी नादानी है कि वे अपने को प्रेमशकर से ज्यादा जीवट का आदमी समझते हैं। जीवन का मोह ही तो पुरुषार्थ नही है—उसके लिए संयम और आत्मबल की ज़रूरत है।

दूसरा इल्ज़ाम मेरे ऊपर यह है कि मैं नीतिवादी हू और मेरी नीति पुरानी पड गयी है।

जैसा मैंने अभी अर्ज़ किया, मैं नीति मे विश्वास करता हूं—विषमताओं का समाधान नीति ही तो है। लेकिन नीति और रूढि मे फर्क है। नीति जीवन की विषमताओ के समाधान का ही दूसरा नाम है। इससे ही हमारा जीवन चलता है। हां, उसे रूढिबद्ध कर लेना दरअसल भूल है। लेकिन यह सोचना कि समाज का जीवन बिना मॉरल्स के कायम रह सकता है, उससे भी बडी भूल होगी। मैंने अपनी दृष्टि हमेशा वर्तमान की समस्याओ और उनके समाधान पर ही रखी है। मैंने भारत के स्वर्ण-युग के सपने कभी नही देखे, हमेशा वर्तमान की समस्याओ से ही ताकत आजमाई है। लिहाज़ा मेरी नीति विवेक पर ही अवलबित है। और, इसीलिए उनमे न परपरा की दुहाई है, न धर्मशास्त्रो की।

ज्ञानशंकर की तरह मरा भी भौतिक जीवन पर अखंड विश्वास है। फर्क सिर्फ यह है कि बाबू ज्ञानशंकर आग मे आग बुझाना चाहते हैं, मैं पानी के छीटो को काम मे लाना चाहता हू। बस, यही मेरा कसूर है।

अब तीसरा इल्ज़ाम सुनिये। मुद्दई को शिकायत है कि मै काव्य-न्याय मे विश्वास करता हू।

इसका जवाब यह है कि जहां तक काव्य-न्याय के स्थूल रूप मे संबंध है, मैं समझता हू कि ऐसी हिमाकत मैं कभी नही करता। अगर ऐसा होता तो गायत्री की आत्महत्या क्यो होती। लेकिन सूक्ष्म रूप मे मेरा यह निश्चित मत है कि संपूर्ण विश्व-विधान के पीछे, उसके अणु-अणु मे विधाता का न्याय काम कर रहा है। साहित्य जीवन का चित्र है। अतएव इस न्याय की सत्ता साहित्य से भी मान्य होनी चाहिए। न्याय

का अर्थ है नियम, और प्रकृति का यह नियम है कि जो जीवनप्रद है वह सत् है क्योंकि जीवन सत् है और जो जीवन का घातक है वह असत् है। इसलिए प्रेम सत् है; हिंसा असत् है। प्रेम स्थायी रहेगा, हिंसा का नाश हो जाएगा। मैं जीवन और साहित्य दोनो मे इस न्याय का कायल हू।

आगे मुद्दई कहता है कि मेरे चरित्राकन मे पूर्वापर विरोध है। एक ओर गाधीवादी होने के नाते मैं मानव-हृदय की स्वाभाविक पवित्रता पर एतकाद करता हूं, दूसरी ओर खुद मेरा ही दिल मुद्दई की तरफ से साफ नही है। लिहाजा मैंने उसकी खूबियो की ओर इशारा करते हुए भी उनको उभरने का मौका नही दिया, और न उसे कभी अपने उद्देश्यो मे कामयाब ही होने दिया।

मुझे अफसोस है, मुद्दई को अपनी बाबत इतना मुगालता है। वह अपनी खामियो को नही पहचानता। यह मैं भी मानता हूं कि उसमें खूबिया हैं, लेकिन उसमे स्वार्थ इतना ज्यादा है कि वह उमकी खूबियो को उभरने का मौका नही देता। और, रही कामयाब न होने की बात, तो उसके लिए भी बाबू ज्ञानशंकर खुद ही जिम्मेवार है। उनमे बुद्धि-बल है, पुरुषार्थ है, जीवन के लिए प्रेम है; लेकिन आत्म-बल नही है। इसलिए वे मौके पर अकसर अपने हाथ से ही अपने पाव मे कुल्हाडी मार लेते है। राय कमलानद के सामने वह एक धमकी मे ही सब कुछ उगल बैठे। दरअसल उन जैसा स्वार्थी आदमी आत्मबल लाएगा कहा से?

आखिरी इलजाम और भी सगीन है। बाबूजी फर्माते है कि मैंने उनका जबरन गला घोट दिया। उनको आत्महत्या करने पर मजबूर किया। वे खुद मरना नही चाहते थे।

मेरा खयाल था कि इसके लिए वादी मेरा अहसान मानेगा, लेकिन देखता हू कि उसने उलटा मेरे ऊपर दावा कर दिया है। क्या मैं पूछ सकता हू कि जिस इमारत को उन्होने इतनी मेहनत से बनाकर खडा किया उसको एक पल मे ढहते देखकर खुदकुशी के अलावा वे और क्या कर सकते थे? मैं समझता हूं कि उस वक्त मृत्यु ही उनके लिए वरदान थी।

बस, मुझे अपनी सफाई मे और कुछ अर्ज नही करना है।

वीणापाणि—न्यायमंत्री को आदेश होता है कि वे अभियोग की सार्थकता पर प्रकाश डालें।

न्यायमंत्री—भगवती की जय हो! मैंने अत्यंत ध्यानपूर्वक वादी और प्रतिवादी की युक्तियो को सुना।

अभियोग का विश्लेषण करने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हू कि यद्यपि प्रत्यक्ष रूप मे उनकी संख्या पाच है—और एक-एक अभियोग के अतर्गत कुछ और छोटे-मोटे अभियोगो की ओर संकेत भी है—परतु वास्तव मे वे सभी पहले एक अभियोग की ही परिधि मे आ जाते हैं। प्रतिवादी के विरुद्ध अभियोग यही है कि उसका तथ्य-दर्शन पर पूर्ण अधिकार नही है। वह जीवन के तथ्य को पूर्णत. नही समझ सका। वह जीवन के समग्र रूप से—उसकी समस्त विभीषिकाओ के साथ समझौता

नही कर पाया । इसीलिए वह यथार्थ से सतोष न कर सदैव आदर्श की उपासना करता रहा है । यथार्थ से संतोष न करना वास्तव में यथार्थ को समझने में त्रुटि करना है। जिसको यथार्थ का अनुभव हो जाता है वह आदर्श की चिंता नही करता —वह तो जीवन के अतिम सत्य को प्राप्त कर लेता है । ऐसा ही तथ्यदर्शी कवि मनीषी कहलाता है । प्रेमचंद जी जीवन को इतनी गहराई मे जाकर नही देख सके । वादी का अभियोग इसी बिंदु पर आकर केंद्रित होता है । उसने अपने प्रति जिन अत्याचारो का वर्णन किया है वे सभी अत्युक्तिपूर्ण होते हुए भी सर्वथा निराधार नही हैं, क्योकि उसने अपने पहले ही वाक्य मे प्रतिवादी के सबसे दुर्बल अंग पर चोट दी है । इसका उत्तर उनके पास कोई नही है।

वीणापाणि—उपस्थित सभ्य समाज ! हमने वादी, प्रतिवादी एवं न्यायमंत्री तीनो के वक्तव्यों पर मनन किया । हम न्यायमंत्री के इस अभिमत से कि प्रतिवादी के पास पहले और केंद्रीय अभियोग का कोई संतोषजनक उत्तर नही है, पूर्णतया सहमत हैं ।

वास्तव मे वे जीवन-तथ्य को समग्र रूप मे ग्रहण नही कर पाये । उन्हे उसकी वास्तविकता से पूर्ण सहयोग नही है । वे उसकी विषमताओ को स्वस्थ रूप मे ग्रहण करने मे असमर्थ हैं । अतएव कही-कही वे वास्तव में वादी के प्रति अपराध कर बैठे हैं ।

निदान हमारा न्याय-विचार हमें बाध्य करता है कि प्रतिवादी को उचित दंड दिया जाए । हमारा आदेश है कि आज से श्रीयुत प्रेमचंदजी स्रष्टा-कलाकारो की प्रथम श्रेणी को छोड़कर द्वितीय श्रेणी मे आसन प्राप्त करें ।

आज की परिषद् समाप्त की जाती है ।

सब उठकर समवेत स्वर में गाते हैं ।

जय हो !
जय वीणापाणीऽऽ !
जय शब्दमूर्ति कल्याणीऽऽ !
जय हो !

(पर्दा गिरता है)

डॉ० श्यामसुंदरदास की आलोचना-पद्धति

बाबू श्यामसुदरदास ने यो तो अनेक आलोचना-ग्रथ लिखे हैं—परतु उनकी आलोचना-पद्धति का विश्लेषण करने के लिए हम 'साहित्यालोचन' के परिवर्द्धित सस्करण और 'हिंदी भाषा और साहित्य' को आधार मानकर चल सकते हैं। 'साहित्यालोचन' मे उसके सैद्धातिक रूप की चरम परिणति है और 'हिंदी भाषा और साहित्य' मे व्यावहारिक रूप की। इस प्रकार इन दोनो ग्रंथो मे बाबूजी का आलोचक रूप सपूर्ण हो जाता है।

काव्य-सिद्धांत

बाबूजी के सिद्धातो मे पूर्व और पश्चिम दोनो ही की स्वीकृति है—कला, साहित्य, कविता, उपन्यास, कहानी, निबंध आदि का विवेचन सर्वथा पश्चिमीय पद्धति पर है—नाटक, आलोचना और शैली के विवेचन मे पश्चिमीय और पूर्वीय दोनो साहित्यशास्त्रो का आधार ग्रहण किया गया है, रस का विवेचन मुख्यत. भारतीय परपरा के अनुसार है। इससे स्पष्ट है कि पौरस्त्य सिद्धातो की अपेक्षा बाबूजी पर पाश्चात्य सिद्धातो का प्रभाव कही अधिक है, इसीलिए उन्होने निर्विवाद ही कविता को कला मान लिया है। कला मे कविता का अंतर्भाव सर्वथा पश्चिमीय सिद्धात है—जिसका सूत्रपात जर्मन दार्शनिक हीगेल ने किया था। भारतीय साहित्यशास्त्र काव्य को कला से सर्वथा पृथक् रखकर देखता आया है। कला का स्थान हमारे यहा काव्य की अपेक्षा अत्यत निम्न रहा है—काव्य का संबंध जहा अभौतिक रसचेतना से है, वहा कला का संबंध भौतिक जीवन-विलास से है। इसीलिए एक को जहां ब्रह्मानद-सहोदर की पदवी दी गयी है, वहा दूसरे को नागरिक जीवन का शृगार-मात्र माना गया है। आज भी भारतीय दृष्टिकोण काव्य को कला के अतर्गत मानने को प्रस्तुत नही है। प्रसादजी और शुक्लजी के मंतव्य प्रमाण है—दोनो ने अत्यंत सबल शब्दो मे हीगेल के मत का तिरस्कार किया है।

प्रसाद—काव्य की गणना विद्या मे थी—और कलाओं का वर्गीकरण अविद्या मे था। × × × × कला से जो अर्थ पाश्चात्य विचारो मे लिया जाता है, वैसा भारतीय दृष्टिकोण मे नही। —काव्य और कला

शुक्ल—× × × × कलाओ के सबध मे, जिनका लक्ष्य केवल सौंदर्य की अनुभूति उत्पन्न करना है, यह मत बहुत ठीक कहा जा सकता है। इसी से ६४

कलाओं का उल्लेख हमारे यहा कामशास्त्र के भीतर हुआ है। पर काव्य की गिनती कलाओं मे नही की गई। —रसात्मक बोध के विविध रूप

इसके विपरीत बाबूजी ने कोई शका ही नही उठाई। उन्होने ज्यो-का-त्यो पश्चिमीय सिद्धांत स्वीकार कर लिया है। वे वास्तव मे हीगेल तक पहुचे भी नही हैं। हडसन और वर्सफोल्ड को ही प्रमाण मानकर उपर्युक्त तथ्य को ग्रहण कर बैठे है।

सामान्यत. बाबूजी रसवादी ही है—आपने स्पष्ट रूप से अनेक प्रसगो मे जीवन और काव्य मे भावो की महत्ता स्वीकृत की है—

"ऊपर के विवेचन का सारतत्त्व इतना ही है कि साहित्य का सबध मनुष्य के मानसिक व्यापार से है और उस मानस-व्यापार मे भी भाव की प्रधानता रही है··· यह भी हम भली भाति जानते है, कि कर्म तो प्रत्यक्ष व्यवहार मे दीख पडता है; ज्ञान जन्म देता है दर्शन विज्ञान आदि शास्त्रो को, और भाव का संबध होता है साहित्य के सुकुमार जगत् से। इसी से साहित्य मे भाव की प्रधानता रहती है।" साहित्य मे रसवाद वास्तव मे सबसे अधिक मान्य सिद्धात है। यूरोप के साहित्यशास्त्र मे प्राय: तीन प्रकार के मूल्यो का प्रचलन रहा है—एक क्लासिकल जिनमे शाति और गभीरता का प्राधान्य था, दूसरे रोमाटिक जिनमे वैचित्र्य और आवेश की प्रभुता थी—और तीसरे बौद्धिक मूल्य जो इस युग की सृष्टि है और आज अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय भी हो रहे हैं। इनमे पहले दो तो निश्चित रूप से रसवाद के अतर्गत आ जाते है—एक काव्य की आत्मा गभीर एवं शातिमय आनद को मानता है और दूसरा उत्तेजना तथा आवेशपूर्ण आनद को। परंतु दोनो ही निश्चित रूप से बुद्धितत्त्व की अपेक्षा रागतत्त्व पर बल देते है—और इस प्रकार ये नवीन बुद्धिवादियो के वर्ग से सर्वथा पृथक् है जिनका लक्ष्य रागात्मक आनंद न होकर बौद्धिक उत्तेजना ही है। भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास मे भी अलकार-संप्रदाय और कुछ अंशो मे ध्वनि-संप्रदाय ने भी राग की अपेक्षा कल्पना-तत्त्व को अधिक महत्त्व दिया था—परतु धीरे-धीरे रसवाद ने उनको आच्छादित कर लिया। हिंदी के आरभ से ही रसवाद का प्रभुत्व रहा है—आधुनिक आलोचना मे भी कुछ अति-प्रेमी प्रयोगवादियो को छोडकर एक स्वर से रसवाद की ही प्रतिष्ठा है। यह दूसरी बात रही कि रस के स्वरूप के विषय मे आधुनिक पडितो के मत भिन्न-भिन्न हो। बाबूजी रस अथवा काव्यानद को प्राकृतिक आनद से केवल मात्रा मे ही नही वरन् प्रकार मे भी भिन्न मानते हैं: "तथापि यह भी हम जानते है कि दोनो मे बडा भेद है—केवल मात्रा मे नही, प्रकार मे भी। प्राकृतिक आनंद से काव्यानद भिन्न होता है।" उन्होने उसके लिए अलौकिक और ब्रह्मानंद-सहोदर दोनो ही विशेषणो का प्रयोग किया है—परतु उनका अर्थ विवेक-सम्मत और वैज्ञानिक रूप मे किया है। अलौकिक से तात्पर्य इस लोक मे परे का नही है—और न असाधारण अथवा असामान्य का। उन्होने यह स्पष्ट कर दिया है कि विना प्राकृतिक आनंद की भावना के काव्यानंद नही मिलता, प्राकृतिक अनुभूति ही अलौकिक अनुभूति का आधार बनती है। इस प्रसंग मे वे पं० केशवप्रसाद मिश्र की

ही तरह अलौकिक का अर्थ अति-प्राकृतिक (Super-natural) अथवा असामान्य (Extra-ordinary) न मानकर पर-प्रत्यक्ष-गम्य् (Super-sensuous) ही मानते हैं। और स्पष्ट शब्दो मे :

१. काव्यानंद इसी लोक का अनुभव है; उसका आधार निश्चय ही ऐंद्रिय अनुभव है।

२ परंतु वह स्वयं ऐंद्रिय अनुभव नही है, वह इंद्रियातीत (Super-sensuous) अनुभव है।

३. यह अनुभव पर-प्रत्यक्ष-गम्य है। पर-प्रत्यक्ष मन की सत्-प्रधान उस अवस्था को कहते है जिसमे वितर्क अथवा अपने-पराये का ज्ञान तथा अनुभव नही रहता। इस प्रकार पर-प्रत्यक्ष-गम्य अनुभव से, एक प्रकार से, साधारणीकृत अनुभव का ही अभिप्राय है।[1]

कहने की आवश्यकता नही कि यह विवेचन सर्वथा भारतीय काव्यशास्त्र के अनुकूल है और इसमे उसी के गुण-दोष वर्तमान हैं। उपर्युक्त विश्लेषणो में से 'पर-प्रत्यक्ष-गम्य' काव्यानद के केवल प्रकार की ओर संकेत करता है, और 'इंद्रियातीत' अभावात्मक है। ये दोनों मिलकर भी रस के स्वरूप की वैज्ञानिक व्याख्या नही कर पाते पहला वर्णनात्मक है, दूसरा निषेधात्मक। इस प्रकार सार केवल यही रह जाता है कि काव्यानद एक विशिष्ट अनुभव है जो इद्रियो से परे है। परतु 'विशिष्ट' और 'इद्रियो से परे' पद भी तो व्याख्या चाहते है। 'इंद्रियो से परे' का एक स्पष्ट अर्थ 'आध्यात्मिक' हो सकता है—किंतु यह अर्थ यहां पर निश्चय ही अभिप्रेत नही है क्योंकि काव्यानंद को शुद्ध आध्यात्मिक अनुभव कही नही माना गया। स्थूल दृष्टि से दूसरा अर्थ 'बौद्धिक' भी किया जा सकता है, परंतु वह भी यहां निर्दिष्ट नही है। इस प्रकार यह विश्लेषण अभाव का द्योतक-भर ही रह जाता है, वास्तविक रूप को स्पष्ट नही कर पाता। इसी को अनिर्वचनीय आदि शब्दों से व्यक्त करना अपनी बौद्धिक पराजय स्वीकार कर लेना है। काव्यानंद की यह विशिष्टता एवं अतीद्रियता आज के मनोविज्ञान को सर्वथा अमान्य है। इसके प्रमाण मे हम प्रसिद्ध मनोविज्ञानी आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स का एक सबल तर्क उपस्थित करते हैं, जिसका आशय कुछ इस प्रकार है :

काव्यानुभूति को यदि विशिष्ट अनुभव मान लिया जाय तो फिर भी प्रश्न यह उठता है कि उसका माध्यम क्या है ? क्या उसके लिए किसी विशिष्ट इद्रिय अथवा अनुभूति-संस्थान की कल्पना की जायगी ?

काव्य के उद्देश्य के विषय मे बाबूजी का दृष्टिकोण गंभीर और व्यापक है। काव्य की सिद्धि आप केवल मनोरंजन मे नही मानते और इसीलिए लोकप्रियता को

१. 'साहित्यालोचन' मे बाबू साहब ने पर-प्रत्यक्ष गम्य (Super-sensuous) को साथ-साथ दे दिया है, इससे दोनो के विषय मे एक-दूसरे के पर्याय होने का भ्रम हो सकता है। परंतु एक ही वस्तु के विशेषण होते हुए भी ये दो भिन्न अर्थों का बोध कराते हैं।

उसकी गौरव-कसौटी मानने से साफ इनकार करते है। काव्य की सिद्धि आनद की स्फूर्ति द्वारा भावनाओ के उन्नयन और परिष्कृति मे है --इसी दृष्टि से वह लोक-हित मे सहायक होता है।

आनद को बाबूजी ने मूल लोक-हित माना है—और उसको रूढिबद्ध नियमित लोक-हित से निश्चयपूर्वक पृथक् दिखाया है :

"पर केवल सौदर्य से मुग्ध होकर, अथवा आनदपूर्ण एक झलक पाकर भी काव्य-रचना की जा सकती है और की गई है। वह सौदर्य अथवा वह आनद-झलक उस काल मे आकर स्वय लोक-हित बन जाती है, और काव्य के लिए यही मूल लोक-हित है। काव्य तथा कला के संख्याहीन रूपो को देखते हुए और उसके प्रभाव को समझते हुए किसी रूढिबद्ध नियमित लोक-हित को हम काव्य या कला का अग नही मान सकते।"

उन्होने काव्य और आचार के संबंध को स्वीकार अवश्य किया है—परंतु उसको अधिक दृढ और अनिवार्य नही बनाया। शुक्लजी के काव्यालोचन मे नीति के बंधन अत्यंत सुदृढ और कठोर हैं—वहा लोक-धर्म के प्रतीक शिव का प्रभुत्व है, सत्य और सुदर दोनो उसके पीछे हैं। परतु बाबूजी ने सुदर और सत्य को काव्य के लिए अनिवार्य माना है, शिव की अनिवार्यता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है। धार्मिक आदेशो अथवा नीति-विधान को काव्य की सिद्धि मानने वाले आलोचको की रुचि को उन्होने स्पष्ट रूप से निकृष्ट माना है—"उनका सार अर्थ यही जान पडता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से कला और आचार, कला और धर्म, कला और दार्शनिक परंपरा का परस्पर बडा घनिष्ठ संबंध स्वीकार करना चाहिए। परंतु इतिहास के इस निष्कर्ष के विपरीत कुछ अद्भुत प्रकार के तथाकथित आदर्शवादी समीक्षक कलाओ के वास्तविक सत्य को न समझकर धार्मिक विचार से उनकी तुलना करते है। उनके लिए धार्मिक आदर्शों का शुष्क रूप ही श्रेष्ठ कला का नियता तथा मापदंड बन जाता है। ये कला-समीक्षक किसी सुदरतम सुगठित मूर्ति का नग्न सौंदर्य सहन नही कर सकते, न उस कला-सत्य का अनुभव कर सकते हैं, जो उस नग्नता से स्फुटित हो रहा है। उनमे कल्पना का इतना अभाव होता है कि कलाओ की भाव-व्यजना उनके लिए कोई अर्थ नही रखती। वे केवल उनके बाह्य रूप को ही अपने रूढिबद्ध आचार-विचारो की कसौटी पर कसते हैं।"

यही कारण है कि शुक्लजी जहा 'कला कला के लिए' सिद्धात को सहन भी नही कर सकते, वहा श्यामसुदरदासजी थोडा व्यापक और विवेकसम्मत रूप देकर उसे स्वीकार कर लेते है। इसमे सदेह नही कि वे डॉ० ब्रैडले अथवा मि० क्लाइव बैल की तरह कला की दुनिया को एक नयी, अपने मे पूर्ण एवं स्वतत्र सृष्टि नही मानते—परतु वे कला पर किन्ही बाहरी मूल्यो का आरोपण करने के विरुद्ध है। 'कला कला के लिए' सिद्धात मे कला के आनद-पक्ष पर ही बल दिया गया है—इस दृष्टि से वह भारतीय रसवाद के अनुकूल है, यही उनका मत है; और इसीलिए वे उसको विशेष आपत्तिजनक नही मानते। हा, हठवादियो के 'वैचित्र्यवाद' का वे घोर विरोध करते हैं।

मौलिकता

बाबू श्यामसुंदरदास ने काव्य के सभी अंगो का विस्तृत विवेचन किया है और पूर्व तथा पश्चिम के प्रायः सभी समीक्षा-सिद्धातो पर दृष्टिपात किया है। परंतु उनकी मौलिकता पर अनेक बार और अनेक प्रकार से आपत्ति उठाई गई है। शुक्लजी ने अपनी अमोघ सव्यंग्य शैली मे उनके साहित्यालोचन को संकलन कहा है। जहां तक नवीन विचारो तथा काव्य-सिद्धातो की उद्भावना का प्रश्न है, बाबूजी क्या हिंदी का कोई भी आलोचक या विचारक इस श्रेय का अधिकारी नही है। विदेश के भी आधुनिक साहित्य-शास्त्री इससे वंचित रह जाते है। और, वास्तव मे साहित्यशास्त्र की मौलिकता का अर्थ नवीन सिद्धातो अथवा तथ्यो की उद्भावना या आविष्कार नही है। यहां मौलिकता का अभिप्राय विवेचन की मौलिकता का ही है। बाबूजी ने अपनी सफाई मे यही तर्क उपस्थित किया है और जहां तक इस सिद्धांत का संबध है, हम सर्वथा उनसे एकमत है। परंतु 'साहित्यालोचन' के मूलरूप पर यह सफाई लागू नही होती—उसमे दिये हुए सिद्धात और विचार तो अमौलिक है ही, उसकी विवेचन-पद्धति भी अनुकृत है। उसकी रूपरेखा, उसका प्रसंग-विभाजन, उसके शीर्षक-उपशीर्षक प्राय हडसन की लोकप्रिय पुस्तक 'इंट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ लिटरेचर' से ग्रहण किये गये है। कला के विवेचन मे उनका आधार वर्सफोल्ड की पुस्तिका 'जजमेंट इन लिटरेचर' है। काव्य, साहित्य, कविता, शैली, उपन्यास, कहानी, आलोचना आदि के विवेचन बहुत-कुछ हडसन की पुस्तक से अनूदित कर दिये गये हैं। नाटक के प्रसंग में भारतीय नाट्य-विधान की व्याख्या कीथ तथा विश्वनाथ से और पश्चिमीय नाटक के अंगों का विवेचन हडसन से प्रायः ज्यो का-त्यो ले लिया गया है। इस प्रकार 'साहित्यालोचन' अपने आदिम रूप मे मौलिक नही है—उसकी मौलिकता के विरुद्ध किये गये आक्षेप अप्रिय सत्य है। अप्रिय हम इसलिए कह रहे है कि इनमे उस परिस्थिति का ध्यान नही रखा गया जिसमे कि 'साहित्यालोचन' की रचना हुई थी। इस विषय मे हम अपनी ओर से कुछ न कहकर प्रथम संस्करण की भूमिका के कुछ वाक्य उद्धृत किये देते हैं—"एम० ए० के पाठ्यक्रम मे तीन विषय ऐसे रखे गये जिनके लिए उपयुक्त पुस्तकें नही थी। वे विषय थे भारतवर्ष का भाषा-विज्ञान, हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास, और साहित्यिक आलोचना। इन तीन विषयो के लिए अनेक पुस्तकों के नामों का निर्देश कर दिया गया, जिनकी सहायता से इन विषयो का पठन-पाठन हो सके, परंतु आधारस्वरूप कोई मुख्य ग्रंथ न बनाया जा सका। सबसे पहले मैंने साहित्यिक आलोचना का विषय चुना और उसके लिए जिन पुस्तकों का निर्देश किया गया था, उन्हे देखना आरंभ किया। मुझे शीघ्र ही अनुभव हुआ कि इस विषय का भली भाति अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थियो को पहले आलोचना के तत्त्वो का आरंभिक ज्ञान करा दिया जाय। इसके लिए मैंने सामग्री एकत्र करना आरभ किया और सपूर्ण ग्रंथ के परिच्छेदों का क्रम, विषय का विभाग आदि अपने मन मे बनाकर उसे लिखना आरंभ किया। इधर मैं लिखता जाता था और उधर उसको पढाता जाता था'''इस प्रकार

यह ग्रथ क्रमशः प्रस्तुत हो गया।" स्वभावतः इस प्रकार रचे गये ग्रंथ मे 'उद्भावना' की अपेक्षा 'संकलन' की ही सभावना अधिक हो सकती थी।

सशोधित संस्करण मे आकर इस दोष की कुछ शुद्धि हो गई है। यद्यपि मूल सस्करण की सामग्री भी इसमे प्राय. ज्यो-की-त्यो समाविष्ट कर दी गई है, फिर भी उसके अतिरिक्त इसमे और भी उपयोगी सामग्री जोड़ी गई है, जिससे विवेचन अधिक व्यापक तथा समयानुकूल होने के साथ ही भारतीय भी अधिक हो गया है। इसमे सदेह नही कि यह सामग्री भी अधिकाशत. बाबूजी की अपनी नही है, परंतु एक तो इसके आधार अनेक एवं विविध हैं—दूसरे अब बाबूजी को उसे पचाकर ग्रहण करने का अवकाश था। तीसरे, उनका दृष्टिकोण भी इस समय तक परिपक्व हो चुका था। अतएव इस संस्करण के विषय-प्रतिपादन मे अपनापन आ गया है और इसे पढकर एक साथ संकलित अथवा अमौलिक नही कहा जा सकता।

मौलिकता की कमी का यह आरोप बाबूजी की व्यावहारिक आलोचना पर भी लगाया जाता है। जैसा कि आरभ मे ही सकेत किया जा चुका है, उनकी व्यावहारिक आलोचना का सबसे अधिक विकसित रूप 'हिंदी भाषा और साहित्य' मे मिलता है। उसका काल-विभाजन, कवियो और लेखको पर आलोचनात्मक सम्मतिया प्राय शुक्लजी के इतिहास पर आधारित है। परतु इस इतिहास की प्रमुख विशेपता कालगत प्रवृत्तियो का निरूपण ही है। इसमे विभिन्न कालो की राजनीतिक, सामाजिक तथा कालगत प्रवृत्तियो के प्रकाश मे उनकी साहित्यिक विशेषताओ का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। कहा जा सकता है कि सामग्री यहा भी प्राय. उधार ली हुई है। राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो का हवाला इतिहास-ग्रथो से लिया गया है और कला के प्रवृत्तिगत विकास की पूरी सामगी, जैसा कि बाबूजी ने भूमिका मे स्वय स्वीकार किया है, 'रायकृष्णदास की कृपा का फल है।' इसी प्रकार रीतिकाल की शास्त्रीय पृष्ठभूमि मे विभिन्न काव्य-सप्रदायो का विवेचन काणे से लिया गया है। परंतु साहित्य के आलोचक से यह आशा करना कि वह राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियो का भी मौलिक इतिहास उपस्थित करे, अथवा कला का भी मर्मी हो—उसके साथ अन्याय होगा। हा, यह नक्शा बाबूजी का अपना है—हिंदी मे ऐतिहासिक आलोचना का यह प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयत्न है—और इससे अधिक श्रेय का अधिकारी उन बेचारो ने कभी अपने को माना भी नहीं—उन्होने असदिग्ध शब्दो मे 'साहित्यालोचन' की भूमिका मे यह स्वीकार किया है कि " ··इस ग्रथ की समस्त सामग्री मैंने दूसरो से प्राप्त की है, परतु उस सामग्री को सजाने, विषय को प्रतिपादित करने तथा उसको हिंदी भाषा मे व्यजित करने मे मैंने अपनी बुद्धि से काम लिया है।"

आलोचना मे 'मौलिकता' के हम तीन वर्ग बना सकते है :

१ जो आलोचक नवीन सिद्धातो की उद्भावना करे—और मौलिक सामग्री प्रस्तुत कर मौलिक रीति से विषय का प्रतिपादन करे, वह पहले वर्ग मे आता है।

२ जो नवीन सिद्धातो की उद्भावना न कर सके—परतु सामग्री और उसका विवेचन जिसका अपना हो, वह दूसरे वर्ग मे आता है।

३. जो सिद्धात और सामग्री दूसरो से ग्रहण करे, परंतु उनको प्रस्तुत अपने ढंग से करे, वह तीसरे वर्ग मे आता है।

मौलिकता की दृष्टि से बाबूजी इसी तीसरे वर्ग मे आते हैं।

आलोचना शैली

बाबूजी की सैद्धातिक और व्यावहारिक दोनो प्रकार की आलोचनाओ मे भारतीय तथा पश्चिमीय काव्य-सिद्धांतो को समन्वित करने का प्रयत्न लक्षित होता है—अपनी भूमिकाओ मे भी उन्होंने दोनो के समन्वय पर बार-बार बल दिया है। परंतु इस प्रयत्न मे वे कृतकार्य नही हो सके—दोनो प्रकार के सिद्धात उनमे पृथक्-पृथक् ही मिलते हैं, मिलकर एकरूप नही हो पाए। इसका कारण यह है कि उनकी साहित्यिक चेतना इतनी प्रबल नही थी कि इन सिद्धातो को पचाकर आत्मसात् कर लें और इस प्रकार उन्हे अपनी अनुभूति का अग बना लें। उन्होने दोनो काव्य-शास्त्रो का अध्ययन किया और उनके सिद्धातो को बुद्धि से ग्रहण भी किया, परंतु उनको अनुभूत नही किया। बुद्धि मे भेद का अस्तित्व अनिवार्य है, यह अनुभूति मे आकर ही मिटता है। पंडित रामचंद्र शुक्ल की यही विशेषता थी—उन्होने पूर्व और पश्चिम के सिद्धातो को बुद्धि से ग्रहण कर अपनी अनुभूति की अग्नि में पचाकर एक कर लिया था। इस प्रकार वे न केवल संश्लिष्ट ही हो गए थे, वरन् शुक्लजी की अपनी अनुभूति का अग भी बन गये थे। उनकी साहित्यिक चेतना इतनी सजग और प्रखर थी कि नये-से-नये अथवा बड़े-से-बडे सिद्धात के प्रति वह तीव्र प्रतिक्रिया करती थी और अपनी अनुभूति पर कसकर ही उसका निश्चयपूर्वक त्याग अथवा स्वीकार करती थी। इसमे सदेह नही कि इस प्रकार उदारता की हानि हुई, परतु उसके स्थान पर शुक्लजी की आलोचना मे वह प्रगाढ़ता, वह घनता तथा अनिवार्यता आ गई जिसके कारण उन्हे निस्सदेह विश्व के किसी आलोचक के समकक्ष खड़ा किया जा सकता है। बाबूजी ऐसा नही कर पाये—इसीलिए उनकी आलोचना मे भारतीय और पश्चिमीय तथा प्राचीन और नवीन मूल्य समानातर चलते हैं—समन्वित और एकसार होकर 'श्यामसुदरदास' की वैयक्तिक छाप ग्रहण नही कर पाते। उन पर अमौलिक होने के आरोप, जो चारो ओर से लगाये गये, वे बहुत-कुछ इसी कारण थे। और, इसलिए, वे सूक्ष्म जटिलताओ को चीरते हुए अपने निरूपण को अतिम स्तर तक पहुचाने मे समर्थ नही होते—उदाहरण के लिए काव्य के उपकरणों के अंतर्गत उनके द्वारा किया हुआ सौंदर्य का निरूपण पेश किया जा सकता है। यहा आप देखिये कि बाबूजी ने विविध दृष्टिकोणो को प्रस्तुत करने के उपरात अंत मे यह कह दिया है—"क्या काव्यगत 'सुदर' की कोई निश्चित व्याख्या की जा सकती है···? इसका उत्तर नकार में ही देना पडता है, परंतु इससे एक बात तो स्पष्ट हुए बिना नही रह सकी। वह यह है कि सौंदर्य काव्य का एक अभिन्न अग है। यह बात दूसरी है कि सौंदर्य की कोई निश्चित व्याख्या करना असभव हो।" शुक्लजी के लिए इस प्रकार बीच ही मे रुक जाना असंभव था। इसीलिए तो मूलतः शिक्षक और व्याख्याता होते हुए भी

वे चिंतन की गहराइयो मे बढते हुए स्रष्टा के धरातल को भी अनेक बार छू लेते थे—परतु श्यामसुदरदासजी अध्यापक के धरातल से ऊपर-नीचे कभी नही गये। वे एक-रस साहित्य के शिक्षक और व्याख्याता ही रहे; और शिक्षक तथा व्याख्याता के तीन प्रमुख गुण उनमे वर्तमान थे : ग्रहण मे विवेक, व्याख्यान मे हठधर्मी का अभाव और अभिव्यक्ति मे स्वच्छता। यही उनका अपना विशिष्ट धरातल था—और इस पर उनकी सफलता एव महत्ता असदिग्ध है। आरभ से ही हिंदी के विद्यार्थी के लिए 'साहित्यालोचन' की अनिवार्यता इसका अकाट्य प्रमाण है। आज विदेशी आलोचना-साहित्य से उसका इतना घनिष्ठ परिचय है—हिंदी का अपना आलोचना-साहित्य भी यथेष्ट विकसित और समृद्ध हो गया है, परतु कोई विद्यार्थी 'साहित्यालोचन' की उपेक्षा नही कर सकता। इस दृष्टि से 'साहित्यालोचन' को हिंदी मे जितनी सफलता मिली है, उसकी आधी भी उसके आधार-ग्रथ 'इट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ लिटरेचर' को अगरेजी मे नही मिली।

आचार्य शुक्ल और डॉक्टर आई० ए० रिचर्ड्स : एक तुलनात्मक अध्ययन

कुछ दिन पहले जब विदेश के सौंदर्यशास्त्र का छाया-प्रभाव हिंदी पर पडा और उसके फलस्वरूप यहा कविता की स्वतत्र सत्ता मानते हुए उसके विषय मे एक काल्पनिक-सी चर्चा होने लगी, उस समय शुक्लजी ने इस अतिचार के विरुद्ध शास्त्र ग्रहण किया और अपने मत की पुष्टि के लिए विदेश के नवोत्थित आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स का गर्मागर्म उद्धरण पेश किया। रिचर्ड्स को भी अपने यहा कुछ ऐसा ही सघर्ष करना पडा था। परतु इन दोनो आलोचको का विपक्ष सर्वथा भिन्न था। रिचर्ड्स को डॉक्टर ब्रैडले-जैसे समर्थ प्रतिपक्षी के विरुद्ध खड़ा होना था। शुक्लजी के प्रतिपक्षी हिंदी के नये उत्साही कवि-लेखक थे जो अपने पैर जमाने के लिए अर्धगृहीत ज्ञान के बल पर सौदर्यशास्त्र की शरण ले रहे थे। फिर भी शुक्लजी को रिचर्ड्स महोदय से थोडी-सी सामयिक सहायता मिली और उन्हे उस ओर आकर्षण भी हुआ।

रिचर्ड्स का सीधा प्रभाव तो उन पर पडा नही, क्योकि उस समय तक शुक्लजी की मानसिक आधारभूमि पूर्णत बन चुकी थी; फिर भी रिचर्ड्स के साथ शुक्लजी का तुलनात्मक अध्ययन काफी मनोरजक होगा, और इस तुलना से शुक्लजी का अपना व्यक्तित्व भी काफी निखर आयेगा।

कविता की परिभाषा

सबसे पहले कविता की परिभाषा लें।

शुक्लजी के अनुसार "कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सबध की रक्षा और निर्वाह होता है·· "

"जो कुछ ऊपर कहा गया उससे स्पष्ट है कि सृष्टि के नाना रूपो के साथ मनुष्य की भीतरी रागात्मक प्रकृति का सामजस्य ही कविता का लक्ष्य है। वह जिस प्रकार प्रेम, क्रोध, करुणा, घृणा आदि मनोवेगो या मनोभावो पर सान चढाकर उन्हे तीक्ष्ण करती है उसी प्रकार जगत के नाना रूपो और व्यापारो के साथ उनका उचित संबंध स्थापित करने के उद्योग भी करती है।"

इस प्रकार शुक्लजी के अनुसार व्यक्ति और सृष्टि दो पृथक् सत्ताएं हैं। इन दोनो सत्ताओ मे पारस्परिक संबंध होना आवश्यक है, और यह सबध भावना का

होना चाहिए। कविता इसका साधन है।

यहा वास्तव मे शुक्लजी ने कविता के कर्तव्य-कर्म की व्याख्या की है, कविता की नही, यह कविता का स्वरूप नही, कविता का धर्म है। फिर भी इससे स्थापित होता है कि :

१. कविता मे भावना का प्राधान्य है, और

२. कविता सत्य नही, साधन है।

रिचर्ड्स का भी कहना है कि "वस्तु का अपना स्वतत्र अस्तित्व और महत्त्व कुछ नही, हमे तो यह देखना है कि उसका कर्म क्या हे ? लोग काव्य और काव्यमय की बात करते है, पर वास्तव मे उन्हे सोचना चाहिए मूर्त्त अनुभूतियो के विषय मे, क्योकि वे ही कविता है।"

इस प्रकार उनके अनुसार भी कविता एक मूर्त्त अनुभूति है। अर्थात् कविता सत्य नही, अनुभूति—साधन—है। यह अनुभूति किसकी ? लेखक की या पाठक की ? मूल रूप मे लेखक की, परतु व्यवहार रूप मे पाठक की :

"कविता अनुभूतियो का एक वर्ग है। ये अनुभूतिया एक निश्चित—मौलिक—अनुभूति से विभिन्न होने के कारण अनेक रूप तो है, परतु उनके विभेद की एक सीमा है। यह निश्चित—मौलिक—अनुभूति है कविता रचते समय की लेखक की अपनी अनुभूति।"

अर्थात्—

(अ) दोनो की परिभाषा मे कविता को सत्य-रूप मे नही, क्रिया-रूप मे ग्रहण किया गया है। शुक्लजी ने अपने स्वभाव के अनुसार उसकी उपयोगिता पर जोर देते हुए उसे साधन माना है, रिचर्ड्स ने कोई ऐसी बात स्पष्ट रूप से नही कही, यद्यपि उस ओर सकेत अवश्य किया है।

(आ) कविता भाव-प्रधान है। भाव को शुक्लजी मनोवेग—मन का विकार—मानते हैं। यह विकार वाह्य प्रभावजन्य है, अर्थात् व्यक्ति पर सृष्टि की प्रतिक्रिया है—इसके आगे शुक्लजी मौन हैं। रिचर्ड्स वैज्ञानिक है : वे और आगे जाते हैं और इस प्रतिक्रिया को स्नायवी झकृति तक घटाते हुए उसकी शत-प्रतिशत भौतिक व्याख्या करते है।

(इ) कविता अनुभूति है, परतु यह अनुभूति जीवन से बाहर की अनुभूति नही, जीवनगत ही है। अर्थात् सौंदर्यानुभूति का कोई स्वतत्र या पृथक् अस्तित्व नही।

कविता और जीवन

कला के लिए कला अथवा कविता के लिए कविता का सिद्धात उन्हे सह्य नही है। इसलिए जहा तक ब्रैडले महोदय के इस सिद्धात का सबध है कि :

'कला का रसास्वादन करने के लिए जीवन से कुछ भी हमे अपने साथ लाने की आवश्यकता नही है। उसके लिए न तो उसके व्यापारो या विचारो का ज्ञान और न उसके भावो से परिचय ही अपेक्षित है·· वह न तो इस ससार का एक अंग है और

न अनुकरण। वह तो स्वयं अपने ही मे एक संसार है—स्वतंत्र, संपूर्ण और स्वायत्त।"

इसके विरोध मे वे दोनो अक्षरश: एकस्वर है। कला या कविता इस जीवन से वाहर की कोई अनुभूति है, उसका इस लोक से सबध नही—यह मत न शुक्लजी को क्षण-भर के लिए ग्राह्य है और न रिचर्ड्स को।

इसका तात्पर्य यह है कि शुक्लजी और रिचर्ड्स दोनो काव्यानुभूति को साधारण मानते हैं। फिर भी थोडा अतर अवश्य है। शुक्लजी रिचर्ड्स की भाति कविता को मूर्त्त अनुभूति मानते हुए उसे स्नायवी क्रिया तक घटाने के लिए तैयार नही हैं। उनकी आधारभूमि भारत के रस-सिद्धात से परिपुष्ट है, अतः लोकोत्तर आनद को कम-से-कम बौद्धिक रूप मे वे अवश्य स्वीकार करते हैं :

"कविता मनुष्य के हृदय को उन्नत करती है और ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट अलौकिक पदार्थों का परिचय कराती है जिनके द्वारा यह लोक देवलोक और मनुष्य देवता हो सकता है।"

इस प्रकार शुक्लजी कविता की अलौकिकता को चीरकर बिलकुल अलग नही फेंक देते। पर रिचर्ड्स उसको गणित के तथ्य की भाति सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुओ में विभक्त करते हुए अतिम रूप तक पहुचने का व्यर्थ प्रयत्न करते हैं।

स्वभावत. कविता को दोनो सोद्देश्य मानते हैं और उद्देश्य के विषय मे भी दोनो एकमत हैं।

शुक्लजी के अनुसार . "कविता मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सबंधो के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है, जहा जगत् की नाना जातियो के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का सचार होता है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारो का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सबध की रक्षा और निर्वाह होता है।"

इस तरह रिचर्ड्स भी मानते हैं कि कविता का लक्ष्य है मानव-संवेदनाओ का, न्यूनातिन्यून दमन करते हुए, समीकरण करना। सवेदनाओ का यह समीकरण ही शुक्लजी का अनुभूति-योग है, यही हृदय की मुक्तावस्था या रस-दशा है।

मूल्यांकन

लक्ष्य का निश्चय मूल्याकन की ओर इगित करता है। कविता की कसौटी क्या है ? शुक्लजी के मत से सत्कविता के गुण इस प्रकार है :

१. रागो या मनोवेगो का परिष्कार करते हुए उनका सृष्टि के साथ उचित सामजस्य स्थापित करना एव जीवन के व्यापकत्व की अनुभूति उत्पन्न करना।

२. कार्य मे प्रवृत्त करना अर्थात् हमारे मनोवेगो को उच्छ्वसित करते हुए हमारे जीवन मे एक नया जीवन डाल देना।

३. मन को रमाते हुए स्वभाव-संशोधन तथा चरित्र-संशोधन करना। यह बात रागो के परिष्कार मे आ जाती है।

रिचर्ड्स महोदय की धारणाए भी बहुत भिन्न नही हैं। जीवन के मूल्यो का

देश-काल से घनिष्ठ संबंध स्वीकार करते हुए भी वे यह मानते है कि किसी वस्तु की मानव-वृत्ति और इच्छा के परितोष करने की शक्ति ही उसके मूल्य की कसौटी है। इस परितोष के लिए आवश्यक है मनोवृत्तियो की अन्विति जो मनुष्य के जीवन का सतत प्रयत्न रहा है। मनोवृत्तिया जितनी ही विविध और महत्त्वपूर्ण होगी उतना ही उस अन्विति का मूल्य होगा। इस प्रकार जीवन मे समरसता लाने का प्रयत्न ही मानव-जीवन का शाश्वत कर्तव्य-कर्म है और यही उसके मूल्याकन का भी मानदड है। यह अन्विति अनजाने, अवचेतन या अचेतन अवस्था मे, घटित होती रहती है—प्रायः दूसरो के प्रभाववश, और इस प्रभाव का सर्वप्रमुख साधन है कला और साहित्य।

आप देखे कि इस अन्विति और शुक्लजी के सिद्धात मे —रागो या मनोवेगो का परिष्कार करते हुए उनका सृष्टि के साथ उचित सामंजस्य करने मे—कोई मौलिक भेद नही है। दोनो के मूल्याकन की कसौटी रागो अथवा सवेदनाओ का परिष्कार और उनका उचित सामजस्य ही है। रिचर्ड्स की उक्ति मे व्यक्ति की अपनी सवेदनाओ के उचित सामजस्य अर्थात् आतरिक सामजस्य पर बल दिया गया है। शुक्लजी के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे सृष्टि के साथ उनके सामजस्य की बात अधिक करते है।

परतु यह मानना ही पडेगा कि मूल सिद्धात की एकता होते हुए भी दोनो का प्रतिपादन काफी भिन्न है। और, यह विभेद वास्तव मे दृष्टिकोण का विभेद है।

दृष्टिकोण

हमने देखा, शुक्लजी और रिचर्ड्स दोनो का ऑर्डर : विधान मे विश्वास है। परंतु शुक्लजी का विधान जहा नैतिक है, रिचर्ड्स का एकदम वैज्ञानिक मनो-वैज्ञानिक। शुक्लजी सदाचार और सौदर्य का अभिन्न सबध मानते है "बात यह है कि कविता सौदर्य और सात्त्विकशीलता या कर्तव्यपरायणता मे भेद नही देखना चाहती है। जो धर्म मे शिव है, काव्य मे वही सुदर है।" रिचर्ड्स स्पष्ट घोषित करते है कि नीति-सिद्धात प्रायः हमारे मानसिक सामजस्य मे बाधक होते है और साथ ही जीवन के विकास मे भी। परतु यदि नीति का स्वरूप विकासशील है, देश-काल के अनुसार इस सामजस्य मे योग देता है तो नीति कला और साहित्य की साधक है। इस प्रकार शुक्लजी ने सुन्दरं का शिवं के साथ तादात्म्य कर दिया है, रिचर्ड्स ने सत्य के साथ। शुक्लजी का आदर्श राम का आदर्श है · स्थिति-रक्षक का; रिचर्ड्स अन्वेषक हैं। इसीलिए दोनो कुछ दूर साथ चलकर पृथक् हो जाते हैं। शुक्लजी का निरपेक्ष मूल्यो मे अटल विश्वास है—वे मर्यादावादी है. रिचर्ड्स एक सच्चे वैज्ञानिक अन्वेषक की भाति विकासवादी है। स्वभावतः शुक्लजी का सत्य स्थिर है, रिचर्ड्स का गत्यात्मक।

यह बात दोनो की आनद की परिभाषा से और स्पष्ट हो जाती है। शुक्लजी आनद-दशा या रस-दशा को मुक्तावस्था मानते हैं। परंतु रिचर्ड्स आनद को स्वतत्र मानसिक अवस्था नही मानते। वे तो उसे क्रिया को ग्रहण करने का एक प्रकार मानते

है—एक प्रतिक्रिया मानते है। वे कहते हैं : "हम आनद का अनुभव नही करते, हम तो उस अनुभूति का ही अनुभव करते हैं जो आनंददायिनी है।" इस प्रकार आनंद सवेदना का कोई रूप नही है, वह तो उसका एक परिणाम है अर्थात् मानसिक वृत्तियों का सामंजस्य स्थापित करने मे उसकी सफलता का परिणाम है। वे आनंद को साक्ष्य नही, केवल सूचना-चिह्न मानते है। मुख्य वस्तु, उनके अनुसार है क्रिया। आनंद केवल यही सूचित करता है कि यह क्रिया सफल हो रही है।

बस, शुक्लजी और रिचर्ड्स के दृष्टिकोण मे गति का यही प्रमुख अंतर है। शुक्लजी गति की एक सीमा मानते है। रिचर्ड्स जीवन को ही एक गति मानते हैं और गणितज्ञ की तरह आगे बढते ही चले जाते है।

शैली

शैली दृष्टिकोण का ही प्रतिबिंब है। अतः रिचर्ड्स और शुक्लजी की आलोचना-शैली मे उनके दृष्टिकोण के अनुसार ही समता-असमता है। जहा तक दोनो की बौद्धिकता का सबध है, उनकी शैलियो मे भी विचारो का प्राधान्य एव गवेषणा और उसके परिणामस्वरूप घनता तथा गभीरता मिलेगी। दोनो अध्यापक है अत दोनो की शैली विश्लेषणात्मक है। पर शुक्लजी, जैसा मैंने निवेदन किया, मर्यादावादी थे और रिचर्ड्स हैं विकासवादी। इसलिए यह स्वाभाविक है कि शुक्लजी की शैली शास्त्रीय और रिचर्ड्स की वैज्ञानिक (मनोवैज्ञानिक) हो। शुक्लजी जहा बार-बार शास्त्र-परंपरा को पकडते हुए शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग करते है, वहा रिचर्ड्स आग्रह-पूर्वक उसका तिरस्कार। इसके अतिरिक्त एक और स्पष्ट अंतर दोनो की शैली मे मिलेगा। शुक्लजी की शैली मे रस-मग्नता है, रिचर्ड्स की शैली मे वैज्ञानिक तथ्य-कथन-मात्र। कारण यह है कि शुक्लजी ने सुन्दर का शिव रूप लिया है, इसलिए उनमे श्रद्धा की भावना ओतप्रोत है। वे रस की निरपेक्ष सत्ता मे विश्वास करते है। अतएव वे हमे स्थान-स्थान पर रसमग्न होते हुए दिखाई देते है। उनकी सहृदयता अद्वितीय थी, उनकी रसज्ञता इतनी प्रबल थी कि वे अवसर आने पर अवश्य बह जाते थे :

निर्गुन कौन देस को बासी ?
मधुकर कहु समझाय, सौह दै बूझत साँच न हाँसी।

"कसम है, हम ठीक-ठीक पूछती हैं। हँसी नही, कि तुम्हारा निर्गुण कहा का रहने वाला है :

कुछ विनोद, कुछ चपलता, कुछ भोलापन, कुछ घनिष्ठता—कितनी बातें इस छोटे-से वाक्य से टपकती है!"

ऐसे उद्धरण रसान्वेषी पाठक को शुक्ल-साहित्य मे अनेक मिल जायेंगे—केवल धारणा-चित्रो को ले उडने वालो की बात हम नही कहते। यही रसमग्नता उनकी वाणी को उच्छ्वसित कर देती है और विरोधी पाठक भी उसकी शक्ति से अभिभूत हुए बिना नही रह सकता। प्रतिपादन की यह दुर्निवार शैली शुक्लजी की बहुत बडी विशेषता थी जो बुद्धि की दृढता और हृदय के रस से परिपुष्ट थी। इसके विपरीत

रिचर्ड्स में यह श्रद्धा की भावना दुर्लभ है। अत वे कही रस-मग्न नही होते। रस-मग्नता शायद उनकी दृष्टि मे आलोचना की दुर्बलता भी हो।

परिणाम

उपर्युक्त विवेचन मे यह परिणाम निकालना कठिन न होगा कि :

१. शुक्लजी की अपेक्षा रिचर्ड्स अधिक मेधावी हैं। उनकी दृष्टि अपेक्षाकृत तीखी और विवेचन अधिक मौलिक होता है। रिचर्ड्स की वैज्ञानिक दृष्टि जिस सूक्ष्म सत्य को सफाई से पकड लेती है, वह शुक्लजी की नैतिक दृष्टि के लिए कठिन होता है।

२ रिचर्ड्स का दृष्टिकोण कही अधिक व्यापक है। उनका सत्य गत्यात्मक है, शुक्लजी का स्थिर। इसलिए विषमताओ का समन्वय जिस सरलता से रिचर्ड्स कर लेते हैं, उस सरलता से शुक्लजी नही। इसी कारण शुक्लजी बहुत शीघ्र ही समय से पीछे रह गये, रिचर्ड्स कभी नही रह सकते। वे टी० एस० इलियट की कविताओ का भी आदर हृदय खोलकर करते हैं, शुक्लजी को प्रसाद के साथ समझौता करने मे भी कठिनाई पडी। कविता के लोक-पक्ष ने उन्हे इतना पकड रखा था कि रस की एकात साधना उन्हे मुश्किल से ही ग्राह्य हो सकती थी। इसी कारण गीति-काव्य के प्रति शुक्लजी का भाव सदा कठोर ही रहा।

३ परतु सूक्ष्मता, व्यापकता और मौलिकता की क्षति शुक्लजी अपने विवेक, शक्ति और गाभीर्य के द्वारा पूरी कर लेते हैं। शुक्लजी प्राणवान् पुरुष थे। उनमे जीवन था, गति थी। यह गति संस्कारवश आगे को अधिक नही बढी, इसलिए भीतर को बढती गई और उसका परिणाम हुआ अतुल गाभीर्य और शक्ति। जो कुछ उन्होंने विस्तार मे खोया वह गहराई मे और घनता मे पा लिया। समर्थ व्यक्ति अगर आगे को नही बढता तो भीतर उसे बढना ही है, वह बाह्य विस्तार को छोडकर जडो को गहरा और मजबूत करेगा—प्रेमचद और प्रसाद की तुलना इस अतर को स्पष्ट कर देगी। शुक्लजी समय के साथ आगे नही बढ सके। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और जर्मन दार्शनिको के सौदर्यशास्त्र की विशेषताओ को ग्रहण करने मे वे असमर्थ रहे। परतु अपने रसशास्त्र की शक्ति और संभावनाओ की वे निरतर छानबीन करते रहे और इसके परिणामस्वरूप भारतीय रसशास्त्र का जो मनोवैज्ञानिक विवेचन उन्होंने प्रस्तुत किया, वह भारत के आलोचना-साहित्य को हिंदी का अमूल्य उपहार है।

दूसरे, कविता के लोकोत्तर आनंद का तिरस्कार न करके, उसकी मिस्टरी को भी थोडा-बहुत स्वीकार करते हुए शुक्लजी ने अपने दृढ विवेक का परिचय दिया। इसके विपरीत रिचर्ड्स महोदय का विवेक अतिचार के कारण अविवेक बन जाता है। इसका प्रमाण है 'कविता का विश्लेषण' परिच्छेद मे दिया हुआ उनका रसास्वादन-संबंधी चित्र। इस चित्र के द्वारा कविता के विश्लेषण का प्रयत्न 'कला कला के लिए, सिद्धात की अपेक्षा कही अधिक हास्यास्पद है।

४. इसी कारण शुक्लजी की आलोचना मे हमारे विश्वास को पकडने की

क्षमता रिचर्ड्स की अपेक्षा कही अधिक है। शुक्लजी की जायसी, तुलसी, सूर, प्रसाद आदि की आलोचना मे विरोधी को भी विजित करने की क्षमता है। रिचर्ड्स ने सिद्धात-विवेचन ही अधिक किया है, परतु हमारी धारणा है कि वे काव्य-विशेष का विवेचन बहुत सफल शायद नही कर सकते। उनके अनेक प्रयत्न इसके साक्षी हैं। स्पष्ट कारण है—रसमग्न होने की शक्ति का अभाव।

६ दोनो के दोष भी समान हैं। अपने मत का प्रतिपादन करते समय दोनो मे एकागिता, हठधर्मी और मताभिमान मिलता है जो विक्षोभ उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त रिचर्ड्स ने सत्य की अत्यधिक छानबीन के द्वारा और शुक्लजी ने शिव का बोझ रखकर सुदर के सहज रस-बोध मे थोडी-बहुत बाधा भी उपस्थित की है।

ऐतिहासिक महत्त्व को मैं बहुत बडा गौरव नही मानता। पर यदि उस पर दृष्टिपात किया जाय तो रिचर्ड्स और शुक्लजी मे कोई तुलना नही। यहा हमें यह न भूलना चाहिए कि रिचर्ड्स का जिस इतिहास से सबंध है, वह हमारे इतिहास की अपेक्षा कही अधिक विकसित है। अतः उस पर प्रभाव डालना साधारण गौरव नही, और यह गौरव उनको प्राप्त भी है—इलियट-जैसे प्रौढ आलोचक ने उन्हे प्रवर्तको मे स्थान दिया है। फिर भी, शुक्लजी ने तो अपने युग को प्रभावित ही नही, आच्छादित किया था :

वह देखी भीमा मूर्ति आज रण देखी जो।
आच्छादित किये हुए थी जो समग्र नभ को ॥

दिनकर के काव्य-सिद्धांत

दिनकर वास्तव मे प्रकृति और कर्म से आलोचक नही हैं—वे विचारक कवि हैं। उनके लेखो मे किसी विषय का सागोपाग पर्यालोचन न होकर उसके प्रति कवि के अपने दृष्टिकोण का ही ओजस्वी वाणी मे स्पष्टीकरण है। वैसे तो उन्होने आधुनिक कविता की नवीनतम प्रवृत्तियो और समस्याओ को ही ग्रहण किया है, परतु उनका विवेचन करते हुए काव्य के मूलगत सिद्धातो का भी स्पष्टीकरण अनिवार्यत. हो गया है। मैंने अभी कहा कि दिनकर कर्मणा आलोचक नही है, वे सर्जक साहित्यकार है। उनके निबधो में आलोचना की शास्त्रीय क्रमबद्धता ढूढना व्यर्थ होगा, इसीलिए आप देखेंगे कि उन्होने काव्य के स्वरूप के विषय मे, उसकी परिभाषा आदि के विषय मे प्राय चर्चा ही नही की। सर्जक साहित्यकार स्वरूप आदि की मीमासा मे नही पडता, उसको तो वह स्वीकृत सत्य मानकर चलता है।

दिनकर स्पष्टत. ही काव्य को जीवन की व्याख्या मानकर चलते है, परतु यह भी निश्चित रूप से स्वीकार करते हैं कि यह व्याख्या कवि के वैयक्तिक दृष्टिकोण पर आश्रित रहती है—"साहित्य को हम जीवन की व्याख्या मानते है। किन्तु जीवन और उसकी इस व्याख्या के बीच एक माध्यम है जो व्याख्याता कवि या कलाकार का निजी व्यक्तित्व है। कलाकार की मानसिक अवस्था-विशेष मे जीवन अपने जिस अर्थ मे प्रकट होता है, उसी के भावमय चित्रण को हम साहित्य कहते हैं।"[1] उनकी यह मान्यता काव्य मे व्यक्ति-तत्त्व और समाज-तत्त्व दोनो की स्वीकृति है। कहा जा सकता है कि इन दोनो के सयोग से ही दिनकर की जीवन-दृष्टि तथा कवि-दृष्टि का निर्माण हुआ है। यहा मैंने सयोग शब्द का प्रयोग जान-बूझकर इसलिए किया है कि इन दोनो तत्त्वो मे वे अभी समन्वय नही कर पाए हैं, दोनो के बीच जैसे अभी द्वद्व मिटा नही है, और परिस्थिति और मनःस्थिति के अनुसार उनमे से कोई-सा एक कभी इतना उभर आता है कि वह दूसरे का निषेध-सा करने लगता है। उदाहरण के लिए, मैं दो प्रकार के उद्धरण पेश करता हूं; आप देखिये कि पहले मे आत्म-तत्त्व की अनिवार्यता की असदिग्ध शब्दो मे स्वीकृति है, और दूसरे मे उतने ही वल के साथ उसका निषेध .

१. कवि के लिए जो प्रथम और अतिम बंधन हो सकता है वह केवल इतना ही है कि कवि अपने-आपके प्रति पूर्ण रूप से ईमानदार रहे।

(मिट्टी की ओर, पृ० १३२)

१ मिट्टी की ओर, पृ० १४१।

२ कला मे शुद्ध आत्माभिव्यंजन का स्थान कभी नही था, और आज तो उसकी बात भी नही चलाई जा सकती × × × आज का साहित्य तो वैयक्तिक अनुभूतियो की अपेक्षा स्वभावतः ही उन सार्वजनिक अनुभूतियो को अधिक महत्त्व देता है, जिनके कारण पृथ्वी अशात एवं मनुष्य के लहू से लाल है '' ।

(मिट्टी की ओर)

मैं प्रसंग से विच्युत कर किसी उद्धरण का अनर्थ करना साहित्यिक बेईमानी समझता हू और ऊपर से प्रतीत होने वाले विरोधो की आतरिक एकता के रहस्य से भी अनभिज्ञ नही हूं। मैं स्वीकार करता हू कि दूसरे उद्धरण मे 'शुद्ध आत्माभिव्यंजन' से तात्पर्य समूह से निरपेक्ष कवि के व्यक्तिगत राग-द्वेष का ही है—और उनका ही विरोध करना लेखक को अभीष्ट है। परंतु फिर भी यह द्विविधा तो रह ही जाती है कि उद्धरण (१) के अनुसार अपने प्रति पूरी ईमानदारी ही कवि के लिए प्रथम और अतिम बधन है और कविता कवि की अपनी आत्मा का आलोक है, तो फिर व्यक्तिगत राग-द्वेष की निश्छल अभिव्यक्ति का स्थान कला में क्यो नही माना जाएगा ? वास्तव मे द्विविधा दिनकर के दृष्टिकोण मे अत्यंत स्पष्ट है और एक रूप मे नही अनेक रूपो मे स्थान-स्थान पर प्रकट हुई है।

अब काव्य के महत्तर प्रश्न 'उद्देश्य' को लीजिए। शास्त्रीय आलोचक के लिए तो स्वरूप और उद्देश्य दोनो का ही समान महत्त्व है—संभव है वह स्वरूप को ही अधिक महत्त्व दे, क्योकि उसका विवेचन और निर्णय अपेक्षाकृत अधिक जटिल है। परतु रचनात्मक साहित्य की सृष्टि करने वाले के लिए उद्देश्य ही प्रधान होता है। व्यावहारिक दृष्टि से भी कवि और सहृदय, नवीन शब्दावली मे कलाकार और समाज दोनो के लिए उद्देश्य का ही अधिक महत्त्व है, क्योकि दोनो के बीच यह एक प्रकार का सेतु है। दिनकर के काव्य-चिंतन की मूल समस्या यही है, अपने लेखो और भाषणो मे वे पहलू बदल-बदलकर इसी से जूझे है। इस प्रसग के अतर्गत पहले तो यही प्रश्न उठता है कि कला अथवा काव्य के लिए उद्देश्य की अपेक्षा भी है कि नही। चितको का एक वर्ग कहता है कि कला अपना उद्देश्य स्वय है, और जब आप उनसे पूछें कि क्या आनंद भी उसका उद्देश्य नही है, तो इसका उत्तर तो यह मिलेगा कि 'नही, आनंद उसकी विधि है, उद्देश्य नही है', या फिर यह कि 'कविता का आनंद' निरुद्देश्य होता है। दिनकर का मत इस विषय मे असंदिग्ध है। वे कला या कविता को निश्चित रूप से सोद्देश्य मानते है। "सच तो यह है कि ऊची कला कोशिश करने पर भी अपने को नीति और उद्देश्य के संसर्ग से बचा नही सकती, क्योंकि नीति और लक्ष्य जीवन के प्रहरी हैं और कला जीवन का अनुकरण किए बिना जी नही सकती।" (पृ० ६०) परंतु यह उद्देश्य क्या है, दूसरा प्रश्न स्वभावत ही यह उठता है। इसके उत्तर मे दिनकर एक स्थान पर लिखते है: "व्यापक मतभेदो के होते हुए भी अधिक लोग यह मानते हैं कि कविता का उद्देश्य आनंद का सर्जन है।" (पृ० १४२)

"कविता हमे रुक्ष और स्थूल से हटाकर अलौकिक तथा मधुर आनद के देश मे पहुंचाती है और इस प्रकार हम गद्य की नियमित शुष्कता से जितना अधिक ऊपर

उठ सकें कवि-कला की सफलता उतनी अधिक मानी जानी चाहिए।" (पृ० १४६)—और स्पष्ट शब्दों मे—"फूल हो या राजनीतिक समस्याएं, कवि का लक्ष्य आनदानुभूति होता है; प्रचार उसके लक्ष्य का कोई अंश नही हो सकता। उसका काम ससार को कुछ सिखाना नही, प्रसन्न करना है।"—यह निर्भ्रान्त शब्दो मे काव्य मे आनदवाद की प्रतिष्ठा है, परंतु लेखक ने आनंद की परिधि को अत्यंत व्यापक माना है। आनंद मे केवल जीवन की मधुरता और कोमलता ही नही, वरन् उसके समस्त संघर्ष अपनी संपूर्ण कटुता के साथ समा जाते है। ऊपर के उद्धरण मे फूल के साथ राजनीतिक समस्याए जोडकर उसने यही व्यक्त किया है।

फूलो को देखना, शहीदो की समाधि पर आसू बहाना, हृदय-विदारक दृश्यो को सफलतापूर्वक चित्रित करना, अपने हृदय के क्रोध, विश्वास, भय एव ग्लानि के भावो को सुदरतापूर्वक व्यक्त करना, यह सभी कुछ आनंद के अंतर्गत आता है। आनंद से तात्पर्य ऐंद्रिय-विलास और सवेदन से न होकर जीवन के स्वस्थ आनंद का है, जिसके अतर्गत शृंगार के साथ ही हास्य, करुण, वीर, रौद्र, अद्भुत, शात, वीभत्स और भयानक भी आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त लेखक की उदार दृष्टि आध्यात्मिक अनुभूतियो को भी आदर की दृष्टि से देखती है, यद्यपि इसमे सदेह नही कि उसका पूरा बल जीवन और उसकी अनुभूतियो पर ही है। इस प्रकार वह आनद और कल्याण, दूसरे शब्दो मे सुंदर और शिव को एक रूप कर देखता है "सुदर काव्य का प्रेय है परंतु उपयोगी भी उसका श्रेय है। इसलिए बिना इन दोनो का ग्रथि-बंधन हुए सत्काव्य की सृष्टि संभव नही है। कला का उद्देश्य जीवन के उपयोगी तत्त्वो का सयोग उन तत्त्वो से स्थापित करना है जो हमे आनंद देते हैं।"

उपयोगी की व्याख्या करते हुए दिनकर ने समकालीन भौतिक जीवन के विकास पर बल दिया है, राजनीति और समाज-नीति को भी वे काव्य की भूमि मे स्थान देने को तैयार हैं बशर्ते की उनसे सौंदर्य की उद्वृद्धि हो। पर सिद्धांतो के प्रचार, पार्टी के प्रस्ताव या हुकूमत के परवाने से कला का कोई संबंध नही है, इस विषय मे उनकी सम्मति सर्वथा निर्भ्रान्त है। राजनीति काव्य की विरोधी नही है, परतु साथ ही उसकी निर्देशिका भी नही हो सकती। वास्तव मे ये दोनो जीवन की एक ही अवस्था की अनुभूति की भिन्न-भिन्न पद्धतियां हैं। स्वय लेखक के शब्दो मे "कवि का काम किसी राजनीतिक दल के सिद्धातो की विवेचना नही, प्रत्युत उन अवस्थाओ की काव्यात्मक अनुभूति व्यक्त करना है जिनके भीतर से राजनीतिक सिद्धात भी पैदा होते है।" परंतु उपयोगिता की परिधि वे यही तक नही मानते। अपने समाज के नैतिक जीवन से प्रेरणा प्राप्त करना, और फिर उलटकर उसको प्रेरणा देना कवि का धर्म है, इसमें संदेह नही और इस धर्म का पालन करने वाला कवि धन्य है, किंतु "जिस कवि ने मानवीय चेतना की सीमा विस्तृत की हैं, कल्पना के पर फैलाकर मानव-मन का विस्तार नापा है, जीवन के ईथर मे विहार करते हुए मधु और अमृत के गीत गाए हैं, मनुष्य को ऊर्ध्वगामी होने का संकेत दिया है, और अपनी अनुभूति के सुदर-से-सुदर क्षणो का इतिहास साहित्य-देवता को अर्पित किया है उसे (भी) क्यों लज्जित

होना चाहिए ?" पहला यदि जीवन को शक्ति देता है तो दूसरा वृत्तियो का परिष्कार करता हुआ चरित्र का संस्कार करता है। इस प्रकार दिनकर की काव्य-दृष्टि में वांछित औदार्य मिलता है जो एक ओर उन्हे निष्प्राण कलावादियो और दूसरी ओर प्रगतिवादियो से पृथक् कर काव्य की समतल और स्वच्छ भूमि पर आसीन करता है।

दिनकर के ये सिद्धांत पुस्तको अथवा घोषणा-पत्रो से ग्रहण किये हुए नही है, वे केवल विचारित ही नही हैं, वरन् अनुभूत भी हैं। पीछे एक प्राणवान् व्यक्तित्व का बल होने के कारण उनके सिद्धातो मे बौद्धिक रूढता न होकर भावो की उदग्र प्रेरणा सर्वत्र वर्तमान मिलती है। वास्तव मे उनके व्यक्तित्व की भाति उनके सिद्धात भी अभी क्रमश: निर्माण पथ पर हैं। यह उनके व्यक्तित्व की सजीवता का प्रमाण है कि उन्होने किसी एक विचार-पद्धति को नतशिर होकर स्वीकार नही कर लिया, वरन् अपने इस संक्रांति-युग की द्वंद्वमयी चेतना को उसके सहज रूप मे ग्रहण किया है। भारतीय आदर्शवाद और विदेश के भौतिकवाद (और निश्चित शब्दावली मे द्वद्वात्मक भौतिकवाद कहिए) ने हमारी पीढी के लोगो के मनो मे जो एक खिंचाव पैदा कर दिया है, दिनकर ने उसको पूरी ईमानदारी से व्यक्त भी किया है : उनके सस्कारो पर भारतीय आदर्शवाद की छाया है, परंतु उनका चेतन मन सामाजिक कर्तव्य के प्रति जागरूक है। भारतीय आदर्शवाद उन्हे आकाश की ओर खीचता है, परंतु बिहार का उत्क्रात वातावरण उन्हे धरती से अलग नही होने देता। इसी द्विविधा के कारण उनकी उक्तियो मे कही-कही बडा विचित्र विरोध मिलता है। अपने काव्य-समीक्षा और दिशा-निर्देश' निबंध मे उन्होने कविता को शुद्ध कला माना है—यहा तक कि उसमे वस्तुतत्त्व की अपेक्षा अभिव्यंजना को अधिक महत्त्व दे दिया है, और उधर व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा करते हुए वे सीधे जन्मजात प्रतिभा की अनिर्वचनीयता तक पहुंच गये हैं।[1]

परंतु इसके विपरीत 'प्रगतिवाद', 'समकालीनता की व्याख्या' और 'कला में सोद्देश्यता का प्रश्न' आदि भाषणों मे उन्होंने कविता की भौतिक तथा सामाजिक प्रकृति की अत्यंत आवेगपूर्ण घोषणा की है।[2]

यह द्विविधा केवल दिनकर मे ही नही, उनके सभी सहयोगी कवियो—नरेन्द्र, अंचल, सोहनलाल द्विवेदी आदि मे उतनी ही स्पष्ट है। परंतु अंतर केवल एक है—

१ पाद टिप्पणी—"कविता कला है, और जहा कला है वहा हमे 'क्या' की अपेक्षा 'कैसे' पर अधिक ध्यान देना पडेगा, जब कवि-प्रतिभा इस 'कैसे' मे दक्ष है, तब हर चीज उसके स्पर्श से काव्य बन सकती है।" (पृ० १४४) × × × "कवि-प्रतिभा एक ऐसा ही × (अनिर्वचनीय और ईश्वरीय) विलक्षण तत्त्व है, जिसका सतोषप्रद विश्लेषण अब तक नही हो सका (पृ० १४७)। काव्य को इस गोतीत माया के कारण ही तो शास्त्रीय नियमो से नही बाधा जा सकता।"
कोष्ठ-बद्ध शब्द मेरे हैं। (पृ० १४८)

२. पाद टिप्पणी—दरअसल साहित्य, राजनीति, दर्शन और विज्ञान सबके-सब एक ही जीवन के पूरक अग हैं, और उनमे से मूलत: कोई भी किसी का विरोधी नही है। × × जीवन की एक ही अवस्था की भिन्न-भिन्न लोगो की भिन्न-भिन्न अनुभूतिया पद्धतियो की भिन्नता के क्रम से कविता, राजनीति और विज्ञान बन जाती है। (पृ० १२९)

नरेन्द्र ने समाजवाद की जीवन-दृष्टि को बुद्धि द्वारा ग्रहण कर लिया है, अचल ने भी कम-से-कम दोनो हाथो से उसे पकड अवश्य लिया है, इसलिए ये दोनो सैद्धातिक विवेचन करते हुए अपनी द्विविधा को समाजवाद की बौद्धिक रूढियो मे छिपा लेने का सफल-असफल प्रयत्न कर सकते हैं। सोहनलाल द्विवेदी भी गाधीवाद का दम भरते हैं, और उनकी दुहाई काफी ज़ोर-शोर से देते रहते है, परतु उनके विचारो मे बौद्धिक शक्ति और सचाई दोनो ही बहुत कम है।

दिनकर का व्यक्तित्व अनुभूति-प्रधान है, उसने पूर्वी भारत की भावोष्णता को उत्तराधिकार मे पाया है, अतएव द्विविधा उसमे व्यक्त है—गाधीवाद के प्रति आकृष्ट होते हुए भी उसने कही भी उसकी बौद्धिक रूढियो मे इसे छिपाने का प्रयत्न नही किया। इस द्विविधा को मिटाने की एक और विधि हो सकती थी आत्म-चितन। चितन की मंद-मंद आग मे गलकर इसके कोने एकसार हो सकते थे, परतु दिनकर की जवानी अभी इसे शायद गवारा नही करती।

महादेवीजी की आलोचक दृष्टि

जैसा मैंने एक और स्थान पर कहा भी है, महादेवी के काव्य मे हमे छायावाद का शुद्ध अमिश्रित रूप मिलता है। छायावाद की अंतर्मुखी अनुभूति, अशरीरी प्रेम, जो बाह्य तृप्ति न पाकर अमासल सौदर्य की सृष्टि करता है, मानव और प्रकृति के चेतन सस्पर्श, रहस्य-चिंतन (अनुभूति नही), तितली के पंखो और फूलो की पंखुडियों से चुराई हुई कला, और इन सबके ऊपर स्वप्न-सा पुरा हुआ एक वायवी वातावरण— ये सभी तत्त्व जिसमे घुले मिलते हैं, वह है महादेवी की कविता। महादेवी ने छायावाद को पढा नही है, अनुभव किया है। अतएव साहित्य का विद्यार्थी उनकी विवेचना का आप्त वचन के समान ही आदर करेगा।

आज एक साथ ही महादेवी की लेखनी से उद्‌भूत विवेचनात्मक गद्य यथेष्ट रूप मे हमारे सामने उपस्थित है। 'यामा', 'दीपशिखा' और 'आधुनिक' कवि की विस्तृत भूमिकाएं, पत्रिकाओ मे प्रकाशित 'चिंतन के क्षणो मे' और अब पुस्तकाकार प्राप्त उनके कतिपय लेख काव्य के सनातन सत्यों का जितना स्वच्छ उद्‌घाटन करते है, उतना ही आधुनिक साहित्य की गतिविधि का निरूपण भी।

साहित्य-दर्शन

महादेवी के साहित्य-दर्शन का आधार है भारतीय आदर्शवाद, जो जीवन और जगत् मे एक सत्य की अखड सत्ता मानता है। जगत् के खंड-खंड मे अखंडता प्राप्त कर लेना ही सत्य है और उसकी विषमताओ में सामजस्य देखना ही सौदर्य है। महादेवी इन्ही दो तथ्यो को साहित्य के साध्य और साधन मानती हैं।

"...सत्य काव्य का साध्य और सौंदर्य उसका साधन है। एक अपनी एकता मे असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता मे अनत, इसी से साधन के परिचय-स्निग्ध खड रूप से साध्य की विस्मयभरी अखड स्थिति तक पहुचने का क्रम आनद की लहर पर लहर उठाता हुआ चलता है।"

स्पष्ट शब्दो मे इसका अर्थ यह हुआ कि सौंदर्य का सबध रूप से होने के कारण वह हमारे निकट है, हमारा उससे स्नेह-परिचय है। रूपो की परिचित अनेकता की 'भावना' करता हुआ साहित्यकार जब क्रमश: उनकी मौलिक एकता की ओर बढता है तो उसे एक विशिष्ट सामंजस्य-दृष्टि प्राप्त हो जाती है। यही सामंजस्य-दृष्टि साहित्य की मूल प्रेरणा है और स्वभावत: आनंदरूपा है, क्योकि आनंद का अर्थ भी तो हमारी

अतर्वृत्तियो का सामंजस्य ही है। 'रसो वै सः' को मानने वाला भारतीय साहित्यशास्त्र मूलत इसी आनंदरूप सामजस्य या अखडता पर आधृत है। इसी से वह एक ओर साधारणीकरण के मौलिक तत्त्व तक पहुच सका और दूसरी ओर क्रोध, शोक, जुगुप्सा और भय आदि मे भी सात्त्विक आनद की उपलब्धि कर सका।

यही आकर साहित्य की उपयोगिता का भी प्रश्न हल हो जाता है। जिसका साध्य सत्य है, साधन सौंदर्य है और प्रक्रिया आनदरूप, उस साहित्य की उपयोगिता जीवन की चरम उपयोगिता है। परतु उसका माध्यम स्थूल विधिनिषेध न होकर आतरिक सामंजस्य ही है। इस प्रकार साहित्य एक ओर सिद्धातों का व्यवसाय होने से बच जाता है, दूसरी ओर सस्ता मनोरंजन होने से। इस रूप मे स्वभावत ही महादेवी साहित्य को एक शाश्वत सत्य मानती हैं। अनेकता ढूढने वाली उनकी दृष्टि जीवन और साहित्य के सनातन सिद्धातों और मूल्यो को लेकर चलती है, जो परिवर्तनो के बीच भी अक्षुण्ण रहते हैं।

"यह सत्य है कि सस्कृति की बाह्य रूप-रेखा बदलती रहती है, परतु मूल तत्त्वो का बदल जाना तब तक संभव नही होगा जब तक उस जाति के पैरो के नीचे से वह विशेष भूखंड और चारो ओर से घेर लेने वाला विशेष वायुमडल ही न हटा लिया जाए।"

अतएव यह स्पष्ट है कि महादेवी कविता को गणित के अको मे घटित होने वाला एक तथ्य-मात्र न मानकर, मूल रूप मे रहस्यानुभूति ही मानती हैं। उपर्युक्त उद्धरण मे एकता की स्थिति को विस्मयभरी कहने का यही तात्पर्य है। एक स्थान पर उन्होने अपना मंतव्य असंदिग्ध शब्दो मे व्यक्त किया है—

"व्यापक अर्थ मे तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सौंदर्य या प्रत्येक सामंजस्य की अनुभूति भी रहस्यानुभूति है। यदि एक सौदर्य-अश या सामजस्य-खंड हमारे सामने किसी व्यापक सौदर्य का द्वार नही खोल देता तो हमारे अंतर्गत का उल्लास से आलोकित हो उठना सभव नही।"

वास्तव मे कविता के ही नही, जीवन के विषय मे भी कवि की ऐसी ही रहस्यात्मक भावना है। "मनुष्य चाहे प्रकृति के जड उपादानो का सघात-विशेष माना जाए और चाहे किसी व्यापक चेतना का अशभूत, परंतु किसी भी अवस्था मे उसका जीवन इतना सरल नही है कि हम उसकी पूर्ण तृप्ति के लिए गणित के अको के समान एक निश्चित सिद्धात दे सकें।" इसलिए उनका दृष्टिकोण विदेश के भूतवादी दार्शनिको के दृष्टिकोण से जो जीवन को काम या केवल अर्थ पर केंद्रित मानकर चलते है, मूलतः भिन्न है। उनकी दृष्टि समन्वयवादी है जो काम और अर्थ के आशिक महत्त्व को तो मुक्तकठ से स्वीकार करती है परतु जीवन को समग्रत. इनकी ही इकाइयो मे घटाना स्वीकार नही करती। भौतिक यथार्थवाद को वे स्वीकार करती हैं, परतु निरपेक्ष रूप मे नही, आध्यात्मिक आदर्श के साथ। "जीवन की खड-खड विविधता ही भौतिक यथार्थ है, अखड एकता ही आध्यात्मिक आदर्श। पहला पदार्थ या अर्थ-काम के घटको मे आका जा सकता है, दूसरा अनुभूति का ही विषय होने के कारण निश्चय

ही थोड़ा-बहुत रहस्यमय है।" इसीलिए एक ओर महादेवी साहित्य के व्याख्यान में भौतिक वातावरण को उचित महत्त्व देती हैं, दूसरी ओर सामंजस्य या एकता की आध्यात्मिक कसौटी का उपयोग करती हैं।

इसी प्रकार वे काव्यानंद को भी ऐंद्रिय सवेदनों मे न ढूढकर प्राण-चेतना के उस सूक्ष्म धरातल पर ढूढती हैं जहां बुद्धि और चित्त, ज्ञान और अनुभूति का पूर्ण सामंजस्य हो जाता है, जो चिंतन का धरातल है, जहा भट्टनायक या अभिनव के शब्दो मे सतोगुण, तमस् और रजस् पर विजयी होता है। यहा आकर उनकी स्थिति एक ओर अति-बुद्धिवादी और दूसरी ओर शुद्ध रसवादी साहित्यकारो से भिन्न हो जाती है।

सामजस्य की यह दृष्टि, दूसरे शब्दो मे संतुलन और संयम की दृष्टि है जिसमे किसी भी प्रकार के अतिचार को, जीवन-प्रवाह के उन असाधारण क्षणो को, जहा संतुलन और संयम तट के मृत्तिका-खडों की तरह बह जाते है, स्थान नही। यह दृष्टि या तो जीवन के साधारण धरातल पर ही रुक जाती है और या फिर एकदम पूर्ण स्थिति—वाल्मीकि, व्यास, शेक्सपियर पर ही रुकती है। इसलिए यह अमृत-दृष्टि बायरन जैसे विषपायियो के प्रति, जो सामजस्य और सतुलन की अवस्था तक नही पहुच पाये हैं, सदैव कितनी क्रूर रही है। एक ओर सामंजस्य-द्रष्टा रवीन्द्र माइकेल को क्षमा नही कर पाते थे, और दूसरी ओर सामजस्य-द्रष्टा महादेवी उग्र या अचल को क्षमा नही कर सकती। इनकी शक्ति को ये लोग आत्म-घातिनी शक्ति कहकर छोड देंगे। परतु क्या यह उचित है? सत्य यह है कि यह सामंजस्य नैतिक बंधनो से सर्वथा मुक्त नही हो सका, इसलिए एक स्थान पर जाकर उसमे भेद-बुद्धि उत्पन्न हो ही जाती है। महादेवी के साहित्यिक मान नैतिकता के बोझ से काफी दबे हुए हैं, इसमे सदेह नही। और इसमे उनका स्त्रीत्व बाधक हुआ है, जो मर्यादा से बाहर जीवन की मुक्ति खोजने का अभ्यासी नही है। और, वास्तव मे अभी महादेवीजी की दृष्टि पूर्ण सामंजस्य की अधिकारिणी भी नही हो पायी क्योकि उसमे पुरुषत्व से भिन्न नारीत्व की इतनी प्रखर चेतना वर्तमान है कि वह पुरुष को आततायी-प्रतिद्वंद्वी के अतिरिक्त और कुछ कठिनाई से ही समझ पाती है। महादेवी जैसे उन्नत व्यक्तित्व मे यह भाव अवश्य किसी ग्रंथि की ही अभिव्यक्ति है जो अभी उलझी रह गई है।

सामयिक समस्या

इन सिद्धातों का उपयोग उन्होने आधुनिक हिंदी-साहित्य के विवेचन मे किया है और यहा हमे महादेवीजी का सक्रिय आलोचक रूप मिलता है। छायावाद और प्रगतिवाद से सबद्ध लगभग सभी महत्त्वपूर्ण प्रसगो पर उन्होने सम्यक् प्रकाश डाला है जो संक्राति की इस कुहर वेला मे फैली हुई अनेक भ्रातियो को दूर कर देता है। इन प्रसंगो मे से मुख्यतम प्रसंग छायावाद को लेकर, आइए, बहस की जाए—

छायावाद

"मनुष्य का जीवन चक्र की तरह घूमता है। स्वच्छद घूमते-घूमते थककर वह

अपने लिए सहस्र बंधनो का आविष्कार कर डालता है और फिर बंधनो से ऊबकर उनको तोडने मे सारी शक्तिया लगा देता है।"

"छायावाद के जन्म का मूल कारण भी मनुष्य के इसी स्वभाव में छिपा हुआ है। उसके जन्म से प्रथम कविता के बधन सीमा तक पहुंच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा।"

"स्वच्छंद छंद मे चित्रित उन मानव-अनुभूतियो का नाम छायावाद उपयुक्त ही था, और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है।"

"छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है।"

"बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखडता का भावन किया, हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति मे बिखरी हुई सौदर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की, और दोनो के साथ स्वानुभूत सुख-दु खो को मिलाकर एक काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, छायावाद आदि अनेक नामो का भार सभाल सकी।"

"छायावाद करुणा की छाया मे सौदर्य के माध्यम से व्यक्त होने वाला भावात्मक सर्ववाद ही है।"

इस प्रकार महादेवीजी के अनुसार :

१ छायावाद की मूल चेतना है सर्ववाद और इसकी भावभूमि है मुख्यतः प्रकृति, क्योकि सर्ववाद की व्यंजना का मुख्य माध्यम वही है।

२ इस सामान्य चेतना पर कवि के व्यक्तिगत सुख-दु ख की चेतना का गहरा प्रभाव है। वास्तव मे सिद्धात मे समष्टिवादी होती हुई भी यह चेतना व्यवहार मे व्यष्टिवादी ही है।

३ सर्ववाद निसर्गतः ही करुणा को जन्म देता है, अतएव जन्म से ही छायावाद पर करुणा की छाया है।

४. उसका उद्गम-स्थान हमारी प्राण-चेतना का वह सूक्ष्म धरातल है जहा बुद्धि और चित्त का सयोग होता है। अर्थात् छायावाद चिंतन के क्षणो की उद्भूति है। अतएव वह स्वभावतः ही अंतर्मुखी कविता है।

५. छायावाद मे मूर्त-अमूर्त के सामंजस्य की पूर्णता है।

उपर्युक्त विवेचन मेरी अपनी धारणाओ के इतना निकट है कि इनमे विशेष आपत्ति के लिए स्थान नही है। फिर भी ऐसा अवश्य लगता है कि महादेवीजी ने छायावाद की लबी कविता पर दर्शन का बोझ कुछ अधिक लाद दिया है। अपने मूल रूप मे छायावाद द्विवेदी-युग की स्थूल प्रवृत्तियो के विरोध मे जागी हुई जीवन के प्रति एक रोमानी प्रतिक्रिया थी—स्थूल उपयोगिता के स्थान पर जिसमे एक रहस्योन्मुख भावुकता थी। सामयिक परिस्थितियो के अनुरोध से जीवन मे रस और मास ग्रहण न कर सकने के कारण वह एक तो वाछित शक्ति का सचय नही कर पायी, दूसरे एकात

अंतर्मुखी हो गई। इस प्रकार उसके आविर्भाव मे मानसिक दमन और अतृप्तियो का बहुत बडा योग है, इसको कैसे भुलाया जा सकता है ?

महादेवीजी ने कविता की तात्विक परिभाषा मे छायावाद को कुछ ऐसा फिट कर दिया है कि वह कविता के परिपूर्ण क्षणो की वाणी ही लगता है—यह स्वभावतः असत्य है। छायावाद की अपनी सीमाए हैं। उनकी कविताओ मे जितनी सूक्ष्मता है उतनी शक्ति नही, जितनी सुकुमारता है उतनी तीव्रता नही, जितना अरूप-चिंतन है उतना मासल रस नही आ सका—इसका निषेध कैसे किया जा सकता है ! हमारे दो प्रतिनिधि कवि पंत और महादेवी जीवन मे पूरी तरह उतर नही पाये। जब जीवन की भूख तडपती थी तब तो वे परिस्थितिवश उसे झुठलाते रहे और जब भूख मंद पड गई तब ये जीवन मे उतरे—पर इस समय उसका सस्कार करने के अतिरिक्त इनके पास दूसरा कोई उपाय नही रहा। सस्कार मे रस तभी आता है जब उसके द्वारा खौलती हुई वासनाओ से सघर्ष कर उन पर विजय प्राप्त की जाती हैं। प्रसाद और निराला मे स्थान-स्थान पर वह भूख हुकार उठी है, और वही वे महान् काव्य की सृष्टि कर सके है।

आलोचना-शक्ति

महादेवीजी की आलोचना-शैली चिंतन की शैली है, जिसमे विचार और अनुभूति का सयोग है। वे जैसे बौद्धिक तथ्यो को पचा-पचाकर हमारे समक्ष रखती है। निदान बौद्धिक तीक्ष्णता तो उनके विवेचन मे इतनी नही मिलती, परतु सश्लेषण सर्वत्र मिलता है। कही भी किसी प्रकार की उलझन नही है। यह दूसरी बात है कि पाठक को उसे तत्काल ग्रहण कर लेने मे कठिनाई हो। क्योकि उसका तो कारण है—यह कि विचार की अपेक्षा चिंतन को ग्रहण करने मे देर लगती है। शुक्लजी की शास्त्रीय गवेषणा से सर्वथा भिन्न यह शैली प्रसाद और पत की ठोस बौद्धिक विवेचना की अपेक्षा टैगोर की लचीली काव्य-चिंतना के अधिक समीप है।

एक दूसरी विशेषता जो महादेवी की आलोचना मे मिलती है वह है ऐतिहासिक एकसूत्रता, जो सामंजस्य को जीवन का और साहित्य का मूलाधार मानकर चलने वाले आलोचक के लिए स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए एक ओर उन्होने छायावाद की प्रकृति-भावना का वेदो से आरभ होने वाली प्रकृति-भावना की भारतीय परपरा के साथ बड़ी सुदरता के साथ सबध-निरूपण किया है, दूसरी ओर आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियो का समाज की आर्थिक परपराओ के साथ। इसलिए उनकी आलोचना प्रायः एकागी नही हुई। उसमे अतर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियो का सतुलन है और जीवन की विस्तृत भूमिका पर रखकर भी साहित्य को उसके अति-प्रत्यक्ष प्रश्नो से बचाये रखने का विवेक और सुरुचि है।

सारत महादेवी के ये निबंध काव्य के शाश्वत सिद्धांतो के अमर व्याख्यान है। आज साहित्यिक मूल्यो के ववंडर मे भटका हुआ जिज्ञासु इन्हे आलोक-स्तंभ मानकर बहुत-कुछ स्थिरता पा सकता है।

हाली के काव्य-सिद्धांत[1]

हाली का युग

हाली का युग भारतीय इतिहास मे पुनर्जागरण का युग था। उस समय पाश्चात्य संस्कृति एवं साहित्य से सपर्क और संघर्ष के फलस्वरूप एक नवीन चेतना का उदय हो रहा था, जो भारतीय संस्कृति तथा साहित्य मे आधुनिक युग के सूत्रपात का सूचक था। इस युग की मुख्य प्रवृत्तियो का आकलन सक्षेप मे इस प्रकार किया जा सकता है :

१. साहित्य और जीवन का घनिष्ठ सबंध—उत्तर-मध्यकाल मे साहित्य और जीवन का सबध प्राय टूट चुका था। साहित्य एक प्रकार से विलास और मनोविनोद की सामग्री बन गया था। किंतु अब साहित्य का जीवन के साथ घनिष्ठ सबध स्थापित हुआ—अर्थात्, इस विस्मृत तथ्य की पुन स्थापना हुई कि साहित्य का जीवन के साथ दुहरा सबध है . दर्पण के समान वह जीवन को प्रतिबिंबित ही नही करता, वरन् सुधार-सस्कार की प्रेरणा भी देता है। परिणामतः युग की आवश्यकताओ के अनुकूल उसमे सामाजिक तथा राष्ट्रीय चेतना का समावेश हुआ और नैतिक मूल्यो की पुन प्रतिष्ठा हुई, एक वाक्य मे, साहित्य को जीवत रूप प्रदान किया गया।

२ विवेकशील एव बौद्धिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण—पूर्ववर्ती साहित्य जहा भावुकता से अतिरंजित था, वहां अब विवेक का प्राधान्य हुआ। जीवन मे भावना का अपना मूल्य है, किंतु अतिशय भावुकता से अनेक प्रकार की विकृतियो का पोषण होता है, अत जीवन के स्वास्थ्य के लिए विवेक-बुद्धि का आधार सर्वथा अनिवार्य है। नया साहित्य हृदय की माधुरी की कद्र करता हुआ भी विवेक की दृढता का अधिक कायल था।

३. परपरा के अधानुकरण तथा रूढ़िवाद का विरोध—यह युग जीवन और साहित्य दोनो मे परपरा के अधानुकरण तथा रूढिवाद का विरोधी था। अतीत की गौरव-परपराओं के प्रति श्रद्धावान् होता हुआ भी वह रूढियो के प्रति असहिष्णु था, क्योंकि तत्कालीन अवनति का मूल कारण रूढिवाद ही था और उसको उच्छिन्न किये बिना जीवन एवं साहित्य मे प्रगति असभव थी।

---

१. मुकद्दम-ए-शेर-ओ-शायरी के आधार पर।

४ विस्तार और सुधार की आकांक्षा—वर्तमान से असंतुष्ट यह युग विस्तार और सुधार की आकाक्षा से अनुप्राणित था। नवीन जीवन के अनुरूप नवीन तत्त्वो के अंतर्भाव के प्रति आग्रह जीवन के सभी क्षेत्रों मे व्याप्त था और साहित्य इसका अपवाद नही था।

हाली की प्रबुद्ध प्रतिभा इन समस्त प्रवृत्तियो एवं आवश्यकताओ के प्रति जागरूक थी और एक समर्थ साहित्य-नेता की भाति उन्होने इन सभी को आत्मसात् कर अपने युग का प्रतिनिधित्व तथा तत्कालीन उर्दू-साहित्य का नेतृत्व किया।

ग्रंथ का उद्देश्य

वास्तव मे मुकद्दम-ए-शेर-ओ-शायरी स्वतत्र ग्रंथ न होकर हाली के काव्य-सग्रह की भूमिका है। हाली ने अपने युग की माग के अनुरूप उर्दू-काव्य को नवीन दिशा प्रदान की। उर्दू-कविता मे परपरा से भिन्न नवीन वस्तुतत्त्व और नवीन शैली का समावेश हुआ जिसकी स्वीकृति एकाएक संभव नही थी। इसलिए अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पद्य से भी अधिक गद्य का—भावना से भी अधिक तर्क का—अवलंब लेना उनके लिए आवश्यक हो गया। परिणामत प्रस्तुत भूमिका मे सिद्धात-विवेचन ही प्रमुख है, व्यावहारिक आलोचना केवल सिद्धात को पुष्ट तथा उदाहृत करने के लिए ही की गई है। किंतु सिद्धात-विवेचन भी वास्तव मे हाली के लिए साधन ही है, साध्य नही। साध्य है उर्दू कविता का सुधार—उर्दू काव्य-प्रणाली का युगानुकूल सुधार और विस्तार: "फिर भी, हमे अपने देश के ऐसे युवको से जिनकी कविता के प्रति अभिरुचि है और जो युग के तेवर पहचानते हैं, यह आशा है कि वे शायद इस निबंध को पढे और कम-से-कम इतना स्वीकार करे कि उर्दू-कविता की वर्तमान स्थिति मे निस्संदेह सुधार अथवा सशोधन की आवश्यकता है। हमने कविता के सुधार के सबध मे जो तुच्छ विचार इस लेख मे प्रकट किये है यदि उनमे से एक भी मत स्वीकार न किया जाए, किंतु यदि देश मे इस लेख से आम तौर पर यह विचार फैल जाए कि वस्तुत हमारी कविता मे सुधार की आवश्यकता है, तो हम समझेंगे कि हमे पूरी सफलता प्राप्त हुई है, क्योंकि उन्नति की पहली सीढी अपनी अवनति का विश्वास है।" (पृ० १३२)।—हाली के काव्य-सिद्धातों का विश्लेपण तथा मूल्याकन करने के लिए प्रस्तुत उद्देश्य को दृष्टि मे रखना अत्यत आवश्यक एवं उपयोगी होगा। अस्तु!

हाली के काव्य-सिद्धांत

काव्य की परिभाषा और मूलतत्त्व—हाली ने काव्य या कविता की परिभाषा नही की। उनके मत से काव्य की 'कोई परिभाषा ऐसी नही है जो अकाट्य हो' (पृ० ३९)। फिर भी कुछ परिभाषाएं ऐसी हैं जिन्हे वे यथार्थ के निकट मानते है। उदाहरण के लिए:

१ कविता एक प्रकार की अनुकृति है।

२. एक विद्वान् ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार की है:

"जो विचार एक असाधारण और निराले ढग से शब्दो द्वारा इस उद्देश्य से व्यक्त किया जाय कि श्रोता का मन उसे सुनकर प्रसन्न अथवा प्रभावित हो, वह काव्य है—चाहे पद्य मे हो अथवा गद्य मे।"

इब्ने रशीक के शब्दो मे—

(३) "काव्य जब पढा जाए तो प्रत्येक व्यक्ति का यह भाव हो कि ऐसा मैं भी कह सकता हू; किंतु जब वैसा कहने का इरादा किया जाए तो सिद्धहस्त भी असमर्थ रहे।"

वास्तव मे ये तीनो परिभाषाए भी अपूर्ण और एकागी है। लक्षण की कसौटी यह है कि वह अपने मे सर्वथा पूर्ण, स्वत. स्पष्ट, अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति से मुक्त हो।

पहली परिभाषा मूलत अरस्तू की है। हाली ने यहा मैकाले का उल्लेख किया है और इस परिभाषा को उन्ही की माना है। इसमे सदेह नही कि मैकाले ने कवि और चित्रकार को समानधर्मा मानते हुए अरस्तू के अनुकरण-सिद्धात के प्रभाव को स्वीकार किया है, किंतु ये शब्द मैकाले ने कही नही लिखे। उनका वाक्य इस प्रकार है, "कविता से हमारा अभिप्राय है शब्द-प्रयोग की वह कला जिससे कि कल्पना मे भ्रम उत्पन्न हो जाये—शब्दो के द्वारा वही कर दिखाने की कला, जो चित्रकार रगो के द्वारा करता है।"[1] अरस्तू का मूल वाक्य इस प्रकार है "महाकाव्य, त्रासदी, कामदी और रौद्रस्तोत्र तथा वशी-वीणा-सगीत के अधिकाश भेद अपने सामान्य रूप मे अनुकरण के ही प्रकार हैं।"[2] जैसा कि हमने 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' की भूमिका मे स्पष्ट किया है, अरस्तू ने भी वस्तुत. काव्य की कोई निश्चित परिभाषा नही की। उसके अनेक सूत्रो के आधार पर एक परिभाषा का निर्माण अवश्य किया जा सकता है जो इस प्रकार है—"काव्य भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है।"[3] किंतु इसमे 'प्रकृति' और 'अनुकरण' दोनो ही शब्द अस्पष्ट एव व्याख्या-सापेक्ष हैं और 'अनुकरण' शब्द का वास्तविक अभिप्राय तो अनेक प्रकार की प्रामाणिक व्याख्याए प्रस्तुत हो जाने के बाद आज भी अनिर्णीत है। इसमे सदेह नही कि यूरोप मे काव्य की जो वस्तुपरक परिभाषाए की गई, उनका मूलाधार अरस्तू के शब्द ही हैं, फिर भी यह परिभाषा सहज ग्राह्य एव निर्दोष तो नही मानी जा सकती।

दूसरी परिभाषा भी वस्तुत काव्य की परिभाषा न होकर उसके उद्देश्य की व्याख्या ही अधिक है। लक्षण का पहला ही गुण—उसमे नदारद है। इसका रूप कुछ इस प्रकार बनता है. काव्य से अभिप्राय गद्य या पद्य मे व्यक्त ऐसे विचार का है जो श्रोता के मन को प्रसन्न और प्रभावित करे।—इसमे भी अनेक प्रकार की त्रुटिया हैं। एक तो इसमे 'विचार' शब्द भ्रामक है, किंतु उस समय पारिभाषिक शब्दो

१. लिट्रेरी ऐसेज : मिल्टन, पृ० ६

२ अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० ६

३ वही, भूमिका, पृ० २६

के रूप स्थिर नहीं हुए थे, अत यह मान लेना चाहिए कि 'विचार' यहा सामान्यतः 'अर्थ' का वाचक है। आगे 'विचार' की विशेषता—प्रसन्न और प्रभावित करने की क्षमता—इस शका का और भी निराकरण कर देती है कि कही 'विचार' शब्द मे भाव-तत्त्व की उपेक्षा तो निहित नही है। किंतु काव्य मे अर्थ और शब्द के परस्पर सबंध के विषय मे भ्राति है। वाक्य-रचना के अनुसार तो स्पष्टतः यहा अर्थ (विचार) पर ही बल है (जो विचार प्रसन्न और प्रभावित करे वह काव्य है)। पर अभिव्यक्ति का 'निरालापन' और 'असाधारणता' इस बात के प्रमाण हैं कि वह भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। ऐसी स्थिति मे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रस्तुत लक्षण मे (१) शब्द, (२) अर्थ, और (३) शब्द-अर्थ का रमणीय सबध—काव्य के इन तीनो तत्त्वो का स्पष्ट समावेश तो है, किंतु इनका उचित संयोजन नही हुआ—अर्थात् शब्द और अर्थ के सामजस्य की निर्भ्रान्त स्वीकृति यहा नही है, इसीलिए उनके प्रभाव (प्रसन्न और प्रभावित करना) का पृथक् रूप से उल्लेख करने की आवश्यकता हुई है। वस्तुस्थिति यह है कि काव्य मे शब्द और अर्थ का पूर्ण तादात्म्य रहता है जो स्वभावत. आह्लाद-कारी होता है—आह्लादकता पृथक् तत्त्व न होकर सामजस्य का सहज गुण है। आलोच्य लक्षण मे काव्य के इस सूक्ष्म रहस्य का उद्घाटन नही हुआ है।

इन्ने रशीक का लक्षण वास्तव मे लक्षण की अपेक्षा सूक्ति अधिक है। उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि काव्य सर्व-सामान्य अनुभूतियो की असामान्य अभिव्यक्ति है। मूल अर्थ इसका भी सत्य के निकट ही है—अर्थात् यहा भी इसी सर्वमान्य तथ्य की अभिव्यक्ति है कि काव्य की विषयवस्तु का आधार साधारण अनुभव या स्थायी भाव आदि ही होते है और उसकी अभिव्यजना मे शब्दार्थ का असाधारण चमत्कार रहता है: सवेद्य अनुभव तो सर्व-सामान्य ही होता है, किंतु अभिव्यक्ति की क्षमता प्रतिभा, निपुणता आदि विशिष्ट गुणो पर निर्भर रहती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हाली की काव्य-विषयक मान्यताओ का रूप कुछ-कुछ इस प्रकार बनता है :

१ काव्य के प्रति हाली का दृष्टिकोण प्रधानत वस्तुपरक है। काव्य के प्रति स्थूलत. दो प्रकार के दृष्टकोण मिलते हैं : एक—आत्मपरक अथवा रोमानी दृष्टि-कोण जिसका प्रतिनिधित्व करती है यह परिभाषा कि 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है' और, दूसरा—वस्तुपरक दृष्टिकोण जिसकी प्रतिनिधि परिभाषा यह मानी जा सकती है कि 'काव्य जीवन की आलोचना है।' पहले मे आनंद-तत्त्व पर बल है और दूसरे मे जीवन-तत्त्व पर। हाली का मत दूसरे दृष्टिकोण के अतर्गत आता है।

२. शब्द और अर्थ मे यद्यपि अर्थ का भी बडा महत्त्व है परतु प्राधान्य शब्द ही का है।

३. काव्य की अभिव्यजना असाधारण होती है जिसके कारण उसमे चमत्कार की शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

ये तीनो लक्षण हाली के नहीं हैं, अतः इनकी आलोचना का सीधा सबध हाली से नहीं है, फिर भी चूंकि इनमे उन्होने अपनी आस्था व्यक्त की है, अतः इनके

आधार पर काव्य के स्वरूप के विषय मे हाली की मान्यताओं का आकलन किया जा सकता है और इस संबंध से इनके गुण-दोषो का भागी भी हाली को ठहराया ही जा सकता है ।

काव्य के मूल तत्त्व (हेतु और उपादान)

हाली ने काव्य की आवश्यकताओ का ही विवेचन प्रत्यक्ष रूप से किया है, तत्त्वो का नही । वस्तुत आवश्यकताओ के अतर्गत उन्होने काव्य के हेतुओ तथा उपादानो—दोनो को ही समेट लिया है । काव्य की परिभाषा के बाद यह प्रसंग उठाया है कि काव्य के लिए क्या शर्तें जरूरी है ? (पृ० ४३) यहा वस्तुत: वे काव्य-हेतुओ का ही विवेचन करते हैं । उनके मत से कविता करने के लिए तीन बातो की आवश्यकता है . (१) कल्पना, (२) प्रकृति का अध्ययन, और (३) शब्द-विन्यास । वस्तुत. एक प्रकार से तो ये कविता के हेतु है । कल्पना से अभिप्राय है कल्पना-शक्ति का अर्थात् 'प्रतिभा' का · "यह वह प्रतिभा है जिसे कवि मा के पेट से अपने साथ लेकर निकलता है और जो अभ्यास से प्राप्त नही हो सकती" (पृ० ४३) । प्रकृति के अध्ययन का अर्थ है 'निपुणता' : "कविता मे निपुणता प्राप्त करने के लिए यह भी आवश्यक है कि सृष्टि-रूप ग्रथ और उसमे से विशेषकर मानव-स्वभाव-रूपी पुस्तक का अध्ययन अत्यत विचारपूर्वक किया जाय" (पृ० ४६) । शब्द-विन्यास 'अभ्यास' का समानातर गुण है : "कविता कवि के मस्तिष्क से सर्वथा पूर्णरूप मे प्रकट नही होती अपितु विचार की प्रारभिक अव्यवस्था से लेकर अत के परिष्कार और संस्कार तक बहुत से पडाव पार करने होते हैं ।" (पृ० ५३) प्रतिभा, निपुणता और अभ्यास इन तीनो मे संस्कृत के आचार्यों की भाति हाली ने प्रतिभा को ही प्रमुख माना है · "यदि कवि के व्यक्तित्व मे यह प्रतिभा विद्यमान है और बाकी शर्तों मे, जो काव्य-कौशल के लिए आवश्यक हैं, कुछ कमी है, तो वह उस अभाव की पूर्ति उस प्रतिभा से कर सकता है ।" (पृ० ४३) । ठीक यही भारतीय आचार्य का मत है :

अव्युत्पत्तिकृतो दोष शक्त्या संव्रियते कवे. ।

—(आनदवर्धन)

अर्थात् कवि की शक्ति व्युत्पत्ति के अभाव से उत्पन्न दोष का संवरण कर लेती है । कहने की आवश्यकता नही कि यह विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र के काव्य-हेतु-विवेचन से प्रभावित है । उन्नीसवी शती के अत मे भारतीय ज्ञान-विज्ञान का प्रसार होने लगा था और नये विद्वान् प्राचीन सिद्धातो को नये ढग से प्रस्तुत करने लग गए थे । हाली की ग्रहणशील जागरूक मेधा ने, अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, उपर्युक्त विवेचन का लाभ उठाया है । परंतु हाली के इस विवेचन मे 'हेतुओ' के साथ 'उपादान' भी मिल गए है ।

कल्पना के विवेचन मे कल्पना-शक्ति अर्थात् प्रतिभा और कल्पना तत्त्व दोनो का ही अतर्भाव है जहां काव्यकर्त्री शक्ति का विवेचन है वहा वह प्रतिभा का पर्याय होने के नाते हेतु है, किंतु जहा आधार के रूप मे उसका उल्लेख है वहा उपादान है।

प्रकृति का अध्ययन जहा कारण है वहा काव्य-हेतु है, किंतु जहां आधारभूत सामग्री है वहा वह अनुभव अर्थात् भाव-तत्त्व और ज्ञान-तत्त्व का वाचक होने के कारण उपादान है। इसी प्रकार जहा शब्द-विन्यास कवि के कर्तव्य का अंग है वहा हेतु है और जहा आधार है अर्थात् अभिव्यंजना का प्रतीक है वहा उपादान है। इस विश्लेषण के अनुसार काव्य के तीन उपादान हाली को मान्य हैं (१) कल्पना-तत्त्व, (२) अनुभव (भाव, ज्ञान)-तत्त्व, और (३) अभिव्यंजना-तत्त्व। कल्पना पौरस्त्य काव्यशास्त्र के लिए अपेक्षाकृत नया तत्त्व था, अत. हाली ने उसकी विस्तार के चर्चा की है। कल्पना से अभिप्राय उस तत्त्व से है जिसके द्वारा काव्य की आधारभूत सामग्री—अनुभव अर्थात् भाव, ज्ञान आदि—व्यवस्थित होकर नवीन रूप धारण करती है।[1] "कल्पना की यह प्रक्रिया जिस प्रकार विचारो मे होती है, उसी प्रकार शब्दो (शैली) मे भी होती है" (पृ० ४५)। इस प्रकार कल्पना का दुगुना महत्त्व है। यद्यपि कल्पना के नियमो और तर्क के नियमों मे भेद है, फिर भी उस पर तर्क और विवेक का अकुश आवश्यक है क्योकि स्वैरिणी कल्पना अनर्गल वाग्विलास का रूप धारण कर लेती है। कल्पना वास्तव मे अनुभव अर्थात् प्रकृति के कोष से संकलित सामग्री की सहायक ही है, स्थानापन्न नही। उसका स्वेच्छाचार वही होता है जहां अनुभव का कोष रिक्त हो जाता है।[2] अनुभव-तत्त्व पर भी हाली ने बहुत बल दिया है। काव्य की सामग्री का आधार यही है। इसके अभाव से कल्पना और अभिव्यंजना दोनो ही असमर्थ रहती है। तीसरे तत्त्व —अभिव्यजना की महत्ता भी स्वयंसिद्ध है : हाली ने उसे एक प्रकार अर्थ से भी अधिक मौलिक तत्त्व माना है—"हम यह बात स्वीकार करते है कि काव्य का आधार जिस मात्रा मे शब्दो पर निर्भर है उस मात्रा मे अर्थ पर नही। अर्थ कैसा ही महान् और सूक्ष्म हो, यदि अच्छे शब्दो मे व्यक्त न किया जाएगा, कभी दिलो मे घर नही कर सकता। और एक घटिया विषय सुदर शब्दो मे व्यक्त होने से प्रशंसनीय बन जाता है।" (पृ० ५७)

काव्य का महत्त्व और प्रयोजन

यद्यपि कवि और काव्य के विरुद्ध बहुत-कुछ कहा गया है, फिर भी उनका महत्त्व अक्षुण्ण है। काव्य का महत्त्व सिद्ध करने के लिए हाली ने अनेक तर्क दिये है :

१. कविता प्रातिभ गुण है—"वह प्रकृति का वरदान है।" प्रकृति का गुण होने के कारण, भगवान् का वरदान होने के कारण वह समाज के लिए उपयोगी है। "इससे स्पष्ट है कि काव्य कोई अभ्यास से प्राप्त होने वाली वस्तु नही, बल्कि कुछ लोगो मे यह गुण प्रकृति का वरदान होता है। अत. जो व्यक्ति भगवान् की इस देन को प्रकृति की इच्छा के अनुसार काम मे लायेगा, यह संभव नही कि उससे समाज को कुछ लाभ न हो।" (पृ० ३)

१. पृ० ४५
२. पृ० ६२

२ कविता का प्रभाव सर्वमान्य है, इसलिए उसका सदुपयोग निश्चय ही लाभकारी होगा। "कविता के प्रभाव को कोई व्यक्ति अस्वीकार नही कर सकता। श्रोताओ के मन मे इससे अवसाद या आनंद, उत्साह या निराशा, न्यूनाधिक मात्रा मे अवश्य ही उत्पन्न होती है और इससे अनुमान हो सकता है कि यदि उसमे कुछ काम लिया जाय तो वह कहा तक लाभदायक हो सकती है।" (पृ० ४)

३ कविता का राजनीतिक प्रभाव भी इतिहास-प्रसिद्ध है। यूनानी, अगरेजी, अरबी, फारसी—सभी भाषाओ की कविता ने अनेक अवसरो पर राष्ट्रीय उत्थान मे योगदान किया है।

४. कविता का सामाजिक प्रभाव भी स्वत.सिद्ध है। एक ओर कविता अपने समय के सामाजिक प्रभाव को ग्रहण करती है और दूसरी ओर समाज को प्रभावित भी करती है। सत्काव्य जहा समाज मे उत्तम गुणों का विकास करता है वहा असत्काव्य रुचि को विकृत कर देता है, झूठ को बढावा देता है और राष्ट्र के साहित्य तथा भाषा का विनाश कर देता है: 'कवि को यद्यपि आरभ मे समाज की कुरुचिया बिगाडती हैं, किंतु कविता जब बिगड जाती है तो उसकी जहरीली हवा समाज को भी अत्यधिक क्षति पहुंचाती है।" (पृ० ३०)

५. कविता का नैतिक प्रभाव "कविता यद्यपि सीधे ढंग से नीतिशास्त्र की भाति उपदेश और शिक्षा नही देती, किंतु उसे न्यायपूर्वक नीतिशास्त्र का सहायक अथवा स्थानापन्न कह सकते हैं।" (पृ० १८)। "कविता से जिस प्रकार मनोभावनाएं उत्तेजित होती है, उसी प्रकार आध्यात्मिक आनद भी सजीव हो उठता है।" (पृ० १८) —यह आध्यात्मिक आनंद नैतिकता का ही एक रूप है। इस प्रकार के पवित्र आनद से मनुष्य का नैतिक उत्कर्ष होता है।

६ सास्कृतिक प्रभाव—कविता हमारी चेतना का संस्कार करती है "सासारिक धधो मे व्यस्त रहने के कारण जो शक्तिया सुषुप्त हो जाती है, काव्य उन्हे जाग्रत करता है।" वह हमारे बचपन की उन विशुद्ध और पवित्र भावनाओ को, जो स्वार्थ की अपवित्रता के धब्बो से मुक्त और निर्मल थी, पुनर्जीवित करता है।"—काव्य दरिद्रता की स्थिति मे मरहम और समृद्धि की स्थिति मे विषहरण (तिर्याक) का काम देता है: अर्थात् विपत्ति और सपत्ति दोनो के दुष्प्रभावो से मानव-चेतना की रक्षा करता है।

७. कुछ विद्वानो का यह मत है कि कविता असभ्यता के युग मे प्रगति करती है क्योकि सभ्यता का आधार जहा ज्ञान और जिज्ञासा है वहा कविता के मूल तत्त्व हैं कल्पना और आवेग। यह मत केवल अशत सत्य है। ज्ञान-विज्ञान के विकास के साथ काव्य के लिए नवीन क्षेत्र उद्घाटित हुए हैं और मानव-कल्पना को नवीन उपकरण प्राप्त हुए हैं। अत: कविता का महत्त्व सार्वकालिक है।

इस प्रकार मानव-जीवन पर काव्य का प्रभाव अत्यत स्थायी और व्यापक होता है—राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, सास्कृतिक—सभी क्षेत्रो में वह मानव-जीवन का उपकार करता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि हाली की दृष्टि आनद की अपेक्षा काव्य के नैतिक पक्ष पर ही अधिक केंद्रित है। आनंद की उन्होंने उपेक्षा नही की—आनंद पर वल देने वाली उनकी दीर्घ काव्य-परंपरा ऐसा करने की अनुमति भी नही दे सकती थी, किंतु उसकी अपेक्षा—कदाचित् युगधर्म के प्रभाव से—काव्य का शिवत्व ही उन्हें अधिक मान्य है। भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे मूलत इन दोनो तत्त्वो का ही महत्त्व रहा है। किंतु भारतीय दृष्टि जहा आनंद और कल्याण को एक ही सत्य के दो पहलू मानती हुई दोनो मे सामरस्य की कल्पना करती रही है, वहा पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे प्राय इन दोनो के बीच प्रतिद्वंद्व रहा है। एक ओर जहा प्लेटो, होरेस, मिल्टन, रस्किन, मैथ्यू आर्नल्ड, तोलसतोय की लोककल्याणवादी परंपरा है, वहा दूसरी ओर ह्यूगो, पेटर, स्विनबर्न आदि की परंपरा है जो सौदर्य या उसके भावात्मक रूप आनद को ही एकमात्र सिद्धि मानकर चलती है। प्रथम वर्ग के आलोचको के भी दो उपवर्ग हैं : एक की दृष्टि बहिर्मुखी है और वह लोक-कल्याण के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक वल देता है; दूसरे की जीवन-दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म है और वह कल्याण के स्थायी एव गभीर रूप को मान्यता देता है। इस अंतर को और भी स्पष्ट करने के लिए पहले उपवर्ग की काव्य-दृष्टि को नैतिक और दूसरे की दृष्टि को सास्कृतिक कह सकते हैं। उदाहरण के लिए, हिंदी मे—प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के काव्य-मूल्य नैतिक और आचार्य रामचद्र शुक्ल के सास्कृतिक थे, हाली का स्थान निश्चय ही पहले उपवर्ग मे आता है—उनके काव्य-मूल्यो का आधार मूलत. नैतिक ही था। उनकी दृष्टि सुधार पर ही रुक जाती है—सस्कार और उन्नयन तक प्राय: नही पहुंचती। सुधार का मार्ग यम-नियम का मार्ग है, सस्कार का मार्ग आत्माभिव्यक्ति और आत्म-शुद्धि का मार्ग है। हाली के व्यक्तित्व और युग दोनो की परिधि सुधार तक ही सीमित थी।

काव्य का माध्यम

छंद कविता का परंपरागत माध्यम है—किंतु उनकी अनिवार्यता के विषय मे प्राय. मतभेद रहा है। हाली का मत इस प्रसंग मे सर्वथा सतुलित और विवेक-सम्मत है :

कविता के लिए वज्न (मात्रा-अनुपात अथवा छद) एक ऐसी वस्तु है जैसे राग के लिए बोल। जिस प्रकार राग अपने-आप मे शब्दो पर आश्रित नही है उसी प्रकार कविता निजी रूप मे वज्न (छंद) पर निर्भर नही है। इसके लिए जैसे अंगरेजी मे दो शब्द प्रचलित हैं—एक पोयट्री, और दूसरा वर्स, उसी प्रकार हमारे यहा भी दो शब्द प्रयुक्त होते हैं—एक 'शेर' और दूसरा नज्म'। और जिस प्रकार उनके यहा वज्न का बंधन पोयट्री के लिए नही, अपितु वर्स के लिए है उसी प्रकार हमारे भी बंधन शेर मे नही, नज्म मे अपेक्षित होना चाहिए।" (पृ० ३६)

उपर्युक्त अभिमत का विश्लेपण हम इस प्रकार करते हैं :

शेर = पोयट्री =कविता
नज्म = वर्स =पद्य

छंद पद्य का अनिवार्य माध्यम है, अर्थात् वह भेदक तत्त्व है जो पद्य को गद्य से पृथक् करता है। कविता के लिए वह अनिवार्य नही है—कविता अपने शुद्ध रूप मे छंद पर आश्रित नही है : उदाहरण के लिए, अरबी मे क़ुरान शरीफ का माध्यम गद्य है, परंतु उसकी गणना काव्य के अंतर्गत होती है। परतु, अनिवार्य न होने पर भी छंद कविता के लिए उपयोगी अवश्य है, उससे "कविता का गुण और प्रभाव दुगुना हो जाता है।" इस संदर्भ मे हाली के मत का साराश यह है "यद्यपि कविता वज्न पर निर्भर नही है और प्रारंभ मे वह चिरकाल तक इस आभूषण से वंचित रही है, परतु वज्न से निस्सदेह उसका प्रभाव अधिक तीव्र और मंत्र अधिक सफल हो जाता है।" (पृ० ३७)

यह निश्चय ही विवाद का प्रश्न है—यूरोप के आलोचको मे अरस्तू से लेकर रिचर्ड्स तक इस विषय मे मत-वैविध्य रहा है। अरस्तू का मत वही है जो प्राचीन अरबी विद्वानो का था—अर्थात् कविता का माध्यम पद्य और गद्य दोनो ही हो सकते हैं। परवर्ती आलोचको मे सिडनी, कोलरिज, रस्किन आदि ने स्पष्ट रूप से छद को कविता का अनिवार्य माध्यम मानने से इनकार किया है :

सिडनी : छंद कविता का अलकार मात्र है, कारण (कारणभूत तत्त्व) नही है।

कोलरिज : सर्वश्रेष्ठ काव्य की सत्ता छद के बिना भी हो सकती है।

इसके विपरीत ड्राइडन, डॉ० जॉन्सन, कार्लायल, स्टुअर्ट मिल आदि ने अत्यंत विश्वासपूर्वक छद की अनिवार्यता की घोषणा की है :

ड्राइडन : कविता भावपूर्ण तथा छदोबद्ध भाषा मे प्रकृति का अनुकरण है।

स्टुअर्ट मिल : जब से मानव मानव है, तभी से सब गहन और स्थायी भाव लययुक्त भाषा मे ही अभिव्यक्त होते आये है—भाव जितना ही गहन होता है, लय उतनी ही विशिष्ट एवं सुनिश्चित हो जाती है।

पश्चिम मे यह विवाद आज भी चल रहा है और उसकी प्रतिध्वनि हमारे देश मे भी सुनाई पड जाती है। एक ओर वाल्ट ह्विटमैन और उनके अनुयायियो का मत छद की अनिवार्यता के विरुद्ध है—'नई कविता' सगीत और कविता को दो पृथक् कलाए मानकर कविता के लिए सगीत की अनिवार्यता का स्पष्ट शब्दो मे निषेध करती है। दूसरी ओर रिचर्ड्स जैसे मनीषी छद का कविता के साथ मनोवैज्ञानिक सबध मानते हैं।

सस्कृत काव्यशास्त्र मे यह प्रश्न कभी इस रूप मे सामने नही आया। आरंभ से ही वैदिक छदो और अनुष्टुप के सगीत की समृद्धि का अभ्यस्त होने पर भी भारतीय आचार्य ने काव्य को गद्यपद्यमय ही माना है : गद्यपद्यमय काव्यम्। यहा छद और अलकार का अत्यधिक महत्त्व हो जाने पर भी छद का काव्य-लक्षणो मे अतर्भाव नही हुआ। परवर्ती साहित्य मे यद्यपि गद्यकाव्य की रचना प्राय निश्शेष हो गई थी, फिर भी पद्य की अनिवार्यता काव्य के लिए मान्य नही हुई। पंडितराज जैसे सगीत-रसिक आचार्य ने भी 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द' को ही काव्य माना, पद्य को नही।

कविता और छंद के पारस्परिक संबंध के विषय मे आज विशेष मतभेद नही रह गया। केवल पद्य या नज्म कविता नही है; यह मत निर्विवाद है। कुछ-एक काल-खडो को छोडकर जब कि काव्य-रूढिया अत्यधिक जटिल हो गई थी—और ऐसा समय प्रत्येक साहित्य के इतिहास मे कभी-न-कभी अवश्य आया है—पद्य और कविता मे भ्राति के लिए स्थान कभी नही रहा। किंतु प्रश्न दूसरा है · क्या छंद के बिना कविता की स्थिति सभव है? इसका समाधान भी आज प्राय. हो चुका है। आज कविता और काव्य मे थोडा भेद हो गया है। काव्य यदि रस के साहित्य या ललित साहित्य का पर्याय है तो कविता उसका एक विशिष्ट रसात्मक भेद है—और यदि काव्य कविता (शेर या शायरी) का पर्याय है तो वह स्वयं रस के साहित्य (बेले लेत्र) का एक भेद है। वास्तव मे प्राचीन काव्यशास्त्र मे काव्य का रस के साहित्य या सर्ज-नात्मक साहित्य (बेले लेत्र) के अर्थ मे प्रयोग हुआ है, इसीलिए वह गद्यपद्यमय है और उसमे उपन्यास तथा नाटक आदि का सहज समावेश है। आज यदि वह पोयट्री (शायरी) का पर्याय माना जाय तो नाटक और उपन्यास उसकी परिधि मे नही आ सकते, नाटककार और उपन्यासकार आज कवि सज्ञा का अधिकारी नही रह गया। सरस नाटक अथवा कथा काव्यमय या कवित्वमय हो सकती है, किंतु कविता नही। साराश यह है कि जिस प्रकार कला के विभिन्न रूप—चित्र, सगीत, काव्य आदि—माध्यम के भेद से ही अपने विशिष्ट रूप को प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार रस के साहित्य के विभिन्न रूप भी अपने-अपने माध्यम के आधार पर ही परस्पर भिन्न होकर स्वत्व-रक्षा कर सकते हैं। कविता रस के साहित्य का अतिशय रसात्मक रूप है और अतिशय रसात्मक स्थिति मन की अतिशय उच्छ्वसित अवस्था का ही नाम है। मन का उच्छ्वास श्वास के आरोह-अवरोह मे व्यक्त होता है और वही लय है। यही लय शब्द पर आरूढ होकर छद बन जाती है। इसी मनोवैज्ञानिक तर्क के आधार पर स्टुअर्ट मिल और रिचर्ड्स ने कविता और छंद का नित्य सबध माना है। इस प्रकार कविता या शेर रस के साहित्य का वह अतिशय रसात्मक भेद है जिसका माध्यम छद है।

हाली ने इस तथ्य को स्वीकार नही किया। इसके कई कारण हैं। एक कारण तो यही है कि हाली के समय मे उर्दू-कविता मे छद, तुक आदि की जकडबदी इतनी अधिक हो चली थी कि काव्य की आत्मा की ही उपेक्षा हो रही थी। इस विकृति की प्रतिक्रिया स्वभावतः यह हुई कि हाली जैसे सुधारवादी आलोचक को छंद और तुक पर ही प्रहार करना पडा। दूसरे, हाली का युग पाश्चात्य साहित्य के साथ सपर्क का युग था—और हाली उन प्रगतिशील विचारको मे थे जो पश्चिम के प्रभाव को अपनी कौम के उत्कर्ष के लिए अत्यत लाभकारी मानते थे। अत उन्नीसवी शती की पाश्चात्य काव्य-मान्यताओ को उन्होने आग्रह के साथ स्वीकार किया। तीसरे, कवित्व और कविता का भेद उस समय इतना स्पष्ट भी नही हुआ था जितना कि आज है। अतः उन्होने एक अतिवाद का निराकरण करने के लिए दूसरे अतिवाद का आश्रय लिया।

छद के साथ तुक (काफिया) का प्रश्न भी सबद्ध है। तुक का क्षेत्र निश्चय ही सीमित है क्योंकि विश्व की सभी भाषाओ की छद-योजना मे तुक का विधान नही है।

जहां नही है वहा तो ठीक ही है—जैसे संस्कृत के छांदस सगीत मे तुक का कोई महत्त्व नही है। किंतु हिंदी, उर्दू, अंगरेजी आदि भाषाओं मे जहां ऐसी व्यवस्था है, वहां तुक या अंत्यानुप्रास का अपना महत्त्व है और काव्य-माध्यम की सौंदर्य-सज्जा मे—अभि-व्यंजना के सगीतशिल्प की रचना मे—उसके योगदान का निषेध नहीं किया जा सकता। हाली ने इस विषय मे भी सामान्य विवेक का परिचय दिया है—"यद्यपि तुक भी वज्न की तरह कविता के सौंदर्य में वृद्धि करती है, जिससे कि उसका सुनना कानो को अत्यत प्रिय लगता है और उसके पाठ से जिह्वा अधिक आनंद प्राप्त करती है, किंतु तुक और विशेषकर ऐसी—जैसे कि ईरान के कवियो ने उसे अत्यत कठोर बंधनो मे जकड़ रखा है—कवि को निस्सदेह उसके कर्तव्य-पालन से रोकती है। जिस प्रकार शब्दालंकारो की पाबंदी अर्थ की हत्या कर देती है उसी प्रकार, अपितु उससे कहीं अधिक, तुक का बंधन भावाभिव्यक्ति मे बाधा डालता है।" अपने पक्ष मे उन्होंने दो-एक तर्क दिये हैं जो निश्चय ही विवेक-पुष्ट हैं :

१. सामान्यत भाव पहले आता है और फिर भाव के अनुकूल शब्द-रचना करनी पडती है; किंतु कविता मे तुक का प्राधान्य हो जाने पर उसके उपयुक्त विचार की व्यवस्था करने के लिए ऐसे शब्द जुटाए जाते हैं जिनके अतिम भाग मे निर्धारित तुक स्थान प्राप्त कर सके।—निश्चय ही यह स्वाभाविक रचना-क्रम का विपर्यय है।

२. काव्य-रचना मे तुक की वही स्थिति है जो वस्त्र मे काट की। वस्त्र का उद्देश्य शरीर का सुख और संरक्षण है, सुदर काट आकर्षण उत्पन्न कर उसकी पूर्ति में सहायक होती है; किंतु यदि काट का महत्त्व इतना बढ जाय कि वस्त्र का मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जाय, तो यह आकर्षण साधक के बदले बाधक बन जायेगा।

अत हाली का स्पष्ट मत है कि छंद और तुक दोनो कविता के मूल तत्त्व नही हैं।

अंगरेजी साहित्य मे पद्रहवी शती से लेकर अठारहवी-उन्नीसवी शती तक तुक के विषय मे तीव्र विवाद रहा है। सिडनी, डेनिअल, ड्राइडन आदि ने जहा तुक का समर्थन किया है, वहां बैब, कैम्पियन, मिल्टन आदि ने उसका घोर विरोध किया है। अंत्यानु-प्रास के पक्ष मे प्राय. चार-पांच युक्तिया दी गई हैं .

१ तुकात का प्रयोग स्मृति का सहायक होता है और श्रोता स्मृति के द्वारा कविता के स्थायी प्रभाव को ग्रहण करता है। अत तुकात कविता के प्रभाव को सहज-ग्राह्य बनाने मे सहायक होता है।

२. तुकांत के प्रयोग से पद-बंध मे चारुता आती है—प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर जड़ जाता है।

३. शब्दगत सामजस्य की स्थापना अपेक्षाकृत सरल हो जाती है; अतः संगीत-गुण की वृद्धि होती है।

४. शब्दगत बलाबल से अर्थगत बलाबल में सहायता मिलती है।

५. कल्पना-विलास मे संयम आता है।

विरोधी पक्ष के तर्क इस प्रकार है :

१. तुकात का प्रयोग भावना और कल्पना के लिए बधन बन जाता है।

२ भाषा के प्रयोग मे कृत्रिमता आती है।

३ भावाभिव्यक्ति तुकात की वशवर्तिनी बन जाती है।

४. लय का वैचित्र्य नष्ट हो जाता है—उसमे एक प्रकार की जडता और एकरसता उत्पन्न हो जाती है।

हाली इतनी गहराई मे नही गए—उन्होने तुक के साधारण गुण-दोषो का विवेकपूर्वक सतुलन करते हुए यह अभिमत प्रकट कर दिया है कि यद्यपि तुकात-प्रयोग से कविता के सौदर्य मे वृद्धि होती है, फिर भी वह कविता का मूल तत्त्व नही है और उसका प्राधान्य निश्चय ही कवित्व के उत्कर्ष मे बाधक होता है।

काव्य-भाषा का स्वरूप

हाली ने काव्य-भाषा का भी विस्तार से विवेचन किया है। उनके मतव्य का सार यह है ·

प्रकृति की दृष्टि से काव्य की भाषा बोलचाल की भाषा से मूलतः भिन्न नही होनी चाहिए। "साराश यह है कि पद्य या गद्य, दोनो मे रोजमर्रा का ध्यान रखना अत्यत आवश्यक है।" (पृ० १७३)

इसका अर्थ यह हुआ कि सामान्य प्रयोगो और मुहावरो का काव्य-भाषा के लिए भी यथावत् महत्त्व है प्रयोग और व्याकरण की स्वच्छता उनके लिए भी आवश्यक है।

किंतु गुण की दृष्टि से काव्य-भाषा का अपना वैशिष्ट्य होता है उसका स्तर सामान्य भाषा—बातचीत—से भव्यतर होता है, रूपक, लक्षणा, सकेत (व्यजना) और प्रतीक आदि के वैभव के कारण वह सामान्य व्यवहार या गद्य की भाषा से अधिक समृद्ध होती है।

फिर भी काव्य-भाषा का अर्थ कृत्रिम और रूढ भाषा नही है। काव्य-भाषा मे सजीवन-शक्ति और ताजगी होनी चाहिए और उसका रूप विकासशील होना चाहिए। पर विकास की प्रक्रिया मे सदैव सावधानी बरतने की आवश्यकता है। "जहा तक संभव हो सके, नई शैलिया कम अगीकार की जाय और अपरिचित शब्दो का प्रयोग कम किया जाए, किंतु अज्ञात रूप से धीरे-धीरे उन्हे बढाते रहे और अधिकाश रचनाओ की नीव पुरानी शैलियों और सामान्य शब्दो तथा मुहावरो पर रखे"। (पृष्ठ १६०) इसका विशेष कारण है : 'यह समव है कि किसी राष्ट्र के विचारो मे एकाएक बहुत बडा परिवर्तन और विस्तार आ जाए, किंतु भाषा एकाएक विस्तृत नहीं हो सकती।"

मैं समझता हू, हाली ने इस प्रसंग मे और भी अधिक विवेक का परिचय दिया है। उर्दू-साहित्य मे भाषा का बडा महत्त्व रहा है—भाषा की सफाई, चुस्ती, मुहावरा, प्रयोग-सौष्ठव, वक्रता और लक्षणा-व्यंजना के चमत्कार पर जितना बल उर्दू कलाकार देता आया है उतना हिंदी, बगला तथा अन्य भारतीय भाषाओं का नही।

इसका परिणाम अच्छा भी हुआ और अतिचार होने पर बुरा भी · एक ओर जहा भाषा शैली का अत्यधिक परिमार्जन हुआ वहा दूसरी ओर बात मे से बात निकालने की व्यग्रता मे मुहावरा और रोजमर्रा की बदिशो के कारण भाषा गतिरुद्ध और प्रयोग-रूढ हो गई। हाली का युग रीतिकाल का अतिम चरण था जबकि जीवन और साहित्य मे सर्वत्र गतिरोध था। उन्होने रोग का उचित निदान और सही उपचार किया।

स्वदेश-विदेश के मनीषियो के विवेचन के फलस्वरूप काव्य-भाषा के विषय मे कुछ तथ्य आज सर्वथा स्पष्ट हो चुके है ·

काव्य-भाषा का आधार व्यवहार की जीवत भाषा ही हो सकती है; काव्य जीवन की ही अभिव्यक्ति है, अत· उसकी माध्यम भाषा भी जीवन की भाषा से मूलत भिन्न नही हो सकती।

किंतु सामान्य व्यवहार की भाषा मे और काव्य की भाषा मे, उधर गद्य की भाषा मे और काव्य की भाषा मे भी, निश्चय ही भेद होता है। कविता जीवन के सामान्य क्षणो की नही वरन् उच्छ्‌वसित क्षणो की वाणी है, अत· उसकी अभिव्यक्ति की माध्यम-भाषा भी सामान्य न होकर उच्छ्‌वसित ही होगी। काव्य-भाषा का यह उच्छ्‌वास ही उसका वैशिष्ट्य है जो गद्य की भाषा से, सामान्य व्यवहार की भाषा से, उसे पृथक् करता है।

यह भेद रूप का न होकर गुण या रग का होता है। शास्त्र मे शब्द-अर्थ के अनेक सबंधो का विश्लेषण किया गया है—इनमे से कुछ सबध ऐसे हैं जो भाषा के प्रयोग मात्र के लिए अनिवार्य है—व्यवहार, गद्य और पद्य मे—सर्वत्र ही उनकी स्थिति अनिवार्य है; किंतु उनके अतिरिक्त कुछ सबध ऐसे भी हैं जो काव्य मे ही अर्थात् उच्छ्‌वास की स्थिति मे—राग और कल्पना की उत्तेजना की स्थिति मे—उन सामान्य किंतु अनिवार्य संबंधो के भीतर ही घटित होते है। ये सबध गुणात्मक होते हैं—रूप के अतर्गत घटित होने पर भी रूपात्मक नही होते। जिस प्रकार रग आदि के गुण रूप के अतर्गत होने पर भी रूप से भिन्न होते है, इसी प्रकार काव्य-भाषा के वक्रता आदि गुण व्याकरणिक विधान के अतर्गत रहते हुए भी उससे भिन्न होते है।[1]

हाली के भाषा-विवेचन का साराश भी प्राय इससे बहुत भिन्न नही है। काव्य-भापा की स्वच्छता, विकसन-क्षमता, व्यावहारिकता आदि पर बल देते हुए भी वे उसकी समृद्धि ही नही, वरन् मत्र-शक्ति के भी उतने ही कायल हैं—"और उस तिलिस्म को जो पुराने कवि बाध गए है कभी टूटने न दें, अन्यथा वह बहुत शीघ्र देखेगा कि उसने अपने मत्र मे से वही अक्षर भुला दिये है जो मन को वशीभूत करते हैं।" (पृ० १६०-ए)

१ सस्कृत काव्यशास्त्र मे इस विषय का अत्यत स्पष्ट विवेचन किया गया है। भोज ने बारह प्रकार के शब्दार्थ-सबध माने हैं। इनमे प्रथम आठ तो सभी प्रकार के भापा-प्रयोग के लिए अनिवार्य हैं—ये प्राय. व्याकरणिक सबध है। इनके अतिरिक्त चार विशेष सबध है दोपहीन, गुणोपादपान, अलकार-योग, रसावियोग—जो काव्य या साहित्य मे घटित होते हैं। यह शब्दावली आज शास्त्ररूढ हो गई है, अत इसका उतना उपयोग नही रह गया, किंतु इसका मूल अर्थ आज भी यथावत् मान्य है।

काव्य और अलंकार

अलंकार के प्रति हाली का रुख और भी कड़ा है :

१. "सनाया और बदाया (अलंकार और कलापूर्ण शैली) पर कविता की बुनियाद रखने से प्रायः अर्थसूत्र हाथ में छूट जाता है और कविता में प्रभावोत्पादकता नहीं रहती, क्योंकि श्रोता यदि मन में यह समझ ले कि कवि ने काव्य-रचना में कृत्रिमता से काम लिया है और शब्दों के द्वारा अपने कौशल का प्रदर्शन करना चाहा है, तो इससे पद्य की प्रभावोत्पादकता नष्ट हो जाती है। अतः अलंकारों के प्रयोग से सब प्रकार की कविताओं में, और विशेषकर गजल में, सदैव बचना चाहिए।" (पृ० १७८)

२. "भोजन का वास्तविक गुण यह है कि स्वादिष्ट हो, ऐसा हो कि शरीर उसे आत्मसात् कर सके, सुगंध और रंग-रूप की दृष्टि से भी अच्छा हो। यदि इन सब बातों के अतिरिक्त चीनी के बर्तनों में खाया जाए तो और भी अच्छा है। यही हाल पद्य का है। पद्य का वास्तविक गुण यह है कि उसमें स्वाभाविकता और प्रभावोत्पादकता हो तथा शब्द और अर्थ की दृष्टि से वह साँचे में ढला हो। यदि इसके साथ उसमें कुछ शाब्दिक अलंकरण भी हो तो अच्छा है, अन्यथा उसकी कुछ आवश्यकता नहीं।" (पृ० १८०)

उपर्युक्त उद्धरणों में एक संकेत तो यह मिलता है कि अलंकार काव्य-शैली का प्राणतत्त्व अथवा अभिन्न अंग न होकर आभूषण मात्र है जिसका इच्छानुसार ग्रहण या त्याग किया जा सकता है, और दूसरा यह कि वह शोभावर्धक होते हुए भी कृत्रिम उपकरण है जिससे सहज आकर्षण की हानि भी हो सकती है। यह ठेठ सुधारवादी दृष्टिकोण है भारतीय जागरण-सुधार युग में रीति (उत्तरसामंतीय)-युगीन मूल्यों के प्रति जो तीव्र वितृष्णा उत्पन्न हो गई थी उसी का परिणाम यह दृष्टिकोण था। अत रीतिकालीन अलंकरण-प्रवृत्ति का उत्कट विरोध हुआ—अलंकार-मोह या अलंकार-प्रेम को नहीं, अलंकार-रुचि को ही विकृत मान लिया गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रतिक्रिया में भी एक प्रकार का अतिवाद था; तत्त्वरूप में न तो अलंकार काव्य-शैली का विभाज्य अंग है और न अलंकार-रुचि ही विकृति अथवा प्रदर्शन-वृत्ति की द्योतक है। जिस प्रकार अलंकार की अतिशय स्पृहा काव्य के लिए घातक है, इसी प्रकार अलंकार-त्याग की उत्कंठा भी, क्योंकि दोनों ही समान रूप से अस्वाभाविक हैं। अपने मूल रूप में अलंकार का अर्थ है शब्दार्थगत सौंदर्य, जो भावगत सौंदर्य का सहज माध्यम होता है। काव्य में यदि भाव का चमत्कार अनिवार्य है तो उसे अभिव्यक्त करने के लिए शब्द-अर्थ को भी चमत्कृत होना पड़ेगा—प्राण के उच्छ्वास के साथ वाणी भी स्वभावतः उच्छ्वसित हो जाएगी और वाणी का उच्छ्वास ही तो अलंकार है। अतः तात्त्विक रूप में अलंकार की स्थिति वैसी हेय नहीं है जैसी कि हाली ने मानी

है। माना कि अलंकार काव्य का स्वाद नही है, वह उसका पोषक रस भी नही है; किंतु सुगध और रग-रूप के समतुल्य उसकी स्थिति अवश्य है अलकार—चाहे वह शाब्दिक ही क्यो न हो, केवल पात्र (बरतन) नही है। वास्तव मे हाली का यह अभिमत प्रतिक्रियाजन्य होने के कारण अतिरजित एव असतुलित हो गया है।

काव्य के भेद

काव्य के केवल चार प्रमुख भेदों का हाली ने विस्तार से विवेचन किया है और यह विवेचन भी शास्त्रीय न होकर व्यावहारिक ही अधिक है, अर्थात् हाली ने उर्दू मे प्रचलित इन चार काव्य-रूपो की समीक्षा करते हुए उनमे आवश्यक सुधार के सकेत दिये हैं। इस प्रकार उनका उद्देश्य स्वरूप का विवेचन न होकर सशोधन ही अधिक है।

१ गजल—गजल उर्दू-काव्य का सर्वाधिक प्रसिद्ध और सरस भेद है। उसका स्थायी भाव प्रेम है जिसमे रहस्यानुभूति, मस्ती, रिंदी, धार्मिक विद्रोह आदि भावनाए सचारी रूप मे ओत-प्रोत रहती हैं। विषय के अनुरूप उसका एक विशिष्ट काव्य-रूप भी है जो मतला, मकता, गिरह, काफिया और रदीफ मे परिबद्ध रहता है। हाली के समय तक अति-प्रचलन के कारण उर्दू गजल की विषयवस्तु और शैली दोनो ही प्राय. रूढ हो गई थी और गजल एक निर्जीव काव्य-रूप बनकर रह गई थी। हाली ने इस रूढि पाश को छिन्न-भिन्न करने के लिए गजल की विषयवस्तु और शैली दोनो के सशोधन और विस्तार की आवश्यकता पर बल दिया है। उनका परामर्श है कि आधुनिक राष्ट्रीय जीवन को ध्यान मे रखकर नवीन उदात्त भावनाओ को भी गजल मे जगह मिलनी चाहिए जिससे नवप्राणो का सचार हो, इसी प्रकार शैली मे भी काफिया और रदीफ की मुश्किल जमीन के प्रति मोह त्याग कर सरलता, स्फीति और लोच-लचक पैदा करने के लिए सिफारिश की गई है। विषय के क्षेत्र मे हाली का मत है कि जीवत अनुभूति को प्रमाण मानकर कवि को राग की परिधि के भीतर वैचित्र्य उत्पन्न करना चाहिए और शैली के क्षेत्र मे कृत्रिम अलकार तथा चमत्कार का त्याग कर प्राणवती भाषा, लाक्षणिक अलकार और नूतन बिबावली का प्रयोग करना चाहिए।

कसीदा और मरसिया—कसीदा और मरसिया दोनो ही एक प्रकार से प्रशस्ति-काव्य के भेद हैं। एक मे जीवित की प्रशस्ति रहती है और दूसरे मे मृत की जिसमे करुण रस का सचार अनिवार्यत हो जाता है। प्रशसा और निंदा कसीदा के आधार हैं। कविता जीवन की आलोचना है, अत मानव और प्रकृति के गुण-दोषो की समीक्षा कविता का आवश्यक अंग है। इस प्रकार कसीदा एक आवश्यक काव्य-रूप है और उसका महत्त्व इस बात पर निर्भर है कि प्रशसा अथवा निंदा का आधार सत्य हो, उसकी प्रेरक भावना उदात्त हो, उसके पीछे हार्दिक एव जीवत अनुभूति का बल हो। स्वार्थ तथा राग-द्वेष से प्रेरित निंदा-स्तुति तथा आश्रयदाताओ की चाटुकारिता काव्य की आत्मा को मलिन कर देती है। हाली ने उर्दू के कसीदा-लेखकों को

पाश्चात्य काव्य से प्रेरणा ग्रहण करने का परामर्श दिया है—जिसमें राष्ट्रीय वीरो और लोकनायको के उदात्त गुणों का हार्दिक स्तवन मिलता है ।

मरसिया का अंगी रस करुण है, किंतु शोक पर आधृत होते हुए भी उसका कलेवर उदात्त और नैतिक भावो से परिपुष्ट होता है । उर्दू का मरसिया-साहित्य इस दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है—उसका शोक केवल स्त्रैण विलाप से आर्द्र नही है, उसमे नैतिक आवेश और उदात्त जीवन-प्रेरणाओ की शक्ति है । करुणा का आलबन सामान्य व्यक्ति न होकर असाधारण गुणो से सपन्न कोई महापुरुष होता है जिसका पतन व्यक्ति की हानि न होकर देश और जाति की हानि का प्रतीक होता है । स्वभावतः उसकी करुणा मे आर्द्रता के साथ-साथ शक्ति और प्राणवत्ता भी रहती है ।

मसनवी—हाली ने मसनवी को सर्वोत्तम काव्य-रूप माना है : "साराश यह कि जितने भी काव्य-रूप फारसी और उर्दू मे प्रचलित हैं, उनमें कोई काव्य-रूप क्रमबद्ध विषयो के वर्णन के लिए मसनवी से उत्तम नही (पृ० २००) ।" उनका तर्क यह है कि मसनवी मे गजल, कसीदा और मरसिया के काव्य-गुणो के लिए भी पूर्ण अवकाश है और उनके अतिरिक्त और भी कई गुण उसमे विद्यमान रहते हैं । वास्तव मे मसनवी प्रबंध-काव्य या आख्यान-काव्य का ही रूप-भेद है और हाली का तर्क वैसा ही सीधा तर्क है जैसा वामन ने निबद्ध काव्य के पक्ष मे दिया है : "इन दोनो की सिद्धि माला और उत्तस की भाति क्रम से होती है—अर्थात् अनिबद्ध (मुक्तक) रचना मे सिद्धि प्राप्त कर लेने के उपरात ही निबद्ध (प्रबंध) की रचना मे सफलता मिलती है, जिस प्रकार माला गूथने के बाद ही उत्तस (फूलो का मुकुट) गूथना सभव है ।" (काव्यालंकारसूत्र, १।३।२८) । इसमे सदेह नही कि सब मिलाकर कदाचित् यह निष्कर्ष अशुद्ध नही है, किंतु फिर भी इस प्रकार की तर्क-पद्धति सर्वथा स्थूल है और प्रबंध या आख्यान काव्य मुक्तक का विस्तार मात्र नही है । यह तो मान्य है कि उत्कृष्ट मसनवी मे गजल का तगज्जुल (प्रगीत-वैभव) हो, किंतु मसनवी की आत्मा और गजल की आत्मा एक नही हो सकती ।—मसनवी मे गजल की तीव्रता और एकाग्रता असभव है, एक का विकास विस्तार मे होता है, दूसरे का गहराई मे : दोनो की रूपान्विति सर्वथा भिन्न है ।

हाली ने मसनवी के गुणो का विस्तार से वर्णन-विवेचन किया है । उनके अनुसार मसनवी के गुण इस प्रकार हैं :

१. सबद्धता ।
२. वर्णन-क्रम—पूर्वापर-क्रम ।
३. घटना-वर्णन की संभाव्यता—अलौकिक घटनाओ को भी विवेकसम्मत रूप मे प्रस्तुत करना ।
४. प्रसंगानुकूल वर्णन ।
५. यथार्थता तथा स्वाभाविकता ।
६. अंतर्विरोध का अभाव ।
७. अतिप्राकृत एव अविश्वसनीय घटनाओ का बहिष्कार ।

८. वस्तु-वर्णन मे अनुपात : महत्त्वपूर्ण तथ्यो को उभारकर सामने रखना, नाजुक प्रसगो को सकेत से प्रस्तुत करना, आदि ।
६. नैतिक स्वर का प्राधान्य : अश्लीलता, ग्राम्यत्व आदि दोषो का बहिष्कार ।

हाली की आलोचना—शक्ति और सीमा

जैसा कि मैं सकेत कर चुका हू, हाली वास्तव मे साहित्य-स्रष्टा एव साहित्य-मर्मज्ञ की अपेक्षा साहित्य-नेता अधिक थे । उनकी आलोचना का प्रयोजन मूलत साहित्य के मर्म का उद्घाटन, सृजन और आस्वादन के रहस्यो का विश्लेपण नही था, उर्दू-साहित्य का सुधार-परिष्कार तथा नवीन राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल उसका विकास ही उनका स्पष्ट लक्ष्य था । अत उनकी सैद्धातिक तथा व्यावहारिक दोनो प्रकार की आलोचना के आधारभूत मूल्य शुद्ध शास्त्रीय-साहित्यिक न होकर नैतिक-साहित्यिक है । काव्य के प्रति मूलत दो दृष्टिकोण मिलते है—(१) काव्य की मूल प्ररणा आत्माभिव्यक्ति है और उसका प्रयोजन आनद है, (२) काव्य जीवन की समीक्षा है और उसका प्रयोजन लोक-मगल है । हाली निश्चय ही दूसरे मत के अनुयायी हैं । अतएव हाली की शक्ति और सीमा का मूल्याकन इसी काव्य-मत की परिधि के भीतर करना है ।

इस दृष्टिकोण की शक्ति यह है कि इसका आधार विवेक और नीति पर स्थित है । इसमे प्रेरित या अनुशासित साहित्य जीवन के साथ प्रत्यक्ष रूप से संबद्ध रहता है और सत् के ग्रहण तथा असत् के त्याग की प्रेरणा देकर जीवन के उत्कर्ष मे सहायक होता है । हाली ने अपनी कविता और आलोचना द्वारा इसी उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास किया, अर्थात् कौम के चारित्रिक तथा सामाजिक विकास-सबधी आदोलन मे साहित्य के माध्यम से योगदान का सफल प्रयत्न किया । इससे उर्दू साहित्य को नवीन दिशा मिली—रीतिकाल की रुग्ण विलासमयी परपराओ का उच्छेद और नवीन राष्ट्रीय-सामाजिक चेतना का उन्मेष हुआ । काव्य की विषयवस्तु के अतर्गत शृगार, राजप्रशस्ति, हास्य-व्यंग्य, कृत्रिम-अकृत्रिम रहस्यवाद, नीति-उपदेश आदि रूढ विषयो के अतिरिक्त युगधर्म के अनुकूल राष्ट्रीय-सामाजिक जागरण और उससे सबद्ध ऐतिहासिक प्रसगो का समावेश हुआ, उसी प्रकार शैली के अतर्गत भी जीर्ण, प्रयोग-विजडित शब्दावली, कृत्रिम अलकार-विलास, छद और तुक के सस्ते चमत्कार आदि के स्थान पर जीवंत शब्दावली का प्रयोग, भाषा की स्वच्छता, नवीन व्यावहारिक उपमान और प्रतीक आदि के प्रति आग्रह वढा । इसका शुभ प्रभाव यह हुआ कि उर्दू काव्य का गत्यवरोध भग हुआ और विकास का पथ प्रशस्त हुआ । जीवन और साहित्य का घनिष्ठ सबध स्थापित हुआ, मनोविलास और अनुरजन के स्थान पर समाज-कल्याण काव्य का उद्देश्य बना और उर्दू काव्य नवीन युग-चेतना की अभि-व्यक्ति मे तत्पर हुआ ।

सीमा इस दृष्टिकोण की यह है कि कल्याण का अर्थ प्राय सकुचित और उसका रूप स्थूल हो जाता है । प्रत्यक्ष हानि-लाभ का आकलन इतना प्रमुख हो जाता है

कि हृदय के वैशद्य और आत्मा की विश्रांति जैसी स्थायी सिद्धियों की उपेक्षा हो जाती है। भौतिक कल्याण का नीतिशास्त्र इतना प्रबल हो जाता है कि आत्मास्वाद का अमृत तत्त्व गौण बन जाता है। वास्तव मे जीवन की किसी भी उच्चतर भूमिका पर उपयोगितावाद का महत्त्व सीमित और अस्थायी ही रहता है। काव्य की भूमिका तो और भी ऊची है, वहा पहुचकर उपयोगितावाद की सीमाए और भी व्यक्त हो जाती हैं। हाली के काव्य-दर्शन और आलोचना-पद्धति की ये सीमाएं सर्वथा स्पष्ट हैं। उनके सिद्धात-निरूपण और काव्य-विवेचन दोनो ही उपर्युक्त धारणा की पुष्टि करते हैं · वे काव्य के मर्मी इतने नही है जितने कि काव्य के नीतिकार है। व्यावहारिक गुण-दोषो से परे जो काव्य का अमृत तत्त्व है, जिसकी सिद्धि विवेकरत बुद्धि द्वारा नही वरन् साधारणीकृत 'भावना' द्वारा ही संभव है—वहा तक हाली की पहुंच नही है। इसीलिए हाली की मौलिकता अत्यत सीमित है—वे काव्य के किसी सर्वग्राही सिद्धात की उद्भावना नही कर सके। प्राच्य और पाश्चात्य काव्यशास्त्र की समरस भूमि तक भी वे नही पहुच पाये, अतः दोनो के समन्वय द्वारा उर्दू के लिए आधुनिक काव्यशास्त्र का निर्माण करने मे भी वे असमर्थ रहे। उनकी मौलिकता की सीमा व्यवहार और प्रयोग से आगे नही जा सकती—अत. अगरेजी के माध्यम से उपलब्ध नवीन काव्यादर्शो को अपने साहित्य के अनुरूप ढालकर इन काव्यादर्शों के प्रकाश मे अपने साहित्य के निरीक्षण-परीक्षण द्वारा वे एक नये सुधार-युग का सूत्रपात तो कर सके, किंतु अमर काव्य अथवा शाश्वत काव्य-दर्शन की रचना नही कर पाये। यह उनके युग की सीमा तो थी ही, उनकी अपनी प्रतिभा भी कदाचित् इससे आगे नही जा सकती थी।

टी० एस० इलियट का काव्यगत अव्यक्तिवाद

'साहित्य मे आत्माभिव्यक्ति' शीर्षक लेख लिख चुकने के थोडे ही दिन बाद एक दिन स्थानीय शनिवार-समाज मे टी० एस० इलियट के अव्यक्तिवादी काव्य-सिद्धात पर बहस छिड गई। इलियट के प्रायः मुख्य-मुख्य सभी आलोचनात्मक निबधो को मैं कई वर्ष पूर्व पढ चुका था और उनकी सगठित विचारधारा का मेरे मन पर बहुत-कुछ प्रभाव वर्तमान था। वास्तव मे उनके काव्य की अपेक्षा उनकी आलोचना ने ही मुझे सदैव अधिक प्रभावित किया है। परतु उनके इस मूल सिद्धात को मै न तो कभी पूरी तरह ग्रहण कर पाया हू और न स्वीकार ही। तब भी इलियट की धारणाओ को मन मे उजागर करने के लिए मैंने उनके निबंधो का अत्यंत जिज्ञासु भाव से, पूर्वाग्रह से मुक्त होकर, एक बार फिर मनन किया जिससे कि उनका आशय समझने मे कोई त्रुटि न रह जाय। अस्तु।

काव्य के स्रष्टा और आलोचक दोनो ही रूपो मे आधुनिक अगरेजी साहित्य के अतर्गत इलियट का अन्यतम स्थान है—उन्होने साहित्य मे रोमानी-भावगत मूल्यो के विरुद्ध प्राचीन वस्तुगत एवं तटस्थ दृष्टिकोण का समर्थन किया है। काव्य मे अव्यक्तिवाद का यही सिद्धात साहित्यशास्त्र के प्रति उनका विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण योग है। विवेचन करने से पूर्व इलियट की विचारधारा की भूमिका पर इसकी व्याख्या कर लेना केवल उचित ही नही अनिवार्य भी है।

इलियट के काव्य-सिद्धातो का सार-सग्रह हमे उनके प्रसिद्ध निबंध 'परपरा और वैयक्तिक प्रतिभा'[१] मे मिल जाता है। जीवन और साहित्य दोनो मे उनका दृष्टिकोण स्थिर परपरावादी है—धर्म मे वे कैथोलिक है—राजनीति मे राजभक्त, और साहित्य मे पुरातनवादी। उनकी दृष्टि मे किसी एक काल अथवा किसी एक व्यक्ति का साहित्य अपना पृथक् अस्तित्व नही रखता, सपूर्ण साहित्य अखड रूप है जिसमे परपरा की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती रहती है। अतीत और वर्तमान इसी अखड परपरा मे अनुस्यूत है—अतीत का तो वर्तमान पर प्रभाव पडता ही रहा है, वर्तमान भी अतीत को प्रभावित करता है। अपने पूर्ववर्ती के सस्कारो का उत्तराधिकारी होने के कारण वर्तमान उसका जन्मजात ऋणी है। यह तो स्पष्ट ही है, परंतु अपने नवोद्भूत अस्तित्व के लिए अतीत की शृखला मे स्थान बनाता हुआ वह उसमे

१ Tradition and Individual Talent

परिवर्तन भी तो करता है। इस प्रकार अतीत और वर्तमान अपृथक् ही हैं। इसी परपरा का निर्भ्रान्त ऐतिहासिक ज्ञान प्रत्येक कवि और आलोचक के लिए अनिवार्य है।[1] उसमे अतीत की अतीतता को ही नही वरन् उसके वर्तमान अस्तित्व को भी हृदयगत करने की क्षमता होनी चाहिए क्योकि किसी भी कवि का सदेश अपने मे पूर्ण नही है—उसका महत्त्व स्वतत्र नही है,[2] उसको समझने के लिए उसका पृथक् अध्ययन आवश्यक नही है, आवश्यक यह है कि उसको उसके पूर्ववर्ती कवियो की शृखला मे रखकर समझा जाय—उनसे उसका क्या सबध है, इस बात को स्पष्ट रूप से हृदयगत किया जाय। कवि के लिए अपनी चेतना का ज्ञान पर्याप्त नही है, उसको समाज, जाति और देश की अखड चेतना का ज्ञान होना चाहिए। यह जातीय चेतना सतत विकासशील है, काव्य या कला के प्राचीन या नवीन सभी प्रस्फुटन इसके अतर्गत आ जाते है। कहने का तात्पर्य यह है कि कवि को अपने अतीत की निर्भ्रान्त चेतना होनी चाहिए और उसे इस चेतना का जीवन-भर विकास करना चाहिए। इस प्रकार उसे परपरा के लिए अपनी वर्तमान स्थिति का उत्सर्ग करना पडता है। कलाकार का विकास वास्तव मे आत्मोत्सर्ग का, आत्म-निषेध का, एक अनवरत प्रयत्न है।[3] इस विवेचन के उपरात इलियट एक साथ अपने प्रसिद्ध अव्यक्तिवादी सिद्धात की स्थापना कर देते है—साहित्य (काव्य) आत्म की अभिव्यक्ति नही वरन् आत्म से पलायन है। साधारण व्यावहारिक-नैतिक अर्थ मे यदि किसी का व्यक्तित्व दूसरे से गुरुतर है तो इसका अर्थ यह कदापि नही हो सकता कि वह उसकी अपेक्षा अधिक सफल कवि और साहित्यकार भी है। सफल कवि होने के लिए यह आवश्यक नही है कि उसकी मानसिक शक्ति ही समृद्ध हो—आवश्यकता इस बात की है कि उसका मन अधिक-से-अधिक भावो और सवेदनाओ के समन्वय का अधिक-से-अधिक सफल माध्यम बन सके। सफल कवि मे दूसरो की अपेक्षा विचार, सवेदन, सग्राहकता आदि की शक्ति का आधिक्य अनिवार्य नही है—उसके लिए कला-सृजन की प्रेरणा और उसके प्रभाव मे भावो और सवेदनाओ को समन्वित करने की शक्ति ही अनिवार्य है। कला-सृजन की इस प्रेरणा के समय जो समन्वय होता है उससे कवि के व्यक्तित्व का कोई सबध नही है—इस समस्त प्रक्रिया मे उसका व्यक्तित्व सर्वथा पृथक् एव निर्विकार रहता है—जैसा कि किसी-किसी रासायनिक क्रिया मे होता है।[4] उदाहरण के लिए ऑक्सीजन और सल्फर डायोक्साइड से भरे किसी कमरे मे अगर आप प्लेटीनम का एक ततु डाल दें तो वे दोनो तो सल्फर-एसिड मे परिवर्तित हो जाएगे—परतु प्लेटीनम के ततु मे किसी प्रकार का विकार नही आएगा। कवि का मन इसी प्लेटीनम ततु के समान है जो उसकी अनुभूतियो को प्रभावित और समन्वित करता हुआ भी स्वय निर्विकार रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कलाकार जितना ही अधिक सफल होगा उतना

१. वही, पृ० १४
२ वही, पृ० १५
३. वही, पृ० १७
४. वही, पृ० २८

ही अधिक उसके भोक्ता और स्रष्टा रूपो मे अंतर होगा, और उतनी ही अधिक सफलता से उसका मन सामग्री रूप मे प्राप्त भावो और अनुभूतियो का ग्रहण कर उनको कला-रूप मे परिवर्तित कर सकेगा। सक्षेप मे इलियट की मान्यताए इस प्रकार है—

१. कवि का व्यक्तित्व और उसकी कृति दो भिन्न वस्तुए है। भोक्ता मन और स्रष्टा मन मे स्पष्ट अतर है। दोनो को किसी भी रूप मे एक कर देना भ्रामक है।

२ व्यक्तिगत भाव और काव्यगत भाव सर्वथा भिन्न हैं, काव्य मे हमे व्यक्तिगत अनुभूति न मिलकर काव्यगत भाव ही प्राप्त होता है। काव्यगत भाव की सृष्टि के लिए यह भी अनिवार्य नही है कि स्रष्टा ने उसके भौतिक रूप का अनुभव किया ही हो। काव्यगत भाव अनेक प्रकार के संवेदनो और अनुभूतियो का समन्वय होता है जिसके मूल से व्यक्तिगत अनुभूति नही वरन् कला-सृजन की उत्कट प्रेरणा ही सदैव वर्तमान रहती है।

३. कला-सृजन के समय कलाकार तटस्थ रहता है—सृजन-प्रेरणा के फल-स्वरूप उसकी धारणाए, सवेदनाए तथा अनुभूतिया उसके मन मे समन्वित हो जाती हैं। ऐसा आप-से-आप एक विचित्र और अप्रत्याशित रीति से होता है।

४. इस प्रकार कलाकार विशिष्ट व्यक्तित्व न होकर एक माध्यम मात्र है। वह कला मे अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नही करता, वरन् उसका दमन, उत्सर्ग अथवा निषेध करता है।

विवेचन

इलियट के उपर्युक्त सिद्धात आधुनिक साहित्य की अभिव्यक्तिवादी प्रवृत्तियो की प्रतिक्रिया का परिणाम हैं—मुझे स्मरण है कि अपने एक लेख मे उन्होने यह शिकायत की है कि आधुनिक आलोचना दर्शन है, विज्ञान है, मानव-शास्त्र है, मनो-विज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र आदि तो सब-कुछ है, परतु साहित्य बहुत कम रह गई है। इसमे संदेह नही कि मनोविश्लेषण के अनुसधानो के फलस्वरूप आधुनिक आलो-चना मे कलाकार के व्यक्तित्व ने कृति को एक प्रकार से पूर्णत आच्छादित कर दिया है—ऐसी आलोचनाओ मे आलोचक कृति को तो एक ओर रख देता है और प्रतीको के काटे फेंककर कलाकार के मन के अतल गह्वरो मे पडे हुए रहस्यो को पकडने का प्रयत्न करता रहता है। इलियट ने इस अतिवाद के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई है, और मैं समझता हू कि उनका यह विरोध काफी हद तक ठीक भी है। आलोचक अपने मूल रूप मे एक विशेष रसग्राही पाठक ही तो है, और उसकी आलोचना उस रस को सहृदय-सुलभ बनाने का प्रयत्न है। यदि आलोचक कलाकार के व्यक्तित्व के निश्चित और अनिश्चित तथ्यो मे इतना उलझ जाता है कि कृति सर्वथा उपेक्षित हो जाती है, तो उसकी आलोचना किसी मनोविश्लेषण-ग्रथ का एक अध्याय हो सकती है, परतु काव्यालोचन की दृष्टि से वह अपने कर्तव्य से च्युत हो जाती है। यहा तक तो उनका आक्षेप संगत है, और वास्तव मे मनोविश्लेषण की रौ मे कलाकृति का महत्व जिस

प्रकार बहा जा रहा था वह अनिष्टकर था—उसको फिर से स्थिर कर इलियट ने साहित्य का निश्चय ही उपकार किया है। परंतु इसके आगे जब वह कलाकृति को रचयिता के व्यक्तित्व से सर्वथा स्वतंत्र घोषित कर देते है, वह ज्यादती है। इलियट एक अतिवाद का निषेध करते हुए स्वय एक दूसरे अतिवाद के दोषी बन जाते हैं। शेक्सपीयर के सॉनेट का अध्ययन छोडकर मेरी फिटन विषयक कल्पनाओ मे फस जाना अनुचित है, परंतु इस प्रकार के अनुसधानो का यदि उचित सीमा के भीतर उपयोग किया जाय तो इन कविताओ के अध्ययन मे निश्चय ही सहायता मिलेगी। इस प्रकार इनकी काव्यगत अनुभूतियो का बिंब-ग्रहण अधिक पूर्ण होगा, और उसी के अनुपात से रसानुभूति मे भी अधिक सहायता मिलेगी।

परंतु मेरी उपर्युक्त युक्ति इलियट के सिद्धातो के लिए अप्रासगिक है, वे तो *स्पष्ट रूप से यह घोषणा कर चुके है कि जीवनगत भाव और काव्यगत भाव सर्वथा भिन्न* है और यह भी सभव है कि कलाकार ने अपने जीवन मे उसके भौतिक रूप का अनुभव ही न किया हो। यह प्रश्न मनोविज्ञान से संबध रखता हैं, इसका उत्तर देने के लिए हमे इलियट के मत के विरुद्ध काव्य की परिधि से बाहर जाना पडेगा। जीवनगत भाव और काव्यगत भाव मे स्पष्ट अंतर है, इसमे तो कोई सदेह नही—सस्कृत साहित्यशास्त्र और मनोविज्ञान दोनो ही इसको स्वीकार करते है। संस्कृत साहित्यशास्त्र के अनुसार प्रत्यक्ष भौतिक भाव और काव्यगत भाव[1] मे एक स्पष्ट अतर तो यही है कि भौतिक भाव का आस्वाद सुखमय और दु खमय दोनो ही प्रकार का हो सकता है, परतु काव्यगत 'भाव', जो अपनी पूर्णावस्था मे रस-रूप मे परिणत हो जाता है अनिवार्यत: सुखमय ही होता है। इसका कारण यह है कि काव्यगत भाव व्यक्तिगत भाव का साधारणीकृत रूप है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह काव्यगत अनुभूति भौतिक अनुभूति का परिभावित[2] रूप है, जिसमे कल्पना-तत्त्व और बुद्धि-तत्त्व का अनिवार्य मिश्रण रहता है। इसलिए अतर तो सर्वथा असंदिग्ध है, परतु इसके आगे यह कहना कि दोनो कोई सबध ही नही रखते, असत्य है। 'शाकुतलम्' मे अकित दुष्यत और शकुतला की रति भौतिक रति से अवश्य ही भिन्न है—पर 'शाकुतलम्' की रसानुभूति का मूल इस लौकिक रति मे ही है—कल्पना और बुद्धि-तत्त्व का मिश्रण हो जाने से इसमे अतर अवश्य पड गया है, परतु दोनो के आस्वादन मे सूक्ष्म मूलगत समानता है। यही बातें करुण काव्य के लिए भी उतनी ही सत्य है। करुण काव्य का काव्यगत भाव अथवा रसानुभूति मधुर होती

१. पारिभाषिक अर्थ मे

२ Contemplated

पाद-टिप्पणी : सस्कृत साहित्य शास्त्र की आरभिक अवस्था मे रस की स्थिति के विषय मे अनेक भ्रम उत्पन्न हुए थे—कोई उसे मूल पात्रो मे मानता था, कोई नट-नटी मे—किसी-किसी ने काव्य-वस्तु मे भी माना। उसी विचार-शृखला को यदि आगे बढाया जाय तो इलियट काव्य (या कला) का सर्वथा स्वतत्र अस्तित्व मानते हुए रस की स्थिति स्वय काव्य (या कला) मे ही मानते मालूम पडते हैं। कहने की आवश्यकता नही कि यह सिद्धात लोल्लट, शकुक और भट्टनायक के सिद्धातो से भी अधिक भ्रातिपूर्ण है।

है, पर उसका भौतिक रूप कटु होता है, किंतु फिर भी दोनो का मूलगत संबध असदिग्ध है। करुण और शृगार रसो के आस्वादन का स्पष्ट अतर इसका प्रमाण है—उदाहरण के लिए एक ओर 'शाकुतलम्' को पढकर और दूसरी ओर उत्तररामचरित' को पढकर जो रसानुभव होता है उसमे भेद है—एक मे हर्ष, उल्लास की मात्रा अधिक है, दूसरे मे गभीरता है। यह अंतर उनके आधारभूत भौतिक तत्त्वो का परिणाम है। यहा यह प्रश्न उठता है कि यह आधारभूत भौतिक भाव किसका है ? इसका समाधान करने के लिए सस्कृत आचार्यों मे बडा विवाद रहा है, और अत मे वे इसी परिणाम पर पहुचे है कि सहृदय के हृदय मे वासना रूप से स्थित स्थायी भाव ही काव्य आदि के द्वारा उद्‌बुद्ध होकर रस मे परिणत होता है। इसमे सदेह नही कि अत में सहृदय अपने भाव का ही आस्वादन करता है, परतु जैसा कि मैंने 'रस की स्थिति' शीर्षक लेख मे विस्तारपूर्वक विवेचन किया है, इस भाव की मूल प्रेरणा कवि का अपना भाव ही है जिसे वह काव्य द्वारा सहृदय तक प्रेषित करता है। 'शाकुतलम्' मे दुष्यत और शकुतला की रति साधारणीकृत रूप मे मिलती है, परंतु यह साधारणीकरण आखिर है किसका ? दुष्यंत और शकुतला व्यक्तियो की रति का तो है नही, क्योंकि वह तो उनके साथ समाप्त हुई—निश्चय ही यह कवि की अपनी विशिष्ट रति-भावना का ही साधारणीकरण है, जिसे उसने दो ऐतिहासिक व्यक्तियो के माध्यम से प्रक्षिप्त किया है—अतएव काव्यगत भाव और भौतिक भाव मे निश्चय ही पल्लव और बीज का सबंध है, और यह भौतिक भाव व्यक्तिगत अथवा अव्यक्तिगत (ऐतिहासिक आदि) सभी प्रकार के काव्यो मे मूलतः कवि का अपना भाव ही होता है।

यही इलियट की प्रासगिक उत्पत्ति को भी ले लिया जाय। वे कहते हैं कि कलाकार के लिए यह आवश्यक नही कि उसने काव्यगत 'भाव' के भौतिक रूप का अनुभव किया ही हो। वास्तव मे इस प्रकार की शंका साहित्य के अध्ययन मे अनेक बार पाठक के मन मे उठती है क्या शेक्सपियर, रोमियो, हेमलेट, मैकबेथ, ओथेलो, फॉस्टाफ, क्लियोपेट्रा आदि सभी पात्रो की मानसिक स्थिति मे होकर गुजरा था ? बाबा तुलसीदास बेचारे ने युद्ध कभी देखा भी न होगा, लडने की तो बात ही क्या ? फिर कैसे मान लिया जाय कि कवि काव्यगत भाव के भौतिक रूप का अनुभव करता ही है। इसका उत्तर सस्कृत आचार्य ने बडे सुदर ढग से दिया है—उसने कवि को अनिवार्यत 'सवासन' माना है—'सवासन' का अभिप्राय यह है कि एक अत्यत विस्तृत भाव-कोष बासना रूप मे अर्थात् सस्कार रूप मे उसके अधिकार मे रहता है। 'वासना' और 'सस्कार शब्दो का सबंध आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र के उपचेतन मन से है। तुलसीदास ने युद्ध न किया हो परतु युद्ध के मूलभाव—युयुत्सु-सस्कार—तो उनके अदर वर्तमान थे ही—और जीवन मे अनेक बार उन्होने उद्‌बुद्ध रूप मे उनका अनुभव किया होगा। युद्ध के वर्णन के लिए वातावरण और युद्ध-सामग्री आदि सर्वथा गौण है—उनका सचय तो कल्पना कर सकती है। उसका प्राण तो उत्साह, क्रोध और संचारी भाव ही है—जिनका अनुभव तुलसीदास को निस्सदेह रहा ही होगा। यही बात शेक्सपीयर के लिए या किसी के लिए भी कही जा सकती है।

काव्यगत भाव को इलियट ने अनेक प्रकार की संवेदनाओ, अनुभूतियो आदि का समन्वय माना है, जो कला-सृजन के दबाव से आप-से-आप अप्रत्याशित रीति से घटित हो जाता है। जहा तक इस सिद्धात के पूर्वार्ध का सबंध है, वह कुछ-कुछ क्रोचे के सहजानुभूति सिद्धांत से मिलता-जुलता है— क्रोचे की सहजानुभूति भी, जो कला का मूलरूप है, अरूप सवेदनो और अस्पष्ट अनुभूतियो का ही समन्वय है। परंतु क्रोचे जहां सहजानुभूति को मन की एक विशिष्ट शक्ति की सहज क्रिया मानते है, वहा इलियट आप-से-आप अप्रत्याशित रीति से होने वाली एक घटना मानते है। वैसे तो क्रोचे की सहजानुभूति भी आज मनोविज्ञान को मान्य नही है, परंतु इलियट की यह स्वत संभावना अप्रत्याशित घटना तो सर्वथा अवैज्ञानिक है। यहा वे भी सिद्धात की कार्य-कारण रूप मे व्याख्या न कर अनिश्चित शब्दावली की शरण ले रहे है जैसे कि सस्कृत के आचार्य ने 'अनिर्वचनीय' की शरण ली थी। इस अप्रत्याशित घटना को इलियट[1] 'कला-सृजन' की प्रेरणा का परिणाम मानते हैं—यह 'कला-सृजन' की प्रेरणा' भी इलियट की नवीन उद्भावना नही है—यूरोप के साहित्यशास्त्रियो मे 'सृजन-प्रेरणा'[2] की चर्चा काफी दिनो से और काफी जोरों से चलती आ रही है। परंतु अतर केवल यही है कि 'सृजन-प्रेरणा' मे जहा अनिवार्य रूप से व्यक्ति-तत्त्व की प्रधानता रही है वहा इलियट ने अपनी इस प्रेरणा या दबाव को सर्वथा वस्तुगत माना है। उनका सिद्धात है कि यह दबाव वस्तु-रचना का पडता है— परंतु वस्तु-रचना रचयिता के व्यक्तित्व से निरपेक्ष किस प्रकार हो सकती है ? साधारण दस्तकारी मे भी, जहा रचना-प्रक्रिया सर्वथा यान्त्रिक है, रचयिता के व्यक्तित्व का स्पर्श बचाया नही जा सकता —फिर कला, जहा सपूर्ण प्रक्रिया ही मानसिक है, व्यक्ति-तत्त्व से अस्पृष्ट कैसे रह सकती है ? इसमे सदेह नही कि स्वदेश-विदेश के आचार्यों ने श्रेष्ठ कला के लिए यह आवश्यक एव उपयोगी माना है कि कलाकार अपने ही मे सदा न खोया रहे। परंतु इस विषय मे मुझे दो निवेदन करने है—एक तो यह कि उपर्युक्त सिद्धात कला के सभी रूपो पर लागू नही हो सकता—उदाहरण के लिए तुलसी, सूर और मीरा के आत्म-निवेदन, इधर बच्चन आदि नवीन गीतकारो की आत्माभिव्यक्तियो का महत्त्व प्रत्यक्षत कवि के आत्मतत्त्व के ही कारण है। वास्तव मे गीत-काव्य का प्राण ही आत्म-तत्त्व है। इलियट के कठोर-से-कठोर शास्त्र-प्रहार शैली के गीतो का गौरव नही घटा सकते। दूसरे यह कि जहा वस्तु की प्रधानता रहती है (जैसे नाटक, ऐतिहासिक काव्य आदि मे) वहा भी व्यक्तित्व का अभाव किसी प्रकार नही होता। वस्तु के निर्माण मे, घटनाओ के सगठन तथा पात्रो के अकन मे पद-पद पर कलाकार के व्यक्तित्व की अमिट छाप लगी रहती है। प० रामचंद्र शुक्ल ने काव्य व्यक्ति-प्रधान और वस्तु-प्रधान इन दो रूपो मे विभक्त करते हुए तुलसीदास के काव्य को वस्तु-प्रधान होने के कारण अधिक गभीर और श्रेष्ठ माना है। उन्होने अनेक प्रकार से यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि

१. Artistic Pressure
२, Creative Urge

तुलसीदास का गौरव इसी बात मे है कि उन्होने व्यक्तिगत राग-द्वेषों से तटस्थ होकर राम के मंगलकारी स्वरूप की प्रतिष्ठा की है। परंतु इस रूप की प्रतिष्ठा करने मे तुलसी ने अपने जीवन-आदर्शों का ही तो प्रतिफलन किया है—राम का यह लोकमंगलकारी रूप तुलसी के अपने उच्चतर-रूप (Super Ego) का ही तो प्रक्षेपण है। वास्तव मे मनुष्य की कोई भी क्रिया उसके अहं के चेतन अथवा अवचेतन स्पर्श से किस प्रकार मुक्त हो सकती है। जिन रचनाओ मे चेतन व्यक्तित्व का प्रभाव नही होता (यद्यपि ऐसा भी बहुत कम होता है) उनमे अवचेतन का प्रभाव होता है और अवचेतन जैसा कि अब प्राय: सभी मनोवैज्ञानिकों ने मान लिया है, चेतन की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है। इस प्रकार सृजन-प्रेरणा का अप्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्तिमय रूप तो स्पष्ट है—(सृजन हमारा अपना ही तो पुनर्जन्म है) परंतु व्यक्ति से निरपेक्ष, इलियट की यह कला-सृजन की प्रेरणा, सर्वथा अवैज्ञानिक कल्पना है। कहने का तात्पर्य यह है कि इलियट का यह कहना तो ठीक है कि काव्यगत भाव अनेक प्रकार के सवेदनो तथा अनुभूतियों आदि का समन्वय है—और यह भी ठीक है कि यह मस्तिष्क की सचेतन क्रिया नही है। सृजन के क्षणो मे कलाकार का मन अर्ध-समाधि की अवस्था मे होता है। परंतु जब वे 'कला-सृजन के दबाव' और 'अप्रत्याशित, स्वतःसंभवा रीति' आदि की बात व्यक्ति से निरपेक्ष होकर करते है तभी गडबड कर जाते हैं। वास्तव मे उनकी इस उलझी शब्दावली की व्याख्या अवचेतन मन के संबंध मे बडी सरलता से की जा सकती है। जिसे वे कला-सृजन का दबाव कहते हैं, वह अवचेतन मन मे पडे हुए उन संस्कारो का दबाव है, जो अनुकूल परिस्थिति मे उद्बुद्ध होकर अभिव्यक्ति के लिए मचल उठते है, और चूकि चेतन मन उनको पूरी तरह पहचानता नही है इसलिए उनकी अभिव्यक्ति का ढग उसे अप्रत्याशित और अकारण-सा लगता है। इसी के साथ इलियट की यह सहकारी प्रतिज्ञा भी खडित हो जाती है कि कलाकार व्यक्तित्व न होकर केवल माध्यम है, जिसमे कला-सृजन की प्रेरणा के दबाव से अनेक प्रकार के सवेदनों, अनुभूतियों आदि का समन्वय घटित होता है। यहा आप देखिए कि उन्होने कृतित्व को कलाकार से छीन कर 'कला-सृजन की प्रेरणा' पर आरोपित कर दिया है। परतु जैसा कि मैने अभी स्पष्ट किया है, यह केवल शब्दो का हेर-फेर है—यह 'प्रेरणा' भी कलाकार के व्यक्तित्व (अवचेतन) से ही समूत होती है। जिसे वे व्यक्तित्व से पलायन कहते हैं, वह मनोविश्लेषण-शास्त्र मे अवचेतन की एक नित्य घटना है। मनुष्य की वृत्तिया प्राय चेतन से मुह छिपाकर अवचेतन मे शरण लेती है, और वहा जाकर सस्कार बनकर अपना रूप बदल डालती है। वास्तव मे जीते जी न तो व्यक्तित्व मे पलायन ही सभव है और न उसका निषेध ही। जब तक जीवन है तब तक अहं अनिवार्य रूप से वर्तमान रहेगा। कोई भी भावात्मक अथवा अभावात्मक प्रयत्न उसका निषेध नही कर सकता।

इलियट के साथ आरंभ मे ही एक दुर्घटना हो गई है—वह यह कि (जैसा उन्होने स्वय भी स्वीकार किया है) वे मनोविज्ञान और दर्शन को बचाकर अपने

सिद्धांतों का प्रतिपादन करने बैठे हैं। साधारणतः काव्यशास्त्र मनोविज्ञान और दर्शन नही है, परंतु जहां चरम सिद्धांतों का विवेचन किया जायगा वहा केवल काव्यशास्त्र ही नही जीवन का कोई भी शास्त्र दर्शन और मनोविज्ञान को दूर कैसे रख सकता है? इलियट के प्रतिपादन मे संगठित और प्रौढ विचारधारा का योग होते हुए भी जो अत्यत स्पष्ट असंगतिया और भ्रांतिया आ गई हैं, उनका कारण यही है कि उनका आरभ ही गलत हुआ है।

खंड–४

कालजयी कृतियां

रामचरितमानस का अंगी रस

आनंदवर्धन का मत है कि—

प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने
एको रसोऽङ्गी कर्त्तव्य:·········॥ ३.२१

—प्रबंधो मे अनेक रसो का समावेश प्रसिद्ध होने पर भी किसी एक रस को अगी रस अवश्य बनाना चाहिए।

अगी रस की यह कल्पना भी मूलतः भरत मे ही मिल जाती है :

बहूना समवेताना रूप यस्य भवेद् बहु।
स मन्तव्यो रस स्थायी शेषा: सञ्चारिणो मता ॥ ना० शा० ७ १२०

—महाकाव्य मे वर्णित अनेक रसों मे से जो बहु अर्थात् अधिक या प्रधान रूप से विद्यमान रहता है, वह रस स्थायी या अंगी और शेष रस सचारी या अगभूत होते है।

किंतु अगी रस के विषय में दो मौलिक शकाए उठती हैं—(१) रस तो उसी का नाम है जो स्वय चमत्कार-रूप है। यदि उसकी स्व-चमत्कार रूप मे विश्राति नही होती है तो वह रस ही नही है। अंगागिभाव अथवा उपकार्य-उपकारक भाव मानने मे तो अंगभूत या उपकारक रस की स्व-चमत्कार मे विश्राति नही हो सकती, अत वह रस नही कहला सकता। रस वह तभी होगा जब स्व चमत्कार मे ही उसकी विश्राति हो जाए। उस दशा मे वह किसी दूसरे का अग नही हो सकता। इसलिए रसों मे अगागिभाव संभव नही है।

आनदवर्धन ने इन दोनो आक्षेपो का समाधान करते हुए भरत के मत की पुन - प्रतिष्ठा की है। पहले आक्षेप का उत्तर यह है कि प्रत्येक रस का अपने प्रसग मे पूर्ण परिपोष हो जाता है और वह अपने प्रसंग की परिधि के भीतर स्व-चमत्कार मे ही विश्रातिलाभ करता है, इसमे सदेह नही। किंतु इसका अर्थ यह नही हुआ कि दूसरे के साथ उसका कोई संबध ही नही हो सकता—और कुछ नही तो तारतम्य तो हो ही सकता है क्योकि प्रबध की विभिन्न परिस्थितियो के अनुकूल किसी रस का वर्णन स्वभावत ही कम होगा और किसी का अधिक। दूसरे आक्षेप का उत्तर यह है कि विरोध के शमन के अनेक उपाय है जिनके द्वारा न केवल रसो का विरोध ही मिट जाता है वरन् उनमे उपकार्य-उपकारक सवध भी स्थापित हो जाता है। इस प्रकार आनदवर्धन के मत से रसो के अगागि या उपकार्य-उपकारक सवध की कल्पना सर्वथा मान्य है। अभिनवगुप्त ने भी ध्वन्यालोक के प्रस्तुत प्रसग की व्याख्या मे एक प्राचीन

आचार्य, भागुरि मुनि, का प्रमाण देते हुए रसों के अंगागिभाव का समर्थन किया है : 'तथा च भागुरिरपि, किं रसानामपि स्थायिसञ्चारितास्तीति आक्षिप्याभ्युपगमे नैवोत्तरमवोचद् वाढमिति।' इनके उपरात, फिर तो, उपर्युक्त प्रकल्पना पर मोहर लग गयी और परवर्ती आचार्यों ने प्रबंधकाव्य में अगी रस की स्थिति का निश्चयपूर्वक कथन किया है

शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ॥ सा० दर्पण, ६.३१७

—महाकाव्य में शृगार, वीर और शात में से कोई एक रस अगी होता है। (विमला टीका, पृ० ३२५)

जीवन के वैविध्य एव सर्वांग-चित्रण के कारण प्रबंधकाव्य मे स्वभावतः ही विभिन्न रसों का वर्णन अनिवार्यत रहता है और यह भी स्वाभाविक है कि इनमे एक प्रकार का तारतम्य तथा अंगागित्व हो। जिस प्रकार अनेक कथाओं के रहते हुए एक कथा की आधिकारिकता अनिवार्य है, अथवा यह कहना चाहिए कि घटना-बाहुल्य के रहते हुए भी समस्त कथा-विधान की एक घटना मे परिणति अनिवार्य है और अनेक पात्रों के समारोह मे एक पात्र की नायकता असंदिग्ध है, इसी प्रकार अनेक रसों के संभार मे एक रस की अंगिता भी स्वय-सिद्ध है।[1]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार अगी रस का प्रधान लक्षण है—बहुव्याप्ति। प्रबन्धेषु प्रथमतर प्रस्तुत सन् पुनः पुनरनुसन्धीयमानत्वेन स्थायी यो रस ·। (ध्वन्यालोक, ३।२२ की वृत्ति)—अर्थात् प्रबंधो मे प्रथम प्रस्तुत और बार-बार अनुसंहित होने से जो रस स्थायी है···। प्रबंधकाव्य मे अभिव्यक्त नाना रसों में से जो रस कथानक के कलेवर मे सर्वाधिक व्याप्त हो, वही अगी रस है। प्रबंधकाव्य के रस-विधान मे उसकी स्थिति वही होती है जो रस परिपाक में स्थायी भाव की। जिस प्रकार रस के परिपाक मे संचारी भाव उन्मग्न और निमग्न होकर स्थायी भाव का पोषण करते हैं, उसी प्रकार प्रबंधकाव्य मे अन्य अंगभूत रस अगी रस को समृद्ध करते हैं।

इसमें संदेह नही कि उपर्युक्त शास्त्रीय लक्षण अत्यंत प्रामाणिक है, किंतु अनिश्चय की स्थिति में कभी-कभी रस-निर्णय के लिए यह पर्याप्त नही होता। इसलिए कुछ सहायक लक्षणों की भी आवश्यकता पड जाती है। इन सहायक लक्षणो के संकेत भी भारतीय काव्यशास्त्र मे मिल जाते हैं।

एक सहायक लक्षण तो यह हो सकता है कि अंगी रस में मुख्य पात्र की—पुरुष अथवा नारी, जो भी कथा का नयन करे, उसकी—मूलवृत्ति का प्रतिफलन रहता है। तत्त्व-रूप मे प्रबधकाव्य का संपूर्ण विस्तार नायक की जीवन-साधना का ही प्रसार-रूप होना है। जिस प्रकार जीवन-साधना के दो पक्ष हैं—कर्म और भाव, इसी

१ कार्यमेक यथा व्यापि प्रबंधस्य विधीयते।
तथा रसस्यापि विधौ विरोधी नैव विद्यते ॥ ध्वन्यालोक, ३ २३
जिस प्रकार प्रबंध मे व्यापक एक प्रधान कार्य रखा जाता है, इसी प्रकार एक प्रधान रस के विधान मे भी विरोध नही है।

प्रकार कथानक के भी दो पक्ष है—घटना और भाव, और इन दोनो पक्षो का संचालन करती है नायक के चरित्र की मूलवृत्ति। यही मूलवृत्ति कर्म-पक्ष मे चरम घटना और फलागम का निर्धारण करती है और भाव-पक्ष मे मूल भाव या अगी रस का।

इसी तर्क-परपरा के अनुसार अंगी रस का तीसरा लक्षण यह बनता है कि अंगी रस मूल उद्देश्य या फलागम का आस्वाद-रूप होता है, या दूसरे शब्दो मे, सारभूत प्रभाव का अभिव्यंजक होता है। वास्तव मे, जैसा कि प्रसाद जी ने आचार्य शुक्ल द्वारा निम्नतर रस-कोटि की स्थापना के विरोध मे लिखा है, फल का निर्णय अन्वय और व्यतिरेक, दोनो पद्धतियो से फल-योग के आधार पर ही होता है।

इस प्रकार संस्कृत-काव्यशास्त्र की अंगी रस-कल्पना भी अपने आप मे अत्यत रोचक प्रसग है। प्रबंधकाव्य के आस्वादन का स्वरूप-विश्लेषण करने के लिए ही कदाचित् यह कल्पना की गयी थी और उस दृष्टि से इसका महत्त्व असदिग्ध है।

रामचरितमानस का काव्यरूप क्या है? वह प्रबंधकाव्य है अथवा भक्तिकाव्य—इष्टदेव का लीलागान?

यदि प्रबधकाव्य या महाकाव्य माना जाए तो मानस का मुख्य प्रतिपाद्य है राम का उदात्त जीवनचरित जिसकी प्रेरक भावना है धर्म :

निसिचरहीन करहुँ महि भुज उठाइ प्रन कीन्ह।

ऐसी स्थिति मे इसका अगी रस है धर्मवीर या वीर और कार्य है रावण-विजय। रावण पर राम की विजय अधर्म पर धर्म की विजय है स्थायी भाव है उत्साह—दया, दान, युद्ध के उत्साह से परिपुष्ट धर्माचरण का उत्साह। आचार्य शुक्ल ने इसी के आधार पर लोकधर्म की प्रतिष्ठा को मानस का प्रतिपाद्य माना है। वाल्मीकि रामायण मे वस्तुत राम के इसी रूप की प्रतिष्ठा है—लेकिन कथा के उत्तरार्ध मे सीता-वनवास, सीता की भूमि-समाधि, राम की जल-समाधि आदि का समावेश हो जाने से रामायण का अगी रस करुण हो गया है। मानस मे तुलसीदास ने इन प्रसगो का अपवर्जन किया है, अत मानस की कथा मे वीर रस की ही आदि से अत तक व्याप्ति रहती है। अगी रस के सभी लक्षण उस पर घटित हो जाते हैं।

किंतु रामचरितमानस को उस अर्थ मे महाकाव्य मानना कठिन है जिस अर्थ मे हम रामायण को मानते है। मानस भक्त-कवि की रचना है, ऐसे भक्त-कवि की जो अपने को भक्त पहले और कवि बाद मे मानता है :

भनिति बिचित्र सुकबिकृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ।
सब गुन रहित कुकबिकृत बानी। राम नाम जस अंकित जानी।
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस सत गुन ग्राही।

उसकी स्पष्ट धारणा है :

रामभगति भूषित जिय जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी।

(बालकाड-भूमिका)

× × ×

भनिति मोर सब गुन-रहित बिस्व-विदित गुन एक ।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्हकें बिमल विवेक ॥
(बालकाड, दोहा ९)

और वह गुण है :

एहि महँ रघुपति नाम उदारा । अति पावन पुरान-श्रुति-सारा ।
(बालकाड, भूमिका)

मानस को भक्तिकाव्य मानने पर स्थिति बदल जाती है : मूल प्रतिपाद्य राम का उदात्त चरित्र न रहकर रामनाम हो जाता है । राम का उदात्त चरित्र जिसकी वाल्मीकि को लोक-जीवन के आदर्श की प्रतिष्ठा करने के लिए तलाश थी, तुलसी को भी अभीष्ट है, किंतु उसका लक्ष्य बदल गया है । तुलसी को उसकी अपेक्षा इसलिए नही है कि वह लोक-जीवन की प्रतिष्ठा करता है, वरन् इसलिए है कि वह लोक-जीवन से मुक्ति प्रदान करता है :

एहि महँ रामचरित भव-मोचन ।

अतः यहा राम का नायक या आश्रय रूप गौण और आलबन रूप प्रमुख हो जाता है । आश्रय यहा स्वय कवि है और उसके माध्यम से भक्त है जो श्री राम के पावन चरित्र का गान लोक-जीवन के सस्कार के लिए नही वरन् उससे मुक्त होने के लिए करता है । स्वभावतः कवि की मूल चेतना या प्रेरक चित्तवृत्ति यहा भक्ति है और वही अगी रस की निर्णायक है जो भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता । अगी रस के अन्य सभी लक्षण—बहुव्याप्ति, प्रतिपाद्य की रागात्मक अनुभूति, सारभूत प्रभाव आदि भक्ति रस पर स्पष्टतया घटित हो जाते है । कवि मगलछद से लेकर अत तक निरंतर भक्ति का संधान करता है; प्रतिपाद्य के विषय मे वह बार-बार घोषणा करता है कि रामभक्ति की प्राप्ति ही उसके काव्य का चरम लक्ष्य है, और ग्रथ का पर्यवसान भी पूरे समारोह के साथ भक्ति मे ही होता है ।

ऐसी स्थिति मे अगी रस का निर्णय कैसे हो ? राम के चरित्र के आधार पर या तुलसीदास की भावना के आधार पर ? शास्त्र का उत्तर स्पष्ट है—कवि की भावना के आधार पर, जो निश्चय ही भक्ति है । अतः मानस का अगी रस भक्ति है, इसका प्रतिवाद करना कठिन है ।

यह मान लेने पर कई शकाए उठती हैं । क्या राम के महान चरित्र और उनके उदात्त आचरण का मानस की काव्य-चेतना मे कोई विशेष स्थान नही है—पाठक या श्रोता केवल भक्तिरस का आस्वाद करके ही तृप्त हो जाता है ? इससे तो समस्या और भी उलझ सकती है और कम-से-कम आधुनिक युग मे मानस की सार्थकता के विषय मे सदेह हो सकता है क्योंकि निश्चय ही आज का अधिकाश सहृदय-समुदाय भक्ति के आस्वादन के लिए उसका अध्ययन-मनन नही करता और न उससे आत्म-सतोष का अनुभव कर सकता है ? इसका उत्तर तुलसीदास ने ही दिया है—भक्ति के आलंबन मे जीवन के उत्तम आदर्शो और सर्वश्रेष्ठ मानव-मूल्यो की प्रतिष्ठा करके । तुलसी की भक्ति ऐसे इष्ट के प्रति निवेदित है जो दिव्य विभूतियो से युक्त होने के

साथ-साथ आदर्श मानव-गुणो का—शील, भक्ति और सौदर्य का प्रतीक है। इस प्रकार तुलसीदास ने भक्ति को एक व्यापक नैतिक आधार पर प्रतिष्ठित कर उसे महत्तर जीवन के साथ संबद्ध कर दिया है। एक ओर उन्होने काव्य को प्राकृत जन-जीवन के क्षुद्र मूल्यो से मुक्त किया और दूसरी ओर भक्ति को आदर्श जीवन के महत्तर मूल्यो से सबद्ध कर भक्ति और काव्य दोनो के क्षेत्र मे क्राति का प्रवर्तन किया . 'बरनो रघुबर बिमल जस जो दायक फल चार।' तुलसी की भक्ति केवल भावना की प्रतीक न होकर भाव, कर्म और ज्ञान का समन्वय है।

भक्ति के इसी व्यापक रूप की प्रतिष्ठा के द्वारा तुलसीदास ने मानस मे महाकाव्य के लोकधर्मी और अभिव्यक्ति के आत्मधर्मी लक्षणो के बीच अपूर्व समन्वय स्थापित किया है। उन्होने जिस आवेग के साथ सर्वत्र भक्ति का आग्रह किया है उससे इस विषय मे तो कोई विकल्प ही नही रह जाता कि मानस का अगी रस या स्थायी भाव भक्ति है, किंतु यह भक्ति मूलत. जीवन या धर्म के प्रति सात्विक उत्साह की भावना से प्रेरित है—यह भी उतना ही निर्विवाद है। शास्त्रीय शब्दावली मे यदि मानस के रस-विधान का विवेचन करें, तो भक्ति रस का आश्रय है कवि, आलबन है मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम और उनका संपूर्ण उदात्त चरित्र, आलबन का गुण होने के कारण, उद्दीपन विभाव के अतर्गत आता है। जिस प्रकार शृगार के प्रसग मे आलबन का शील और सौदर्य रति स्थायीभाव को और वीर रस मे प्रेरक उद्देश्य का गौरव उत्साह को उद्दीप्त करता है, इसी प्रकार भक्ति रस मे आलबन के शील, शक्ति, सौदर्य आदि गुण तथा आदर्श कर्म भक्ति-भाव को उद्दीप्त कर रस-परिपाक मे योगदान करते है।

राम के जीवन के सभी प्रसग—मधुर बाल-क्रीडाए, मर्यादित शृगार, माता-पिता तथा गुरुजन के प्रति अतक्र्य सम्मान की भावना, प्रियजन-परिजन के प्रति निश्छल स्नेह-सौजन्य, शौर्य और शक्ति के विविध प्रसंग, लोक-सेवा की भावना, शरणागत-वत्सलता, शत्रु के प्रति उदार व्यवहार आदि कवि की भक्ति-भावना के सहज उद्दीपन बन जाते है। ये प्रसग भक्ति को उद्दीप्त ही नही करते वरन् उसके स्वरूप के निर्माण मे भी सहायता करते है आलंबन के गुण तज्जन्य भावना के स्वरूप को भी प्रभावित करते हैं। तुलसी भगवान के वीर रूप के—लोकरक्षक विभूतिसपन्न रूप के उपासक हैं, अत. उनके काव्य मे व्याप्त भक्तिरस लोकधर्म पर आधृत है—जीवन के पोषक मानव-मूल्यो से सवलित है। वाल्मीकि की कवि-चेतना जहा राम के जीवन के मधुर-उदात्त प्रसंगो मे गुजरती हुई अत मे उनके जीवन की विराट करुणा के साथ तन्मय हो जाती है, वहा तुलसी की कवि-चेतना राम के शील, शक्ति, सौंदर्य के प्रसंगो के साथ तादात्म्य करती हुई अत मे उनके विराट रूप मे आत्म-विलयन करती है। वाल्मीकि का पाठक नायक के महच्चरित्र के साथ तादात्म्य करता हुआ रसानुभूति करता है, किंतु तुलसी का पाठक नायक के साथ तादात्म्य करता हुआ, अत मे पूर्ण समर्पण के माध्यम से रसानुभव करता है। एक मे औदात्त्य की अनुभूति है (राम की करुणा भी उदात्त ही है), दूसरे मे इस औदात्त्य-भावना के समर्पण की अनुभूति है।

यही ऋषि और भक्त की रस-दृष्टि का भेद है ।

मानस मे, वास्तव मे, रसानुभूति के दो स्तर हैं : एक कथानक का और दूसरा कवि की भावना का । कथागत रसानुभूति के माध्यम हैं राम जिनकी प्रमुख मनोवृत्ति के आधार पर अंगी रस का परिपाक होता है । राम के चरित्र की मूलवृत्ति है धर्म अर्थात् जीवन को धारण करने वाले मूल्यों की प्रतिष्ठा के प्रति उत्साह जिसके आधार पर, कथा के स्तर पर, अगी रस के रूप मे (धर्म-)वीर रस का परिपाक होता है । राम के चरित्र की अन्य स्थिर वृत्तियां हैं प्रेम, करुणा और शम जिनकी परिणति शृगार, करुण तथा शांत मे होती है । इन तीनो का वीर के साथ पोष्य-पोषक संबंध है, अर्थात् ये कथा के आधारभूत रस वीर का पोषण करते हैं । कथा के स्तर पर इन सभी—मूल और पोषक भावो, के आश्रय राम हैं और सामाजिक की चेतना राम की मनोवृत्ति के साथ सहयात्रा करती हुई रसानुभव करती है । किंतु कवि की भावना के स्तर पर राम आलंबन और राम की कथा उद्दीपन बन जाती है । कथा के अंतर्गत शृंगार, करुण और शांत के द्वारा अंगी रस के जिस धर्मवीर रस का पोषण हुआ था, वह कवि की भावना के स्तर पर भक्ति रस का उद्दीपन बन जाती है । इस प्रकार, मानस मे रस का वृत्त कथा मे व्याप्त लोकधर्म—अथवा जीवन-मूल्यो के प्रति उत्साह से आरभ होकर भगवान के प्रति आत्मसमर्पण की भावना मे पूर्ण होता है ।—यहा फिर प्रश्न उठता है कि क्या सामान्य सहृदय, या कहे कि, आधुनिक युग का सहृदय इस संपूर्ण रसवृत्त का अनुभव करता है ? इसका उत्तर हमारे पास यह है कि एक ऐसा सहृदय तो, जिसकी चेतना में आस्तिक संस्कार विद्यमान हैं, इस पूर्ण रसवृत्त का अनुभव करता है, किंतु आस्तिक संस्कारो से रहित सहृदय का रसवृत्त कथानक के स्तर पर ही पूरा हो जाता है अर्थात् उसकी रसानुभूति का वृत्त जीवन-मूल्यो के प्रति सात्विक उत्साह के निर्वैयक्तिक अनुभव के साथ ही पूर्ण हो जाता है । भक्ति-काव्य के सदर्भ मे रसानुभूति का यह द्वैत प्राय विद्यमान रहता है, इसीलिए संस्कृत के आचार्यो को, जिन्होने अद्वैत भाव के रूप मे रस-कल्पना की है, भक्ति रस को मान्यता प्रदान करने मे कठिनाई रही है ।

जय भारत

'जय भारत' मे महाभारत की सपूर्ण कथा है, नहुष के वृत्तात से लेकर पाडवो के स्वर्गारोहण तक की पूरी कथा इसमे पद्यबद्ध है। यह ग्रंथ, जैसा कि कवि ने निवेदन मे स्वयं ही स्पष्ट किया है, एक समय की कृति नही है। इसमे समय-समय पर लिखी हुई महाभारत-संबंधी रचनाए संग्रथित है। इनमे से कुछ रचनाए जैसे कि केशो की कथा, वक-सहार, वन-वैभव, सैरंध्री आदि तो गुप्तजी के कृतित्व के आरभिक काल की रचनाए है, नहुष आदि मध्यकालीन हैं, और शेष उत्तरकालीन है। इस प्रकार 'जय भारत' राष्ट्र-कवि के संपूर्ण रचनाकाल का प्रतिनिधि ग्रथ माना जा सकता है, और उसमे—कवि के अपने शब्दो मे—उनकी लेखनी के क्रम-विकास की रूप-रेखा स्पष्ट रूप से मिल जाती है। इस ग्रथ मे स्वभावत कथा का प्रवाह आद्योपात एक-सा नही है। कही तो वह पहाडी नदी के समान तीर की तरह आगे बढती है और कही जैसे चौरस भूमि पाकर विरम जाती है। शैली-भेद के करण यह वैषम्य और भी उभर आता है, क्योकि आरभिक शैली मे जहा फैलाव है, वहा उत्तर-काल की शैली समास-गुण-प्रधान है। इस प्रकार कथा-वर्णन मे वह वेगवान धारा-प्रवाह नही है जो महाकाव्य मे होना चाहिए, और जिसमे मैथिलीशरणजी की लेखनी अत्यत समर्थ है। खंड-रूप से लिखी हुई वस्तु मे प्रवाह आना सभव भी नही है। हा, जहा कवि को थोडा भी अवसर मिला है, जैसे 'युद्ध' मे, ऐसा अनायास ही हो गया है। दूसरी कठिनाई 'जय भारत' के कथा-वर्णन मे यह आ गयी है कि एक अत्यंत घटना-सकुल तथा विस्तृत कथा को सूत्रबद्ध करने के लिए कवि को जिस समास-शैली का प्रयोग करना पडा है उसके लिए महाभारत की सभी सूक्ष्म घटनाओ के ज्ञान का पाठक मे आरोप करना अनिवार्य हो गया है, जो वास्तव मे होता नही है; क्योकि आज के पाठक के पास महाभारत तथा पुराणादि का उतना संपूर्ण पृष्ठाधार नही है। इसलिए कही-कही वाछित प्रसग अथवा पात्र के परिचय के अभाव मे पाठक का मन उलझ जाता है और उसकी अतृप्त जिज्ञासा को ऐसा लगता है मानो कथा का सूत्र भग हो गया हो। परतु ऐसा होता नही है, कथा का अन्विति-सूत्र कही भी भंग नही हुआ। वास्तव मे केवल वर्णन (Narration) की दृष्टि से गुप्तजी की कला और भी निखर आयी है। नवीन स्थलो मे आवश्यक का ग्रहण और अनावश्यक का त्याग कवि ने इतनी सफाई से किया है कि सूत्र आप-से-आप बधता चला जाता है। 'कौरव-पाडव' जैसे प्रसग मेरे कथन की पुष्टि करेंगे।

इतिहास-पुराण आदि पर आश्रित काव्यो का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है कथा और चरित्र का पुनर्निर्माण और उसका मूलवर्ती दृष्टिकोण । क्योंकि केवल कथा-वर्णन तो अपने-आप मे लक्ष्य हो नही सकता, और विशेषकर पुरानी कथा की आवृत्ति-मात्र तो कोई क्यो करेगा ! यही कवि की सर्जना-शक्ति और मौलिक प्रतिभा की परीक्षा होती है । इसी प्रकार एक युग का कवि दूसरे युग की कथा को और उसके द्वारा उस युग की आत्मा को अपने युग की आत्मा मे रचा लेता है । गुप्तजी ने यो तो महाभारत की घटनाओं मे परिवर्तन प्राय: नही के बराबर ही किया है (इस दृष्टि से 'साकेत' मे रामकथा के साथ उन्होने अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता बरती है) परंतु इन घटनाओ का पुनराख्यान कवि का अपना है । इस पुनराख्यान के मूल आधार दो है : एक युगोचित विवेक-बुद्धि और दूसरा युग-धर्म । महाभारत की कथा मे अतिप्राकृत एवं अतिमानवीय तत्त्वो का समावेश स्वभावत: ही अधिक है । आज उनको मन मे उतार लेना सहज नही है । इसके अतिरिक्त अनेक ऐसी घटनाए भी है जो आज असगत अथवा अनुचित भी प्रतीत हो सकती है । कवि ने इनका विवेक और बुद्धि के द्वारा समाधान करने का सत्प्रयत्न किया है । उदाहरण के लिए, केवल एक घटना लीजिये—महाभारत की सब से रोमाचक घटना : द्रौपदी-चीर-हरण । आज का पाठक न तो इस घटना की नग्नता को ही सहन कर सकता है और न व्यास के समाधान को ही समझ सकता है । ऐसी स्थिति मे कवि का कर्तव्य-कर्म तथा दायित्व और भी कठिन हो जाता है । वह अपने युग को पकडे या कथा के युग को ! मैथिलीशरण गुप्त ने ऐसे स्थलो पर कौशल से काम लिया है और दोनो की रक्षा करने का प्रयत्न किया है । चीर-हरण मे द्रौपदी जहा एक ओर भगवान् की शरण मे जाती है, वहा अपने आत्म-बल द्वारा दु:शासन के मन मे भीति भी जगाती है

> रे नर, आगे नरक-वह्नि मे तू निज मुख की लाली देख,
> पीछे खडी पचमुख शिव पर नग्न कराली काली देख ।

इसके परिणामस्वरूप दु:शासन का पापी मन और शरीर भय से स्तभित हो जाते है :

> सहसा दु:शासन ने देखा अधकार-सा चारो ओर,
> जान पडा अम्बर-सा वह पट, जिसका कोई ओर न छोर ।
> आकर अकस्मात् अति भय-सा उसके भीतर पैठ गया;
> कर जड हुए और पद काँपे, गिरता-सा वह बैठ गया ।

कवि इतने पर ही सतुष्ट नही होता, घटना को और भी विश्वसनीय बनाने के लिए वह तत्काल ही गाधारी को पाप-सभा मे उपस्थित कर देता है । गाधारी की सामयिक उपस्थिति एक ओर जहा दु:शासन की असमर्थता को और भी निश्चित कर देती है वहा दूसरी ओर उस आघात का पर्याप्त शमन भी करती है जो इस नगी तल-वार जैसी घटना के द्वारा पाठक के मन पर अनायास ही हो जाता है । उस भयकर पाप का प्रक्षालन गाधारी के इन ग्लानि-विगलित अश्रुओ द्वारा ही हो सकता था :

सिहर अध पति से वह बोली सफल अंधता अपनी आज,
नही देखते अपनो से

× × ×

भाई से पितृ-कुल पुत्रो से पति-कुल मेरा नष्ट हुआ;
अतर्यामी को ही अवगत, मुझको कैसा कष्ट हुआ !

× × ×

हाय लोक की लज्जा भी अब नही रह गई लक्षित क्या;
आज बहू का तो कल मेरा कटि-पट नही अरक्षित क्या !

इतना ही नही, कवि ने इस पाप-प्रसग के मार्जन के लिए द्रोण और भीष्म को भी वहा से हटा दिया है और कर्ण को भी बाद मे पश्चात्ताप करने पर विवश किया है ·

मैंने अपना एक कर्म ही अनुचित माना,
कृष्णा का अपमान ।

इसी प्रकार आप चाहे तो एक प्रसग और भी लिया जा सकता है : द्रौपदी का पचपत्नीत्व । आज यह प्रसग भी साधारणत: मन मे नही उतर सकता । युधिष्ठिर और सहदेव दोनो की भोग्या कृष्णा का चित्र मन मे किसी प्रकार भी सुरुचि उत्पन्न नही करता । उसे पचा लेने के लिए या तो अधी श्रद्धा की अपेक्षा है, या फिर अधे विज्ञान की । गुप्तजी के सस्कारो को दोनो ही स्वीकार्य नही । अतएव उन्होने फिर नीति और विवेक का आचल पकडा है । पहले तो कवि ने विवेक का आचल पकडा ·

बोले धर्मात्मज धृतिशाली,
वर पार्थ, वधू है पाचाली ।
दो वर ज्येष्ठ का पद पावे,
दो देवरत्व पर बलि जावे ।
भोगे ये पाँचो सुख इसका ।

परंतु इतनी दीर्घ परपरा का तिरस्कार भी गुप्तजी का आस्तिक मन कैसे करता ! आर्य-समाज की तरह यदि वे पार्थ को ही द्रौपदी का वर मान लेते तो उपर्युक्त व्याख्या सटीक बैठ जाती । परंतु यह सभव नही हुआ और अत मे कवि को धर्म-नीति-व्यवस्था तथा पूर्व-कर्म आदि का आश्रय लेना पडा ·

मानी गई माँ की वह आज्ञा अनजानी भी,
और व्यवस्थापक थे व्यास ऐसे ज्ञानी भी ।
कहते हैं पाँच बार वर था महेश का,
और अनुमोदन था आप हृषीकेश का ।
पाडवो के मन मे ग्लानि नही होती है,
तो मैं मानता हूँ, धर्म-हानि नही होती है ।

आदि-आदि ।

इससे मेरा-आपका परितोष न हो यह दूसरी बात है; पर इसमे अधिक

संस्कारी कवि के लिए संभव भी नही था। इनमे सबसे अधिक भव्य है पाडवो के देह-पात की घटना का पुनराख्यान। इस दृष्टि से मैं उसे इस काव्य का भव्यतम प्रसंग मानता हू। मैथिलीशरण की प्रतिभा ऐसे प्रसगो मे ही खुल खेलती है। सुनिये, सबसे पूर्व द्रौपदी गिरती है: "गिरती हूँ, यह गिरी प्रभो, पर पहुँचूंगी तुम से पहले।" युधिष्ठिर इसे अपनी मुक्ति का प्रथम सोपान मानते हुए कहते हैं "तुम नही, गिरी अर्जुन के प्रति यह पक्षपातिता मेरी ही।"

युधिष्ठिर और आगे बढते हैं। अबकी बार सहदेव गिरते हैं:

रुक कर न युधिष्ठिर ने उनसे चलते-चलते बस यही कहा;
तुम नही, गिरा तुम मे मेरा रूपाभिमान जो उठा रहा।

फिर नकुल गिरे तो युधिष्ठिर ने उमे अपनी मति-गति के गर्व का ही विनाश माना। आगे अर्जुन गिरते है ·

आगे चल गिरे धनजय भी, "अब और नही उठता पद ही";
तुम नही गिरे, झड गिरा यहाँ तुम मे मेरा मानी मद ही।

और अत मे .

बोले फिर भीम अत मे यो, हे आर्य ! यहाँ मैं भी टूटा;
तुम छूटे नही तुम्हारे मिस, मेरा औद्धत्य यहाँ छूटा।

इस प्रकार युधिष्ठिर के सभी भौतिक बधन छूट जाते है और वे शुद्ध-बुद्ध आत्मा रह जाते हैं:

खुल गये सभी बधन मानो, अब आप आप वे व्यक्त हुए।

पुनराख्यान का दूसरा मूल आधार है युग-धर्म। गुप्तजी सच्चे अर्थ मे इस युग के प्रतिनिधि कवि है। वे द्वापर, त्रेता, सतयुग जहा कही भी गये हैं, अपने युग को साथ ले गये हैं। आज का युग-धर्म है मानववाद और गुप्तजी ने महाभारत के पात्रो का पुनर्निर्माण इसी के आधार पर किया है। उदाहरण के लिए, दु शासन मे भी गुप्तजी ने भ्रातृ-भक्ति खोज निकाली है:

इच्छा तुम्हारी अविचारणीया,
होती नही तो फिर सोचता मैं।
खीचूं न खीचूं बल से सभा मे,
दुकूल किंवा कच द्रौपदी के।
कहें मुझे, जो कुछ लोक चाहे,
तो भी इसे कौन नही कहेगा!
भाई नही; किंकर मैं तुम्हारा,
मैं चाहता राज्य नही, तुम्हे ही।

दुर्योधन को तो उन्होने सुयोधन बना ही दिया है। उसका अत हृदय-द्रावक है; यदि युधिष्ठिर की उपस्थिति न हो तो पाठक का साधारणीकरण उसी के साथ हो जाए।

सबसे अधिक ध्यान उन्होने युधिष्ठिर के चरित्राकन पर ही दिया है। वैसे तो

युधिष्ठिर अपने-आप ही मानवता के प्रतीक हैं, फिर भी गुप्तजी ने स्थान-स्थान पर उनके मानवत्व को और भी निखार कर सामने रख दिया है। कवि के युगादर्श सत्य और अहिंसा को जैसे उनके व्यक्तित्व मे आधार मिल गया है। मानवता की परीक्षा मे तीन बार उत्तीर्ण कराकर कवि ने उन्हे ही अपना मूल पात्र माना है—'जय भारत' वास्तव मे युधिष्ठिर की मानवता की ही 'जय' है।

'हिमकिरीटिनी' और 'वासवदत्ता'

'हिमकिरीटनी' (लेखक श्री माखनलाल चतुर्वेदी) और 'वासवदत्ता' (लेखक श्री सोहनलाल द्विवेदी)—इन दोनो पुस्तको को साथ-साथ लेने का एक विशेष कारण यह है कि इस वर्ष 'देव पुरस्कार प्रतियोगिता' मे हिंदी के एक दर्जन प्रतिनिधि विद्वानो की कलम से इन्हे क्रमश पहला और दूसरा स्थान प्राप्त हुआ है। अतएव मै समझता हू कि इन ग्रथो के विषय मे किंचित् विस्तार से जानने की उत्कठा होना स्वाभाविक है।

'हिमकिरीटिनी'

पं० माखनलाल चतुर्वेदी के व्यक्तित्व मे मधुर कवि और ओजस्वी सैनिक एक आलिंगन-पाश मे आबद्ध है; उसमे भावुक नारी और कर्मशील पुरुष का सयोग है। नवीन या दिनकर की भाति ये एक पौरुषमय व्यक्तित्व की दो पृथक् अवस्थाए नही है, यहा तो एक ही व्यक्तित्व मे दोनो तत्त्व मिल गये हैं और प्राय: एक ही क्षण मे व्यक्त हो उठते हैं। इन दोनो तत्त्वो के साथ उनमे एक और तत्त्व स्पष्ट मिलता है, वह है उनका आत्मा की सत्ता के प्रति आकर्षण। उनकी आखों को गौर से देखिए तो उनमे कुछ ही क्षणो मे नारी, पुरुष और संत तीनों झाक जाते हैं। आप कितनी ही देर देखिए, जीवन की वास्तविकता को आर-पार देखने वाला बौद्धिक भूलकर भी नजर नही आएगा। इन आखो मे तीक्ष्णता और चमक नही है, एक स्निग्ध धुधलापन-सा है। जैनेन्द्र की आखो से मिलाने पर यह अंतर स्पष्ट हो जाएगा। एक जैसे तथ्य के प्रतिबिंबचित्रो को ग्रहण कर भीग उठी है; दूसरी जैसे उसको भेद आर-पार जाने के लिए चमक उठी है। यह भावुक और बौद्धिक का अतर है। माखनलालजी की कविता की विशेषताएं उनके व्यक्तित्व की इन्ही विशेषताओ के आलोक मे पढी और समझी जा सकती है। उनकी कविता मे भावुकता (मधुर भाव) है, रहस्यात्मक प्रवृत्ति है और बौद्धिक पृष्ठभूमि के अभाव में एक धुधली अस्पष्टता और असंबद्धता है। जो कुछ है, वह काफी मधुर और ओजस्वी है; पर यह प्राय. स्पष्ट नही है कि वह क्या है।

एकनिष्ठता का अभाव

बाह्य तथ्यो से प्रभावित होने वाली चित्त की वृत्ति को भावुकता कहते है। शरीर-शास्त्र की दृष्टि मे अभिधार्थ मे भी भावुकता हृदय-द्रव है, उसका सीधा सबंध

हमारी स्नायुओ मे बहने वाली रक्त की धारा से है। बाह्य प्रभावो को ग्रहण करती हुई यह वृत्ति धीरे-धीरे एक सस्कार बन जाती है, और हम इसको भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे विभिन्न मात्राओ मे देखते हैं। इस अवस्था मे आकर बाह्य तथ्यो के साथ इसकी क्रिया-प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। एक ही वस्तु पर केंद्रित होकर इसमे तीव्रता और गहराई आ जाती है, प्रभावो के पारस्परिक विरोध से इसमे बल आ जाता है, किसी प्रकार की एकनिष्ठता और अतर्विरोध न होने से केवल तरलता ही रहती है, और इधर बाह्य सवेदनाओ के प्रभाव को प्रकृत रूप मे ग्रहण करने से सरलता और स्पष्टता आ जाती है। माखनलालजी की भावुकता मे तरलता के साथ एक विचित्र संकुलता मिलती है। इनकी कविताओ को पढने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके माधुर्य भाव का आलवन व्यक्त और निश्चित नही है। इसलिए इनकी भाव-धारा को दिशा नही मिल पायी। वह एकनिष्ठ न होकर अनिर्दिष्ट बहती है। उसमे सरल गति न होकर भवर है, अविच्छिन्न शृंखला नही है, असबद्धता है जैसी कि छायावाद के प्रसव-काल की अन्य रचनाओ, 'झरना' आदि, मे है।

छायावाद के आरंभिक कवियो मे माखनलालजी का नाम स्मरणीय है और उनके काव्य-व्यक्तित्व का निर्माण सचमुच उसी काल मे हुआ जब द्विवेदी युग की इतिवृत्त-कविता से विद्रोह कर नवीन भावुकता, आलंबन की अस्पष्टता और अभिव्यक्ति की अपरिपक्वता के कारण धूमिल कुहरे मे भटक रही थी। उस समय के कवि को स्थूल विषयो से चिढ थी, वह सूक्ष्म की ओर आकृष्ट था। लेकिन इस सूक्ष्म की उसे कोई पहचान नही थी; कभी वह ब्रह्म प्रतीत होता था, कभी प्रकृति की चेतन सत्ता। उस युग के नवीन कवियो की शृंगार-भावनाएं प्रकृत आलवन से च्युत होकर इसी तरह भटक रही थी। प्रसाद, निराला, पत, माखनलालजी—सभी की उस समय की रची हुई कविताओ मे यही बात मिलेगी। परतु जहा अन्य कवियो की कृति के पीछे आरभ से ही एक दृढ बौद्धिक आधार था—यथा प्रसाद मे शैव-दर्शन, निराला मे अद्वैतवाद, पत मे भविष्योन्मुख आदर्शवाद—वहा माखनलालजी मे एक असवद्ध रहस्य-मय चिंतन-मात्र था। इसके अतिरिक्त चूकि दूसरे कवियो ने कवि-कर्म को निष्ठा से ग्रहण किया था अतएव वे अभिव्यजना के प्रति अत्यत सचेत रहे, पर माखनलालजी का कार्य-क्षेत्र बहुत कुछ बट जाने से वे इस क्षेत्र मे विशेष अभ्यास नही कर पाये। परिणाम यह हुआ कि जहा अन्य कवि अपनी अनुभूति के स्वरूप को धीरे-धीरे पहचानते गये और फलत उनकी कृतिया अधिक व्यक्त और स्पष्ट होती गयी, वहा, हिमकीरीटिनी' के कवि ने इस दिशा मे कोई विशेष उन्नति नही की, उसकी नयी-पुरानी सभी कविताओ मे एक-सी धूमिलता बनी रही।

ओजस्विता का उद्गम

इन कविताओ की ओजस्विता का उद्गम है कवि की सक्रिय राष्ट्रीयता। यह राष्ट्रीयता कविता मे केवल देशभक्ति के रूप मे ही व्यक्त हुई है। माखनलालजी को गाधी के प्रति असीम विश्वास और श्रद्धा है, उनकी अहिंसा मे पूर्ण आस्था। उनके

ये वीर-गीत बंदिनी वीरता के उद्घोष हैं जिनमे उत्साह और आक्रोश के साथ विवशता की करुणा भी मिली हुई है। इसलिए इनमे विजय का उत्साह नही बलिदान का उत्साह है। इस प्रकार की कविताओ का संबंध प्रायः जेल से है। उनमे से बहुत-सी तो जेल मे ही लिखी गयी हैं। इन कविताओ मे एक चीख है। 'कैदी और कोकिला' इसी प्रकार की कविता है :

काली तू, रजनी भी काली,
शासन की करनी भी काली;
काली लहर कल्पना काली,
मेरी काल-कोठरी काली।
टोपी काली, कमली काली
मेरी लोह-शृंखला काली;
पहरे की हुंकृति की व्याली,
तिस पर है गाली ऐ आली!
इस काले संकट-सागर पर
करने को मदमाती।
कोकिल बोलो तो!
अपने गति वाले गीतो को
गाकर हो तैराती!
कोकिल बोलो तो!

मैंने जैसा अभी कहा है, इन कविताओ मे ओज और माधुर्य अविभक्त हैं। प्रमाणस्वरूप यही कविता ली जा सकती है—जेल की काली रात मे कोकिला की पुकार उनके हृदय मे बसे हुए मधुर कवि और आत्माभिमानी सैनिक दोनों को एक साथ जगा देती है। 'हिमकीरीटिनी' की ये कृतियां ही सबसे अधिक सफल हुई हैं। इनका ओज कवि के भावो की संकुलता को भेद कर फूट पड़ा है, अभिव्यक्ति तीर की तरह सीधी है :

लड़ने तक महमान,
एक पूंजी है तीर कमान।
मुझे भूलने में सुख पाती,
जग की काली स्याही,
बंधन दूर कठिन सौदा है,
मैं हूँ एक सिपाही।
सिर पर प्रलय, नेत्र मे मस्ती,
मुट्ठी मे मन-चाही;
लक्ष्य मात्र मेरा प्रियतम है,
मैं हूँ एक सिपाही!

इन कविताओ की सबसे बड़ी बाधा है कवि की रहस्यात्मक प्रवृत्ति। यह

रहस्यात्मक प्रवृत्ति छायावाद के प्रसव-काल की सबसे बडी व्याधि थी जब रवीन्द्रनाथ और विदेशी साहित्य के मोह से अभिभूत नये कवि की भावुकता अपने वास्तविक स्वरूप को न पहचान कर काल्पनिक रहस्यानुभूतियो से खेलने मे अपना गौरव समझती थी। माखनलालजी पर भी यह नशा काफी गहरा है। राष्ट्रीय उत्साह उनके जीवन का सहज अंग रहा है और साधारणत उसकी अभिव्यक्ति सीधी-सच्ची होनी चाहिए थी पर ऐसा प्रायः नही हो पाया; क्योकि उनकी रहस्यात्मक प्रवृत्ति भावुकता मे रग-कर प्राय. उनकी ओजमयी वाणी के मुक्त प्रवाह को जकड लेती है।

कहने वालो ने ठीक कहा है कि 'हिमकिरीटनी' का प्रकाशन समय से बहुत बाद हुआ है। हिंदी की रोमांटिक कविता के इतिहास मे तो उसके महत्त्व को कोई अस्वीकार नही कर सकता। जीवन के स्थूल तथ्यो से मन के 'सावले शीशमहल' की ओर आंख उठाने वाले कवियो मे माखनलालजी को कैसे भुलाया जा सकता है। लेकिन ऐसी सपूर्ण कविताए जो काल के पृष्ठ पर अकित रहेगी, शायद दो-चार ही हैं—कैदी और कोकिला, जवानी, मील का पत्थर, आदि। वैसे मधुर-भाव-भरी असबद्ध पक्तिया आपको कितनी ही मिल जायेंगी।

'वासवदत्ता'

'वासवदत्ता' की कविताओं का आधार

'वासवदत्ता' की कविताए घटनाओ का आधार लेकर चलती हैं। इनमे से अधिकाश मे प्रवृत्ति और आदर्श का संघर्ष और अत मे आदर्श की विजय की आनद-पूर्ण स्वीकृति है। इनमे प्रायः सभी मे वैभव-विलास की पृष्ठभूमि पर नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा है।

सोहनलालजी द्विवेदी-युग की परपरा के कवि हैं, जिनकी प्रवृत्ति सदैव बहिर्मुखी रही है। फलतः उनकी कविता मे युग की आवश्यकताओ की चेतना और उनके प्रति नैतिक उत्साह है। ये दोनो बातें उसे स्वभावत. ही गाधीवाद से सबद्ध कर देती है। गाधीवाद, नीति के अतिरिक्त एक दर्शन भी है; पर सोहनलालजी का उसके दर्शन से कोई संपर्क नही है। वे तो गाधीवाद के चारण हैं जो एक ओर खादी, किसान जैसे प्रतीको, अथवा जवाहरलाल, मालवीयजी जैसे नेताओ या डाडी-अभियान जैसी घटनाओ का जय-जयकार करते हैं, दूसरी ओर देश के प्राचीन त्याग और तपस्या (अहिंसा) का गौरव-गान गाते हैं। पहली श्रेणी की कविताएं 'भैरवी' मे सकलित हैं, दूसरी श्रेणी की 'वासवदत्ता' मे। अतएव 'वासवदत्ता' के आमुख मे की हुई सोहनलालजी की यह घोषणा कि 'भैरवी के साथ मेरी रचनाओ का एक युग समाप्त होता है, वासव-दत्ता मे मेरी कविताओ का नवीन युगारभ है,' सत्य से दूर है। उनकी ये दोनो रचनाए एक ही युग की है, उनकी प्रेरणा एवं प्रवृत्ति मे कोई मौलिक भेद नही है। दोनो का केवल विषय भिन्न है, धरातल और दृष्टिकोण एक है। यह धरातल, जैसा मैंने कहा, नैतिक है; और यह दृष्टिकोण है नैतिक महत्त्व की आनंदपूर्ण स्वीकृति। कवि का

हृदय जिस तरह डाडी के पथ पर चलते हुए गाधी के गौरव को सादर स्वीकार कर हर्षोच्चार करता है, उसी तरह गौतम को वासवदत्ता के प्रलोभन पर विजयी देखकर उनकी विजय का जय-जयकार करता है। साराश यह कि 'वासवदत्ता' की अधिकाश कविताए ऐसी कथाओ को लेकर चलती हैं जिनमे अतर्द्वन्द्व है।

कवि का दृष्टिकोण

इस प्रकार की कथाओ को तीन रूपो मे उपस्थित किया जा सकता है—एक तो नाटकीय रूप मे, जिनमे दो विरोधी भावनाओ के अतर्द्वन्द्व का तीखा चित्रण हो। ऐसा करना उसी कवि के लिए संभव है जिसकी प्रवृत्ति अतर्मुखी हो, जिसने अपनी सूक्ष्म सत्ता मे होने वाले चेतन और अचेतन प्रवृत्तियो के सघर्ष को झाक कर देखा हो, जिसकी एक प्रवृत्ति मे वासवदत्ता की उत्कटता हो और दूसरी मे गौतम की आत्म-शक्ति। दूसरा रूप हो सकता है इतिवृत्तात्मक, जिसमे नैतिक उपदेश आदि के लिए कथा का सरल वृत्त-वर्णन हो, जैसा कि मैथिलीशरण गुप्त के कुछ आख्यानो मे हुआ है। इसके लिए केवल वर्णन-विवेक की आवश्यकता है। इन दोनो का मध्यवर्ती एक तीसरा रूप भी हो सकता है। इसके लिए यह आवश्यक नही कि कवि स्वयं उस अतर्द्वन्द्व मे होकर गुजरा हो, लेकिन यह अनिवार्य है कि वह उस अंतर्द्वन्द्व को पहचानता हो और अत मे होने वाली आदर्श की विजय को स्वीकार करने मे आनद का अनुभव करता हो। इस कोटि के कवि का आनंद अंतर्द्वन्द्व और उसके उपरात होने वाली विजय के गौरव की अनुभूति का आनद नही है, उसकी स्वीकृति-भर का आनद है, इसलिए इस रूप मे तीव्रता और गहराई नही मिलेगी, परतु ओज और स्फूर्ति मिलेगी। 'वासवदत्ता' के कवि का दृष्टिकोण ठीक यही है। वह इन कथाओ मे विद्यमान सूक्ष्म सत्ता के मंथनकारी अंतर्द्वन्द्व का अनुभव नही कर पाया, केवल सानद स्वीकृत कर पाया है—उर्वशी, कुती और कर्ण, महाभिनिष्क्रमण, सभी मे। लेकिन इसके साथ ही उसमे केवल वृत्त-वर्णन मात्र ही नही है, उसके वर्णन मे स्फूर्ति, ओज और वाग्मिता असदिग्ध है, जिसकी प्रेरणा अनुभूति के नही, वरन् स्वीकृति के आनद मे है। यही सच्चे चारण का दृष्टिकोण है और इसीलिए मैंने सोहनलालजी को गाधीवाद का चारण कहा है।

ऐसी दशा मे यह स्वाभाविक ही है कि 'वासवदत्ता' की शैली व्यग्य-सकेतमयी न होकर मुखर है। सकेत और व्यजना के द्वारा प्रभाव उत्पन्न करने की सूक्ष्म कला उसके कवि मे नही है। इसलिए जहा संकेत-मात्र वाछित था, वहा कवि सविस्तर वर्णन कर प्रायः प्रभाव को नष्ट कर देता है। उदाहरण के लिए, 'वासवदत्ता' की कविता वही समाप्त हो जानी चाहिए थी जहा वासवदत्ता के पूछने पर कि 'कौन ?' गौतम उत्तर देते हैं—

> मैं हूँ तथागत,
> आज आया हूँ अतिथि बन।

परंतु कवि को इतने से संतोष कहा! वह आगे गौतम के नर्तिग का सविस्तर

वर्णन देकर कथा के नाटकीय प्रभाव को नष्ट कर देता है। इसी तरह जहां कोई पात्र मौन या व्यंग्य के द्वारा प्रतिपक्षी को तिलमिला सकता था, वहा वह अभिशाप एव दुर्वचनो की पूरी सूची समाप्त करके ही शात होता है। उर्वशी और अर्जुन का अंतिम संवाद इसका साक्षी है। यह हुआ मुखरता का दोष। मुखरता का गुण है अप्रतिहत धाराप्रवाह, जो 'वासवदत्ता' मे अनिवार्यत. मिलता है।

दीप-शिखा

इस युग मे 'दीप-शिखा' का प्रकाशन एक घटना है। महादेवीजी के ही शब्द उधार लेकर हम कहेंगे कि 'जीवन और मरण के इन तूफानी दिनो मे रची हुई यह कविता ठीक ऐसी ही है जैसे झंझा और प्रलय के बीच मे स्थित मदिर मे जलने वाली निष्कप दीप-शिखा।'

इस पुस्तक का महत्त्व एक और दृष्टि से भी है। आज छह-सात वर्षों के बाद महादेवीजी के साधना-मदिर का द्वार खुला है और करुणा के स्नेह से जलती हुई इस दीपक की लौ को अब भी एकाकीपन मे तन्मय और विश्वास मे मुस्कराती हुई देखकर हिंदी के विद्यार्थी का सशक मन उत्फुल्ल हो उठा है।

'दीप-शिखा' मे ५१ गीत हैं, और प्रत्येक गीत का अर्थवाही एक चित्र है। इन चित्रो का कला की दृष्टि से क्या मूल्य है, यह कहने का तो मैं अधिकारी नही हू; परंतु इस प्रकार का चित्रित गीत-प्रकाशन हिंदी के लिए एकदम नयी चीज है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक गीत कवयित्री की अपनी ही हस्तलिपि मे मुद्रित है। इस मुद्रण से जहा नवीनता तो सचमुच और भी बढ गयी है, वहा लिपि के सुदर न होने से पुस्तक की स्वच्छता मे क्षति भी अवश्य हो गयी है।

हिंदी मे—विश्व के लगभग सभी साहित्यों मे—गीत-परंपरा आदिकाल से ही चली आती है। या यो कहिये कि कविता का मूल रूप ही गीत है। गीत के इतिहास पर दृष्टि डालने से उसके दो प्रयोजन मिलते हैं :

१. आत्मनिवेदन, और २. मनोरंजन।

इनमे आत्मनिवेदन अधिक मौलिक है। उसको प्रयोजन के अतिरिक्त प्रेरणा भी कहना उचित है। परतु मनोरंजन भी कम प्राचीन नही है। आखेट-प्रिय आदिम पुरुष के वियोग मे उसकी गृहिणी आदिम नारी ने आज से न जाने कितने युग पूर्व अपने एकाकी मन और गृह-कर्म से भारी शरीर को हलका करने के लिए गीत का आविष्कार किया था। 'कामायनी' के पाठकों को याद होगा कि मनु के मृगयार्थ वन मे चले जाने पर श्रद्धा का हाथ तकली से और मन अनायास गीत की कडी से उलझ जाता था।

इस अवस्था मे आकर गीत के दोनो प्रयोजनों का समन्वय हो जाता है। धीरे-धीरे ये ही दोनो प्रयोजन अनेक रूपो मे बिखरते गये। आत्मनिवेदन पार्थिव और अपार्थिव अवलंबो के अनसार लौकिक और अलौकिक विरह-मिलन की कविता मे फूट

उठा, मनोरंजन उत्सव-पर्वो के गीतो मे; और कही-कही ये दोनो ही मिलकर एक हो गये।

इस प्रकार गीत मानव-मन के हर्ष-विषाद का सहज वाहक है, जो अब तक अपनी परिभाषा को अक्षुण्ण बनाये हुए है। महादेवीजी ने भी इसी से मिलती-जुलती गीत की परिभाषा की है :

"गीत का चिरंतन विषय रागात्मिका वृत्ति से सबध रखने वाली सुख-दु खात्मक अनुभूति ही रहेगी······साधारणत गीत व्यक्तिगत सीमा मे सुख-दु खात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता मे गेय हो सके।"

'दीप-शिखा' के गीतो मे आत्मनिवेदन की प्रेरणा है, मनोरंजन स्पष्टतः ही उनका प्रयोजन नही है। परतु वह आत्मनिवेदन किस प्रकार का है, यह प्रश्न सरल नही है। साधारण रूप से यह कह देना कि इनमे अज्ञात के प्रति विरह-निवेदन है या रहस्योन्मुख प्रेम की अभिव्यक्ति है अथवा लौकिक धरातल पर कवि की अपनी अतृप्त वासना की प्रेरणा है—प्रश्न को और भी जटिल बना देना है। इस आत्मनिवेदन की प्रकृति को समझने के लिए तो कवि के व्यक्तित्व के विश्लेषण का सहारा लेना पड़ेगा।

'दीप-शिखा' के गीतो का अध्ययन करने पर हमारे मन मे तीन प्राथमिक धारणाएं बनती हैं

१. 'दीप-शिखा' कवि के अपने मन का प्रतीक है।
२ 'दीप-शिखा' मे फारसी की शमअ की तरह ऐंद्रिय वासना की दाहक ज्वाला नही है, वरन् करुणा की स्निग्ध लौ है, जो मधुर-मधुर जलती हुई पृथ्वी के कण-कण के लिए आलोक वितरित करती है।
३. और इस जलने के पीछे किसी अज्ञात प्रिय का सकेत है जो उसे असीम बल और अकप विश्वास प्रदान करता है।

महादेवी के काव्य मे इसी प्रकार के संकेत मिलते हैं, और इन सकेतो की व्याख्या मे हिंदी आलोचको ने सारा अध्यात्म एव वेदात समाप्त कर दिया है। उनकी यह व्याख्या महादेवी को परमार्थी योगी की पदवी पर भले ही प्रतिष्ठित कर दे, परतु उनके काव्य की आत्मा अर्थात् उनकी अनुभूति के स्वरूप को समझने मे अणुमात्र भी सहायक नही होती।

इस विषय मे मैं पहले ही निवेदन कर दू कि मुझे आधुनिक काव्य की आध्यात्मिकता मे एकदम विश्वास नही है। काव्य का संबध मानव-मन से है, और मन मे किसी प्रकार की अपार्थिवता नही है। भारतीय दर्शन ने भी उसे सूक्ष्मेंद्रिय ही माना है। हमारे साहित्य-शास्त्र मे भी जहा काव्य की अनुभूति-अभिव्यक्ति का विवेचन है, पार्थिव जीवन के ही स्थायी-सचारियो का वर्णन है और रस की अलौकिकता भी अंत मे लौकिक ही ठहरती है। यह बात नही कि मुझे आध्यात्मिकता की सत्ता मान्य नहीं। मै मानता हू, एक ओर चित्तवृत्ति के सयम और निरोध से और दूसरी ओर उसकी एकाग्रता के अभ्यास से आत्मचिंतन और रहस्यानुभूति सभव है—और कम-से-कम कबीर की रहस्यानुभूति कल्पना की क्रीड़ा अथवा धार्मिक दंभ कभी नही थी। परतु

बुद्धि के इस युग मे, जैसा कि महादेवीजी ने स्वयं अपनी भूमिका में स्वीकार किया है, इस प्रकार की रहस्यानुभूति कम-से-कम एक नवीन शिक्षा-दीक्षा मे पोषित बुद्धि-जीवी के लिए सभव नही। एक बार व्यक्तिगत चर्चा करते समय भी जब मैंने अपना यह मंतव्य उनके सम्मुख रखा तो उन्होने स्पष्ट रूप मे इसकी सत्यता स्वीकार की थी। अतएव 'दीप-शिखा' के गीतो की अनुभूति पार्थिव माने बिना नही चल सकता। उसका विश्लेपण करने पर तीन तत्त्व हम को मिलते हैं :

१. जलने की भावना, २ विश्व के प्रति गीला करुणा-भाव, और ३. अज्ञात प्रिय का सकेत।

इनमे से तीसरे भाव के मूल मे तो स्पष्टत· काम का स्पंदन है ही; जलने की भावना मे असतोष और अतृप्ति-भावना भी अनिवार्य है। इन दोनो को अगर सयुक्त कर दें तो पहला कारण और दूसरा कार्य हो जाता है। और वास्तव मे सभी ललित-कलाओ के—विशेषत काव्य के और उससे भी अधिक प्रणय-काव्य के—मूल मे अतृप्त काम की प्रेरणा मानने मे आपत्ति के लिए स्थान नही है।

महादेवीजी का एकाकी जीवन उनके काव्य मे स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित है। किसी अभाव ने ही उनके जीवन को एकाकिनी बरसात बना दिया है, सुख और दुलार के आधिक्य ने नही। अतिशय सुख और दुलार की प्रतिक्रिया से उत्पन्न दुःख का आकर्षण 'यामा' और 'दीप-शिखा' की सृष्टि नही कर सकता परतु इस अतृप्ति को स्थूल शारीरिक अर्थ मे ग्रहण करना महादेवी के संस्कृत एवं सयत व्यक्तित्व के प्रति अपराध होगा। क्योकि, और नही तो स्वभाव से ही पुरुष और स्त्री कवियो के लिखे हुए प्रणय-गीतो मे उनकी प्रकृति के अनुसार अतर मिलना अनिवार्य है। पुरुष कवि का प्रणय-निवेदन अधिक व्यक्त, अतएव ऐंद्रिय एव रोमानी होगा। स्त्री का प्रणय-निवेदन सयत, अतएव गार्हस्थिक होगा। पुरुष मे रोमांस की उन्मुक्तता होगी, नारी मे स्थायित्व का बंधन। अतएव स्वीकृत रूप से लौकिक तल पर स्त्री-कवि का प्रणय एकमात्र स्वकीया का घरेलू प्रणय ही हो सकता है। स्त्री अपनी प्रकृति के कारण और बहुत-कुछ अशो मे सामाजिक रीति-नीति के कारण न तो असंयत उद्गारों को ही व्यक्त कर सकती है और न स्वकीया की सौमित्रि-रेखा से बाहर ही जा सकती है। प्राचीन लोक-गीतो की गायिकाओ से लेकर सर्वश्री होमवती, उषा, चकोरी आदि आधुनिक हिंदी-कवयित्रियो तक यह बात अनिवार्य रूप से मिलेगी। जहा कही भी लौकिक प्रणय की स्वीकृति है, वहा स्वकीया-भाव ही है। मीरा के अपार्थिव प्रेम मे भी स्वकीया-भाव का आग्रह मिलता है।

स्वकीया की भावना छोडकर तो स्त्री के पास सिर्फ एक ही उपाय रह जाता है—अपार्थिव प्रणय अथवा अज्ञात के प्रति प्रणय-निवेदन। यह प्रणय-निवेदन मूलत: पार्थिव प्रेम पर आश्रित होते हुए भी तत्त्वत उससे भिन्न होता है। अर्थात् इसमें ऐंद्रियता सूक्ष्म-से-सूक्ष्म होती हुई अतीद्रियता-सी प्रतीत होने लगती है, यानी उसका सस्कार हो जाता है। परंतु यह निश्चित है कि प्रणय-निवेदन मे जो स्पदन होगा, वह प्रच्छन्न रूप से उसी आरभिक प्रेम का होगा।

संत कवियो तथा सगुण भक्तो ने अपनी अमुक्त वासनाओ को एक ओर तो भगवान् के चरणो पर उडेलकर और दूसरी ओर सचराचर मे वितरित कर उनका संस्कार किया था। वह विश्वास और साधना का युग था। भगवान् की प्रीति तब आज की अपेक्षा अधिक सरल थी। आज का कवि भगवान् से नाता जोडने मे अपने को असमर्थ पाता है। उसके लिए मानव-जाति से प्रीति बढाना अपेक्षाकृत सरल है। इसलिए आज वासना के संस्कार की यही पद्धति व्यवहार्य है। महादेवीजी के जीवन मे सतो की आत्मसाधना देखना तो उपहास्य होगा; परतु अपनी वासना का परिष्कार करने के लिए उन्होने साधना की है और अब भी कर रही हैं; इसको अस्वीकार करना अनुचित होगा। उन्होने बडी लगन से आध्यात्मिक साहित्य का अध्ययन किया है। अपने आसपास के प्राणियो के साथ परिवार-सबध जोडा है। पीडित वर्ग की सक्रिय सेवा मे आनंद लिया है। मैं समझता हू कि उनका काफी समय आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन और मनन मे बीतता है। अतएव उनके गीतो मे जो रहस्य-सकेत मिलते हैं वे पूर्णत स्वानुभूत सत्य न होते हुए भी एकदम छायावाद-युग के कवि-समय-मात्र भी नही है। प्रत्यक्ष रूप से नही, तो अध्ययन के सहारे ही कवि का उनसे थोडा-बहुत परिचय अवश्य है।

यही बात कण-कण के प्रति बिखरी हुई उनकी स्नेह-विगलित करुणा के लिए भी कही जा सकती है। बुद्धि के प्रति ममत्व और दर्शन के अध्ययन का प्रभाव उस पर स्पष्ट रूप से पडा है—'इन गीतो ने पराविद्या की अपार्थिवता ली, वेदात के अध्ययन की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के साकेतिक दापत्य-भाव-सूत्र मे बांधकर एक निराले स्नेह-सबध की सृष्टि कर डाली, जो मनुष्य के हृदय को अवलंब दे सका, उसे पार्थिव-प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।'

इस प्रकार 'दीप-शिखा' के गीतो मे जिन तत्त्वो की ओर निर्देश किया गया है, वे तीनो एक-दूसरे से कार्य-कारण-सबध मे बधे हुए है और कवि के अपने जीवन के संबंध से भी उनका पूरी तरह व्याख्यान हो जाता है।

यहां तक तो हुआ 'दीप-शिखा' की प्रेरक अनुभूति का विश्लेपण, जो उनके गीतो को समझने मे सहायक हो सकता है। परतु उनका मूल्याकन करने के लिए अनुभूति की प्रकृति नही, उसकी शक्ति का विवेचन करना होगा। यानी अब हमे यह देखना है कि 'दीप-शिखा' को जिस अनुभूति से प्रेरणा मिली है, उसमे कितनी तीव्रता है।

इस दृष्टि से हमे निराश होना पडेगा। कारण स्पष्ट है। इस अनुभूति के मूल मे जो काम का स्पदन है, उसके ऊपर कवि ने चिंतन और कल्पना के इतने आवरण चढा रखे हैं कि स्वभावत उनकी तीव्रता दब गयी है और उसको टटोलने पर बहुत नीचे गहरे मे एक हल्की-सी धडकन मिलती है। साथ ही अनुभूति को पुजीभूत होने का अवसर नही मिला। उसका वितरण प्रयत्नपूर्वक किया गया है, इसलिए वह तीव्र न रहकर हल्की-हल्की बिखर गयी है। स्पष्ट शब्दो मे, इन गीतो मे लोक-गीतो की

जैसी मास की उष्ण गध प्राय. नि शेष हो गयी हैं। दूसरी ओर बुद्धिजीवी महादेवीजी में संत या भक्त कवियो का-सा विश्वास और समर्पण भी सभव नही हो सका। इसलिए उनके हृदय मे अज्ञात के प्रति भी जिज्ञासा ही उत्पन्न हो सकी है, पीडा नही। कुल मिलाकर यह कहना होगा कि 'दीप-शिखा' की प्रेरक अनुभूति छाह-सी सूक्ष्म और मोम-सी मृदुल तो है, परंतु हूक-सी तीव्र नही। एक स्थान पर स्वयं कवयित्री ने ही अपने गीत की बडी सुदर व्याख्या की है—

खोजता तुमको कहाँ से आ गया आलोक सपना
चौक खोले पंख तुमने याद आया कौन अपना
कुहर मे तुम उड चले किस छाँह को पहचान

स्वभावत छाह को पहचानकर कुहर मे उडने वाले इन गीतो मे विस्मय-भरे मधुर सकेत तो स्थान-स्थान पर मिलेंगे, परंतु लपककर हृदय को पकडने वाली पंक्तियां दुर्लभ हैं।

मधुर सकेतो के कुछ उदाहरण लीजिये :

१. तम ने वर्ती को जाना है,
वर्ती ने यह स्नेह, स्नेह ने रज का अचल पहचाना है,
चिर-बन्धन मे बाँध मुझे घुलने का वर दे जाना।

२. सुधि विद्युत् की तूली लेकर
मृदु व्योम फलक-सा उर उन्मन
मैं घोल अश्रु मे ज्वाला-कण
चिर-मुक्त तुम्ही को जीवन के बधन हित विकल दिखा जाती।

'नीहार' मे लेकर 'दीप-शिखा' तक आते-आते महादेवीजी की अनुभूति ने सूक्ष्मता और स्थिरता मे जितनी वृद्धि की है, तीव्रता मे उतनी क्षति भी भोगी है। इसका अर्थ यही है कि महादेवीजी का मन क्रमश व्यक्तिगत पीडा को लोक-व्यापी बनाता हुआ दु ख-सुख का सामंजस्य स्थापित करता रहा है। यह सामंजस्य सर्व-प्रथम हमे 'नीरजा' मे मिलता है, परंतु फिर भी उसमे व्यक्ति की पुकार दुर्बल नही पडी। 'साध्य-गीत' मे आकर जिस अनुपात से पीडा का अव्यक्तीकरण हुआ है, उसी अनुपात से उसमे अनुभूति की तीव्रता भी कम हो गयी है। 'दीप-शिखा' इसी दिशा मे एक अगला कदम है। 'साध्य-गीत' मे जहा दु ख और सुख का सामजस्य पूर्ण हुआ था, वहा 'दीप-शिखा' मे दु ख अपना दशन खोकर सुख को समर्पण कर बैठा है। पीडा की ज्वाला यहा 'दीप-शिखा' बन गयी है, जो पृथ्वी के कण-कण को आलोक वितरित कर अपना घुल जाना ही वरदान मानती है। इस प्रकार 'दीप-शिखा' की अनुभूति मे एक तो रज के प्रति ममत्व और दूसरे विश्वासमय अबध गति—ये दो नवीन तत्त्व मिलते हैं, जिनके लिए हमारे युग-जीवन की प्रवृत्तिया उत्तरदायी है।

महादेवीजी के गीतो मे कला का मूल्य अक्षुण्ण है। भाषा के रंगों को हल्के-हल्के स्पर्श से मिलाते हुए मृदुल-तरल चित्र आक देना उनकी कला की विशेषता है। पंत की कला मे जडाव और कढ़ाई है, फलत: उनके चित्रो की रेखाएं पैनी होती हैं।

महादेवी की कला मे रंग-घुली तरलता है, जैसी कि पखुडियो पर पडी हुई ओस मे होती है।

'सांध्य-गीत' मे संध्या की पृष्ठभूमि होने के कारण उनके चित्रो मे रगो का वैभव अधिक था; परतु 'दीप-शिखा' के गीतो मे उसके चित्रो की ही तरह केवल दो रग हैं—हल्का नीला और सफेद। जहा कही अधिक रगो का प्रयोग भी है, वहा ये सभी रंग इस प्रकार मिला दिये गये हैं कि किसी की स्वतत्र सत्ता न रहे—इसीलिए तो इन चित्रो मे पारद के मोतियो-जैसी कोमलता आ गयी है .

रात-सी नीरव व्यथा, तम-सी अगम मेरी कहानी
फेरते हैं दृग सुनहले आँसुओ का क्षणिक पानी
श्याम कर देगी इसे छू प्रात की मुस्कान!

महादेवी के गीतो मे प्रयुक्त चित्र-सामग्री अत्यंत परिमित है। इसलिए 'नीरजा' के बाद से ही महादेवीजी के आलोचक को उनसे पुनरावृत्ति की शिकायत है। और, यह शिकायत जितनी उचित है उतनी ही सकारण भी। एक कारण तो यही है कि कवि की अनुभूति का क्षेत्र ही सीमित है। दूसरा कारण यह है कि उसने 'साध्य-गीत' और 'दीप-शिखा' के गीतो को एक निश्चित पृष्ठभूमि दी है—'साध्य-गीत' को सध्या की, 'दीप-शिखा' को रात्रि की। यह सच है कि 'दीप-शिखा' तक पहुचते-पहुचते 'नीरजा' और 'साध्य-गीत' की पुनरावृत्तियो से ऊबा हुआ पाठक एक बार तो सचमुच झुझला उठता है—वे ही दीपक और बादल के छाया-चित्रो के टुकडे नाना प्रकार के आकार और वेश धारण कर उनके काव्य के आधार-फलक पर उडते-तैरते दिखाई देते हैं। बादल के चित्रो से तो कवि को बेहद मोह है। परतु झुझलाहट उतर जाने पर यदि वह धैर्यपूर्वक सूक्ष्म दृष्टि से देखेगा तो उसे सूक्ष्म अवयवो की तरह-तरह की बारीकिया मिलेंगी। जैसे :

तैर तम-जल मे जिन्होने ज्योति के बुद्बुद् जगाये,
वे सजीले स्वर तुम्हारे क्षितिज-सीमा बाँध आये।
हँस उठा कब अरुण शतदल-सा ज्वलित दिनमान।

गीत की अपनी टेकनीक होती है। वह अपने जन्म से ही वन्य-कठो मे पला है। इसलिए उसकी गति और लय मे, यहा तक कि उसकी शब्दावली मे भी—वन्य संस्कार वर्तमान रहते हैं। यह असभव है कि एक सफल कलाकार कला-गीतो की रचना करते हुए इन वन्य गीतो की पंक्तियो को अनायास ही न गुनगुना उठे। सचमुच पाठक के संस्कार भी विना इन स्पर्शों के गीत को गीत मानने के लिए तैयार नही होते। महादेवीजी इस ओर प्रारभ से ही सचेत रही है। 'दीप-शिखा' की भूमिका मे उन्होने लोक-गीतो का प्रभाव स्वीकार भी किया है। 'नीरजा' के कुछ गीतो की लय और शब्दावली मे इस प्रकार के मधुर और मुखर सस्कार मिलते हैं। 'पथ देख बिता दी रैन, मैं प्रिय पहचानी नही' या 'मुखर पिक हौले बोल, हठीले हौले-हौले बोल'-जैसी पंक्तियो को गुनगुनाते हुए पाठक के मन मे लोक-गीतो की समानातर पक्तिया आप-से-आप दौड़ जाती हैं। 'दीप-शिखा' मे भी 'मैं न यह पथ जानती री' या 'कहा

से आए बादल काले'-जैसी पक्तियो मे कुछ ऐसा ही सौंदर्य है, यद्यपि उतना नही जितना 'नीरजा' के गीतो मे है। इस प्रकार प्रचलित लोक-गीतो की वन्य गति लय मे अमूल्य काव्य-सामग्री भर कर महादेवीजी ने खडीबोली की कविता में गीत के माध्यम को अमर कर दिया है।

गीत के आतरिक रूप का विश्लेषण यदि किया जाय तो वह कुछ इस प्रकार होगा—कभी अनायास ही कवि के मन मे कोई बात चमक जाती है और चिंतन की हल्की-हल्की आच से गल-गलकर वह एक पक्ति के रूप मे ढल जाती है। यही गीत की पहली पंक्ति है जो प्राय: चिंतन का परिणाम होती है। इसके उपरात कवि उससे सबद्ध अन्य धूमिल भावनाओ को रूप देने का प्रयत्न करता है और गीत के अगले पदो की सृष्टि होती है। बस, इसी सृजन-प्रक्रिया मे एक साथ कवि की मूल अनुभूति व्यक्त होकर शब्दो की पकड मे आ जाती है और सारा गीत चमक उठता है। अनुभूति-प्राण गीतो के सृजन का यही इतिहास है। बच्चन के कुछ भाव-दीप्त गीत इसके साक्षी हैं। परतु 'दीप-शिखा' के अधिकाश गीतो मे अनुभूति की तीव्रता के अभाव में ऐसा नही हो पाया। उनमे चिंतन के प्राधान्य के कारण पहली पक्ति के सकेत ही अधिक मधुर होते हैं।

'दीप-शिखा' की भूमिका का महत्त्व उसके गीतो से कम नही है। उसके विषय मे सविस्तर चर्चा फिर कभी की जायगी। इस समय तो यही कहना पर्याप्त होगा कि आधुनिक तथाकथित प्रगतिशील या समाजवादी आलोचना की हलचल मे काव्य के शाश्वत सत्यो के सहारे इस भूमिका मे छायावाद की भव्य व्याख्या की गयी है जिसका स्थान हिंदी-आलोचना के इतिहास मे अमर रहेगा।

उन्मुक्त

'उन्मुक्त' का विश्लेषण करने से पूर्व उसके रचयिता के व्यक्तित्व का थोडा विश्लेषण करना सगत होगा। कवि सियारामशरण का व्यक्तित्व पीडा से बना हुआ है। उनका श्वास-रोग और एकाकी जीवन ये दोनो आज एक सुदीर्घ काल से उनके जीवन-सहचर हैं। स्वभावतः उनमे करुणचिंतन का प्राधान्य है। हिंदी-जगत् से उपेक्षा पाकर यह पीडा अवश्य ही उनका कपलैक्स बन जाती है, यदि कवि के अतर्क्य आस्तिक सस्कारो का प्रतीप प्रभाव उस पर न होता। यही आस्तिकता उसे पीडा को आनद का माध्यम मानने के लिए बाध्य करती है और वह दु ख मे सुख, पराजय मे विजय, और निर्बलता मे बल प्राप्त करता है। ऐसी मन स्थिति के कवि के लिए गाधीवाद का आकर्षण अनिवार्य है। गाधीवाद पीडित एव पराजित देश की जितनी शुद्ध और स्वस्थ अभिव्यक्ति है, कवि सियारामशरण का काव्य गाधीवाद का उतना ही सच्चा प्रतीक है।

बुदेलखड की शस्य-श्यामला भूमि, रुग्ण कवि का एकात-वास, युद्ध के भीषण समाचारो को मोटे-मोटे अक्षरो मे देने वाले दैनिक पत्र। कवि श्वास-रोग से पीडित है। पत्रो मे हत्याकाड के समाचार पढकर उसकी व्यथा द्विगुणित हो जाती है। जी घुटने लगता है। मन के बोझ को हल्का करने के लिए वह बाहर देखता है। वसुधरा का अचल उसे शरण देता है और वह कुछ स्वस्थ होकर कविता लिखता है जिसका सुफल होता है 'उन्मुक्त'।

'उन्मुक्त' रूपक है। लौहद्वीप के अधिपति ने समस्त ससार को अधिकृत करने का रक्तमय अनुष्ठान किया है। ताम्र-द्वीप, रौप्य-द्वीप ध्वस्त हो चुके। अब कुसुम-द्वीप पर आक्रमण हुआ है। कुसुम-द्वीपवासी वीरतापूर्वक लडते हैं। उनका सेनानी पुष्पदंत अपनी समस्त शक्ति लगा देता है—यहा तक कि भस्मक किरण का भी उपयोग करने को बाध्य हो जाता है, परतु भाग्य साथ नही देता। भस्मक किरण से संयुक्त उनका विमान बीच मे ही खराब होकर शत्रु के हाथ मे पड जाता है और तुरत ही कुसुम-द्वीप भी अधिकृत हो जाता है।

कुसुम-द्वीप के शक्ति-सचालक तीन व्यक्ति हैं—पुष्पदत, गुणधर और मृदुला। वैसे तो ये तीनो ही अहिंसा मे विश्वास रखने वाले हैं, परतु पुष्पदत और मृदुला आत्म-रक्षा के निमित्त हिंसा का प्रयोग न्याय्य समझते हैं। इसके विपरीत गुणधर एकात अहिंसा का उपासक है। आरभ मे वह भी देश की विपत्तियो का विचार कर शस्त्र ग्रहण कर लेता है। परतु युद्ध की विभीषिका का प्रत्यक्ष दर्शन करने के उपरात,

साथ ही पुष्पदत को भी भस्मक किरण का अवैध उपयोग करते देख वह एकदम युद्ध से विरक्त हो जाता है। पुष्पदत उसे मृत्यु-दड देता है, परतु दंड-विधान पूर्ण होने से पूर्व ही ये तीनो समभोगी के रूप मे मिलते हैं। अब पुष्पदत भी अपनी भूल स्वीकार कर लेता है, और अहिंसक मरण को ही जीवन की मुक्ति मानकर ये तीनो वीर उन्मुक्त हो जाते हैं। अत: 'उन्मुक्त' हिंसा की निष्फल भीषणता प्रदर्शित करता हुआ सत्य और अहिंसा की स्थापना करता है। आधुनिक युद्ध का एकमात्र प्रतिकार अहिंसा है; क्योकि उसी मे सबका हित सुरक्षित है और विजय वही है जिसमें सबका हित हो—'सर्वोदय' हो।

"सब के हित मे लाभ करो निज विजय-श्री का!" यही 'उन्मुक्त' का संदेश है। पराधीन देश के दार्शनिक और कवि विश्व को और क्या सदेश दे सकते है? हो सकता है कि इसे सुनकर कुछ लोग (और उसमे किसी अश तक मैं भी शामिल हू) उसी प्रकार खिन्न हो उठें जिस प्रकार पिछली लडाई के दिनो मे कतिपय अगरेज़ गाधीजी के ऐसे ही सदेश को सुनकर खिन्न हो उठे थे। परतु उसके पीछे मानव-करुणा से ओत-प्रोत एक तपोमयी आत्मा की तडप है, जिसका प्रभाव अनिवार्य है।

इस प्रकार 'उन्मुक्त' की कथा उपलक्ष मात्र है और उसकी समस्त घटनाएं प्रतीक है कवि की उन भावनाओ की जो युद्ध के नृशस समाचार सुन-सुनकर उसके एकाकी मन में जाग्रत हुई हैं। आप सहज ही उन्हे कथावस्तु मे से पृथक् कर देख सकते है।

पहला चित्र आधुनिक युद्ध के सूत्रधार का है :

देखा मैंने सभी ओर घनघोर तिमिर है।
उजड गये ज्योतिष्क-पिंड शशि ग्रह तारादल,
नही कहीं कुछ, शून्य धरातल, शून्य नभस्थल।
फिर भी, फिर भी बोध हुआ ऐसा कुछ मन में,
कोई कुटिल कराल निखिल के प्रेत विजन मे
शवसाधन मे लीन; एक, बस एक वही है,
और अन्य वह अचल पड़ी आक्रात मही है।
किसी लोभ के ज्योतिहीन जन्माध अनल मे,
हुआ निखिल खग्रास!

आगे स्वयं अभियान का अवलोकन कर लीजिये :

बरस पडे विध्वस पिंड सौ-सौ यानो से।
उनका क्या मै कहूँ—घोष दुर्घोष भयकर;
प्रेतो का-सा अट्टहास; शतशत प्रलयकर;
उल्काओं का पतन, वज्रपातो का तर्जन,
नीरव जिनके निकट,—हुआ ऐसा कटु-गर्जन।
कुछ ही क्षण उपरात एक अधीश नगर का,
युग-युग का श्रम-साध्य साधनाफल वह नर का,—

ध्वस्त दिखाई दिया। चिकित्सालय, विद्यालय,
पूजालय, गृह-भवन, कुटीरो के चय के चय,
गिरकर अपनी ध्वस चिताओ मे थे जलते।

तीसरा चित्र है युद्ध मे होने वाले नारीत्व के अपमान का—

सुनो, हुआ हेमा का फिर क्या,
सद्योधिक उस मास-पिंड का, उष्ण रुधिर का
लो भी नरपशु उसे जिलाये रहा रात भर
सैन्य शिविर मे ! पढो, पढ सको यदि धीरज धर
तो पढ लो यह पत्र।

कवि की पुण्य भारती उस अत्याचार का वर्णन करने मे शरमा जाती है और वह एक तीखा व्यंग्य कसकर रह जाता है :

धिक्, धिक्।
कुत्सित घृण्य जघन्य अरे ओ उच्च सास्कृतिक !
तुम ऐसे हो !

'उन्मुक्त' का सबसे मार्मिक एव महत्त्वपूर्ण प्रसग है सुश्रूषालय। यह रुग्ण कवि की आत्मा की सीधी अभिव्यक्ति है। कवि के समान ही आहत गुणधर (जो सचमुच उन्ही का प्रतिरूप है) सुश्रूषालय मे पडा हुआ पिछले दिन की घटना का स्मरण कर रहा है। यह घटना भी युद्ध-सबधी एक कठोर विचित्रता ही की प्रतीक है। आज से बहुत दिन पूर्व—लगभग १०० वर्ष पूर्व कार्लायल ने इस पर व्यग्य किया था

"...For example, there dwell and toil in the British village of Dumdrudge usually some five hundred souls From these by certain natural enemies of the French there are successively selected say thirty ablebodied men And now to that same spot in the south of Spain are thirty similar French artisans from a French Dumdrudge in like manner wending; till at length after infinite effort the two parties come into actual juxtaposition Straightway the word 'Fire' is given, and they blow the souls out of one another Had these men any quarrel ? Busy as the devil is not the smallest ! They lived far enough apart, were the entirest strangers How then ? Simpleton! their governors had fallen out, and instead of shooting one another had the cunning to make these poor block-heads shoot" —Carlyle

यही तथ्य कविता की गहराई लेकर इस प्रसग मे व्यक्त हुआ है। एक मरणासन्न शत्रु सैनिक को किसी अपरिचित भाषा मे कराहते देखकर गुणधर को युद्ध की विषमता का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और उसकी मानवात्मा पिघल पडती है

अब यह किसका शत्रु, पड गया मैं संशय मे।
अविकृत मानव-मात्र सभी का सहज सगोत्री
हम सब-सा ही मरण-यज्ञ मे एक महोत्री।

अतः यह भेद-भाव भूलकर सहानुभूति प्रदर्शित करने लिए उस सैनिक के पास जाता है, परंतु आह रे वंचित मानव ! मरणप्राय वह सैनिक अपनी बची हुई शक्ति समेटकर गुणधर पर वार कर बैठता है। बस, यही पर मानवता की चरम विजय है—गुणधर उस पर रोष नही, दया करता है :

वह सैनिक भी न था और कुछ, वह था मानव;
ऐसा मानव लाभ उठा जिसकी शिशुता का
किसी इतर ने चढा दिया था उस पशुता का
ऊपर का वह खोल। आत्म-विस्मृति ने छाकर
उसका बोध विलोप कर दिया था, मैं उस पर
रोष करूँ या दया ?

जिस प्रकार बरसात मे विद्युत् अथवा आंसुओ के बीच आंख की ज्वाला जल उठती है, उसी प्रकार इन द्रवित भावनाओ में वीरता भी कही-कही चमक उठी है और युद्ध का गौरव-पक्ष भी उपेक्षित नही रहा :

—याद ऐसा भट आया
छिन्न-शीर्ष जो कटे हुए धड का मन भाया
देख रहा हो समर-पराक्रम खुले नयन से।
आ उतरा ज्यो वहाँ मरण के वातायन से
लोचन का फल-लाभ।

आगे कुछ ध्वंस के चित्र हैं, जिनमे से एक में अबोध शिशुओ की हत्या का दृश्य है—वहा स्वर्गगत बच्चो के द्वारा मानव नृशंसता की आलोचना करायी है। इसके उपरांत पराजय है—कुसुम-द्वीप ने शस्त्र समर्पित कर दिये। अधिकार सौपते हुए यूरोप के अनेक प्राइम-मिनिस्टरो की रुद्ध वाणी मानो 'उन्मुक्त' के महामात्य के कंठ मे फूट पडी है :

प्रत्यय है मुझको—
द्वीप की नही है हार, हार यह मेरी है।
आप मे से कोई किसी मागलिक बेला मे
आकर नवीन बल-बुद्धि से, महत्ता से
आज की पराजय को जय मे बदल दें,
मेरी यही कामना है।
भावी उस जेता को
आज का पराजित मैं रुद्ध-निज वाणी से
अर्पित प्रमाण किये जाता हूँ, विनय से,
अच्छा नमस्कार !

परंतु सचमुच यह पराजय कुसुम-द्वीप की नही है। यह हिंसा की पराजय है। पुष्पदंत भी अपनी भूल स्वीकार करता है :

इसी प्रसंग मे मैं कवि की नित्य प्रौढतर होती हुई अभिव्यंजना-शैली के कुछ उदाहरण उपस्थित करने का लोभ संवरण नही कर सकता :

१. रौप्य-द्वीप तो है ध्वस्त; नाम अब उसका
और कुछ हो गया है,—जैसे किसी जन की
मृत्यु हो गयी है, वह निम्न किसी योनि मे
जाकर दिखाई पडे, पोछकर स्मृति से
अपना अतीत एक साथ।

२. स्वेद-सनी बन गयी सलोनी तेरी रोटी।

अंत मे हमे यह देखकर सुख होता है कि सियारामशरणजी की कविता उत्तरोत्तर गंभीर और प्रौढ होती जा रही है। उनकी पिछली कृति 'बापू' एक महान् कविता थी—'उन्मुक्त' उससे भी महत्तर है। इस श्रेणी की कविता पिछले दो-एक वर्षों मे कष्ट-प्राप्य ही रही है।

कवि सियारामशरण की काव्य-साधना अंतर्मुखी है। उसमे चिंतन और अनुभूति का प्राधान्य है। बाह्य जीवन का उपभोग कम करने के कारण उसमें जीवन का वह खट्टा-मिट्ठा रस नही है जो उनके अग्रज मैथिली बाबू के काव्य मे है। परतु हर एक स्थान पर आपको तपःपूत आत्मा का छना हुआ विशुद्ध रस मिलेगा, जिसमे चाहे स्वाद बहुत अधिक न हो, परंतु शांति अनिवार्य है। गाधीवाद के दो पक्ष हैं—एक व्यवहार-पक्ष, दूसरा दर्शन-पक्ष। व्यवहार-पक्ष के कवि हैं मैथिलीशरण गुप्त और दर्शन-पक्ष के कवि हैं सियारामशरण। अथवा हम यह कह सकते हैं कि गाधीवाद के दो पक्ष हैं—एक ओज-पक्ष, दूसरा तप-पक्ष। ओज-पक्ष के कवि आज अनेक है जिनमे नवीन अग्रणी है, तप-पक्ष का एक अकेला कवि है सियारामशरण गुप्त।

कुरुक्षेत्र

'कुरुक्षेत्र' दिनकर की प्रौढतम काव्य-कृति है। पारिभाषिक रूप मे तो इसे सप्त-सर्ग-बद्ध पौराणिक प्रबंध-काव्य कहा जा सकता है; परतु वस्तुत न तो यह पौराणिक है और न प्रबंध-काव्य ही। यह तो अभी समाप्त होने वाले यूरोप के द्वितीय महासमर से प्रेरित एक लंबी चिंता-प्रधान कविता है। इसमे न तो कुरुक्षेत्र का घटना-चक्र है और न उसका क्रमिक निबंध; इसमे तो स्वयं कवि के शब्दों मे उसका शंका-कुल हृदय ही मस्तिष्क के स्तर पर चढकर बोल रहा है। वास्तव मे चिंता-प्रधान कविता की यही परिभाषा है—जब हृदय अपने उद्‌गार सहज और प्रत्यक्ष रूप मे व्यक्त करता है तब गीति-कविता का जन्म होता है, और जब मस्तिष्क के स्तर पर चढकर बोलता है तो चिंता-प्रधान कविता का उद्‌भव होता है। चिंता-प्रधान कविता और नवीन बौद्धिक कविता में स्पष्ट अंतर यही है कि उसमे मस्तिष्क हृदय के स्तर पर चढ़कर बोलता है; अर्थात् उसमे मस्तिष्क के विचार और तर्क-वितर्क भावना का आश्रय लेकर व्यक्त होते हैं, और इसमे हृदय की भावना विचार और तर्क-वितर्क का आश्रय लेकर व्यक्त होती है। पहली मे प्रेषणीय विचार है और भावना माध्यम है; दूसरी मे प्रेषणीय भावना है और विचार माध्यम है। इसीलिए अपने सहज रूप में पहली की अपेक्षा दूसरी में काव्य-तत्त्व की प्रचुरता मिलती है। दिनकर ने स्वय 'कुरुक्षेत्र' के प्रबंध-तत्त्व की सफाई मे कहा है कि इसके प्रबंध की एकता वर्णित विचारों को लेकर है; परंतु उनकी यह धारणा भ्रात है। इसमे एकता विचार की बिल्कुल नहीं है; वरन् युद्ध के औचित्य और अनौचित्य को लेकर उठने वाली उस शंका की है जिसने उनके मन को अस्थिर कर दिया था। इस काव्य मे कुरुक्षेत्र युद्ध का प्रतीक है, युधिष्ठिर और भीष्म कवि के तर्क और वितर्क अर्थात् विचार के दोनो पक्षों के प्रतीक हैं, जिन पर आरूढ होकर उनके मन की द्विविधा समाधान की ओर दौडती है। युधिष्ठिर अहिंसा के प्रतीक हैं जो युद्ध को किसी परिस्थिति में भी उचित नहीं मानते हैं; और भीष्म न्याय-भावना के प्रतीक हैं जो अन्याय के दमन के लिए युद्ध को उचित ही नही, आवश्यक भी मानते हैं। इन दोनो प्रतीकों को लेकर दिनकर ने युद्ध से विक्षुब्ध अपने हृदय और मस्तिष्क की संकुलता से मुक्ति पाने का प्रयत्न किया है। वास्तव मे, उपर्युक्त दोनो पक्ष ही सबल हैं, और कवि के अपने मन की द्विविधा भी उतनी ही तीव्र है। वह उस प्रात का निवासी है जिसमे एक ओर प्रतापी मौर्य और गुप्त-सम्राट् हुए हैं, और दूसरी ओर भगवान् बुद्ध। कहने का तात्पर्य यह

है कि विनय और उदग्रता, क्षमा और शौर्य दिनकर के संस्कारो मे रमे हुए है। इसी-लिए वह इन दोनो पक्षो की अत्यत सशक्त और तीव्र अभिव्यक्ति करने मे समर्थ हुए हैं।

देखिए, महाभारत-विजेता धर्मराज युधिष्ठिर अपनी विजय को कुरुक्षेत्र में बिछी लाशो से तोल रहे हैं। सामने महाभारत के उपरात कुरुक्षेत्र का दृश्य है :

जहाँ भयकर भीमकाय शव-सा निस्पंद, अशात;
शिथिल-श्रात हो लेट गया है स्वय काल विक्रात।
रुधिर-सिक्त अचल मे नर के खडित लिये शरीर;
मृतवत्सला विषण्ण पडी है धरा, मौन गंभीर।

× × ×

यह उच्छिष्ट प्रलय का, अहि-दशित मुमूर्षु यह देश;
मेरे हित श्री के गृह मे वरदान यही था शेष !

युधिष्ठिर एक साथ चीख उठते हैं :

मनु का पुत्र बने पशु-भोजन, मानव का यह अंत !
भरत भूमि के नर-वीरो की यह दुर्गति, हा हत !

इस महाश्मशान के साथ जब वे अपनी विजय की तुलना करते है तो उन्हें सहज ही इसकी तुच्छता का ज्ञान हो जाता है :

कुछ के अपमान के साथ, पितामह,
विश्व-विनाशक युद्ध को तोलिये।

उनका न्याय-अन्याय का विचार ही मानो उस महानाश की ज्वाला मे जल कर भस्म हो जाता है, और वे सोचते हैं कि :

द्रुपदा के पराभव का बदला कर, देश का नाश चुकाना था क्या ?

वे ग्लानि से अभिभूत हो जाते हैं; उनकी विजय ही मानो उन पर व्यंग्य कर रही है :

एक शुष्क कंकाल, युधिष्ठिर की जय की पहचान;
एक शुष्क ककाल, महाभारत का अनुपम दान।

यहां तक कि वे उससे डरने लगते है : उसका भोग करना उन्हे ऐसा लगता है, जैसे हाल ही में विधवा हुई किसी 'दु खिनी के साथ ब्याह का साज सँजोना'।

इस प्रकार एक ओर कुरुक्षेत्र मे होने वाले भयकर रक्तपात और दूसरी ओर विजेता युधिष्ठिर के मन को कचोटने वाली तीव्रतम ग्लानि के द्वारा कवि ने युद्ध के विपक्ष मे अपनी भाव-प्रेरित गंभीर युक्तिया उपस्थित की हैं।

इस पाप का युधिष्ठिर के मन पर ऐसा आतक छा जाता है कि वे अपने को संपूर्ण मानवता के प्रति अपराधी मान बैठते हैं और लज्जा को छिपाने के लिए दुनिया को ही छोडकर भाग जाना चाहते है :

मानव को देख आँखें आप झुक जाती, मन।
चाहता अकेला कही भाग जाऊँ वन मे।

क्योकि—

व्यग्य से बिंधेगा वहाँ जर्जर हृदय तो नही,
वन मे कही तो धर्मराज न कहाऊँगा।

इसके विपरीत युद्ध का दूसरा पक्ष भी है; उसके समर्थन मे मृत्युजय भीष्म की भावदीप्त वाणी सुनिए।

है बहुत देखा सुना मैंने मगर, भेद खुल पाया न धर्माधर्म का।
आज तक ऐसा कि रेखा खीचकर, बाँट दूँ मैं पुण्य को औ' पाप को।
जानता हूँ किंतु जीने के लिए, चाहिए अगार जैसी वीरता।
पाप हो सकता नही वह युद्ध, जो है खडा होता ज्वलित प्रतिशोध पर।

तप, करुणा, क्षमा, विनय और त्याग—ये सभी व्यक्ति की शोभा हैं, परंतु जब प्रश्न 'व्यक्ति' का न रहकर 'समुदाय' का हो जाता है, उस समय तो युद्ध द्वारा अन्याय का दमन मनुष्य का परम धर्म बन जाता है। और फिर युद्ध का होना किसी एक व्यक्ति या एक जाति पर निर्भर तो नही है, वह तो अनेक व्यक्तियो और जातियों के हृदय मे न जाने कब से सुलगती हुई अग्नि का महा-विस्फोट है जो सर्वथा अनिवार्य होता है। कुरुक्षेत्र के युद्ध के लिए केवल युधिष्ठिर और दुर्योधन ही उत्तरदायी नही थे, और न केवल उनके परिवार ही; वह तो सपूर्ण भारतवर्ष का ही विस्फोट था.

न केवल यह कुफल कुरुवश के सघर्ष का था—
विकट विस्फोट यह सपूर्ण भारतवर्ष का था।

न जाने कितने युगो से विश्व मे विष-वायु बहती आ रही थी। अनेक योद्धा और अनेक वश परस्पर वैर-साधन के लिए तैयार बैठे थे और समर का कोई दृढ़ आधार खोज रहे थे। कही कोई दूसरे की शूरता के प्रति ईर्ष्या से जल रहा था, किसी के हृदय मे दूसरे की क्रूरता के प्रति क्षोभ था। कही एक राजा का उत्कर्ष दूसरे राजाओ को खटक रहा था, किसी के हृदय मे प्रतिशोध की ज्वाला जल रही थी। एक ओर राधेय कर्ण पार्थ-वध का प्रण निभाना चाहता था, दूसरी ओर द्रुपद गुरु द्रोण से वैर-शुद्धि के लिए व्यग्र था। इधर शकुनि अपने पिता का ऋण चुकाने के लिए दुर्योधन पर माया फैला रहा था, उधर भगवान् कृष्ण के सुधारो मे चिढे हुए राजाओं का अभिमान भीतर-ही-भीतर धुधुआ रहा था। इसके अतिरिक्त और जो कुछ शेष था वह पाडवो के राजसूय ने पूरा कर दिया। इस प्रकार परस्पर के कलह और वैर से अपने-आप ही सारा भारतवर्ष दो दलो मे विभक्त हो चुका था, और दोनो ही ही दल :

खडे थे वे हृदय मे प्रज्वलित अगार लेकर—
धनुर्ज्या को चढा कर म्यान मे तलवार लेकर।

युद्ध के कारणो के इस क्रमिक विकास का, ज्वाला का प्रतीक लेकर, कवि ने अत्यंत भावपूर्ण वर्णन किया है।

युद्ध-विषयक इन्ही दो प्रतिक्रियाओ द्वारा विभक्त कवि का मन अत मे समाधान की ओर दौडता है। आखिर, इस द्विविधा का अंत कहा है! इसी का विचार

करता हुआ वह फिर द्वापर के महाभारत को छोड बीसवी शताब्दी के द्वितीय महायुद्ध की ओर लौट आता है और बुद्धि के अतिचार मे युद्ध के कारण की खोज करता है :

किंतु है बढता गया मस्तिष्क ही नि शेष,
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश;
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्यौहार,
प्राण मे करते दुखी हो देवता चीत्कार।
चाहिए उनको न केवल ज्ञान,
देवता हैं माँगते कुछ स्नेह, कुछ बलिदान;
मोम-सी कोई मुलायम चीज,
ताप पाकर जो उठे मन मे पसीज-पसीज।

× × ×

ले चुकी सुख-भाग समुचित से अधिक है देह
देवता हैं माँगते मन के लिए लघु गेह।

मानव-मन के देवताओ को यह लघु-गेह बुद्धि के विशाल कक्ष मे न मिलकर हृदय के छोटे और गर्म कोने मे मिलेगा, अर्थात् आज की विषमताओ का, जिनका सबसे भयकर परिणाम युद्ध मे प्रकट होता है, समाधान विज्ञान द्वारा संभव न होकर स्नेह द्वारा ही संभव है :

रसवती भू के मनुज का श्रेय,
यह नही विज्ञान कटु आग्नेय।
श्रेय उसका प्राण मे बहती प्रणय की वायु,
मानवो के हेतु अर्पित मानवो की आयु।
श्रेय उसका आँसुओ की धार,
श्रेय उसका भग्न वीणा की अधीर पुकार।
दिव्य भावो के जगत मे जागरण का गान
मानवो का श्रेय, आत्मा का किरण-अभियान।

मानव का मानव के प्रति यही मुक्त आत्म-दान अत मे जीवन के साम्य को जन्म देता है; वहां सारे वैषम्य दूर हो जाते है। वैयक्तिक भोगवाद इन वैषम्यो का मूल कारण है; इसी के कारण क्रमश: राज-तंत्र, दड-विधान आदि शोषण की अनेक विधियो का जन्म हुआ है। इसका अंत करते हुए साम्य-भाव की स्थापना ही मानो जीवन की मुक्ति है :

वल्कल-मुकुट, परे दोनो के छिपा एक जो नर है,

× × ×

जिस दिन देख उसे पावेगा मनुज ज्ञान के बल से,

× × ×

उस दिन होगा सुप्रभात नर के सौभाग्य-उदय का,
उस दिन होगा शंख ध्वनित मानव की महाविजय का।

भीष्म पितामह युधिष्ठिर को अत मे यही उपदेश देते हैं—सन्यास, भाग्यवाद आदि सभी व्यक्तिवाद के छल-छद हैं, वे तो जीवन से पलायन करने के मार्ग हैं, उन्हे मुक्ति-पथ समझना भ्रम है।

परतु सुख का वास्तविक रूप क्या है, यह प्रश्न भी कम गभीर नही है। साधारणत इसके दो उत्तर सामने आते हैं : एक तो देह के आनद का सर्वथा निषेध करता हुआ आत्मा के आनद को ही सच्चा सुख मानता है, और दूसरा आत्मा के आनद को मिथ्या कल्पना कहता हुआ सुख का अर्थ भौतिक उपभोग ही कहता है। परतु वास्तविक सुख दोनो के सामजस्य मे ही है। इसमे सदेह नही कि सुख का मूल आधार भौतिक ही है

नर जिस पर चलता वह मिट्टी है, आकाश नही है।

परतु फिर भी लिप्सा पर विजय प्राप्त कर इस भौतिक सुख का सस्कार करना अनिवार्य है .

और सिखाओ भोगवाद की यही रीति जन-जन को,
करें विलीन देह को मन मे, नही देह मे मन को।

स्पष्टत. ही युद्ध-समस्या का यह मानववादी समाधान है। मिट्टी की महिमा, व्यक्तिवाद के सभी रूपो और उसकी सभी अभिव्यक्तियो का जैसे वैयक्तिक भोगवाद, राजतत्र, दंड-विधान, सामाजिक वैषम्य और उधर सन्यास, आध्यात्मिक साधना आदि का तिरस्कार, समाजवादी जीवन-दर्शन के प्रभाव की ओर इगित करता है। और, निश्चय ही दिनकर को उसके प्रति गहरी आस्था है; परतु उन्होने उसके व्यापक और परिष्कृत रूप को ही ग्रहण किया है। उनके सस्कारो पर भारतीय आदर्शवाद का गहरा प्रभाव है, इसीलिए उनका दृष्टिकोण सर्वथा भौतिक कही नही हो पाया। एक सूक्ष्म आदर्शोन्मुखी चेतना उसमे परिव्याप्त है जो उसे स्थूल ऐहिकता से ऊपर उठाये रखती है।

युद्ध के ये दोनो पक्ष वास्तव मे वैयक्तिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण के ही परिणाम हैं, और उनके बीच की द्विविधा जीवन मे व्यक्ति-तत्त्व और समाज-तत्त्व के बीच की द्विविधा ही है, जो दिनकर के मन का मूल द्वद्व है। इन दोनो पक्षो को कवि ने इतने सबल रूप मे रखा है कि पाठक दोनो ही दिशाओ मे बहने लगता है। युधिष्ठिर और भीष्म दोनो के ही शब्दो मे अनिवार्य बल है और उन्हें यह बल मिला है कवि की द्विविधाग्रस्त अनुभूति से। केवल अंतिम सर्ग मे आकर जब समाधान की खोज हुई है, तभी उसे बुद्धि पर आश्रित होना पडा है, और ऐसा प्रतीत होता है जैसे बुद्धिपूर्वक इस द्विविधा को मिटाने का प्रयत्न किया गया है। इसीलिए काव्य की दृष्टि से यह सर्ग थोडा निर्बल हो गया है और विचारो मे भी एक उलझन-सी पड गयी है। भीष्म के तर्क, जो इससे पूर्व अनुभूति से पुष्ट थे, यहा आकर सैद्धातिक व्याख्यान का रूप धारण कर प्राय. अपनी शक्ति खो बैठे हैं।

'कुरुक्षेत्र' मे आकर दिनकर की कला मे एक स्तुत्य प्रौढता आ गयी है। उन्होने यहां विस्तृत काव्य-सामग्री का बिना अभ्यास के प्रयोग करते हुए विराट् और कोमल

चित्र उपस्थित किये हैं। मृत्युंजय भीष्म का एक विराट् चित्र देखिए :

> शरो की नोक पर लेटे हुए गजराज जैसे,
> थके-टूटे गरुड-से, स्रस्त पन्नगराज जैसे,
> मरण पर वीर-जीवन का अगम बल-भार डाले,
> दबाये काल को, सायास सज्ञा को सँभाले,

नीचे की पक्तियो मे अन्यायपूर्ण शाति को कितने अर्थपूर्ण शब्दो मे चित्रबद्ध किया गया है :

> आनन सरल, वचन मधुमय है, तन पर शुभ्र वसन है,
> बचो युधिष्ठिर! इस नागिन का विष से भरा दशन है।

इसी प्रकार अभिव्यंजना मे भी अद्भुत वक्रता, अर्थ-गौरव और समास-गुण मिलता है।

दिनकर की कला की प्रमुख विशेषता उसकी सुख-सरल गति है। 'कुरुक्षेत्र' की काव्य-सामग्री के नियोजन मे, शब्द-विन्यास मे, छद और लय की योजना मे, सर्वत्र यही सुख-सरल गति मिलती है। उसमे कही भी काट-छाट, जडाव या बनाव-सिगार का प्रयत्न नही और इसका कारण भी उनकी सबल अनुभूति ही है जो अनायास ही वाग्धारा मे फूट उठती है।

हिंदी के कवियो ने वर्तमान युद्ध से प्रेरणा प्राप्त कर अनेक कविताए लिखी हैं, परतु उनमे से अधिकाश स्थायी नही हो पायेगी, इसका कारण एक तो यही है कि इस युद्ध का प्रभाव हमारे ऊपर सीधा नही पडा। अतएव इससे हमे वह गभीर प्रेरणा न प्राप्त हो सकी जो रस-दीप्त कविता को जन्म देती है। सब मिलाकर दो-चार रचनाएं ऐसी हैं जो आधुनिक हिंदी-कविता की स्थायी निधि हो सकेंगी और इनमे सबसे उत्कृष्ट हैं श्री सियारामशरण का काव्य 'उन्मुक्त' और दिनकर का 'कुरुक्षेत्र'। इन दोनो के जीवन-दर्शनो मे एक प्रकार का वैपरीत्य है, परतु उनमे एक बात समान है। वह यह कि युद्ध के प्रति इनकी प्रतिक्रिया शुद्ध मानवीय अथवा मानववादी है; सैद्धातिक अथवा राजनीतिक नही। युद्ध के सामयिक रूप को न लेकर इन कवियो ने उसके शाश्वत रूप को ही ग्रहण किया है। एक ओर युद्ध से होने वाले भीषण नर-मेघ की मानव-वृत्तियो पर क्या क्रिया-प्रतिक्रिया होती है, और दूसरी ओर उसके आह्वान पर मनुष्य के संपूर्ण पौरुष और शौर्य की किस प्रकार परीक्षा होती है, मूलतः यही इनका वर्ण्य विषय रहा है। निदान उनमे युद्ध के विराट् और करुण दोनो पक्षो का भव्य चित्रण मिलता है। दोनो ने अपने-अपने स्वभाव और सस्कारो के अनुसार इसी की अभिव्यक्ति की है। इसमे सदेह नही कि इन कवियो की बौद्धिक मान्यताएं भी उनके साथ रही हैं, परतु वे अनुभूति की पोषक ही रही हैं, उसकी प्रेरक अथवा स्थानापन्न प्रायः नही हो पायी। इनकी सफलता का दूसरा कारण यह है कि उन्होने युद्ध के विरुद्ध यो ही नारे बुलद नही किये, वरन् काव्य की व्यजनात्मक शैली का प्रयोग किया है। सियारामशरणजी ने रूपक का और दिनकर ने कुरुक्षेत्र की पृष्ठभूमि का आश्रय लेकर हमारे सस्कार और कल्पना को भी जगाने मे सफलता प्राप्त की है।

इसीलिए औरो की अपेक्षा इनका प्रभाव अधिक सूक्ष्म और गहरा हो गया है। हिंदी मे आजकल कोमल और मधुर भावना के अमर कवि अनेक हैं; परतु विराट्-भाव को अपने पौरुष-दीप्त स्वरो मे बाधने वाले कवि प्रसाद और निराला के बाद मुश्किल से नजर आते है। दिनकर का गौरव यह है कि उनको विराट् और कोमल पर समान अधिकार प्राप्त है। आज प्रसाद, पत, निराला और महादेवी का युग समाप्त-सा ही हो गया है, और अनेक प्रकार के नवीन जीवन-दर्शन तथा घोषणा-पत्रो के होते हुए भी हिंदी काव्यधारा उतार पर है। जब मैं उनके उत्तराधिकारियो की ओर दृष्टि डालता हू तो सबसे अधिक आशा दिनकर से ही होती है।

उर्वशी

आलोचना की प्रक्रिया के मूलत: तीन अग या सोपान हैं—१. प्रभाव-ग्रहण, २. व्याख्यान-विश्लेषण, और ३. मूल्याकन। आज कविता' और आलोचना दोनो के क्षेत्र मे नये प्रयोग हो रहे है, और एक ओर जहा 'नयी कविता' का जोर है, वहा दूसरी ओर उसी के वजन पर 'नयी आलोचना' भी जोर पकड रही है। 'उर्वशी' का प्रकाशन इस साहित्यिक सत्य का अतर्क्य प्रमाण है कि कविता को 'अच्छी' या 'बुरी' कहना जितना आसान है उतना आसान 'नयी' या 'पुरानी' कहना नही है। इसी तर्क से मेरे लिए आलोचक का कर्तव्य-कर्म और आलोचना की प्रक्रिया आज भी वही है। 'उर्वशी' का मैं, एक सहृदय पाठक की तरह, अशत: कवि-मुख से सुनकर और अब बाद मे स्वयं मनोयोग के साथ पढकर रस ले चुका हू और अब इस स्थिति मे हू कि उसकी आलोचना कर सकू।

प्रभाव-ग्रहण

'उर्वशी' के अधिकाश प्रसगो को पढने मे मुझे निश्चय ही रस मिला। भाव, कल्पना और विचार से परिपुष्ट 'उर्वशी' की कविता मे भावो को आदोलित करने, प्रबुद्ध कल्पना के सामने मूर्त-अमूर्त के रमणीय चित्र अकित करने और विचार को उद्बुद्ध करने की अपूर्व क्षमता है। नर-नारी का प्रेम—दर्शन की शब्दावली मे काम तथा काव्यशास्त्र की शब्दावली मे रति मानव-जीवन की सबसे प्रबल वृत्ति है, और 'उर्वशी' के काव्य का वही आधार-विषय है। काम की अनुभूति के सूक्ष्म-प्रबल, कोमल-कठोर तरल-प्रगाढ, मोहक-पीडक, उद्वेगकर और सुखकर, दाहक और शीतल, मृण्मय और चिन्मय अनेक रूपों का 'उर्वशी' मे अत्यत मनोरम चित्रण है और सबसे अधिक आकर्षक है प्रेम की उस चिर-अतृप्ति का चित्रण जो भोग से त्याग और त्याग से भोग अथवा रूप से अरूप और अरूप से रूप की ओर भटकती हुई मिलन तथा विरह मे समान रूप से व्याप्त रहती है। भाव-संवेदन की यह अनेकरूपता अपने-आप मे भी कम काम्य नही है, किंतु इससे भी अधिक महत्त्व है उस अतर्दर्शन का जो अवचेतन या अर्धचेतन मे घुमडने वाले इन अर्ध सवेदनो को चेतन मन के आलोक प्रस्तुत करता है और कदाचित् इससे भी अधिक महत्त्व है कवि की उस प्रख्या का जो इन अरूप झंकृतियो को कल्पना-रमणीय रूप प्रदान करती है। इन सभी प्रसंगो के उदाहरण देना यहां सभव नही है—केवल तीन उद्धरण देकर मैं अपने मत को पुष्ट करता हूं जो क्रमश:

संवेदन की सूक्ष्मता, तीव्रता और प्रगाढ शक्ति को चित्रित करते है :

१ (क) देह डूबने चली अतल मन के अकूल सागर मे,
किरणें फेंक अरूप रूप को ऊपर खींच रहा है।

(ख) जब भी तन की परिधि पार कर मन के उच्च निलय मे
नर-नारी मिलते समाधि-सुख के निश्चेत शिखर पर
तब प्रहर्ष की अति से यो ही प्रकृति कांप उठती है,
और फूल यो ही प्रसन्न होकर हँसने लगते है।

२. (क) वह विद्युन्मय स्पर्श तिमिर है पाकर जिसे त्वचा की
नीद टूट जाती, रोमो मे दीपक बल उठते हैं।
वह आलिंगन अंधकार है, जिसमे बँध जाने पर
हम प्रकाश के महासिन्धु मे उतराने लगते हैं।
और कहोगे तिमिर-शूल उस चुम्बन को भी जिससे
जडता की ग्रन्थियाँ निखिल तन-मन की खुल जाती हैं।

(ख) जला जा रहा अर्थ सत्य का सपनो की ज्वाला मे,
निराकार मे आकारो की पृथ्वी डूब रही है।
यह कैसी माधुरी ? कौन स्वर लय मे गूँज रहा है ?
त्वचा-जाल पर, रक्त-शिराओ मे, अकूल अन्तर मे ?
ये ऊर्मियाँ ! अशब्द नाद ! उफ री बेबसी गिरा की !
दोगे कोई शब्द ? कहूँ क्या कह कर इस महिमा को ?

३ उफ री यह माधुरी ! और ये अधर विकच फूलो-से !
ये नवीन पाटल के दल आनन पर जब फिरते हैं,
रोम-कूप, जानें, भर जाते किन पीयूष-कणो से !
और सिमटते ही कठोर बाँहो के आलिंगन मे,
चटुल एक पर एक उष्ण ऊर्मियाँ तुम्हारे मन की
मुझ मे कर सक्रमण प्राण उन्मत्त बना देती हैं।
कुसुमायित पर्वत-समान तब लगी तुम्हारे तन से
मैं पुलकित-विह्वल, प्रसन्न-मूर्च्छित होने लगती हूँ।
कितना है आनद फेंक देने मे स्वय स्वयं को
पर्वत की आसुरी शक्ति के आकुल आलोडन मे ?

इसी प्रकार कई प्रसग ऐसे हैं जो काव्य-गुण की दृष्टि से अपूर्व हैं। जैसे प्रथम अंक मे दिव्य और मानवीय प्रेम का भेदाभेद, पुरूरवा का अतर्द्वन्द्व, गर्भिणी उर्वशी का चित्र, अभिशप्ता उर्वशी की पीड़ा, अतिम अक मे औशीनरी की विचित्र स्थिति आदि। पुरूरवा के अतर्द्वन्द्व में विचारवान् पुरुष की कामानुभूति की द्विविधा का चित्रण है—सामान्य, जैव स्तर पर कामानुभूति अंधी ऐंद्रिय तृप्ति है—किंतु मेधावी पुरुष की सक्रिय मेधा इस एकरस तृप्ति के अखड उपभोग मे बाधा पहुचाती है। मन के अनेक संकल्प-विकल्पो के प्रभाव से रक्तधारा की इस क्रीडा मे ऐसी विषमता उत्पन्न हो जाती

है जिसके कारण कामानुभूति मधुर और कटु संवेदनो का विचित्र मिश्रण बनकर रह जाती है। मनोविश्लेषणशास्त्र के पास इस द्विविधा का अपना भौतिक समाधान है, किंतु दिनकर आत्मवादी हैं—उनकी चेतना रूप से अरूप, मृण्मय से चिन्मय की ओर जाती है, अर्थात् काम के आधिभौतिक आस्वाद तथा आध्यात्मिक आस्वाद के बीच भटक जाती है। आत्मा की सत्ता मे विश्वास करने वाले के लिए यह आध्यात्मिक या चिन्मय आस्वाद एक सहज सत्य है और वह मृण्मय से तुरंत ही ऊपर उठकर वहां पहुंच जाता है, जैसा कि उपनिषद्-काल के ऋषियो या मध्यकाल के सूफी संतो और मधुरोपासक भक्तो के विषय मे माना जा सकता है। उस स्थिति मे द्विविधा मिट जाती है। किंतु पुरूरवा आज के युग का भारतीय पुरुष है—जो संस्कारवश चिन्मय आस्वाद को न तो सर्वथा अस्वीकार कर मृण्मय आस्वाद के अमिश्र रस का भोग कर सकता है और न अपने पूर्वजो की भांति मृण्मय अनुभूति का सहज परित्याग कर चिन्मय अनुभूति में लीन हो सकता है। केवल मनोविज्ञान के धरातल पर भी इस द्वद्व की व्याख्या सभव है। आज के बुद्धिजीवी के लिए कामसुख मे सर्वथा तल्लीन होना संभव नही है क्योकि उसकी जागरूक बुद्धि और उसके द्वारा निरतर शाणित अहकार आत्मनिलय मे बाधक होता है, परंतु साथ ही काम के प्रति अबाध आसक्ति से भी वह पीडित है और उससे भी मुक्ति पाना उसके लिए सभव नही है। इस प्रकार काम-चेतना की अनुभूति मे एक विचित्र वैषम्य उत्पन्न हो जाता है जो प्रगाढ सुख देकर भी शाति से वचित कर देता है। दिनकर ने स्वानुभूति मे डूबकर इस अंतर्द्वन्द्व का गहरा चित्रण किया है और यह चित्रण भाव-सवेदन तथा अभिव्यजना-कला दोनो की दृष्टि से निश्चय ही अत्यंत समृद्ध है।

अनुभूति का विचार भी कम रमणीय नही होता—परतु वह सबके लिए सभव नही है। भाव का दर्शन सहानुभूति की, जिसे दिनकर ने संबुद्धि कहा है, प्रौढता की अपेक्षा करता है। 'उर्वशी' के कवि की प्रतिभा इस विशिष्ट गुण से समृद्ध है। उसके अनुभूति और चिंतन-पक्ष दोनो ही समृद्ध हैं इसलिए आवेश को विचार मे अर्थात् संवेदनो को प्रत्ययो मे और विशेष अनुभव को सामान्य ज्ञान मे परिणत करने की कला मे वह सिद्धहस्त है

१. प्रेम मानवी की निधि है, अपनी तो वह क्रीडा है।
प्रेम हमारा स्वाद, मानवी की आकुल पीडा है॥

२. गलती है हिमशिला सत्य है गठन देह की खोकर,
पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर!

३. रूप की आराधना का मार्ग
आलिगन नही तो और क्या है?
स्नेह का सौदर्य को उपहार
रस-चुबन नही तो और क्या है?

४. बुद्धि बहुत करती बखान सागर-तट की सिकता का,
पर, तरंग-चुबित सैकत मे कितनी कोमलता है,
इसे जानती केवल सिहरित त्वचा नग्न चरणो की॥

५. नारी क्रिया नही, वह केवल क्षमा, शांति, करुणा है,
इसीलिए, इतिहास पहुँचता जभी निकट नारी के—
हो रहता वह अचल या कि फिर कविता बन जाता है।

इस प्रकार के प्रसगो अथवा सूक्तियो की मार्मिकता का रहस्य यह है कि इनमे विचार अनुभूत होकर या अनुभव तर्क से पुष्ट होकर सामने आता है। केवल भावना प्रायः तरल होकर बह जाती है और केवल तर्क मस्तिष्क के आकाश मे तरगें पैदा कर विलीन हो जाता है—वह हृदय का स्पर्श नही करता। किंतु जब कल्पना के द्वारा इनका समन्वय हो जाता है तो दोनो का ही विशेष उपकार होता है. भाव तर्क से शक्ति और तर्क भाव से रस पाकर रमणीय बन जाते हैं।

'उर्वशी' की विंब-योजना अत्यत समृद्ध है। उसमे शब्द, रूप, रस और स्पर्श के छोटे-बड़े अनेक विंब हैं। इन विंबो की रेखाए कही सूक्ष्म-तरल, कही तीखी और दृढ, कही विराट् एवं सघन हैं—इनके रंग चित्र-विचित्र और भास्वर हैं। समृद्धि और वैचित्र्य मे यदि वे पत के विंबो से हीनतर हैं तो आयाम मे उनसे बढकर भी हैं, इसी प्रकार यदि प्रसाद और निराला के विंबविधान अपने आयाम के कारण दिनकर के विंबविधान से भव्यतर हैं तो समृद्धि मे दिनकर की विंब-योजना भी उनसे कम नही है। छायावादी कवियो की अपेक्षा दिनकर का विंबविधान अधिक मूर्त, प्रत्यक्ष और अनुभवगम्य है। उसमे चित्रकला के साथ मूर्तिकला के गुण विद्यमान हैं—वह वायवी कम और लौकिक अधिक है। नयी कविता का वैविध्य—रूपरेखा की स्पष्टता और दृढता तो इन विंबो मे है, किंतु दिनकर की शुद्ध कवि-रुचि ने उन्हे विद्रूप, वीभत्स, विशृंखल तत्त्वो से सर्वथा मुक्त रखा है। गोचर होने पर भी वे स्थूल नही हुए, पुनरावृत्ति दोष से मुक्त होने पर भी वैचित्र्य के मोह मे वे अनगढ और भद्दे नही बने। वस्तुत 'उर्वशी' की विंब-योजना अत्यंत समृद्ध है—विराट् और कोमल, उदात्त और मधुर विंबो का ऐसा अपूर्व सकलन आधुनिक युग के बहुत कम काव्यो मे मिलता है। सपूर्ण काव्य की एक रगीन चित्रशाला है जिसमे शब्द और अर्थ की व्यंजनाओ ने अंकित नखचित्र, रेखाचित्र, रगचित्र, तैलचित्र और विराट् भित्तिचित्र जगमग कर रहे हैं। 'उर्वशी' की विषयवस्तु ऐहिक और मूर्त न होकर सूक्ष्म तथा मनोमय है, इसलिए 'उर्वशी' के कवि को उसे विंबित करने मे सामान्य से अधिक आयास करना पडा है और उसकी कौशल एवं सिद्धि उसी अनुपात मे अधिक स्तुत्य हैं।

१. रात्रि के वैभव का एक मूर्त चित्र देखिए—

सम्राज्ञी विभ्राट, कभी जाते इसको देखा है
समारोह-प्रागण मे पहने हुए दुकूल तिमिर का
नक्षत्रो से खचित, कूल-कीलित भालरें विभा की,
गूंथे हुए चिकुर मे सुरभित दाम श्वेत फूलो के ?
और सुना है वह अस्फुट मर्मर कौशेय वसन का
जो उठता मणिमय अलिद या नभ के प्राचीरो पर

मुक्ता-भर, लबित दुकूल के मद-मद घर्षण से,
राज्ञी जब गर्वित गति से ज्योतिर्विहार करती है ?

२. अब आनद के क्षण को मूर्तित करनेवाला एक बिंब देखिए :

प्रिय ! उस पत्रक को समेट लो जिसमे समय सनातन
क्षण, मुहूर्त, सवत्, शताब्दि की बूंदो मे अकित है।
बहने दो निश्चेत शांति की इस अकूल धारा मे,
देश-काल से परे छूट कर अपने भी हाथो से।
किस समाधि का शिखर चेतना जिस पर ठहर गई है ?
उडता हुआ विशिख अंबर मे स्थिर-समान लगता है।

३. और अत मे एक अत्यत सूक्ष्म बिंब का निरीक्षण और कीजिए—अपने ही घर की भयकर उथल-पुथल को निरीह भाव से देखने वाली औशीनरी कहती है—

जो कुछ हुआ, देख उसको मैं कितनी मौन रही हूँ;
कोलाहल के बीच मूकता की अकप रेखा-सी।

बिंब-योजना की इस समृद्धि के लिए कल्पना के साथ ही दिनकर की समर्थ भाषा भी कम उत्तरदायी नही है। इस शती के चौथे दशक मे छायावादी भाषा की असामान्यता के विरुद्ध विद्रोह करते हुए उसको व्यवहार की भाषा के निकट लाने का सफल प्रयत्न जिन कवियो ने किया था, दिनकर और बच्चन उनमे अग्रणी थे। दोनो ने सीधी अर्थव्यक्ति के लिए भाषा को तैयार किया। किंतु बच्चन की भाषा जहा जनभाषा का नैकट्य प्राप्त करने के प्रयास मे सस्कृत के अक्षय रत्नकोष से वचित हो गयी, वहा दिनकर ने उसका भी भरपूर उपयोग किया। फलत. उसमे छायावाद की लाक्षणिक समृद्धि के साथ-साथ व्यावहारिक भाषा के प्रत्यक्ष प्रभाव का भी यथोचित समावेश हो गया और एक नयी शक्ति एव स्फूर्ति आ गयी :

१. पर सोचो तो मर्त्य मनुज कितना मधुरस पीता है !
दो दिन ही हो, पर कैसे वह धधक-धधक जीता है !
२. जाने, कितनी बार चन्द्रमा को, बारी-बारी से,
अमा चुरा ले गयी और फिर ज्योत्स्ना ले आयी है।
३. पर यह परिरभण प्रकाश का मन का रश्मि-रमण है।
४. और वक्ष के कुसुम-कुज सुरभित विश्राम-भवन ये,
जहाँ मृत्यु के पथिक ठहर कर श्रांति दूर करते हैं।
५ हारी मैं इसलिए कि मेरे व्रीडा-विकल दृगो मे
खुली धूप की प्रभा, किरण कोलाहल की गडती थी।

इन उद्धरणो की भाषा मे सौंदर्य-समृद्धि के साथ एक मोहक ताजगी है जो छायावादोत्तर काव्य-भाषा की काम्य उपलब्धि है। किंतु, जहा कवि मे व्यवहार की भाषा या जनभाषा का जोश काव्य-रुचि का अतिक्रम कर उमडा है, वहा अभिव्यक्ति नग्न हो गयी है.

१. लगता है यह जिसे, उसे फिर नीद नही आती है;
दिवस रुदन मे, रात आह भरने मे कट जाती है।
२. अच्छी है यह भूमि यहाँ बूढी होती है नारी।
३ तूने भी रभे निर्घिन ! क्या बातें बतलायी है।
४. नित्य नई सुदरताओ पर मरते ही रहते हैं।

—और, आप ध्यान रखें कि ये उक्तिया कल्पना-विलासिनी अप्सराओ की है, ग्रामीणाओ की नही।

व्याख्यान-विश्लेषण

'उर्वशी' का मूल प्रतिपाद्य क्या है ? यह प्रश्न स्वभावत प्रत्येक जागरूक पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है। जैसा कि कवि ने अपनी भूमिका मे स्पष्ट किया है, 'उर्वशी' का मूल विषय काम या प्रेम है—यह काव्य दर्शन और मनोविज्ञान के द्वारा जीवन के काम-पक्ष की व्याख्या करता है। काम या प्रेम के अनेक रूप हैं। एक उर्वशी का प्रेम है जो शुद्ध ऐंद्रिय भोग का प्रतीक है—उर्वशी देवलोक से मानवलोक मे केवल ऐंद्रिय सुख के सपूर्ण उपभोग के लिए आती है। देवसृष्टि का काम अतीद्रिय है जो चेतना भर उत्पन्न करता है किंतु परितृप्ति की तन्मयता उसमे नही है। ऐसा लगता है जैसे उर्वशी के प्रेम के द्वारा कवि ने अपने पूर्ववर्ती छायावादी काव्य के अतीद्रिय शृगार के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त की है। उर्वशी की भावना के चित्रण मे कवि पर फ्रायड के मनोविश्लेपणशास्त्र का भी गहरा प्रभाव है—फ्रायड की काम-चेतना (लिबिडो)-विषयक मौलिक धारणा उर्वशी के स्वरूप-विश्लेपण मे स्थान-स्थान पर मुखरित हो उठी है (देखिए, पृष्ठ ६०)। काम का दूसरा रूप मिलता है पुरुरवा मे। पुरूरवा का प्रेम, जैसा कि मैंने अभी स्पष्ट किया है, सहज मानवीय प्रेम है। मानव-चेतना के आधार-तत्त्व तीन हैं—इद्रिया, मन और चैतन्य आत्मा, इनमे प्रथम दो सर्वस्वीकृत है, तीसरे के विषय मे मतभेद है। पुरूरवा का स्रष्टा तीसरे तत्त्व मे विश्वास करता है, अत प्रस्तुत प्रसग मे उसे भी मानकर चलना होगा। आत्मा की सत्ता स्वीकार कर लेने पर इतिहास और पुराण मे वर्णित शरीर और आत्मा के चिर द्वद्व की समस्या सामने आ जाती है। शरीर का काम विप है और आत्मा का काम अमृत है—उपनिषद् के रहस्य-द्रष्टा ने आत्मा के काम का उच्छ्वसित वाणी मे उद्गीथ किया है—मध्ययुग के मधुरोपासक भक्त ने भी, विग्रह के प्राधान्य मे ही नही, इनका स्तवन किया है और शरीर के काम की गर्हणा। किंतु मानव-चेतना का सपूर्ण इतिहास तो शरीर के काम से उद्वेलित है। फिर सत्य क्या है ? दिनकर ने दोनो के समन्वय मे इसका अनुसधान किया है—समन्वय ही नही, वे दोनो के तादात्म्य की प्रतिष्ठा करते हैं। पुरूरवा जिस मानवीय काम का प्रतीक है वह ऐंद्रिय होकर भी आत्मिक है, पार्थिव होकर भी अपार्थिव है—अर्थात् अभिन्नत तृणमय और चिन्मय दोनो ही है।—काम का तीसरा रूप है औशीनरी का प्रेम—जो निर्भोग समर्पण का प्रतीक है, सपूर्ण आत्मदान का प्रतीक है। उसमे काम का भोग-पक्ष अनुपस्थित है,

केवल दान की ही महिमा है। अत. यह विरह-प्रधान है, इसमे काम की तृप्ति नही, उन्नयन है। साहित्य की शब्दावली मे यही आदर्श प्रेम (प्लेटोनिक लव) है। सुकन्या के प्रेम मे काम का एक और ही रूप मिलता है—यह काम का सफल (फलयुक्त) रूप है, गार्हस्थ रूप—जिसमे काम का पूर्ण उपभोग तो है, पर वह स्वतत्र न होकर धर्म का ही अग है। काम यहा सिद्धि नही है, साधन है; वह अपनी सत्ता धर्म को समर्पित कर सफल हो जाता है, अत. वह पूर्ण तृप्त भी है क्योकि अतृप्ति के लिए उसमे अवकाश नही रह जाता।

'उर्वशी' मे काम के ये चार प्रतिनिधि रूप है। कवि इनमे से किसको अतत: स्वीकार करता है ? अर्थात् काम की इस समस्या का, जो मानव-जीवन की चिरतन समस्या है, कवि क्या समाधान प्रस्तुत करता है ?—स्वभावत. 'उर्वशी' का अध्येता अंत मे यह माग करता है ?

काव्य की नायिका है उर्वशी—उसी से आरंभ कीजिए (१) उर्वशी दिव्य या अतीद्रिय प्रेम से कुठित होकर मानव-प्रेम की पूर्णता का सुख भोगने आती है—वायव्य गगन से रसवती भूमि का आनद लेने स्वर्ग छोड कर पृथ्वी पर आती है। यदि उसके पक्ष को स्वीकार किया जाय तो प्रश्न का उत्तर यह बनता है कि अतीद्रिय प्रेम—भावना और कल्पना का प्रेम—सर्वथा अपूर्ण है, वह चेतना मे एक व्यथाभरी रिक्तता उत्पन्न कर रह जाता है, परितोष नही दे पाता—चेतना का परितोष तो उस प्रेम मे है जो अपनी पूर्णता मे तन-मन की समन्वित तृषापूर्ति का पर्याय है। काव्य मे उर्वशी की प्रमुखता के आधार पर समस्या का यह एक समाधान माना जा सकता था, परंतु उर्वशी के प्रेम का अंत तो चिर-वियोग मे होता है, अतएव स्पष्टत ही यह कवि का समाधान नही है। काव्य को दुःखात मानकर यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता था कि उर्वशी का पक्ष पूर्वपक्ष मात्र है, उसका चिर-वियोग अंतत यह सिद्ध करता है कि ऐद्रिय काम पूर्ण या सफल काम नही है। किंतु स्वर्ग मे उर्वशी की दारुण व्यथा फिर इसका निषेध कर देती है। (२) पुरूरवा का प्रेम चिर-द्वंद्वमय मानव-प्रेम है जो अरूप से रूप की ओर और रूप से अरूप की ओर भटकता रहता है। इस द्वद्व के कारण मिलन के तन्मय क्षणो मे भी पुरूरवा बेचैन है। यह बेचैनी बराबर बनी रहती है और अत मे पुरूरवा संन्यास ले लेता है। इसका ध्वन्यर्थ यह हो सकता था कि मानव-प्रेम अपने प्रकृत रूप मे शातिकर नही हो सकता—जब तक उसमे मृण्मय अश विद्यमान रहेगा तब तक वैषम्य या उद्वेग बना रहेगा, सामरस्य की सिद्धि के लिए मृण्मय अश का सन्यास अनिवार्य है। उपनिषद्-काल के ऋषि और मध्ययुग के मधुरोपासक भक्त लौकिक प्रेम को स्वीकार करते हुए भी अंतत. साधु ही हो जाते थे। 'उर्वशी' काव्य को पुरूरवा की दु खात कथा मान लेने पर यह समाधान प्राप्त हो सकता है। किंतु 'उर्वशी' काव्य की परिसमाप्ति पुरूरवा के सन्यास के साथ नही होती। अत. कवि का यह भी अभीष्ट नही है। (३) तीसरा पक्ष है औशीनरी का। निष्काम प्रेम ही काम की सिद्धि है—इष्ट के प्रति सपूर्ण आत्मदान का प्रतीक यह निर्भोग प्रेम आत्मलाभ का ही पर्याय है। स्वदेश-विदेश के लौकिक

प्रेमाख्यान इसी का माहात्म्य-गान करते है और मनोविश्लेपणशास्त्र भी इनका समर्थन करता है। किंतु 'उर्वशी' मे औशीनरी की बेवसी का विस्तृत वर्णन क्या इसको स्वीकार करने देता है? (४) अंत मे सुकन्या का प्रेम है जो स्वतंत्र न होकर धर्म (गृहस्थ धर्म) का ही अंग है—सिद्धि न होकर साधन है। उसमे उपभोग है पर उद्वेग या द्वंद्व नही है, इसलिए वह तृप्त है। आयु के राज्यारोहण मे काव्य का अंत इसकी ओर संकेत करता है कि कदाचित् सुकन्या का पक्ष कवि को ग्राह्य है किंतु काव्य मे उर्वशी तथा पुरूरवा के पक्ष इतने प्रबल है कि उनकी तुलना मे यह पक्ष बडा मुलायम और कमजोर पड जाता है। सुनिए:

> और पुत्र-कामना कहो तो, यद्यपि, वह सुखकर है,
> पर, निष्काम काम का, सचमुच, वह भी ध्येय नही है।
> निरुद्देश्य, निष्काम काम-सुख की अचेत धारा मे,
> संतानें अज्ञात लोक से आकर खिल जाती हैं।
> वारि-वल्लरी मे फूलो-सी, निराकार के गृह से
> स्वयं निकल पडने वाली जीवन की प्रतिमाओ सी।

अतः कवि का मंतव्य हमे उर्वशी या पुरूरवा के शब्दो मे ही ढूंढना होगा।

उर्वशी का समाधान है:

> प्रकृति नित्य आनंदमयी है, जब भी भूल स्वयं को
> हम निसर्ग के किसी रूप (नारी, नर या फूलो) मे
> एकतान होकर खो जाते है समाधि निस्तल मे,
> खुल जाता है कमल, धार मधु की बहने लगती है,
> दैहिक जग को छोड कही हम और पहुंच जाते हैं,
> मानो, मायावरण एक क्षण मन मे उतर गया हो।
>
> × × ×
>
> पर, खोजें क्यो मुक्ति? प्रकृति के हम प्रसन्न अवयव हैं,
> जब तक शेष प्रकृति, तब तक हम भी बहते जायेंगे—
> लीलामय की सहज, शांत, आनंदमयी धारा मे।

और; उधर पुरूरवा का समाधान है:

> देह प्रेम की जन्मभूमि है, पर उसके विचरण की
> सारी लीला-भूमि नही सीमित है रुधिर-त्वचा तक।
> यह सीमा प्रसरित है मन के गहन, गुह्य लोको मे,
> जहाँ रूप की लिपि अरूप की छवि आंका करती है,
> और पुरुष प्रत्यक्ष विभासित नारी-मुखमंडल मे
> किसी दिव्य, अव्यक्त कमल को नमस्कार करता है।
>
> × × ×
>
> यह अतिक्रांति वियोग नहीं, शोणित के तप्त ज्वलन का
> परिवर्तन है स्निग्ध, शांत दीपक की सौम्य शिखा मे।

निन्दा नही, प्रशस्ति प्रेम की; छलना नही, समर्पण,
त्याग नही, संचय; उपत्यकाओ के कुसुम-द्रुमो को
ले जाना है यह समूल नगपति के तुग शिखर पर,
वहाँ जहाँ कैलास-प्रांत मे शिव प्रत्येक पुरुष है,
और शक्तिदायिनी शिवा प्रत्येक प्रणयिनी नारी।

उर्वशी का पक्ष प्रकृति का पक्ष है—उसके लिए प्रकृति अर्थात् ऐंद्रिय धरातल पर काम-सुख ही पूर्ण सत्य है, उसके आगे कुछ और का अनुसंधान अनावश्यक है। यह प्रकृत आनंद अर्थात् प्रकृति के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण ही अपने सहज रूप मे जीवन की सिद्धि है; सहज का अर्थ है निर्बाध और निष्काम। कामना या वासना मे दूषित होकर सहज काम-रूप यह अमृत गरल मे परिणत हो जाता है; अत. निष्काम भाव से ऐंद्रिय काम का आनंद ही जीवन का चरम साध्य है। मोक्ष का अर्थ प्रकृति से मोक्ष नही है, कामना से मोक्ष—निष्काम आत्मार्पण ही वास्तविक मोक्ष है—शेष प्रवंचना है। पुरूरवा की लौकिक काम में पूर्ण आस्था है, किंतु उसके लिए वह साधन है सिद्धि नही है। वह आत्मावादी है, ऐंद्रिय रति को वह आत्म-रति की साधना मानता है—अर्थात् प्रकृति की आराधना वह ईश्वर की ही आराधना के निमित्त करता है। इस प्रकार उर्वशी और पुरूरवा के दृष्टिकोण मे अभेद तो यह है कि दोनो ही निष्काम आत्मार्पण को जीवन का चरम सत्य मानते हैं; भेद यह है कि उर्वशी के लिए अंतिम सत्ता प्रकृति है—उसी के प्रति निष्काम आत्मार्पण जीवन की सिद्धि है, जबकि पुरूरवा के लिए परम तत्त्व ईश्वर है—प्रकृति के माध्यम से उसी के प्रति पूर्ण समर्पण जीवन की सिद्धि है।

कवि का अपना मंतव्य इन दोनो मे से कौन-सा है? कदाचित् पुरूरवा का मंतव्य ही उसका मंतव्य है। किंतु क्या वह मान्य है—और क्या 'उर्वशी' काव्य का संपूर्ण विधान उसे निर्भ्रान्त रूप से अभिव्यक्त एवं प्रतिफलित करता है? ये प्रश्न तुरंत ही हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। पर ये प्रश्न तो व्याख्या-विश्लेपण से आगे मूल्यांकन के अंतर्गत आते हैं।

मूल्यांकन

पहला प्रश्न यह है कि क्या 'उर्वशी' काव्य मे प्रस्तुत काम-विषयक उपर्युक्त मंतव्य—दोनों या उनमें से कोई एक, जीवन के वृहत्तर मूल्यों की कसौटी पर शुद्ध ठहरता है? क्या काम-भावना, संपूर्णत. निष्काम ही नही, जीवन की सिद्धि है? इसमे संदेह नहीं कि काम अत्यंत मौलिक वृत्ति है और जीवन की समृद्धि मे उसका योग-दान निश्चय ही सर्वाधिक है। परंतु एक तो निष्काम काम की धारणा ही कुछ अट-पटी-सी है—मनोविज्ञान, मनोविश्लेषणशास्त्र आदि के द्वारा वह सिद्ध नही हो सकती; क्योंकि काम-सुख की समृद्धि का मूल आधार मानसिक ही मानना पड़ेगा—इसीलिए काम को (ब्रह्म का) 'मनसो रेत:' कहा गया है। मन के काम के बिना केवल तन के काम की स्पृहा क्या संभव है? तन के आनंद मे जो आस्वाद है वह तो मन की ही

दृष्टि से अभ्युदय और आध्यात्मिक दृष्टि से निःश्रेयस् की सिद्धि अंतर्भूत है। अर्थ और काम उसके साधन हैं—ये दोनों ही महान् पुरुषार्थ हैं किंतु अतत. साधन-रूप ही हैं—साध्य नही बन सकते। काम अर्थ की अपेक्षा निश्चय ही अधिक समृद्ध और काम्य है अर्थात् उसमे चिदंश अधिक है; किंतु साध्य उसे भी नही माना जा सकता। मेरे मत से 'उर्वशी' के मूल विचार की सबसे बडी बाधा यही है कि वह साधन में सिद्धि ढूढने के लिए प्रयासशील है। 'कामायनी' में लौकिक दृष्टि मे धर्म को और आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म का भी उत्सर्ग कर—अंतत. आनंदरूप मोक्ष को, चरम पुरुषार्थ माना गया है। इसलिए उसकी परिणति, मध्यवर्ती बाधाओं के रहते हुए भी, अखंड है। 'कामायनी' श्रद्धा और मनु का कथानक है, मनु और इडा का आख्यान नहीं, और उसी के अनुरूप वह पुरुषार्थ के धर्म और आनद-पक्ष को ही महत्त्व देता है, अर्थ-पक्ष को नहीं। मुझे आश्चर्य है कि 'उर्वशी' की भूमिका मे 'कामायनी' के विषय मे इस प्रकार की विचित्र कल्पनाओ की आवश्यकता क्यो हुई है ?

तब फिर कवि का समाधान क्या है ? कवि ने भूमिका में इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा है कि 'उर्वशी' में वह कोई समाधान प्रस्तुत नही कर सका। और, वस्तुस्थिति यही है। दिनकर द्वंद्व का कवि है, समाहिति का कवि नही है; समस्या के संपूर्ण उद्वेलन का अनुभव कर प्राणो के पूरे आवेग के साथ अत्यत प्रभावमय अभि-व्यंजन करना उसके लिए जितना स्वाभाविक है, उतना समाधान प्रस्तुत करना नही। इसलिए दिनकर के काव्य में स्वानुभूति का बल है और आत्मस्वीकृति की स्वाभाविकता भी उसे प्राप्त है। द्वंद्व उसका अनुभूत है, समाधान अनुभूत नही है—विचार के द्वारा समाधान वह भी प्रस्तुत कर सकता है, किंतु वह करना नही चाहता। 'उर्वशी' काव्य का प्रभाव इसी तथ्य की पुष्टि करता है—उसमे अंतर्मंथन की अद्भुत शक्ति है, किंतु चित्त की समाहिति उसके द्वारा संपन्न नही होती। उद्वेलक प्रभाव की दृष्टि से 'उर्वशी' निश्चय ही अत्यंत प्रबल काव्य है—छायावादोत्तर युग मे ऐसा प्रबल काव्य हिंदी मे दूसरा नही लिखा गया और जहा तक मेरा ज्ञान है (यद्यपि यह ज्ञान अनुवाद पर आश्रित और अत्यत सीमित है), अन्य भारतीय भाषाओ में भी इतनी प्रबल समसामयिक रचना कदाचित् नही है।

एक प्रकार से 'उर्वशी' की समीक्षा यहा पर भी समाप्त हो सकती है। परंतु मुझे लगता है कि मैं अभी अपना मंतव्य पूर्णतः व्यक्त नही कर पाया और उसे यही पर छोड़ देने से 'उर्वशी' का मूल्यांकन शायद अधूरा रह जायेगा। मेरे सामने अब यह प्रश्न उठता है कि काव्य के मूल्यांकन में समाधान का क्या स्थान है ! रस के साहित्य मे मैं नैतिक उद्देश्य अथवा समाधान का कायल नही हूं। इस प्रकार का समाधान कला के उत्कर्ष मे बाधक ही होता है। किंतु समाधान का यह तो स्थूल अर्थ हुआ; अपने सूक्ष्म अर्थ मे वह अन्विति का पर्याय है और प्रत्येक कला-रूप के लिए अन्विति की अनिवार्यता असंदिग्ध है। कला के मूलाधार के विषय मे यों तो अनेक मत प्रचलित हैं किंतु यह मत प्रायः सर्वमान्य, कम-से-कम बहुमान्य, अवश्य है कि कला का प्राण-तत्त्व है सामंजस्य, अर्थात् अनेकता की एकता में परिणति। अतिवादों के इस युग में,

यूरोप मे और इधर भारत मे भी, इस मत के विरोध मे अनेक विचित्र स्थापनाएं हुई हैं जो नाना प्रकार के दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करने के लिए प्रतत्नशील हैं कि सामंजस्य या एकान्विति का अनुसधान एक कृत्रिम कला-चेष्टा है—आधुनिक जीवन की विकीर्णता ही आज के जीवन एव कला का सत्य है इन स्थापनाओ के खडन-मंडन के लिए यहा अवकाश नही है और वास्तव मे कृति तथा विकृति के भेद का लोप करने वाली इन अतिवादी धारणाओ का प्रतिवाद करना प्रस्तुत प्रसंग मे आवश्यक भी नही है क्योकि दिनकर के कला-सस्कार निश्चय ही इस प्रकार के अनिवाद से मुक्त हैं। अब, यदि सामजस्य कला का आधार-तत्त्व है तो 'उर्वशी' के वस्तु-विधान मे, उसके अंतरंग अर्थात् 'विचार' मे और बहिरग अर्थात् 'काव्यरूप'— दोनो मे, एकान्विति ढूढने का प्रयास कला-रसिक पाठक के लिए स्वाभाविक है—और यही बाधा खडी हो जाती है, क्योकि 'उर्वशी' के मूल विचार तथा उसको प्रतिफलित करने वाले वस्तुविधान मे अन्विति नही है . विचार का अन्वय-भग कला रूप की अन्विति को भी भग कर देता है। यथार्थ दृष्टि से यदि कवि द्वंद्व को अतिम सत्य मान लेता और पुरूरवा के सन्यास मे ही इस प्रणय-कथा का विसर्जन कर देता तब भी कला-रूप की पूर्णता बनी रहती। किंतु उसके आदर्शवादी संस्कार समाधान के लिए आकुल और विफल प्रयास करते हैं। इससे एक ओर जहा 'उर्वशी' की सुदर कला-प्रतिमा मे, पूर्ण होते-होते, दरारें पड जाती हैं, वहा दूसरी ओर सहृदय पाठक के चित्त की समाहिति भी बिखरने लगती है। इसीलिए सामयिक हिंदी-काव्य की यह श्रेष्ठ उपलब्धि अशरूप मे अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध एव प्रबल होने पर भी समग्र रूप मे न 'कामायनी' की श्रेणी मे आती है, और न 'प्रियप्रवास' तथा 'साकेत' की श्रेणी मे।

इरावती

कवि दिनकर की एक मार्मिक पंक्ति है—'गीत-अगीत कौन सुदर है ?' गीत और अगीत के बीच एक और भी स्थिति है, अर्धगीत की। गीत का माधुर्य प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है, अगीत का कल्पनागम्य। किंतु अर्धगीत का माधुर्य कितना करुण है ! उसमे जो गीत है वह अगीत का संकेत देकर असहाय मौन हो जाता है। विश्व के साहित्य मे ऐसे काव्य अनेक हैं जो अर्धगीत ही रह गये। भारत मे प्रवाद है कि बाण की 'कादंबरी' अपरिसमाप्त ही रह गयी थी, अंत मे उनके पुत्र ने उसे पूरा किया। एक किंवदंती के अनुसार चंद भी गजनी जाने से पूर्व रासो को अपने पुत्र जल्हण के हाथ सौप गये थे 'पुस्तक जल्हण हत्थ दै गे गज्जन नृप काज।' किंतु आज तो वह भी संभव नही है। यदि कोई दूसरा प्रयत्न करके अपूर्ण को पूर्ण कर भी दे तो आज एक तो वह भिन्न कृति होगी, और दूसरे सहृदय-समाज उसे क्यो स्वीकार करेगा ? इस दृष्टि से ये अपूर्ण कृतिया अपनी अपूर्णता मे ही महत्त्वपूर्ण है।

प्रसादजी का उपन्यास 'इरावती' उनके जीवन के समान ही अपूर्ण रह गया। यह उनका तीसरा उपन्यास था। इससे पूर्व उनकी बहुमुखी प्रतिभा अनेक काव्यो, नाटकों तथा कहानियो आदि के अतिरिक्त 'कंकाल' और 'तितली' उपन्यासो का भी सृजन कर चुकी थी। ये दोनों उपन्यास सामाजिक थे; पर प्रसादजी की प्रतिभा की सहज क्रीडा-भूमि तो भारत का स्वर्णिम इतिहास था। उन्होने अपने नाटको मे अनेक ऐतिहासिक तथ्यो का अनुसंधान अथवा पुनराख्यान प्रस्तुत किया है। 'स्कद-गुप्त', 'चद्रगुप्त' आदि की विस्तृत गवेषणात्मक भूमिकाए उनके पुरातत्त्व-प्रेम और ऐतिहासिक अंतर्दृष्टि की साक्षिणी है। इतिहास के बिखरे सूत्रो को समन्वित कर उस ककाल मे प्राण-प्रतिष्ठा करने मे उनकी कल्पना विशेष रूप से रमती थी। किंतु नाटक मे कदाचित् उसे वाछित अवकाश नही मिल पाया और इसमे सदेह नही कि दृश्यो मे खडित नाटक के सीमित कलेवर की अपेक्षा उपन्यास का अखंड विस्तार इस प्रकार के कल्पना-विलास के अधिक अनुकूल है। प्रसाद के नाटको के अध्येता के मन मे अनायास ही यह बात उठ आती थी, और वह वास्तव मे बहुत दिनो से उनसे किसी ऐतिहासिक उपन्यास की आशा लगाये बैठा था। वह आशा 'इरावती' मे फलित हो रही थी, किंतु दैव के विधान से वह अपूर्ण ही रह गयी।

'इरावती' के केवल १०८ पृष्ठ प्रकाशित हुए हैं; इतने ही लिखे गये थे। यह संभव था कि प्रकाशन से पूर्व संपादन करने मे एकाध पृष्ठ छोडकर कहानी को

कहीं उपयुक्त विराम देने का प्रयत्न किया जाता; परन्तु वैसा नहीं हुआ, अंतिम शब्द तक प्रकाशित कर दिया गया है। अंतिम वाक्य अधूरा है . 'चतुष्पथ तथा और भी आवश्यक स्थानों पर उल्काएं जल रही थीं। वर्षा कुछ कम...'

'इरावती' की कथा मौर्य-साम्राज्य के अधःपतन-काल से संबद्ध है जिसे डॉ० जायसवाल आदि ने अंधकार-युग कहा है। उस समय शतधनुष के पुत्र बृहस्पतिमित्र मगध के सिंहासन पर आसीन थे। सम्राट् अशोक का जीवन-काल और उनके द्वारा अर्जित मौर्य-वंश का वैभव-प्रताप छाया-शेष रह गया था। बौद्ध राज्य की अहिंसा दुर्बलता और पाखंड में परिणत हो चुकी थी। पश्चिम से यवन, पूर्व से कलिंग से खारवेल, और दक्षिण से आंध्रों के आक्रमण का आतंक बढ़ता जा रहा था। उधर आंतर विद्रोह की अग्नि भी धीरे-धीरे सुलग रही थी, बौद्धों के विरुद्ध ब्राह्मण-धर्म का विद्रोह बल पकड़ता जा रहा था। मगध-नरेश के सेनापति, सामंत आदि सर्वथा असंतुष्ट थे और कुचक्र का वातावरण तैयार हो रहा था। वृद्ध सेनापति के कान्यकुब्ज में वीरगति को प्राप्त हो जाने पर पुष्यमित्र सेनापति-पद पर आरूढ़ हुए और उनका प्रतापी आत्मज विदिशा का कुलपुत्र अग्निमित्र, जो अब तक निराश प्रेम और निरुद्देश्य साहसिकता का जीवन व्यतीत कर रहा था, खारवेल से लोहा लेने के लिए महानायक नियुक्त किया गया। खारवेल ने भगवान् जिन की मूर्ति लौटाने के बहाने मगध-नरेश का आह्वान किया था, और भीरु तथा विलासी बृहस्पतिमित्र ने उससे गुप्त संधि भी कर ली थी। पाटलिपुत्र में आतंक छाया हुआ था, नागरिकों में—विशेषकर धनिक वर्ग में—भगदड़ मची हुई थी। ये लोग राजगृह की पहाड़ियों में शरण ले रहे थे। यह तो कथा का बाह्य पक्ष है। कथा के अंतरंग पक्ष का संबंध इरावती से है। इरावती कदाचित् पाटलिपुत्र की नगर-नर्तकी थी, जो अग्निमित्र के प्रेम में असफल होकर महाकाल के मंदिर में देवदासी हो गयी थी। बृहस्पतिमित्र की दृष्टि उस पर आरंभ से ही थी। एक दिन महाकाल के देवता के मंदिर में देवता के सामने नृत्य-निरत इरावती को धर्म के नाम पर विलासिता का प्रचार करने के अपराध में बृहस्पतिमित्र ने भिक्षुणी होने का आदेश देकर बौद्ध विहार में भेज दिया। अग्निमित्र ने, जो उस समय वहां उपस्थित था, प्रतिरोध करने का प्रयत्न किया, परंतु इरावती ने स्वयं बंदी बनने की इच्छा प्रकट की, और विहार में चली गयी। विहार में एक रात को पूर्णिमा के वैभव से उद्दीप्त होकर वह अनायास ही नाच उठी, और इस प्रकार संघ के नियम का उल्लंघन करने के अपराध में उसे विहार से भी हटकर अंत में बृहस्पतिमित्र के अंतःपुर में आना पड़ा। इरावती के अतिरिक्त उपन्यास की दूसरी नारी-पात्र है कालिन्दी। यह रहस्य-मयी नारी नंद-वंश की कन्या है जो अग्निमित्र की सहायता से अपने पूर्वज नंदराज की निधि की कुंजी प्राप्त कर लेती है। रूप और यौवन से संपन्न कालिन्दी मौर्यों की शत्रु और अग्निमित्र पर आसक्त है। इन प्रमुख कथा-सूत्रों के साथ लिपटी हुई एक उपकथा और है जिसका संबंध श्रेष्ठी धनदत्त और उसकी स्त्री मणिमाला से है। इन कथाओं के सूत्र धीरे-धीरे आपस में संग्रथित होते जा रहे थे, और घात-प्रतिघात के साथ घात-प्रतिघात करती हुई वे आगे बढ़ रही थीं कि अकस्मात् सारा लेख बिखर गया,

और एक अत्यंत सघन, कुतूहलमय दृश्य के बीचो-बीच कथा की गति सहसा रुक गयी। संध्या के उपरात वादलो के साथ-साथ रात्रि का अंधकार गहरा हो रहा है, वर्षा भी आरभ हो गयी है। श्रेष्ठी धनदत्त के निवास-स्थान पर भोजनादि के उपरात संगीत की गोष्ठी जमी हुई है, जिसमे तीन स्त्रिया हैं—कालिन्दी, इरावती तथा मणिमाला; और चार पुरुष हैं, स्वय धनदत्त, अग्निमित्र, एक ब्रह्मचारी और एक सभ्रात आगतुक। यह आगतुक सगर्व अपनी वीणावादन-कला का प्रदर्शन कर रहा है, इतने ही मे श्रेष्ठी-भवन को स्वस्तिक दल के सैनिक आकर घेर लेते हैं और सूचना मिलती है कि यह चौथा पुरुष —वीणाप्रवीण आगतुक—चक्रवर्ती खारवेल ही है। एक साथ खलबली मच जाती है। अग्निमित्र खारवेल की प्राण-रक्षा के लिए प्रतिश्रुत होता है।—बस, यही यक्ष्मा-पीड़ित मेधावी कलाकार की उगलिया काप जाती हैं और लेखनी रुक जाती है।

'इरावती' का आधार इतिहास-पुष्ट है। उसकी प्राय. सभी मुख्य घटनाओ और पात्रो के लिए ऐतिहासिक साक्ष्य वर्तमान हैं। प्राचीन भारत के इतिहास का निर्माण मुख्यतः पुराण, काव्य, शास्त्र, बौद्ध-जैन साहित्य तथा शिलालेखो के आधार पर हुआ है, और इन पर आश्रित स्मिथ, जायसवाल, त्रिपाठी तथा मजूमदार के इतिहास-ग्रथ आज हमारे सामने हैं। डॉ० मजूमदार की धारणा है कि वहसतिमित्र —जिसका सस्कृत रूप स्पष्टतया वृहस्पतिमित्र है—उन मित्र-राजाओ मे से था जिन्होने कदाचित् मौर्य-साम्राज्य के अधःपतन-काल मे मगध पर राज्य किया था। डॉ० जायसवाल वहसतिमित्र या वृहस्पतिमित्र को पुष्यमित्र का ही दूसरा नाम मानते हैं। प्राचीन भारत की पर्याय-नामो की प्रथा उस समय प्रचलित थी; जैसे चद्रगुप्त का नाम शशिगुप्त भी था। परतु अनेक साक्ष्यो के आधार पर आज यह मत खडित हो चुका है। प्रसादजी ने अतिम मौर्य-सम्राट् वृहद्रथ का ही नाम वृहस्पतिमित्र माना है। उनके इस निष्कर्ष का आधार क्या है, यह कहना कठिन है; क्योकि 'इरावती' के साथ उनका कोई ऐतिहासिक लेख सलग्न नही है। परतु वृहद्रथ और वृहस्पतिमित्र की अभिन्नता मे उन्हे संदेह नही था। पुराणो मे वृहद्रथ को शतधन्वा या शतधनुष का पुत्र कहा गया है। 'इरावती' के वृहस्पतिमित्र के पिता का नाम भी शतधनुष ही है जिसकी मृत्यु का समाचार महाकाल के मदिर मे प्राप्त होता है। बौद्ध राजाओ के नाम मित्र पर प्रायः रहते थे। अशोक की पुत्री का ही नाम सघमित्रा था। सघमित्र, धम्म या धर्ममित्र नामो का उस युग मे प्रचार था जो प्राय. धार्मिक उपाधि के रूप मे ही प्रयुक्त होते थे। इसी प्रकार के किसी साक्ष्य या तर्क के आधार पर प्रसादजी ने वृहद्रथ और वृहस्पतिमित्र को अभिन्न माना है। दूसरा पात्र है खारवेल जो इतिहास मे कलिंग-नरेश चक्रवर्ती खारवेल के नाम से प्रसिद्ध है। पुरी मे हाथीगुफा के शिलालेख मे महामेघवाहन खारवेल के पराक्रम की प्रशस्ति मिलती है। उसने मगध-नरेश वृहस्पतिमित्र को हराकर अशोक की कलिंग-विजय का प्रतिशोध लिया था और मगध के राजा नद द्वारा अपहृत जैन तीर्थंकर की मूर्ति उससे छीन ली थी। 'इरावती' मे इस घटना का स्पष्ट उल्लेख है, भेद केवल इतना ही है कि यह मूर्ति जिन मूर्ति है और अपहर्ता नंदराज न होकर सम्राट् अशोक हैं। इतिहास मे अशोक की कलिंग-विजय का ही उल्लेख

है; किसी नदराजा के विषय मे ऐसा उल्लेख नही है। इसीलिए प्रसादजी ने यह संशोधन कर दिया है। या फिर सभव है उन्हे इसका आधार किसी अन्य ग्रथ मे मिला हो। पुष्यमित्र और अग्निमित्र क्रमश ब्राह्मण-राजवश शुग के प्रथम तथा द्वितीय सम्राट् है। इतिहास के अनुसार पुष्यमित्र वृहद्रथ का सेनापति था, जिसने प्रतिज्ञा-दुर्बल मगध-नरेश का वध कर स्वयं राज्य-सत्ता हस्तगत कर ली थी। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' का नायक अग्निमित्र उसका पराक्रमी पुत्र था। 'इरावती' मे पुष्यमित्र वृद्ध सेनापति की मृत्यु के उपरात पदारूढ होता है और धीरे-धीरे शक्ति-अर्जन कर रहा है, जिससे अनुमान होता है कि इतिहास-प्रसिद्ध घटना के लिए भूमिका प्रस्तुत हो रही है। अब दो पुरुष पात्र—ब्रह्मचारी और धनदत्त तथा तीन नारी-पात्र इरावती, कालिन्दी और मणिमाला रह जाते है। इनमे धनदत्त और उसकी पत्नी मणिमाला जैसे श्रेष्ठी और श्रेष्ठी-पत्निया उस युग के धनिक वर्ग के प्रतिनिधि हैं; वे व्यक्ति न होकर कदाचित् वर्ग-प्रतिनिधि हैं। इसी प्रकार कालिन्दी जैसी राजकुमारियो का अस्तित्व भी उस युग मे सहज कल्पनीय है जो अपने पद-च्युत वश का प्रतिशोध लेने के लिए राजनीतिक कुचक्रो मे सक्रिय भाग लेती थी। अब शेष रहे दो पात्र: ब्रह्मचारी और इरावती; इरावती उपन्यास की नायिका है और ब्रह्मचारी के हाथो मे उपन्यास की कथा का मूल उद्देश्य-सूत्र है।

इरावती का स्पष्ट उल्लेख 'मालविकाग्निमित्र' मे है, वह सम्राट् अग्निमित्र की दूसरी रानी है। नाटक मे वह गौण पात्र है और केवल दो बार उपस्थित होकर मालविका के विरुद्ध अपने ईर्ष्या-ज्वलित असयत स्वभाव का परिचय देती है। प्रसादजी ने यह नाम तो निस्सदेह यही से लिया है, और बहुत सभव है इरावती ऐतिहासिक पात्र ही रही हो, क्योकि 'मालविकाग्निमित्र' की कथा निश्चय ही कालिदास के बहुत-कुछ समसामयिक इतिहास पर आश्रित है। परतु चरित्र का विकास प्रसाद ने सर्वथा स्वतत्र रूप मे किया है। कहा कालिदास की ईर्ष्यान्ध गरिमाहीन इरावती और कहा प्रसाद की सयम, सस्कार तथा कला से अलकृत इरावती, उस दृष्टि से यह मालविका के अधिक निकट है। परतु वास्तव मे ये दोनो पात्र—इरावती और ब्रह्मचारी व्यक्ति तथा वर्ग दोनो से भी ऊपर प्रवृत्ति के प्रतीक हैं। इरावती भारत के प्राचीन वैभव की कला-प्रवृत्ति की प्रतीक है। उस युग मे पुर-सुदरी के वरण की प्रथा प्रचलित थी ही। ब्रह्मचारी तेजस्वी ब्राह्मण-दर्शन का प्रतीक है जो बौद्ध धर्म के विरुद्ध फिर शक्ति-सचय कर रहा था। काव्य-मनोविज्ञान की दृष्टि से इरावती राग-विराग से पुष्ट प्रसादजी की कला-दृष्टि की, और ब्रह्मचारी उनके उस स्वस्थ जीवन-दर्शन का प्रतीक है, जो उपभोग और संयम का पूर्ण समन्वय-रूप है। प्रसाद का स्रष्टा कलाकार आत्माभि-व्यंजन के लिए ऐसे दो पात्रो की सृष्टि सर्वत्र करता रहा है। इन पात्रो को भी ऐति-हासिक ही मानना चाहिए; क्योकि इनका अस्तित्व चाहे तथ्यपरक न हो परन्तु सत्य-परक अवश्य है, अर्थात् इनका यह विशेष नाम या रूप चाहे न रहा हो, परन्तु ये उस युग-विशेष की प्रवृत्तियो के प्रतीक हैं इसमे सदेह नही। इनसे इतिहास ढूढने मे कोई विशेष लाभ न होता हो, परन्तु युग का इतिहास जगाने के ये अमोघ साधन हैं। ये

तथ्य-सकलन मे सहायक न होकर वातावरण तैयार करते हैं, और ऐतिहासिक कथाओं मे घटनाओ और नामो की अपेक्षा वातावरण का महत्त्व कही अधिक है; क्योकि इतिहास की आत्मा नामो और घटनाओ मे न रहकर वातावरण मे ही निहित रहती है। प्रसादजी की ऐतिहासिक दृष्टि इस सत्य से परिचित थी। उन्होने शिक्षालयो के लिए लिखे हुए इतिहास-ग्रथो पर निर्भर न रहकर काव्य, शास्त्र तथा पुरातत्त्व-संबधी अभिलेखो के अध्ययन-मनन द्वारा प्राचीन भारत की आत्मा मे प्रवेश कर उसके सस्कार अपनी आत्मा मे रमा लिये थे। उनकी रोमानी सृजनात्मक प्रतिभा और प्राचीन भारत की आत्मा मे इस प्रकार तादात्म्य स्थापित हो गया था। इसीलिए वातावरण की सृष्टि मे उन्हे सहज दक्षता प्राप्त थी। प्राचीन युग की प्रवृत्तियो का जीवत वर्णन, प्राचीन नाम-उपाधिया, प्रथा-रीतिया, प्राचीन वाडमय के पारिभाषिक शब्दो से संपन्न उनकी सस्कृत-निष्ठ भाषा—सभी का इसमे विचित्र योग रहता था; परतु यह यात्रिक क्रिया नही थी। इन तत्त्वो के सयोजन-मात्र से युग का इतिहास नही जगाया जा सकता। इतिहास की आत्मा को जगाने के लिए अपनी आत्मा मे ही उसे रचाना पडता है। प्रसाद की ऐतिहासिक कला का यही रहस्य था। इस दृष्टि से 'इरावती' उनकी और सभी कृतियो से भी अधिक सफल है। वास्तव मे इस अपूर्ण कथा का सबसे उज्ज्वल पक्ष यही है। शतधनुष, बृहस्पतिमित्र, पुष्यमित्र, खारवेल, अग्निमित्र, इरावती, कालिन्दी, धनदत्त, मणिमाला, उत्पला आदि व्यक्तियो के नाम; कलिंग, विदिशा, रोहिताश्व, राजगृह, मुग्दगिरि, कुक्कुटाराम आदि स्थानो के नाम; उधर चक्रम, उपोसथागार, महास्थविर, श्रामणेरी, सघाटी जैसी बौद्ध धर्म-सबधी शब्दावली; तथा महामात्य, सधि-विग्रहिक, महादडनायक, गुल्म सदृश राजनीति के शब्द—प्राचीन हिंदू भारत का वातावरण उपस्थित करने मे अत्यत उपयोगी सिद्ध होते हैं। और फिर प्रसाद अपने उन अत स्थित सस्कारो की प्रेरणा से रोमानी कल्पना द्वारा प्राचीन रीति-नीति, उत्सव आदि का इतना सटीक अनुभूति-प्रवण वर्णन करते हैं कि समस्त वातावरण जगमग हो उठता है।

देश-काल या वातावरण के अतिरिक्त उपन्यास के तीन प्रमुख तत्त्व और है : कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण और उद्देश्य अथवा आधारभूत जीवन-दर्शन। अपूर्ण उपन्यास के इन तीनो तत्त्वो के विषय मे कथित के आधार पर कथनीय का अनुमान भर लगाया जा सकता है। जहा तक कथावस्तु का सबध है, 'इरावती' मे प्रसादजी की कला के इस दुर्बलतम अग ने आश्चर्यजनक प्रगति की है। प्रसाद की कथा-वर्णन शैली का—उनके नाटको, उपन्यासो तथा महाकाव्य सभी मे—यह प्रमुख दोष है कि दार्शनिक विश्लेषण और रम्य कल्पना-विलास के आवर्तो मे उलझकर कथा गतिरुद्ध हो जाती है, या ऋजु विकास-पथ छोड़कर इधर-उधर फैल जाती है। 'इरावती' मे प्रसादजी ने आरंभ से ही सयम से काम लिया है और कथा के सूत्रो को कस कर हाथ मे रखा है। 'इरावती' के १०८ पृष्ठो मे वर्णित घटनाओ मे पूर्ण अन्विति है। मुख्य ऐतिहासिक कथा का सूत्र अभी बृहस्पतिमित्र के हाथ मे है परंतु धीरे-धीरे पुष्यमित्र के हाथ मे आता जा रहा है। दूसरी कथा का सूत्र कालिन्दी के हाथ मे है और तीसरी का कदाचित् धनदत्त के।

नायक और नायिका अग्निमित्र और इरावती अभी घटनाओ के भोक्ता-रूप मे आगे उठ रहे हैं; नियता और कर्ता दूसरे ही है। अभी तक इनके चरित्र की रेखाओ मे उभार और रगो मे भास्वरता नही आयी है। इनकी अपेक्षा पुष्यमित्र, ब्रह्मचारी, कालिन्दी तथा अपने ढंग से धनदत्त के चित्रो की रेखाए अधिक पुष्ट है। कालिन्दी का चित्र सबसे अधिक भास्वर है। उद्देश्य की दृष्टि से 'इरावती' मे बौद्ध और आर्य (शैव) दर्शन का सघर्ष और आर्य-दर्शन की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। प्रसादजी की अपनी चिताधारा मे विवेकमूलक दु खवाद और प्रवृत्तिमूलक आनदवाद का द्वद्व आरंभ से लक्षित होता है। आरभिक नाटको मे—अजातशत्रु आदि मे—बौद्ध-दर्शन की विश्व-करुणा भावना के साथ समझौता करने की थोडी-सी प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है, परंतु 'कामायनी' तक आते-आते वे शैव-दर्शन के आनदवाद को पूर्ण आग्रह के साथ स्वीकार कर लेते है। 'इरावती' मे यह आग्रह और भी स्पष्ट हो जाता है .

(१) इस बौद्धिक दभ के अवसाद को आर्य जाति से हटाने के लिए आनद की प्रतिष्ठा करनी होगी।

(२) चारो ओर उजला-उजला प्रकाश जैसा, जिसमे त्याग और ग्रहण अपनी स्वतंत्र सत्ता अलग बना कर लडते नही। विश्व का उज्ज्वल पक्ष अधकार की भूमिका पर नृत्य करता-सा दीख पडे, सबको आलिगन करके आत्मा का आनद स्वस्थ, शुद्ध और स्ववश रहे, यह स्थिति क्या अच्छी नही! × × × कही अशिव नही, सर्वत्र शिव! सर्वत्र आनद!

यह वास्तव मे प्राचीन शैव-दर्शन का नवीन प्रगतिशील चिताधारा के अनुकूल पुनराख्यान है। प्रसादजी के अनुसार इस युग की अथवा किसी भी युग की जीवन-समस्या का यही समाधान है जो अपनी चिरतनता मे आधुनिक और आधुनिकता मे चिरतन है।

उपन्यास का पाठ समाप्त करते-करते अनेक करुण जिज्ञासाए मन मे उद्बुद्ध होने लगती हैं—विलासी बृहस्पतिमित्र का अत कैसा हुआ? पुष्यमित्र और अग्निमित्र का क्या हुआ? इरावती और कालिन्दी की जीवन-नौका अत मे किस तट मे जाकर टकरायी? अग्निमित्र और इरावती के असफल प्रेम का क्या परिणाम हुआ? इनमे से कुछ का समाधान तो इतिहास ही कर देता है। उदाहरण के लिए, बृहस्पतिमित्र का वध कर पुष्यमित्र सत्तारूढ हुआ। अग्निमित्र का जीवन भी वैयक्तिक आशा-निराशाओ से उद्वेलित होता हुआ उत्कर्ष के पथ पर आगे बढा होगा और उधर अनेक आवर्तो को पार कर इरावती ने भी अग्निमित्र के विशाल वक्ष पर विश्राम लिया होगा। किंतु कालिन्दी!—उसकी प्रवृत्ति मे इतना वेग है कि अत मे कदाचित् आत्मघात मे ही उसका अत हुआ हो। इस प्रकार की अनेक करुण-मधुर कल्पनाए मन मे जगती हैं और दिनकर की ये पक्तिया एक नि श्वास के समान अनायास ही फिर निकल जाती है :

गीत-अगीत कौन सुदर है?

'त्यागपत्र' और 'नारी'

प्रेमचदजी के सभी उपन्यास हिंदी की मूर्धा पर आसीन होने योग्य नही हैं। 'गोदान' उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है। उसके अतिरिक्त 'ग़बन', 'सेवासदन', 'रगभूमि' आदि मे भी बहुत-कुछ है जो अमर रहेगा। हिंदी मे इनसे टक्कर लेने वाले उपन्यास बहुत नही प्रकाशित हुए। जो हुए वे उगलियो पर गिने जा सकते हैं, जैसे 'त्यागपत्र', 'नारी', 'चित्रलेखा' 'शेखर' इत्यादि।

समय और सुविधा को देखते हुए मैं यहा श्री जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' और श्री सियारामशरण गुप्त के 'नारी' उपन्यासो को लूगा। ये दोनो उपन्यास मुझे काफी प्रिय है। इनमे कुछ इस प्रकार की समता और विषमता है जो तुलनात्मक अध्ययन को रोचक और उपयोगी बना देती है।

'त्यागपत्र' और 'नारी' दोनो ही मे एक नारी की कहानी है। 'त्यागपत्र' एक-मात्र मृणाल की व्यक्तिगत कहानी है, और 'नारी' जमुना की। मृणाल और जमुना दोनो के ही व्यक्तित्वो के मूल मे अतृप्ति है, दोनो ही हमारे सम्मुख एक अभुक्त वासना लिए आती हैं। मृणाल के तो जीवन का ही आरभ इस अतृप्ति से होता है। उसके माता-पिता नही है। भाई का स्नेह उनके स्नेह की कमी को भर नही पाता। उसको स्नेह की झलक एक दूसरे व्यक्ति से मिलती है, पर मिलने के साथ ही वह एक तीखा घाव छोडकर सदा के लिए मिट जाती है। भावज की कठोर ताडना उस अभाव की अग्नि को और भी भडकाती है, और अत मे उसका बेमेल विवाह एवं पति की यत्रणाए इस जीवन-व्यापी अतृप्ति मे पूर्ण आहुति बन जाती हैं। इस प्रकार वासना पूर्णत. अभुक्त और अतृप्त रहकर उसके जीवन मे एक अद्भुत गति और शक्ति का सचरण करती है। जीवन के मध्याह्न तक तो उसे इस वासना के संस्कार का उचित माध्यम नही मिल पाता और वह एक उद्दाम तीव्रता लिए झुलसती और झुलसाती—जीवन को मानो चीरती हुई—भटकती रहती है। बीच मे वह पातिव्रत की बात करती है, अपने पति के साथ समझौते का प्रयत्न करती है, एक अत्यत निकृष्ट व्यक्ति—कोयले वाले—के साथ ममता का खेल करती है, पत्नी-धर्म के निर्वाह का दावा करती है। पर यह सब कुछ जैसे एक तीखा व्यंग्य है। सचमुच चारों ओर से नकार प्राप्त कर मृणाल का जीवन ही तीव्र व्यग्य बन गया है।

जमुना का व्यक्तित्व व्यग्यमय नही है। कारण यह है कि उसमे आरंभ से ही निषेध और स्वीकृति का मिश्रण रहा है। उसको चारो ओर से नकार ही नही मिला।

आरंभ मे पति का मुक्त प्रणयदान, उसके चले जाने पर श्वसुर का स्निग्ध वात्सल्य, और उनके मरने के बाद हल्ली के स्नेह मे उसे जीवन की मधुर स्वीकृति भी मिली है। इसके साथ ही बाद मे पति की उपेक्षा मे, गाववालो के—विशेषकर चौधरी के—कटु व्यवहार मे उसे तिरस्कार भी मिला है। परतु कुल मिलाकर वास्तव मे यह नकार उस स्वीकृति से कही हल्का बैठता है। इसीलिए जमुना कई बार विचलित होकर भी विश्वास नही खो पाती—जीवन की स्वीकृति का अपमान नही कर पाती। जीवन की चरम परिणति मे भी—जब वह पति का ध्यान छोडकर एक दूसरे व्यक्ति को ग्रहण करने का निश्चय कर लेती है—वह जीवन को स्वीकार ही करती है, उसका निषेध नही करती। उसके जीवन मे अतृप्ति है। उसकी वासना प्रणय के अभाव मे अतृप्त और अभुक्त रहती है। परतु उसके साथ ही उसको व्यक्त और तुष्ट करने का साधन भी तो पुत्र-रूप मे उसके पास है। वह गृहिणी है। गृहस्थ-जीवन की मर्यादा का भी, जिसके समतल गमले मे हल्ली-जैसा सुदर पौधा पनप रहा है, उसकी वासना पर अधिकार है। इसलिए उसके व्यक्तित्व मे मृणाल की-सी तीव्रता और गति नही रह गयी, परतु विश्वास की प्रशात गभीरता उसमे है। मृणाल यदि लैम्प की प्रखर लौ है जिसमे प्रकाश के साथ विषाक्त धुआ भी है तो जमुना घृत का स्निग्ध दीपक है जिसमे प्रकाश चाहे हल्का हो पर धुआ बिलकुल नही है।

इन दोनो पात्रो के व्यक्तित्वो के अनुसार ही दोनो उपन्यासो के मूल प्रश्नो मे भी साम्य है।

इन दोनो रचयिताओ की विचारधारा की एक दिशा है। दोनो ही दार्शनिक या सामाजिक शब्दावली मे गांधी-नीति मे, और मनोविश्लेषण की शब्दावली मे आत्म-पीडन मे विश्वास करते है। दोनो ही एक स्वर मे कह उठते है·

"सचमुच जो शास्त्र से नही मिलता वह ज्ञान आत्म-व्यथा मे मिल जाता है।"—त्यागपत्र

"लोग ऊपर-ऊपर देखते हैं कि इसे दुख है। किसी को दुख ही दु:ख हो तो वह जिंदा कैसे रहे? आज तो पूरा उपाय करने की सोच ली है। आनद इसमे भी है।"—नारी

और अधिक स्पष्ट किया जाए तो वास्तव मे इस दृष्टिकोण का निर्माण अहिंसा के आधार पर काम की स्वीकृति के द्वारा हुआ है।

दोनो उपन्यासो मे आत्मव्यथा मे जीवन की शक्ति का मूल स्रोत माना गया है। कष्ट के कारणो से घृणा न करते हुए, कष्ट की अनिवार्यता से त्रास न खाकर उसमे आनद की भावना करना अहिंसा है, और अहिंसा यह सिखाती है कि अभुक्त वासना का वितरण करना ही उसकी सफलता है। मृणाल अत मे जाकर इसी उपचार को ग्रहण करने मे अपनी मुक्ति समझती है। जमुना मे यह भावना प्रारभ से ही वर्तमान है। परतु दोनो के दृष्टिकोणो मे एक अतर है—'नारी' की विचारधारा मे समाज-नीति की मर्यादा का रक्षण है, परतु 'त्यागपत्र' मे यह बात नही है। जमुना के स्रष्टा ने इस बात का ध्यान रखा है कि दूसरे व्यक्ति को ग्रहण करने मे भी वह समाज-नीति

का उल्लंघन न कर पाए। जमुना जिस वर्ग की नारी है, उसमे पुनर्विवाह या दूसरा घर बसा लेना जायज है। इसके विपरीत 'त्यागपत्र' मे सामाजिक मानों की अतिम स्वीकृति नही है। पति के होते भी मृणाल अपने प्रति सद्व्यवहार करने वाले व्यक्ति को शरीर-समर्पण कर बैठती है और उत्तेजना मे आकर नही, ठडे मस्तिष्क से। जैनेन्द्रजी नीति की चहारदीवारी को तोड जीवन मे प्रवेश करना शाय्द आत्म-कल्याण के लिए उचित समझते है, परतु सियारामशरणजी समाज की मर्यादा-भग करना श्रेयस्कर नही मानते।

दोनो उपन्यासो के मूल प्रश्नो को ऋजु शैली से समझिए :

सबसे पहले दो नारिया अपने जीवन का सघर्ष लेकर हमारे सामने आती है और हमारे मन मे प्रश्न उठता है कि नारी-जीवन की मुक्ति किस मे है—विवाह की मर्यादा मे, या प्रवृत्ति के उपभोग मे ? प्रत्यक्ष रूप मे यही धारणा होती है कि सियारामशरणजी प्रवृत्ति को स्वीकार करते हुए भी विवाह के पक्ष मे हैं और जैनेन्द्रजी समाज-मर्यादा का आदर करते हुए भी प्रवृत्ति के ही समर्थक हैं। पर यह तो हमारे अध्ययन की पहली मजिल है। 'त्यागपत्र' और 'नारी' का मूल प्रश्न अभी हमारे हाथ नही आया। अभी और आगे चलना है और उसके लिए हमे मृणाल और जमुना के व्यक्तित्वो के पार देखना पडेगा क्योकि 'त्यागपत्र' और 'नारी' स्पष्टत. ही सामाजिक समस्या के उपन्यास नही है। उनका—विशेषकर 'त्यागपत्र' का—संबध मानव-जीवन के मौलिक प्रश्न से है : जीवन की मुक्ति क्या है ?

'त्यागपत्र' के साथ यह विशेषता लगा देने का अर्थ यह है कि 'नारी' मे पाठक की दृष्टि उसके सामाजिक समस्या वाले पहलू पर अपेक्षाकृत अधिक ठहरती है। मृणाल की अपेक्षा जमुना समाज की इकाई ज्यादा है, उसके जीवन मे सामाजिक समस्या भी थोडा-बहुत महत्त्व तो रखती ही है। लेकिन फिर भी यह पहली मजिल आपको पार करनी ही होगी, तभी आप इन उपन्यासो की अतर्धारा मे प्रवेश कर सकेंगे। यहा आकर मृणाल और जमुना उपलक्ष्य बन जाते हैं—समाज तथा पुरुष और नारी के आवरणो को पार कर जैसे ये दोनो शुद्ध व्यक्ति रह जाते है और जीवन का समाधान ढूंढने मे व्यस्त दिखाई देते हैं। विधान या प्रवृत्ति ?—यह इनका मूल प्रश्न है और यही सामाजिक मानव का चिरतन प्रश्न भी है।

जैसा मैंने ऊपर कहा, जैनेन्द्रजी विधान का साधारण रूप मे आदर करते हुए भी अतिम परिणति पर पहुचकर उसका निषेध कर देते है। सर एम० दयाल का त्यागपत्र पर सही करना स्पष्ट रूप मे जैनेन्द्रजी का विधान के निषेध पर सही करना है। वह महसूस करते हैं : "कही कुछ गडबड है। कही क्यो ? सब गडबड ही गडबड है · सृष्टि गलत है। समाज गलत है·· इसमे तर्क नही है, सगति नही है, कुछ नही है। इसे जरूर कुछ होना होगा, जरूर कुछ करना होगा।"

आगे एक प्रश्न उठता है—'पर क्या·· आ ?' यहा आकर अधिकाश संक्राति-काल के विचारको की भाति वे घबराकर रुक जाते हैं। परंतु उनकी आस्था, जिसका पोषण गाधी-नीति के प्रभाव मे हुआ है, उनकी मदद करती है; और वे अहिंसा या

तपस्या मे जीवन का समाधान मान लेते हैं—यद्यपि वह पूर्णतः उनके घट मे उतर जाता है, इसमे मुझे संदेह है। उनके पास एक यही उत्तर है और यही उत्तर सियारामशरणजी के पास भी है। दोनो का प्रश्न एक है, उत्तर भी एक है, परतु क्रिया भिन्न है।

सियारामशरणजी को जीवन-विधान की गडबड का इतना तीखा अनुभव नही होता, लेकिन वे उस पर संदेह अवश्य करते है। उसको तोडने का लोभ भी उनको कम नही होता है—करीब-करीब तोड ही देते हैं—लेकिन अंत मे उन्हे उसी की ओर लौटना पडता है। वे मानो इस प्रकार सोचते हो—पीडा जीवन मे अनिवार्य है, उसी मे आनंद की भावना कर लेना जीवन का समाधान प्राप्त कर लेना है, और प्रवृत्ति के बधन की पीडा ही सच्ची पीडा है।

इस प्रकार आत्म-पीडन की फिलॉसफी मे विश्वास रखने वाले ये लेखक दो विभिन्न क्रियाओ द्वारा जीवन का समाधान ढूढ निकालते हैं—जैनेन्द्रजी विधान से युद्ध करते हुए और सियारामशरणजी प्रवृत्ति से लडते हुए।

दृष्टिकोण का यही अतर दोनो व्यक्तियो के अतर को स्पष्ट कर देता है। प्रवृत्ति के समर्थक जैनेन्द्रजी का अहं स्वभावतः ही अधिक बलिष्ठ और तीखा होना चाहिए, उधर विधान मे आस्था रखने वाले सियारामशरणजी मे अधिक आत्मनिषेध होना उतना ही स्वाभाविक है। दोनो व्यक्तियो का जीवनादर्श एक है—पूर्ण अहिंसा की स्थिति प्राप्त कर लेना, अर्थात् अपने अहं को पूर्णत घुला देना। इस साध्य के लिए सियारामशरणजी की साधना अधिक हार्दिक है, नैतिक दमन का अभ्यास उनको अधिक है, और उनका अहं सचमुच बहुत काफी घुल चुका है। अहिंसा बहुत-कुछ उनके व्यक्तित्व का अग बन चुकी है। इसके विपरीत जैनेन्द्र का अहं अब भी इतना सजग और पैना है कि उनकी सादगी, विनम्रता और सरलता को चीरता हुआ क्षण-क्षण सामने आ जाता है। इसीलिए अपने प्राप्य के लिए उनको सियारामशरण की अपेक्षा अधिक सघर्ष करना पडता है। उनके जीवन मे सघर्ष अधिक है, ठीक उतना ही अधिक जितना मृणाल के जीवन मे जमुना की अपेक्षा। सियारामशरणजी मे हृदय का अश अधिक है, वे अधिक आस्तिक हैं। जैनेन्द्रजी मे बुद्धि की तीव्रता है, अतएव उनके मन मे सदेह का संघर्ष अधिक है। इसीलिए जैनेन्द्र अधिक व्यक्तिवादी हैं—सियारामशरणजी मे सामाजिकता की भावना अधिक है। सियारामशरणजी के लिए अहिंसा का आदर्श कुछ सीमा तक प्राप्त भी है, परंतु जैनेन्द्रजी के लिए अभी वह एक प्राप्य-मात्र है। उनकी जागरूक मेधा और उससे भी अधिक जागरूक अहकार स्वभाव से ही अहिंसा के आत्म-निषेध के प्रतिकूल हैं। इसीलिए उनको उसके प्रति आग्रह अधिक है। यही कारण है कि उनके उपन्यास मे संघर्ष तीखा और सशक्त है।

मेरी अपनी धारणा यह है कि साहित्य की शक्ति और तीव्रता उसके स्रष्टा के अहं की शक्ति और तीव्रता के अनुसार ही होती है। दुर्बल अहं, अथवा किसी भी कारण से दबा हुआ अहं, यहा तक कि घुला हुआ अहं भी, आर्द्रता की ही सृष्टि कर पाता है, शक्ति की नही। निदान 'त्यागपत्र' मे जहा तीव्रता है वहा 'नारी' मे

आर्द्रता है।

शैली मे भी दोनो का वही संबंध है जो उनके व्यक्तित्व में—यानी 'त्यागपत्र' की शैली मे तीखापन और वक्रता है, 'नारी' की शैली में कोमलता और सरलता है। 'त्यागपत्र' की कहानी जैसे दिल और दिमाग को चीरती हुई आगे बढती है, 'नारी' की कहानी को सुनकर जैसे पीडा मधुर-मधुर घुल उठती है। 'त्यागपत्र' की शैली मे कठोर निर्ममता है। उसके कुछ क्षणो की निर्ममता तो असह्य है। अगर आपके सामने कोई व्यक्ति मुह की रगत को बिगाडता हुआ तकलीफ के साथ जहर पीता हो तो आप कैसा महसूस करेंगे ? और अगर यही व्यक्ति बिना किसी प्रकार के भाव-परिवर्तन के गभीरता के साथ जहर को गट-गट कर जाए, तो आपको कैसा लगेगा ? मृणाल की कुछ आत्म-यंत्रणाएं ऐसी ही हैं। इसके विपरीत नारी की शैली मे घरेलू स्निग्धता है। जमुना आत्म-व्यथा मे विश्वास करती हुई भी अपने प्रति स्निग्ध और करुण है। अतएव 'नारी' की कहानी मे कोमल-स्निग्ध गति है। उसमे हृदय को स्पर्श करने वाले स्थल अनेक हैं, हृदय को चीरने वाले स्थल नही हैं। 'नारी' की यह करुण कहानी हल्ली के बाल-सुलभ क्रिया-व्यापारों से मन बहलाती हुई धीरे-धीरे आगे बढती है—यहा तक कि कही-कही इसकी गति मंद पड जाती है और पाठक सोचता है कि हल्ली के ये खेल और मुकदमे कुछ कम होते तो अच्छा था क्योकि कही-कही वे कहानी को उलझा देते हैं। 'नारी' की कहानी का यह दोष उसके प्रभाव मे बाधक होता है।

इन दोनो कहानियो की गठन मे एक-एक स्थल ऐसा मिलता है जहा पाठक का मन रुककर उसकी स्वाभाविकता पर सदेह कर उठता है।

'त्यागपत्र' मे जब मृणाल पति के घर से निकलकर एक कोयले वाले को ग्रहण कर लेती है तो शायद अनेक पाठको की भाति मेरा मन भी पूछ उठता है—क्या एक शिक्षित मध्यवर्गीय बाला के लिए वह स्वाभाविक है ? क्या वह अपने पैरो पर नही खडी हो सकती थी, जैसा कि उसने बाद मे कुछ दिन के लिए किया ? और अगर उसे किसी पुरुष के सहारे की ही आवश्यकता थी तो क्या कोयले वाले की अपेक्षा अच्छे चुनाव की गुजाइश नही थी ? यह संदेह एक बार जरूर उठता है। लेकिन इसका समाधान प्राप्त कर लेना भी समझदार पाठक के लिए असभव नही है। मृणाल के व्यक्तित्व मे बुद्धि और संवेदना की प्रखरता के कारण एक असाधारणता है। अतएव एक साधारण मध्यवर्ग की युवती को दृष्टि में रखकर उसके व्यवहार की समीक्षा करना गलत होगा। जीवन मे नकार पाकर उसका स्वभाव से ही संवेदनाशील मन अतिशय सवेदनाशील हो गया है। बस उस आखिरी धक्के से यह एक बार कुछ समय के लिए समग्रतः डूब जाता है। ऐसी स्थिति मे चुनाव का प्रश्न ही नही उठता—उस समय पर अहसान करने वाला पहला पुरुष बडी आसानी से कुछ समय के लिए तो उसके जीवन मे प्रवेश कर ही सकता है। बडे-बडे करोड़पतियों की स्त्रिया फकीरों के साथ भाग जाती हैं! और मृणाल के साथ तो यह स्थिति मानसिक विवशता के अति-रिक्त चैलेंज का परिणाम भी हो सकती है! शरत् के पाठक को इस प्रकार के पात्रो को ग्रहण करने मे कोई कठिनाई नही होगी।

'नारी' मे भी एक स्थल सदेहप्रद है। ज्यो ही जमुना की कहानी अतिम स्थिति पर पहुचती है, हल्ली का एक साथी हीरा, सिर्फ हल्ली से बदला लेने के लिए, जमुना के पति को एक ऐसा पत्र लिख देता है कि सारा खेल बिगड जाता है। यह पत्र इतना कौशलपूर्ण है कि इसको हीरा-जैसा छोटा बालक तभी लिख सकता था जब सियारामशरणजी इबारत बोलते गये होते। माना कि यह घटना जमुना के व्यक्तित्व-विकास मे प्रत्यक्ष रूप से बहुत महत्त्वपूर्ण नही है, परतु कथा के विकास मे इसका महत्त्व असदिग्ध है। इसकी त्रुटि कथा-शिल्प की एक त्रुटि है। इसका समाधान मुझे बहुत सोचने पर भी नही मिल पाया।

यही आकर जैनेन्द्रजी और सियारामशरणजी की शैली का एक और अतर स्पष्ट हो जाता है—जैनेन्द्रजी अपनी शैली के प्रति जागरूक हैं प्रभाव को तीव्र करने के लिए उन्होने सचेत होकर कोशिश की है। उन्होने इसीलिए संवेदना के मापक रूप मे सर एम० दयाल की सृष्टि की है। वह प्रभाव को तीव्र करते जाते हैं और पारा धीरे-धीरे ऊपर चढता जाता है। अंत मे मृणाल की मृत्यु पर, जैसे ताप के सीमा पार कर जाने से यत्र टूट जाता है, सर एम० दयाल जजी से इस्तीफा दे देते हैं। यह उपन्यास-शिल्पी का अद्भुत कौशल है। इसलिए जब कभी जैनेन्द्रजी सादगी मे आकर टेकनीक या शिल्प से सर्वथा अबोध होने की बात करने लगते हैं तो हसी आ जाती है।

उधर सियारामशरणजी का लक्ष्य—कम-से-कम 'नारी' मे—एक सीधी-सच्ची करुण-स्निग्ध कहानी ही रहा है। उन्होने जागरूक होकर प्रभाव को तीव्र करने का प्रयत्न नही किया, या किया है तो इतने हल्के हाथो से कि वह लक्षित नही होता। उदाहरण के लिए आप वह स्थल ले सकते हैं जहा एक दूसरा व्यक्ति जमुना के जीवन मे प्रवेश करता है और जमुना उसे समर्पण कर देती है। यह सब ऐसे होता है जैसे कुछ हुआ ही न हो। पाठक के मन मे जमुना के जीवन का यह महत्त्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार सरक जाता है कि वह बिल्कुल नही चौकता। इसके विपरीत आप मृणाल का समर्पण लीजिए। उसमे कितना व्यग्य है, कितनी कचोट है, कितनी तीव्रता है! उसके जीवन का यह तथ्य पाठक के मन को चीरता हुआ, उसकी वृत्तियो को झनझनाता हुआ, प्रवेश करता है।

'त्यागपत्र' का कौशल अपनी विदग्धता के बल पर अपने मेधावी शिल्पी की दुहाई देता है, और 'नारी' का कौशल अपने को छिपाकर अपने स्नेहार्द्र शिल्पी की सिफारिश करता है।

सुखदा

हिंदी-उपन्यास के क्षेत्र मे प्रेमचद व्यक्ति नही, संस्था थे। उन्होने अपने समय की सामाजिक और राजनीतिक चेतनाओ को युग-धर्म के दृढ आधार पर समन्वित किया। वे अपने मामाजिक-नैतिक व्यक्तित्व के बल पर हिंदी-उपन्यास पर कई दशाब्दो तक छाये रहे। परतु उनके अतिरिक्त भी हमारे उपन्यास मे काफी है, जो नगण्य नही है। स्थूल रूप से वर्तमान हिंदी-उपन्यास की प्रवृत्तियो का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है :

सबसे पहले तो प्रेमचंद से प्रभावित सुधारवादी सामाजिक-राजनीतिक उपन्यास आते हैं। फिर शरत् से प्रेरित व्यक्तिवादी उपन्यास है। तीसरा वर्ग प्रगतिवादी उपन्यासो का है जिनका आधार है साम्यवाद; यशपाल इस वर्ग के प्रमुख उपन्यासकार हैं। चौथे वर्ग को मनोवैज्ञानिक उपन्यास का नाम दिया जा सकता है। उसमे मनो-विश्लेषणशास्त्र और काम की समस्या को मूल आधार माना गया है। इस वर्ग मे दो नाम प्रमुख हैं—अज्ञेय और इलाचद्र जोशी। इनके अतिरिक्त ऐतिहासिक उपन्यासो की परंपरा भी अभी चल रही है, जिसके प्रतिनिधि हैं वृन्दावनलाल वर्मा।

जैनेन्द्रजी के उपन्यास दूसरे वर्ग मे आते है जो प्रेमचंद के समय मे ही प्रेमचंद की वहिर्मुखी प्रवृत्ति के विरुद्ध शरत् से प्रेरणा प्राप्त कर उठ खडा हुआ था। 'सुखदा' उनका नया उपन्यास है जो कोई पंद्रह वर्ष के बाद लिखा गया है। इस बीच जैनेन्द्रजी के मित्र और प्रशंसक कुछ निराश-से होने लग गये थे कि कदाचित् यही अकाल-वध्यत्व है, पर 'सुखदा' ने यह शका निर्मूल कर दी है। उसकी एक बडी सफलता तो यही है। 'परख' के उपरांत 'सुनीता', फिर त्यागपत्र' और उसके बाद 'कल्याणी'—यह एक स्पष्ट क्रम था। 'परख' मे किशोर भाव था; प्रतिभा क अकुर व्यक्त थे परतु अपरि-पक्वता भी थी ही; 'सुनीता' मे यौवन हैं, सकोच कम हो गया है, आत्म-विश्वास तथा उत्साह और उसके साथ अपने प्रति सचेष्टता भी वर्तमान है। 'त्यागपत्र' मे युवती प्रगल्भा हो गयी है —अभिव्यक्ति और गोपन दोनो मे निपुण—इसलिए अधिक सफल, 'कल्याणी' की गभीरता मे वार्धक्य का आभास है। यह विकास-क्रम स्पष्ट था और स्वाभाविक भी। 'कल्याणी' के बाद जैनेन्द्रजी ने विचारात्मक निबंध और प्रश्नोत्तर लिखना शुरु कर दिया था, उसमे भी 'कल्याणी' के पाठक को कोई अप्रत्याशित बात नही प्रतीत हुई। क्या 'सुखदा' इसी क्रम मे कल्याणी के बाद की रचना है ? नही ! उसमे ऐसा काफी कुछ है जो 'त्यागपत्र' से भी पहले का है; और कदाचित् यह ठीक

ही है कि उसका आरंभ पहले ही हुआ था।

जैनेन्द्रजी के उपन्यासो मे कहानी कवल निमित्त-मात्र होती है। 'सुखदा' मे भी उसका उपयोग है, यद्यपि उसमे 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' की अपेक्षा घटनाए निस्सदेह ही अधिक है, झटके भी अधिक हैं और कही-कही कुतूहल की भी सृष्टि हुई है।

सुखदा एक मनस्वी स्त्री है। उसका अहंकार तीखा है और आकाक्षाएं प्रबल। उसका विवाह होता है मध्यम वर्ग के कात नामक व्यक्ति से, जो स्वभाव मे उसके सर्वथा विपरीत है। पति की निरीहता और समर्पण-भाव उसके अहंकार को और भी उत्तेजित कर देते है और साधारण गृहस्थ जीवन की सकीर्ण सीमा मे उसका मन घुटने लगता है। हठात् वह क्रातिकारी दल से सपर्क स्थापित करती है जिसके नेता है हरिदा। उसी दल मे एक सदस्य और भी है—लाल, जो मानो सुखदा की समस्या का उत्तर है। उसकी अधीर सक्रियता और आक्रमणशील स्वभाव निस्सदेह ही सुखदा को अपनी ओर बलपूर्वक आकृष्ट करता है। दल मे लाल के प्रति ईर्ष्या और सदेह जगता है और सदस्य उसको मृत्युदंड देना चाहते हैं, परंतु हरिदा लाल का मूल्य जानते हैं और वे अनेक कारणो से दल भंग कर अपने को पुलिस के हाथ मे सौंपने के लिए तैयार हो जाते है। उनपर पाच हजार का इनाम है। कात हरिदा के बालबधु हैं, वे तरह-तरह के नैतिक तर्क देकर अत मे कात को इस बात के लिए तैयार कर लेते हैं कि वह जाकर पुलिस मे सूचना दे दें। कात निरीह भाव से यह सब-कुछ कर डालते हैं। हरिदा को बचाने का प्रयत्न करते हुए लाल दल के एक अन्य सदस्य प्रभात की गोली से आहत होते हैं और उनका विश्वासपात्र साथी डाकू केदार इस धर-पकड में पुलिस की गोली से मारा जाता है। लाल का क्या होता है, यह अज्ञात है; परंतु रहस्य का उद्घाटन होने पर सुखदा कात से सदा के लिए विदा ले लेती है। ऐहिक और आध्यात्मिक व्यथा से पीडित सुखदा क्षय-रोग का शिकार बनकर अंत मे सैनेटोरियम पहुच जाती है जहा से वह पुनरवलोकन के रूप मे यह कहानी लिपिबद्ध करती है। परंतु मैंने अभी कहा कि यह कहानी तो निमित्त-मात्र है। फिर तत्त्व क्या है ! 'सुखदा' मे लेखक का मन घटनाओ मे रमकर सुखदा के चरित्रोद्घाटन मे ही रमा है। पाठक को भी रस घटनाओ से नही मिलता, मन के विश्लेषण से मिलता है। तो क्या मन का विश्लेषण ही इस उपन्यास का उद्देश्य है ! वास्तव मे लेखक ने आरभ से अत तक उसको इतना अधिक महत्त्व दिया है कि साधारणत' इस प्रश्न के उत्तर मे 'हा' कहने का लोभ हो जाता है। परतु जैनेन्द्रजी को यह स्वीकार्य नही होगा। लेखक यदि तटस्थ कलाकार मात्र होता तो मन का विश्लेषण भर कर देना उसके लिए अलम् होता; किंतु जैनेन्द्रजी का उद्देश्य कला की निरुद्देश्यता नही हो सकता। उनके लिए कला एक विशिष्ट प्रेष्य अर्थ की माध्यम है। यह प्रेष्य अर्थ है अहं का उत्सर्ग। जीवन की सबसे बडी समस्या है अहं, और सबसे सफल समाधान है उसका उत्सर्ग। इस उत्सर्ग की विधि है आत्म-पीडन। सुखदा के जीवन की भी मूल समस्या उसका यही अहकार है, जिसके उत्सर्ग के लिए वह अपने को हठात् पीडा की अग्नि मे डाल देती है। साधारण पाठक को लगता है कि आखिर इससे बाहर आना क्या मुश्किल है ! थोडा विवेक और थोडी-

सी व्यावहारिक इच्छा-शक्ति उसे इस अग्नि-कुंड से निकाल सकती है; परंतु सुखदा बचना चाहे तब न ! या यो कहिये कि लेखक उसको बचने दे, तभी न ! सुखदा के लिए तो जैसे यह अग्नि-परीक्षा ही जीवन है । अपने को पीडा देकर ही वह अपने से त्राण पा सकती है । लेखक के लिए भी कदाचित् यही शरण-भूमि है । इसीलिए उसने इसे ही कला की चरम सिद्धि माना है । समूचे उपन्यास मे आत्म-व्यथा की ही प्रेरणा है । केवल सुखदा ही नही, अन्य पात्र भी जैसे व्यथापूर्वक अपने को घुलाकर या अपना निषेध करके ही प्राप्य की ओर बढते हैं । गृहस्थ कात, संन्यासी क्रातिकारी हरिदा, समाजवादी क्रातिकारी लाल और डाकू केदार—सभी के जीवन की एक ही साधना है, अपनेपन का समर्पण । सभी पीड़ा को पाल रहे हैं । महादेवी की एक पक्ति है :

तुमको पीडा मे ढूंढा, तुम मे ढूंढूंगी पीडा ।

सुखदा स्वय और उसके सभी सहयोगी पात्र पीडा मे ही मुक्ति ढूढते हैं । क्रातिकारी दल के नेता हरिदा जीवन-भर क्राति का सगठन करने के उपरात अंत मे एक प्रकार से समर्पण ही कर देते हैं । हिंसात्मक सामाजिक क्राति का प्रवक्ता लाल अपनी भौतिक मान्यताओ के बावजूद अपने जीवन मे समर्पित होकर ही रहता है । हिंसाजीवी डाकू केदार का समर्पण इनसे कम नही है । ये तो अपने लिए और अपनी तरह सोचते भी हैं, केदार ने वह अधिकार भी छोड दिया है । कात की अक्षुब्ध निरीहता प्रश्न न रह कर, उत्तर ही बन गयी है । उसकी साधना मे भी कितनी मूक पीडा है, यह गुप्त नही है । परंतु यह ठीक है कि वह कर्ता न रहकर भोक्ता-मात्र बन गया है । कथा की चरम घटना का भोक्ता भी वही है, वही सूचना देकर हरिदा को गिरफ्तार कराता है और पाच हजार का इनाम लेता है । यह घटना अपने-आप मे इतनी रहस्यमय है कि पाठक के मन मे आसानी से नही बैठती । कात के चरित्र के साथ भी उसकी सगति नही बैठती । क्या कात जैसा व्यक्ति इतना निस्तेज हो सकता है ! क्या कात, हरिदा का बाल-बधु, उनके आदर्शो से सक्रिय सहानुभूति रखने वाला व्यक्ति इतना असमर्थ हो सकता है कि एकदम हिप्नोटाइज होकर ऐसी भयंकर जघन्यता को अपने ऊपर ओढ ले ! हरिदा ने समर्पण क्यो नही कर दिया ! दल तो भंग हो ही गया था, रुपये की उसके लिए कोई सार्थकता नही थी, और फिर सिर्फ पाच हजार की रकम ! मान लीजिए उससे थोडा भौतिक लाभ भी हो, परंतु अपरिमेय नैतिक हानि को वह कैसे भर सकता है ! और यह नैतिक हानि केवल व्यक्ति की ही नही, समाज की भी है । हरिदा जैसे अध्यात्मदर्शी ने यह सब क्यो किया ? यह शका स्वाभाविक है, और इसका समाधान सहज नही है । परंतु मुझे लगता है मानो लेखक ने आत्म-पीडा को कसौटी मानकर ही इसका सचेष्ट प्रयोग किया है । शरीर का बलिदान भी अहंकार का पूर्ण उत्सर्ग नही है, सामाजिक स्वीकृति—'यश' के मद मे व्यक्ति ऐसा हसते-हसते कर सकता है । शारीरिक मृत्यु सह्य है, सामाजिक मृत्यु असह्य ! हरिदा ने यश काय के लिए काया की बलि दे दी । लाल के व्यक्ति की तीव्रता अपने-आप मे एक बडा नशा थी, परंतु कात ने विवश भाव से, बिना ऐनेस्थेशिया के, यह भयकर ऑपरेशन करा लिया । इस बालबधु की गिरफ्तारी के लिए पुलिस मे सूचना

देना और वह भी तब जबकि उस पर इनाम हो ! इसकी केवल एक ही सार्थकता हो सकती है और वह यह कि लेखक ने इसे अहं के उत्सर्ग की कसौटी बनाया है।

उत्सर्ग की इस भूमिका पर सुखदा के अहं का विकास होता है। और पात्र तो अहं का उत्सर्ग कर मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, परंतु सुखदा ऐसा नही कर सकी, इसीलिए उसकी पीडा-तपस्या अभी चल रही है। साहित्य-शास्त्र का नियम है कि नायक कभी नही मरता। मेरेडिथ की प्रसिद्ध उक्ति है · 'हीरोज़ नैवेर डाई, यू नो।' इसीलिए लेखक ने अपने उपन्यास के मुख्य पात्र की पीडा को नही मरने दिया, अन्यथा कहानी ही समाप्त हो जाती। सुखदा के मन की पीडा जी रही है। और आगे कहूं, तो इसी को लेकर जैनेन्द्र की कला जी रही है, या जी उठी है।

'सुखदा' की शैली के विषय मे मुझे कुछ नया नहीं कहना। जैनेन्द्रजी को अपनी सतर्क सहजता का अब पर्याप्त आभास हो गया है। उनके वर्णन की वह अभ्यस्त विधि हो गयी है। 'सुखदा' मे हाथ की सफाई और भी व्यक्त है। पर शैली का एक सीमित रूप भी है—अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति के दो अंग हैं उक्ति और भाषा। उक्ति कला है और भाषा शास्त्र है। जैनेन्द्रजी उक्ति के माहिर है। वक्रता पर ऐसा अधिकार कदाचित् ही किसी गद्य-लेखक का हो, शायद निराला का है। परंतु भाषा वाला अंग जैनेन्द्रजी का कच्चा है और उसके लिए जैनेन्द्रजी की अपनी बौद्धिक मिथ्या धारणा ही उत्तरदायी है। वे कम अधीत नही हैं, परंतु शास्त्र के प्रति उन्हे अक्षम्य अनास्था है। यह ठीक ही है कि कला की अपेक्षा शास्त्र का स्थान निम्नतर है, परंतु शास्त्र का तिरस्कार करने का अधिकार लेखक को नही है। जैनेन्द्रजी ने अपनी कृत्रिम सहजता के चाव मे शास्त्र का तिरस्कार किया है, इसीलिए उनके अनेक प्रयोग स्पष्टतः अशुद्ध, संस्कार-भ्रष्ट और कही-कही ग्राम्य भी हो गये है . वह भी अपनी कुर्सी में आ गये। × × × वह कोच मे हो उठे। ××× मैं हिल आयी। ××× कहकर मुझ थमी हुई की उंगली पकडी। × ××

कुछ विचित्र प्रयोग भी देखिये

(१) कतिपय युवको ने मिलकर कुछ प्रवृत्ति करने की योजना की। (२) संघ के सदस्यों के मनो का स्वप्न सांगोपांग होता है। (३) लेकिन मैं देख सकी, प्रसन्नता नियम की है। ['नियम' का प्रयोग यहां औपचारिक (फार्मल) के अर्थ मे किया गया है।] (४) इससे अपना ही व्यवच्छेद करती चलूंगी।

मैंने इनका उल्लेख जान-बूझकर किया है; क्योंकि इन्हे आसानी मे, या थोडे से ही परिश्रम से, बचाया जा सकता था। इनसे कुछ बनता नही है, बिगडता ही है; क्योंकि यही व्यक्ति इस प्रकार की शानदार भाषा का भी प्रयोग कर सकता है :

(१) जीवन और मृत्यु के बीच का वह क्षण—दोनो मानो एक होकर उसमे पिघल आये थे। (२) सिर्फ एक क्रम है और हर व्यतिक्रम अपराध। (३) इन पर विराग का व्यंग्य भी नही था।

कुछ मिलाकर 'सुखदा' जैनेन्द्रजी का सफल उपन्यास है, उसमे 'सुनीता' की अपेक्षा स्वच्छता और सूक्ष्मता अधिक है, परंतु 'त्यागपत्र' का तीखापन और धार नहीं है।

अज्ञेय और 'शेखर'

'शेखर' का दूसरा भाग अभी कुछ दिन हुए-तीन चार वर्ष के अतराल के उपरात, प्रकाशित हुआ है। यद्यपि पहले और दूसरे भागों मे 'शेखर' सपूर्ण नही है—अभी कुछ और भी है जो सामने आएगा—और वास्तव मे तभी हमारा दृष्टिकोण भी निश्चित एवं स्थिर हो सकेगा—फिर भी तीसरे (और शायद चौथे भी ?—) भाग का अभाव 'शेखर' की गरिमा और सौंदर्य को ग्रहण करने मे विशेष बाधक नही होता।

'शेखर' हिंदी के उन गौरव-ग्रंथो मे से है जो प्रत्येक जागरूक आलोचक का आह्वान कर कहते है—"आओ हमारे सहारे अपनी शक्ति की परीक्षा करो।" और सचमुच उसमे इतना-कुछ है जो मन और मस्तिष्क को उद्वेलित करता है कि उसे पढकर मौन हो जाना, अगर वह लेखक की आत्मा से सायुज्य स्थापित कर लेना नही है तो, निश्चय ही साहित्यिक चेतना के दौर्बल्य का द्योतक है।

'शेखर' एक शक्तिपूर्ण व्यक्ति का अपने जीवन का प्रत्यालोकन है। और चूंकि इस व्यक्ति को शीघ्र ही फासी पा जाने का लगभग निश्चय-सा है, इसलिए इस प्रत्यालोकन मे एक अनिवार्य तीव्रता आ गयी है, जिसके कारण अपने जीवन के आर-पार देख लेना उसे सहज संभव हो गया है। इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है, मृत्यु का साक्षात्कार हठयोग की एक सफल क्रिया है जो मनुष्य को प्रायः अतर्भेदी दृष्टि प्रदान कर देती है। यह दृष्टि केवल साधन-शक्ति—केवल देखने वाली शक्ति नही होती। इसका एक आत्मरूप भी होता है, जो देखता नही दीखता है। उसे ही लेखक ने विज़न कहा है। पहले दो भागो मे इस विज़न की झिलमिली ही मिलती है—पूर्ण दर्शन शायद तीसरे मे होगा—इसलिए हम इसे अभी छोड देते हैं। इसके द्वारा जो देखा गया वही हमारा आलोच्य है। अस्तु !

'शेखर' के पहले भाग मे एक सक्षिप्त परंतु अत्यत मूल्यवान् भूमिका दी हुई है। उसके तीन चरण हैं। पहले मे 'शेखर' के सृजन-क्षणो की व्याख्या है। दूसरे मे, हिंदी के नासमझ पाठक उसे कही लेखक की आत्मजीवनी न समझ बैठें, इस बात का सतर्क और सप्रमाण—आधुनिक अगरेज़ी साहित्यकार इलियट के साक्ष्य के साथ—प्रतिषेध है। और तीसरे मे 'शेखर' के प्लान की ओर सकेत है। इसमें पहला और तीसरा भाग जितना सत्य और सटीक है, दूसरा भाग उतना ही झूठ लगता है—लगता है मैं इसलिए कह रहा हूं कि इससे अधिक समर्थ शब्दावली का प्रयोग कर नही सकता

हू : आप एक बार फिर भूमिका के इस द्वितीय चरण को पढिए; और मुझे विश्वास है कि आप भी यह आसानी से पकड पाएंगे कि उसमे एक ऐसा आदमी झूठ बोलने का प्रयत्न कर रहा है जिसे उसका अभ्यास नही है ।'[1] इसीलिए उसकी तर्क-पद्धति मे असंगति है, उसके वाक्यो मे उलझन है—जैसे कोई सत्य का गला घोट रहा हो और वह छटपटा रहा हो । इलियट के क्लासिकी आदर्श की दुहाई इतने जोर से देने के पूर्व अज्ञेय ने एक बात नही सोची कि अतत रूढिवादी विचारधारा के कवि इलियट और रूढि को किसी भी रूप मे सत्य न मानने वाले 'शेखर' के स्रष्टा मे कम-से-कम जीवन-दर्शन का कोई साम्य नही है । फिर कोई भी व्यक्ति अपने सभी कवचो के बावजूद भी इतना अज्ञेय नही बन सकता कि दूसरे उसके विषय मे सर्वथा अधकार मे ही रहे और अपनी आखो से न देखकर जो वह कह दे उसे मान लें । हमारी यह धारणा है कि शेखर और अज्ञेय मे भोक्ता और कलाकार का अतर मानना दोनो के प्रति अन्याय करना है । अतएव हम यह मानकर चलते हैं कि 'शेखर' अज्ञेय के अपने ही जीवन का प्रत्यालोकन है और उसकी घटनाएं जीवन के प्रति सच्ची हैं—जो नही हैं वे जबरदस्ती तोडी-मोडी और गढी हुई साफ नजर आ जाती हैं ।

'शेखर' को पढने के उपरात पाठक के मन पर दो प्रभाव पडते है—एक अभिभूत करने वाली शक्ति का और दूसरा गहरी करुणा का । गहरी से मेरा अभिप्राय यह है कि इसकी करुणा सतह पर नही है । अतएव उसमे तुरत ही हृदय को काटने वाली करुणा नही मिलती, दूर पहुंच कर गहरे मे कचोटने वाली करुणा ही मिलती है । परतु ये दोनो तत्त्व पृथक् नही हैं—इनमे पूर्वापर कार्य-कारण सबध स्पष्ट है—अर्थात् यह शक्ति ही अंत मे अपनी एकातता मे करुण बन जाती है ।

शेखर की शक्ति उसके अदम्य अहकार की शक्ति है जो अभ्रभेदी त्रिशूल की तरह ऊपर को बढ रही है । शेखर की जितनी घटनाएं हैं वे जैसे एक माला के मनके है जिनका सुमेरु है उसका अहं । उसने पाना ही जाना है, देना नही । इस विषय मे आप बस उसकी एक उक्ति ही सुन लीजिए—"मुझे मूर्ति उतनी नही चाहिए, मुझे मूर्ति-पूजक चाहिए । मुझे कोई ऐसा उतना नही चाहिए जिसकी ओर मैं देखू, मुझे वह चाहिए जो मेरी ओर देखे । यह नही कि मुझे आदर्श पुरुष नही चाहिए, पर उन्हे मैं स्वयं बना सकता हूं । मुझे चाहिए आदर्श का उपासक, क्योकि वह मैं नही बना सकता । अपने लिए ईश्वर-रचना मेरे बस मे है, लेकिन मेरी ईश्वरता का पुजारी—वह नही ।" आरभ से ही उसने अहकार को इतने समरूप मे स्वीकृत कर लिया है कि वह अपने सपर्क मे आने वाले सभी व्यक्तियो से उसके पोषण की माग करता है । पुरुषो से वह आदर मागता है, स्त्रियो से प्यार । और वे जैसे-जैसे उसकी इस माग को पूरा करते हैं, उसी के अनुसार उसकी उनके प्रति प्रतिक्रिया होती है । पिता की कठोरता को भी उसने जो एक भव्य रूप दिया है, उसका भी एकमात्र कारण यही है कि उनकी अपनी गौरव-भावना और कठोरता के नीचे ऐसा कुछ उसे अवश्य मिल जाता

१. यह शायद मेरी बालबुद्धि का भ्रम था । ऐसा मानना लेखक के अतिशय 'प्रशिक्षित' व्यक्तित्व के प्रति अन्याय होगा ।—न०

है जो वडे अभिमान से उसके अहं को दुलारता है। मां को उसके प्रति स्नेह नही था, यह नही कहा जा सकता। परंतु वे बेचारी उसकी यह माग पूरी करने में असमर्थ रही। इसलिए उसने जीवन-भर उन्हे क्षमा नही किया। इस विषय मे वह इतना निर्मम है कि मां को घृणा का पहला पाठ पढाने का श्रेय भी वह नही दे सकता। उसके जीवन मे कई स्त्रिया थोडे-थोडे समय के लिए आती हैं। पहले उसकी बहन सरस्वती, फिर शीला, फिर शारदा। रुग्णा शाति का भी नाम लिया जा सकता है। ये उसे प्यार देती ही है। जो कुछ पाती हैं वह अधिक-से-अधिक एक हल्का-सा आत्मद्रव ही होता है उसमे वह सपूर्ण आत्म-प्रगति नही होती, वह आत्मोत्सर्ग नहीं होता जिसे प्यार का पूरा नाम दिया जा सके।

अब दो व्यक्ति रह जाते हैं जिनके प्रति वह प्रणत होता है—एक बाबा मदन-सिंह, दूसरी शशि। यहा यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या बाबा मदनसिंह के प्रति वह आत्म-प्रणति का अनुभव नही करता, और क्या शशि के प्रति भी उसकी भावना आत्मोत्सर्ग की नही है ? बाबा मदनसिंह का यातना-पूत व्यक्तित्व उसको झुका देता है, इसमे सदेह नही। परतु आप थोडी बारीकी से देखेंगे तो आपको स्पष्ट हो जाएगा कि बाबा की विनय मे और उनके सूत्रो मे बराबर उसके अहं को खाद्य मिलता रहा है। अपने को झुकाकर तोड देने वाले इस व्यक्ति के सूत्रो मे शेखर को अपने अहंवाद का जो समर्थन मिला वह अन्यत्र दुर्लभ था।

अब शशि को लीजिए। जिस शशि के लिए वह इतना संघर्ष करता है, इतने कष्ट सहता है, जिसके उपचार मे वह अपनी पूरी शक्ति लगा देता है, जिसके प्रति उसका संपूर्ण अतर्बाह्य तुषारधवल गिरि-श्रृंग की तरह पिघल उठता है, क्या उसके प्रति भी वह आत्मा का उत्सर्ग नही करता ? वास्तव मे शशि-शेखर का अंतिम प्रसंग रस से इतना भीगा हुआ है कि यहा तो 'हा !' कह देने का लोभ हो उठता है। परतु यहा भी शेखर के स्वयं अपने शब्द उद्धृत कर हम अपनी धारणा को ही पुष्ट करेंगे .

"तुम वह सान रही हो जिस पर मेरा जीवन बराबर चढाया जाकर तेज होता रहा, जिस पर मंज-मजकर मैं कुछ बना हूं, जो ससार के आगे खडा होने मे लज्जित नही है।···तुम जीवित नही हो। मेरे, शेखर के, बनने मे ही तुम टूट गयी हो—शायद स्वयं शेखर के हाथो ही टूट गयी हो।" आप देखिए, शशि का अस्तित्व शेखर के लिए है, शेखर का शशि के लिए नही ! अपने भव्यतम क्षणो मे भी शेखर नही भूल पाता कि उसका और शशि का संबंध तलवार और सान का संबंध है। सान का अस्तित्व तलवार के लिए है—इसलिए शशि ही शेखर के लिए जीती है, उसी के लिए मर जाती है। इतना बलिष्ठ अह इससे कम खाद्य पाकर क्या सतुष्ट होता !

शेखर और उसके स्रष्टा को एकरूप देखने वाला पाठक यहां आकर इस घटना पर चौंक सकता है। परंतु यह एक सतर्क क्रिया है। यहा अत्यंत प्रयत्नपूर्वक अज्ञेय ने इलियट के सिद्धात को अपनाते हुए आत्म से पलायन क्रिया है। उसकी जरूरत और तकलीफ आसानी से समझी जा सकती है—आत्मकथा लिखने मे पूर्ण सत्य का निर्वाह शायद कोई गांधी ही कर पाता हो !

इतना सर्वग्राही अह निश्चय ही अपनी नग्नता मे एकात और एकातता मे करुण होगा—यह एक सहज परिणाम है, इसीलिए तो मैंने कहा कि शेखर की महत्ता और दीनता मे अभिन्न सबध है। मैंने आरंभ मे ही कहा था कि 'शेखर' जीवन का एक अध्ययन है। परंतु यह जीवन व्यक्ति का जीवन है, समाज या युग का जीवन नही है। मेरा यह मत अज्ञेय की अपनी स्थापना से भिन्न है। वे कहते हैं कि 'शेखर' एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज होने के साथ युग-सघर्ष का भी प्रतिबिंब है। उनका आग्रह है कि उसमे उनका समाज और उनका युग बोलता है। निस्सदेह 'शेखर' मे उनके स्रष्टा के समाज और युग की जाति-वैषम्य, हिंसा-अहिंसा, स्त्रियो की सामाजिक स्थिति आदि गंभीर समस्याओ का विश्लेषण अत्यंत सूक्ष्म-गहन है। परतु उसमे समाज और युग नही बोलते, शेखर—अज्ञेय बोलता है। यह सभी समाज के प्रवहमान जीवन का अग नही है, शेखर की चेतना—उसके चिंतन का ही अग है। यह विवेचन सामाजिक जीवन के आलोडन मे से नहीं निकला, शेखर की अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओ का ही समीकरण है, और स्पष्ट शब्दो मे, इन प्रश्नो का विवेचन जीवित नही है, केवल विचारित है। इसलिए वह विश्लेषण पर समाप्त हो जाता है—सश्लेषण और समाधान पर नही पहुच पाता। मैं अपनी पुष्टि के लिए एक बार फिर शेखर के ही शब्दो की शरण लेता हू—"जो व्यक्ति के लिए ऊची-से-ऊची चोटी तक ऊबड-खाबड पगडडी दिखाने को तैयार है, किंतु समष्टि के लिए थोडी-सी दूर तक भी प्रशस्त पथ बतलाने के लिए रुक नही सकता।" पूछा जा सकता है कि आखिर व्यक्ति के लिए ही शेखर क्या देता ? तो वास्तव मे, जैसा मैंने आरभ मे ही कह दिया है, अभी उसकी देन मूर्तरूप मे, एक बधे हुए सदेश के रूप मे, सामने नही आयी। हो सकता है तीसरे भाग मे आए—और बहुत मुमकिन है न भी आए। क्योकि अज्ञेय स्वय ऐसा कुछ पा सके हैं, इसमे ही बडा सदेह है—उनके प्रयोग अभी तो चल ही रहे है।

फिर भी शेखर की आत्मानुभूति बडी तीव्र और सच्ची है और उसकी बुद्धि भी इतनी ही प्रखर है। इसलिए अपने अनुभूत सत्य को बुद्धि के द्वारा अन्वित कर सूत्र मे उपस्थित कर देना उसके लिए अत्यत सहज हुआ है। और, 'शेखर' हमे जीवन के चिर-मौलिक प्रश्न—अह—से सबद्ध कुछ आत्मानुभूत सूत्र देता है—

"दु ख उसी की आत्मा को शुद्ध करता है जो उसे दूर करने की कोशिश नही करता है।"

"किसी के विरुद्ध लडना पर्याप्त नहीं है—किसी के लिए लडना भी जरूरी है।"

पहला सूत्र शशि ने दिया है, दूसरा उसी के आलोक मे शेखर ने प्राप्त किया है। सदेश के नाम पर 'शेखर' के दो भागो मे इतना ही है।

परतु इसका तात्पर्य यह नही कि शेखर का अपना कोई जीवन-दर्शन नही है—तात्त्विक धरातल पर वह कार्य-कारणवाद को काफी मजबूती से पकडे बैठा है। जीवन और जगत् के सभी तथ्यो की कार्य-कारण-परपरा मे उसका अखड विश्वास है। यह मूलत उसे अपने अहवाद और फिर आधुनिक विज्ञान विशेपत मनोविश्लेपण-

विज्ञान की देन है। कार्य-कारणवाद एक अभावात्मक दर्शन है। वह जीवन का विश्लेषण करके छोड देता है, संश्लेषण तक नही पहुच पाता। इसलिए भारत मे बहुत पहले से और विदेश मे भी काफी दिनो से उसका विरोध होता रहा है। इसी कारण शेखर तत्त्वबोध के धरातल पर नास्तिक है और समाज के धरातल पर निरुद्देश्य क्रांतिकारी, जो एतादृशत्व मात्र को उलटने के लिए टकरा रहा है। यह कार्य-कारणवाद शेखर के जीवन को कुछ दे पाया या नही—(और वास्तव मे 'नही' कहना सर्वथा मिथ्या होगा क्योकि वह शेखर के सुख का कारण तो नही रहा परंतु शक्ति का कारण अवश्य रहा है)—परंतु उसकी कला को उसने एक अमूल्य निधि भेंट की है।

यह है उसकी बौद्धिक तटस्थता जो अपनी निर्ममता के कारण विश्लेषण के क्षेत्र मे अद्वितीय है। मनोगुफो की तहो मे इतना गहरा घुसने वाला कलाकार हिंदी ने उपन्यास के क्षेत्र मे दूसरा पैदा नही किया। आप कही पर देख लीजिए, लेखक की दृष्टि जैसे तथ्य के भीतर घुसती ही चली जाती है—भीतर, बहुत भीतर, जहा उसका कारण छिपा बैठा है। उससे पहले वह नही रुकती, नही रुक सकती। बस, फिर पर्त के पर्त खुलते चले जाते हैं। यह तटस्थता शेखर को काफी ईमानदार बना देती है—दूसरो के प्रति भी और अपने प्रति भी। दूसरो के विश्लेषण मे तो उसकी दृष्टि वस्तुगत ही है, अपने प्रति भी काफी हद तक वस्तुगत ही है। इतने भयकर अहवाद और उस पर आश्रित आत्मगौरव के बावजूद उसने चित्रण मे दूर तक वस्तुगत दृष्टि को बनाये रखा है, यह कलाकार की बहुत बड़ी विजय है।

यहा अपनी बात को जरा और स्पष्ट करना होगा। अहवाद व आत्मगौरव और वस्तुगत दृष्टि क्या ये दोनो परस्पर विरोधी नही हैं? जो आत्मगौरव का अभ्यस्त है वह अपना वस्तुगत चित्रण कैसे कर सकता है? परतु बात ऐसी नही है। अहवाद तो शेखर के लिए एक सत्य है, एक अनिवार्य तथ्य है, जिसे वह पूर्णरूप से स्वीकार कर चलता है। परंतु उसको स्वीकार करने के बाद, उसको अनिवार्य तथ्य मान लेने के उपरात, वह जैसे उसके प्रति तटस्थ होने का पूरा प्रयत्न करता है। क्योकि यदि ऐसा न होता तो वह अवश्य ही या तो उससे पीडित होकर उसकी भर्त्सना करता या उसमे गर्व की अनुभूति करता। परतु वह इन दोनो भावगत या आत्मगत प्रतिक्रियाओ को काफी हद तक बचाता हुआ अपने विश्लेषण को बौद्धिक एव वैज्ञानिक बनाये रखने मे सफल हुआ है। इसका प्रमाण यह है कि उसके रग प्रायः चटकीले नही हुए।

अतएव कम-से-कम जहा तक अकन का संबध है, वहा तक शेखर की वस्तुगत दृष्टि स्थिर रही है। आत्मगत भावना है तो उसमे अनिवार्यत. ही, परतु वह बडी प्रच्छन्न और सूक्ष्म-तरल है। उदाहरण के लिए आरभिक भावन मे शेखर को स्पष्ट ही बहुत कुछ काट-छांट करनी पडी है। उसमे एक भी घटना ऐसी नही दी गयी जो उसकी क्षुद्रता की द्योतक हो। परतु इतनी आत्मगत भावना का अधिकार तो साहित्य-सृजन के लिए अनिवार्यतः देना ही पड़ेगा। आत्मभाव के इसी सूक्ष्म सयमन के कारण ही शेखर की अंकन-कला हिंदी की एक विभूति बन गयी है। वह अपनी कारीगरी और नक्काशी मे एकदम पूरी है।

आप कल्पना कीजिए मृत्यु के साक्षात्कार से दीप्त एक पारदर्शी क्षण। उसमे सहज रूप से जीवन का प्रत्यालोचन। धीरे-धीरे जीवन की घटनाए उठती हुई चली आती हैं। पहले वे जिनका व्यक्ति के अतरतम पर सबसे गहरा प्रभाव है, जो उसके निर्माण के मूल तत्त्वो से संबद्ध हैं। फिर धीरे-धीरे उनके साथ गुथी हुई प्रासगिक घटनाए। इस घटना-चक्र का केंद्र है व्यक्ति का अह जो कार्य-कारण के सूत्र मे इन सभी को गुफित कर देता है। घटनाए स्वभावत. बिखरी हुई हैं। परतु वे अह के विद्युत्-सूत्रो से खिचकर इतने सहज रूप मे समीकृत हो गयी हैं—कर दी गयी है—कि उनका गुंफन सर्वथा निर्दोष बन गया है।

फिर, इसके उपरात उसके सूक्ष्म अवयवो पर पच्चीकारी की गयी है—अकन मे अन्विति और अलकरण दोनो का सौदर्य आ गया है। अवयवो का यह अलकरण अनायास ही 'शेखर' की समृद्ध भाषा की ओर सकेत करता है, जो अपनी प्रौढि और सौदर्य मे अद्वितीय है। वह मनोगुफो की उलझनो को इतनी स्वच्छता से चित्रित करता है और मन और मस्तिष्क की तरल सूक्ष्मताओ को इतनी बारीकी से शब्दबद्ध करता है कि पाठक को चकित रह जाना पडता है। उसमे तीखी वीचियो से खेलने वाली सूक्ष्मता है, आवेश को भर लेने वाली उष्णता है और उदात्त क्षणो मे विराट् अनुभूति तक उठने की महान् शक्ति है। सर्वत्र आपको ऐसा लगेगा कि अनुभूति पर जैसे तीव्र चितन की धार ने शान रख दी हो और चमक उठी हो। 'शेखर' की साधारण पक्तिया भी इस चमक के बिना नही मिलेंगी, भाव-दीप्त प्रसगो की तो बात ही क्या ? वास्तव मे केवल भाषा की दृष्टि से ही हिंदी-गद्य के विकास मे 'शेखर' एक बहुत बडा मार्गस्तभ है। गद्य-निर्माताओ मे अज्ञेय का नाम चद्रधर शर्मा गुलेरी, रामचद्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद और राहुल साकृत्यायन आदि के साथ लिया जाएगा।

'शेखर' से मुझको और मेरे समान हिंदी के और भी बहुत से पाठको को एक शिकायत रही है। उसमे रस क्षीण है, या यो कहे उसमे रस के क्षण अत्यत विरल हैं। पहले भाग का उत्तरार्ध—शारदा के प्रसग को छोडकर—और दूसरे भाग का पूर्वार्ध पढने मे काफी बोझिल लगते है। केवल मन को रमाने के लिए पढने वाले पाठक को उनको पार करने मे प्रयत्न करना पडेगा। परतु जैसा मैंने एक और स्थान पर कहा है, 'शेखर' का आनद बौद्धिक आनद है—तटस्थता का आनद, भाव के सयम का आनद है। वह आत्मसरक्षण का आनद है, जो आत्मदान के आनद से भिन्न है, और कहा जा सकता है कि निम्नतर भी है। सत्य का, वस्तु का, भरसक ईमानदारी से अपने राग-द्वेषो को दूर रखकर चित्रण करना, साधारण से कही अधिक मानसिक शिक्षण और सतुलन की अपेक्षा करता है। इस शिक्षण और सतुलन मे एक प्रकार के बुद्धि-नियन्त्रित सयम का आनद है, और यह आनद 'शेखर' के विश्लेषण मे आपको अनिवार्यत. मिलेगा।

दूसरे प्रकार के आनद का भी अत्यत अभाव नही है। जहा-जहा शेखर अपने को ढीला कर पाया है, वही दूसरे प्रकार के आनंद की भी लहरें उसके आत्मबद्ध प्राणो से फूट पडी हैं। ये लहरें साधन नही हैं। परंतु इनमे एक तीव्रता अवश्य है जैसी कि

वंधन तोडकर उछलने वाली पतली-से-पतली धारा में भी होती है। प्रकृति के चित्रो मे; सरस्वती, शीला, शाति और शारदा के प्रसंगो मे; और मोहसिन और रामजी के संकेत-चित्रो मे यह वात स्पष्ट है। रुग्णा शाति से उसके गले की स्नायु-रेखा का स्पर्श करने की प्रार्थना कितनी तरल-कोमल है! इन सबसे आगे शशि-प्रसग है, जहां शेखर आत्मचेतना को लगभग डूबो ही देता है। साल-भर तक घनीभूत तुषार-राशि को आपने ग्रीष्म-सूर्य की किरणो से पहले धीरे-धीरे फिर पुंज-रूप मे पिघलते हुए देखा है? न देखा हो तो कल्पना कर लीजिए। तब आपको शशि-शेखर-प्रसग के पूत-सौंदर्य का अनुभव हो सकेगा। तव आप सहज ही समझ सकेंगे कि पूर्व और पश्चिम की दृष्टि मे जो जघन्य पाप है—वहन के प्रति रति—उसको पवित्र रूप देने के लिए हृदय मे कितने सतोगुण की आवश्यकता हुई होगी।

इस अंतिम रस-स्थिति पर पहुंचकर मेरा मन यात्रा के सभी श्रम को भूलकर लेखक के प्रति एक अमिश्रित कृतज्ञ-भाव से भर जाता है। क्या आप मुझसे सहमत नहीं हैं?

राहुल के ऐतिहासिक उपन्यास

राहुलजी का महाप्राण व्यक्तित्व कर्म, वाणी और विचार तीनो की विभूतियो से सपन्न है। उनके विचार—पाडित्य—के दो पक्ष है—एक पुरातत्त्व का व्यापक और गभीर ज्ञान, दूसरा आधुनिक समाजवादी दर्शन द्वद्वात्मक भौतिकवाद का ठोस व्यावहारिक और सैद्धातिक ज्ञान। प्रस्तुत उपन्यासो का सपूर्ण कलेवर इन्ही दो आधार-स्तभो पर खडा हुआ है। भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास राजा तथा राजतत्र के प्रभुत्व से अभिभूत है। वह स्वीकृत रूप से महत्त्वाकाक्षी नृपति व्यक्तियो का इतिवृत्त रहा है। परंतु फिर भी इसमे यह परिणाम निकालना भ्रामक होगा कि भारत गणतत्र अथवा प्रजातत्र के सिद्धातो से अनभिज्ञ था। प्राचीन युग मे भी—विशेषकर उस युग मे भी—जब राजा का एकच्छत्र आधिपत्य और साम्राज्यवादी नीति अपनी चरम सीमा को पहुंची हुई थी, लिच्छवि, मालव, यौधेय, गधार आदि अनेक स्वतत्र गण थे जो क्रमशः वैशाली, मालवा, अग्रोदका, तक्षशिला आदि मे प्रतिष्ठित थे। इसमे सदेह नही कि जैसा व्यवस्थित विवरण राजतत्रो के अधिष्ठाता राजाओ और उनके परिवार का मिलता है वैसा इन गणतत्रो और उनकी कार्यकारिणी परिषदो का नही मिलता, क्योकि व्यक्तिवादी राजा जहा अपने व्यक्तित्व की सभी प्रकार से सवर्धना करते हुए उसे अमर बनाने का प्रयत्न करते थे वहां गणतत्रो का जीवन सामूहिक था और समूह की अपेक्षा व्यक्ति की स्मृति-रक्षा सहज होती है। निदान इनके विषय मे स्फुट उल्लेख विजेता राजाओ की प्रशस्तियो मे, सिक्को अथवा शिलालेखो मे, या फिर तत्कालीन साहित्य मे यत्र-तत्र बिखरे मिलते है। महापडित राहुल ने इस विकीर्ण सामग्री को एकत्रित कर उस विलुप्तप्राय इतिहास को फिर से जगाया है। इस महान् अनुष्ठान मे उनका समृद्ध पुरातत्त्व ज्ञान तो सहायक हुआ ही है परतु साथ ही बौद्ध सघ और सोवियत विधान का क्रियात्मक ज्ञान भी कम उपयोगी सिद्ध नही हुआ।

'सिह सेनापति' और 'जय यौधेय' का क्रमश लिच्छविगण और यौधेयगण के सामूहिक जीवन-सघर्ष का चित्रण करते हैं, जैसा कि इनके नामो से स्पष्ट है। इसमे सदेह नही कि इन दोनो उपन्यासो मे प्रधानत एक-एक व्यक्ति के जीवन-वृत्त का विवरण है—'सिह सेनापति' मे लिच्छवि-वीर सिह और 'जय यौधेय' मे यौधेय-वीर जय का, परंतु फिर भी इनमे से कोई भी व्यक्ति-प्रधान उपन्यास नही है। ये दोनो

व्यक्ति वास्तव मे गण-जीवन के भी प्रतीक हैं।[1]

१ सिंह एक तरुण लिच्छवि कुमार है जो तक्षशिला जाकर शस्त्र-शास्त्र और उनसे भी अधिक गण-सिद्धातो का अध्ययन करता है। वहा वह थोडे ही दिनो मे गधार-गण का अग बन जाता है—और उनकी ओर से पार्शवो के शासानुशास अर्थात् फारस के शाहशाह से युद्ध करता है—तथा उसमें विजय और यश का अर्जन करता है। यहा आचार्य-पुत्री रोहिणी से उसका प्रेम-विवाह होता है और फिर कुछ दिन पश्चात् वह सपत्नीक वैशाली लौट आता है। वैशाली मे वह यथासमय सस्थागार का सदस्य बनता है—और वहा के सामूहिक जीवन का यथोचित विकास करता हुआ मगध के अधिपति बिबसार को पराजित कर अपनी शर्तें मानने के लिए बाध्य करता है। पहले वह निर्ग्रन्थ-आचार्य महावीर का शिष्य होकर तप और अहिंसा का व्रत लेता है, पर उनसे मानसिक परितोष न पाकर अत में वह बुद्ध का अनुयायी हो जाता है और उनके बहुजनहिताय अनात्मवादी सिद्धातो मे जीवन का समाधान प्राप्त करता है। 'जय यौधेय' यौधेय-कुमार है। जब सम्राट समुद्रगुप्त ने यौधेयो को हराकर भी उनकी स्वतत्रता को थोडा-सा कर लेकर सम्मानपूर्वं उन्हें लौटा दिया और जय की बहन से विवाह कर उसे अपनी पट्टमहिषी बना लिया, तो गुप्त परिवार और यौधेय-गण मे सैद्धातिक वैषम्य के होते हुए भी स्नेह-मैत्री स्थापित हो गयी। जय की आरभिक शिक्षा-दीक्षा पाटलीपुत्र के राजपरिवार मे राजसी ऐश्वर्य और वैभव के बीच होती है—परतु फिर भी उसके यौधेय-सस्कार इतने प्रबल हैं कि वह अपने व्यक्तित्व को उस वातावरण मे लिप्त नही होने देता और आचार्य वसुबधु का ससर्ग प्राप्त करते ही अपने अस्तित्व और वैशिष्ट्य को पूर्णत: पहचान लेता है। शास्त्रीय शिक्षा मे निष्णात होने के उपरात जय की यात्राए आरभ हो जाती हैं—तक्षशिला की यात्रा तो वह पहले ही कर चुका था। अब हिमालय-उत्सव और उसके बाद सिंहल की सुदीर्घ यात्रा के लिए चल पडता है। सिंहल की यात्रा मे उसे अनेक प्रकार के सघर्षों मे होकर गुजरना पडता है। पहले तो जहाज के टूट जाने से वह और उसका मित्र सिंहवर्मा तथा उसकी पत्नी शबर-पल्ली मे जा पहुचते हैं—शबर-पल्ली का जीवन मानवता की बाल्यावस्था का जीवन है जो कृत्रिम नागरिक सभ्यता और सस्कार से सर्वथा अस्पृष्ट है। वहा जय को एक नवीन जीवन-व्यवस्था का अध्ययन करने को मिलता है। यही श्यामा नाम की तरुणी से उसका विवाह होता है—परतु फिर कुछ ही दिन बाद उसे और उसके मित्रो को पल्ली छोड़ने को बाध्य होना पडता है। वहा से वह पिष्ठपुर और काची होता हुआ सिंहल पहुचता है और वहा जाकर अपने पूर्व-निश्चय के अनुसार बौद्ध भिक्षु हो जाता है, पर भिक्षु होने का उसका उद्देश्य धार्मिक न होकर राजनीतिक ही है। उसकी या यो कहिए कि उसके स्रष्टा राहुलजी की धारणा है कि बौद्ध विहारो की व्यवस्था और गणतत्र-विधान दोनो का घनिष्ठ अन्योन्याश्रय सबध रहा है—अतएव जय गण-व्यवस्था का आतरिक ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से ही बौद्ध भिक्षु बनता है। यहा उसके सौंदर्य पर मुग्ध होकर एक श्रेष्ठी तरुणी आत्म-समर्पण करती है, परतु मुक्त प्रेम मे विश्वास करता हुआ भी वह मिथ्याचार से बचने के लिए उसे अस्वीकृत कर देता है। इसके उपरात वह सीधा प्रतिष्ठान पहुचता है और वहा सम्राट चद्रगुप्त विक्रमादित्य और उसकी नव-परिणीता महारानी ध्रुवस्वामिनी से भेंट करता है। वहा उसे विक्रमादित्य के मनसूबो को समझने का अवसर मिलता है जिससे वह यौधेय जाति के भविष्य की ओर सचेष्ट हो जाता है और अग्रोदका आकर तरुण यौधेय और यौधेयानियो की सहायता से गण-जीवन को सुसगठित और व्यवस्थित करने मे लग जाता है। कुछ दिन बाद ही चद्रगुप्त का आक्रमण होता है—जिसमे यौधेयो के नवीन उत्साह की विजय होती है और विक्रमादित्य की आकाक्षा अपूर्ण रह जाती है। इस विजय के पश्चात् यौधेयो का आत्म-विश्वास और भी बढ़ जाता है और अब वे सेनापति जय के सयोजन मे नित्य नवीन प्रयोगो के द्वारा कर्मान्त वाणिज्य आदि का विकास तथा योग्य सतान उत्पन्न करते हुए अपनी गण-शक्ति का सगठन और सवर्धन करते हैं। जय भी एक वीर यौधेय तरुणी वसुनदा से, जिसने युद्ध मे उसकी सहायता की थी, विवाह कर लेता है और

ऐतिहासिक और काल्पनिक तत्त्व

यहा स्वभावत. यह प्रश्न उठता है कि इन उपन्यासो मे ऐतिहासिक और काल्पनिक तत्त्वो का परस्पर क्या अनुपात है। इस प्रश्न का उत्तर इतिहास के साधारण ज्ञान के आधार पर भी दिया जा सकता है। यद्यपि इनकी मुख्य कथावस्तु लिच्छवि और यौधेयो के गण-जीवन से सबधित है, परंतु प्रामाणिक इतिहास का उपयोग वास्तव मे उनके विरोधी राजकुलो के वर्णन मे ही किया जा सकता था। 'सिंह सेनापति' मे बिबसार और अजातशत्रु के व्यक्तित्व तथा उनका लिच्छवियो से युद्ध ही प्रामाणिक रूप से ऐतिहासिक कहा जा सकता है। इसी प्रकार 'जय यौधेय' मे गुप्त वश के मुख्य व्यक्ति समुद्रगुप्त, रामगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि तथा उनके जीवन की मुख्य घटनाए ही प्रामाणिक है—आधिकारिक वस्तु मे तो केवल यौधेयो का समुद्रगुप्त से युद्ध ही प्रामाणिक माना जा सकता है। शेष सपूर्ण विवरण ऐतिहासिक तथ्यो पर आश्रित न होकर ऐतिहासिक कल्पना पर ही आधारित है—यहा तक कि दोनो नायक सिंह और जय भी काल्पनिक व्यक्ति हैं। पर इसके अतिरिक्त चारा भी क्या था ? दो-चार सिक्को और एक-आध प्रशस्ति मे दिये हुए स्फुट उल्लेखो मे सामग्री ही क्या मिल सकती थी—केवल संकेत ही मिल सकते थे और उन सकेतो का उपयोग लेखक ने अपने सपूर्ण कल्पना-वैभव की सहायता से किया है, इसमे सदेह नही।

उपन्यास-कला

आज से तीन वर्ष पूर्व 'वोल्गा से गगा' की आलोचना करते हुए मैंने लिखा था कि राहुलजी के पास ऐश्वर्यमती कल्पना है, ऐतिहासिक सामग्री का अक्षय भाडार है, एकात स्वच्छ और निर्भ्रान्त जीवन-दर्शन है और सहस्रो वर्षों के व्यवधान के आर-पार देखने वाली तीव्र दृष्टि है, परंतु कथा-शिल्प विशेष नही है। आज इन दोनो उपन्यासो का अध्ययन करते हुए मेरी यह धारणा और भी पुष्ट हो जाती है और मैं एक बार फिर उसी निर्णय को दुहराता हू। इन उपन्यासो मे औपन्यासिक घटना-विधान और चरित्र-चित्रण का बहुत-कुछ अभाव-सा ही है—राहुलजी न तो आकर्षक नाटकीय परिस्थितियो की सृष्टि कर सके हैं और न चारित्रिक द्वद्वो की उद्भावना ही। यह बात नही है कि इन घटनाओ मे नाट्य-तत्त्व नही है अथवा पात्रो के जीवन मे संघर्ष नही है। उदाहरण के लिए 'जय यौधेय' की कथावस्तु और उसके व्यक्तित्व मे परिस्थिति और चरित्र दोनो के निर्माण की यथेष्ट सभावना है, परतु राहुलजी इससे

विजय, रिपुजय आदि वीर पुत्रों जो गण की भेंट करता है। पर विक्रमादित्य की दृष्टि अभी इधर ही लगी हुई थी—उसने कालिदास को भेजकर जय को लोभ देने का भी प्रयत्न किया, परतु जब इस प्रकार सफलता न मिली तो अत मे पूरी तैयारी के लिए यौधेयो पर आक्रमण कर दिया। जय अब पचास वर्ष का हो चुका था—उसके निरीक्षण मे यौधेय युवक और युवतियो ने प्राणो को बाजी लगा कर आत्मरक्षा का प्रयत्न किया परतु प्रतापी गुप्त सम्राट ने उसका पूर्णात ही कर दिया। इतिहास पृष्ठ से ही वह महान् गणतत्र लुप्त हो गया।

यथोचित लाभ नही उठा सके। और उसका कारण है, वह यह कि राहुलजी की दृष्टि प्रतिपाद्य और इतिहास पर ही केंद्रित रही है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का धैर्य उनमे नही है। उनकी घटनाओ की गतिविधि और पात्रो का चरित्र-विकास प्रतिपाद्य के अनुसार पहले से ही इतने स्पष्ट रूप मे निर्धारित हो जाते है कि द्वद्व उत्पन्न ही नही हो पाता। सिह और जय दोनो के व्यक्तित्व-विकास की रेखाएं एकदम सीधी हैं, उनका वहिर्मुखी जीवन सर्वथा स्वस्थ है, उनमे प्राणवत्ता है। स्रष्टा के महाप्राण जीवन की शक्ति और स्वास्थ्य उनमे साफ दिखायी पड़ता है। जय के चरित्र में तो अंतर की विभूतिया भी पर्याप्त मात्रा मे हैं, फिर भी हम अनुभव करते हैं कि उपर्युक्त सभी विशेषताएं होने पर भी वह हमारे हृदय को बहुत गहरे मे जाकर नही पकड़ता जैसा कि होरी, सूरदास, शेखर या जैनेन्द्र, यशपाल अथवा इलाचद्र के सफल नारी पात्र करते हैं। नारी पात्रो मे 'सिह सेनापति' की रोहिणी और क्षेमा, 'जय यौधेय' की वासंती व सुनंदा एक ही साचे मे ढली हुई हैं। भामा और नंदा मे तीखापन और ज्यादा है। उनका चित्रण देखकर अमरीकी सैनिको द्वारा किये हुए रूसी स्त्रियो के वर्णन का स्मरण हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि राहुलजी की कला सृजनात्मक होने की अपेक्षा विवरणात्मक ही अधिक है। उनमे विवरण उपस्थित करने की अतुल क्षमता है—और ये विवरण सर्वत्र अत्यंत वैचित्र्यपूर्ण एव सजीव होते है। इसका कारण है राहुलजी का अनुभव, जो विस्तृत पाडित्य तथा देश-विदेश की यात्राओ से समृद्ध और परिपुष्ट है। मैं समझता हू जीवन का ऐसा चित्र-विचित्र अनुभव किसी एक व्यक्ति के लिए दु:साध्य-सा ही है। इन उपन्यासों की वास्तविक महिमा अतीत भारत के सजीव चित्र उपस्थित करने मे है—मौर्य और गुप्तकालीन भारत की सामाजिक अवस्थाओ का इतना विस्तृत वर्णन किसी इतिहास-ग्रथ मे भी नही मिलेगा। परंतु इतिहास की दृष्टि से वह कितना प्रामाणिक है इसका निर्णय कोई अधिकारी विशेषज्ञ ही कर सकता है। मैं तो यही स्वीकार कर सकता हू कि वह अत्यंत रोचक, सजीव और ज्ञानवर्धक है। हा इतना अवश्य है कि उसके संबंध मे अनेक सदेह मेरे मन मे अनिवार्यत उठते हैं : क्या उस समय मांस और मदिरा का इतना ही अधिक प्रचार था ? क्या चद्रगुप्त आदि यशस्वी राजा और उनके विद्वान् पुरोहित ऐसे ही धूर्त थे जैसे कि राहुलजी ने अकित किये हैं ? क्या गणतत्र वास्तव मे ही इतने सुव्यवस्थित थे—उनके कर्माग्नि आदि भी क्या ऐसे ही सम्मिलित थे—इन गणो मे वर्ण-भेद क्या एकदम नही था ? क्या आधुनिक सोवियत-विधान का उस युग के इतिहास पर आरोप नही किया गया ?

इन सबका सप्रमाण उत्तर तो नही दे सकता —पर ऐसी धारणा अवश्य बनती है कि राहुलजी को अपने प्रतिपाद्य के प्रति इतना उत्कट आग्रह रहता है कि वे उसके अनुकूल तथ्यो को मोडने मे संकोच नही करते—उनके विषयो मे प्राय: जल्दबाजी रहती है।

इसके अतिरिक्त कुछ बातें तो निस्सदेह ही आपत्तिजनक हैं—उदाहरण के लिए जिस उदारता से राहुलजी के पात्र एक दूसरे पर चुबनो की बौछारें करते हैं वह

अनैतिक न भी माना जाय, परतु अभद्र अवश्य हैं—वास्तव मे रस की उद्भावना करने का यह सस्ता उपाय इतने असंयम के साथ व्यवहृत किया गया है कि उससे अरुचि होने लगती है—इसी तरह एक जगह जोश मे आकर नदा कहती है—"चाहे तो मेरी टाग के भीतर से जाओ या मुझे हराकर जाओ।" महावीर स्वामी और उनके उपदेशो का जो खाका खीचा गया है, उसमे स्पष्ट ही पर-धर्म-विद्वेष की गंध आती है।

जीवन-दर्शन

इन उपन्यासो का प्रतिपाद्य जीवन-दर्शन स्पष्ट रूप से द्वद्वात्मक भौतिकवाद है। उसमे आत्मा, परलोक, ब्रह्म आदि आध्यात्मिक तत्त्वो का तीव्र निषेध करते हुए भौतिकवाद की प्रतिष्ठा है। त्याग, वैराग्य आदि काल्पनिक सुख-साधनो का तिरस्कार करते हुए स्वस्थ जीवन-उपभोग की स्वीकृति है। वैयक्तिक जीवन के ऊपर सामूहिक जीवन की सफलता का दिग्दर्शन है। द्वद्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार राहुलजी राजतंत्र और अध्यात्मवाद दोनो को एक ही सिद्धात की दो अभिव्यक्तिया मानते है—और स्पष्ट शब्दो मे—उनकी धारणा है कि अध्यात्म की कल्पना राज-सत्ता को स्थिर रखने के लिए ही की गयी है। निदान इन दोनो के विरुद्ध उनके संस्कार घोर विद्रोह कर उठते हैं। उनके सभी ग्रंथो की तरह प्रस्तुत उपन्यासो मे भी इन दोनो का कठोर प्रतिवाद किया गया है। राजा के लिए प्राय रजुल्ला शब्द का प्रयोग इस घृणा का प्रमाण है। कुछ तो अतर मे पडे हुए सस्कारो के कारण और कुछ इसलिए भी कि उसका विधान गणतत्रात्मक है, राहुलजी के मन मे बौद्ध धर्म के प्रति अब भी आस्था वर्तमान है। 'सिंह सेनापति' का नायक अंत मे बुद्ध और सघ की शरण मे चला जाता है। 'जय यौधेय' मे इस प्रकार की स्वीकृति तो नही है, परतु बुद्ध के अनात्मवाद और परिवर्तनवाद आदि का अनेक स्थानो पर गौरव-गान करते हुए लेखक ने अपने जीवन-दर्शन की पुष्टि की है। यह कहा तक सगत है? अर्थात् राहुलजी का द्वद्वात्मक भौतिकवाद और बुद्ध-प्रतिपादित अनात्मवाद कहा तक समान हैं? इस बात का अधिकारपूर्वक निर्णय तो कोई बौद्ध पडित ही कर सकता है, परतु धम्मपद का जो प्रचलित संस्करण आज उपलब्ध है, उसमे परलोकवाद का साधारण अर्थात् आध्यात्मिक अर्थ मे ही स्पष्ट प्रयोग है।

इसके प्रतिकूल राहुलजी ने परलोकवाद की सर्वथा भौतिक व्याख्या की है। "मैं केवल 'बहुजनहिताय' काम को मानता हू—परलोकवाद को केवल एक ही रूप मे मानता हू—पुत्र पिता का परलोक है, पुत्र पिता का पुनर्जन्म है, पिता मरने से पहले अपने शरीर द्वारा अपने मानसिक और शारीरिक सस्कार का एक अश माता के शरीर मे स्थापित करता है। माता उसमे अपना अश मिलाती है और नौ मास गर्भ मे रख उसे शिशु के रूप मे अगले लोक, अगली पीढी के लिए देती है। इसे मैं परलोक मानता हू।"—इसमे सदेह नही कि ब्राह्मण और बौद्ध आचार्य आज भी अनेक सबल युक्तियो द्वारा उपर्युक्त व्याख्यान खडन करने को प्रस्तुत हो जाएगे। परतु इसमे

भी एक विशेष संगति है, यह अस्वीकृत नही किया जा सकता। यह व्याख्यान भी अपने ढग से सटीक और मनोग्राही है। और, आज के वैज्ञानिक युग में अधिक ग्राह्य भी हो सकता है।

उपसंहार

अंत मे दो बात और कह दू। एक तो यह कि औपन्यासिक कला की न्यूनता होते हुए भी राहुलजी के ये दोनो ग्रंथ (विशेषकर 'जय यौधेय') हिंदी के कथा-साहित्य मे निश्चय ही एक विशेष गौरव के भागी होगे। राहुलजी अपनी कमी को जानते मालूम पडते हैं और धीरे-धीरे वे इस कला का भी अर्जन कर रहे हैं—'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' का अंतर इसका असदिग्ध प्रमाण है। दूसरी यह कि हिंदी की भाषा-शैली के विकास मे इन उपन्यासों का योग अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अतीत के सास्कृतिक ऐश्वर्य को अभिव्यक्त करने के लिए जिस समृद्ध और समर्थ शब्दावली का प्रयोग स्वर्गीय प्रसादजी ने अपने नाटको मे आरभ किया था, राहुलजी ने उसकी और भी अधिक श्रीवृद्धि की है। वास्तव मे इस क्षेत्र पर उनका अधिकार प्रसादजी की अपेक्षा अधिक व्यापक है। वोट के लिए छद, वंदरगाह के लिए पत्तन या तीर्थ, खेती के लिए कर्मान्त आदि कितने समर्थ शब्द हैं। इसी प्रकार आज की राजनीति और भौगोलिक शब्दावली के भी प्राचीन पर्याय देकर एक बहुत बडी क्षति की पूर्ति की गयी है।

'वोल्गा से गंगा' और 'बिल्लेसुर बकरिहा'

आज की दो पुस्तकें हैं—'वोल्गा से गगा' · राहुल साकृत्यायन की कहानियो का सग्रह; 'बिल्लेसुर बकरिहा' निरालाजी का रचा हुआ एक हास्यमय स्केच। इन दोनो पुस्तको मे प्रकार और मूल विषय का कोई साम्य नही है; परतु दोनो हिंदी मे अपने-अपने ढंग के दो नये प्रयत्न है।

'वोल्गा से गगा' मे मानव-जीवन के सामाजिक विकास का इतिहास है। राहुलजी के शब्दो मे : मानव आज जहा है वहा वह प्रारभ मे ही नही पहुच गया था, इसके लिए उसे बडे-बडे संघर्षो मे होकर गुजरना पडा है। विवेचन को बोधगम्य और सहज-ग्राह्य बनाने के लिए उन्होने हिंदी-यूरोपीय जाति के इतिहास को चुना है।

पिछले ८००० वर्षो मे, ईसा से ६००० वर्ष से पूर्व से लेकर जब मानव वोल्गा के किनारे पर्वत-गुहा मे अपने सहचर पशुओ के समान ही रहा करता था, आज तक अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिए उसने जो सघर्ष किये हैं, उन सभी का इस पुस्तक मे सरल और रोचक चित्रण है। इस पुस्तक का मूल विषय मानवशास्त्र और समाजशास्त्र है। जहा तक मूल विषय का संबंध है, कोई विशेषज्ञ ही उसकी प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता का विचार करने का अधिकारी हो सकता है। मुझ-जैसा व्यक्ति, जिसने ललित साहित्य की मधुर सीमा-रेखा से वाहर झाककर यदा-कदा ही देखा है, उसके कुछ तथ्यो पर सदेह-चकित होकर शका ही उपस्थित कर सकता है। उदाहरण के लिए, वाल्मीकि-रामायण का रचना-काल ही ले लीजिए। विद्वान् लेखक ने उसे अश्वघोष से कुछ पहले शुग-वश के शासन-काल की रचना माना है। परंतु आदि काव्य से सबद्ध महत्त्वपूर्ण परपरा के विरुद्ध उनके पास कोई प्रमाण नही है, केवल एक क्षीण अनुमान-भर है : 'कोई ताज्जुव नही, कवि वाल्मीकि शुग-वश के आश्रित कवि रहे हो, जैसे कालिदास चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के, और शुग-वश की राजधानी की महिमा को वढाने के लिए ही उन्होने जातको के दशरथ की राजधानी वाराणसी से वदलकर साकेत या अयोध्या कर दी, और राम के रूप मे शुग-सम्राट् पुष्यमित्र या अग्निमित्र की प्रशंसा की, वैसे ही, जैसे कालिदास ने 'रघुवश' के रघु और 'कुमारसभव' के कुमार के नाम मे पिता-पुत्र चद्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमार-गुप्त की।'—इसी प्रकार भारतीय नाटक को यवन-प्रभाव की सृष्टि घोषित करना एक वडी पुरानी वात को दुहराना है, जो आज सर्वथा अमान्य प्रमाणित हो चुकी है। सवसे अधिक अविश्वसनीय है राहुलजी का धर्म-विषयक सिद्धात कि 'धर्म केवल परधन-

अपहारको को शाति से पर-धन उपभोग करने का अवसर देने के लिए है।' धर्म के कारण शोषक की शक्ति बढ गयी है और शोषित लाचार हो गया है, ऐसा मान लेने पर भी, शोषक-वर्ग ने अथवा शोषक-वर्ग के सहायको ने जान-बूझकर धार्मिक दर्शन का समय-समय पर आविष्कार किया है, यह मानना तो सर्वथा असभव है। सामाजिक अवस्था के अनुसार धर्म और दर्शन का विकास हुआ—इसे मानने से कौन इनकार करेगा! वेद ईश्वरीय ज्ञान नही हैं वरन् एक काल-विशेष की रचना हैं, जिनमे तत्कालीन राजाओ का यशोगान है—ठीक है। यह भी माना जा सकता है कि विश्वामित्र, वसिष्ठ आदि ऋषियो की इन ऋचाओ ने समसामयिक राजाओं को शक्ति-सचय में सहायता दी हो, और इन ऋषियो ने अपना स्वार्थ साधने के लिए ऐसा किया हो, परंतु वेद की सभी ऋचाओं के पीछे ऐसी ही कुत्सित प्रेरणा है, यह धारणा सर्वथा मिथ्या है। प्रकृति के स्वर्गिक सौदर्य को देखकर वन के उन्मुक्त वातावरण मे निवास करने वाले ऋषियो की जो वाणी विस्मय और आनद से विभोर हो नाच उठी थी, उसको एक साथ ही स्वार्थ से प्रेरित कह देना अनुचित है। इसी प्रकार प्रवाहण ने अपने शोषण-कार्य को निर्विघ्न चलाते रहने के लिए उपनिषद् (असली) रहस्य की उद्भावना की—यह भी अमान्य है। प्रवाहण कहता है—

"पीढियो से किसी ने इंद्र, वरुण, ब्रह्म को नही देखा। अब कितनो के मन मे सदेह होने लगा है!"

"ब्रह्म का स्वरूप मैंने ऐसा बतलाया है कि कोई उसके देखने की माग नही पेश करेगा। जो आकाश की भांति देखने-सुनने का विषय नही, जो यहा-वहा सर्वत्र है, उसके देखने का सवाल कैसे उठ सकता है! सवाल तो उन साकार देवताओ के बारे मे उठता था।"

"वसिष्ठ और विश्वामित्र की नाव ने हजार वर्ष भी काम नही दिया; किंतु जिस नाव को प्रवाहण तैयार कर रहा है, वह दो हजार वर्ष आगे तक राजाओ और सामंतो, पर-धन-भोगियो को पार उतारती रहेगी। यज्ञ-रूपी नाव को, लोपा, मैंने अदृढ समझा। इसीलिए इस दृढ नाव को तैयार किया है, जिसे ब्राह्मण और क्षत्रिय मिल कर ठीक से इस्तेमाल करते हुए ऐश्वर्य भोगते रहेंगे।"

यह स्वभावत: स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढने वाले मानव ज्ञान का स्पष्ट शब्दो मे अपमान है। यज्ञो की प्रतिष्ठा करने वाले वेद एक युग की सामाजिक अवस्था की अभिव्यक्ति थे; ब्रह्म की सूक्ष्म सत्ता का निदर्शन करने वाले उपनिषद् दूसरे की—यह तो एक सहज सत्य है; लेकिन दोनो का सृजन शोषक-वर्ग की सहायता करने के लिए हुआ था, यह एक वितंडा-मात्र है। अज्ञात के प्रति किसी-न-किसी रूप मे मानव को सदैव ही जिज्ञासा रही है—और ब्रह्मज्ञान का इतिहास इसी जिज्ञासा का आलेखन है। वास्तव मे यह एक विशिष्ट दृष्टिकोण के प्रति आग्रह के कारण हुआ है। राहुलजी निश्चित रूप से यह मानते है कि जो शक्तिया जनता के साथ रही हैं वे समाज की प्रगति का कारण हुई हैं, और जो व्यक्ति या व्यक्तियो की पोषक रही हैं वे सदैव ही प्रतिक्रिया के लिए उत्तरदायी रही है और इसी को लेकर उन्होने अपने

सामाजिक इतिहास की रूपरेखा आकी है। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि एक विशेष जीवन-दर्शन के प्रति आग्रह होने के कारण उनका विवेचन भी कुछ अशो मे एकाकी और अवैज्ञानिक हो गया है। एक आश्चर्य की बात यह है कि धर्म का इतना घोर विरोध करने वाले राहुलजी के सामने जब बौद्ध धर्म का प्रसग आता है तो उनकी आलोचना सर्वथा शिथिल पड जाती है। बौद्ध धर्म के अनीश्वरवाद और अनात्मवाद को ही लेकर उसको प्रगतिशील सस्था मान लेना काफी नही होगा। यह ठीक है कि आरंभ मे उसने जनता से बल प्राप्त किया था, परतु फिर भी उसके घोर प्रतिक्रियात्मक प्रभावो को तो इतिहास आज भी गला फाड-फाड कर घोपित कर रहा है। यह लेखक पर संस्कारो का प्रभाव है जो प्राय' शिक्षा और सिद्धात का तिरस्कार कर अपना अस्तित्व प्रमाणित करते हैं।

परतु यह तो इस पुस्तक का गौण पक्ष है। इसकी सबमे बडी विशेपता है लेखक का व्यापक दृष्टि-विस्तार, जो ८००० वर्ष तक प्रसरित मानव-जीवन के इतिहास का पूरी तरह साक्षात्कार कर उसको हमारे मानस के सामने प्रत्यक्ष कर सका। इतने विस्तृत देश-काल पर समग्रत अधिकार रखने वाली दृष्टि हिंदी के एक-आध विद्वान् को ही प्राप्त होगी। और गौरव की बात यह है कि वह कही भी उलझी नही है —मानव-जीवन के विकास मे पडने वाले भिन्न-भिन्न संस्थानो पर ठहरती हुई बडी सफाई के साथ १९४२ पर आकर ही रुकी है। इस दृष्टि-विस्तार को सहायता मिली है लेखक के व्यापक पाडित्य से। पुरातत्त्व, मानवशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शन, साहित्य और इतिहास के विस्तृत पर्यालोचन के बिना यह सब सभव नही था। लेखक की सृजन-शक्ति का परिचय वातावरण की सृष्टि से भी मिलता है। इतिहास के प्रस्तर-खडो को बडे कौशल से जोड कर उसने प्रत्येक युग के वातावरण की सजीव सृष्टि की है। इस दृष्टि से प्रागैतिहासिक काल की कहानिया तो सचमुच अद्भुत हैं। वातावरण की सृष्टि के लिए लेखक ने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एव आर्थिक परिस्थितियो का सफल चित्रण करने के अतिरिक्त उनके अनुकूल प्रकृति-चित्रो का भी अकन किया है। ये चित्र अत्यत सजीव और वैज्ञानिक है; इनकी रेखाए अत्यत पुष्ट है और रग अत्यत मनोरम। निशा और दिवा की कथाओ मे वोल्गा-तट के तुषार-मंडित विभिन्न प्रदेशो के वर्णन चित्रकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त भाषा का प्रयोग देश-काल के अनुसार किया गया है—आदिम युग का मानव पूरे वाक्य नही बोलता। पूरक सज्ञाए उसकी भाषा मे नही हैं। वैदिक काल का मानव जो भाषा बोलता है उसमे वैदिक सस्कृत की शब्दावली की प्रचुरता है। मुसलमानो के आगमन के बाद भाषा मे अरबी-फारसी का पुट आने लगता है। इसी प्रकार काफी सावधानी से वातावरण को उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है।

यह सब होते हुए भी 'वोल्गा से गंगा' की रोचकता सीमित-सी रहती यदि इन कहानियो मे शुष्क इतिहास-मात्र होता। परंतु राहुलजी ने स्थान-स्थान पर मानवीय तत्त्व का आरोप कर इन कथाओ मे रक्त और मास भरने का प्रयत्न भी किया है, जिससे वे हृदयग्राही हो गयी है। हा, यह अवश्य मानना पडेगा कि ऐतिहासिक

तथ्यों में मानवीय रंग भरने का राहुलजी के पास केवल एक ही साधन है—सेक्स, जिसका प्रयोग बार-बार दुहराया गया है। प्रत्येक युग के जीवन-नाटक के सूत्रधार-रूप में कोई एक प्रेमी-प्रेमिका ही रंगमंच पर अवतरित होते हैं, और कहानी के मध्य मे उनकी प्रगाढ़ प्रेम-क्रीडाएं, विशेषकर चुंबनों की बौछारें, और अंत मे किसी-न-किसी रूप में उनका अनंत जीवन मे लय हो जाना—घटना-चक्र मे रस-संचार करता है। कहानी कला की दृष्टि से 'वोल्गा से गंगा' के अधिकांश प्रयत्न असफल हैं। विशेष रूप में सुदास, और साधारणत. नागदत्त तथा सुरैया को छोड़कर शेष कोई भी प्रसंग कहानी के गौरव का अधिकारी नही है। उनमे घटनाओं या मनोवृत्तियो के उत्थान-पतन का सर्वथा अभाव है—चरम स्थिति का कहीं भी पता नहीं है। और उसके लिए पुरातत्त्व के एक विद्वान् को दोषी ठहराना भी अनुचित होगा।

कुल मिलाकर 'वोल्गा से गंगा' हिंदी-साहित्य के लिए एक नवीन उपहार है। युग-युग तक प्रसरित मानव-जीवन की अनंतता के आर-पार झांकने वाली राहुलजी की दृष्टि हिंदी के लिए एक वरदान है।

आज की दूसरी पुस्तक है निरालाजी की 'बिल्लेसुर बकरिहा'। 'बिल्लेसुर बकरिहा' निरालाजी के शब्दों में हास्य लिये एक स्केच है। इसका हीरो—और उसमें एक ही व्यक्ति है—भी एक साधारण मनुष्य है, उसके जीवन-वृत्त मे किसी प्रकार का रंग-रोमांस या किसी प्रकार की भी असाधारणता नहीं है। उसके चरित्र की विशेषता ही सचमुच यही है कि उसमे बाहर से आकृष्ट करने वाली कोई भी विशेषता नही है; उसकी तस्वीर मे एक भी रंग अच्छा या बुरा ऐसा नही है जो चटकीलेपन से आपको आकृष्ट करता हो। अतएव उसमे रस ढूंढने के लिए आपको थोड़ा गहरा घुसना पड़ेगा, और मानव के अपने सहज-सामान्य रूप मे दिलचस्पी पैदा करनी होगी। तब आपको बिल्लेसुर के व्यक्तित्व मे एक आकर्षण मिलेगा। उसके चरित्र की सबसे बड़ी क्षमता यही है कि उसने जीवन को निर्विवाद रूप मे एक संघर्ष मान लिया है, अतएव वह धीरतापूर्वक उसकी चोटों को, उसके उतार-चढ़ाव को सहते हुए आगे बढ़ते रहने की शक्ति रखता है। उसे जीवन के प्रति निर्जीव मोह नही है, वह तो निर्भ्रान्त होकर बिना किसी प्रकार की हड़बड़ी या अधीरता के रचनात्मक शक्तियो का उपयोग करता हुआ प्रगति के पथ पर अग्रसर है। बाधाएं आती हैं, उसको तकलीफ होती है, परंतु विचलित होकर हार बैठने की बात उसके मन में कभी नही आती। वह धैर्यपूर्वक उसको जीवन का एक अनिवार्य अनुभव मानकर फिर आगे बढ जाता है। और इसी-लिए जीवन मे एकाकी होकर भी वह व्यक्तिवादी नही है। गांव के उपहास और उपेक्षा का पात्र होकर भी वह यही सोचता है :

"क्यों एक दूसरे के लिए नहीं खड़ा होता! जवाब कभी कुछ नहीं मिला। फिर भी जान रहते काम करना पड़ता है, यह सच है।"

बिल्लेसुर के व्यक्तित्व का मूल्यांकन लेखक ने स्वयं ही बड़े सुंदर और स्पष्ट शब्दों में किया है। सुनिए :

"हमारे सुकरात के जबान न थी, पर इसकी फ़िलासफी लचर न थी। सिर्फ

कोई इसकी सुनता न था, इसे भूल-भुलैया से निकालने का रास्ता नही दिखा, इसलिए यह भटकता रहा ।"

इस प्रकार का निर्विशेष स्केच इतना सफल और रोचक किस प्रकार बन सका, यह प्रश्न उठता है । वास्तव मे व्यक्तित्व-चित्रण की सफलता का रहस्य उसकी सचाई और यथातथ्यता है । निराला वैसे तो छायावादी होने के नाते घोर व्यक्तिपरक कविताए लिखते रहे हैं, परंतु उनकी साहित्यिक प्रतिभा इतनी समर्थ है कि वह एक साथ ही दो सर्वथा विरोधी दृष्टिकोणो को ग्रहण कर अत्यंत सफल रचना कर सकते हैं । परस्पर विरोधी तत्त्वो पर इतना सबल अधिकार आज हिंदी के दूसरे साहित्यकार को प्राप्त नही है । उनके गीत जहा शुद्ध भावगत हैं, वहा उनके स्केच और कहानियो मे स्वच्छ वस्तुगत दृष्टिकोण मिलता है । प्रस्तुत स्केच की सफलता का सबसे बडा रहस्य है लेखक की एकात तटस्थता । लेखक ने जिस कौशल के साथ अपनी सहानुभूति को संयत रखा है, वह वास्तव मे आश्चर्यजनक है, कही पर भी उसने अपनी तस्वीर के रंगो को भडकीला नही होने दिया । प्रगति की ओर झुका हुआ होने पर भी लेखक न कही जीवन के संघर्ष का उद्घोष करता है, न कही बिल्लेसुर की रचनात्मक शक्तियो अथवा उसकी सामाजिक फिलासफी का प्रचार करता है, और न कही शोषक-वर्ग का काला चित्र खीचकर शोषित-वर्ग के इस प्राणी के लिए करुणा का ही सचार कराता है । इन सभी तत्त्वो को उसने बडे सहज ढग से अप्रत्यक्ष रूप मे बिल्लेसुर के व्यक्तित्व मे ही समन्वित किया है । व्यक्ति का सच्चा चित्रण अव्यक्तिगत शैली से ही हो सकता है, चित्रकार को अपना व्यक्तित्व सर्वथा पृथक् रखना पडेगा, तभी वह ईमानदारी से उसका मूल्याकन कर सकेगा । और सचमुच निरालाजी ने यह सब-कुछ इतनी सावधानी से किया है कि कही उसमे गढने या दिशा-विशेष मे ढालने की कोशिश नजर नही आती । उसका अत भी सहज रूप मे, रूढ शब्दावली मे, अतहीन अत के ढग पर, होता है । और, इसके लिए एक विशेष कलात्मक सयम की आवश्यकता है जो कला को आत्म-गोपन की शक्ति प्रदान करता है ।

फिर भी, पुस्तक की सफलता का सपूर्ण श्रेय तटस्थता को ही दे देना गलत होगा । उसके लिए निरालाजी का हास्य भी बहुत कुछ उत्तरदायी है; रोचकता तो स्पष्ट रूप से बहुत-कुछ हास्य के ही आश्रित है । और वैसे भी, हास्य तटस्थता से सर्वथा भिन्न अथवा असबद्ध तत्त्व भी नही है । वह उसका एक आवश्यक उपकरण है; बिना हास्य के तटस्थता आ ही नही सकती । जीवन मे वे लोग ही स्वस्थ रूप से तटस्थ कहे जा सकते हैं जो जीवन की विषमताओ पर हँसने की क्षमता रखते हैं । विदेश मे रस के दो मुख्य भेद माने गये हैं—करुण और हास्य । करुण हमारे दृष्टिकोण को वैयक्तिक बनाकर हमे आलबन की ओर आकृष्ट करता है, हास्य उसे निर्वैयक्तिक बनाकर आलबन से पृथक् रहने का अवसर देता है । दृष्टिकोण की तटस्थता के कारण ही इस रचना का हास्य न तो बारीक और सस्कृत ही बन पाया है, और न उसमे व्यग्य या वक्रता की तीखी धार ही है । वह सर्वथा स्पष्ट और उन्मुक्त है, उसमे न किसी प्रकार की ग्रथि है और न बात को दबा-छिपाकर बारीकी और मुलायमियत लाने की कोशिश है ।

इसके साथ ही हास्य यहाँ साधन बनकर प्रयुक्त हुआ है, साध्य बनकर नही। इसलिए स्केच के अंग-निर्माण मे ही उसका प्रयोग है, मूलात्मा मे, अर्थात् सारभूत प्रभाव मे नही। सारभूत प्रभाव से तो जीवन की गभीरता की ही ध्वनि निकलती है। मूल धारणा का विश्लेषण कीजिए तो वह यही होगा कि जीवन एक गंभीर सत्य है; परंतु मुह लटकाकर या आखो मे आंसू भर कर, भारी दिल से उसकी गंभीरता को स्वीकार करना वास्तव मे उससे हार मान लेना है; और हँसी-खुशी उसकी विषमताओ को स्वीकार करते हुए उसे ग्रहण करना जीवन का रहस्य समझ लेना है। इसीलिए 'बिल्लेसुर बकरिहा' मे हास्य का निवास प्रायः परिस्थिति मे नही है, वरन् वर्णनो अथवा लेखक के अपने सकेत-स्पर्शो मे ही है। अपने वर्णनो और उक्तियो को निरालाजी ने प्राय एक साधारण तथ्य को अत्यंत गंभीरतापूर्वक सामने उपस्थित कर, साधारण और विशेष का अंतर मिटाते हुए, हास्यमय बनाया है। ऐसा करने के लिए कही तो वे व्याकरण अथवा किसी शास्त्र का उद्धरण देकर उसको सर्वथा प्रामाणिक बनाने की पूरी चेष्टा करते हैं; जैसा कि शुरू ही मे बिल्लेसुर बकरिहा नाम की व्याख्या मे किया है :

"बिल्लेसुर नाम का शुद्ध रूप, बड़े पते से मालूम हुआ, बिल्लेश्वर है। पुरवा डिवीजन मे, जहा का नाम है, लोकमत बिल्लेसुर शब्द की ओर है। कारण, पुरवा मे उक्त नाम के प्रतिष्ठित शिव हैं। अन्यत्र यह नाम न मिलेगा, इसलिए भाषा-तत्त्व की दृष्टि से गौरवपूर्ण है। बकरिहा जहा का शब्द है, वहां बोकरिहा कहते हैं। वहा बकरी को बोकरी कहते हैं। मैंने उसका हिंदुस्तानी रूप निकाला है। 'हा' का प्रयोग हनन करने के अर्थ मे नही, पालन के अर्थ मे है।"

—और कही किसी मामूली-सी बात के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवो का बडी साव-धानी से वर्णन कर हास्य का संचार किया गया है, मानो उनकी शुद्ध गणना के बिना बात अपना अर्थ ही खो बैठेगी। एक उदाहरण लीजिये :

"साम को दिखाने के लिए बिल्लेसुर रोज़ अगरासन निकालते थे। भोजन करके उठते वक्त हाथ मे ले लेते थे और हाथ-मुह धोकर कुल्ले करके बकरी के बच्चे को खिला देते थे। अगरासन निकालने से पहले लोटे से पानी लेकर तीन दफे थाली के बाहर से चुवाते हुए घुमाते थे। अगरासन निकालकर टुनिकियां देते हुए लोटा बजाते थे और आखें बंद कर लेते थे।"

या फिर कभी किसी अत्यंत प्रसिद्ध सामयिक प्रसंग से किसी छोटी-मोटी घटना का सबंध बैठाकर वर्णन को हास्यमय बनाया गया है :

"बिल्लेसुर बिना टिकट कटाये कलकत्ता वाली गाडी मे बैठ गये। इलाहाबाद पहुचते-पहुंचते चैकर ने कान पकड़कर उतार दिया। बिल्लेसुर हिंदुस्तान की जलवायु के अनुसार सविनय कानून भंग कर रहे थे, कुछ बोले नही, चुपचाप उतर आये; लेकिन सिद्धात नही छोड़ा।"

'बिल्लेसुर बकरिहा' हिंदी के लिए एक नयी चीज़ है। दृष्टिकोण की यह तटस्थता उससे पहले केवल कुल्ली भाट' मे ही मिलती है। मैं समझता हूं, अभी एकात हिंदी के पाठक को उसका रस लेने मे कुछ कठिनाई पडेगी—और स्केच को समाप्त करने के बाद शायद वह कह उठेगा कि कोई बात बनी नही। परंतु ऐसा नही है।

पंतजी की भूमिकाए

(क) 'पल्लव' का प्रवेश

'पल्लव' की भूमिका हिंदी मे छायावाद-युग के आविर्भाव का ऐतिहासिक घोषणा-पत्र है। छायावाद हिंदी-साहित्य का अत्यत समृद्ध युग है। वास्तव मे भक्ति-काल के अतिरिक्त काव्य का इतना उत्कर्ष और किसी युग मे नही हुआ। इस दृष्टि से हमारे साहित्य मे 'पल्लव' की भूमिका का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत-कुछ वैसा ही है जैसा कि अगरेज़ी साहित्य मे वर्ड्सवर्थ के 'लिरिकल बैलड्स' की भूमिका का।

'पल्लव' के इस आरभिक वक्तव्य का वास्तविक नाम भूमिका न होकर 'प्रवेश' है जिसमे छोटे आकार के ५८ पृष्ठ हैं। प्रवेश से पूर्व छ. पृष्ठ का एक छोटा-सा 'विज्ञापन' भी है। इसमे पतजी ने 'पल्लव' की कविताओ के विषय मे कुछ विशेष तथ्यो का उल्लेख किया है। इन दोनो को पृथक् रखने का कारण यह है कि 'विज्ञापन' मे विशेष की चर्चा है और 'प्रवेश' मे सामान्य सिद्धात का निरूपण। फिर भी 'विज्ञापन' को 'पल्लव' की भूमिका का ही भाग मानना चाहिए, उसमे भी काव्य-भाषा के सबध मे कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यो का सकेत मिलता है जो सिद्धात के ही अग हैं।

जैसा कि पतजी ने स्वय ही स्वीकार किया है, प्रस्तुत भूमिका मे काव्यकला के आभ्यतरिक रूप का विशेष विश्लेषण नही किया गया, उसके बाह्य रूप का ही विवेचन किया गया है। काव्य के बाह्य रूप के अतर्गत कवि ने मुख्य रूप से इन विषयो को ग्रहण किया है: १ आधुनिक हिंदी-काव्य की माध्यम भाषा . ब्रजभाषा बनाम खडी बोली, २. काव्य-भाषा का स्वरूप —(क) पर्याय शब्दो का चमत्कार, (ख) लिंग-निर्णय, (ग) समास आदि; ३. अलकार; ४. खडी बोली का सगीत और छद-विधान।

आइए, एक-एक कर इनका पर्यालोचन किया जाए।

ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली

आधुनिक हिंदी-काव्य की माध्यम भाषा के प्रश्न को पतजी ने सबसे अधिक उत्साह एव उच्छ्वास के साथ ग्रहण किया है। उस समय हिंदी-साहित्य मे कदाचित् सबसे अधिक ज्वलत विवाद का प्रश्न था ब्रजभाषा बनाम खडी बोली। काव्य की नवीन जागृति का अग्रदूत यह युवा कवि सन्नद्ध होकर उस विवाद मे अवतीर्ण हुआ है।

कहने की आवश्यकता नही कि पंतजी का निर्णय ब्रजभाषा के विरुद्ध और खडी बोली के पक्ष मे ही है। उन्होने ब्रजभाषा पर अनेक प्रबल प्रहार किये हैं। उदाहरण के लिए :

(१) ब्रजभाषा का विकास एक कृत्रिम काव्य-भाषा के रूप मे हुआ है, अतएव वह पुस्तको की भाषा-मात्र बनकर रह गयी है। वह एक नवजाग्रत राष्ट्र की भाषा नही हो सकती। उसका शब्द-भाडार, अभिव्यजना और सगीत कृत्रिम है। पंतजी ने उसके सौदर्य की उपमा पुरानी छीट की चोली या पुराने फ़ैशन की मिस्सी से दी है।

(२) उसमे माधुर्य और सौदर्य तो है, किंतु व्यापकता और महाप्राणता नही है।

(३) ब्रजभाषा की साहित्यिक परंपरा विलास-रुग्ण और संकीर्ण है—उसमे ईश्वरानुराग की बासुरी अघविलो मे छिपे हुए वासना के विषधरो को छेड़-छेड़कर नचाती रही है।

(४) जब लोक-व्यवहार तथा गद्य-साहित्य की भाषा खडी बोली है, तब काव्य की भाषा ब्रजभाषा कैसे हो सकती है ?

जो भाषा मुगलो के समृद्ध राज्य-काल मे समस्त उत्तरापथ की राष्ट्रभाषा रह चुकी हो, जिसमे सूर का सागर लहराता हो, जिसमे भगवान् कृष्ण ने मचल-मचलकर माखन-रोटी मागी हो, उस भाषा पर ये प्रहार वास्तव मे अत्यंत निर्मम है। फिर भी उनके पीछे एक निश्चित दृष्टिकोण है और उनके औचित्य पर विचार करना असंगत न होगा।

पतजी का पहला आरोप यह है कि ब्रजभाषा साज-संवारकर गढी हुई काव्य-भाषा मात्र है, वह काव्य-रूढियो मे ग्रस्त है, उसके उपकरण कृत्रिम हैं, अतएव वह जीवंत राष्ट्रभाषा नही बन सकती। वास्तव मे पतजी के इस प्रहार का लक्ष्य रीति-कालीन ब्रजभाषा है। इसमे सदेह नही कि रीति-युग मे ब्रजभाषा की इतनी प्रसा-धना हुई थी, मसृणता और काति की स्पृहा इतनी बलवती हो गयी थी कि उसका विकास-पथ अवरुद्ध हो गया, कोमलता और कमनीयता के लिए प्राणो के विराट् तत्त्व और जीवन के विस्तार का उत्सर्ग कर दिया गया। देव, मतिराम और घनानंद की भाषा मे स्निग्धता ही है, महाप्राणता और ओज नही है; एकरस माधुरी है, अनेकरूपा जीवनाभिव्यक्ति नही है। निरंतर व्यवहार से जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के सस्कार बनते रहते हैं, इसी प्रकार भाषा के भी। आरंभ से ही कोमल भावो और प्रगीत काव्यरूपो का माध्यम होने के कारण ब्रजभाषा के भी अपने सस्कार बन गये हैं जिनमे निश्चय ही ओज की अपेक्षा सौकुमार्य का प्राधान्य है। अतएव ब्रजभाषा पर यह आरोप तो बहुत अंशो मे ठीक है कि वह जीवन के आनंद-पक्ष के ही अधिक अनुकूल है, संघर्ष-पक्ष के नही, परंतु इस तथ्य को भी बहुत दूर तक नही घसीटना चाहिए। सस्कारो का प्रभाव निश्चय ही गहरा होता है किंतु उनमे भी शिक्षा और अभ्यास से परिवर्तन-परिशोधन सभव है। और फिर भाषा का, विशेषकर काव्य-भाषा का, आधार वस्तुगत की अपेक्षा व्यक्तिगत या भावगत ही अधिक मानना चाहिए। शब्द तो प्रतीक-

मात्र है। उसका वस्तु-आधार है अवश्य; अर्थात् उसके नादात्मक रूप का महत्त्व अवश्य है, परतु वास्तविक महत्त्व तो उसमे निहित धारणा या भावना का है जिसका कि वह वाहक है। इसलिए किसी भाषा को जीवन के केवल एक ही पक्ष के साथ बाध देना सर्वथा मनोवैज्ञानिक नही है। ब्रजभाषा के सस्कार मधुर अवश्य हैं, वह प्रगल्भा की अपेक्षा मुग्धा ही अधिक है। वह इतनी कोमल-मना है कि 'प्रिय' मे से भी रेफ निकाल कर उसे अपने होठो की मिठास मे घोलकर 'पिय' बना देती है। किंतु आवश्यकता पडने पर मूछो पर हाथ फिरवाने की शक्ति भी उसमे आ ही जाती है। और, यदि परिस्थितिया इस प्रकार की होती तो उसकी ऊर्जस्विनी शक्तियो का विकास भी हो सकता था, जैसे कि खडी बोली का हुआ। रामचरित उपाध्याय की खडी बोली अत मे पत की समृद्ध भाषा बन गयी। अतएव हमारा मत यही है कि इसमे सदेह नही ब्रजभाषा जीवन के सुकुमार पक्ष के अधिक अनुकूल है, परतु उदात्त पक्ष की अभिव्यक्ति का माध्यम वह बन ही नही सकती, यह कहना अनुचित होगा। इसके आगे कृत्रिमता का आरोप और भी गभीर तथा अनुचित है। पतजी का आशय यह है कि ब्रजभाषा मे वक्रता और वैदग्ध्य पर्याप्त मात्रा मे नहीं हैं। उसमे लक्षणा और व्यंजना की वे विभूतिया नही है जिनका विकास वे स्वय तथा उनके सहयोगी कवि खडी बोली मे कर रहे थे। इसमे तो सदेह नही कि ब्रजभाषा के रीति-कवियो का जितना आग्रह मसृणता और काति के प्रति था, उतना वक्रता एव वैदग्ध्य, अथवा भाषा की लाक्षणिक तथा व्यजनात्मक शक्तियो के विकास के प्रति नही था, परतु रीति-युग के उस रसात्मक काव्य मे वक्रता का उतना अभाव नहीं है जितना पतजी अथवा अन्य छायावादी कवि-आलोचक समझते थे। उस समय तक वास्तव मे रीति-काव्य का इस दृष्टि से अध्ययन नही हुआ था। परतु उसके बाद आचार्य रामचद्र शुक्ल द्वारा घनानद की अभिव्यजना का और प्रस्तुत लेखक द्वारा देव की अभिव्यजना का विश्लेपण इस बात का साक्षी है कि इस काव्य मे भी पूर्वोक्त काव्य-गुणो का दुष्काल नही है उनका उद्घाटन नही हो पाया है। बिहारी, देव, घनानद, पद्माकर आदि कवियो मे राशि-राशि वक्र प्रयोग मिलेंगे :

१. अंग-अग मदन विहगम जगतु है —(देव)
२. पावस ते उठि कीजिए चैत अमावस ते उठि कीजिए पूनो —(देव)
३. अरसाइ गयी वह बानि कछू··· —(घनानद)

इसके अतिरिक्त सूर की ब्रजभाषा मे तो वक्रता का वैचित्र्य अपूर्व है—'भ्रमर-गीत' का प्रत्येक पद वक्रता के सौंदर्य से दीपित है। अतएव यहा भी वस्तु-स्थिति यही है कि ब्रजभाषा मे न तो वक्रता और नवीन वैचित्र्य-उत्कर्ष का उतना अभाव है और न उसकी प्रकृति लाक्षणिक शक्तियो के विकास के प्रतिकूल ही है। उसकी भी लाक्षणिक और व्यजनात्मक विभूतियो का विकास सहज सभाव्य था। रहा कृत्रिमता का प्रश्न; तो यह ठीक ही है कि रीति-युग के अथवा कृष्ण-काव्य के भी हीन-प्रतिभ कवियो की काव्य-भाषा रूढिग्रस्त तथा कृत्रिम है। परन्तु कृत्रिमता अथवा रूढ़ता किसी भाषा-विशेष का सहजात दोष नहीं है, सृजन-स्फूर्ति मद पड जाने

पर प्रत्येक भाषा कृत्रिम और रूढिग्रस्त हो जाती है। स्वयं छायावाद की भाषा पर प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कवियो ने कृत्रिमता का ठीक यही आरोप लगाया है। प्राणो के राग के अभाव मे यदि पुराने फैशन की मिस्सी आकर्षण खो बैठती है तो नये फैशन की लिपस्टिक को देखकर भी उबकाई आने लगती है। अत. कृत्रिमता भाषा का दोष नही है, प्रयोक्ता और उसके प्रयोग का दोष है।

यही तर्क इस तीसरे आरोप के विरुद्ध दिया जा सकता है कि ब्रजभाषा का काव्य विलास-रुग्ण भाषा नही हो सकती; 'सूर-सागर' और 'विनय-पत्रिका' की पवित्र भाषा का उपमान मिलना दुर्लभ है। विलास-रुग्ण तो व्यक्ति और परिस्थितियां ही होती हैं, प्राणो का रस सूख जाने पर जैसे भारतीय जीवन विलास-जर्जर हो गया था, वैसे ही भारतीय काव्य भी। और फिर, इस युग मे भी जिन कवियो की प्राण-धारा प्रवहमान थी, उनके शृंगार-काव्य मे भी जीवन की ताजगी और आनंद-स्फूर्ति वर्तमान हैं।

पंतजी की चौथी युक्ति वास्तव मे न्यायसगत है और युगचेता कवि की प्रबुद्ध मनीषा का प्रमाण है। वह तर्क यह है कि लोक-व्यवहार तथा गद्य-साहित्य की भाषा और काव्य-भाषा मे प्रकृतिगत भेद नहीं होना चाहिए। यो तो गद्य तथा व्यवहार की भाषा मे 'काव्य-भाषा' का स्वरूप निश्चय ही भिन्न होता है—अंगरेजी मे वर्ड्सवर्थ और हिंदी मे द्विवेदीजी आदि के प्रयत्नो की असफलता इस ज्वलंत मनोवैज्ञानिक सत्य का प्रमाण है—परंतु यह भेद रूप मे ही होना चाहिए, प्रकृति तथा प्रकार मे नही। लोक-व्यवहार और गद्य-साहित्य के लिए खड़ी बोली को स्वीकृति मिल जाने के उपरान्त काव्य-भाषा के लिए कोई दूसरा मार्ग नही था। विचार और राग की भाषा की जाति एक ही होनी चाहिए। उसमे जातिगत भेद होने से जीवन की साहित्यिक अभिव्यक्ति में एक विचित्र विषमता उत्पन्न हो जाती है। एक और दृष्टि ने भी ब्रजभाषा का त्याग श्रेयस्कर हुआ। आज हिंदी मे राष्ट्रीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए संस्कृत के तत्सम शब्दो का समावेश अथवा निर्माण निरंतर किया जा रहा है। राष्ट्रभाषा के विकास का सबसे ऋजु-सरल मार्ग यही है। ब्रजभाषा की प्रकृति मे तत्सम शब्दो का घुल-मिल जाना उतना सहज न होता जितना खडी बोली मे है। ब्रजभाषा की प्रकृति तत्सम तथा समस्त शब्दावली के विरुद्ध विद्रोह करती और राष्ट्रभाषा का विकास-पथ अवरुद्ध हो जाता। अतएव, ब्रजभाषा का परित्याग राष्ट्रभाषा के हित मे ही हुआ, इसमें संदेह नही; परंतु इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए ब्रजभाषा के काव्य-गुणो का तिरस्कार उचित नही था। 'पल्लव' मे पतजी के आक्रोश मे हमें यही शिकायत है। किंतु, जैसा कि हमने आरंभ मे ही कहा है, 'पल्लव' की भूमिका एक युग-प्रवर्तक भूमिका है, अतएव इस आक्रोश के पीछे स्वभावत: ही युग-प्रवर्तन का उत्साह है, सतुलित पर्यालोचन का नीर-क्षीर विवेचन नही।

काव्य-भाषा

ब्रजभाषा का विवेचन करते हुए, उसी प्रसंग मे काव्य-भाषा का सामान्य

विवेचन भी सक्षेप मे किया गया है। काव्य-भाषा का मूल आधार भाव और भाषा का सामंजस्य है . "जहा भाव और भाषा मे मैत्री अथवा ऐक्य नही रहता, वहा स्वरो के पावस मे केवल शब्दों के वटु-समुदाय ही दादुरो की तरह, इधर-उधर कूदते, फुदकते तथा साम-ध्वनि करते सुनाई देते है।" सामजस्य के अतिरिक्त काव्य-भाषा की दूसरी विशेषता है चित्रात्मकता—"कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पडती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए जो बोलते हो, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर छलक पडे, जो अपने भाव को अपनी ध्वनि मे आखो के सामने चित्रित कर सकें, जो झकार मे चित्र, चित्र मे झकार हो।" —इस दूसरी विशेषता मे ही, शास्त्रीय शब्दावली मे, काव्य-भाषा की व्यजनात्मक तथा लाक्षणिक शक्तियो का विकास निहित है। आगे चलकर इसी सदर्भ मे पतजी ने पर्याय शब्दो की व्यजना-शक्ति का मार्मिक विवेचन किया है। हिंदी काव्य-शास्त्र के इतिहास मे वह अभूतपूर्व घटना थी। भाषा के मनोविज्ञान के अनुसार कोई भी दो शब्द सर्वथा एक ही अर्थ को प्रकट नही करते, व्याकरण भी यही कहता है। अतएव "भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः सगीत-भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपो को प्रकट करते हैं।" पर्याय वास्तव मे भाषा की व्यजना-शक्ति का अत्यत समर्थ उपकरण है। सस्कृत के ह्रास-काल तथा रीति-युग मे आकर जब शब्द के अर्थ-चित्र के स्थान पर संगीत का मूल्य बढ गया, तो पर्याय-शब्दो का यह सुदर रहस्य भी विस्मृत हो गया। परंतु भारतीय काव्य-शास्त्र के लिए यह अज्ञात नही था, आनदवर्धन पर्याय-ध्वनि और कुतक पर्याय-वक्रता के अतर्गत इसका मार्मिक विश्लेपण कर चुके है। पंतजी ने पाश्चात्य काव्य के मनन तथा अपनी अतर्दर्शी प्रतिभा के द्वारा पर्याय-सौदर्य के उद्घाटन मे अद्भुत मर्मज्ञता का परिचय दिया है। उन्होने मर्मज्ञ प्रज्ञा के साथ कवि-कल्पना का संयोग कर इस प्रसग को आलोकित कर दिया है। उदाहरण के लिए, 'लहर' के पर्याय-शब्दो का विश्लेपण लीजिए : 'ऐसे ही हिलोर मे उठान'' का आभास मिलता है।" (पृ० २५)। इस विषय मे पतजी का अभिमत है कि सस्कृत की पर्याय-कल्पना से अगरेजी की पर्याय-कल्पना अधिक सार्थक तथा वैज्ञानिक है। उनका निष्कर्ष है कि सस्कृत मे पर्याय-शब्दो का प्राचुर्य वर्ण-वृत्तो की आवश्यकता की पूर्ति का साधन है, भावो के छोटे-बडे चढाव-उतार, उनकी श्रुति तथा मूर्च्छनाओ, लघु-गुरु भेदो को प्रकट करने का साधन नही है, जैसा कि अगरेजी मे है। यह धारणा अशुद्ध है, वास्तव मे किशोर कवि के मन पर उन दिनो विदेश का जादू चढकर बोल रहा था, अत वह भारतीय उपकरणो का उचित मूल्याकन नहीं कर सका। सस्कृत की जैसी निर्माण-क्षमता और अभिव्यजकता किसी भी अन्य भाषा मे नही है, अगरेजी मे तो फ्रेंच आदि मे भी कम है।

काव्य-भाषा के प्रसग मे पंतजी ने लिंग-निर्णय और समास-प्रयोग पर भी विचार प्रकट किये हैं। उनका मत है कि लिंग का निर्णय शब्द के अर्थ के अनुसार होना चाहिए, अकारात-इकारांत के अनुसार नहीं। जिस शब्द मे कोमलता, लघुता आदि स्त्रियोचित गुण हैं उसे स्त्रीलिंग, और जिसमे परुषता, आकार आदि

पुरुषोचित गुण हो उसे पुल्लिग मानना चाहिए। "लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य अनिवार्य है; अन्यथा शब्दो का ठीक-ठीक चित्र सामने नही उतरता और कविता में उनका प्रयोग करते समय कल्पना कुठित-सी हो जाती है।" इसमे सदेह नही कि हिंदी के लिंग-निर्णय के मूल मे जो धारणाएं प्रच्छन्न अथवा प्रकट रूप से वर्तमान है, उनमें एक प्रमुख धारणा 'लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य' भी है। परंतु इसका सार्वभौम प्रयोग नही हो सकता—एक तो यह धारणा स्वयं ही अत्यत भावपरक है—क्योकि स्त्रीत्व और पुरुषत्व का आरोप मूलतः भावना का ही विषय है, दूसरे लोक-व्यवहार का उल्लघन भी सरल नही है। पंतजी के अपने प्रयोग ही सफल नही हुए; 'प्रभात' को वे स्त्रीलिंग नही बना सके और अत मे उनको अपनी धारणा मे ही परिशोधन करना पडा। फिर भी आज से तीस वर्ष पूर्व नवयुवा कवि के ये विचार अत्यत प्रौढ और क्रातदर्शी थे, इसमे सदेह नही, और आज भी यदि हिंदी के लिंग को विवेक-सम्मत आधार देना है तो अर्थ और लिंग का यह सामजस्य अत्यत उपयोगी सिद्ध होगा।

हिंदी के लिए पतजी एक ओर समास को और दूसरी ओर पूरक क्रिया 'है' को त्याज्य मानते है। समास की वर्जना तो अन्य मनीषियो ने भी उनसे पहले और बाद मे की है; परतु 'है' का बहिष्कार कुछ विचित्र-सा था। उसके बिना प्रस्तुत भूमिका के अनेक वाक्य अजीब-से लगते हैं, और परिणाम यह हुआ कि स्वय पतजी ने 'गद्य-पथ' मे आकर सर्वत्र 'है' जोड दिया है। यद्यपि 'है' पर कवि का प्रकोप साधारणत हमारी समझ मे नही आता; फिर भी यह विचार सर्वथा अनर्गल नही था। खडी बोली का रूप इतना विश्लेषणात्मक है कि उसे काव्य-भाषा के साचे मे ढालने के लिए निश्चय ही प्रवर्तक कवियो को कठिन श्रम करना पडा है। समास-गुण, काव्य-भाषा का अनिवार्य लक्षण है और पूरक क्रियाए तथा अन्य पूरक पद लगाने से उसमे निश्चय ही शैथिल्य आ जाता है। द्विवेदी-युग के कवियो की आरभिक भाषा इसका प्रमाण है। इसी शैथिल्य से खीझकर अनगढ खड़ी बोली को काव्य-रूपो मे ढालते हुए कलाकार कवि ने बगला तथा अन्य भाषाओ से प्रेरणा लेकर यह प्रस्ताव रखा था। लोकमत इस सबंध मे भी इतना प्रबल था कि पतजी का प्रयत्न बुरी तरह विफल हुआ, परतु फिर भी उनकी सदाशयता की दाद देनी ही चाहिए।

अलंकार

"अलकार केवल वाणी की सजावट के लिए नही, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। वे वाणी के हास-अश्रु, स्वप्न-पुलक, हाव-भाव है।" कहने का तात्पर्य यह है कि—१. अलकार अभिव्यक्ति के अभिन्न अंग हैं: वे ऊपर से धारण किये हुए आभूषण नही हैं, और २. इस रूप मे भी वे साधन-मात्र हैं, उनकी स्वतत्र सत्ता भी नही है, साध्य होने का तो प्रश्न ही नही उठता। अलंकार जहा अग से अगी हुए, वही अराजकता फैल जाती है। यह स्थिति क्रोचे के अभिव्यजनावाद और भारतीय अलकारवाद की मध्यवर्ती है। पतजी क्रोचे की भाति अलंकार को अलंकार्य से अभिन्न तो

नही मानते हैं; उस रूप मे तो अलकार का अस्तित्व ही मिट जाता है, परंतु वे उसकी स्वतंत्र सत्ता के समर्थक नही है। वास्तव मे यही दृष्टिकोण संगत भी है, इसमे दोनो प्रकार का अतिवाद बच जाता है। इसके अतिरिक्त पतजी अलकारो की सख्या निश्चित करने के विरुद्ध हैं। अलंकार वास्तव मे भाषा का भाव-प्रेरित वक्र प्रयोग है और ऐसे प्रयोगो को सख्या मे बाधना संभव नही है : अनन्ता हि वाग्विकल्पा ।

छंद-विधान

प्रस्तुत भूमिका का सबसे मार्मिक अंश छंद-विवेचन है। उस समय जबकि छंद-विचार वर्ण, मात्रा की गणना तथा यति-गति आदि से आगे नही जाता था, पंतजी ने छंद के मनोविज्ञान का सूक्ष्म-सरस विश्लेषण किया है। छद के प्रकरण मे पंतजी की मान्यताएं इस प्रकार हैं·

१ कविता तथा छंद के बीच बडा घनिष्ठ सबंध है; कविता का स्वभाव ही छंद मे लयमान होना है।

२ छद का भाषा के उच्चारण, उसके संगीत के साथ गहरा सबध है। संस्कृत का संगीत भाषा की सश्लेषणात्मक प्रकृति के कारण शृखलाकार, मेखलाकार हो गया है, वह हिल्लोलाकार मालोपमा मे प्रवाहित होता है। हिंदी की प्रकृति विश्लेषणात्मक है, अतएव उसका सगीत लोल लहरो का चंचल कलरव, बाल-झकारो का छेकानुप्रास है।

३. अतएव सस्कृत का संगीत व्यजन-प्रधान है, और वर्ण-वृत्त उसके सहज वाहन है। हिंदी का सगीत स्वर-प्रधान है जिसके सहज माध्यम हैं मात्रिक वृत्त। इस दृष्टि से रीतिकवियो के प्रिय छद सवैया और कवित्त हिंदी की प्रकृति के अनुकूल नही हैं। सवैया मे एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से एक प्रकार की जडता तथा एकस्वरता आ जाती है और राग का वैचित्र्य नष्ट हो जाता है। कवित्त मे राग शब्द-प्रधान हो जाता है, वाणी के स्वाभाविक स्वर और सगीत का प्रभाव रुक जाता है जिसकी पूर्ति अनुप्रासो तथा अलकारो की अधिकता मे करनी पडती है।

४ तुक राग का हृदय है। राग की समस्त छोटी-बडी नाडियां मानो अत्यानुप्रास के नाडी-चक्र मे केंद्रित रहती हैं। तुक उसी शब्द मे अच्छा लगता है जो पद-विशेष मे गुथी भावना का आधार-स्वरूप हो। अतुकात छंद मे दिन की कर्म-व्यस्त अनवरत गति है और तुकांत मे प्रभात तथा सध्या का विरामयुक्त संतुलित पर्यटन।

५. मुक्त छद का आधार लय है; वह आतरिक ऐक्य अर्थात् भाव-साम्य पर अवलंबित है। इस प्रकार की कविता मे अगो के गठन की ओर विशेष ध्यान रखना पडता है। अन्य छंदो की तरह हिंदी मे मुक्त छंद भी ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक सगीत की लय पर ही सफल हो सकता है।

ये विचार निश्चय ही छंद के गभीर मर्म-ज्ञान के परिचायक हैं। युवा कवि ने भाषा और छंद की आत्मा मे पैठकर उनके मूलवर्ती रहस्यो का उद्घाटन किया है। तुक का विवेचन हिंदी मे बहुत कम हुआ है, आज भी उस उपेक्षित किंतु अत्यत महत्व-

पूर्ण तत्त्व के विवेचन के लिए रीति-युग के आचार्य दास की प्रशंसा की जाती है। किंतु दास ने जहा उसके वाह्य रूप और स्थूल भेदो की ही चर्चा की है, वहा पतजी ने पहली वार हिंदी मे तुक के मर्म का विश्लेपण किया है · "तुक उसी शब्द मे अच्छा लगता है जो पद-विशेष मे गुथी भावना का आधार-स्वरूप हो।"—इस मार्मिक तथ्य को उस समय कितने तुक्कड कवि और पिंगलाचार्य समझते थे! परंतु फिर भी पतजी के सभी विचार अतर्क्य नही हैं, कुछ तो निश्चय ही अमान्य हैं। इसमे संदेह नही कि हिंदी की प्रकृति विश्लेषणात्मक है, परतु पतजी अपने कोमल स्वभाव के आग्रह से इस तथ्य को बहुत दूर तक घसीट ले गये हैं और उनके कुछ निष्कर्ष अत्यंत एकागी हो गये हैं। उदाहरण के लिए, उनका यह निष्कर्ष कि हिंदी के सगीत का मूल आधार स्वर है, व्यजन नही, उनकी अपनी गीति-प्रतिभा की अभिव्यक्ति मे तो निश्चय ही सहायक हुआ है, किंतु उनके काव्य मे उदात्त और विराट् तत्त्व का अभाव भी बहुत-कुछ इसी का परिणाम है। व्यक्तित्व की वलिष्ठता के लिए केवल रक्तवाही नाडिया ही पर्याप्त नही हैं, दृढ अस्थि-जाल और पुष्ट मासपेशिया भी उतनी ही आवश्यक हैं। पत-काव्य का विवेचन करते समय मेरे मन मे अनेक बार यह बात आयी है कि जहा आन्तरिक भाव-चित्र विराट् है वहा भी उसका मूर्त्ताकार विराट् नही हो पाया। 'सन् १९४०' नामक कविता मेरे कथन को पुष्ट करेगी। इसका एक कारण यह धारणा भी है कि हिंदी के सगीत का मूल आधार स्वर है, व्यंजन नही। मुक्त छद तो केवल स्वर के आधार पर अपनी गरिमा का विकास कर ही नही सकता; निराला और पत के मुक्त छदो का अतर इसका प्रमाण है। वास्तव मे सगीत की गरिमा का स्वर और व्यजन दोनो की मैत्री पर ही निर्भर है। उनकी ऊर्जस्वित सयोजनाओ के द्वारा ही उदात्त सगीत की सृष्टि सभव है। इसी प्रकार सवैया की मत्तगयद गति और कवित्त के तरंगायित आवर्त-प्रवाह के प्रति भी पतजी की गीतिमयी स्वरप्रियता ने अन्याय किया है। नाद की गरिमा की उपेक्षा करके पतजी की कविता विराट्-तत्त्व से वचित हो गयी है।

मूल्यांकन

विभिन्न प्रसंगो का विवेचन करने के उपरात अब 'पल्लव' की भूमिका का सामान्य मूल्याकन किया जा सकता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इसमे मुख्यत काव्य के वाह्य रूप की विवेचना है। यह भूमिका आज से तीस वर्ष पूर्व लिखी गयी थी। उस समय हिंदी-आलोचना अत्यत निर्धन थी। सैद्धातिक आलोचना के अतर्गत दो-एक अलकार-संबंधी पाठ्य-ग्रथ, भानुजी का 'काव्य-प्रभाकर' तथा प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के कतिपय लेख थे, व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र मे मिश्रवधुओ के ग्रंथ 'नवरत्न' और 'विनोद' थे। उन दिनो देव-विहारी के सबध मे विवाद भी इतने जोर पर था कि पतजी को उस पर व्यग्य करना पडा। शुक्लजी की सिद्धात-सबधी गभीर मनोवैज्ञानिक विवेचनाएं अभी सामने नही आयी थी। इस पृष्ठभूमि मे, पतजी के इस सूक्ष्म विश्लेषण का अध्ययन कर वास्तव मे चकित हो जाना पडता है। हिंदी-साहित्य मे पहली वार काव्य मे बाह्य उपकरणो का—भाषा,

अलकार, छद आदि का—मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया और इतनी सूक्ष्म मर्म-भेदी दृष्टि से ! उस समय तक हमारे आलोचक इन सभी उपकरणो के वस्तु-आधार से ही परिचित थे। भाषा, अलकार, छद की लय, तुक आदि यान्त्रिक शब्द-योजना, अप्रस्तुत-विधान अथवा वर्ण-मात्रा-गणना मात्र नही है, उनका निश्चित मनोविज्ञान है, अर्थात् वे भी प्रेषणीय भाव और विचार द्वारा प्रेरित होते हैं—बाह्य रूपो का यह अतर्दर्शन उनको नही हुआ था। 'पल्लव' की भूमिका मे काव्य की बाह्य छवियो के इन रहस्यो का पहली बार अत्यत मार्मिक विश्लेषण हुआ। यह विश्लेषण वास्तव मे अपने समय से इतना आगे था कि कम-से-कम एक दशाब्द तक हिंदी-आलोचक इसके मर्म को नही समझ पाये।

छायावाद-युग मे आकर जब पाश्चात्य आलोचना से संपर्क गहरा हुआ और हमारी आलोचना मे भी अतर्विश्लेषण की प्रवृत्ति का विकास हुआ, तो 'पल्लव' की भूमिका का गहरा प्रभाव पडा। काव्य के कला-पक्ष के प्रति हिंदी मे एक नवीन दृष्टिकोण का विकास हुआ। काव्य-भाषा के क्षेत्र मे व्याकरण-सबधी शुद्धता के अति-रिक्त शब्द-अर्थ के अनेक चमत्कारो की ओर ध्यान गया, अलकारो के नाम गिनाना यथेष्ट नही समझा गया; उनके अतश्चमत्कारो का विश्लेषण होने लगा, छद मे गति-भंग, यति-भग, मात्रा-वर्ण आदि की गणना के स्थान पर उनके आतरिक सगीत और भावानुकूल लय आदि का विवेचन अधिक सार्थक माना जाने लगा। शास्त्र की शब्दावली मे, काव्य के कला-पक्ष की आलोचना रीति-रूढियो से मुक्त होकर मनो-वैज्ञानिक होने लगी।

इसका एक विपरीत प्रभाव पडा; कला-पक्ष के विवेचन मे रुचि बढ जाने मे छायावाद के विषय मे यह धारणा बनने लगी कि वह काव्य-शिल्प का, अभिव्यजना का, एक प्रकार-मात्र है। शुक्लजी जैसे उद्भट आलोचक इस भ्राति के शिकार हो गये। परतु इसमे बेचारे पतजी का क्या दोष ! उस समय कदाचित् इसकी आवश्यकता अधिक थी। बाद मे काव्य के विचार और भाव-पक्ष का उन्होने अत्यत प्रौढ विवेचन किया है, वरन् यह कहना चाहिए कि बाद मे तो उन्होने कला-पक्ष को एक प्रकार से छोड ही दिया है।

प्रस्तुत भूमिका के दोष भी उतने ही मुखर हैं जितने कि गुण। पतजी प्रतिभावान् कवि हैं, उनमे युग-प्रवर्तक की असाधारण प्रतिभा है। अतएव अपनी प्रतिभा के बल पर वे काव्य के ऐसे अनेक रहस्यो का सहज ही साक्षात्कार कर सके जो शिक्षा और अभ्यास के लिए सामान्यत सभव नही थे। परतु विचार के लिए प्रौढि का भी महत्त्व कम नही है। भूमिका मे प्रतिभा की दीप्ति तो अवश्य है, परन्तु प्रौढ और सतुलित विचार की न्यूनता है। ब्रजभाषा और साहित्य के विरुद्ध उनका आक्रोश सर्वथा न्याय्य नही है। रीति-काव्य के रस-सिद्ध कवियो के प्रति भी वे अत्यत कठोर है। उसी प्रवाह मे वे कवित्त और सवैया का भी तिरस्कार कर बैठे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि एक तो कवि पर पाश्चात्य साहित्य और दर्शन का प्रभाव इतना अधिक है कि उसके मन मे भारतीय वाङ्मय के प्रति उपेक्षा-भाव उत्पन्न हो गया है;

दूसरे नवीन काव्य-प्रवृत्ति के तत्कालीन विरोध ने, जो बडे स्थूल रूप मे प्रकट हो रहा था, उसे कुछ और उत्तेजित कर दिया है। इसलिए पतजी का व्यंग्य स्थान-स्थान पर उनके सौम्य स्वभाव के विपरीत बडा तीखा हो उठा है। फिर भी, कारण चाहे जो कुछ हो, 'पल्लव' की भूमिका मे वाछित प्रौढता और संतुलन का अभाव है। यही बात इसकी भाषा के विषय मे है; भूमिका की भाषा के गुण-दोष भी साफ अलग-अलग चमक जाते हैं। एक ओर उनमे कवित्व की छटा और अत्यंत मार्मिक लाक्षणिक प्रयोग हैं, तो दूसरी ओर कृत्रिमता और वागाडंबर भी कम नही हैं। कही-कही भाषा के शब्दावर्त मे विचार एकदम छिप जाता है। पुनरावृत्ति का भी अभाव नही है, और स्थान-स्थान पर ऐसा लगता है जैसे कवि अपने उद्देश्य को भूलकर भाषा की छटा को ही साध्य मान बैठा है। उद्देश्यो का यह विपर्यय अपने-आप मे एक बडा अपराध है। कुछ पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग भी अस्पष्ट या अशुद्ध है। जैसे 'राग' का प्रयोग अस्पष्ट है, यह स्पष्ट नही होता कि राग से अभिप्राय आधारभूत भाव का है या सगीत का। इसी प्रकार 'एक्सप्रेशन' के लिए एक स्थान पर 'स्वर' पर्याय का प्रयोग हुआ है जो किसी रूप मे शुद्ध नही है। 'स्वर' 'टोन' का पर्याय तो हो सकता है, 'एक्सप्रेशन' का नही।

परंतु यह सब छिद्रान्वेषण तो विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण का परिणाम है; तनिक सश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार कीजिये। आज से तीस वर्ष पूर्व हिंदी-आलोचना का अधकार-युग, २४-२५ वर्ष की आयु का युवा कवि और काव्य-कला के मर्म का यह अपूर्व उद्घाटन! आलोचक का मन संभ्रम और विस्मय से भर जाता है और अभिनवगुप्त के शब्दो मे वह अनायास ही कह उठता है :

क्रमात् प्रख्योपाख्यप्रसरसुभगं भासयति तत्,
सरस्वत्यास्तत्त्व कविसहृदयाख्य विजयतात्!

(ख) गद्य-पथ

'गद्य-पथ' मे दो खड हैं। पहले खंड मे पतजी की पाच भूमिकाएं हैं, इनमे 'पल्लव' का प्रसिद्ध युग-परिवर्तनकारी 'प्रवेश', 'आधुनिक कवि' का सूक्ष्म 'पर्यालोचन' तथा 'उत्तरा' की प्रतिरक्षात्मक 'प्रस्तावना' है, जिसमे अंतर्मन का गहन विश्लेषण है। 'युगवाणी' का 'दृष्टिपात' भी पतजी की अंतश्चेतना के विकास के उस मोड़-विशेष के बहिरतर वातावरण को स्पष्ट करता है। 'विज्ञप्ति' का मूल्य साहित्यिक की अपेक्षा ऐतिहासिक अधिक है। प्रस्तुत सकलन मे पहली बार यह अविकल रूप से हिंदी-पाठको के समक्ष आयी है। इसमे 'सुकवि-किंकर' जी पर बाल-कवि का वह कठोर प्रहार भी यथावत् वर्तमान है। मधुमक्खी भी चिढकर डंक मारने पर बाध्य हो जाती है—यह भाव हमारे मन मे इसे पढकर अनायास ही जाग्रत हो जाता है। 'पल्लव' के प्रवेश मे पहली बार शब्द, अलंकार तथा छद की अतरात्मा का इतना सूक्ष्म विश्लेषण हुआ और काव्य-शिल्प के विश्लेषण को नवीन दिशा मिली। 'पल्लव' के प्रवश मे केवल बहिरंग का ही विवेचन था, किंतु 'आधुनिक कवि' के पर्यालोचन में काव्य की अंतश्चेतना का

भी विस्तार के साथ विश्लेषण किया गया। यद्यपि पंतजी ने यहा मुख्य रूप से अपनी ही विकासमयी काव्य-चेतना का विश्लेषण प्रस्तुत किया है; फिर भी विशिष्ट के साथ सामान्य का विवेचन भी हो ही गया है। कवि ने यहा आत्म-निरीक्षण तथा आत्म-विश्लेषण करते हुए अपने काव्य के विषय मे अनेक मौलिक तथ्यो का उद्घाटन किया है। 'वीणा' से लेकर 'ग्राम्या' तक कवि की अंतश्चेतना किस प्रकार सुदर से शिव की ओर सत्य के मार्ग से बढी है, किस प्रकार प्राकृतिक सौदर्य से प्रेरित उनकी कल्पना क्रमशः ऐतिहासिक विचारधारा से प्रभाव ग्रहण करने लगी है—इस विकास-क्रम का अत्यत सफल निरूपण प्रस्तुत पर्यालोचन मे मिलता है। पतजी की काव्य-चेतना का मूल आधार कल्पना है, इस तथ्य की अत्यंत निर्भ्रान्ति स्वीकृति भी यहा पहली बार मिलती है "मैं कल्पना के सत्य को सबसे वडा सत्य मानता हू मेरा विचार है कि 'वीणा' से 'ग्राम्या' तक अपनी सभी रचनाओ मे मैंने अपनी कल्पना को ही वाणी दी है। शेष सब विचार, भाव, शैली आदि उसकी पुष्टि के लिए गौण रूप से काम करते हैं।" इस स्पष्ट स्वीकारोक्ति मे पंत-काव्य की शक्ति और परिसीमा निहित है। पतजी ने भाव अथवा अनुभूति के स्थान पर कल्पना को जीवन का सबसे वडा सत्य माना है। यह मान्यता इस सत्य की स्वीकृति है कि आदर्श सदा हमारे स्वभाव अथवा अंत सस्कारो के उन्नयन-मात्र होते हैं। पतजी के सकोचशील, अनुभव-भीरु स्वभाव का सबसे बडा सहारा कल्पना ही है। अनुभूति के रक्त-मास से अपुष्ट उनके सस्कार कल्पना की वायवी क्रीडाओ मे ही सुख ले सकते हैं। कल्पना जीवन के लिए वरदान है, इसमे क्या सदेह है; किंतु अनुभूति तो स्वयं जीवन ही है। अनुभूति के पोषण मे ही कल्पना की सिद्धि है, परतु पंतजी भाव को कल्पना का पोषक उपकरण मानते है। यह वास्तव मे जीवन-तत्त्वो का मौलिक विपर्यय है और पतजी के काव्य मे जीवन की प्राणवत्ता तथा रक्त-मास का अभाव इसी के कारण है। 'ग्राम्या' के विषय मे उनकी सफाई है . "ग्राम-जीवन मे मिलकर उसके भीतर से मैं इसलिए नही लिख सका कि मैंने ग्राम-जनता को 'रक्त-मास' के जीवो के रूप मे नही देखा है, एक मरणोन्मुखी सस्कृति के अवयव के रूप मे देखा है।"—पतजी क्षमा करें, यह तर्क निष्प्राण है! 'ग्राम्या' की सृष्टि, जैसा उन्होने स्वय स्वीकार किया है, विचारधाराओ, स्वप्नो और कल्पनाओ से प्रेरित होकर की गयी है; उसके पीछे अनुभूत सत्यो की जीवंत प्रेरणा नही है, विचार, कल्पना और स्वप्नो की अप्रत्यक्ष प्रेरणा है। वास्तव मे विचार और कल्पना की अधिक-से-अधिक संभव विभूतियो का अर्जन पतजी कर चुके हैं, पर प्रत्यक्ष अनुभूति की आग मे तपे विना जीवन की मूर्ति पूर्णतम कैसे हो सकती है!

अतश्चेतना का विश्लेषण 'उत्तरा' की प्रस्तावना मे और भी सूक्ष्म-गहन हो गया है। कवि का चितन इस समय श्री अरविंद के 'अतश्चेतनावाद' से प्रभावित है। परंतु अंतश्चेतनावाद की यह आग्रहपूर्ण स्वीकृति कोई नवीन घटना नही है। जैसा कि पतजी ने स्वय स्पष्ट किया है, यह उनकी विचार-परपरा की सहज परिणति-मात्र है

" 'ज्योत्स्ना' मे मैंने जीवन की जिन बहिरंग मान्यताओ का समन्वय करने का प्रयत्न तथा नवीन सामाजिकता (मानवता) मे उनके रूपान्तरित होने की ओर

इंगित किया है, 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में उन्ही के बहिर्मुखी (समतल) संचरण को (जो मार्क्सवाद का क्षेत्र है) तथा 'स्वर्णकिरण' में अंतर्मुखी (ऊर्ध्व) सचरण को (जो अध्यात्म का क्षेत्र है) अधिक प्रधानता दी है : किंतु, समन्वय तथा संश्लेषण का दृष्टिकोण एवं तज्जनित मान्यताएं दोनो में समान रूप से वर्तमान हैं और दोनो कालों की रचनाओं से इस प्रकार के अनेक उद्धरण दिये जा सकते हैं। 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' मे यदि ऊर्ध्व मानों का सम धरातल पर समन्वय हुआ है, तो 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' मे समतल मानों का ऊर्ध्व धरातल पर, जो तत्त्वतः एक ही लक्ष्य की ओर निर्देश करते हैं।"

पंतजी के अनुसार इस युग की विषमताओं का समाधान है लोक-संगठन और मन:संगठन—स्वस्थ भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के समन्वय से निर्मित सास्कृतिक चेतना, जिसे उन्होने अंतश्चेतना तथा नवमानववाद भी कहा है। यह चेतना मानव के ऊर्ध्व विकास और समतल विकास की पूर्ण संतुलित स्थिति है। आज के कलाकार को भी इसी से अपना सौंदर्य-बोध प्राप्त करना होगा। कवि के अपने शब्दों मे : "जीवन के शतदल को मानस-तल के ऊपर नवीन सौंदर्य-बोध मे प्रतिष्ठित कर उसमे पदार्थ की पंखुडियो का सतुलित प्रसार तथा चेतना की किरणो का सतरंग ऐश्वर्य भरना होगा।" पंतजी की विचारधारा की यही परिणति है। पतजी के इस दार्शनिक चिंतन पर फ्रायड आदि के नवीन अनुसधान का भी प्रभाव है, परंतु कवि ने प्राणिशास्त्र पर काश्रित उनके उपचेतनवाद को मान्यता-रूप में स्वीकार नही किया, उसकी प्रक्रिया-मात्र का उपयोग किया है। वास्तव में पतजी की चिंताधारा के चरम परिपाक-रूप इस दर्शन का, प्रस्तुत भूमिका मे अत्यंत सफल तथा गंभीर विवेचन हुआ है। इस प्रौढ विवेचना को डॉ० रामविलास के एक लेख से प्रेरणा मिली है। उसका उत्तर या प्रत्यालोचन तो यह नही है, क्योंकि उत्तर का अधिकारी तो समकक्ष व्यक्ति ही हो सकता है; किंतु फिर भी इसकी पृष्ठभूमि मे डाक्टर शर्मा का वह युगातक लेख था अवश्य, जिसकी कृपा से साहित्यिक विप्लव के उस अल्पायु तथाकथित प्रगतिवादी युग का सहज अंत हो गया। काव्य के आत्मदर्शी मर्म-ज्ञाता और सिद्धांत-व्यवसायी के सांस्कृतिक स्तर में कितना अंतर होता है, इसका आभास प्रस्तुत भूमिका और उधर डॉ० शर्मा के लेख के युगपत् अध्ययन से आपको सहज ही मिल जाएगा।

'गद्य-पथ' का दूसरा खंड इतना गंभीर चाहे न हो, किंतु रोचक अधिक है। उसमें पंतजी के कवि-जीवन के अनेक ऐसे संस्मरण हैं जो अत्यंत ज्ञानवर्धक हैं और रोचक भी हैं। उदाहरण के लिए, पंत-साहित्य के कितने अध्येता यह जानते हैं कि पंतजी को सबसे पहले काव्य-प्रेरणा लक्ष्मणसिंह के हिंदी-'मेघदूत' से मिली थी। पंत के काव्य पर कालिदास का प्रभाव अत्यंत स्पष्ट है, इसलिए यह अनुमान चाहे आप कर भी लें; किंतु क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि पंत के आरभिक प्रेरक प्रभावो मे नरोत्तमदास-कृत 'सुदामा-चरित' भी है और शुरू में नाथूराम 'शंकर' शर्मा की कविता भी पंतजी को अच्छी लगती थी। पंतजी अल्प-अधीत नही हैं, किंतु उन्होने पुस्तको की अपेक्षा प्रकृति और प्रकृति के बाद महापुरुषों के दर्शन अथवा मानसिक सत्संग से अधिक

सीखा है। जिन दो पुस्तको का उन्होने विशेष रूप से उल्लेख किया है, उनमे पहले बाइबिल और तत्पश्चात् उपनिषद् का नाम आता है। वास्तव मे यह स्वीकृति कितनी सहज सत्य है ! पंतजी के बाल-सरल स्वभाव को निश्चय ही बाइबिल का सरल चिंतन अधिक अनुकूल रहा होगा, इसमे संदेह नही। इस खड का दूसरा लेख भी काफी रोचक है, और वह है 'यदि मैं कामायनी लिखता'। पंतजी ने अत्यत निश्छल भाव से स्वीकार किया है कि 'कामायनी' लिखना उनके लिए असंभव था, और यह बात भी ठीक ही है। पंत और प्रसाद दोनो की प्रतिभाओ मे मौलिक भेद है। पंतजी की प्रतिभा यदि मुग्धा किशोरी है तो प्रसादजी की प्रतिभा रसभरा युवती। प्रसाद का मधुर और विराट् दोनो पर अधिकार था; पंतजी की कोमल कल्पना मधुर के साथ तो विस्मय-विमुग्ध क्रीडाएं करने मे प्रगल्भ है, किंतु उसकी कोमल बाहे विराट् को अपने आलिगन मे नही बाध सकती। फिर भी 'कामायनी' के विषय मे पतजी के कुछ निष्कर्ष इतने पैने है कि तुरत ही 'कामायनी' के अध्येता के मन मे प्रवेश कर जाते हैं। उदाहरण के लिए, उनका यह आरोप कितना मार्मिक और तलस्पर्शी है कि 'कामायनी' मे अत्यत साधारणीकरण के कारण वैशिष्ट्य का अभाव मिलता है, इसलिए यह मन को पकड नही सकती ! कला के सबध मे भी उनका यह आरोप अत्यत सार्थक है कि 'कामायनी' की कला-चेतना मे जैसा निखार मिलता है, कला-शिल्प अथवा शब्द-शिल्प मे वैसी प्रौढता नही मिलती। 'कामायनी' मे कला-वैभव कम नही है, किंतु फिर भी पंत के काव्य-शिल्प की निर्दोषता उसमे कहा ! 'कामायनी' के प्रति मेरा पक्षपाती मन इसका उत्तर भी तुरंत दे देता है और वह यह कि निर्दोषता प्राय. प्राण-शक्ति की न्यूनता का पर्याय हो जाती है। कामायनीकार की कला अपनी महाप्राणता मे यदि कही-कही अनगढ भी है, तो उसकी अनगढता भी कनक-तुषार-मडित हिमालय की अनगढता है। इस खड मे भी कुछ लेख अत्यत गभीर और मौलिक हैं; जैसे कला का प्रयोजन, आधुनिक काव्य-प्रेरणा के स्रोत आदि। उनकी चर्चा फिर कभी और कही करूगा। कुल मिलाकर, 'गद्य-पथ' आधुनिक हिंदी-साहित्य का अमूल्य प्रलेख है। वह पत के काव्य-रत्नागार की स्वर्ण-कुजी तो है ही, उसके द्वारा आधुनिक काव्य के अनेक सुदर रहस्यो का उद्घाटन भी सहज ही हो जाता है।

'दीप-शिखा' की भूमिका

'दीप-शिखा' महादेवीजी की पाचवी काव्य-कृति है—इससे पूर्व उनकी चार रचनाए क्रमश. 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा' और 'सान्ध्यगीत' नाम से प्रकाशित हो चुकी थी।' नीहार' मे महादेवी का किशोर कवि एक प्रकार से अपरिचित काव्यलोक मे प्रवेश करता है, अतः वहा परिचायक रूप मे कवि-सम्राट् अयोध्यासिंह उपाध्याय ,हरिऔध' की अत्यंत संक्षिप्त भूमिका है। 'रश्मि' मे दर्शन के अध्ययन के प्रभाव से कवि मे थोडा आत्मविश्वास आता है और 'अपनी बात' नाम से एक छोटी-सी भूमिका के दर्शन पहली बार होते हैं, 'नीरजा' का परिचय फिर रायकृष्णदासजी के शब्दो मे दिया गया है, किंतु 'सान्ध्यगीत' के आरंभ मे कवि की अपनी भूमिका है जिसमें स्थिर रूप से काव्य से संबद्ध कतिपय मौलिक प्रश्नो का विवेचन किया गया है। 'दीप-शिखा' की भूमिका का कलेवर इन सब की अपेक्षा कही व्यापक और उसका स्वर कही अधिक आश्वस्त है। यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि को उत्तेजित कर दिया गया है। इस उत्तेजना की पृष्ठभूमि भी स्पष्ट ही है। उन दिनो प्रगतिवाद का आदोलन ज़ोर पकड रहा था—और यह ज़ोर रचनात्मक कम, ध्वंसात्मक अधिक था। प्रगतिवाद के पक्षधर आलोचक पूर्ववर्ती काव्य-मूल्यो की भस्म पर नवीन सामाजिक मूल्यो का आरोपण करने के लिए प्रयत्नशील थे और उनका सीधा प्रहार था छायावाद पर, जिसकी प्रतिक्रिया के रूप मे प्रगतिवाद का जन्म हो रहा था। कुछ कवि और आलोचक इस कोलाहल मे कच्चे पडने लग गये थे—छायावाद के प्रबल समर्थक 'प्रगतिवाद को कवि के चारित्र्य की कसौटी' मानने पर आमादा हो गये थे। उस वातावरण मे 'दीप-शिखा' का और उससे भी अधिक 'दीप-शिखा' की भूमिका का प्रकाशन अत्यंत महत्त्वपूर्ण और सामयिक घटना थी।

इस भूमिका मे कवयित्री ने काव्य से संबद्ध अनेक मौलिक प्रश्न उठाये हैं : उदाहरण के लिए—सत्य का स्वरूप, काव्य और सत्य, सौंदर्य का स्वरूप, काव्य और उपयोगिता, ललित और उपयोगी कलाओ का भेद और उसकी निरर्थकता, आदर्श एवं यथार्थ की परिभाषा और दोनो का अन्योन्याश्रित संबंध, रहस्यानुभूति और आधुनिक काव्य मे उसकी स्थिति, छायावाद, और अंत मे, प्रगतिवाद, जिसके लिए इस नवीन और राजनीतिक नामकरण को छोड अपेक्षाकृत व्यापक शब्द यथार्थवाद का प्रयोग किया गया है। भूमिका का चतुर्थ एवं अंतिम खंड 'दीप-शिखा' की कविता के साथ प्रत्यक्ष रूप से संबद्ध है—यहा कवि ने गीत की परिभाषा और स्वरूप, गीत के दो

प्रमुख भेद—रहस्य-गीत और सगुण-गीत, 'दीप-शिखा' मे गीत और चित्रकला के योग, इन दोनो के लिए प्रयुक्त प्रकृति के उपकरण आदि पर सक्षिप्त किंतु मार्मिक वक्तव्य दिये हैं। इस विवेचन के अत मे यह भी संकेत किया है कि कवि का अपना जीवन एकांत काव्य-साधना का जीवन नही है—उसके 'कर्मक्षेत्र की विविधता भी कम सार-वती नही' है—उसने आज के 'उपेक्षित ससार मे भी बहुत-कुछ भव्य पाया है अन्यथा सभ्य समाज से इतनी दूरी असह्य हो जाती।'

सत्य मूलत. अखड अतः असीम है, किंतु जब वह व्यक्ति की चेतना का विषय बनता है तो उसके लिए एक विशेष सीमा मे आना अनिवार्य हो जाता है—इस प्रकार सत्य की यह दोहरी स्थिति सहज स्वाभाविक है : वास्तव मे इस दोहरी स्थिति मे ही वह हमारे सामने आता है। भाव-क्षेत्र और ज्ञान-क्षेत्र पृथ्वी के उन दो गोलार्धो के समान हैं जो मिलकर सत्य की इस चेतना को पूर्णता प्रदान करते है। व्यक्ति का सत्य राग और बुद्धि के इन दो अर्धवृत्तो से अनिवार्यत. घिरा रहता है।—इनमे राग अथवा अनुभूति की प्रवृत्ति गहराई की ओर है और बुद्धि की विस्तार की ओर; जीवन का सत्य इन्ही दोनो मे परिवेष्टित रहता है। असीम सत्य को व्यक्ति की सीमित चेतना मे प्राप्त करना—अखड को खड मे सिद्ध कर लेना मानव-चेतना के लिए जितना दुष्कर है उतना ही अनिवार्य भी। मानव-चेतना ने सत्य की इस सिद्धि के लिए जितने माध्यमो का अनुसधान किया है, काव्य या कला उनमे सबसे सफल माध्यम है। इसी-लिए महादेवी का मत है कि सत्य काव्य का साध्य और सौदर्य साधन है। सौदर्य बाह्य रेखाओ और रगो का सामजस्य मात्र नही है—'सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाए जिस सौंदर्य का सहारा लेते हैं वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है।' सौदर्य वस्तुत विकास के लिए अपेक्षित जीवन के प्रत्येक स्पर्श का पर्याय है, उसकी परिधि से छोटा, बडा, लघु, गुरु, सुदर, विरूप, आकर्षक, भयानक कुछ भी बहिष्कृत नही किया जा सकता। उसके भीतर बहिर्जगत् और अतर्जगत् दोनो का वैविध्य समजित है। इस प्रकार, महादेवी के अनुसार, उपर्युक्त सदर्भ मे, कला सौदर्य के माध्यम से सत्य की अभिव्यक्ति का नाम है।

उपयोगी और ललित कलाओ के रूप मे कला का वर्गीकरण महादेवीजी को स्वीकार्य नही है—इस प्रकार का वर्गीकरण अत्यत स्थूल है क्योकि तत्त्व-दृष्टि से उप-योगिता और लालित्य अथवा सौदर्य मे कोई मौलिक भेद नही रह जाता। स्थूल-द्रष्टा आलोचको ने उपयोगिता का अर्थ जीवन की बहिरग आवश्यकताओ की पूर्ति तक ही सीमित कर सौदर्य से उसका भेद कर दिया है। किंतु यह भेद मिथ्या है। उपयोगिता के स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक असख्य रूप हो सकते हैं और ये सूक्ष्मतर रूप ही वास्तव मे सौदर्य के पर्याय बन जाते हैं। इसी प्रकार सौदर्य की भी अपनी विशेष उपयोगिता है जो जीवन की आतरिक आवश्यकताओ की पूर्ति करती है, काव्य और ललित कलाओ का उपयोग उस उन्नत रागात्मक भूमिका पर स्थित होता है जो साधारणी-कृत होने के कारण सहज रमणीय या सुदर होती है। इसी परिप्रेक्ष्य मे कवि ने काव्य-गत नैतिक मूल्यो की भी व्याख्या की है—काव्य मे नैतिकता का अर्थ विधि-निषेध

नही है। 'जीवन को गति देने के दो ही प्रकार हैं—एक तो बाह्यानुशासनों का सहारा देकर उसे चलाना और दूसरे अंतर्जगत मे ऐसी स्फूर्ति पैदा कर देना जिससे सामजस्यपूर्ण गतिशीलता अनिवार्य हो उठे।' काव्यगत नैतिक मूल्य दूसरे प्रकार के अंतर्गत ही आते हैं—अर्थात् काव्य के क्षेत्र मे नैतिकता उन मूल्यो का नाम है जो जीवन के सामजस्यपूर्ण विकास मे सहायक होते हैं और चूकि सामजस्य ही सौंदर्य का भी आधार-तत्त्व है, इसलिए नीतिगत मूल्यो मे और सौंदर्यगत मूल्यो मे कोई तात्त्विक भेद नही रह जाता।

इसी प्रकार पूर्वोक्त अन्य विषयो का भी महादेवी ने गंभीर चिंतन किया है। अनुभूत होने के कारण उनके विचारो मे एक विशेष प्रकार की मार्मिकता और विश्वास की दीप्ति आ गयी है। इसलिए हिंदी-आलोचना के क्षेत्र मे उनके अनेक वाक्य सूत्र बनकर प्रचलित हो गये हैं जैसे—बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखडता का भावन किया, हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति मे बिखरी सौंदर्यसत्ता की रहस्यमयी अनुभूति प्राप्त की और दोनो को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद आदि अनेक नामो का भार सभाल सकी।"····"साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा मे तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता मे गेय हो सके।"

प्रस्तुत प्रसग मे महादेवी की इन सभी मान्यताओ की समीक्षा करने का अवकाश नही है। इसलिए मैं केवल एक ऐसे प्रश्न को ही लेता हूं जो अधिक ज्वलंत है और जिसका महादेवी के काव्य से प्रत्यक्ष सबध है। यह है आधुनिक काव्य मे रहस्यानुभूति का प्रश्न। बौद्धिकता के इस युग मे छायावाद के कवि ने जब अपनी कविताओ मे परोक्ष आलबन के प्रति प्रणय-निवेदन का आग्रह किया तो अनेक आलोचको ने उसकी अनुभूति की सत्यता पर सदेह किया। महादेवी ने प्रस्तुत भूमिका मे अपने पक्ष मे अनेक तर्क दिये हैं : १. प्रत्येक सामजस्य अथवा सौदर्य की अनुभूति ही अपने मूल मे रहस्यानुभूति होती है। २. अपनी अपूर्णताओ को किसी पूर्ण आदर्श की कल्पना मे समर्पित करने की लालसा मानव मे जन्मजात है। उन्ही के शब्दों मे "स्वभाव से मनुष्य अपूर्ण भी है और अपनी पूर्णता के प्रति सजग भी। अतः किसी उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौंदर्य या पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा पूर्णता की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है।" ३. यह आत्मसमर्पण किसी-न-किसी प्रकार के रागात्मक संबध की ओर इंगित करता है और रागात्मक सबंधो मे भी केवल माधुर्यभाव के द्वारा ही पूर्ण के साथ अपूर्ण का एकात तादात्म्य सभव हो सकता है। इस प्रकार से परोक्ष या रहस्यमय आलबन के प्रति प्रणय-निवेदन मानव-हृदय की एक सहज प्रवृत्ति और प्रायः एक सहज आवश्यकता भी हो जाती है। ४. प्राचीन काव्य का इतिहास भी इस प्रकार की रहस्यानुभूति को सिद्ध करता है। कवि के अपने शब्दों मे ही—"अखड और व्यापक चेतना के प्रति कवि का आत्मसमर्पण सभव है या नही—इसका जो उत्तर अनेक युगो से रहस्यात्मक कृतिया देती आ रही हैं वही पर्याप्त होना चाहिए।"····'प्रकृति के अस्तव्यस्त सौंदर्य मे रूप-प्रतिष्ठा, बिखरे रूपो

मे गुण-प्रतिष्ठा, फिर इनकी समष्टि मे एक व्यापक चेतन की प्रतिष्ठा और अंत मे रहस्यानुभूति का जैसा क्रमबद्ध इतिहास हमारा प्राचीनतम काव्य देता है वैसा अन्यत्र मिलना कठिन होगा।"

इसमे संदेह नही कि ये तर्क अपने-आप मे बडे प्रबल हैं और वास्तव मे आधुनिक बुद्धिजीवी कवि की रहस्यानुभूति के पक्ष मे कल्पना और वैदग्ध्य जितने भी उपकरण एकत्र कर सकते थे, वे सब यहा उपस्थित हैं। किंतु हमारा विनम्र निवेदन है कि इन तर्कों मे कल्पना की रमणीयता ही अधिक है। इनसे न प्रश्नकर्त्ता की बुद्धि ही निरुत्तर होती है और न उसका हृदय ही इन पर प्रत्यय कर पाता है। बुद्धि उत्तर देती है कि आपने जो कुछ कहा अर्थात् उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौंदर्य या पूर्ण व्यक्तित्व और उसके प्रति माधुर्यमूलक आत्मसमर्पण, यह सब तो कल्पना का चमत्कार है। इन सबकी कल्पना पर किसी को आपत्ति नही है। प्रश्न यह है कि इस प्रकार के काव्य का मूलाधार रहस्य-प्रणय की अनुभूति है या उसकी कल्पना ? यदि कल्पना है तब तो वैमत्य का प्रश्न ही नही उठता, किंतु यदि रहस्य-प्रणय की अनुभूति का आग्रह है तो वह पूर्वोक्त तर्कों से सिद्ध नही होती। अतः छायावादी काव्य मे अभिव्यक्त रहस्यानुभूति की व्याख्या के दो मार्ग हैं—एक पार्थिव से अपार्थिव की ओर जाता है अर्थात् पार्थिव प्रणय-भावना के उन्नयन की ओर इंगित करता है और दूसरा, जैसा कि महादेवीजी मानती हैं, अपार्थिव रहस्यानुभूति को लौकिक प्रणय-प्रतीको के माध्यम से व्यक्त करता है अर्थात् अपार्थिव से पार्थिव की ओर आता है। महादेवीजी की मान्यता को स्वीकार कर लेने से एक बडा अहित यह होता है कि छायावाद की, विशेषकर उनके काव्य की, प्रेरक शक्ति 'अनुभूति' न होकर 'अनुभूति की कल्पना' मात्र रह जाती है और प्रकारातर से छायावाद का समर्थक उसके आलोचको के आक्षेप के सामने सिर झुका देता है।

किंतु, यह तो एक प्रसग मात्र है और इसके विषय मे भी अतिम निर्णय देना सभव नही। हिंदी-आलोचना के विकास मे इस भूमिका का महत्त्व अक्षय है। इससे छायावादी काव्य-दृष्टि अनाविल हुई, उसके संबंध मे प्रचारित अनेक भ्रांतियो का निराकरण हुआ, शाश्वत काव्य-मूल्यो की पुनः प्रतिष्ठा हुई और हिंदी मे सौष्ठववादी आलोचना का पथ प्रशस्त हुआ।

'हिंदी-साहित्य का आदिकाल'

समीक्षा के लिए इस ग्रंथ का चयन मैंने अध्ययन तथा ज्ञान-वर्धन के उद्देश्य से ही किया है, आलोचना तो केवल एक प्रासंगिक क्रिया-मात्र है। वास्तव में हमारे साहित्य का आदिकाल इतना तमसाच्छन्न है कि उसमे प्रवेश करना साधारणतः सभव नही है। उसके ऊपर ऐतिहासिक भ्रातियो तथा भाषा-विज्ञान-संबंधी उलझनो का ऐसा भयंकर जगड्वाल छाया हुआ है कि सत्य की शोध करना अत्यंत दुस्साध्य हो जाता है। यह युग साहित्य के इतिहास मे ही नही, देश के इतिहास मे भी भयंकर अराजकता का युग था। इसका अनुसंधाता इतिहास के लिए साहित्य के जगल मे और साहित्य के लिए इतिहास के खंडहरो मे भटकता फिरता है। यही कारण है कि हिंदी-साहित्य के इस युग का इतिहास केवल अपूर्ण ही नही वरन् भ्रातिपूर्ण भी रहा है। हिंदी-साहित्य के इतिहास-पथ के तीन प्रमुख स्तभ माने जा सकते हैं। पहला स्तंभ 'शिवसिह-सरोज' है, दूसरा 'मिश्रबधु-विनोद' और तीसरा आचार्य शुक्ल-रचित 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' है। इनमे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण निस्संदेह ही शुक्लजी का इतिहास है। वास्तव मे यही सच्चे अर्थ मे साहित्य का इतिहास है। उसका गौरव आज भी अक्षुण्ण है, आज भी अनेक इतिहास पृथक् रूप से अथवा मिलकर उसके स्थानापन्न नही हो सकते। हमारा यह कथन शुक्लजी की गौरव-स्वीकृति के अतिरिक्त हिंदी के इस अग की निर्धनता का भी द्योतक है क्योकि शुक्लजी का इतिहास निस्सदेह ही निर्दोष नही है। वह अपने-आप मे सर्वथा पर्याप्त भी नही है। उसके आदिकाल तथा आधुनिक काल दोनो ही असतोषप्रद हैं—आदिकाल पर्याप्त ज्ञान के अभाव के कारण और आधुनिक काल वाछित सहानुभूति एवं रागात्मक तादात्म्य के अभाव मे। आधुनिक युग तो हमारा अपना युग है; उसको समझने-समझाने का समय भी है और साधन भी। परंतु आदियुग वास्तव मे एक समस्या-युग है और वहा पहुंच भी केवल उन्ही की हो सकती है, जो प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी आदि के विशेषज्ञ हैं। वह साहित्य के साथ ही भाषा-विज्ञान और इतिहास तथा प्राच्य-विद्यादि के शोधपूर्ण अध्ययन की अपेक्षा रखता है। इस दृष्टि से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी के आदिकाल के प्रामाणिक अध्ययन के लिए विशेष रूप से अधिकारी हैं। वे इस कार्य के लिए सभी प्रकार व्युत्पन्न हैं। उन्होने अपने सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश साहित्यो एव भाषाओ के विशिष्ट ज्ञान तथा परपरा-शोधक ऐतिहासिक दृष्टि का पूर्ण मनोयोग के साथ सदुपयोग किया है और उसके परिणामस्वरूप जो अध्ययन प्रस्तुत किया है वह निस्सदेह अत्यंत उपादेय है।

वह हमारे आदिकाल के संबंध में अनेक समस्याओं का समाधान करता है, अनेक महत्त्वपूर्ण रहस्यो का उद्घाटन करता है और उस बीहड में प्रवेश करने के लिए नवीन सरणियो का निर्देशन करता है।

हिंदी-साहित्य का आदिकाल' मे उन पांच व्याख्यानो का संकलन है जो बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् के तत्त्वावधान मे द्विवेदीजी ने इस विषय पर दिये थे। इनमे से पहला व्याख्यान अपभ्रंश के उपलब्ध साहित्य के आधार पर प्रस्तुत विषय से सबद्ध भ्रांतियो की ओर संकेत करता हुआ द्विवेदीजी के अपने अभिमत की सूचना देता है—"इस प्रकार दसवी से चौदहवी शताब्दी का काल, जिसे हिंदी का आदिकाल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढाव है। इसी पुरानी अपभ्रंश के बढाव को कुछ लोग अंतर्कालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग हिंदी।......" इसके अतिरिक्त उनके विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि उन्होंने अपने स्वभाव के अनुसार इस बात को जोर देकर नही कहा; पर इस काल का नाम वीरगाथा-काल सगत नही है। वे भाषा की दृष्टि मे इसे अपभ्रंश-काल कहना ही पसंद करते हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—"जो एकाध शिलालेख और ग्रंथ, जैसे 'युक्ति-व्यक्ति प्रकरण' मिल जाते हैं, वे बताते हैं कि यद्यपि गद्य और बोलचाल की भाषा मे तत्सम शब्दो का प्रचार बढने लगा था, पर पद्य मे अपभ्रंश का ही प्राधान्य था। इसलिए इस काल को अपभ्रंश-काल कहना उचित ही है।" विषयवस्तु को दृष्टि मे रखकर वे राहुलजी के सुझाये हुए नाम सिद्ध-सामंतकाल को वीरगाथा-काल की अपेक्षा ज्यादा पसंद करते हैं। द्वितीय व्याख्यान मे द्विवेदीजी ने वर्तमान हिंदी-भाषी क्षेत्रो के तत्कालीन हिंदी-साहित्य की अपेक्षाकृत न्यूनता के ऐतिहासिक कारणो का उल्लेख करते हुए, दो-चार उपलब्ध ग्रथो के आधार पर हिंदी-क्षेत्र की भाषा की अनेक प्रवृत्तियो का विश्लेषण उपस्थित किया है, जिनके द्वारा पुरानी अथवा प्राचीन हिंदी के अनेक सामान्य रूपो का स्पष्टीकरण हो जाता है। और वास्तव मे पुरानी हिंदी की ही नहीं, ब्रजभाषा, अवधी तथा वर्तमान हिंदी की अनेक प्रवृत्तियों को समझने के लिए भी द्विवेदीजी की इन टिप्पणियो की उपादेयता असंदिग्ध है। तृतीय और चतुर्थ व्याख्यानो मे विद्वान् वक्ता ने 'पृथ्वीराज रासो' पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। इस अध्ययन की भूमिका के रूप मे उन्होंने कथा, चरित-काव्य तथा रासो आदि संबधित काव्यरूपों का शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन भी किया है। यह विवेचन हिंदी-विद्वानो मे प्रचलित रासो-विषयक विवाद का तो अंत कर ही देता है, उसके साथ ही पृथ्वीराज-रासो, तत्कालीन अन्य चरित-काव्यो, तथा परवर्ती प्रबंध-काव्यो मे प्रयुक्त अनेक साहित्य-रूढियो का मार्मिक विश्लेषण उपस्थित करता हुआ मध्ययुगीन प्रबंध-काव्य के अध्ययन के लिए एक नवीन मार्ग का उद्घाटन भी करता है। रासो की प्रामाणिकता के संबंध मे आचार्य जी ने कुछ स्थापनाएं भी की हैं, जो तद्विषयक विद्वानो तथा विशेषज्ञों के लिए विचारणीय हैं। कुछ विशिष्ट स्थापनाएं इस प्रकार हैं :

"चद का मूल ग्रंथ शुक-शुकी-संवाद के रूप मे लिखा गया था और जितना अंश इस संवाद के रूप मे है उतना ही वास्तविक है।"

"इससे लगता है कि पृथ्वीराज-रासो आरंभ में ऐसा कथा-काव्य था, जो प्रधान रूप से उद्धत-प्रयोग-प्रधान, मसृण-प्रयोग-युक्त गेय रूपक था। उसमे कथाओ के भी लक्षण थे और रासको के भी।

"सयोगिता-प्रसंग निस्संदिग्ध रूप से मूल रासो का सर्वप्रधान अंग था। यद्यपि अपने वर्तमान रूप मे वह बहुत-से प्रक्षिप्त अंशो के कारण विकृत हो गया है।"

"सभी ऐतिहासिक कहे जाने वाले काव्यो के समान इसमे, अर्थात् रासो में, इतिहास और कल्पना का, फैक्ट और फ़िक्शन का, मिश्रण है।"

अंतिम अर्थात् पंचम व्याख्यान में हिंदी के आदिकाल मे प्रचलित विभिन्न काव्यरूपो का प्रामाणिक अनुसंधान किया गया है, जिसके प्रकाश मे हिंदी के परवर्ती काव्यरूपों को समझने मे बडी सहायता मिल सकती है।

प्रस्तुत विवेचन की दो दृष्टियो से समीक्षा की जा सकती है: विषय की प्रामाणिकता की दृष्टि से और लेखक की आलोचना-पद्धति की दृष्टि से।

पहली के विषय मे मैं आरभ में ही अपनी असमर्थता और द्विवेदीजी की समर्थता की घोषणा कर चुका हूं। उनकी स्थापनाएं निस्संदेह ही हिंदी-साहित्य के इतिहासकार के लिए विचारणीय हैं। वे रासो के अनुसंधाताओं के लिए प्रोत्साहन और उत्तेजना का कारण बन सकती हैं। हिंदी-काव्य के विद्यार्थियो का उनके द्वारा ज्ञानवर्धन होता है। इस दृष्टि से मैं स्वयं उपकृत हुआ हूं। इस छोटी-सी पुस्तिका में हिंदी के आदिकाल के विषय मे बहुत कुछ जानकारी मिलती है जो उपादेय है, और एक अधिकारी शोधक से प्राप्त होने के कारण प्रामाणिक भी होनी ही चाहिए। केवल विषय-सामग्री की दृष्टि से भी यह पुस्तिका हिंदी-साहित्य के निर्माण मे एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अध्याय जोडती है। इसके आगे और कुछ कहने का अधिकार केवल विशेषज्ञो को ही है।

आलोचना-पद्धति की थोडी-सी विवेचना हम कदाचित् अधिक विश्वास के साथ कर सकेंगे। इस विषय में सबसे पहली बात तो यह है कि द्विवेदीजी की आलोचक-दृष्टि ऐतिहासिक तथा समष्टिपरक है। उनकी दृष्टि भारतीय वाङ्मय के विशाल क्षेत्र की यात्रा करती हुई बडे परिश्रम से उन परंपरा-सूत्रों को ढूढ निकालती है जिनके द्वारा इस महान् देश का प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य एकता मे बंधा चला आ रहा है। उनकी 'हिंदी-साहित्य की भूमिका' ने हिंदी-आलोचना की नवीन दिशाकी ओर सकेत किया था। आज वह दृष्टि और भी स्थिर हो गयी है। इस व्यापक दृष्टि के पीछे द्विवेदीजी की व्यापक मानव सहानुभूति की प्रेरणा रहती है। जैसा कि उन्होंने स्थान-स्थान पर कहा और लिखा है . "मानव-यात्रा की प्रगति मे सहायक होना ही साहित्य का चरमोद्देश्य है। तभी साहित्य शिव-साधना बन सकता है, अन्यथा वह शब्द-साधना मात्र रह जाएगा।" इसीलिए वे संपूर्ण मानव-जीवन की पूर्व-पीठिका पर ही साहित्य और कला का अध्ययन करते हैं। हमारे साहित्य मे शुक्लजी ने पहली बार साहित्य के कृत्रिम बांधो को तोडकर उसे मानव-जीवन के चिरतन स्रोत-प्रवाह के साथ मिलाने का प्रयत्न किया था। परंतु शुक्लजी के लिए मानव-जीवन

का अर्थ शिक्षित जन-समुदाय का जीवन ही था। साहित्य के लिए वे उसी को प्रासंगिक मानते थे, उनकी दृष्टि में जन-जीवन साहित्य के लिए अप्रासंगिक था। द्विवेदीजी ने समग्र जन-जीवन के साथ ही साहित्य का मूल संबंध माना है। यह उनके युग-धर्म की आवश्यकता है। शुक्लजी की धारणा उनके अपने युग की उद्भूति थी। द्विवेदीजी इसी परपरा-संबंध की उद्घाटना को आलोचना और साहित्यिक गवेषणा की चरम सिद्धि मानते हैं। चरम सिद्धि के विषय मे तो दो मत हो सकते हैं, परतु सार्थकता के विषय मे मतभेद के लिए अवकाश नही है। हमारा अपना मत इससे भिन्न है। साहित्य समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की साधना ही अधिक है; उसका अध्ययन मूलतः इसी रूप मे होना चाहिए।

●●●